



प्रस्तावना ।



अथ विदितमेव शोकौकोऽतितीव्रतरोच्चावचेष्टानिष्टाप्रान्तिप्रान्तिनिबन्धनोऽपतदनेकविधवा-
धनलक्षणदुःखमालारिङ्गत्तरङ्गमालमम्बुमालीव कामक्रोधलोभादियादोभिरतिभीषणमविवेकि-
नाम्, निदाघसंतप्तानां कुपितफणिफणच्छायोपमसुखद्योतिकोद्योतितमिवैन्द्रियकोपनिपाता-
तिपातघटां रम्यारम्यतरदर्शनम्, स्वजननीनैपुण्यानिर्वचनीयरूपम्, महेंद्रजालोपमनयन-
लोभकारिदर्शनम्, वस्तुतः स्वप्रनिर्दिशेषं जगद्रूपम्, अपरं च निसर्गप्रतिकूलस्वभावं सर्व-
जनसवेदनसिद्धं दुःखं जिहासवः नित्यनिरतिशयानन्दमभिलाषुकाश्च प्राणिन इति । तदु-
पायमविद्वांसोऽनुसरन्तश्च श्रुत्युदितयागदानादिजनितक्षयातिशययोगिसुखेभ्यो विरज्यन्तः
सर्वाध्यात्मविदेकवाक्यतया "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये"ति
श्रुत्या साधनान्तरस्य निराकृततया चात्मतत्त्वज्ञानमेव तदुपायमाकर्णयन्ति इति । तद्यात्म-
तत्त्वम्, समस्तोपाध्यनवच्छिन्नानन्तचैतन्यैकरसमुदासीनमेकमद्वितीयं ब्रह्मैव, एतादृशात्म-
तत्त्वसाक्षात्कारेण सविलासाविद्यानिवृत्तिपूर्वकनित्यनिरतिशयानन्दप्राप्तिरतिभीरो रज्जुज्ञानेन
भीषणतरदर्शनमहाकायरज्जुसर्पनिवृत्त्येवेति । तद्य रूपं लक्षणप्रमाणशून्यं जगतः सत्यत्वे-
ऽसंभवि अनुपपत्तिमद्य, नह्यागमाः सहस्रमपि बलवत्तरप्रत्यक्षादिप्रमाणप्रमाणितपरस्पर-
भिन्नस्वाप्रविलक्षणसद्भूतमर्थजातमन्यथयितुमीशते । तस्मात्प्रपञ्चप्रतिषेधिका अभेदप्रति-
पादिका अपि उपनिषद् उपचरितार्था एवेत्यसंभावनाविपरीतभावनोपस्थापितान्यथार्थज्ञान-
प्रहिलानामसंभावनादीनां निवृत्तिः मीमांसासृते न संभवतीति मीमांसा समारम्भि ।
तस्यामपि द्वैतवादिभिः प्राचीनैर्वाचीनैरुपक्रमोपसहारादिपङ्क्तिषु धूलिं प्रक्षिपद्भिः
श्रुतिमुख्यतात्पर्यार्थं तिरोदधद्भिः तथा तदनुयायिभिर्वागाडम्बरमातन्वद्भिर्दुस्तरदुस्कार्कान्व-
तमसाच्छन्ना मीमांसाऽसंभावनादिनिवृत्तिभ्यो नालमिति श्रुतिपरमतात्पर्यविद्भिर्वेदोद्धारधुरी-
णैर्जगद्गुरुभिः श्रीभगवत्पादैः शारीरकमीमांसाभाष्यमभाषि । तमाक्षिपद्भिर्वाचीनैर्ह-
त्यापितकुतर्कान्धकारनिगूहिता नीहारच्छन्ना सवितुः प्रभेव यथाश्रुतप्रतिपत्तूणां तमो-
दायापर्याप्तेति अज्ञानान्धयचिकित्सकैर्भेदिकुञ्जरघटासिद्धैः परमगुरुभिः श्रीश्रीहर्षमिश्रैः
स्राण्डनिकमार्गाश्रान्तपथिकैः अनिर्वचनीयतासाध्याज्यरक्षणपरैः रचितमपि स्राण्डनं, वेदान्त-
प्रक्रियाऽप्रकाशकत्याञ्जयूनमिवेति तद्भूयतामाधुनिकोत्थापितविप्रतिपत्तिं च परिजिहीर्षता
श्रीचित्सुखमुनिना सर्वांशपरिपूर्णः 'तत्त्वप्रदीपिका' नामा सद्भोऽग्रन्थि । अस्मिन् प्रन्थे

चतुर्भिः परिच्छेदैः सर्वे विषया निरूपिताः, ते च विषयानुक्रमणिकायामेकत्रोद्धृताः, तेषां दर्शनेनास्य ग्रन्थस्य उपादेयत्वं विदुषां स्वयमेव व्यक्तीभविव्यतीत्यलमतिशासितार्थ-प्रस्तावनयेति ।

तदित्थमयं ग्रन्थोऽद्वैतसिद्धान्तरक्षकोऽपि अद्वैतसिद्धान्तप्रकाशको व्युत्पादकश्च शास्त्री-थार्थजातेष्विति प्रसिद्धमेवैतद्ग्रन्थविषयद्रष्टृणाम् । सोयं पूर्वं शिलाक्षरैः काश्यां मुद्रितोऽपि अशुद्धिबहुलतया विदुषां धरुन्तुद एवासीदित्यालोच्य बहुभिः प्रार्थितेन प्राचीनदुर्लभतर-निवन्धोद्धरणपरेण श्रेष्ठिचर पाण्डुरङ्ग जावजीतिनाम्ना प्रथितेन निर्णयसागराधिपतिना-भ्यर्थितैरखिलागमनिष्णातैः श्रीगुरुभिः श्रीपं० काशीनाथशास्त्रिभिः संस्कार्य स्वकीये निर्णयसागरचन्द्रालये प्राकाश्यं नीतः । तस्य च काशीशिलामुद्रितपुस्तकमात्रेण कृतेऽपि बहुना आयासेन संशोधने निर्णयसागराक्षरमुद्राणां सूक्ष्मसूक्ष्मतरत्वेन अस्फुटत्वेनाप्रती-यमानत्वात् तथाक्षरयोजकदृष्टिदोषेण संजाताश्च मात्रानुस्वारविसर्गाणां न्यूनत्वातिरेकजा अशुद्धीः शोधयन्तु गुणैकपक्षपातिनो विद्वांसः क्षाम्यन्तश्च प्रमादान् सफलयन्तु च परि-श्रममिति साञ्जलिबन्धमर्थयते—

विदुषामनुचरः

बलिआमण्डलवास्तव्यपाण्डेय—

श्रीपण्डितहरिनाथशर्मा

किमपि वृत्तम् ।



प्रत्यक्षतत्त्वप्रदीपिकाया द्वितीयस्मिन् संस्करणे प्रथमं मया संशोधनमेव समाहृतम् । किन्तु तस्मिन्नघसरे विधमस्थलेषु ख्यायासमनुभूय तेषु टिप्पणी कर्तव्येति मतिरजायतेति तत् आरभ्यैव सा संपादिता । अस्मिन् संस्करणे यद्यपि मया यथाशक्ति यथानुद्धि च प्रयतितं तथापि प्रमादादिजा अशुद्धीः स्वयं संशोधयन्तु विद्वांसो दयार्द्रदृश इति वेदयते

पं० रघुनाथशर्मा

(न्या० आ०)

तत्त्वप्रदीपिका—चित्सुखीस्यविषयांगामनुक्रमणिका ।

| विषयाः | पृ. | पं. | विषयाः | पृ. | पं. |
|--|-----|-----|---|-----|-----|
| अथ प्रथमः परिच्छेदः । | | | | | |
| समन्वयाख्यप्रथमपरिच्छेदविषयानुक्रमणिका ॥ | | | | | |
| मङ्गलाचरणम् | १ | १ | तत्रैवाभिहितान्वयवादिनः प्रत्यवस्था० | १४९ | ५ |
| खप्रकाशनिरूपणे पूर्वः पक्षः | ३ | ७ | वेदान्तानामपौरुषेयत्वे पूर्वः पक्षः | १५६ | १ |
| खप्रकाशनिरूपणे उत्तरः पक्षः | ९ | १ | वेदान्तानामपौरुषेयत्वे उत्तरः पक्षः | १५९ | ४ |
| आत्मनः संबिद्रूपत्वनिरूपणम् | २१ | ५ | अथ द्वितीयः परिच्छेदः । | | |
| तमोनिरूपणे पूर्वः पक्षः | २७ | ५ | अविरोधाख्यद्वितीयपरिच्छेदविषयानुक्रमणिका ॥ | | |
| तमोनिरूपणे उत्तरः पक्षः | २८ | १३ | भेदस्वरूपसाधनम् | १६५ | १ |
| निध्यात्वनिरूपणे पूर्वः पक्षः | ३२ | ८ | तरुखण्डनम् | १६६ | १३ |
| निध्यात्वनिरूपणे उत्तरः पक्षः | ३९ | ३ | धर्मभेदं विकल्पान्योन्याभावात्मकस्य | | |
| अध्ययनस्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वे पूर्वः | ४८ | ८ | तस्य खण्डनम् | १६८ | १० |
| अध्ययनस्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वे उत्तरः | ४९ | ७ | विशेषतोऽविद्रूपणानि दर्शयितुं धर्म्य- भेदं विकल्प्य तस्य खण्डनम् | १७२ | ४ |
| अद्वैते आगमस्य प्रमाणत्वस्थापनम् | ५१ | १० | पृथक्त्वात्मकस्य तस्य खण्डनम्, पृथक्- क्त्वखण्डनं च | १७४ | ७ |
| भावहृषानिर्वचनीयाविद्यायां पूर्वः पक्षः | ५४ | ५ | भिन्नलक्षणयोगित्वरूपभेदखण्डनाय | | |
| भावहृषानिर्वचनीयाविद्यायामुत्तरः पक्षः | ५७ | ११ | द्रव्यलक्षणदिखण्डनम् | १७७ | २ |
| सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वे पूर्वः पक्षः | ६१ | ३ | गुणलक्षणदिखण्डनम् | १८३ | १ |
| सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वे उत्तरः पक्षः | ६३ | १ | कर्मे लक्षणादिरण्डनम् | १८५ | ४ |
| भ्रमज्ञाननिरूपणम् | ६७ | १ | सर्वजातिघटितलक्षणादिखण्डनाय | | |
| अनिर्वचनीयत्वे पूर्वः पक्षः | ७५ | १० | जातिलक्षणादिखण्डनम् | १९२ | ९ |
| अनिर्वचनीयत्वे उत्तरः पक्षः | ७९ | ३ | विशेषलक्षणादिरण्डनम् | १९६ | ४ |
| वेदान्तवान्त्यानां सिद्धार्थबोधकत्वे | | | समवायलक्षणादिरण्डनम् | २०० | ३ |
| कार्यशक्तिवादिनः पूर्वः पक्षः | ८४ | ९ | स्वरूपभेदखण्डनाय क्षणिकत्वनिरासः | २०९ | १ |
| तद्गुक्तिनिराकरणपूर्वकमुत्तरः पक्षः | ९१ | ३ | प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वसमर्थनम् | २१२ | ५ |
| कार्यतादोषस्य भ्रष्टति प्रति हेतुता- निराकरणपुरःसरं हितसाधनताज्ञा- नस्यैव तां प्रति हेतुतास्थापनम् | ९५ | १ | प्रत्यज्ञादिवदागमादीनामपि भेदे प्रा- माण्यानिरासः | २१९ | ४ |
| वेदान्तवान्त्यानामखण्डार्थत्वे पूर्वः | १०५ | १५ | प्रत्यक्षलक्षणखण्डनम् | २२० | ८ |
| तद्गुक्तिखण्डनपूर्वकमुत्तरः पक्षः | १०९ | २ | विकल्प्य संशयलक्षणखण्डनम् | २२६ | ६ |
| अखण्डार्थत्वे प्रमाणनिरूपणम् | ११४ | ३ | विपर्ययलक्षणखण्डनम् | २२८ | १० |
| तत्रैवप्रसङ्गात्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिर्ह० | ११५ | १ | स्मृतिलक्षणखण्डनम् | २३० | ८ |
| स्वतस्त्वविरक्तिः | १२२ | ७ | साक्षात्त्वस्य जातित्वखण्डनम् | २३३ | ११ |
| उत्पत्तौ परतस्त्वं निरस्य ज्ञप्तावपि पर- तस्त्वनिरासः | १२८ | १३ | अनुमानलक्षणखण्डनम् | २३५ | ८ |
| अतिरिक्तशष्ठी पूर्वः पक्षः | १२९ | ४ | लिङ्गलक्षणखण्डनाय व्याप्ति- लक्षणखण्डनम् | २३७ | ६ |
| तरुसमर्थनम् | १३५ | ८ | अविनाभावलक्षणखण्डनम् | २४० | ६ |
| पदार्थानां लक्षणयाऽन्योन्यान्वयप्रति- पत्तिजनकत्वे पूर्वः पक्षः | १४५ | १ | व्याप्तिप्रहादिरण्डनम् | २४४ | ५ |
| | | | पक्षधर्मत्वखण्डनम् | २४६ | ११ |
| | | | अनुमानलक्षणान्तरखण्डनम् | २४९ | ६ |

अनुक्रमणिका.

| विषयाः | पृ. | पं. | विषयाः | पृ. | पं. |
|--|-----|-----|--|-----|-----|
| परार्थानुमानं खण्डयितुं प्रतिशालक्षण- | | | कालखण्डनम् | ३२८ | १ |
| खण्डनम् | २५० | ५ | दिकूखण्डनम् | ३३१ | १ |
| हेतुलक्षणखण्डनम् | २५१ | ४ | | | |
| उदाहरणलक्षणखण्डनम् | २५१ | १० | अथ तृतीयः परिच्छेदः । | | |
| उपनयनलक्षणखण्डनम् | २५२ | ७ | अथ साधनाख्यतृतीयपरिच्छेदविषयाः अनुक्रमणिका । | | |
| निगमनलक्षणखण्डनम् | २५२ | १४ | शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकतायां पूर्वः प० ३४१ | १ | १ |
| परार्थानुमाने पश्चाद्वयवत्वखण्डनम् | २५३ | २ | शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकतायामुत्तरः प० ३४२ | १ | ९ |
| उपमानलक्षणखण्डनम् | २५६ | ५ | मनसो ब्रह्मासाधारकारे हेतुत्वखण्डनम् ३४३ | १ | १ |
| त्रैयायिकोटीरितोपमानलक्षणखण्डनम् | २६० | १ | ज्ञानान्मोक्षे पूर्वः पक्षः ३४६ | १ | १ |
| शाब्दप्रमाणखण्डनम् | २६२ | १३ | ज्ञानान्मोक्षे उत्तरः पक्षः ३४७ | १ | १ |
| वाक्यनिरुक्तिखण्डनम् | २६४ | १ | ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य मुक्तिसाधनता- | | |
| पदलक्षणखण्डनम् | २६६ | १३ | निरासः | ३४८ | ११ |
| प्रकारान्तरेण शब्दस्य प्रामाण्यखण्ड० २६८ | १० | १० | | | |
| शब्दस्यार्थेन सह संबन्धखण्डनम् | २६९ | १३ | अथ चतुर्थः परिच्छेदः । | | |
| त्रैयायिकोक्ताशब्दप्रमाणलक्षणखण्डनम् | २७१ | १४ | अथ फलाख्यचतुर्थपरिच्छेदविषयाः अनुक्रमणिका । | | |
| अर्थोपतिलक्षणखण्डनम् | २७२ | १५ | तत्र तावद्विषयाकारोपप्लुतविज्ञानसन्ता- | | |
| अनुपलब्धिलक्षणखण्डनम् | २७७ | ११ | नोपरमरूपमुक्तिखण्डनम् | ३५७ | १ |
| प्रकारान्तरेणानुपलब्धिलक्षणखण्डनम् | २७८ | १० | दुःखात्यन्ताभावरूपमुक्तिसमर्थनम् | ३५८ | ७ |
| अभावलक्षणखण्डनम् | २७९ | ४ | आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपमुक्तिसम० | ३६० | ३ |
| भावलक्षणखण्डनम् | २८० | ७ | एतज्जीवनिष्ठदुःखसमानकालीनदुःख- | | |
| ध्वंसलक्षणखण्डनम् | २८२ | ४ | ध्वंसातिरिक्तनिष्ठदुःखध्वंसोऽस्य | | |
| अन्योन्याभावलक्षणखण्डनम् | २८२ | ११ | मुक्तिरिखेतत्तलक्षणसमर्थनम् | ३६१ | १ |
| अत्यन्ताभावलक्षणखण्डनम् | २८४ | ४ | तत्खण्डनम् | ३६१ | ११ |
| लक्ष्यस्याभावस्य खण्डनम् | २८४ | ८ | आत्मनः प्रेमास्यदत्वसाधनपुर-सरं सु- | | |
| प्रमाणखण्डनाय करणस्वरूपखण्डनम् | २८६ | ३ | खस्वरूपतासाधनम् | ३६२ | ९ |
| प्रमाणलक्षणान्तरखण्डनाय हेतुत्वसार्व- | | | सांख्यमरताभिमतमुक्तिखण्डनम् | ३६८ | ८ |
| त्रिकत्वकारकत्वलक्षणखण्डनम् | २८७ | १३ | अनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽवि- | | |
| ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे पूर्वः पक्षः | २८९ | ११ | द्यातिरोधानरूपो बन्धः | ३६९ | ७ |
| आरम्भवादनिरासपुरःसरं ब्रह्मणस्त- | | | विद्यानिमित्ततदस्त्वमयो मोक्ष इ- | | |
| त्कारणत्वसमर्थनम् | २९५ | १ | त्युपसंहारः | ३६९ | ७ |
| आरम्भवादखण्डनाय संयोगादिसुख- | | | अविद्याश्रयविषयावाक्षिप्य तत्समाया० | ३६९ | ९ |
| पानिरुक्तिः | ३०० | ९ | साक्षिसाधनम् | ३८१ | ४ |
| विभागखण्डनम् | ३०३ | ६ | एकजीववादमुपसंहृत्य नानाजीवपक्षे- | | |
| द्वैत्वखण्डनम् | ३०७ | १ | ऽपि दोषोद्धारः | ३८३ | ३ |
| जातिखण्डनम् | ३१० | ८ | अनेकाविद्यासमर्थनम् | ३८४ | १६ |
| परिमाणखण्डनम् | ३१६ | ८ | ज्ञातत्वेनोपलक्षितात्मनो मोहनिवृत्ति- | | |
| कारणत्वानिवृत्तनम् | ३२१ | १ | रूपतासाधनम् | ३८८ | ८ |
| कार्यलक्षणखण्डनम् | ३२६ | १२ | जीवन्मुक्त्युपपादनम् | ३९१ | १५ |

प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलदृष्टप्रमाणं हरिः

सोऽन्याद्दः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिः ॥ १ ॥

न्तरेलादीनि । स्वम्भाभ्यन्तरं स्वम्भाभ्यन्तरं तत्र । गर्भभावः स्वम्भाभ्यन्तरगर्भभावः । गर्भत्वं चेदमन-
न्यव्यक्ततया वृत्तित्वं, नतु यद्द्वान्तरावस्थितदेवदत्तवत्प्रकटतया सर्वान्तरभावोऽनेन विवक्ष्यते-मुकुलपुटकुटी-
कोटरकोबलीनामितिवत् । तेन न पौनरुक्त्यम् । तेन निगदव्याख्यायां निगदमात्रेण व्याख्यातम् । उपायान्तरनिर-
पेक्षतया स्पष्टीकृतमिति यावत् । तद्वैभवं तस्य स्वरूपस्य, तत्साद्गुणुपममिति वा वैभवं विभुत्वं येन, यथेति
वा । अतौ स्वम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवः । तदनेन सर्वगतत्वमुक्तं भवति । सर्वगतमपि
नैयायिकादेरिव वस्तुतः परिच्छिन्नं स्यादिति तन्निवृत्तये सर्वात्मतामाह—यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा
व्यादिष्टविश्व्वात्मत इति । पञ्चाननसंबन्धिः पाञ्चाननं पञ्चाननः सिंहः पञ्चसुं दिक्ष्वाननमस्य विपरिवर्तत
इति व्युत्पत्त्या विस्तृतास्यत्वाद्वा 'पञ्चि विसार' इत्यस्मात्पञ्चशब्दव्युत्पत्तेः 'सिंहो भृगोश्च. पञ्चास्य' इत्यमरसिंहो-
क्तेश्च । पञ्चजना मनुष्याः, 'स्युः पुमासः पञ्चजना' इति तैत्तिरीयकलात्, 'दिशस्यैव सञ्जाया' मिति समासाभिधा-
नाच्च । तत्संबन्धिः पाञ्चजन्यं । पाञ्चाननं च तत्पाञ्चजन्यं चेति पाञ्चाननपाञ्चजन्यं तत्रादर्शं वपुः पाञ्चाननपाञ्च-
जन्यवपुः नरसिंहात्मकमित्यर्थः । तेन वपुषा व्यादिष्टा विशेषेणोक्ता विश्व्वात्मता विश्वस्वरूपता येन, यथेति
वा स तथोक्तः । नच सर्वात्मकत्वकथनेनैव सर्वगतत्वसिद्धेरुक्ता पृथक्कथनमिति वाच्यं, अतएवत्वात्, यदेतद्वा-
दिश्रुत्यादिप्रसिद्धं सर्वगतत्वं, सर्वात्मकत्वं तन्नूनं भया प्रकटितमित्युत्प्रेक्षया विवक्षितत्वात् । तदेवं सर्वगतत्वं
सर्वात्मकत्वं चोक्त्वा परमकारणिकस्य भक्तानुमतीवृतामाह—प्रह्लादेति । प्रह्लादेनाभिहितोऽर्थः प्रह्लादाभि-
हितार्थस्मिस्तदक्षणं समसमयमेव मिलदृष्टमानं दृष्टं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवत्साक्षात्कारसाधकत्वात्प्रमाणं यः स
तथोक्तः । प्रमाणशब्दस्य मिल्यनुसंसकत्वात्प्रतिपिपाद्यमित्यतया तत्पुरुषसमासतया स्वप्रधानत्वाच्च सगच्छत
एव प्रमाणं हरिरिति सामानाधिकरण्यात् । सर्वात्मकस्य परमेश्वरस्य स्वम्भादिसर्ववस्तुगतत्वं हि प्रह्लादेन प्रत्य-
क्षायि । तत्र चागमोऽनुमानं वा यत्नेन वक्तव्यं प्रमाणं तत्परोक्षमेवाहं तु साक्षात्कारविष्यामीत्यभिमानेन
स्वम्भोदराग्निरगादित्यर्थः । शरदिन्दुसुन्दरतनुः शरदिन्दुवत्सुन्दरा धवला तनुर्भस्य स तथोक्तः सिंहाद्रे-
चूडामणिः सिंहाद्रिचूडामणिः सिंहनिर्यलंकारः सिंहगिरिनियासीत्यर्थः । य एवंविधः स. हरिरित्यन्वयः । यद्यप्यत्र
वैभवस्यार्थात्मकतया निगदव्याख्यानं न सभवति तस्य ग्रन्थधर्मत्वात्तथापि समाधिप्रदर्शनायमन्येन्यधर्मो-
ऽन्यत्र निवेदितः । समाधिर्नाम काव्यविशेषस्य प्राणविशेषः । काव्यविशेषस्य हि दश प्राणा. कविभिः परिग-
णिताः । यथाहुः—'श्लेषः प्रसादः समता- साधुर्षं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज. कान्तिसमाधय ।
इति - वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृता' इति । तथा—'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकोत्थीमातुरोपिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥ कुसुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिपन्ति चे'त्यत्र हि नेत्रकि-
यारूपयोर्निमीलनोन्मीलनयोः कुसुदकमलयोरनेत्रयोर्भावोपपन्नं समाधिस्थेद्वापि ग्रन्थधर्मसाधं निवेदनादध-
माध्यंलंकारो दर्शितो भवति । पायालीवैदर्भीरित्योक्ताप्रसंगे वैपम्यात् । अस्य च वेदान्तसाग्रप्रकरणत्वात्तद्विषयादि-
निसिद्धत्वनस्तीति दर्शयितुं उच्यतस्त्वदपि सूचितम् । तथाहि, हरिरित्यनेनाज्ञानतरकार्यहारित्वदर्शनाभिर्भूतो-
पाधिभ्यामिपरिशुद्धं प्रत्यक्षमूर्धं यत्र प्रयोजनं सूचितम् । व्यादिष्टविश्व्वात्मत इत्यनेनारोपितमायतयाऽज्ञातं प्रत्य-
भूतं च प्रत्यक्षं विषयो दर्शितः । प्रह्लादशब्देन साहचर्यधर्मशब्दसूचितोऽपि सूचितः । अर्थाच्च साहचर्य-
योर्दृष्टदृष्टमन्दायरूपः साहचर्यवस्तुज्ञानयोस्त्ववज्ञानफलयोश्च कार्यकारणभावरूपौ तत्फलज्ञानतरयोश्च विषयवि-
षयिभावस्य. साहचर्ययोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकरभावरूप इति पञ्चविधः सधर्मो दर्शित इत्यनेनैव प्रकरण-
रम्भोऽपि समर्थितः ॥ १ ॥

तदपि न । अनुव्यवसायेऽतिव्याप्तेः । तस्य चेद्यत्वेऽपि व्यवसायज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाश-
त्वात् । प्रदीपज्ञानमिदमिति व्यवहारहेतौ प्रदीपप्रकाशेऽतिव्याप्तेश्च । किञ्च व्यवहारहेतुत्वं
विशेषणमुपलक्षणं वा । नाद्यः । मुक्तिप्रलयादावप्राप्तेः । न द्वितीयः । उपलक्षितत्वस्यापि
विशेषणत्वे प्रागुक्तदोषानुपह्नात् । स्वरूपमात्रत्वे तु ज्ञानं प्रकाश इत्येव स्यात् तथा सति न
लक्षणसिद्धिः । नापि पद्यः । स्वयंप्रकाशत्वसाधकानुमानागमादिजन्यज्ञानविषयत्वेन लक्ष-
णस्यासंभित्वात्तस्याप्यविषयत्वे कृथाप्रवृत्त्युत्पत्तेः । नापि सप्तमः । अविषयत्वस्यैवःसं-
भवेन निरस्तत्वाद्विषयत्वशब्देन कर्मत्वविवक्षायां गुरुमतानुसारिणामात्मन्यतिव्याप्तेश्च तस्य
प्राहकतया सिद्धस्याविषयत्वेऽप्यपरोक्षतायास्तैरङ्गीकारात् । नाप्यष्टमः । प्राचीनदोषानुप-
ह्नात् । शुक्तिरजतादिसंसर्गेऽख्यातिवादिनामतिव्याप्तेश्च । तस्य व्यवहारविषयत्वेऽपि तैर्ज्ञा-
नविषयतानङ्गीकारात् । नापि नवमः । स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वस्य प्रदीपादौ
घटादौ च भावेनातिव्याप्तेः । सत्तया सजातीयत्वविवक्षायां तु तद्व्यवहारस्यापि सत्तया
सजातीयादृष्टादिजन्यतया तदपेक्षत्वेन लक्षणस्यासंभित्त्वप्रसङ्गात् । नापि दशमः । अवे-
द्यत्वेऽनुमानाद्यगोचरतया कथानवतारप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात्, अपरोक्षव्यवहारविषयत्व-
मिति शब्देन प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वस्य कण्ठोक्तत्वात् तद्विपरीतावेद्यत्वानिधाने मे माता च-
न्द्येतिवद्ब्रौघाताच्च सुषुप्तिप्रलयमोक्षेऽप्यतिव्याप्तेश्च तदा व्यवहारस्यैवासंभवेन तद्विषयताभा-
वात् । नाप्येकादशः । उक्तव्यवहारयोग्यताया धर्मत्वेऽद्वैतवादिनामपसिद्धान्तापातात्स्वरू-

नातिव्याप्तिरिति भावः । अनुव्यवसायेतीश्वरज्ञानस्याप्युपलक्षणम् । अथानुव्यवसायज्ञानमेव स्वप्रकाशावादे न
सप्रतिपन्न, यत्रातिव्याप्तिरुच्येत सप्रतिपन्नत्वे वा तस्यापि व्यवसायवदेव पक्षेति तत्राह—**प्रदीपज्ञानमिति ।**
विशिष्टवेदनस्य विशेषणालम्बनत्वनियमात् विषयजन्यत्वाच्च तज्ज्ञानस्य प्रदीपज्ञानमिदमित्यनुव्यवसायस्याभिज्ञा-
रूपव्यवहारस्य स्वविषयज्ञानविशेषणीभूतप्रदीपजन्यत्वमस्तीति ज्ञानव्यवहारहेतौ प्रदीपेऽतिव्याप्ति स्यादेवेत्यर्थः ।
अभिवदनं वा व्यवहारस्तस्यापि परम्परया व्यावर्तकप्रदीपजन्यत्वाव्यवहारहेतुत्वमिति । **व्यवहारहेतुत्व-
मिति ।** स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमित्यत्र व्यवहारहेतुत्व प्रकाशस्य विशेषणमुपलक्षणं वेत्यर्थः । उपलक्षितत्वम-
प्युपलक्षिते नाम तस्य धर्म स्वरूपं वा । आद्ये तदप्युपलक्षण विशेषणं वा । नाद्यः । अनन्यस्यापातात् । द्वितीय
निरस्य द्वितीयद्वितीयं शङ्कते—**स्वरूपमात्रत्वे त्विति । न लक्षणसिद्धिरिति ।** लक्ष्यस्वरूपमात्रत्वा-
त्तस्य, जडज्ञानवादिभिरपि तावन्मानाङ्गीकारात्चेत्यर्थः । ज्ञानविषयत्वे सतीत्यत्र यदिदं ज्ञानविषयत्वं प्रतिपिष्यते
तर्हि वेद्यत्व ज्ञानरमेत्व वा । नाद्यः । तन्निषेधासंभवस्य दार्शतलादित्याह—**अविषयत्वस्येति ।** द्वितीय नि-
षेधेति—**विषयत्वैति ।** प्राभाकराणां मते संविदाश्रयतया सिद्धस्यात्मनो ज्ञानाकर्मत्वेनापरोक्षतास्वीत्यङ्गी-
कारादतिव्याप्तिरित्यर्थः । ईश्वरवादिना तज्ज्ञानाकर्मतयाऽपरोक्षे जगति भ्रमविषयसत्तयं च वेदान्तिना च
साक्षिवेद्यसुखादावतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । **प्राचीनदोषानुपह्नादिति ।** व्यवहारविषयत्वस्य मुक्तिदशा-
यामसंभवाज्ज्ञानाविषयत्वनिरासात्चेत्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—**शुक्तीति ।** शुक्तिरप्यसंसर्गस्य ज्ञानविषयत्वं
तेषामनभिमतं तथा सत्ययथाऽर्थाज्ञानाङ्गीकारापातादिति भावः । साजाल किमत्यन्तं यथाकथञ्चन वा । आद्ये
प्रदीपे प्रसक्तिरुक्ता, द्वितीयेऽप्यनपेक्षामानं घटादिरप्यस्ति । अपेक्षावत्त्वानधिकरणत्वविवक्षायामाह—**सत्त-
येति ।** अदृष्टादे सर्वात्म्यमिदमित्ततया सत्तावत्तया च तज्जन्यव्यवहारस्य सजातीयपरसापेक्षतया लक्षणा-
संभवादित्यर्थः । पूर्वाक्तव्यधिविशेषणत्वमपि द्रष्टव्यम् । **अपरोक्षेति ।** अपरोक्षज्ञानमप्यपरोक्षव्यवहारो भव-
त्येवाभिज्ञारूपत्वात्तत्र व्याघात इत्यर्थः । अभिवदनविवक्षायां तु तस्य स्वविषयज्ञानप्रयोज्यत्वाव्याघातः ।

तदपि न । अनुव्यवसायेऽतिव्याप्तेः । तस्य चैद्यत्वेऽपि व्यवसायज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाशत्वात् । प्रदीपज्ञानमिदमिति व्यवहारहेतौ प्रदीपप्रकाशेऽतिव्याप्तेश्च । किञ्च व्यवहारहेतुत्वं विशेषणमुपलक्षणं वा । नाद्यः । मुक्तिप्रलयादावप्राप्तेः । न द्वितीयः । उपलक्षितत्वस्यापि विशेषणत्वे प्रागुक्तदोषानुपपन्नात् । स्वरूपमात्रत्वे तु ज्ञानं प्रकाश इत्येव स्यात् तथा सति न लक्षणासिद्धिः । नापि षष्ठः । स्वयंप्रकाशत्वसाधकानुमानागमादिजन्यज्ञानविषयत्वेन लक्षणस्यासंभित्वात्तत्प्राप्त्यविषयत्वे कथाप्रवृत्त्युपपत्तेः । नापि सप्तमः । अल्पित्वस्यैव संभवेन निरस्तत्वाद्विषयत्वशब्देन कर्मत्वविवक्षायां गुरुमतानुसारिणामात्मन्यतिव्याप्तेश्च तस्य ग्राहकतया सिद्धस्याविषयत्वेऽप्यपरोक्षतायास्त्वैरङ्गीकारात् । नाप्यष्टमः । प्राचीनदोषानुपपन्नात् । शुक्तिरजतादिसंसर्गेऽख्यातिवादिनामतिव्याप्तेश्च । तस्य व्यवहारविषयत्वेऽपि तैर्ज्ञानविषयतानङ्गीकारात् । नापि नवमः । स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वस्य प्रदीपादौ घटादौ च भावेनातिव्याप्तेः । सत्तया सजातीयत्वविवक्षायां तु तद्व्यवहारस्यापि सत्तया सजातीयारुद्रादिजन्यतया तदपेक्षत्वेन लक्षणस्यासंभित्वप्रसङ्गात् । नापि दशमः । अवेद्यत्वेऽनुमानाद्यगोचरतया कथानवतारप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात् अपरोक्षव्यवहारविषयत्वमिति शब्देन प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वस्य कण्ठोक्तत्वात् तद्विपरीतावेद्यत्वामिधाने मे माता वन्द्येतिवद्व्याघाताच्च सुषुप्तिप्रलयमोक्षेऽप्यव्याप्तेश्च तदा व्यवहारस्यैवासंभवेन तद्विषयताभावात् । नाप्येकादशः । उक्तव्यवहारयोग्यताया धर्मत्वेऽद्वैतवादिनामपसिद्धान्तापातात्स्वरू-

नातिव्याप्तिरिति भावः । अनुव्यवसायेतिश्वरज्ञानस्याप्युपलक्षणम् । अयानुव्यवसायज्ञानमेव स्वप्रकाशवादे न संप्रतिपद्य, यत्रातिव्याप्तिरुच्यते संप्रतिपद्यत्वे वा तस्यापि व्यवसायवदेव पक्षेति तत्राह—प्रदीपज्ञानमिति । विशिष्टवेदनस्य विशेषणत्वमन्यतन्वियमात् विषयजन्यत्वाच्च तज्ज्ञानस्य प्रदीपज्ञानमिदमित्यनुव्यवसायस्याभिज्ञानरूपव्यवहारस्य स्वविषयज्ञानविशेषणीभूतप्रदीपज्ञानत्वमस्तीति ज्ञानव्यवहारहेतौ प्रदीपेऽतिव्याप्ति स्यादेवेत्यर्थः । अभिवदन वा व्यवहारस्तस्यापि परम्परया व्यावर्तकप्रदीपज्ञानत्वाव्यवहारहेतुत्वमिति । व्यवहारहेतुत्वमिति । व्यवहारहेतुप्रकाशत्वमित्यत्र व्यवहारहेतुत्व प्रकाशस्य विशेषणमुपलक्षणं वेत्यर्थः । उपलक्षितत्वमप्युपलक्षिते नाम तस्य धर्म स्वरूप वा । आद्ये तदप्युपलक्षणं विशेषणं वा । नाद्यः । अनब्रह्मस्थापातात् । द्वितीयं निरस्य द्वितीयद्वितीयं शङ्कते—स्वरूपमात्रत्वे त्विति । न लक्षणासिद्धिरिति । लक्ष्यस्वरूपमात्रत्वात्तस्य, जडज्ञानादिरिति तावन्मात्राङ्गीकाराच्चैत्यर्थः । ज्ञानविषयत्वे सतीत्यत्र यदिदं ज्ञानविषयत्वं पतिविध्यते तर्हि वेद्यत्व शान्वयमैव वा । नाद्यः । सन्धिपेधासंभवस्य दर्शितत्वादित्याह—अविषयत्वस्येति । द्वितीयं निषेधेति—विषयत्वमिति । प्राभाकराणां मते सविदाश्रयतया सिद्धस्यात्मने ज्ञानात्मत्वेनापरोक्षतास्वीक्रीकारादतिव्याप्तिरित्यर्थः । ईश्वरवादिना तज्ज्ञानाद्यमंतयाऽपरोक्षे जगति भ्रमविषयसंसर्ग च वेदान्तिना च साक्षिवेषमुखादावतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । प्राचीनदोषानुपपन्नादिति । व्यवहारविषयत्वस्य मुक्तिदशायामसंभवाज्ज्ञानविषयत्वनिरासाच्चैत्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—शुक्तीति । शुक्तिरूपसंसर्गस्य ज्ञानविषयत्वं वेदामनभिमद तथा सत्यवधारणानाङ्गीकारापातादिति भावः । सान्नाय किमत्यन्तं यथाकथंचन वा । आद्ये प्रदीपे प्रसक्तिरुक्ता, द्वितीयेऽप्यनपेक्षामात्र घटादेरप्यस्ति । अपेक्षावत्त्वानधिकरपत्वविवक्षायांमाह—सत्तयेति । अदृष्टदि सर्वोत्पत्तिमत्तित्तया सत्तावत्तया च तज्जन्यव्यवहारस्य सजातीयपरसापेक्षतया लक्षणासंभवादित्यर्थः । पूर्वोक्तव्यवहारविषयत्वमपि द्रष्टव्यम् । अपरोक्षेति । अपरोक्षज्ञानमप्यपरोक्षव्यवहारो भवत्येवाभिज्ञानहृत्पाततत्तथ व्यापान इत्यर्थः । अभिवदनविवक्षायां तु तस्य स्वविषयज्ञानप्रयोज्यत्वाव्याघातः ।

पत्वे च ज्ञानस्वभावस्वात्मनो व्यवहारनिरूपणीयत्वात्सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गात् । तदेवं न स्वप्रकाशलक्षणं पश्यामः । नापि प्रमाणम् ।

{ अथानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशोऽनुभूतित्वात् यत्रैवं तत्रैवं, यथा घट इत्यनुमान प्रमाणम् । नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः । अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशः परेषामपि हि प्रसिद्धस्ततोऽनुभूतेस्तत्स्वरूपत्वप्रतिज्ञोपपद्यते । नचानुव्यवसायज्ञाने साध्यस्य सिद्धत्वाद्भ्रान्ते सिद्धसाधनता । तत्स्वरूपस्यैवासंमतत्वेन तस्य धर्मिभागतानङ्गीकारादितिचेन्मैवम् । अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशो यत्र सिद्धस्तत्र हेतोर्बृत्तौ केवलव्यतिरेकित्वव्याक्रोपात् । अबृत्तौ संपक्षाप्रवेशिनोऽसाधारणानैकान्तिकत्वापातात् । वृत्ताच्चपि भागे सिद्धसाधनताया दुष्परिहरत्वात् । नच स्वस्यासिद्धतामात्रेण परसिद्धे साध्यवति धर्मिणि सिद्धसाधनतायाः परिहारः । अन्यथाऽन्यथाख्यातिवादिभिः केनचिद्धेतुना रजत-

ननु प्रमाणबलात्स्वप्रकाशत्वे सिद्धे तदनुगुणं यत्किञ्चिद्धक्षणमपि भविष्यति यतो लक्षणमपि प्रमाणान्तरसिद्धस्यैतरेभ्यो व्यावर्तकं व्यवहारहेतुर्वा भवेदित्यत आह—नापि प्रमाणमिति ॥

न्यायरत्नदीपावलीकृतमनुमानमुपन्यसति—अथानुभूतिरित्यादिना । प्रकाशलस्य यत्किञ्चिव्यवहारहेतुलस्य च परैरप्यङ्गीकारात्सिद्धसाधनता स्यादित्यनुभूतिग्रहणम् । नचाप्रसिद्धविशेषणता । अनुभूतिव्यवहारस्योभयसिद्धतया तदेतुभूतप्रकाशासापि संमतत्वात्केवलं व्यतिरेकाव्यतिरेकयोर्विप्रतिपत्तेः, तथाचानुभूतिव्यवहारहेतुत्वात्प्रसिद्धिरलंकार एव । वक्षिमुत्वादीनामपि महीधरादिसंबन्धेस्तानुमानगम्यत्वादितरथा सिद्धसाधनतापातादिति । तदिदमाह—नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्यादिना । तदेतद्व्ययति—मैवमिति । अयमभिप्रेतिः—न तावदनुभूतिव्यवहारहेतुरविवक्षितस्थलविशेषः प्रकाशः सिध्यतीति ज्ञान्याङ्गीकारं, नहास्ति संभवः, संप्रतिपन्नमुभयोः केति न ज्ञायत इति । कस्य चायमविवक्षितस्थलविशेषः सिध्यतीति विवेचनीयम् । न तावत्त्वत्यक्षे । तस्य संबिद्रूपतया निर्णाल्लादपरथा परं प्रति प्रसाधनायोगात् । यदाह 'निश्चिती हि वादं कुरुत' इति । नापि परस्य । तस्याप्यनुव्यवसायेन निर्णालत्वात् । अतएव नोभयोः । तस्मादविवक्षितस्थलविशेषः सिध्यतीत्यस्य न कंचनार्थं पश्यामः । नच केवलव्यतिरेकित्वप्रसिद्धविशेषणता नाम न दूषणमिति मन्तव्यं, तथा सति वरुपाद्याविषाणोद्धिखिता वसुधात्वादित्यादिना शशविषाणादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । यद्य तत्र प्रमाणान्तरत्वाप्यतया दुष्टता नाप्रसिद्धविशेषणतयेति श्रूये । तत्र बाधकासिद्धेः । नहि शशविषाणादीनामभावादेदं प्रमाणमस्ति । तस्य प्रमाणान्तरयोग्यतायोग्यतयोरभावासिद्धेः । अयं नियमेन प्रमाणानुपलम्भो बाधकः, ततोतिरिक्ता तर्हि का नामाप्रसिद्धविशेषणतेति घटकुटीप्रभातावितम् । अध विपक्षे बाधकतर्कभावात् किं विपक्षे बाधकतर्कः प्रमाणानुपलम्भोपयोगी स्वातन्त्र्येण वा । नान्त्यः । तर्कस्य प्रमाणानुपलम्भोपयोगान्तरणोपयोगान्तरम् । प्रथमे तु तर्कभावात्प्रमाणाभावएव सिध्यति सैव चाप्रसिद्धविशेषणतेति सिद्धं नः समीहितम् । किंच केवलव्यतिरेकत्वादेव केवलव्यतिरेकिनि न दूषणमप्रसिद्धविशेषणता केवलान्वयिन्यन्वयनव्यतिरेकिनि च सपक्षप्रसिद्धविशेषणतासिद्धे नान्गीति इति । यतेयमप्रसिद्धविशेषणता कथा तपस्विनी । तस्मात्प्रार्थं प्रसिद्धः सः सपक्षः स्वीकर्तव्यस्तथाचोच्यमानदूषणमप्राप्तो दुर्निराग इति । सपक्षइत्यर्थोः केवलव्यतिरेकिताहानिरागपारान्गऽनैकान्तिकता चेति दूषणश्रयमुक्तं, तत्र मा नामानं भूतेष्वलव्यतिरेकन्यव्यतिरेकयेन भाविति सङ्गानं प्रत्याह—वृत्ताच्चपीति । गुरुण स्वप्रकाशाकारिणो नानुप्यवसायो नाम ज्ञानप्रसङ्गं ज्ञानमपि तत्कथं तस्य धर्मिता कथंतरां तत्र सिद्धता कथंमनां सिद्धसाधनतेति तत्राह—नच स्वस्यासिद्धतामात्रेणेतति । विपक्षे बाधिवः प्रतिपन्दी एकाति—अन्यथान्यथेति । केनचिद्धेतुनेति । रजतार्थेनो विवेचनं पुणे-

ज्ञानस्य पुरोवर्तिविषयत्वे साधिते वेदान्तिना चांनिर्वचनीयपुरोवर्तिरजतविषयत्वेन सिद्ध-
साधनत्वे, नास्माकं तत्सिद्धमिति वचनमात्रेणान्यथाख्यातिवादिनश्चरितार्था भवेयुः । अथ
नानिर्वचनीयवादिन प्रति अयं प्रयोगस्तस्य सिद्धसाधनतापत्तेः । तर्ह्यनुव्यवसायवादिनं
प्रत्यप्ययं प्रयोगो न स्याद्भागे सिद्धसाधनत्नप्रसङ्गात् । स्वप्रकाशवादिन प्रति सिद्धसाधन-
त्वादप्रयोग इति मूकीभाव एव स्यात् । अथ विवादपदेनानुव्यवसायस्य व्यवच्छेदान्नास्य
धर्मिभागतेति मतिस्तथापि तस्य साध्यविशेषणप्रसिद्धिस्थलत्वेनाभ्युपगमाद्वेतोः केवलव्य-
तिरेकिताभावस्तदवस्थः तदनङ्गीकारे च न विशेषणप्रसिद्ध्युपपत्तिः । अथ परं प्रत्येव तस्य
प्रसिद्धिस्थलता तर्हि तं प्रति केवलव्यतिरेकिप्रयोगायोगः । किञ्च व्यवहारहेतुत्नस्य प्रका-
शविशेषणताया केवल्ये तदभावात्स्वयप्रकाशताभावः । व्यवहारहेतुत्नयोग्यताया च स्वरू-
पातिरिक्ताया स एव दोषः । अथ तदुपलक्षितप्रकाशात्मत्वमेव साध्यं तथाप्युपलक्षित-
त्वस्य साध्यान्तर्भावे स एव दोषः । अनन्तर्भावे च प्रकाशस्वरूपताया एव साध्यत्वात्
तस्याश्चान्यत्रापि सिद्धत्वात् न केवलव्यतिरेक्यनुमानानप्रकाशः । एतेनानुभूतिरनुभाव्या
न भवत्यनुभूतित्वादिद्यादिप्रयोगोऽपि परास्तः । तत्राप्यप्रसिद्धविशेषणताया दुष्परिहरत्वात् ।
ज्ञानं वेद्य वस्तुत्वाद्वदिति प्रतिप्रयोगसभवाच्च । नच हेत्वसिद्धिः, सत्ताधिकरणत्वलक्ष-

वर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वात्तच्छाधीनपुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्द्वेष्यादिनेत्यथ । अत्र ननुव्यवसायवादिन प्रत्यप्रयोग
यस्य तु तच्चास्ति त प्रति निरुपसर्ग प्रयोग इत्यत आह—स्वप्रकाशवादिनमिति । ननु विवादपदमित्य-
नुभूतेर्विशेषण प्रक्षिप्यते तथाचानुव्यवसायस्य परसप्रतिपन्नसाध्यस्य व्यावतनमिति तदाह—अथेति ।
तत्रेद वक्तव्य—किमनुव्यवसायज्ञान स्वमतसमत न वा । न यदि, तदा व्यथविशेषणता । अथ समत, तदा
यथ स्वप्रकाशता, कथ वा केवलव्यतिरेकितेति । तदेतदपिना सूचयन्मङ्गयन्तरेण पुरोदित केवलव्यतिरेकि-
ताकोपमाह—तथापीति । साध्यविशेषणेति । साध्यमेव विशेषण, पक्ष प्रति विशेषणत्वात्तस्य । नच
व्यवसाय पक्षीकृत्यानुव्यवसायवदनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्वसाधनादन्वयव्यतिरेकितास्तु । अनुव्यवसायाङ्गीका-
रानङ्गीकारयोर्थाहृतिदृष्टान्ताभावयो प्रसङ्गात् । यानि च स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमिति पक्षमे पक्षे व्यवहारहेतु-
त्वस्य विशेषणोपलक्षण पक्षविकल्पेन दूषणान्युक्तानि तान्यत्र प्रसरन्तीत्याह—किञ्च व्यवहारहेतुत्वस्येति ।
ननु व्यवहारहेतुत्वयोग्यता विवक्षिता । सा च तदानामप्यस्ति योग्यताया यावद्दस्तुमावित्वादित्याशङ्क्य, तर्हि
सा स्वरूपातिरिक्ता तदनतिरिक्ता वा । अतिरिक्तापि विशेषणमुपलक्षण वेति विकल्प्य, विशेषणपक्ष दूषयति
—व्यवहारेति । स्वरूपातिरिक्ताया विशेषणताया चेत्यध्याहृतव्यम् । उपलक्षणत्वे पक्षद्वय शङ्कते—अथेति ।
तया योग्यताया, तेन व्यवहारहेतुत्वेन चोपलक्षित यत्प्रकाशात्मकत्व तदेव साध्यमित्यथ । तदापि वक्तव्य
यत्तदुपलक्षितत्व तद्विशेषणमुपलक्षण वा । आद्य दूषयति—तथापीति । स एव दोष इति । कैवल्यवस्थाया
तदभावात्स्वयप्रकाशत्वप्रसङ्ग इत्यर्थ । उपलक्षितत्वस्योपलक्षणत्वपक्ष दूषयति—अनन्तर्भावे चेति ।
तस्याश्चान्यत्रापि । अनुव्यवसायादिपक्षीत्यर्थ । एतेनानतिरिक्तपक्षोऽपि निरस्तो वेदितव्य । उक्तदू-
षणजात प्राचीनाचार्योर्धीरितानुमानेऽप्यतिदिशति—एतेनेति । एतनेत्येतदेव विवृणोति—तत्रापि ।
तदेव स्वप्रकाशत्वे सभाष्यमानानुमानानि दूषयि वा चेत्येवऽप्यनुमानमाह—ज्ञानमित्यादिना । प्रतिप्रयो-
गेति । प्रतिपक्षसाधनेत्यर्थ, सत्प्रतिपक्षता वा । ननु किमिद वस्तुव हतुत्त कि काल्पनिकसत्त्वमाहो-
खिद्वास्तवसत्त्वमिति । नाद्य । उभयासिद्ध । नोत्तर । अद्वैतवादिन साधनविक्रत्वादित्यत आह—नच
हेत्वसिद्धिरिति । साधनवैकल्यस्याप्युपलक्षणमेतत् । अथवा कि वस्तुत्व नाम काल्पनिको धर्म उताकाल्प-
निक । नाद्य । तवासिद्धे । नोत्तर । ममादिद्वैतस्याशङ्क्याविवक्षितविशेषणमादायाय परिहार । सत्ताधिकर-

विशेषणम् । नचैतावदस्तु लक्षणमिति वाच्यम् । तथा सत्यतीतानागतयोर्नित्यानुमेयेषु च धर्मादिष्वतिव्याप्तेः ।

ननु तेपामप्यागमवेद्यत्वान्नावेद्यत्वमिति चेन्मैवम् । फलव्याप्यतालक्षणवेद्यत्वस्य तत्राभावात् । तत्र विशिष्टशब्दप्रमाणवलात्तदाकारधीवृत्तिसमुह्लासमात्रादेव तद्व्यवहार इति वेदवादिनां प्रक्रिया । नच योगिप्रत्यक्षगम्यतया अपरोक्षत्वं धर्मादीनां, चोदनैकप्रमाणवेद्यत्वान्तेषाम् । नचैतावता सर्वदर्शित्वाभावो योगिनाम्, सर्वदर्शित्वशब्देन योग्यसर्वद्रष्टृत्वस्य विवक्षितत्वात् । 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तित्वात् ॥' इति न्यायात् । अतो धर्मादिव्यवच्छेदार्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे संतीति विशेषणम् । ननु ज्ञानान्तःकरणतद्धर्मेच्छादिषु, शुक्तिरजतादिषु च लक्षणातिव्याप्तिस्तदवस्था, तेपामपि फलव्याप्यत्वाभावेनावेद्यत्वान्, अहमज्ञ इत्याद्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाच्चेति चेत् । सत्यम् । अवेद्यत्वेऽपि नापरोक्षव्यवहारयोग्यता तेपाम्, अभ्यस्ततयैव तेपा सिद्धेः । ननु तथाप्यपरोक्षमिति व्यवहारदर्शनात्तद्योग्यता तत्र कल्पनीयेति चे-

अवेद्यत्वशब्देन ज्ञानविषयत्वमभिमतमिति भ्रान्त शङ्कते—नन्विति । फलव्याप्यतेति । विषया वच्छिन्न चैतन्यमभिव्यक्त फलमिति वेदान्तवादिना मतम् । अमिव्यक्तधेन्द्रियद्वारा अर्थसनिष्ठमन परिणामविशेष । नचैवविध परिणामविशेषोऽदृष्टादिषु भवति, तेपामिन्द्रियायोग्यत्वात् । एतेनातीतादि व्याख्यातम् । तस्मान्न धर्मादीना फलावच्छेदकतया वेद्यत्वमित्यर्थः । 'यथानयैव व्यवहारसिद्धिरदा भवेत्कल्पनयान्यथा न । तयोदित तत्तदगर्षधीमिरतो वय विस्तरतो 'विगीता ॥' ननु यदि न वेद्यत्व तेपा कथं तर्हि तेषु विज्ञानमनुष्ठानमित्यादिव्यवहार इत्यत आह—तत्रेति । विशिष्टशब्दप्रमाण विधिवाक्यादि । धीवृत्तिरन्तःकरणपरिणामस्तस्य समुह्लास उदयस्तन्मात्रादित्यर्थः । ननु यद्यपि धर्मादीनां नास्मादादिप्रत्यक्षगम्यत्व तथापि योगिना भवति तत्प्रत्यक्षमतएव वेद्यत्वमित्यत आह—नचेति । अयमभिसंधि—न तावद्धर्मादीना बाह्येन्द्रियप्राप्तत्वं, रूपादिहीनतया तदुपहितमर्यादविषयाणामिन्द्रियाणां तत्राप्रवृत्ते । मानसत्वं तु तेपामात्मगुणत्वेऽपि स्वकारवदयोग्यत्वेन दूरनिरस्तम् । अथ विशिष्टादृष्टतामर्थात्तेषां तेषु विषयेषु सामर्थ्यमिति मत, तर्हि तदेव हि विशिष्टादृष्टज्ञान कथकारमेपासुदेति । अशातेषु तेपामनुष्ठानायोगात् । अथ योग्यन्तरवचनात्तदाऽन्धपरम्परा । अथ नित्यसिद्धेश्वरवचनात् । स्यादेव यदि नित्यसिद्ध ईश्वरसिद्धेत । आगमवलादीश्वरसिद्धिरिति चेत्स किमीश्वरवचनतया प्रमाणमपीरुषेयतया वा । प्रथमे त्वितरेतराथर्थे तद्विरचनात्तत्राप्याप्य तत्राप्याप्याच्च तत्सिद्धिरिति । उत्तरे लपरदान्त । यथा चानुमानजातमपि न परामितेश्वरे वर्तते, यथा चापौरुषेयत्व वेदस्य, तत्सर्वमव्यप्रमथे निवेदयिष्यते । अथागमाजज्ञातेष्वनुष्ठानमिति । अस्तु तर्हि स एवागमस्तत्र प्रमाणम्, अवदयापेक्षणीयत्वात्कृतं तदुपजीविभिर्यागिमिरिति । ननु यदि न योगिनामयोग्यविषयेषु सामर्थ्यं, त्त तर्हि तेपा सर्वदर्शित्वप्रदर्शकसाध्याशिना । अत आह—नचैतावतेति । प्रमाणान्तरवलात्सर्वशब्द संकोचनीय इत्यर्थः । यत्रापि विषयेऽतिशयो दृष्टः पाथसंपातिप्रवृत्तीनां विश्वरूपास्तोकवर्षीकानिहितसीतादिषु, सोऽतिशय स्वार्थानतिलङ्घनादृष्टव्य । अनतिक्रान्तमेवाह—दूरसूक्ष्मादीति । योग्य एव विषये दर्यतिनि सूक्ष्मे वा दर्शनां तत्र, न पुना ह्यादी भोत्रादिर्भूतिरिति भयोकेरर्थः । फलव्याप्यत्वाभावेनेति । प्रमाणविपर्ययेन केयुःसाक्षिविषयत्वादित्यर्थः । परिहरति—सत्यम् । अवेद्यत्वेऽपीति । नाज्ञानादीनां साध्यादपरोक्षत्वोपेक्षतया तेपा साध्यापरोक्ष्याप्यासादेवापरोक्ष्यादित्यर्थः । उत्तरो भोयपरिहादी स्पष्टार्थः । ननु यदि साध्यादपरोक्षत्वोपेक्षतया तेपा साध्यापरोक्ष्याप्यासादेवापरोक्ष्यादित्यर्थः । उत्तरो भोयपरिहादी स्पष्टार्थः । ननु यदि साध्यादपरोक्षत्वोपेक्षतया तेपा साध्यापरोक्ष्याप्यासादेवापरोक्ष्यादित्यर्थः । उत्तरो भोयपरिहादी स्पष्टार्थः ।

१ अपरोक्षता इत्येतदन्तर्हीन पूर्वशाक्याने भवेदप्येति ७८६ कार्य

मैवम् । रजतादिव्यवहारयोग्येऽपि शुक्तिशकलादौ रजतादिव्यवहारदर्शनात् । नन्वेवं सत्यवेद्यत्वविशेषणस्य न व्यवच्छेद्यमस्ति । त्वन्मते घटादेरप्यध्यस्ततया अपरोक्ष-व्यवहारयोग्यत्वाभावात् । मैवम् । व्यवहारदशायां तेषां प्रत्यक्षप्रमाणविषयाणामपरोक्ष-व्यवहारयोग्यताङ्गीकारात् । तथाप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वमेव लक्षणमस्तु व्यभिचाराभावा-दिति चेत् । सत्यम् । अपरोक्षज्ञानविषयत्वेनैव घटादेरपरोक्षत्वाङ्गीकाराद्, अत्रापि तथा-त्वाव्याघात इति विभ्रमो माभूदिति तद्व्यवहारेणैव प्रतिवादिनामपि संप्रतिपन्नेन तदेव स्फुटीक्रियत इति न कश्चिदोपः ।

* कथं तर्हि अवेद्यस्य व्यवहारयोग्यत्वमिति चेत्किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वं न स्यादित्यनिष्टप्रसङ्गनमुत व्यवहारविषयत्वाद्देहत्वानुमानम् । नाद्यः । आपाद्यापादकयो-भयोरपि परेषामप्रसिद्धेः । नेतरः । तस्य सप्रतिसाधननिराससमये निराकरिष्यमाण-त्वात् । तस्मादनाविलं स्वप्रकाशलक्षणम् ।

प्रमाणमपि । अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वाद्यन्नेवं तन्नेवं यथा घट इत्यनुमानम् । नचाप्रसिद्धविशेषणत्वंम् । यतः [सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे । कथं कथय

यमवेद्यत्वविशेषणं व्यर्थमिति शङ्कते—नन्वेवमिति । व्यवहारदशायामिति । यद्यपि वास्तवपरो-क्ष्याभावो घटादेरज्ञानादेश्च समानस्तथाप्यर्थक्रियाक्षममापरोक्ष्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं सत्यमिव घटादेरस्ति अज्ञानादेस्तु तथास्ति प्रत्यक्षादिविषयताया अप्यभावात् । अतः शुक्तिरजतादिसत्तावत्प्रातीतिकमित्यर्थः । ननु तथापि व्यवहारयोग्यतापदस्य कृत्यं न पश्याम, अवेद्यतापदेन घटादिव्यावृत्तेरपरोक्षतापदेनाज्ञानादिव्यावृत्ते-रिति शङ्कते—तथापीति । परिहरति—सत्यमिति । अयमर्थः—अपरोक्षज्ञानविषयेष्वपि तावदपरोक्ष-शब्दः प्रयुज्यते । तत्रापरोक्षमित्युक्ते व्याहृतिशब्दा स्यात्तमित्यर्थमवेद्यत्वेऽप्युपपद्यमान व्यवहारयोग्यतापद-ग्रहणमिति । वस्तुतस्तु न प्रसरत्येव घटादिव्यपरोक्षत्वं, तस्य प्रमात्वावान्तरजातितयाऽप्रमाया घटादावभा-वात् । नच मिथ्याज्ञानेऽपि भावात्प्रमात्वेन परापरभावाभावात् जातिरिति वाच्यम् । तत्रारोपाङ्गीकाराच्छ-ब्दप्रयोगस्यापि तन्मार्गत्वात् । अन्यथा घटत्वादेरप्यपलापप्रसङ्गात्सुवर्णनिर्मितेऽपि घटशब्दप्रयोगेण पृथिवी-त्वादिना परापरभावाभावस्यापि शक्यवचनत्वात् । यद्यपि व्यवहारो ज्ञानमपि भवति तथाप्यवेद्यत्वविशेषणा-शुरोधेन शब्दप्रयोग एव स्वीक्रियते । तेन न पूर्वपक्षावसरोक्तदूषणप्रसर ।

यद्यपि योग्यताव्यतिरेकेणापि लक्षणं शक्यसमर्थनं तथापि सुपुत्रौ तदभावेऽपि योग्यत्वस्य सतोऽत्यागाय तद्ग्रहणम् । व्यवहारविषयत्वादेव ज्ञानविषयत्वमपि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—कथं तर्हाति । तदेतत्प्रसङ्गो वा प्रसाधनं वेति विकल्प्य दूषयति—किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वमित्यादिना । आपाद्यापाद-कयोरिति । क्वचित्प्रमितेन पक्षे चाहार्थारोपितेन क्वचिद्व्यापकतया प्रमित पक्षे चानभिमतमापाद्यत इति हि स्थितिस्तदिहावेद्यत्वेनापादकेन प्रमितेन भवितव्यम् । नचैतत्सर्वं प्रत्यक्षमिति मन्यमानस्य समवति । नापि व्यवहाराविषयत्वस्य प्रमितिरिति केन किमापाद्यत इत्यर्थः । तस्य सप्रतिसाधननिराससमय इति । लक्षणदूषणसमये प्रत्यनुमानप्रयोगोऽनवसरनिरस्त इत्यर्थः ॥

तदेवं लक्षण समर्थयित्वा प्रमाणं समर्थयितुमुपक्रमते—प्रमाणमपीति । स्वप्रकाशलक्षणसमवेदेऽपि सादृश्यं साध्यं प्रसिद्धनप्रसिद्धं वा । आद्ये सिद्धसाधनता, केवलव्यतिरेकिताव्याकोपार्थः । द्वितीयेऽप्रसिद्धविशे-षणता इत्यत आह—नचेति । हेतुमत्तारयति—यत इति । श्लोकेन हेतुमाह—सामान्यत इति । सामान्यतोऽनुमानेन सामान्यतोऽदृष्टेन । प्रसिद्धेऽपि विशेषण इत्यत्रापि सामान्यत इत्यनुपपत्तीयम् । अनिर्धारि-तार्थमि विशेषतयेत्यर्थः । अतएव सामान्यतो दृष्टानुमाने नानिर्धारितार्थमि विशेषणमिच्छेति विवरणम् । अपिभि-न्नक्रम । सामान्यतोऽपि प्रसिद्धे विशेषणे अप्रसिद्धविशेषण. पक्ष. कथमिति कथय । न कथमपीति योजना ।

णवस्तुत्वस्यावधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वादिवद्वेतुत्वोपपत्तेः ।

ननु किमिदं साध्यमानं वेद्यत्वं वास्तवमुतावास्तवमाहोस्विद्व्यावहारिकमथवा साधारणम् । आद्ये साध्यविकलं निदर्शनमितरेषु सिद्धसाधनत्वमिति चेन्मैवम् । घटादेरिव व्यावहारिकप्रमाणसिद्धवेद्यतापादनेऽपि स्वप्रकाशत्वासिद्धेः । किंचानुभूतिपदं स्वगोचरगोचरज्ञानजन्य पदत्वात्कुम्भपदवत् । ननु किमत्र गोचरशब्देन विषयमात्रमुच्यते किं वा वाच्योऽर्थः अथ लक्ष्यो वा । न तावत्प्रथमद्वितीयौ । सिद्धसाधनतापत्तेः । अभ्युपेयते हि अनुभूतिशब्दवाच्यस्यान्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य ज्ञानस्य ज्ञानगोचरता । तृतीये तु मुख्यार्थविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदैर्व्यभिचार इति चेन्मैवम् । लक्षकपदं पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वेन लक्षकगङ्गादिपदवद्भ्रूक्ष्यज्ञानजन्यत्वानुमानात् । किंचानुभूतिपदाभिधेयस्य स्वप्रकाशत्वमभिधीयते भवद्विरुक्त लक्ष्यस्य । नाद्यः । अपसिद्धान्तापांतात् । न द्वितीयः । प्रतिवादिनं प्रत्याश्रयासिद्धेः । सकलधर्मातीतस्याद्वितीयस्यानुभूतिपदलक्ष्यस्य परैरनङ्गीकारात् ।

किंच स्वप्रकाशताया सति प्रमाणे तद्वेद्यत्वमसति च साधकाभावादेव न तत्सिद्धिरिति

णत्वेति । स्वरूपसत्ता विवक्षिता । अनुभूतित्वादिवदिति । यथाखनुभूतित्वादिति स्वप्रकाशतादिहेतौ कोऽयमनुभूतित्व नाम धर्म इक कल्पित उताकल्पित । नाद्यः । परस्यासिद्धेः । न द्वितीय । स्वस्यासिद्धेरिति विकल्पिते साधारण्येनैव परिहारस्तद्वदित्यर्थः ।

अत्र गङ्गापुरीभट्टारकोदीरितदूषणमनुवदति—ननु किमिदमित्यादिना । मेवम् । घटादेरिवेति । नहि घटादेरिवानुभूतेरपि वेद्यत्व प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धमिति मन्तुमुचितम् । तथा सति नैयायिकादेरिव जडयापि सविदाऽर्थप्रथमसिद्धौ घटादिप्रतीत्यन्यथीनुपपर्युपन्यासानवसरात्तदूषणाना समतेऽप्यनुषङ्गप्रसङ्गात् । नच नैयायिकाद्युपगतजडताया समारोपितत्वाङ्गीकारादस्त्येवानुभूतेरपि व्यावहारिकवेद्यतेति साप्रत, तस्या शुक्तिरजतादेरिव व्यवहाराक्षमत्वात् । अतो व्यावहारिकवेद्यत्वसाधनमपि विदूषणञ्चैव राद्धान्तमिति भावः । वेद्यत्वेनुमानान्तरमाह—किंचानुभूतिपदमित्यादिना । स्वगोचर एव गोचरो यस्य तज्ज्ञान स्वगोचरगोचरज्ञान तज्जन्य, शब्दमित्यत्वादिना प्रयोगस्य तज्जन्यत्वाच्छब्दोऽपि तज्जन्य इत्युच्यते । सिद्धसाधनतानिष्टरं स्वगोचरग्रहणम् । अत्रापि तैरुद्भावितदूषणमनुवदति—ननु किमत्रेति । सिद्धसाधनतामेव निरूपोति—अभ्युपेयते हीति । अतः करणवृत्तिविशिष्टस्यैति हेतुगर्भं विशेषणम् । यस्मादन्त करणवृत्तिविशिष्टमते ज्ञानगोचरत्वेत्यर्थः । मुख्यार्थविवक्षयेति । एव हि तदा प्रयोगः स्यात्—विवादपद स्वरूपविषयज्ञानजन्य पदत्वात्सप्रतिपक्षवदिति । एतच्चानैकान्तिक, मुख्याथविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदाना तादृश्यतीरादिज्ञानजन्यत्वाभावात्तेषा मुख्याथज्ञानमात्रजन्यत्वादित्यर्थः । तदेतदूषयति—मैवमिति । लक्षकपदत्वं हेतुस्वयाच नानैकान्तिकमित्यर्थः । पदमात्र पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वादियुक्ते भागासिद्धिबाधौ स्यातामिति लक्षकपदमित्युपपत्तम् । उभयवादिप्रतिपदानुभाव्यवाचकानुभूति लक्षकपदं चात्र विवक्षितं, तेन नाभयासिद्धिसिद्धसाधो । किंच यावत्किंचिरस्वप्रकाशत्वात्मानमुपन्यस्यते तस्य सत्यस्य धर्म्येव तावत् निरूपणपदनिष्पन्नाहो इत्याह—किंचानुभूतीति । अपसिद्धान्तेति । अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य स्वप्रकाशत्वनाश्रयणदित्यर्थः । प्रतिवादिनं प्रतीति । न तावदानुभूतिपदलक्ष्यस्य यस्यस्यपि प्रमातृत्वं प्रमेयस्य वा स्वप्रकाशता यथाध्विपिता, यथाध्विपिता भवेत्, तत्र द्वितीयानादिधिपनात्मभूतज्ञानस्य, तस्य परं प्रत्यक्षरायित्वात्वाध्विपितासिद्धिसिद्धिरिति भावः ।

किंच स्वप्रकाशतायां प्रमाणसद्भावात्तद्वानयो प्रमेयासिद्धिरिति ध्यायान्तात्पर्यमुपपत्तेरिति इत्याह—किंच स्वप्रकाशतायामिति । एवं स्वप्रकाशते प्रमातृत्वे समाक्षिप्य समाधनुमुपपत्तेः—

सैषौपनिषदानामुभयतः पाशा रज्जुरित्यलमतिविस्तरेण । अत्रोच्यते—‘अपरोक्षव्यवहृतेयो-
भ्यस्याधीपदस्य नः । संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः ॥ १ ॥’ न तावत्स्वयंप्रकाशे
 लक्षणासंभवः । अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणत्वात् । नच योग्यतालक्षण-
 धर्माङ्गीकारेऽव्याप्तिमोक्षदशायां तदसंभवाद्दपसिद्धान्तापत्तिश्चेति शङ्कनीयं, योग्यत्वात्यन्ता-
 भावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात् गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणस्य द्रव्यत्ववत्, तेन नाव्याप्तिः ।
 नाप्यपसिद्धान्तः, काल्पनिकधर्माणां संसारदशायामभ्युपगमात् । ‘अक्षमा भवतः केयं सा-
 धकत्वप्रकल्पने । किं न पश्यसि, संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितमिति सुरेश्वराचार्यवचनात् ।
 ‘आनन्दो विप्रयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा’ इति पञ्चपादिकाचार्यवचनाच्च । मो-
 क्षदशायां च विवक्षितधर्माभावेऽपि कदाचित्सत्त्वेन तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य गुणा-
 श्रयो द्रव्यमितिवत्सिद्धेरपरोक्षव्यवहारयोग्यघटादावतिव्याप्तिपरिहारार्थमवेद्यत्वे सतीति

अत्रोच्यत इत्यादिना । तत्र लक्षणं तावच्छ्लोकेन शङ्कति— अपरोक्षेत्यादिना । नः अस्माकं पक्षे अपरो-
 क्षव्यवहृतेर्व्यवहारस्य योग्यस्य । व्यधिकरणे पृष्ठौ । तथाऽधीपदस्य संबिदविषयस्य स्वप्रकाशस्य संभवे सति,
 स्वप्रकाशस्यैति पदमुपर्यपि संबध्यते द्वारमध्यस्थमणिवत् । अतस्तस्य स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः, न
 कुतोपीति योजना । संगृहीतलक्षणं विरुणोति—न तावदित्यादिना । अपसिद्धान्तापत्तिश्चाद्वैतवादिन
 इतरदशायामपीति शेषः । नच शङ्कनीयमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—योग्यत्वात्यन्तेति । कदाचिदपि योग्य-
 ताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेव । अनुत्पत्तिविनाशवन्तं हि संसर्गाभावविशेषमत्यन्ताभावमुपगच्छन्ति
 तार्किकाः । तथाच यदि कदाचिदपि तत्प्रतियोगी स्यात्तदा तत्पूर्वं वा तदुत्तरकालं वा तदभावो मन्तव्यः न
 सामसमयं विरोधात् । नचान्योन्याभावतत्प्रतियोगिघटयोश्च समसमयं वर्तमानत्वाच्च विरोध इति वचनीयम् ।
 तस्य तादात्म्यप्रतियोगित्वात्तस्य कदाचिदप्यभावात् । इतरथा, घटसंसर्गाभावघटान्योन्याभावयोः संकरप्रस-
 ज्ञात् । अथ घटप्रतियोगित्वे समानेऽपि संसर्गतादात्म्यरूपविशेषणभेदादसंकरस्वयोरेवं तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन
 संसर्गतादात्म्ययोरेवोभयत्र प्रतियोगित्वं न घटस्येति मूलीभावः, तदितरभावेषु वायं नियमः । विस्तरेण
 चैतदुपरिष्ठादुपपादयिष्यते । ततश्च प्रतियोगिपूर्वकालीनत्वे विनाशित्वनुत्तरकालीनत्वे तूपत्तिमत्त्वं स्यात्तद्य
 प्रागभावप्रखंडस्योरन्यतरत्वं प्रसज्येत । तस्मात्कदाचिदपि योग्यताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेवेति
 सिद्धम् । ततश्चैतदहीकर्तव्यम् । इतरथा गुणवद्द्रव्यमिति कणादोक्तगुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वमज्ञप्रसङ्गात् । प्रथमक्षणे
 हि गुणवत्त्वामावेनाव्याप्तेः । यथा चैतत्तथा द्वितीयपरिच्छेदे द्रव्यलक्षणखण्डनप्रस्तावे विस्तरेण निवेदयिष्यते ।
 तस्मात्तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव तत्र शरणं, तदनापि समानमनिनिवेशमपहयेत्यभिधेयं—गुण-
वत्त्वात्यन्तेति । यद्यप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव लक्षणं संभवति तथाप्यामुक्तैर्वियमा-
 नयोग्यताऽव्यागयेदमुक्तम् । भवत्वेवमव्याप्तिपरिहारोऽपसिद्धान्तव्याधेः किमौपनिषत्त आह—नाप्यपसि-
द्धान्त इति । कः खल्वेवं वदेत्संसारदशायामपि काल्पनिकधर्मो न सन्तीति, किं परः किं वा स्वयूयः
 कथित् । परधेद्विद्यदाचारोपसमर्थनेन समर्थनीयः । उत्तरमाप्तानान्येन संमतयति—अक्षमा भवत इत्या-
दिना । अद्वितीयात्मनः साधकत्वकल्पनाया केयमक्षमा असहिष्णुता भवतः किं तत्रैव समस्वप्रपन्नं कल्पितं
 न पश्यसि, ततोऽस्यल्पमिदमित्यर्थः । ‘विप्रणिणस्तद्धर्माणां चेत्यथासभाप्यावयवं व्याचक्षाणैः पञ्चपादिका-
 कृद्भिः—ननु विप्रणिणश्चिदेकरसस्य कुतो धर्मा ये विषयेऽभ्यस्येरजित्वाक्षिप्यं समाहितं—‘आनन्दो विप्रया-
नुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः । अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्त’ इति । ननु संसारदशायां कल्प-
नासंभवः मोक्षदशायां तु तदभावाद्वाव्याप्तिरित्यत आह—मोक्षदशायामिति । यद्यप्ययमपि कथन धर्म-
 स्तथापि परैस्त्वदभावरूपत्वेनाङ्गीकृतत्वात् अभावभावनयोरेवंविधस्थलेष्वनतिरेकस्वीकाराच्च न दोषः । एतच्च
 पूर्वोक्तस्य विवरणम् । इदानीं लक्षणविशेषणानां कृत्वा माह—अपरोक्षेति

पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः ॥ २ ॥ तथाहि वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात् शौक्यवदिति समान्यतो दृष्टानुमानेनानिर्धारितधर्मिविशेषनिष्ठस्यावेद्यत्वधर्मस्य प्रसिद्धत्वात् . केवलव्यतिरेकिणश्चोभयवादि संप्रतिपन्नापरोक्षव्यवहारयोग्यानुभूतिविशेषावलम्बताया एव समर्पणात् नाप्रसिद्धविशेषणता ।

यद्वा यद्विपर्यये असमीहितप्रसक्तिस्तत्कचिन्मानयोग्यमिति सामान्यव्याप्तिः । इह चानुभूतिरनुभाव्या भवति नवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशये सत्यनुभावव्यत्वे सत्यसमीहितप्रसक्तेस्तद्विपर्ययस्य सामान्यतो मानयोग्यत्वाधिगमात् विशेषप्रमाणापेक्षायां व्यतिरेकिण उपन्यासात् नाप्रसिद्धविशेषणता । अन्यथा, कथमिच्छादीनामष्टद्रव्यव्यतिरेकद्रव्याश्रितत्वं नैयायिकाद्योऽपि साधयेयुरष्टद्रव्यव्यतिरेकद्रव्यस्याप्रसिद्धावप्रसिद्धविशेषणता, प्रसिद्धौ च हेतोस्तत्र वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्वासंभवः, अवृत्तौ चा-

अत्र च सामान्यत इति सिद्धसाधनतापि परिहृता वेदितव्या । सामान्यतोदृष्टमेवाह—तथाहि वेद्यत्वसिद्ध्यादिना । अभावप्रतियोगीत्युक्ते अन्योन्याभावेन वेद्यत्वेऽप्युपपद्यमानेनार्थान्तरता स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । नचास्तित्वेन व्यभिचारः, तस्य पक्षत्वात् पक्षतुल्यत्वाद्वा । अभिधेयत्वादिष्वपीयमेव गतिः । अन्ततः स्वस्मिन्नेवाभावादात्माश्रयप्रसङ्गात्, उत्पत्तिशक्तिप्रतिबन्धकस्यैव दोषत्वमिति प्रक्रियामात्रं, नियमेन प्रमाणानुपलब्धेरविशेषादिति । अत्र च वेद्यत्वप्रसिद्धैव यद्यपि तदनधिकरणत्वमपि प्रसिद्धं, प्रतियोगिप्रसिद्धौ बाभावप्रसिद्धेः तथापि सुहृद्भूत्वेदमाहेति ब्रह्मव्यम् । अनिर्धारितेति । अनिर्धारितो यो धर्मिविशेषस्तन्निष्ठस्येत्यर्थः । ननु भवत्ववेद्यत्वसिद्धिरपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वस्य कृतः सिद्धिरित्यत आह—केवलव्यतिरेकिणश्चेति । अथवा मानान्तरेणावेद्यत्वसिद्धौ किमनेनानुमानेनेत्यत आह—केवलेति । केवलव्यतिरेकिण इति पञ्चमी । प्रथमपक्षे स्वयमर्थः । अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं तावदनुभूतावेव तथापि संप्रतिपत्तं तादृगनुभूतौ चावेद्यत्वमन्यतः स्वरूपेण सिद्धं यदा साध्यते तदा किमपरमत्राप्रसिद्धं येनाप्रसिद्धविशेषणता स्यादिति । द्वितीये तु सामान्यतः सिद्धस्यानुमानेन धर्मिविशेषे साधुनाज्ञानधर्मकमित्यर्थः । एतेन केवलव्यतिरेकतापि रक्षिता अन्यत्र प्रसिद्ध्यनभ्युपगमात् ।

एवमुदयनरीत्या केवलव्यतिरेकिणः प्रामाण्यं समर्थितम्, संप्रति लीलावतीकाररीत्याप्याह—यद्वेति । नस्य वैपरीत्याङ्गीकारे प्रमाणान्तरवाधादिप्रसक्तिस्वतःप्रमाणयोग्यमिति सामान्याकारेण व्याप्तिः । व्याप्तहेतोः पक्षयन्तामाह—इह चेति । तर्हि सर्वत्र विपक्षवाधात्प्रमाणोच्यनम् । तथाच गतं षटादिप्रत्यक्षेणाविमर्शपूर्वकेणेत्यत आह—संशये सतीति । कोटिद्वयाप्रसिद्ध्या साधारणधर्मदर्शनाभावान्न संशयोत उक्तम्—विप्रतिपत्तेरिति । इदं च प्रयोगसरीरे—वेद्यत्वमनुभवनिष्ठप्रामाणिकाल्यन्ताभावप्रतियोगि तर्कविद्याधितत्वात् यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरजतादि यथा धा षट्त्वादीति । तर्कमात्रं चेदमित्यादाह्य प्रस्तुतानुमानोपयोगमाह—विशेषप्रमाणापेक्षायामिति । अत्र सामान्यतोऽनुमानेनेति सामान्येन प्रमाणोच्यनेनेति योजनीयम् । एतदेव प्रतिबन्धा साधयति—अन्यथेति । अनुपपत्तिसाम्यं सावदाह—अष्टद्रव्यव्यतिरेकेति । तत्र वृत्ताविति । अत्र षट्द्रव्यातिरेकद्रव्यप्रसिद्धौ तदाधितगुणाधीनां सपक्षत्वम् । तथाच तत्र हेतुपक्षव्यवहारयोर्द्वयस्यैव स्वादित्यर्थः । एवमनुपपत्तौ सामान्यात्मस्यदुष्कविधामन्तरेण नापरा विधास्तीति भावः । तथाहि इच्छादयो गुणाः अभिलष्ये सख्यगदायचाशुपप्रत्यक्षत्वात् गन्धवदित्यादिना गुणत्वे स्थिते गुणत्वापरजातिमत्तया नियतेकद्रव्यव्यवहारेदन्तया विशेषगुणत्वे च सिद्धे सतीच्छादयः कश्चिदाधिताः गुणत्वात्सपक्षविति सामान्यतोदृष्टानुमानेनानिर्धारिते कश्चिदधिदाधये सिद्धे न तावत्सपक्षवित्तोऽप्युगुणाः प्रत्यक्षमेव सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्, प्रत्यक्षत्वे सत्यत्वावश्यभावितात् । नाप्याद्यासाधिशेषगुणाः कश्चिद्विद्याप्रत्यक्षत्वात् । नापि रिवाहमनगां विशेषगु-

साधारणानैकान्तिकतापत्तिः । नचैवं सत्यप्रसिद्धविशेषणताया अदूषणतापत्तिः, उक्तसामान्यतोदृष्टानुमानगोचरत्वासंभवे, शशविपाणोल्लिखिता भूरित्यादौ तस्याः सावकाशत्वात् । अथवा अयं घटः एतद्वदान्यत्वे सति वेद्यत्वानाधिकरणान्यः पदार्थत्वात्पटवदित्यादिमहाविद्याप्रयोगैरप्यवेद्यत्वप्रसिद्धिरप्युहनीया । नाप्रसिद्धविशेष्यतापि, अनुभूतेः प्रसिद्धत्वात् । अतएव नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः । नापि स्वरूपासिद्धिः, कल्पितव्यक्तिभेदनिष्ठस्य चन्द्रत्वसामान्यस्येवानुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमे सिद्धान्ताविरोधात् । कल्पितस्यापि प्रतिबन्धादिवत्साधकत्वसंभवात् । नच प्रतिवाद्यसिद्धिः, तेनाप्यनुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमात् ।

• नच कल्पिताकल्पितत्ववैषम्याद्धेतोरन्यतरासिद्धिराशङ्कनीया, अवधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वमात्रस्योभयवादिसिद्धत्वात् । अन्यथा धूमवत्त्वादावपि तदेतदेशनिष्ठत्वा-

णत्वादित्यादिनाऽदृष्टव्याश्रयत्वानुपपत्तौ सिद्धायामिच्छादयोऽदृष्टव्यव्यतिरेकद्रव्याश्रयाः, तेष्वनुपपद्यमानत्वे सति गुणत्वाद्यत्रैवं तत्रैवं यथा गन्धादीति केवलव्यतिरेकिणैव सिद्धिरिति । नन्वेवंविधपरिहारज्ञानस्य सर्वत्र सुलभत्वाद्गतं वताप्रसिद्धविशेषणतातपस्विन्येतत् आह—नचैवं सतीति । एतदुक्तं भवति—न सर्वत्रैवंविधः परिहारः सुलभः असमाभेयाप्रसिद्धविशेषणत्वानामपि 'भूमिः शशविपाणोल्लिखिता' इत्यादीना संभवात् तेषु चास्याः साम्राज्यमिति । तदेवमृजुरीत्याऽप्रसिद्धविशेषणतां परिजहार । येतु वकरीति रोचयन्ते तान्प्रति महाविद्यामिरपि साध्यप्रसिद्धिं सुलभयति—अथयेति । अयं घटः वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्ववेद्यत्ववादिनोऽनुमानात्पुरस्तात्तदनधिकरणासिद्धेरत उक्तं—घटान्यत्वे सतीति । घटत्वानधिकरणत्व इति यावत् । तथाच सर्वघटेषु सिद्धसाधनं, तत् उक्तं—एतदिति । एतस्य च घटस्य वेद्यत्वाधिकरणत्वेऽपि स्वान्यत्वंप्रत्यनधिकरणत्वात्तथाविधघटान्यत्वस्य च पटादावेव प्रसिद्धेर्नाप्रसिद्धविशेषणतासिद्धसाधनते इत्यर्थः । घटमात्रं पक्षीहृत्सैतद्वदान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते घटान्तरमादायार्थान्तरता, घटान्तरस्याप्येतद्वदान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणादेतत्सादन्यत्वात्तद्वच्छेदार्थमयमितिपदम् । एतस्यैव घटस्य एतद्वदान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वे साध्यमाने घटान्तरमादायार्थान्तरताया अनवकाशात् । एतद्वदान्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते व्याहतिः सादेतद्वदस्यैतद्वदान्यत्वान्ययोगात् तदर्थं वेद्यत्वपदम् । अत्र चैतद्वदान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणमयं घटस्तदन्यत्वमादाय पटादौ साध्यप्रसिद्धिः । पक्षे त्वेतद्वदस्यैतद्वदान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वमेतद्वदान्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा स्यात् । आद्ये व्याहतिः । एतस्यैव घटस्यैतद्वदान्यत्वान्ययोगात् । अत एतद्वदान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणमन्यत्किञ्चिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यवेद्यत्वसिद्धिः । आदिप्रदूषणेन वेद्यत्वं स्वखेतरदृष्टित्वानधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिदृष्टिधर्माधिकरणं मेयत्वादिभ्यादि सगृहीतम् । एतदपि सामान्यतोऽनुमानेनेति सगृहीतमेव । नाप्रसिद्धविशेष्यतापीति । विशेष्यं धर्मि । तदेवं पक्षदूषणान्यपाहृत्य हेतुदूषणान्यपाकरोति—अतएवेत्यादि । यत् एवं विशेष्यरूपस्य धर्मिणः प्रसिद्धिस्तत् एवेत्यर्थः । ननु किमिदमनुभूतित्वं नाम न तावज्जातिः, अनुभूतेरेकवाङ्गीकारेण व्यक्तयभेदस्य जातिबाधकत्वात् । यथाह—'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सकरोऽयानवस्थितिः । रूपहानिरसबन्धो जातिबाधकसप्रह' इति । अतएव नोपाधिरपि । अनुगतो ह्युपाधिर्भवति अद्वैतविरोधधोभयत्रापि तुल्य इत्यसिद्धिरेव हेतोरित्यत आह—नापीति । यथाच कल्पितस्यापि साधकत्वं तथा मिथ्यात्ववादे व्युत्पाद्यमिष्यते ।

ननु प्रतिवादिना पारमार्थिकी जातिराद्रियते, भवता तु कल्पनिकीत्यन्यतरासिद्धिरित्यत आह—नच कल्पितेति । अथधीरित. कल्पिताकल्पितरूपो विशेषो येनानुभूतित्वमात्रेण तत्तथोक्तम् । उक्तपरिहारानङ्गीकारे स्वव्याहतिं बाधिकासाह—अन्ययेति । तदेतद्देशेति । धूमवत्त्वं किं महानसनिष्ठं हेतुरुत्त पर्वतनिष्ठम् । आद्येऽसिद्धि द्वितीये साधनविकलं निदर्शनमिति दूषणे नोदीरितपदवीव्यतिरेकेण परित्राणनस्तीत्यर्थः । अन्यथाऽसिद्धि

दिविफलपेनासिद्ध्यादेर्दुष्परिहरत्वात् । नच व्याप्यत्वासिद्धिः, सोपाधिकस्यैव तथात्वात्, केवलव्यतिरेकिणि चोपाधेरसंभवात् । उपाधिर्हि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः स चान्वयव्यतिरेकी कश्चिद्धर्मः स कथं केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साधे-
नान्वयी स्यात् । नच पक्षे साध्येनान्वयः, तत्र साध्यस्याद्यापि संदिग्धत्वात् । निश्चये च सिद्धं नः समीहितमिति, किमुपाधिः करिष्यति । पक्षे चोपाधिवृत्तौ साधनव्यापकता च दुर्वारा । नच साध्यसद्भावे माभूदुपाधिः, साध्याभावे पुनरुपाधिः कश्चिद्भविष्यतीति वाच्यम् । तथाहि यत्रोपाधिरस्ति तत्र साध्यं नास्तीति साध्याभावस्य गमकत्वेनोपाधिरे-
ष्टव्यः । अन्यथोपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो व्यापकतया न वर्तते चेदुपाधिसद्भावे

परिहरति—नच व्याप्यत्वासिद्धिरिति । एषा हि हेत्वाभासानां स्थितिव्याप्यत्वेसति पक्षधर्मतया प्रमितत्वं सिद्धत्वं तद्विपरीतमसिद्धत्वम् । तत्र व्याप्तेरसिद्धौ व्याप्यत्वासिद्धिरित्यभिधीयते । पक्षधर्मत्वाऽसिद्धितु त्रिधा । तत्राश्रयस्वरूपासिद्धत्वाश्रयासिद्धिस्तद्विशेषणपक्षसत्त्वाप्रतीत्या तु असिद्धसाधनमिति । इमामपि द्विविधां केविद-
भिदधति साध्याकाराप्रसिद्ध्या साध्यस्वरूपासिद्ध्या चेति, प्रथमाऽसिद्धसाधनताभिधाना द्वितीया त्वप्रसिद्ध-
विशेषणमिति । एतत्तु केवलपक्षदृष्टणतयैव वृद्धव्यवहारे प्रसिद्धं हेतुस्वरूपासिद्धौ तु स्वरूपासिद्धिरिति । तत्र व्याप्यत्वासिद्धिर्नाम सोपाधिकः संबन्धः, निरुपाधिकसंबन्धस्य व्याप्तित्वात्तोपाधिकत्वे च निरुपाधिकसंबन्ध-
वैधुर्यादिति । तदेतत्सर्वमसिंधयाहाह—सोपाधिकस्यैव तथात्वादिति । भवतु तर्ह्युपाधिरपि किने-
सावता इत्यत आह—केवलव्यतिरेकिणि चेति । केवलव्यतिरेकिण्युपाध्यभावं वक्तुमुपाधिलक्षणमनुव-
धति—उपाधिर्ह्यिति । साधनाव्यापक उपाधिरित्युक्ते शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र सामान्यवत्त्वे सल-
स्मदादिवाहोन्द्रियग्रहणार्हत्वमुपाधिः स्यात्तदर्थं साध्यव्यापक इत्युक्तम्, तथेत्युक्ते सामान्यवत्त्वादिनाऽनित्यत्वता-
धने कृतकत्वमुपाधिः स्यात्तदर्थं साधनाव्यापक इत्युक्तम् । एतेन पक्षेतरत्वमपि व्याख्यातं, तस्यापि साध्य-
व्यापकत्वे उपाधित्वादितरथाऽनुपाधित्वादिति । भवत्वेवं ततः किमायातमित्यत आह—सचान्वयव्य-
तिरेकीति । साध्यव्यापकत्वमन्वयः, साधनाव्यापकत्वं व्यतिरेकः, तदुभयवाङ्मर्मः कश्चिदुपाधिरित्यर्थः ।
अस्त्वेतावतापि प्रस्तुते किमित्यत आह—स कथमिति । तत्र वक्तव्यं किं पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यव्याप-
कत्वं किंवा पक्ष एवामिप्रेतमिति । नाय इत्याह—स कथमिति । केवलव्यतिरेकिणि प्रवर्तमानः स उपाधिः
पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्येन कथमन्वीयात् कथमपीति योजना । केवलव्यतिरेकिणीति हेतुगर्भं विशेषणम् ।
महि केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यं संभवति अविद्यमानसपक्षत्वादित्यर्थः । न द्वितीय इत्याह
—नच पक्ष इति । तत्र साध्यानिर्णयादित्याह—तत्र साध्येति । विपक्षे दण्डमाह—निश्चये चेति ।
साध्यापहारो ह्युपाधेः कृत्स्नं, तत्र साध्यमेव चेन्निरातं किं पुर्वत्रयमुपाधिः स्यादित्यर्थः । दृष्टणान्तरमाह—
पक्षे चेति । साधनवभिष्टाल्यन्ताभाववत्त्वं ह्युपाधेः साधनाव्यापकत्वम् । तत्र पक्षेऽपि चेदुपाधिवर्तते कथं
तत्रैव तस्यात्यन्ताभावः स्यात् । नचान्यत्र, केवलव्यतिरेकिराधनस्यान्यत्राभावादिति भावः । ननु न ययं
साध्यसद्भावे उपाधि मूमः येन साध्यव्यापकता दुःसाधा अपितु साध्याभाव इत्यत आह—नच साध्य-
सद्भावे इति । नच साध्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—तथाहि यत्रोपाधिरिति । तथाहि तथाद्यतीत्यर्थः ।
उपाधिना हि साध्याभावप्रमितिं शान्छता साध्याभावाप्रति गमकत्वेन व्याप्यत्वेनोपाधिरेष्टव्य इत्युक्तम् । व्याप-
कत्वे दोषमाह—अन्यथेति । अन्यथा व्यापकत्वेनाप्रीतिरिति भावे, व्यापकत्वोपाधिरिति संबन्धः । व्यापकस्य
चोपाधेरपि कृत्स्नतासंभवात्, उपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो यदि न वर्तते, संभवति शक्यतः न्यूनतः
साध्याभावस्य । तत उपाधिसद्भावेऽपि साध्यसद्भावे स्यात्साध्याभावाभावस्य साध्यस्यात्साध्यान्तरीयकत्वादे-
त्यर्थः । शक्यवत्त्वयोः पा पदच्छेदः । साध्याभावस्य व्यापकत्वाभावेनेत्यर्थः । भवतु उपाधिसद्भावेऽपि साध्य-

साध्यं स्यात्, तत्र न पक्षे, तत्रोपाधिसद्भावे तस्य साधनव्यापकत्वप्रसङ्गात् । तस्मादन्य-
त्रोपाधिसत्त्वे साध्यस्य सत्त्वं स्यादिति वाच्यम् । तथाच केवलव्यतिरेकित्वमङ्गप्रसङ्गः ।

प्रकृते चानुभूतिर्वेद्या वस्तुत्वाद्घटवदिति केवलान्वयिनानुमानेन हि स्वयंप्रकाशत्व-
व्यतिरेको वक्तव्यः । तत्रच नोपाधिः संभवति साधनाव्यापकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तदेवं
नासिद्धो हेतुः । नापि विरुद्धः । वेद्येषु विपक्षेष्वनुभूतित्वहेतोरग्रुत्तेः । नाप्यनैकान्तिकः, विपक्षा-
द्यावृत्तेरेव । नाप्यसाधारणः, सपक्षाभावात् । विपक्षे बाधकतर्कभावात्संदिग्धानैकान्तिकतेति-
चेत् । मैवम् । अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनवस्थापातात् । नच वाच्यमवश्यवेद्यत्वाभावात्तानवस्था
व्यवहारस्य तत्स्वरूपसत्तामात्रेणाप्युपपत्तेरिति । तद्विषयप्रमाणानुदये तत्सत्ताया अप्यनि-
श्चयात् तत एव व्यवहार इत्यप्यसिद्धेः । अथ यदा कदाचित्तत्सत्ताजिज्ञासोदये व्यव-
हारादिना केनचिद्विज्ञेन सापि प्रमीयत इति मतं, तत्र । घट इति घटमनुभवामीति

सद्भाव किमत, तत्र वक्तव्यं किं पक्षे उत तद्यतिरेकस्थले । आद्य प्रत्याह—न पक्ष इति । तत्र हेतुमाह
—तत्रोपाधिसद्भाव इति । यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । द्वितीय परिशेषयति—तस्मादिति ।
भवत्वेवं तत किमिति । केवलव्यतिरेकिताकोपमपहाय न किंचिदित्याह—तथाचेति ।

ननु माभुक्तदोपराशिकेशानुकर्षितया साध्याभावंप्रति व्यापकलमुपाधेः, व्याप्यत्वे का नामानुपपत्तिरिति
तत्राह—प्रकृते चेति । अनुमानेनेति । हेतुनेत्यर्थः । अत्रहि स्वप्रकाशलक्षणसाध्याभावो वेद्यत्वम् । यत्रच
यस्तुत्वं तत्र च वेद्यत्व गमकत्वेनामिमतमिति तदेवोपाधिस्तस्य च केवलान्वयित्वेनामिमततया सर्वनिष्ठस्य
साधनवत्सपि विद्यमानत्वात्साधनाव्यापकत्व दुर्लभमित्यर्थः । अत्र च प्रकृतग्रहण केवलान्वयिग्रहण चोपल-
क्षणम् । सर्वकेवलव्यतिरेकिणि पक्षनिष्ठतयाश्चज्ञमानसर्वोपाधे साधनव्यापकत्वात् । एतेन साध्याभावसम-
व्याप्तः कथिदुपाधिरस्तीति पक्षोऽपि निरस्तः । किंच यदा साध्याभावप्रति व्याप्य उपाधिरिष्यते, तदा साध्या-
भावव्यावृत्तापुपाधिव्यावृत्तिरप्येष्टव्या, व्यापकाल्यन्ताभाववन्निष्काल्यन्ताभावप्रतियोगिनो व्याप्यत्वात्, संभव-
तिरेकयोश्च व्यतिरेकव्याप्तेरप्येष्टव्यत्वात् । तथाच साध्याभावव्यावृत्तापुपाधेरपि व्यावृत्ति कि पक्षे उतान्यत्र ।
नाथ । पक्षे साध्याभावाभावरूपसाध्यसाध्याप्यनिर्णयात् । नाप्यन्यत्र । केवलव्यतिरेकिताकोपादिति । अत्र
कथित्—साध्याभावसाधनाभावसबन्धमञ्जकतया विपक्षे एवोपाधि निदध्यादिति, तत्तु साध्यसन्दर्धानवबोध-
विशुम्भितमिति न तदपराध कथित् । एव हि साध्याभावाव्यापकत्वे सति साधनाभावव्यापक उपाधिरित्युक्त-
स्यात्तथाच कथं साध्यव्यापकत्वम्, नहि साधनाभाव साध्यम् । अविप्रतिपन्नत्वात् । कुत्र च साध्याभावाव्यापकत्व
मवहेयम् । न तावत्पक्षे । तत्र साध्याभावानिर्णयात् । नाप्यन्यत्र । तथासति साधनाभावाव्यापकतया तत्पक्षव्य-
तिरिक्तस्य सर्वस्य केवलव्यतिरेकिसाधनाभाववत्त्वात् । यद्वा चान्न वक्तव्यमस्ति विस्तरमयानु नोच्यते । ननु
भवतु विपक्षवृत्त्यभावात्सपक्षेऽसति सपक्षाप्रवेशाभावाच्च विरुद्धानैकान्तिकतानामध्यवसितानामभाव । विपक्षे
बाधकतर्कभावात्तु संदिग्धानैकान्तिकताकिंवदन्त्या कानु प्रतिक्रियेति शङ्कते—विपक्षे बाधकेति । नन्य-
नुभूतिरनुभाव्येवेति यदि नियम स्यात्, स्यादनवस्था । नरवय नियम इति मतमाशङ्क्य निषेधति—नच वाच्य-
मित्यादिना । ननु यदि नानुभाव्यतानियम, अननुभूततया तर्हि कथमर्थं व्यवहार इति शङ्का स एव परिहर-
ति—व्यवहारस्येति । तत्स्वरूपसत्तामात्रेण । अज्ञातेनेत्यर्थः । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—त-
द्विषयेति । स्यादेव, यदि तज्ज्ञानमन्तरेण तत्सत्तानिधीयेत, नत्येतदस्ति प्रमाणाभावे दुरवधारणसत्तावत्त्वा-
दितरयाऽसत्त्वमेव कथं नाध्यवसीयते । यथोक्तं को भूते सती सा वित्तिरिति । तस्मात्सत्त्वमपि तस्य प्रमाणा-
देवावगन्तव्यमित्यर्थः । यदत्र तात्पर्यपरिशुद्धानुदयनेनोक्तं तदाशङ्कते—अथेति । अथमर्थं—नास्माभिः
सत्ताया प्रमाणमेव नास्तीत्युच्यते, अपितु जिज्ञासाया सत्यां, ननु पुन सौदयसमसमयमेवेति । तस्मात्वातीतायाः
प्रलक्षाविपयत्वात् व्यवहारादिना विज्ञेनेत्युक्तम् । आदिशब्देन च स्मरणं प्रकृते परिहरति—तन्नेति ।

चानुभूतिद्वयातिरिक्तायास्तत्तदनुभूतिपरम्परावगाहिकायाः कस्याश्चिदनुभूतेरनुभवागो
त्वात् । अन्तरेण तदनुभवं तत्सत्ताभ्युपगमे प्रमेयसत्ताया अपि तथाभ्युपगमोपपत्तौ
माणगवेषणावैयर्थ्यापातात् । तत्रापि च प्रमाणगवेषणायां पूर्वोक्तानवस्था तदवस्थैव स्यात्

अथ सा स्वविषयप्रमाणमन्तरेण स्वभावभेदादेव स्वविषयभेदव्यवहारं जनयेत्,
नयेत् सैव तर्हि तथा स्वव्यवहारमिति व्यर्थानुभूतिपरम्पराभ्युपगतिः । तदेवमनुभूतेरनु
व्यत्वेऽनुभूतिस्वरूपासिद्धिप्रसङ्गस्यैव विपक्षे बाधकतर्कत्वात् न संदिग्धानैकान्तिकता
किंचानुभूतिरर्थप्रकाशनसमये यदि न प्रकाशेत तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र संदे
विपर्ययो वा विपरीतप्रमा वोदियात् । नच कश्चिदमुमद्राक्षीन्नो वा भवानिति पृष्टोऽनन्तरक्ष
संदिग्धे विपर्यस्यति संविद्भावं वा प्रमिणोति, किंतु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति
तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थव्यवहारं जनयतीति युक्तम् । नच सुखादिवदन्याधीनप्रका
शत्वेऽपि संशयाद्यविषयत्वोपपत्तिः । सति धर्मिणि तद्वदेवावश्यवेद्यत्वेऽनवस्थादौस्थ्यत्

किंच येन मनःसंयोगेन घटानुभूतिर्जनिता तेनैवानुव्यवसायस्यापि जन्म उत संयो

अयं भावः—भवेदेवं यदि काचिदेवंविधा वितिः स्यात्सैव त्वनुपलब्धिविहृदा । नहि संसारमण्डले कस्यचिद
वाग्दशो व्यवसायानुव्यवसायातिरिक्ता तत्तद्वित्तिपरम्परावगाहिका काचिदपि वित्तिरनुभूयते । तेनोपलब्धियोग्य
त्वे सत्यनुपलब्धेरभाव एवावसीयते । योगिप्रभृतीनां तु तदस्तित्वे न ते प्रमाणमस्तीति । अथ माभूदनुभवस्त
थापि तत्कल्पयाम इत्यत आह—अन्तरेणेति । तदनुभवं तादृशवित्त्यनुभवमित्यर्थः । न वयनेवमेव कल्प
यामः अपितु प्रमाणबलादिति चेत्तत्राह—तत्रापीति । तृतीयज्ञान इत्यर्थः ।

ननु तादृशी संवित् स्वरूपकप्रमाणमन्तरेणैव स्वरूपविशेषात्स्वविषये व्यवहारं प्रवर्तयतु, नयेकस्य यादगेव
स्वभावस्तादृगेव सर्वस्येति शक्यनियमनं, जगद्वैविध्यभङ्गप्रसङ्गादिति शङ्कते—अथ सेति । स्वभावभेदात् ।
स्वभावविशेषादित्यर्थः । स्वविषयभेदव्यवहारमिति । स्वविषयविशेषव्यवहारमित्यर्थः । परिहरति—
सैव तर्हीति । स्वव्यवहारमिति । स्वविषयव्यवहारमिति यावत् । अन्तिमायां यो न्यायः स प्रथमायामे-
वास्तु, प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धन इति न्यायादित्यर्थः । तृतीयज्ञानमेव वा तच्छब्दावमृष्टं तदा
स्वविषयवत्स्वस्मिन्नपि तथाव्यवहारं प्रवर्तयेत्तन्नायेन न्यायस्य स्वप्रकाशता सिध्यतीति द्रष्टव्यम् । किंचानुभूतित्वं
भवतु स्वप्रकाशत्वं च माभवत्विति वदन्प्रष्टव्यः किं अर्थप्रकाशनसमयेऽनुभूतिर्न प्रकाशतएव प्रकाशमाना वा
परत इति । नाद्य इत्याह—किंचानुभूतिरिति । अप्रकाशमानेऽपि सर्वत्र संदेहादिर्नास्ति जिज्ञासाभावा-
दपि तदभावोपपत्तेः । नहि हिमगिरिदरीविहारिकेसरिसटासंख्यासु संदिहते जनाः, असंदिहाना वा विपर्य-
स्यन्ति, अविपर्यस्यन्तौ वाऽभावं प्रमिष्वन्ति, अप्रमिष्वन्तो वा तत्तत्त्वं विनिश्चिन्वन्तीत्यत उक्तं—जिज्ञासो-
रिति । जिज्ञासायां सत्यामपि संदेहादिर्नोदिति अभावनिर्णयादपि तेषामभावोपपत्तेरत उक्तं—विपरी-
तप्रमा वोदियादिति । एतदुक्तं भवति—यत्र विषये प्रमितिरपि नास्ति जिज्ञासा च चकास्ति तस्याः स्फुर-
णदशयां संदेहादिर्भवेदेवेति । नचेतदनास्तीत्याह—नच कश्चिदिति । निश्चयमेवास्मिन्यति—इदम-
हमद्राक्षमिति । इदानीं द्वितीयं निषेधति—नच सुखादिद्यदिति । हेतुमाह—सति धर्मिणीति ।
धर्मा अनुभवः । तद्वदेवेति सुखादिदेवेत्यर्थः । अथवा सति धर्मिणीति द्वितीयज्ञाने सतीत्यर्थः ।
तद्वदेवेति प्रथमज्ञानवदित्यर्थः । तथासत्यनवस्था प्रसरत्वेवेति भावः ।

नच सुखादिप्रतिबन्धी, तत्राप्यस्मन्मते तदाधकसाक्षिणः स्वप्रकाशत्वेनानवस्थानवतारात्, भयतामेव त-

त्रापि दौस्थ्यत् । नरेवमर्थप्रतीतिसमये संविदः स्फुरणमनवस्थाभयादन्यनिबन्धनं न भवतीत्युक्तम् । इदानीं

तद्विपर्यं शानमेव नित्यमितुं न शक्यते कारणमावादित्याह—किंच येनेति । व्यपसायजन-

गान्तरेण । नाद्यः । अनुव्यवसायं प्रति कर्मकारकतया जनकस्य व्यवसायस्य तज्जन्यानु-
 व्यवसायस्य च यौगपद्यायोगात्, करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यानङ्गीकाराच्च । यतोऽस-
 नवाधिकारणभेद एव ज्ञानभेदहेतुरभ्युपेयते । अन्यथापेक्षणीयान्तरासंभवेन युगपदेव
 घटानुभवस्मरणयोरनुभवान्तरस्य च तद्विषयस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । अक्रमाच्च कारणात्कार-
 णभेदक्रमायोगात्, बाह्यसामर्थ्यवच्छेदकक्रमभेदेन कार्यक्रमाभ्युपगमे युगपदेव संप्रयुक्तेषु
 घटपटादिषु युगपदेवानेकज्ञानजन्मप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । घटज्ञानोदयसमये मनसि
 क्रिया ततो विभागस्ततः पूर्वसंयोगविनाशस्तत उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्ततो ज्ञानान्तरमित्यने-
 कक्षणविलम्बेनोत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यापरोक्षतया पूर्वज्ञानप्राहकत्वानुपपत्तेः । किंच चक्षु-
 रादिवदप्रकाशमानस्यैव ज्ञानस्य स्वातिरिक्तज्ञानजननेनार्थव्यवहारहेतुत्वाभावात् जडानां
 च स्वतः परस्परं वा प्रकाशमानत्वायोगात् ज्ञानमपि न प्रकाशते चेत्किमपि न प्रकाशे-
 तेति जगदान्ध्यप्रसङ्ग इत्यादिविपक्षबाधकस्तर्क उच्येयः ॥

ननु घटज्ञानवानहमस्मि ज्ञातो घट इति प्रत्यक्षेणैवानुभूतेर्वैद्यत्प्रतीतेः कालात्याप-

कसंयोगेनैवानुव्यवसायजन्मेत्याद्यं पक्षं निराचष्टे—नाद्य इति । तत्र किं युगपदेव ज्ञानद्वयं जनयति स
 मन संयोगः उत पर्यायेण । नाद्यः । जन्मजनकयोः समसमयमेव जन्माभावादित्याह—अनुव्यवसायं
 प्रतीति । न द्वितीय इत्याह—करणस्येति । प्रत्ययपर्याय प्रत्ययपरम्परा । प्रत्ययपर्याये सामर्थ्याभावं
 विवृणोति—यत इति । अस्यैव भेदकत्वानङ्गीकारे दण्डमाह—अन्यथेति । यत्र संस्कारसहितमिन्द्रियं
 प्रत्यभिज्ञा जनयति तत्र घटविषययोरनुभवस्मरणयोस्तद्वद्विषयानुभवान्तरस्य चेति ज्ञानत्रयस्य युगपदुत्पत्तिप्रस-
 ङ्गात् । तत्र हेतु—अपेक्षणीयान्तरासंभवेनेति । संयोगभेदस्यानङ्गीकारात्, विषयस्य चैकत्वादेव सपञ्चला-
 कारस्य संप्रयोगस्य च नित्यमानत्वादिति भावः । तदेव कार्यभेदो दृश्यमानस्तदुपपादकासमवायिकारणभेद
 इत्यतीत्युक्तम् । इदानीं कार्यक्रमोऽपि क्रमयत्कारणमन्तरेणानुपपद्यमानोऽसमवायिकारणक्रम कल्पयति, ततश्च
 पानेकत्वमित्याह—अक्रमाच्चेति । ननु भवतु कारणक्रम संश्लेषात्संयुक्तिकारणस्य न भवति, अपि तु
 सामग्री या विषयेन्द्रियसंप्रयोगादिसत्त्वीय इत्याशङ्क्य तर्हि यत्र युगपदेव विषयेन्द्रियसंप्रयोगस्तत्र युगप-
 नेवानि ज्ञानानि जायेरन् ननु तदस्ति, तस्मात्तत्रापि कार्यक्रमप्रयोजको बाह्यसामर्थ्यतिरिक्तस्यान्तरस्य
 णस्य क्रमो वक्तव्यस्तत्र चात्मनसोरेकत्वेन क्रमायोगात्परिशेषात्तयो संयोगलक्षणासमवायिकारणक्रमएव
 जक्र इत्याह—बाह्यसामग्रीति । नचादृष्टमानभेदाद्, अतिप्रसङ्गात् । तदेवं प्रथमज्ञानजनकसंयोगादेव
 तेयज्ञानजन्मेत्याद्यं पक्षो निरस्तो वेदितव्यः । इदानीं संयोगान्तरादनुव्यवसायजन्मेति द्वितीयं पक्षं निरस्तं
 द्वितीयं इति । वर्तमानप्राहकप्रत्यक्षाभावादित्यर्थः । पूर्वं सवित्स्फुरणानुपपत्तिर्बाधिकेत्युक्तमिदानीं
 स्फुरणानुपपत्तिरूपं बाधकमाह—किंचेति । एव हि तेषामभ्युपगम, ज्ञायमानमेव ज्ञानमर्थव्यवहारहेतुरिति
 नेयमो निवीनस्यापि तस्य चक्षुरादिव्यवहारहेतुत्वसमवादिता । नचैषोऽपि युक्तः । तथा सति चक्षुरादि-
 नार्थप्रकाशकत्वं स्यान्नतु प्रकाशत्वं, प्रकाशत्वं च सिद्धमतो न चक्षुरादिसाम्यमित्यर्थः । किंच तदपि ज्ञानं
 नानवदेवेति न किंचिदपि ज्ञानमर्थप्रज्ञा सात् । जडानां च जडत्वादेव न स्वयं परस्परं वा प्रकाश-
 व इति 'अन्धस्वेवान्धलस्य विनिपात पदेपदे' इत्याभाषणकभागितयैव धोरान्धकारनिकरूपोदरनिपा-
 त इत्याह—जडानां चेत्यादिना ॥

प्रत्यक्षविरुद्धकालातीततामैशङ्कते—नन्विति । घटविशेषितज्ञानावगाहि वा ज्ञानविशेषितघटावगाहि
 त्वयापि ज्ञानप्राहकभेदेदमित्यर्थः । अत्र तावदेवंविधशब्दप्रयोगस्य विषयस्फुरणेन भवितव्यं, तत्तु यथायथं

१ प्रत्यक्षविरुद्धता प्रत्यक्षकालातीततां चेत्यर्थः.

दिष्ट्वेतिचेत् । न । वेद्यत्वव्यतिरेकेण तस्याः स्वतःस्फुरणेनापि तादृगव्यवहारोपपत्तेः । किंच विदितो घट इत्यत्रानुव्यवसायेन घटस्यैव विदितत्वमवसीयते नतु चित्तेः । विदितत्वस्य घटविशेषणत्वात् । अपिचानुभूतेः प्रत्यक्षतायामपि तत्प्रत्यक्षेणैव तदनुभाव्यत्वस्याप्रत्यक्षीकरणान्न प्रत्यक्षविहङ्गता । अन्यथानुव्यवसायेन व्यवसायस्य स्वविशेषितवेद्यत्वग्रहणे विशेषणतया स्वस्यापि स्वेन वेद्यत्वापातात् सौगतमतानुमतिप्रसङ्गः । नच वेद्यत्वापादकवस्तुत्वाद्यनुमानविरोधः, व्याप्तिग्रहणासिद्धेः । तथाहि वस्तुत्वाद्द्वेद्यत्वं साधयता यद्यद्वस्तु तत्तद्वेद्यमिति व्याप्तिरभ्युपेया । तथासत्यस्या व्याप्तेर्माहिका संविद्याप्तिग्रहणसमये स्फुरति न वा । आद्ये स्वेनैव स्फुरणे सौगतमतानुमतस्वप्रकाशतापत्तिः, तत्स्फुरणस्य स्वहेतुताया अप्यनङ्गीकारे वेदान्तसिद्धान्ताभिमतं स्वयंप्रकाशत्वं त्वयाभ्युपगतं स्यात् । द्वितीये तु संविलक्षणवस्तुविशेषस्यास्फुरणादेव सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेवास्तमित्यात्तत्र कुतोऽनुमानप्रसरः कुतस्तरां च प्रकृतस्य हेतोः सप्रतिसाधनता । अपिच भाट्टानां ज्ञाततायां व्यभिचारात् नैयायिकादेश्च वेद्यत्वस्यापि धर्मतयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाद्द्वेद्यस्यापि कस्यचित्संभवेन वस्तुत्वादेः केवलान्वयित्वेनाभिमतस्यापि हेतोः संभावितविपक्षतया विपक्षबाधकर्तृमन्तरेणाप्रयोजकत्वात् । नह्यनुभूतेरप्यवेद्यत्वे वस्तुत्वानुपपत्तिः, स्वतःसिद्धतायामपि तदुपपत्तेः । लक्ष्यत्वन्यायविषयत्वहेत्वोरपि यथोक्तमूहनीयम् ।

ज्ञानस्य स्वरूपस्फुरणेन घटस्य तु वेद्यैव स्फुरणेनेत्वं स्फुरणेऽपि संभवलेखाय व्यवहार इति नार्यं ज्ञानस्य वेद्यत्वापादनक्षम इत्याह—न । वेद्यत्वव्यतिरेकेणेति । विदितो घट इत्यत्राधिकमाह—किंचेति । अथ व्यवहारस्यानुभूतिविषयत्वमङ्गीकृत्यान्यथासिद्धिरभिहिता । इदानीं तु तदेव नास्तीत्याह—किंचेति । एवं च वेदनस्यापि विदितत्वं व्यवहारविषयत्वं वा स्यात् । यदि विदित इति पदं वेदनेऽप्युपपत्त्यान्तादित्याह—तस्यान्यथादित्यर्थः । किंच भवतु वानेन ज्ञानेन स्फुरणं कियत्कर्मभावस्वीकारः । सप्रतिपक्षता पदन्येन, तदानीं प्रथमस्यातीततया स्वनेति तावन्न घटत इत्याह—स्वेनेति । न वयं कियत्कर्मभावं ब्रूमो येन भूतेरिति । सौगन्त्यात्किंतु संविद्रूपत्वमित्यत आह—तत्स्फुरणस्येति । अन्येनेति लनवस्थया भित्तुपेक्षितम् । अस्फुरणं दूषयति—द्वितीये स्थिति । सर्वोपसंहारवती सर्वत्रोडिका । सर्वव्यक्तिस्वप्रकाशमित्यर्थः । यस्य तु नैयायिकस्य स्वप्रकाशं न किंचिदप्यस्ति तस्य पूर्वोदितानुमानेन वेदित्वेत्साधयित्वा तत्र हेतोरुत्तरनिश्चयात्संदिग्धान्तकान्तिकता वक्तव्या इत्याह—नैयायिकादेश्चेति तदेव विपक्षे बाधकं यद्बलुत्वहानिरित्यत आह—नहीति । बलुत्वं हि स्फुरणाभावे निवर्तते अतस्वतः स्फुरणोपपत्तेः । नान्तरेण वेद्यत्वमनुपपत्तिर्बलुत्वसेल्यर्थः । एतेनेदमप्यपास्तं यदाह मानमनो 'ज्ञानं प्रत्यक्षवेद्यं बलुत्वाद्दृढव' इति । यच्च तार्किकैरुत्प्रेष्यते वेद्यत्वसाधनाय लक्ष्यत्वात्प्राप्यविषयं च, तथापि यहश्च यच्च न्यायविषयं तद्वेद्यमिति व्याप्तिप्राहिणि ज्ञाने लक्ष्ये न्यायविषये च स्फुरणस्फु पूर्वोक्तविकल्पदोषा समाना इत्याह—लक्ष्यत्ववेति ।

१ टीकातः 'साहितमतानुप्रवेशप्रसक्त' इति पाठः प्रतिभाति. २ अपिभित्तकमोऽवेद्यत्वे इत्यस्यानन्तरं द

नच लक्षकपदत्वेन लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमेयं, हेतोरसिद्धत्वात् । न ह्यनुभूतिपदमनु-
भूतिं लक्षयतीति तवाभिमतं, तद्वाचकत्वेनैव स्वीकारात् । किंच लक्ष्यज्ञानशब्देन लक्ष्यक-
र्तकं स्फुरणं किंवा तद्विषयमुत स्फुरणमात्रं किंवा तद्विषयान्तःकरणवृत्तिर्विवक्ष्यते ।
नाद्यः । अतीताद्यर्थलक्षकपदेषु व्यभिचारात् । नेतरे सिद्धसाधनत्वात् । अस्ति हि तत्स्व-
भावस्यापि स्फुरणस्य तद्व्यवहारजनकत्वेन तद्विषयत्वम् । अस्ति च स्फुरणमात्रमनुभूतेः
स्फुरणरूपत्वात्तदाकाराया वृत्तेः स्वीकाराच्च । अनुभूतिपदवाच्यस्य लक्ष्यस्य वा स्वप्रकाश-
त्वमित्यपि विकल्पोऽनुपपन्नः, उभयवादिप्रतिपन्नस्फुरणमात्रस्य स्वप्रकाशत्वप्रतिपादनात् ।
अन्यथा वेद्यत्वसाधनेऽपि तवास्य विकल्पस्य दुष्परिहरत्वात् ॥

नन्वेवमपि घटः स्वयंप्रकाशो घटत्वाद्यत्रैवं तत्रैवं यथा पट इत्याभाससमानयोगक्षे-
मता हेतोरिति चेन्नैवम् । पृथुवुद्रोदराकारस्य घटशब्दवाच्यस्य स्पर्शरूपादिमतश्चक्षुःस्पर्श-
नप्रमाणसिद्धत्वेन संमतस्य स्वप्रकाशत्वसाधने प्रत्यक्षविरोधादतद्विषयस्य चाप्रसिद्धत्वेन
धर्म्यसिद्धिः । नचान्नाप्यवेद्यस्यानुभूतित्वमप्रसिद्धमिति वाच्यम् । तथा सति तस्या वेद्यत्वा-
वेद्यत्वयोर्वादिनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । नचैवमुभयतः पाशा रज्जुः । अनुभूतेः प्रमा-
णजन्यस्फुरणाश्रयतया स्फुरणकर्मतया वा घटादिवद्विषयभावाभावेऽपि प्रमाणजनिता-

- यत्तुक्तं लक्षकपदत्वादेव लक्षकपदं पक्षीकृत्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमीयत इति तत्राह—नचेति ।
हेतुमाह—नहीति । अयमर्थः—नहि यस्य कस्यचिद्विशक्यमनुभूतिपदं पक्षः । तथा सति प्रमात्रादिलक्षकानुभूति-
पदस्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनताप्रसङ्गात् । तस्मादननुभूतिलक्षकमनुभूतिपदं पक्ष इति वक्तव्यम् ।
तथाच तादृशानादीकारादीकारयोराश्रयासिद्ध्यपिसिद्धान्तयोरन्यतरापात इति । अथानुभाव्यवाचकानुभूतिलक्ष-
कपदं पक्षीकृत्यां प्रति साध्यं विकल्पयति—किंचेति । लक्ष्यकर्मकस्फुरणजन्यत्वमतीतादिवस्तुलक्षकपदस्य
नास्ति । अतीतादीनामिदानीमभावेनानुभाव्यच्छेदकत्वाभावात् । अतोऽनैकान्तिकमित्याह—अतीताद्य-
र्थेति । तद्विषयस्फुरणजन्यत्वसाधने सिद्धसाधनतामुपपादयति—अस्ति हीति । येन हि यस्य व्यवहारः
प्रवर्तते तस्य हि स विषयभेदः स्वतन्त्र इत्यभिप्रायः । तत्स्फुरणमात्रेण जन्यत्वसाधने तृतीयपक्षे सिद्धसाध-
नतामाह—अस्तिचेति । लक्ष्यस्वभावभूतस्फुरणस्यापि लक्ष्यस्फुरणत्वादित्यर्थः । चतुर्थे पक्षे सिद्धसाधनतां
दर्शयति—तदाकाराया इति । अन्यथेति । अनुभूतिपदवाच्यस्य चेत्सिद्धसाधनं, लक्ष्यस्य चेत्तत्वात्सिद्धि-
रिति विकल्प्य दूषणे साधारणाशग्रहणमेव शरणमित्यर्थः ।

उक्तानुमानस्य यद्यपि विशेषतो दूषणं न स्फुरति तथापि अस्याभाससमानयोगक्षेमत्वं, तथाच यदितरस्य
दूषणं तदस्यापि समानमिति शङ्कते—नन्वेवमिति । अत्र किं रूपादिमान्घटः पक्षीक्रियते उतालौकिकः
कश्चित् । नाद्यः । धर्मिप्राहकप्रमाणवाधादित्याह—मैवमिति । चक्षुःस्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वे हेतुः—स्पर्श-
रूपादिमत इति । द्वितीयं दूषयति—अतदिति । नचान्नापीति । रूपादिहीनस्य यथा घटत्वमप्रसि-
द्धमेवमित्यर्थः । हेतुमाह—तथा सतीति । विप्रतिपत्तिरेव वेद्यावेद्यसाधारणानुभूतिप्रसिद्धौ प्रमाणमित्यर्थः ।
यद्य प्रमाणसद्भावे वेद्यत्वात्स्वप्रकाशत्वमभावे च प्रमाणाभावादसिद्धिरित्युभयतः पाशा रज्जुरित्युक्तं तदपि
नास्तीत्याह—नचैवमिति । स्फुरणाश्रयतयेति भाट्टामिप्रायेणोक्तं, स्फुरणकर्मतयेतीतरामिप्रायेण । एतदुक्तं
भवति—न प्रमाणप्रवृत्तिमात्रादननुभवकर्मत्वं येनास्वप्रकाशता स्यादपितु तदाकारान्तःकरणवृत्तिरेव प्रमाणैर्ज-
न्यते । नच वृत्तिविषयतामानादस्वप्रकाशता स्यात्प्रकाशप्रत्यक्षाभावात्स्वरूपप्रकाशमित्यत्रकमान्त्रत्वाद्दूषते ।
तेन न वेद्यत्वप्रसक्तिर्नान्यप्रामाणिकमिति । ननु वृत्तिव्याप्यत्वमात्राच्च प्रामाणिकत्वमपितु स्फुरणव्याप्यतया,

१ विषयभेद इति । विषयविशेष इत्यर्थः । स्वतन्त्र इति । ननु पराधीनो मुख्य इति यावत्.

न्तःकरणवृत्तिव्याप्यत्वेन विषयताङ्गीकारेऽपि स्वप्रकाशत्वान्याघातात्, उक्तवृत्तिव्याप्यत्वे-
ऽपि स्फुरणव्याप्यत्वाभावापराधेन नाप्रामाणिकतापि, केवलव्यतिरेकाभावात्, अतीतानाग-
तयोः स्फुरणविरहिणोरुक्तवृत्तिव्याप्ययोर्भेदः प्रामाणिकत्वाभ्युपगमात्, चेष्टादिलिङ्गका-
नुमानविषयस्यापि परज्ञानस्य स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनने ज्ञानान्तरनिरपेक्ष-
तया स्वप्रकाशत्वोपपत्तेश्च ।

किंच त्वज्ज्ञानं तत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति, वेद्यं न भवति ज्ञानत्वान्मदीयज्ञानवत् ।
नच मूढसमवेतत्वं मूढन्यसमवेतत्वं वोपाधिः । साध्याव्याप्तेः, त्वदीयधर्मादिषु त्वत्समवेते-
ष्वसमवेतेषु च परमाणुपूक्तसाध्यसद्भावेऽप्युपाधेरभावात् । नच ममापरोक्षव्यवहारयोग्य-
त्वमुपाधिः, ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादिदं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यं न भवति

घटादी तथा दर्शनादित्यत आह—उक्तेति । कुतः, केवलव्यतिरेकाभावात् । नहि संभवव्यतिरेकयोरन्वय-
मात्रादेतुहेतुमद्भावनिश्चयः, अतिप्रसङ्गात् । माभूत्तुरग्यरवर्णयोर्हेतुहेतुमद्भावः, संभवति ह्यन्वय इति भावः ।
किंच तौतान्तिकैस्तावेद्यं वक्तुमयुक्तं, प्राक्तव्यानाधारयोरप्यतीतानागतयोः ज्ञानमात्रविषयतया प्रामाणिकत्वा-
ङ्गीकारादित्याह—अतीतेति । तार्किकाणा वृत्तिफलविभागएव नास्तीति न पर्यनुयोगावकाशः । तदेवं वृत्ति-
विषयत्वमात्रेणापि प्रामाणिकत्वमस्तीत्युपपादितम् । इदानीं वृत्तिविषयत्वेऽपि स्वप्रकाशत्वक्षतिर्नास्तीत्युपपाद-
यति—चेष्टादीति । स्वाश्रये स्वाधारे । नहि प्रमाणावेद्यत्वं स्वप्रकाशात्वं किंतु स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनने
प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वं । तच्च स्वप्रकाशत्वसाधकप्रमाणगम्यत्वेपि न विरुद्ध्यते प्रमाणान्तरनिरपेक्षतयैव स्वाश्रये
स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनकत्वादित्यर्थः ।

एवं व्यतिरेक्यनुमानेन स्वप्रकाशात्वं समर्थितम् । ये तु वरुणयवर्त्मानुसारिणस्तान्प्रत्यमिनवरीतिसुरभिमन्व-
यव्यतिरेकिप्रयोगमाह—किंच त्वज्ज्ञानमिति । त्वज्ज्ञानं वेद्यं न भवतीत्युक्ते अप्रसिद्धविशेषणता । तन्नि-
वृत्त्यर्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीत्युक्तम् । वेद्यत्वाभावस्याप्रसिद्धत्वेऽप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेसति वेद्यत्वर-
हितस्य परमाण्वेष्टादेः प्रसिद्धत्वेन नाप्रसिद्धविशेषणता । तावत्युक्तेऽर्थान्तरता तदीयज्ञानस्य परप्रत्युक्तरूपात्वात्,
तदर्थं तवेद्युक्तम् । एवमपि परकीयज्ञानभादायार्थान्तरता तस्यैतं प्रति तथात्वादत्त उक्तं—त्वज्ज्ञानमिति ।
एतदीयस्य च ज्ञानस्यैतं प्रत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरण-
त्वाद्वा वेद्यत्वानधिकरणत्वाद्वा । नाद्यः । व्याघातात् । उत्तरं तु सिद्ध्यदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेसत्यवेद्यत्वलक्षणं
स्वप्रकाशात्त्वमादाय सिद्ध्यतीति स्वप्रकाशात्त्वसिद्धिः । अन्यज्ञाने चैतदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरणत्वात् तन्नर्भ-
वेद्यत्वानधिकरणत्वमिति साध्यप्रसिद्धिः । अन्यदीयज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे मद्समवेतत्वं मदन्यसमवेतत्वं
वोपाधिरित्याह्यनिरस्यति—नचेति । कुतः, साध्याव्यापकत्वात् । तदेव विप्रणोति—त्वदीयेति ।
त्वददृष्टसत्कारयोस्त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वरहितयोस्त्वदसमवेतत्वत्वदन्यसमवेतत्वयोस्त्वाप्योरभा-
वेन साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः । उत्तरस्योपाधेः साध्याव्याप्युदाहरणान्तरमाह—असमवेतेऽप्यिति । पर-
माण्वाकाशादीनामसमवेतत्वेनान्यसमवेतत्वस्य सुतरामभावादित्यर्थः । उपाध्यन्तरमाहाह्य निराकरोति—
नचेति । प्रतिवादिज्ञानस्य तदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वे तदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमु-
पाधिरित्याद्य वादिज्ञानेऽयमुपाधिर्भावितमानः साध्यमपहरतीत्युपाधिवादिनोऽभिमतं तदुपमितुं हेतुमाह—
ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यादिनोपाधित्वादित्यन्तेन । उपाधि वदतोपाधिव्यतिरेकेण सा-
ध्यव्यतिरेकोऽनुमातव्यः, सर्वोपाधीनामेवंस्वाभावात् । युक्तं चैतत्साध्योपाध्योर्ब्याप्यव्यापकभावार्थं तदभाष-
योरपि ब्याप्यव्यापकभावनिगमात् । तत् उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि निरुपाधिसंबन्धो वक्ष्यः । तस्माद-
भावयोरप्युपाधिर्निविशमानो दूषयेदेव प्रथमोपाधिमिलभिसंधाय तद्यतिरेकयोरप्युपाधिष्वन्यत्वात्प्र ममा-

घटवदिति व्यतिरेके ज्ञानेतरत्वस्यैवोपाधित्वात् । विवादपदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे-
त्तति वेद्यत्वानधिकरणानि ज्ञानत्वाद्वदज्ञानवत् ।

नच घटज्ञानत्वमुपाधिः, शरीरिजन्यत्वोपाधाविव व्यर्थविशेषणत्वात् । तस्माद्विगलितसक-
लकलङ्कमनुभूतेः स्वप्रकाशत्वानुमानमिति सिद्धम् । एतेनात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं व्याख्यातम् ।

तथाहि 'चिद्रूपत्वादुक्तमत्वात्स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः । आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवार-

परोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्युपाधिव्यतिरेकनिर्देशः । शेषः साध्यव्यतिरेकनिर्देशः । अनयोः संबन्धे ज्ञानेतरत्वमु-
पाधिरित्यर्थः । तदेवं व्यतिरेकानुच्चार्यकत्वात्साध्याव्यापकलाचानुपाधित्वे सिद्धे पूर्वोक्तहेतुरप्रत्यूह इत्यभि-
प्रायः । ननु यथाज्ञानत्वव्यतिरेकस्य ज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं द्रूपे एवं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यस्य हेतो-
र्व्यतिरेकस्य ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वस्योपाधित्वं परेणापि सुवचमिति पण्डमैथुनायितं चक्रकापतिश्च—ज्ञाने-
तरत्वव्यतिरेकस्य ज्ञानत्वस्य प्रतिवादिताध्यव्यतिरेकरूपत्वरीयसाध्योच्चार्यकत्वे सिद्धे ज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं,
तस्योपाधित्वे व्यतिरेकानुच्चार्यकत्वान्ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वस्यानुपाधित्वं, तस्यानुपाधित्वे च ज्ञानत्वस्य
प्रथमसाध्यं प्रति हेतुत्वमिति । तस्मान्नेत्रं रीतिश्चतुरश्रेणीरीतिसरणिमविरोहतीति । आरुपर्यतां तावदवहितद्वदा
प्रत्यकारद्वयं, ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वस्य प्रथमसाध्यव्यतिरेकोच्चार्यकत्वं तावदसंगतम् । वेद्यत्वं ह्यनेन
साधनीयम् । नच तदप्रसिद्धं, येन ममापरोक्षेति विशेषणान्तरसार्थन्यं स्यात् । तस्मान्मद्वेद्यमितं मब्यवहार-
योग्यत्वादिष्येवालमिति व्यर्थविशेषणत्वाद्हेतुरेवायम् । अतएव न तद्यतिरेकस्योपाधितेति । ननु एतदेवो-
च्यतां किमनेनाज्ञागलखानायमानेन, सत्यम्, इयमपि कानचन रीतिस्तार्किकैररीकृतेति प्रदर्शनार्थम् । तथाहि
मानमनोहरकारेण वादिवागीश्वरेणात्मप्रकरणे—विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं कार्यत्वात् चेष्टादिवदित्यनुमा-
नम्, व्यर्थविशेषणेनापि शरीरिजन्यत्वव्यतिरेकेण 'विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं न भवति । शरीर्यजन्यत्वाद्,'
इति सत्प्रतिपक्ष्यते स्म । तथा, विवादाध्यासितमूर्तं प्रयत्नजं परमाणुव्यतिरिक्तत्वे सति मूर्तत्वात्, गन्धः प्रयत्नजः
गन्धत्वात्पटवत्तद्गन्धवचेति, ईश्वरानुमाने च, न शरीरिणाऽजन्यत्वादित्यनेन प्रकरणसमतत्वं । नापि तज्जन्य-
त्वमुपाधिकार्यत्वस्योपाधेर्व्यतिरेकस्य व्यर्थविशेषणत्वाच्चेतिवत् । तस्मान्न कश्चिदपि कलङ्कसद्भावकाशः । तथैव
रीत्यानुमानान्तरमाह—विवादपदानीति ॥

ज्ञानमात्रपक्षीकरणे घटज्ञानांशे सिद्धसाधनता, तदर्थं विवादपदमिति ग्रहणं, वेद्यत्वानधिकरणमित्युक्तेऽप्र-
सिद्धविशेषणता, तन्निर्णयार्थं घटज्ञानान्यत्वे सतीति विशेषणं, वेद्यत्वानधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वेऽपि घटज्ञानान्य-
त्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वं घटज्ञाने प्रसिद्धं घटज्ञानस्य घटज्ञानान्यत्वानधिकरणत्वादेव, अन्यत्वं चान्न तत्त्वान-
धिकरणत्वं, घटज्ञानान्यत्वानधिकरणानीत्युक्ते व्याहृतिस्तेषां घटज्ञानान्यत्वादेव, तदर्थं वेद्यत्वग्रहणं, घटज्ञाना-
न्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणत्वं घटज्ञानान्यत्वानधिकरणत्वात् संभवति व्यापातात् । तस्माद्वेद्यत्वानधिकरणत्व-
सिद्धिः । पूर्वोक्तमानं समप्रलक्षणवतः सद्भावे, इदं त्ववेद्यत्वमात्र इति विशेषः । घटज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे घट-
ज्ञानत्वमुपाधिमाशङ्क्य निषेधति—नचेति । तथाहि—विवादपदं सकर्तृकं कार्यत्वात्कुम्भवदित्यत्र शरीरिज-
न्यत्वं व्यर्थविशेषणत्वादनुपाधिः, जन्यत्वमात्रेण साध्यव्याप्तिरिति रस्य पक्षमात्रव्यावर्तकत्वात्, एवं ज्ञानत्वमि-
त्यनेनैव ज्ञानव्यतिरिक्तव्याप्तौ सिद्धायां घटपदस्य पक्षीकृतघटज्ञानव्यतिरिक्तज्ञानव्यवच्छेदकत्वात्पक्षेतरतया-
ऽयमनुपाधिरित्याह—शरीरीति । अवीतपदमाचार्यैरकार्यन्यगोचराः । महाविद्याः पुनर्दिव्या दीव्यन्त्यत्रानि-
वारितम् ॥ तथाहि विमतं ज्ञानमेतज्ज्ञानविज्ञानविषयत्वे सति वेद्यत्वरहितज्ञानविषयः पदविषयत्वात् घटवदि-
त्यादिमहाविद्याभिरपि समर्थनीयं स्वप्रकाशत्वं, फलाविषयत्वादिसाधनात् व्याहृतिः । स्वप्रकाशसमर्थनमुप-
संहरति—तस्मादिति । विज्ञानस्वप्रकाशत्वमात्मस्वप्रकाशत्वेऽप्यतिदिशति—एतेनेति ॥
यद्यपि विज्ञानस्वप्रकाशतातथैव तद्रूपस्यात्मनः स्वप्रकाशता सिद्धा, तथापि तद्रूपतायामेव विवादात्तत्सम-
र्थनार्थमधिक्युक्तिप्रदर्शनार्थं च यादान्तरारम्भः । हेतुप्रमाणानि संश्लक्षति श्लोकेन—चिद्रूपत्वादित्या-

यितुं क्षमः' ॥ ३ ॥ आत्मा संविद्रूपः सविक्कर्मतामन्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति । करं प्रत्यनुमानात्, घटतज्ज्ञानयोः संबन्धः आत्मनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्पदविपयत्वान्नैयायिकादीन्प्रत्यनुमानादात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः, विपक्षे चात्मनः संशयविपर्यासगोचरत्वात्तिर्वाधिका । नह्यात्मन्यहमनहं वेति कश्चित्सदिग्धे, नैवाहमिति वा विपर्यस्यति । नचैतत्त्वप्रकाशज्ञानरूपतामन्तरेणावकल्यते । नचान्तरेणापि ज्ञानरूपतां दुःखादिवदेतदुपपद्यत इति शङ्कनीयम् । तेषां स्वसत्तायां ज्ञानाव्यभिचारात्तदुपपत्तेः । नचात्मन्येवमभ्युपगम्यते सुपुस्त्यभावप्रसङ्गात् । नच ज्ञानात्मनोः संबन्धोऽनात्मवृत्तिर्ज्ञानवृत्तित्वात् सत्तावदिति शङ्कनीयम् । ज्ञानमेवात्मेत्यभ्युपगच्छतां ज्ञानात्मनोः संबन्धस्यैवाभावादाश्रयासिद्धेः । 'नहि द्रष्टृदृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति द्रष्टृदृष्टयोः संबन्धः श्रुतित एवाधिगत इति मानमनोहरकारः प्रातिष्ठिपदितिचेन्मैवम् । श्रुतेर्लोकप्रसिद्धसंबन्धानुवादेन दृष्टेर्विनाशित्वाभावमात्रप्रतिपादनपरत्वात्, 'अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थव'दिति न्यायात्, मुख्यार्थेऽद्वैतश्रुतिविरोधात्, राहोः शिर इतिवदुपचारेणापि संबन्धश्रुतेर्वृत्त्युपपत्तेश्च ।

नचानयोस्तुल्यबलतया विपर्ययः, तत्परत्वात्तत्परत्वविशेषोपपत्तेरुपक्रमोपसंहारादिप-

६०८ ६२२

दिना । प्रथम समर्थयते—आत्मा संविद्रूप इति । अपरोक्षव्यवहारविषयत्व चापरोक्षत्व, नापरोक्षज्ञानविषयत्वमपरोक्षज्ञानत्व वा । तेन न साधनवैकल्यासिद्धौ, घटादिरतीतादेक्ष व्यवच्छेदाय विशेषणद्वयम् । घटतज्ज्ञानेति । यद्यपि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावो नाम न भावरूप कश्चित्सबन्धस्वभावात्परत्वात्वाद्स्वेवाधितत्व, सिद्धान्ते त्वाध्यासिक संबन्धोऽन, संबन्धस्य संबन्धिमाननिष्ठत्वात्, संबन्धिभूतज्ञानघटयोरन्यतरस्यात्मत्वमादायात्मनिष्ठत्व पर्यवस्यति, तत्रापि घटस्यात्मत्वमुभयवायनमिममिति विप्रतिपन्नज्ञानस्यात्मतामापादयति । पदस्य विषयत्व पदविषयत्वम् । ज्ञानरूपत्वाभावे बाधकमाह—विपक्षे चेति । संशयाद्यविषयत्व स्वप्रकाशत्वव्याप्त न भवति, दुःखादावदर्शनादित्याशङ्क्य निषेधति—नचान्तरेणेति । सुपुस्त्यभावप्रसङ्गादिति । एतन्निष्ठजन्यज्ञानेनेतस्य प्रकाशाव्यभिचारेऽस्य न सुपुति स्यात् । एतन्निष्ठकार्यज्ञानोपरमस्यैतत्सुपुस्तित्वादित्यर्थः । सत्प्रतिपक्षतामाशङ्क्य निषेधति—नचेति । अत्रापि संबन्धस्यानात्मवृत्तित्वमन्यतरस्यानात्मतामादाय पर्यवस्यति । तत्राप्यात्मनोऽनात्मता व्याहृतेति ज्ञानानात्मत्वसिद्धिः । ननु मानमनोहरकारेण, स च ज्ञानाश्रय 'नहि द्रष्टृदृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुती द्रष्टृदृष्टयोः संबन्धप्रतीतेरिति ज्ञानात्मनो संबन्धे, तत्त्वमथाश्रयासिद्धिरिति शङ्कते—नहि द्रष्टृरिति । नेय श्रुति संबन्धप्रतिपादिका धन्यपरत्वादिति परिहरति—मेवमिति । तत्परत्वाभावे च कारणमाह—अप्राप्त इति । अप्राप्ते हि साध्यमर्थवत् । 'अर्थोऽनुपलब्धे तत्प्रमाण'मिति तत्र जैमिनिनोक्तत्वात्तित्यर्थः । एवमनुवादवतया परिहारात्सुवत्वा प्रवारान्तरेण परिहरति—मुर्यार्थ इति । एतेन देवताधिकरणन्यायोऽप्यनवकाशीरृतः ।

नचद्वैतश्रुतिविरोधादन्यथागोऽस्या त्रिमिति कल्प्यते विपरीतमेव वा किं न स्यात् शुभोऽगुल्य-पत्तरात् 'तुल्य हि साप्रदायिकमिति न्यायादित्याशङ्क्य तत्परत्वात्तत्परत्वविशेषोपाधेत्वाह—नचेति । तत्परत्वमेव तस्या एवमवगम्यतेऽतत्परत्व आत्मा इत्यत आह—उपक्रमेति । 'आत्मा वाऽरे' 'यत्र त्वमे'ति चाद्वैते तोपक्रमोपचारात् । 'इदं सर्वं सत्त्वं एकं' इति आभ्यासः । जीवन्मुक्तौ च प्रमाणान्तरागोचरम् । 'एता-

३ 'अवयवस्वन' इति पाठः म जुर्गति ३ संयोगसमाय विरूपप्रमिद्धाव भावावस्थावदित्यव . ३ संतन्त्र इत्यर्थः १२ मन्त्रादिन इति मन्त्रादिन इति वा पाठ परिग्रह एति प्रतिपादि च प्रमाणान्तरागोचरमित्यनेनापूर्ववा दक्षिणा । तदुक्तम्—'अप्यमोपर एतवभ्यारोऽनुपपन्नम् । अथवातोपपत्ती च तिन तातर्क्यमिर्गो ॥'

द्वेषतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिः कथं लोकप्रवाद्योपजीविनी संवन्धश्रुतिं न वाधेत । देवदत्तस्य गन्तुरिति वद्वृष्टेरेति द्रष्टृरूपाया दृष्टेः, दृष्टिलक्षणो वा यो द्रष्टा तस्य, विपरिलोपो नास्तीति सामानाधिकरण्येन पृष्ठोः संवन्धसंभवे वैयधिकरण्यस्य कल्पनायोगात् 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रित्यादाविव वैयधिकरण्येऽप्यन्तःकरणपरिणामरूपाया दृष्टेर्षो द्रष्टेति वा परिणामिनोऽन्तःकरणस्य द्रष्टुः साक्षिभूता या दृष्टिस्तस्या विपरिलोपो नास्तीति वा, अद्वैतश्रुत्यनुगुणे संभवति संवन्धे गुणगुणिभावेन संवन्धकल्पना अविदितमीमांसावृत्तान्त-स्यैव परं शोभते ।

किंच जीवेश्वरयोर्भेदमभ्युपगच्छता नित्यदृष्टिसंवन्धः कस्योच्यत इति विवेचनीयम् । न तावज्जीवस्य । तस्यानित्यज्ञानाभ्युपगमात् । नापीश्वरस्य । मैत्रेयीब्राह्मणे 'नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवती'त्यादिना पतिजायादिप्रियसंसूचितं जीवमुपक्रम्य तस्यैव 'चैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती'त्यवस्थान्तरप्रतिपादनावसरे विनाशमाशङ्क्य 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य

षडर' इति फलश्रवणम् । 'अस्य महत एतेभ्य' इति दृष्टादिरर्थवादः । दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैरुपपादितं तदेतदादिशब्देन गृहीतम् । लोकप्रवाद इत्यनेनानुवादकतया संवन्धश्रुतेरतत्परत्वमुक्तं, कथं न वाधेत, वाधेतैवेत्यर्थः । एवंच यदत्र तेनैव गर्जितं "नचानाम्नायप्रतीत आमातो भवितुमर्हतीत्यादि" "तत्राप्युपचारप्रत्येः मुलभत्या" दिल्यन्तं तत्सर्वं प्रमत्तप्रलपितायितम् । यत्तु नच प्रत्यक्षं, तस्य भेदग्राहकत्वादित्युक्तं तदपि भेदनिर्भर्त-नसमये सम्यगुपरिदृष्टाद्भवसाद्भावविष्याम । तदेवं वैयधिकरण्यं पृष्ठोरेद्वीकृत्य पर्यहापीत्, संप्रति वैयधिकरण्य-मेव नास्ति सामानाधिकरण्येनाभ्युपपत्तेरिति सनिदर्शनमाह— देवदत्तस्येति । ननु 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रित्यत्र यथा वैयधिकरण्यमेवमत्रापि किं न स्यादित्यत आह—न दृष्टेरेति । अन्तःकरणश्रुतिसाक्षिणी वाःन्तःकर-णसाक्षिणी वा मित्रौ संबन्धितया निर्दिश्येते ननु ज्ञानात्मानावित्यर्थः । अद्वैतश्रुत्यनुगुणे संवन्धे संभवती-त्यस्यायमर्थः—अद्वैतश्रुत्यविरुद्धानेकप्रकारे परिस्फुरत्यपि यत्तस्य विरुद्ध एव प्रकारः पर्यस्फुरत्तत्र तद्दीर्घाग्य-मेव परं कारणमित्यभिप्रायः ।

इयं श्रुतिरेव तावद्वत्पक्षे नार्थवती दूरेतरां लवदमित्तसंवन्धे प्रामाण्यमित्याह—किंचेति । नापी-श्वरस्येति । यद्यपीदं मैत्रेयीब्राह्मणं जीवानुवादेन तस्य ब्रह्मात्मताप्रतिपादनपरं ननु जीवपरं जीवब्रह्मभे-दपरं वेति 'वाक्यान्वयाद्' इत्यत्र प्रतिपादितं, तथापि शोधितस्य ब्रह्मताप्रतिपादनमिति शोधनसमये जीवस्या-प्येवंस्वभावता वक्तव्येतिमिप्रेत्य प्रियादिसंसूचितस्याविनाशितोपपादनादित्युक्तं, तेनात्रेश्वरज्ञानस्य कारणरहि-ततामामिमांश्रुतिं प्रमाणयन् वादिवागीश्वरोऽप्युपहसितः । एतेभ्य इत्यादिश्रुतेरयमर्थः—वान्येतानि कार्य-करणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि पञ्चभूतानि, एतेभ्यो भूतेभ्यः । हेतौ पञ्चमी । समुदायस्य सम्य-गुत्थाय पृथग्भूत्वा यथोदकेभ्यो हेतुभ्यश्चन्द्रात्प्रतिनिम्बचन्द्राणां पृथग्भावस्तद्वात्तान्येवानुविनश्यति तानि भूतानि ब्रह्मविद्यया समूलं विनश्यन्त्यनुविनश्यति, उपाधिप्रलयात्तत्प्रयुक्तावच्छेदोऽपि निवर्तत इत्यर्थः । न प्रे-त्येति । शरीरद्वयं परित्यज्य संज्ञा विशेषविज्ञानं नास्ति तदापादकानामुपाधीनामभावादित्यर्थः । अवस्था-न्तरेति । मोक्षवस्थाप्रतिपादनावसरे इत्यर्थः । विनाशमिति । संज्ञा नास्तीति ज्ञाननाशाभिधानादित्यर्थः । प्रतिवचनमिदम् । अरे मैत्रेयि, अयमात्मा अविनाशीति । विनाशशब्देन विक्रिया विवक्ष्यते साम्य नास्ती-त्यर्थः । तथानुच्छित्तिधर्मा, उच्छित्तिः स्वरूपनाशः स धर्मोऽस्य नास्तीत्यनुच्छित्तिधर्मा । कस्तर्हि संज्ञा नास्तीत्यस्यार्थे इत्यत आह—मात्रेति । मात्राभिर्षिपयेन्द्रियाद्याकारपरिणतैर्भूतरसंसारैः परमस्य भवति न

भवति । यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न भूयति । नहि द्रष्टृदृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशिक्त्वा'दित्यविनाशितोपपादनात्, ज्योतिर्ब्राह्मणे च जागराद्यवस्थोपन्यासपुरःसरम् 'अथ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यती'ति संप्रसादावस्थानमवतार्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टृदृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनात्, ईश्वरपक्षे च विशेषविज्ञानाभावस्य वक्तुमयुक्तत्वात्तस्य सर्वदा सर्वज्ञत्वात् सुपुष्ट्याद्यवस्थाभावाच्च । तस्माज्ज्ञानात्मनोः संबन्धोऽनात्मनिष्ठ इत्यनुमानमाश्रयासिद्धमिति सिद्धम् । यत्तु गुणत्वादनित्यत्वाज्ज्ञानमात्मा न भवति रूपादिवदित्यनुमानं तत्सर्वमन्यतरासिद्धतयापास्तम् ।

अथ घटतज्ज्ञानयोः संबन्धः गुणनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावद्विपक्षे च जानामीति प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वप्रसंगो बाधक इति चेन्नैवम् । रूपतज्ज्ञानयोः संबन्धो द्रव्यनिष्ठो ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावदिति प्रतिप्रयोगसंभवात्, जानामीति चानुभवस्यान्तःकरणवृत्त्याश्रयप्रमातृविषयताप्युपपत्तेः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'ज्ञानधन एव'त्यादिश्रुतिभ्यश्चात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः । नचाधिकरणपरतया ज्ञानशब्दो योग्यः, अद्वैतश्रुतिविरोधात् । तस्मात्साधूक्तं चिद्रूपत्वादिति ।

स्वरूपविनाशः । यद्वै तन्न पश्यतीति । वै इत्यवधारणे । यत्तन्न पश्यत्येवेति मन्यस इत्यर्थं । पश्यन्वै तन्न पश्यति । तत्र हेतुः—नहीति । हि यस्माद्द्रष्टारत्मनो दृष्टेः स्वरूपभूताया इति वा पूर्वोक्तप्रकारेण वा विपरिलोपो विधातो न विद्यत इत्यन्वयः । तत्रापि हेतुः—अविनाशिक्त्वादिति । स्वरूपविनाशाभावात्, अथवा अविनाशित्वमपश्यरहितत्वमित्येवं विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनादित्यर्थं । जागरादीति । स वा एष इत्यादिना जागराद्यवस्थोपन्यासपूर्वकमित्यर्थं । यत्रेति । यत्र यस्मिन्ननन्ते सुप्तो जीवः न कंचन कामं जाग्रत्स्वप्नयोर्येव कामास्तेषु न वमपि कामं कामयते तथा न कंचन स्वप्नम् । स्वप्नश्चान्न तद्विषयाणि ज्ञानान्यभिधीयन्ते । जाग्रद्दर्शनमपि मिथ्याविषयत्वात्स्वप्नशब्देन निर्दिश्यते । न कंचनेत्यत्र चनशब्दोऽप्यर्थः । वमपि स्वप्नं न पश्यतीत्यर्थः । संप्रसादावस्थानमिति । संप्रसादः सुपुष्ट्यवस्था साम्यप्रसिद्धितया जीवस्वरूपमिति वृत्त्यवस्था, तस्यामवस्थानं संप्रसादावस्थानं तदवतार्योत्तराति वाच्यशेषः । भवत्येवं ततः किमित्यत आह—ईश्वरपक्ष इति । अनुपपत्त्यन्तर आह—सुपुष्ट्यादीति । ननु ज्ञानमात्मा न भवति गुणत्वाद्द्रव्यत्वात् ज्ञानमात्मा न भवत्यनित्यत्वादित्यादिप्रयोगविरोधात्त्वयमात्मनो ज्ञानात्मकत्वमित्यत आह—यश्चिति । यस्य हि नित्यात्मस्वरूपताभिमतता विज्ञानस्य, तस्य कथं गुणत्वमनित्यत्वं वाभिमतमित्यर्थः ।

गुणत्वसाधकानुमानं शङ्कते—अथेति । अत्रापि संबन्धमात्रनिष्ठस्य संबन्धस्य गुणनिष्ठत्वमन्यतरसंबन्धिनि गुणत्वमन्तरेण न घटते घटस्य च गुणत्वमुभयानभिमतमिति ज्ञानस्य गुणत्वसिद्धिः, यदि च ज्ञानस्य गुणत्वं न स्यात्तदा जानामीति ज्ञानाश्रय विषयीकृततः प्रत्ययस्य निर्विषयतापत्तत्त्वात्स्वरूपत्वे तत्प्रत्याधारतायोगादिति बाधकमाह—विपक्षे चेति । इदं च प्रतिप्रयोगेण निरुन्धे—मैवम् । रूपेति । अत्रापि रूपस्य द्रव्यत्वमुभयवादिप्रतिषिद्धमिति ज्ञानस्य द्रव्यत्वसिद्धिः । यत्तु बाधकमुक्तं तदन्तःकरणवृत्तिमादाय साम्यतीत्याह—जानामीति । तदेवमनुमानाधिद्रूपत्वमुक्त्वा तदनुपपत्त्यागममप्याह—विज्ञानमिति । यत्तु मानमनोहरश्रुतोक्तं "ज्ञानराज्यं ज्ञायते अस्मिन्नित्यधिकरणवचन" इति तदुपपत्ति—नचेति । 'वर्णाधिरण्योद्योधे'त्यधिकरणेऽपि स्पृष्टविधानादित्यर्थः ।

पत्तेः । नच प्रत्यक्षत्वे सति इन्द्रियत्वव्याकोपः, तस्य साक्षिवेद्यस्याथैन्द्रियकज्ञानाविषयत्वेनेन्द्रियत्वाव्याकोपात् । तस्मान्निरस्तसमस्तकलङ्कावकाशमात्मनः स्वप्रकाशत्वम् । तच्चात्मरूपमविद्यापरिकल्पितप्रपञ्चावभासकत्वादविद्यातमोनिवर्तकत्वाच्च ज्योतिःशब्दाभिधेयं, यथा भावरूपशार्वरादितमोनिवर्तनेन जगदवभासकमादित्यादि ज्योतिरिति सिद्धम् ।

ननु तमो न भावरूपं, भावेऽनन्तर्भावात् । तद्धि पृथिव्यादिद्रव्याणामन्यतमत्तदन्यद्वा स्यात् । नाद्यः । क्षितिसलिलात्मसु चतुर्दशगुणेषु तेजसि एकादशगुणे मातरिश्वनि नवगुणे मनसि चाष्टगुणे नभसि पञ्चगुणे दिक्कालयोः पञ्चगुणयोरविनाशिनोरनन्तर्भावात् । अन्तर्भावे वा तावद्गुणवत्त्वप्रसङ्गात्, आत्मादावन्तर्भावे नित्यत्वापत्तेश्च ।

नापि द्वितीयो, निर्गुणस्य द्रव्यत्वानुपपत्तौ द्रव्यान्तरत्वस्य सुतरामनुपपत्तेः । नीलोत्पल-
दृश्यामं महच्चोपलक्ष्यमाणं तमः कथं निर्गुणमिति चेन्न । नीलरूपस्य गन्वाद्येकार्थसम-
वायिनस्तद्व्याप्तस्य तदभावे भावायोगात् । अपिच द्रव्यान्तरत्वे न तावन्निरवयवत्वं,
नित्यत्वेनालोकानिवर्त्यत्वापत्तेः । सावयवत्वे च तदारम्भकाणां स्पर्शवत्त्वे तस्मिन्नपि स्प-

विधाताचेति विद्योति—नचेति । ननु कथं ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्योतिःशब्दवाच्यता यावता भूतविशेष
एवायं ज्योतिःशब्दो व्युत्पन्न इत्यत आह—तच्चेति । तमोनिवर्तनेनावभासके हि ज्योतिःशब्दः प्रयुज्यते
तदिहापि समानमित्यर्थः ।

‘भावाभावातिगाऽविद्या तत्त्वे दृष्टान्तितं तमः । वृद्धैस्तदस्य भावत्वं वादेनानेन साध्यते ॥’ भावरूपतमोनिवर्त-
नेनेत्युक्तं तदिदममृष्यमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—ननु तमो न भावरूपमिति । हेतुमाह—
भावेऽपि । पदपदार्थान्यतमत्वं हि भावत्वम् । तदिह तदन्यतमत्वं व्यावर्तमानं भावत्वमपि व्यावर्तय-
तीत्यर्थः । तत्र किं द्रव्यान्तर्भूतसुत्तरपञ्चकान्तर्भूतं वा । द्रव्यान्तर्भावे पृथिव्यादिनवान्यतमदन्वद्वेति विप्रत्य-
यान्तर्भावं निषेधति—नाद्यः । क्षितीति । तत्र रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वा-
परत्वगुणवत्त्वद्रवत्वसंस्काराश्चतुर्दश क्षितिगुणाः, गन्धरहिताः स्नेहसहितास्ते एव चतुर्दश सलिलगुणाः, संख्यापरिमा-
णपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यसंस्काराश्चतुर्दशात्मगुणाः, आत्मा चाना-
पूरः । रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारा इत्येकादशगुणास्तेजसः, रूपद्र-
वत्वहीनास्ते एव नव गुणा वायोः । स्पर्शरहितास्ते एवाष्ट मनसो गुणाः । एतेनेश्वरोऽपि गृहीतः । शब्दसं-
ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः पद्म गगनगुणाः । शब्दवर्जितास्ते एव पञ्च दिक्कालयोः, एतेष्वनन्तर्भावा-
दित्यर्थः । ननु किमित्यनन्तर्भाव इत्यत आह—अन्तर्भावे चेति । यस्मिन्नन्यस्यान्तर्भावोऽस्मिन्नतस्तस्य या-
वन्तो गुणास्तावद्गुणत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । नित्यद्रव्यान्तर्भावेऽधिकं दूषणमाह—आत्मादाविति । तथाचा-
लोकानिवर्त्यत्वमिति शेषः ।

नववहिष्टं दूषयति—नापि द्वितीय इति । तत्र यत्कथं किं गुणवदुत निर्गुणमिति । निर्गुणपक्षं दूषयति—
निर्गुणस्येति । गुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वेन तद्रहितस्य द्रव्यत्वव्यापातादित्यर्थः । प्रथमं शङ्कते—नीलेति ।
रूपपरिमाणगुणवत्त्वोपलम्भादित्यर्थः । परिहरति—नेति । पृथिव्यां हि नीलरूपं गन्वादिमिर्व्याप्तमतस्तन्नि-
वृत्तौ तमसि नीलरूपमपि निर्वर्ततेत्यर्थः । भावायोगादिति पदच्छेदः । भङ्गवन्तरेणापि द्रव्यान्तरत्वं दूषयति
—अपिचेति । तर्हि निरवयवमुतावयवारभ्यम् । नाद्य इत्याह—न तावदिति । निरवयवद्रव्यस्यात्मव-
नित्यत्वादित्यर्थः । द्वितीयेऽपि किं स्पर्शवदारभ्यं तद्रहितारभ्यं वा । प्रथमे प्राह—तदारम्भकाणामिति ।

शोपलम्भप्रसङ्गादस्पर्शवत्त्वे च तेषां मनोवद्द्रव्यारम्भकृत्वायोगात् । नापि गुणः, रूपान्तर्भावे पृथिव्यादित्रितयगुणत्वे च तत्सहचारिणां गुणान्तराणामप्युपलब्धिप्रसङ्गात् । नापि नभोनभस्वतोरगुणः, तयोररूपत्वात् । नापि विकालमनसाम्, एतेषां विशेषगुणरहितत्वात् । नाप्यात्मनः, तस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षगुणानधिकरणत्वात् । नापि कर्म, संयोगविभागयो-रकारणत्वात् । नापि सामान्यविशेषसमवायाः, तेषां व्यक्तयाश्रयसंबन्धिनामुपलब्धि-मन्तरेणानुपलम्भनियमात् । नहि सामान्यस्यैव व्यक्तिविशेषाणामिव चाश्रयः समवायस्यैव संबन्धी तमसः कश्चिदुपलभ्यते । नचास्य तमस उपलम्भसंभवः, तदुपलम्भकाभावात् । नच लोचनमुपलम्भकं, तदव्यापारे तदनुपलम्भापातात् । अस्ति च निमीलितनयनस्यापि तमः पश्यामीत्यभिमानः । अपिच रूपत्वे रूपवत्त्वे वाऽऽलोकजन्यचक्षुर्जन्यसाक्षात्कार-विषयत्वं न स्यादालोकसहकृतस्यैव चक्षुपस्तत्र सामर्थ्यात् । नापि मनस्तदुपलम्भकं बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तस्य बहिरप्रवृत्तेः । तस्मात्पटुस्वपि भावेष्वनन्तर्भावात्तद्भावे-षोपलम्भकाभावाच्च, प्रभाभावस्तम इति ।

अत्रोच्यते—‘तमालश्यामलज्ञाने निर्वाधे जाप्रति स्फुटे । द्रव्यान्तरं तमः कस्माद्

समवायिकारणगतविशेषगुणस्य कार्यं सजातीयगुणारम्भकत्वनियमादिति भावः । द्वितीयं दूषयति—अस्पर्श-वत्त्वे चेति । यत्स्पर्शरहितं न तद्रव्यारम्भकं यथा मन इत्यर्थः । उत्तरपञ्चकान्तर्भावं क्रमेण दूषयति—नापीति । गुणपक्षेऽपि किं रूपान्तर्भूतमितरान्तर्भूतं वा । आद्येऽपि किं पृथिव्यादित्रयवृत्तीतरवृत्ति वा । आ-निराचष्टे—रूपान्तर्भाव इति । इतरवृत्तितामपि क्रमेण दूषयति—नापीति । नभस्वान्वायुः । विशेषगुण-रहितत्वादिति । विकालमनसां विशेषगुणशून्यत्वमिति सिद्धान्तादित्यर्थः । चक्षुर्मात्रप्राणस्येतरगुणान्तर्भाव-स्त्वसंभवनिरस्तः । कर्मान्तर्भावं निराकरोति—नापीति । संयोगविभागयोरसमवायिकारणत्वस्य कर्मलक्ष-णत्वात्तमसश्च तदभावादित्यर्थः । सामान्यादित्रयधर्माणामभावं तमसि दर्शयति—नहीति । सामान्यत-व्यक्तिव्यङ्ग्यत्वं, विशेषत्वे चाश्रयप्रतीत्यपेक्षा, समवायत्वे च संबन्धिप्रतीत्यपेक्षा स्यादित्यर्थः । एवं भावत-निःस्वभावापत्तिमुक्त्वा प्रतीत्यनुपपत्तिमाह—नचेति । प्रत्यक्षं तावदनुभूयते । तत् किं चाक्षुपमुत मानस-स्पर्शनादिकं त्वनुपलम्भपराहतम् । नाद्य इत्याह—नचेति । अस्मत्पक्षे निमीलितलोचनस्यापि संतमसालोच-संभवति, आलोकभावस्यान्तरस्य चक्षुषा ग्रहणसंभवादालोकानपेक्षत्वाद्भावपक्षे लालोकापेक्षाया वक्ष्यमाणत्वा-पदार्थान्तरस्याप्यान्तरस्य ग्रहणप्रसङ्गाच्चेति भावः । रूपगुणत्वे रूपवद्द्रव्यत्वे चानुपपत्त्यन्तरमाह—अपिचेति । आलोकेनाजन्यचक्षुर्जन्यश्च यः साक्षात्कारस्तद्विषयत्वं न स्यादस्ति च तदित्यर्थः । रूपघटादिष्वप्यभिचार-याद्यविशेषणं ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यस्यास्मदादिस्पर्शनप्रत्यक्षवेद्यस्य च घटादेर्निवृत्त्यै चक्षुर्जन्यग्रहणम् । अस्मत्-त्वालोकभावस्यालोकानपेक्षात्प्रत्यक्षप्रतियोगिकतया च प्रत्यक्षत्वाच्चानुपपत्तिरिति भावः । मानसत्वं जि-धति—नापि मन इति । तमसश्च बहिरुपलब्धेरिति शेषः । उपसंहरति—तस्मादिति । तद्भावाद् इ-न्तर्भूतत्वेऽपीत्यर्थः । अयमत्र प्रयोगः—तमःपदमालोकामाववाचकमालोकानपेक्षचक्षुर्प्राणवाचककम्बादादे-कामावपदवदिति ।

समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यत इति । श्लोकेन प्रमाणमुपदर्शयति—तमालेति । तमालवच्छया-कमिति ज्ञानं तमालश्यामलज्ञानं तस्मिन्निर्वाधे स्फुटे जाप्रति स्फुरति सति अकस्मान्निष्कारणं द्रव्यान्तरं तम-विशेषणैरुदयैर्दयं कस्मादपलप्यते । अयुषो ष्यकस्मादपलापोऽतिप्रसङ्गादिति योजना । अत्र जाप्रतीत्यनु-

फस्मादपलप्यते ॥ ५ ॥ अस्ति हि तमस्तमालमालाश्यामलमिति प्रतीतिः । नचाप्रतीता-
वेवायं प्रतीतिभ्रमः, तद्यवहारस्य तदप्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेः । नचायमौपचारिक आलो-
काभावे, शौक्लयाभावे पटादौ नीलव्यवहार इवेति युक्तम्, मुख्ये बाधकाभावान् । रूपत्वे
रूपवत्त्वे वा आलोकानपेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वासंभवो बाधक इति चेन्मैवम् । आलो-
कविरोधिनस्तमसश्चालोकाभावव्यञ्जनीयतया तन्निरर्पेक्षचक्षुर्विषयत्वोपपत्तेः, सामर्थ्यस्य
कार्यगम्यत्वात्, नचेद्, आलोकाभावस्यापि रूपवदभावतया घटाभाववदालोकनिरपेक्षचक्षु-
र्विषयत्वं न स्यात्, तद्विरोधितया तदनपेक्षत्वं तु प्रकृतेऽपि समानमन्यत्राभिनिवेशात् ॥

नच निमीलितनयनस्य लोचनव्यापाराभावेऽपि तमस उपलम्भादचाक्षुषत्वं, तत्रापि
पक्षमपटलान्तर्घतितमसश्चक्षुर्व्यापारादेवोपलब्धेः, पिहितकर्णपुटस्य श्रोत्रव्यापारादेवान्तर-

त्तिलक्षणमप्रामाण्यं परिहृतम् । स्फुट इति संज्ञयः परिहृतः । निर्बाध इति विपर्ययपर्युदासः । श्लोकं विद्वणोति
—अस्ति हीति । अत्र प्राभाकरावलम्बितः प्राहुः—प्रतीतिरेव तावमेवेति । यस्तु प्रतीतिव्यवहारः स तु
प्रतीत्यभाव एव प्रतीतिभ्रमः । यथाहुरदृष्टौ ध्वान्तदृष्टिवदिति, तन्निराचष्टे—नचेति । तत्र हेतुः—तद्यवहा-
रस्येति । अस्ति तावदेवंविधः संसर्गव्यवहारः । स च तादृशज्ञानमन्तरेणानुपपन्नः । चेतनव्यवहारस्य ज्ञान-
पूर्वकत्वनियमादित्यर्थः । यथा चैतत्तयोदकंऽस्यातिप्रत्याख्याने प्रख्याप्यते । नचालोकादर्शनविषयज्ञानमेव
तमः पदयानीति व्यवहारहेतुस्तस्याचाक्षुषतया इदमिति व्यवहाराद्यनुपपादकत्वादिति भावः । एतेनैतदपि परा-
जम् । यदाह मानमनोहरस्तमसि प्रमाणाभावमुपन्यस्य, नीलं तम इति प्रतीतिः प्रमाणमिति चेन्न, नीलमु-
द्गसिद्धे, चर्चं नाथेनापि—अप्रतीतावपि प्रतीतिभ्रमो मन्दानामिति । यस्तु तेनैवोक्तं—कथं तर्हि पदप्रयोग इति
चेत्सिताभावे उपचारादयितं नीलमिति हि लौकिक प्रयोग इति । तदेतदनुवादपूर्वकं दूषयति—नचाय-
मित्यादियुक्तमित्यन्तेन । पटादौ शौक्लयाभावे नीलस्य व्यवहार इवालोकाभावेऽयमौपचारिक इति न युक्त-
मित्यन्वयः । मुख्ये बाधकाभावादिति तत्र हेतुः । यत्त्वत्रापि तेनोक्तं “मुख्ये किं बाधकमिति चेदालोकनिर-
पेक्षस्य चक्षुषो रूपप्रत्ययजनकत्वानुपपत्तेः कारणभावे कार्यं जायत इति दुर्घट”मिति । तदेतदर्थतः वादते—
रूपवत् इत्यादिना । परिहरति—मैवमिति । रूपवत्त्वेऽपीतररूपवद्वैलक्षण्यमस्तीत्यन्यथासिद्धमित्यर्थः ।
नन्वितरनालोकसापेक्षस्य चक्षुषः कथं तमन्तरेण तमसि सामर्थ्यमित्यत आह—सामर्थ्यस्येति । एतदेव
प्रतिषन्त्या समर्थयते—नचेदित्यादिना । यदि हि रूपवत्त्वमात्रेणालोकासापेक्षताप्राप्तित्वादा रूपवदभावत्वा-
दालोकाभावेऽपि घटाभाववदालोकं किमिति नापेक्षते चक्षुरित्यर्थः । प्रसङ्गसाम्यमुक्त्वा परिहारं समीकरोति
—तद्विरोधितयेति । नचाभिव्यञ्जकतयाप्यवस्थापेक्षणीये सत्यालोकाभावे तावतैव तमःशब्दसार्थक्यात्
हृतमधिकान्धकारकल्पनयेति वाच्यम् । यतः कल्पयन्तं प्रत्ययं पर्यनुयोगः । न प्रत्यक्षं प्रमाणयन्तं प्रति, शा-
भासतोद्भावनीयेति चेदुद्भाव्यतां, सैव तु केनेति विधेचनीयम् । नहि न नीलं तम इति प्रत्यक्षमस्ति बाधकम्,
अनुमानमितिचेतस्यैव तावदन्धशिविष्यत्वविषयस्य बाधव्याधिं समाधत्स्य । तदेवमालोकनिरपेक्षचक्षुःप्रत्यय-
नुपपत्तिः परिहृता ।

यस्तु चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्युपलम्भादचाक्षुषत्वमिति तदनुयासिद्धिमाह—नच निमीलितेति । नच रूप-
वदन्तरग्रहप्रसङ्गः । तत्रालोकसापेक्षत्वात् । नचेन्निर्याणामन्तःप्रवृत्तिर्न दृष्टवती येनायमलौकिकः हृतः स्यादि-
त्याह—पिहितेति । तत्र शब्द इत्यादिप्रतीतेः धोत्रमपि गत्वा प्राहीति भावः । इत्युपलम्भकसिद्धिरुक्ता ।
अथ यदुक्तं गीतरूपमस्य न संभवति तत्राप्यवगन्धयैपुर्वोदिति तदनुयासात्समानयोगक्षेपज्ञानं दर्शयन्माधक-

शब्दोपलब्धिष्वत् । यत्तु गन्धाभावे तत्राप्तं नीलरूपमपि न स्यादिति, तदपि न । अनुष्णा शीतस्पर्शस्य पृथिव्यां गन्धादिव्याप्तस्य तदभावेऽपि गरुति प्रतीतेरेवाङ्गीकारवदिहापि प्रतीतेरेव नीलरूपस्य गन्धाभावेऽप्यभ्युपेयत्वात् । अथ पाकजस्यैवानुष्णाशीतस्पर्शस्य गन्धादिना व्याप्तिस्तर्हीहापि पाकजस्यैव कालिमगुणस्य गन्धादिना व्याप्तिरिति तुल्यम् । सद्भावप्राहिणः प्रत्यक्षस्योभयत्र समानत्वान् । नच स्पर्शाभावात्तमसो रूपवत्त्वाभावः रूपप्राहकप्रत्यक्षविरोधे हेतोः कालाल्ययापदिष्टतया तदभावानुमानानुदयात् । अन्यथा रूपाभावेन पचनेऽपि स्पर्शाभावानुमानस्य दुर्निवारत्वात्, अन्यत्र रूपवतामेव स्पर्शवत्त्वनिश्चि-
मात् । नचास्पर्शवत्त्वादेव तमःपरमाणूनां मनोवदनारम्भकत्वमनुमातुं युक्तम् । तत्र वैय-
र्थ्यस्योपाधेः सद्भावात् । नहि शरीरतया विषयतयेन्द्रियतया वा मनभारव्यवृत्त्यस्य
भोगसाधनता संभावनीया । पार्थिवादिचतुर्विधशरीरानन्तर्भूतस्येन्द्रियानाश्रयस्य शरीरतया
भोगसाधनतानुपपत्तेः । नच विषयतया, रूपस्पर्शज्ञानारब्धस्य तद्रहितत्वेन विषयत्वायो-
गाच्छरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी विषय इत्यङ्गीकारात् । नापीन्द्रियतया, मनस एवे-
न्द्रियत्वात्तदारब्धेन्द्रियान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात् । नच शरीरेन्द्रियविषयानन्तर्भूतस्य कार्य-
द्रव्यस्य भोगसाधनत्वं परैरङ्गीक्रियते । आत्मादीनामपि पुनरस्पर्शवतां शरीरेन्द्रियवि-

माह—अनुष्णाशीतस्पर्शस्येत्यादिना । अत्र हि गन्धव्याप्त्या नीलरूपव्याप्तिसिद्धिरिति सिद्धता । सा चायुक्ता,
रूपोपलब्धिष्विरोधात् । यदिचैवमपि नानुमन्यसे, तर्हि गन्धव्याप्त्यानुष्णाशीतस्पर्शमपि पचनाव्यावर्तयेत्यर्थः ।
अथ नानुष्णाशीतस्पर्शस्य गन्धेन व्याप्तिरपि तु तद्विशेषस्य पाकजमनस्तर्हीहापि न नीलरूपमात्रस्य गन्धेन
व्याप्तिः, किंतु पाकजस्यैवेत्याह—अथ पाकजस्यैवेति । नचपाकजस्पर्शवत्पाकजनीलरूपसिद्धावेतत्स्या-
त्तदेव तु कुतः प्रमाणादित्यत आह—सद्भावप्राहिण इति । ननु तमो रूपरहितं स्पर्शरहितत्वादाका-
शवदिल्लानुमानविरोधाद्रूपवत्त्वमेव नास्तीति कुतस्तद्विशेषनीलरूपवत्ता इत्यत आह—नच स्पर्शेति । एत-
दपि पचनस्पर्शप्रतिबन्धा समर्थयते—अन्यथा रूपाभावेनेति । वायुः स्पर्शरहितः रूपरहितत्वादाकाश-
वदिल्लस्यापि सुवचत्वात्, प्रतीतेराभासतयानुमानोदयस्य सुवचत्वादित्यर्थः । अथैव व्याप्तिमाह—अन्यत्रेति ।
यत्तु यत्स्पर्शरहितं न तद्रव्यारम्भकं यथा मन इति व्याप्त्या स्पर्शरहिततयाङ्गीकृततम-परमाणूनां द्रव्यारम्भ-
कताभ्युपगमनव्याघात इति कन्दलीकारोक्तदूषणं तदनूय निराकरोति—नचास्पर्शवत्त्वादेवेति ।
मनसि द्रव्यानारम्भकत्वे तदारब्धकार्यवैयर्थ्यमुपाधिः अतो नास्पर्शवत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वयोर्व्याप्तिरित्यर्थः ।
वैयर्थ्यमेव विवृणोति—नहीति । शरीरतया भोगसाधनताभावमाह—पार्थिवादीति । अयमर्थः—
पार्थिवाद्यतैजसबायवीचानि चतुर्विधानि हि शरीराणि प्रमाणवन्ति । तत्र पार्थिवानि कानि यानीमान्यनुभू-
यन्ते । आप्यादीनि तु तत्तच्छाल्मगम्यानीति स्थितिः । न पुनश्चातुर्विध्यानवरुद्धशरीरसद्भावे प्रमाणमस्तीति तदा-
रब्धस्य न शरीरता । अत्र च मृतशरीरवदभोगसाधनतायामिन्द्रियानाश्रयत्वं हेतुः । तत्र च हेतुरनन्तर्भूतत्वं,
विषयताऽभावमाह—नच विषयतयेति । रूपस्पर्शज्ञानान्त-करणारब्धमपि रूपस्पर्शज्ञानमतएव विषय-
त्वरहितं, द्रव्येषु रूपवत्सु स्पर्शवत्सु वा बाधेन्द्रियप्रवृत्तेरित्यर्थः । तम-पचनयोर्व्यवच्छेदाय रूपस्पर्शप्रहणम् ।
उक्तं च मानमनोहरकारेण—शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी हि विषय इति । नच रूपस्पर्शरहितस्यावयवित्वं,
कार्यत्वे सति रूपस्पर्शवतोऽवयवित्वादिति भावः । मनभारव्यवृत्त्यतः निषेधति—मनस एवेन्द्रियत्वा-
त् नच शरीरेति । कार्यद्रव्यस्यैव हृदयं—तत्र कालादीनां सर्वोत्पत्तिनिमित्ततया भोगसाधनतास्तीति । तत्र
यापपरिहाराय कार्यप्रहणम् । उच्योपाधेरतामदिष्वपि साध्यव्याप्तिमाह—आत्मादीनामिति । प्रकृतस्य तु

१ पार्थिवादिचतुर्विधशरीरेष्विति शेषः.

यारम्भासंभवात्समानमेव द्रव्यान्तरारम्भवैयर्थ्यम् । इह पुनस्तमसो महतो रूपवतः
संभवति भोगसाधनत्वमिति नारम्भवैयर्थ्यम् । किंचास्मन्मते न तमस्तमोवयवैरारब्धं,
स्य मूलकारणान्मेघमण्डलान्महाविद्युदादिजन्मवज्जन्माभ्युपगमात् ।

नच मनसोऽनारम्भकत्वं, तस्यापि सावयवद्रव्यत्वेन परिणामित्वाभ्युपगमात्, आत्म-
श्च स्पर्शरहितस्य सर्वजगदुपादानकारणत्वाभ्युपगमाच्च । चलत्वाद्यालोकवत्तमो द्रव्यान्तरं,
अन्यानुविधाननियमान्न स्वाभाविकं चलनमस्य घटरूपादिवदिति चेत् न । द्रव्यस्यापि
सुवर्णादिवद्रव्यान्तरानुविधानेऽपि स्वाभाविकचलनोपपत्तेः । तथाहि—आकरजस्य तेजसः
सुवर्णादेः पार्थिवद्रव्योपपट्टम्भात्पतनादिप्रतिभासेऽपि न स्वाभाविकं चलनमुपरोध्यते ।

किंचेदमनुविधानं, किमालोकावरकातपत्राद्यनुविधानं, किंवा निवर्तकप्रदीपाद्यनुविधा-
नम् । नाद्यः । निश्चलेऽप्यचलादौ तच्छायायाश्चलनोपलम्भात् । नापि द्वितीयः । वैपरीत्या-
द्यालोकगमने गच्छति छायेति प्रतीतेर्गमने चागच्छतीति प्रतीतेः, तद्विरोधित्वाच्च तदनु-
विधानानुपपत्तेः ।

पुनस्तमसो विषयतया भोगसाधनतयोपाधेः साधनाव्यापकत्वमाह—इह पुनरिति । उपलक्षणं चैतत्स्पर्श-
त्वस्यापि । सुप्तस्पर्शा चूतच्छाया, उष्णस्पर्शा वटच्छायेति प्रतीतेः । नचेदं परमाण्वादिवदणु, येन विषयतयापि
न भोगाय स्यादित्याह—महत इति । तैत्प्रतीत्या चायमारम्भवादः समर्थितः नास्माकमयं समर्थनीयः । नख-
स्माकमनिर्वचनीयाचिन्त्यसामर्थ्याविधासचिवद्भ्रमविवर्तवादिनामेतादृशानुपपत्त्याभासपाशुभिः परिभवं इत्याह—
किंचास्मन्मत इति । भाट्टरीत्या वा पुरोक्तं, मूलकारणमखण्डभावावद्भ्रम । महाविद्युदादीति । धणुका-
दिपरम्पराविलम्बो निरस्तः ।

पुनरपि सिंहावलोकितेन आरम्भमेव निर्वाहयति—तत्र यन्मनसोऽनारम्भकत्वं दृष्टान्तितं तदभ्युपगम्य
वैयर्थ्यमुपाधिरुक्तस्तदेव तु नास्त्यस्यत्पक्षे तस्यापि सावयवतया परिणामित्वेनारम्भकत्वादित्याह—नच मनस
इति । अन्यत्रानेकान्तिकतां चाह—आत्मनश्चेति । तमो द्रव्यं ह्यवत्त्वाद्दृष्टवदित्युक्तमिदानीं क्रियावत्त्वा-
दपि द्रव्यत्वमाह—चलत्वाच्चेति । अस्ति हि शङ्कते—अन्येति । घटरूपादिवदिति । घटगतगुणानां
क्रियारहितानां यथा घटगमनानुविधानेऽपि न स्वाभाविकं गमनमेवमित्यर्थः । तर्हि तमः स्वाभाविकचलन-
हीनमन्यचलनानुविधायित्वाद्रूपादिवदित्यनुमिनोपि । तथाच सुवर्णेऽनेकान्तिकं तत्र ह्यनुच्छिन्नप्रवत्त्वस्याकर-
जतेजसः सुवर्णस्य कठिनपार्थिवद्रव्येण नित्यमवष्टम्भात् तच्चलनाद्यनुविधाननियमोऽस्ति । नचैतावता स्वाभा-
विकत्वहानिश्चलनस्येति परिहरति—न । द्रव्यस्यापीति । आकरजं तेजोविशेष आकरेषु जायत इति
व्युत्पत्त्या । चतुर्विधं हि तेजो वैशेषिकैः परिगणितं भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजं चेति ।

ननु न यमगुमिमीमहे अपितैर्हि प्रमाणमेव नास्ति चलनवत्त्वे, प्रतीतिस्त्वन्यानुविधानेनान्यथासिद्धेति
ब्रूम इति, तर्ह्यनुविधानमेव नास्त्यनिरूपणादित्याह—किंचेदमनुविधानमिति । न किमपीत्यर्थः ।
किं यन्निमित्तं छायायात्मकं तमस्तदनुविधत्ते क्रिया यन्निवर्त्यं तदनुविधत्त इति विरुल्ययति—किमालो-
केत्यादिना । नाद्यः । नियमाभावादित्याह—निश्चलेऽपीति । द्वितीयोऽप्युक्तः । विपरीतभानादित्याह
—नापि द्वितीय इति । आगमनं इति पदच्छेदः । यदि हि तदनुविदध्यात्तदा तस्मिन्गच्छति गच्छतीत्या-
गच्छत्यागच्छतीति प्रतीतिः स्यान्नतु तदस्तीत्यर्थः । तद्विरोधित्वाच्चेति । यस्य हि यदुदयसमसमयमेव
विनाशस्तस्य कथं तदुदयानन्तरं स्थितिरुक्तिक्रियानुकरणं वा, अस्थितस्याननुकरणादिति भावः ।

किंच 'चक्षुःप्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम् । रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम् ॥ ६ ॥' चक्षुरालोकाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकं रूपिद्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्तदगिन्द्रियवत् । नच रूपरहितेन्द्रियत्वमुपाधिः । यद्रूपवदिन्द्रियं तदालोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं न भवति घ्राणवदिति व्यतिरेकव्याप्तौ रूपवद्राहकत्वस्यैवोपाधित्वात् । तत्सिद्धमेतत्तमो द्रव्यान्तरमिति । इत्थमालोकवदेव भावरूपाज्ञानतमोविरोधिन आत्मनो जगदवभासकस्य ज्योतिःशब्दवाच्यत्वात् । तस्य त्वसङ्गस्य दृश्यसङ्घानिरूपणात् दृश्यप्रपञ्चस्य स्वतः परत-
श्चासिद्धेर्दृग्गतमन्यध्यस्ततयैव सिद्धिरिति सिद्धं मिथ्यात्वम् ।

किं पुनरिदं मिथ्यात्वं प्रमाणानुगत्यत्वं वा १, अप्रमाणज्ञानानुगत्यत्वं वा २, अयथार्थज्ञानानु-

तदनेन भावस्वभावनेनोत्पत्तिसमर्थनेन गुणयसया द्रव्यत्वदीपनेनच गतेरानुगत्यत्वं कल्पनेरूपणेन चोपलम्भ-
कोन्मीलनेन च गुणवत्त्वाद्यनुगुणप्रमाणव्यपेणपरिध्रमपरिदृश्य[मान]मानसोदयनदैर्न्यमप्यनोदितं मन्तव्यम् । पूर्वमालोकाभावप्रतिबन्धा रूपवत्स्यपि तमस्यालोकनिरपेक्षचक्षुःप्रवृत्तिरस्तीत्युक्तमिदानीं तत्रैवानुमानमप्याह—
किंच चक्षुरित्यादिना श्लोकेन । प्रकाशनमालोकस्तेनाजन्यं यद्रूपवद्वीक्षणं रूपिद्रव्यसाक्षात्कारस्तत्क्षमं तत्समर्थमिति प्रतिज्ञा । तत्र हेतुमाह—रूपीति । रूपवद्रव्यग्राहकत्वात् यथा लगिन्द्रियमित्यर्थः । संशुद्धी-
तमनुमानं विद्युणोति—चक्षुरित्यादिना । आलोकजन्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्ते आलोकभावतयाप्यर्थान्तर-
रता, तदर्थं द्रव्यग्रहणम् । आलोकजन्यद्रव्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्तेऽर्थान्तरता । भाट्टनेये कालादीनामपि तथा-
त्वाद् ; यथाह मानमनोहरः—विवक्षितासाधनं चेति, तदर्थं रूपिग्रहणम् । घटादिप्रतीतिजनकत्वेन सिद्धसाधन-
तानिवृत्त्यर्थमालोकाजन्येत्युक्तम् । अनुमानादिव्योक्त्यर्थं हेताविन्द्रियग्रहणम् । इन्द्रियत्वादित्युक्ते घ्राणानैवा-
न्तिकता तस्य द्रव्यग्राहकत्वाभावात् । तदर्थं द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वादित्युक्तम् । तावत्युक्ते प्रतिवादिनो मनस्यनै-
कान्तिकता तस्यात्मद्रव्यग्राहकत्वेऽपि रूपिद्रव्ये खातक्येण ग्राहकत्वाभावात्, तदर्थं रूपीत्युक्तम् । साध्यहे-
त्वोर्द्रव्यपदं स्पष्टार्थमित्येके । एवं च सति मानमनोहरसंभ्रमोऽप्यनवसरनिरस्तः । त्वगिन्द्रियस्योक्तसाध्यवत्तायां
रूपरहितेन्द्रियत्वं नोपाधिस्तस्य व्यतिरेकव्याप्त्यभावेन साध्याव्यापकत्वादित्याह—यद्रूपवदित्यादिना ।
व्यतिरेकासिद्धेर्वाहदृष्टादौ चेन्द्रियसन्निकर्षं नोक्तकादिदृष्टौ च साध्याव्याप्तिनिवृत्त्यै मनुष्येन्द्रियत्वविशेषितोक्त-
साध्यस्योपाधिर्विधानमपि निरस्तं मन्तव्यम् । एवंच सति यदनुमानं तमःपदमित्यादि तदुक्तप्रमाणबलाद्भाव-
रूपत्वे निर्णीते कालातीतं, विपक्षे बाधकाभावात् शङ्कितोपाधिता च । नचालोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वहानिस्तस्याः
लोकविरोधितया तदभावव्यग्रथत्वेनाप्युपपत्तेः, तमःपदस्य नानार्थवाचकत्वसिद्धावप्यस्य चरितार्थत्वेन तमसो-
ऽभावत्वासिद्धेर्द्वे, आलोकसंसर्गाभावस्तमःपदवाच्यो न भवति अभावत्वाद्दृढाभाववदित्यादिना सत्प्रतिपक्षं चाभाव-
प्रमाणगम्याभाववादिनः साधनवैकल्यं च दृष्टान्तस्यैवादिदोपादुपेक्ष्यम् । मनस्त्वं स्पर्शवदवृत्तिवैषम्यद्वृत्तित्वात्तन्मन्य-
न्मेयत्वाद्दृढवदिति तमसो द्रव्यान्तरत्वसिद्धिरित्येके । 'साक्षिवैद्यं खरादान्ते ध्वान्तं तच्चाक्षुषं पुनः । आत्मा-
योऽसाध्यद्युक्तिवैभवं खं विभावयन् ॥' वादार्थमुपसंहस्य प्रयोजनमाह—इत्थमित्यादिना । अभावविलक्षण-
विधासिद्धिः फलमित्यर्थः । ज्योतिःशब्दवाच्यत्वाद् । युज्यते ध्रुतिः 'अत्रार्थं पुरुष' इत्यादिकेति शेषः ।
वक्ष्यमाणवादार्थं प्रस्तावयति—इदं प्रपञ्चस्येत्यादिना । 'कार्यं वाचारात्मभणं भेदलीढं सत्त्वं तत्त्वं
त्येकमेवाद्वितीयम् । इत्यहंते श्रौत एवाह युक्त्युक्त्याभासोद्भूतविक्रान्तिभित्त्यै' ।

दृग्गतमन्यध्यस्ततया दृश्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमित्युक्तं तद्विदमसहमानः प्रपञ्चसत्यत्ववादी मिथ्यात्वलक्षणमा-
क्षिपति—किं पुनरिति । आक्षेपमेव संभवत्सर्वप्रकारनिरसनाने निर्वाहयितुं संभवत्प्रकारान्विकल्पयति—
प्रमाणेत्यादिना । प्रमाणविषयत्वाभावादप्रमाणविषयत्वमन्यदेव, अप्रमाणमपि द्वेषा यथार्थमयथार्थं च, यथा-

१ ज्योतिःशब्दवाच्यत्वादित्यत्र ज्योतिःशब्दवाच्यत्वमिति पाठे शेषपूर्तिहेतौ न स्यात्, २ हेताविति शेषः ।

३ आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वाचकत्वरूपसाधनस्यालोकाभावपदरूपे दृष्टान्ते वैकल्यमित्यर्थः ।

त्वं वा ३, सद्विद्वक्षणत्वं वा ४, सदसद्विद्वक्षणत्वं वा ५, अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं वा
 ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा ७; प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा ८, द्वाध्यत्वं वा ९, स्वात्-
 भावसमानाधिकरणतया प्र-तीयमानत्वं वा १० । नाद्यः । ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वप्रसङ्गात्,
 प्र स्वप्रकाशत्वेन त्वया सर्वप्रमाणगोचरतानङ्गीकारात् । नापि द्वितीयः । सद्वादिभिरपि
 याङ्गीकृतत्वेनार्थान्तरत्वात्, तस्य तस्य शक्तिशकलादेस्तेन तेन रजताद्याकारेण प्रतीयमा-
 याऽप्रमाणज्ञानविषयत्वात्, सर्वस्य प्रपञ्चस्य क्षणिकमिदं ब्रह्मकार्यमिदमनिर्वचनीयमिद-
 ति च मिथ्याज्ञानगोचरतायाः परैरभ्युपगमात्, स्पृतेरप्रमाणतया तद्विषयस्य तथात्वा-
 पोकाराच्च । न तृतीयः । उक्तदोषानुपपत्तेरेव । न चतुर्थः । सद्विद्वक्षणस्यापि शशविपाणादे-
 नेथ्यात्वात् । न पञ्चमः । एकतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकतया तदसंभवात् । न
 षष्ठः । अनिर्वचनीयाविद्याया अप्रसिद्धत्वात् । अग्रहणमिथ्याज्ञानलक्षणाविद्यायास्तत्का-
 स्य च प्रवृत्तिसंस्कारादेः सत्यत्वात् । न सप्तमः । ज्ञाननिवर्त्यस्यापि ज्ञानसुरादेः सत्त्वात्,
 र्वस्य सत्यत्वेऽपि परैरीश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वाङ्गीकारात् । नाष्टमः । प्रमाणेन चतुषाधौ यः प्रति-
 न्नस्तत्र तस्य निषेधासंभवाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात् । भ्रान्तिप्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्व-
 । सत्त्वेऽपि संभवेनार्थान्तरत्वाद्, अन्यथाख्यातिवादिभिरपि क्वचिन्निषिद्धस्यान्यत्र सत्ता-

प्रतिर्विपर्ययश्च, तेन प्रथमद्वितीयतृतीयकल्पसकरकलङ्काभावः । अविद्यातत्कार्ययोरिति । अव्याप्तिनि-
 त्ये अन्यतरग्रहणम् । बाधकज्ञानविषयशुक्तयादेस्तत्त्वित्वपूर्वज्ञानादेश्च प्रतिपन्नोपाधौ बाधाभावाच्च सप्तमष्टम-
 वमसंकरः । प्रतिपन्नोपाधिः प्रतीतमधिष्ठानम् । स्वात्यन्तेति । पूर्वं स्वाधिष्ठाननिष्ठाभावमानप्रतियोगित्वं
 श्रेवक्षितम्, इह तु स्वात्यन्ताभावस्य स्वस्य चैकत्र वर्तमानतया प्रतीतिरिति नाष्टमदशमसंकरः शङ्कनीयः । सर्व-
 प्रमाणेति । गोचरता चान वेद्यता न पुनर्विषयत्वमेव । तद्विषयताया च नैयायिकादेरसिद्धिः, सर्वस्यापि यथाक-
 थं चन प्रमाणविषयत्वात् । सद्वादिभिरपीति । ये हि प्रपञ्चसत्यत्ववादिनस्तैरपि सत्यस्यैव शक्तिरुदेरिष्टा-
 तयाऽप्रमाणज्ञानगम्यत्वस्वीकारात्सत्यत्वेऽप्युपपद्यमानमर्थान्तरमेवेत्यर्थः । तदेव विवृणोति—तस्य तस्येति ।
 पत्यत्वं चेदं शक्तिकादावङ्गीकृतमिति सर्वस्यैव प्रपञ्चस्यैवंविधत्वमेवाङ्गीकृतमिति स्फुटतरमर्थान्तरमित्यर्थः । अर्था-
 तरोदाहरणान्तरमाह—स्पृतेरिति । उक्तदोषेति । तत्तदारोपाधिष्ठानतया सर्वस्यायथाज्ञानगम्यत्वाङ्गीका-
 दित्यर्थः । सद्विद्वक्षणस्येति । नच शशविपाणस्यापि मिथ्यात्वादनतिर्व्याप्तिरिति वचनीयम् । मिथ्याभूतप्र-
 षस्यापरोक्षज्ञानयोग्यत्वमर्थकियासामर्थ्यं च स्वीकुर्वद्भिः शशविपाणवैषम्येष्टेरमिथ्यात्वं स्वीकृतमेव शशविपाणस्य ।
 चैवं सत्यद्वैतविरोधः, सदद्वैताभ्युपगमादप्युपपत्तेरतोऽतिव्याप्तिरनतिलङ्घनीयेति भावः । एकतरेति । सत्त्वनि-
 धेऽसत्त्वं नान्तरीयकमसत्त्वनिषेधे च सत्त्वं नान्तरीयकम् । परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति न्यायात् ।
 ततोऽसंभवीदं लक्षणमित्यर्थः । न षष्ठ इति । अविद्यातत्कार्ययोरित्यन केयमविद्या विवक्षिता, किमनिर्वच-
 नीयदण्डायमानाऽविद्या किंवाऽग्रहणमिथ्याज्ञानारिम्बा । प्रथमेऽतिद्विद्वक्षणस्येत्याह—अनिर्वचनीयेति ।
 इतरस्मिन्नर्थान्तरत्वेत्याह—अग्रहणेति । ज्ञाननिवर्त्यस्येति । आत्मविशेषगुणानामपर्यायमुत्पत्तिर्मनिच्छ-
 षस्येश्वरज्ञानेन निमित्तभूतेन नियुक्तिस्वीकाराद्भवति तत्तारमर्थान्तरत्वमित्याह—सर्वस्येति । परिणामेवाद्यभि-
 प्रायेण वा । नाष्टम इति । प्रतिपन्नोपाधावित्यन प्रतिपत्तिशब्दस्य बोधार्थं किं प्रमाणज्ञानमुत भ्रान्तिज्ञान-
 माहो साधारणम् । आर्यं प्रत्याह—प्रमाणेनेति । द्वितीयं प्रत्याह—भ्रान्तीति । न केवलं संभवः, स्वीकृतं
 चान्यथाख्यातिवादिभिरित्याह—अन्यथाख्यातीति । एतेन साधारणपक्षोऽपि निरस्तः । किमिदं बाध्यत्वम-

१ सत्यत्वादिति पाठो माति । २ सत्यत्वेऽपीत्यर्थः । आदावन्यत्रेतिशेषो वा । ३ मायपदस्य प्रतियोगित्वपदानन्तरं
 पाठः सुमुचितः । ४ अतिव्याप्त्यभाव इत्यर्थः । अर्थाभावेऽन्यथीभावेन सह तत्पुरुषस्य विकल्पात् ।
 ५ योगिनो हि प्रकृतेः परिणाम परमार्थभूत जगद्वदन्त ईश्वरज्ञानेन तस्य तिरोभावरूप प्रलयमभ्युपगच्छन्ति ।

स्वीकारात् । न नवमः । बाधकज्ञानविषयत्वं तन्नियत्यत्वं वा चाप्यन्तर्गतमित्युक्तं ।
 र्थान्तरतायास्तादवस्थ्यात्, शुक्त्यादेरपि बाधकज्ञानविषयत्वाङ्गीकारात्, बाधकज्ञानेन
 ज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमाच्च । न दशमः । संयोगविभागश्चात्मविशेषगुणानां
 स्वात्मन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानानामपि परेः सत्यत्वाङ्गीकारात् ।
 दुरतिक्रमत्वात् ।

तदेवं न प्रपञ्चमिथ्यात्वनिरुक्तिर्नापि तत्र प्रमाणम् । तथाहि न तावत्प्रत्यक्षं
 क्रमते । उक्तप्रकाराणामन्यतमस्यापि मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वे तत्र व्यादिनां
 प्रसङ्गात् । नच विवादपदं, मिथ्या, दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यंबदित्यनुमानम् ।
 सदसद्वैलक्षण्यस्याविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वस्य वा साधनं विद्यते ।
 गम्यत्वस्य शुरुमतेऽप्रसिद्धत्वात् इतरेषु च सिद्धसाधनत्वात् । किंच दृश्यत्वं नाम फ
 व्याप्यत्वं वा वृत्तिव्याप्यत्वं वा साधारणं वा । नाद्यः । अतीन्द्रियेषु तदभावेन भा

मितं, किं बाधकज्ञानविषयत्वमुक्तं तन्नियत्यत्वमुभयथाप्यर्थान्तरतेत्यभिप्रेत्याह—न नवम इति । प्रप
 दाहरणमाह—शुक्त्यादेरपीति । द्वितीयमाह—बाधकज्ञानेनेति । संयोगविभागेति । अयमर्थः-
 संयोगविभागयोरव्याप्यवृत्तितं स्वीकुर्वन्निस्सदस्वन्ताभावसमानाधिकरणत्वमङ्गीक्रियते । नच तत्रापि घटाव
 चानादाय संयोगविभागयोर्भिन्नाधिकरणता शक्योपपादना । तथा सति तदवयवसंयोगस्यापि तदवयववृत्तित
 परम्परया परमाणवेव परिनिष्ठेति नाध्यक्षपधमेवतरेदयं संयोगयोगीति तदनिच्छताप्यच्छमतिना यत्र
 संयोगस्तत्रैव तदस्वन्ताभावोऽप्यभ्युपेयः । नच प्रमाणविनिवेशितयोर्विरोधशङ्कावकाशोऽतिप्रसङ्गात्, शब्द
 चाकाशे वर्तमानस्य प्रदेशभेदमादायाप्येकस्मिन्नेव नमसि भावाभावौ समानाधिकृतौ स्वीकृतौ, एवं सर्वगत
 त्मवादिनामात्मविशेषगुणानां, तत्राप्येतिपीडने साक्षादेवैकाधिकरणं, प्रदेशवृत्तीनामिति तु तदनुमतिमनुसंध
 भेनोक्तम् । अत्र ब्रह्मण्यनतिव्याप्त्यै द्वितीयस्योत्थानम्, अर्थान्तरतानिदृश्यै तृतीयचतुर्थयोः, असत्यतिव्याप्ति
 निदृश्यै पञ्चमः, असम्भवनिदृश्यै षष्ठः, असंभवातिव्याप्तिनिदृश्यै सप्तमः, अष्टमोऽप्यर्थान्तरनिदृश्यर्थमेव
 असंभवार्यान्तरयोर्निदृश्यै नवमः, दशमोऽप्यर्थान्तरनिदृश्यर्थमेवेति ॥

नापि तत्र प्रमाणमिति । यद्यपि लक्षणमपि प्रमाणविशेष एव, तथापि न तत्स्वरूपसिद्धिपरम्, अर्था
 त्वितरव्यावृत्तिं व्यवहारं चोपहरति । प्रमाणं तु लक्षितमेव स्वरूपं साधयतीति सर्वत्रानयोः पृथगाक्षेपसमर्थं
 द्रष्टव्ये । प्रत्यक्षं न प्रमाणमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—उक्तप्रकाराणामिति । अयमर्थः—भयदुक्तप्रकाराणा
 मन्यतमं मिथ्यात्वं, तस्य तु न कस्यचिदप्यत्र प्रत्यक्षसिद्धिः । यदि हि प्रत्यक्षतः सिद्धेन्न कोऽपि विप्रतिपद्येत
 नहि प्रत्यक्षसिद्धे घटादौ विवदन्ते, विवदन्ते चाद्यापि वादिनो मिथ्यात्व इत्यर्थः । ननु माभूत्प्रत्यक्षम्, अनुमा
 भवत्वित्यत आह—नच विवादपदमिति । दशधा हि मिथ्यात्वसंभवः । तत्र प्रमाणागम्यत्वादिरूपसाधने
 ऽप्रसिद्धविशेषणता, अवियेल्पनिर्घञनीया विवक्षिता । इतरयोस्तस्या असंप्रतिपत्तत्वात् । नन्वयथासंज्ञानगम्य
 त्वात्मकं साध्यं, तथाच नाप्रसिद्धविशेषणताऽत आह—अयमर्थेति । यद्यप्यस्माकमिदं प्रसिद्धं तथाप्यख्या
 तिवादिनामप्रसिद्धविशेषणता, सोऽपि हि तावदेवंमिथ्यात्वे विप्रतिपत्त इत्यर्थः । भवतु तं प्रति, त्वां प्रति तु
 को दोष इत्यत आह—इतरेषु चेति । पक्षत्रयातिरिक्तेष्वित्यर्थः । तथाचै यथाचैतत्तथा तत्तत्प्रमाणद्वयप्रस
 मनेऽर्थान्तर दर्शयतोपपादितम् । उपलक्षणं चैतत् । तेन यथासंभवं सदैवलक्षण्यादिप्रयुक्तद्वयगम्यहनीयम् । तदेवं
 साध्यानिरूपणमुन्वा हेतोरप्यनिरुक्तिमाह—किंचेति । अतीन्द्रियेष्विति । कृतोपपादनमिदं स्वप्रकाशलक्ष-

१ अतिनिष्कर्ष इत्यर्थः । २ इतरयोस्तस्या इति । अग्रहणमिथ्याज्ञानद्वयात्मिकाया अविद्याया वैदान्तनामसं-
 क्षिप्तत्वाद् इत्यर्थः । ३ तथाचेति संपातायात् ।

त् । न द्वितीयः । ब्रह्मणोऽपि वेदान्तिभिर्वृत्तिव्याप्यत्वाभ्युपगमादनेकान्तिकत्वात् ।
 प्रः । ब्रह्मण्यनेकान्तिकत्वादेव । एतेन जडत्वाद्यन्तवत्त्वपरिच्छिन्नत्वाद्यो हेतवो
 । तत्रापि साध्यानिरुक्तेः ।
 । तत्रापि एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी दृश्यत्वाद्वद्वदिति चेन्न । तन्तुनिष्ठात्य-
 न्ताभावप्रतियोगि-
 त्वे दृश्यत्वहेतौ चानैकान्तिकत्वात्, तयोर्दृश्यत्वेऽपि तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगि-
 त्वे । प्रतियोगित्वे वा तन्निष्ठात्यन्ताभावाभावात्पदस्य तदप्रतियोगित्वलक्षणसाध्यासि-
 त्वानामदृश्यता च स्यात् । किंच प्रपञ्चस्य प्रामाणिकत्वे सिध्यात्वानुमानानां धर्मि-
 प्रमाणेन बाधः । अप्रामाणिकत्वे चाश्रयासिद्धिः । प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे च
 रूपणादेरपि प्रतीतिमात्रसिद्धस्य सर्वत्र संभवात्सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गः । एवं
 हेतुदृष्टान्तानामपि प्रामाणिकत्वे दृश्यत्वहेतोस्तत्रानैकान्तिकता, अप्रामाणिकत्वे वा
 साधनाद्यभावादानुमानासिद्धिः ।

ये अदृष्टादेरयेयतामावेदयद्भिरस्मान्निस्तेन भागासिद्धो हेतु । शुक्तिरूप्यादिव्यतिरिक्तमखिल जड पक्षः ।
 त्तीतादेरपि पक्षतया तत्रादृतेरित्यर्थं । नन्वविषयव्यतिरेकविशेषे तृतीये पक्षे का क्षतिरित्यत आह—
 तीय इति । ब्रह्मणीति । अविषयव्यतिरेकविशेषसाधारणस्य यं कचन विशेषमादायापि पर्यवसानादि-
 । ननु विद्यादपदं सिध्या जडत्वादाद्यन्तवत्त्वात्परिच्छिन्नत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदिति प्रयोगो सिध्यात्वे
 गमित्यत आह—एतेनेति । अतिदृश्यमानमेव विशदयति—तत्रापितीति ।
 अनुमानान्तरं शङ्कते—अयं पट इति । एतत्तन्तव, एतत्पटसमवायिकारणतन्तवस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्र-
 णीति योजना । अभावप्रतियोगीत्युक्ते कार्यकारणनेदवादिनां तार्किकाणामेतत्तन्तुष्वेतत्पटान्योन्याभाव-
 भावप्रथंसाभावस्वीकारेणार्थान्तरता, तदर्थमत्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्तं, तावत्युक्ते यत्किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभा-
 तियोगित्वेन सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थं तन्तुनिष्ठेत्युक्तम् । एतत्पटस्येतत्पटाजनकत्वेनामिततन्तुनि-
 यन्ताभावप्रतियोगित्वेन पुनरपि सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थमेतदिति तन्तुविशेषणम् । एतत्तन्तुशब्देन
 वादिनो जनकत्वेनामिततन्तव उच्यन्ते । पटान्तरापेक्षया सिद्धसाधनतापरिहारायामिति पटविशेष-
 १ । पटस्येतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रसिद्ध इति साध्यप्रसिद्धिस्तदेतदुपयति—नेति । एवं ह्यनुमिन्वता
 षडृश्य तत्तदेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति व्याप्तिरेष्टव्या । नचेयमस्ति । एतत्तन्तुपु योऽयमस्य पटस्या-
 न्ताभावः सौध्यते, न तस्येतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमस्ति । तत्स्वीकारे च तत्साध्यस्वीयताभावादानु-
 नं व्याहृतं स्यादयच्च तत्र दृश्यत्वमस्तीत्यनेकान्तं । इदं च वादिनं प्रलेख, तादृशविषयव्यतिरेकस्य सत्यत्वादिनो-
 सिद्धेस्तथा दृश्यत्वहेतावप्युक्तसाध्यं नास्त्येतत्तन्तुपु दृश्यत्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे तन्तुनामदृश्यतया
 साध्यासिद्धिप्रसाहादयच्च दृश्यत्वमस्तीत्यनेकान्तं । इदं नूयानुमत तदेतदाह—तन्निष्ठेत्यादिना अह-
 द्यता च स्यादित्यन्तेन । सिध्यात्वसाधकाणुमानजातस्य च साधारणदूषणमाह—किंचेत्यादिना । बाध
 इति । प्रमाणगम्यत्वस्यैव सत्त्वादिति भावः । ननु न वयं प्रमितमप्रमितं बाधयमाश्रयामहे, नापि शब्द-
 विषयायमानम्, अपि तु प्रतीतिमात्रसिद्ध, प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ तदतिरिक्तप्रमितत्वस्याप्याश्रयको-
 टिनियेक्षने न किंचन मान पदयाम इत्यत आह—प्रतीतिमात्रेति । अयमर्थं—न प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधन-
 दूषणानि वा न सन्ति यानि प्रतीतिपथमपि नावतरेषु, शब्देनापि तत्प्रतीतिनां शक्यजननत्वादिति । आश-
 र्यकोर् विकल्पं साध्यादिव्यतिरेकसिद्धिः—पद्यमिति । तथाहि तेषां प्रामाणिकत्वे सत्यत्वेन विपक्षतया तत्र

१ अनैकान्त इति हेतुरित्यप्याहार्यम् । अनेकान्तदोषयान्तरमर्थं । २ तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावे दृश्यत्वहेतौ चैतत्त-
 न्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वमित्यर्थं ।

नाप्यागमः प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानम् । तथाहि न तावत् 'एकमेवाद्वितीयं' 'सखं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे' एतन्न ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वानन्तत्वप्रतिपादनात् द्वितीयवस्तुनोऽभावः प्रतीक्य इति युक्तं वक्तुम् । अद्वितीयशब्दस्य तत्संजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरत्वान्, अस्मिन्नामेऽप्ये एवाद्वितीयः पुरुष इतिवत् । अनन्तपदस्य च प्रागुत्तरकालीनान्ताभावपरत्वात्तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरन्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वेन तत्र व्युत्पत्त्ययोगात् । 'नेह नानास्ति किञ्चने' त्यादेश्चागमस्य, कारणे ब्रह्मणि नानात्वनिषेधपरत्वात् । 'इन्द्रो मायाभिः रित्यादेश्च तत्तदिन्द्रियद्वारकबुद्धिद्वन्द्वुपाधिभिर्मायाशब्दाभिधेयैः स्वशक्तिविशेषैर्वा भेदेन परमेश्वरप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात् ।

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोती'त्येवंविधायाश्च श्रुतेर्भेददर्शननिन्दयाऽभेदप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन

वर्तमानो हेतुरनैकान्तिकः स्यादप्रामाणिकत्वे च यथायथमप्रसिद्धविशेषणतास्वपासिद्ध्याश्रयहीनताः प्रसज्येरिति भावः ।

ननु माभूदनुमानान्मिथ्यात्वम्, आगमादागमिष्यतीत्यत आह—नाप्यागम इति । तत्र वक्तव्यं किं 'एकमेवाद्वितीयं' मित्यद्वितीयशब्दाद्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वविदिरिति, मृत्युसे किंवा 'सखं ज्ञानमनन्तं' मिलनन्तश्रुत्या किंवा 'नेह नानास्तीति' ब्रह्मणि नानात्वनिषेधात् आहोस्वित्, 'इन्द्रो मायाभिः पुरुष इत्यत' इति मायाभिर्वहुभवनामिधानात् उत 'मृत्योः स मृत्यु'मिति द्वैतदर्शननिन्दया । तत्र नाद्यद्वितीयावित्याह—न तावदित्यादिना । न युक्तं वक्तुमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—अद्वितीयशब्दस्येति । यथा 'खल्वस्मिन्नामे अयमेक एवाद्वितीयः पुरुष इत्यत्र शौर्यौदार्यातिशयादिना सजातीयः पुरुषः प्रतिपिष्यते, ननु तव्यतिरिक्तं समस्तं वस्तु, तत्कस्य हेतोस्तस्यतस्य वस्तुनस्तत्तत्प्रमाणोपनीततयाऽशक्यनिषेधत्वात्, तद्वदिहापि समस्तं मानोपनीतं यस्तु निषेद्धमशक्यवानाऽद्वैतश्रुतिस्वतःसजातीयं ब्रह्मान्तरं निषेधतीत्यर्थः । भवत्वद्वितीयश्रुतेरियं, गतिः, अन्तशब्दस्य को निवारक इत्यत आह—अनन्तपदस्य चेत्यादि । वस्तुपरिच्छेदाभावस्य परस्परभावाधिकरणत्वरहित्वरूपस्य लोकेऽप्रसिद्धतया तत्रागृहीतसगतिकत्वात्कालपरिच्छेदाभावमाकाशादौ प्रसिद्धमभिधत् इति भावः । प्रागुत्तरकालीनान्तो, प्रागभावप्रध्वंसो, अनेकान्योन्याभावपक्ष एकानधिकरणस्यापि तत्सिद्धेर्नादिसिद्धिरिति तदधिकरणत्वानधिकरणेत्युक्तं, तृतीयं पक्षं निषेधति—नेह नानास्तीति । इदं हि वाक्यमिह पदावशृष्टे प्रस्तुते कारणे ब्रह्मणि नानात्वनिषेधात् । तथाच न नाना ब्रह्म किं त्वेकमिति स्यात् । ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तु किमायातमित्यर्थः । चतुर्थं निषेधति—इन्द्रो मायाभिरिति । अत्र हि मायाशब्देन बुद्धिर्वा तयोऽभिधेयवन्ते । 'चेतश्चित्तं क्रतुर्मायैति चित्तानिधायकतावगमान्मायाशब्दस्य । तत्रच चित्तस्यैकत्वात्कमायाभिरिति बहुवचनोपपत्तिरित्यत उक्तं—तत्तदिन्द्रियेति । खत एकस्यैव सतश्चित्तस्यानेकेन्द्रियोपाधिवृत्तिमेदादिर्दं बहुवचनम् । अतस्त्वरुपाभिः परमेश्वरो बहुधोपास्यत इत्यर्थः । अथवा याः परमेश्वरस्येच्छा ज्ञानक्रियाद्यक्तयो मायाशब्दाभिधेयास्तासामपि श्रुत्यादिषु मायाशब्दाभिधानदर्शनात्तानिध परमेश्वरः, प्रत्यपासकं बहुरूपमाभिर्भवति । अतस्तारभेदेर्वा बहुधा व्यवहियते इत्यर्थः ।

ननु 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोती' संसारत्संसारं प्रतिपद्यत इति भेददर्शनात्संसारविमोक्षकथनादतत्त्वज्ञानलभयगम्यते, अतएव तद्विषयस्य भेदस्यातद्व्यतिरिक्तं भेदस्य मिथ्यात्वमित्यनेक श्रुतिर्गम्यतीति पक्षं निःस्यति—मृत्योरिति । नास्माः श्रुतेरत्र तात्पर्यमपुरुषार्थत्वात्, अपित्वभेदध्यानविधौ, तत्सुखार्थं च भेददर्शननिन्दा । यथोदिते ज्ञोहीतीति विहितोदितद्वोमस्तुतयेऽनुदितद्वोमनिन्दा 'प्रतःप्रतरुतं ते वदन्तीति' अनुदितद्वोमस्य विहितस्य सुखार्थमुदितद्वोमस्य निन्दा 'मयाऽतिथये ब्रह्मताये' ति । ततोऽन्यपरदसात्प्रत्यक्ष विद्वोऽन्यमथो न लभ्यत इत्यर्थः । ननु प्रत्यक्षमयोद्यमयोः प्रमाणताविशेषे येन वैपन्येधेदमवधार्यः

परिच्छेदः]

प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात् । आगमस्य च स्वरूपावगतौ पदपदार्थविभागप्रतिपत्तौ च प्रत्यक्षादिसाकाङ्क्षत्वात्प्रत्यक्षस्य चागमानपेक्षत्वात् । 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' 'अग्नीपो-
तीयं पशुमालभेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' 'अतिरात्रे षोडशिनं
गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोती' ति च परस्परं व्या-
कुलत्वात्, प्रत्यक्षादेश्च तदभावात्, आगमस्य चोपचरितार्थत्वेनापि तत्र सावकाशत्वादनव-
काशत्वाच्च भेदग्राहिणः प्रत्यक्षादेः, पूर्वसिद्धतया चागमेभ्यस्तस्य प्रतिष्ठितत्वात्तद्विरोधे तेषा-
मेव वाधात्, 'मृत्तिकेत्येव सत्यं, त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यं, प्राणा वै सत्यं, सच्च तद्यथाभवदि'
ति च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिपादनात् ।

* विवादास्पदीभूतः प्रपञ्चः, सत्यः, प्रमाणसिद्धत्वादात्मवदिति, अयं घट एतन्निष्ठवाध्य-
भेदातिरिक्तभेदाश्रयः द्रव्यत्वात्पटवदित्यनुमानतोऽपि विवदादेरात्मनां च सत्यभेदसिद्धिः ।

यत्प्रत्यक्षादिविरोधे श्रुतिरेव तदनुरोधेन व्याख्येया न विपरीतमित्यत आह—आगमस्य चेति । अथवा
आगमस्यरूपपर्यालोचनया नात्र तात्पर्यमित्युक्तं, इदानीं भवतु वागमस्तत्परस्वथापि प्रत्यक्षादिभिर्विरोधे वाप्यत
एवैवमभिप्रेत्यागमस्य दौर्बल्ये कारणान्याह—आगमस्य चेति । एषा हेतूना तद्विरोधे तेषामेव वाधादित्यु-
क्तप्रतिज्ञाया सन्बन्ध । यथाहि शब्द स्वरूपग्रहणे संगतिग्रहणे वाऽव्याधितं प्रत्यक्षादिकमपेक्षते न तथा
प्रत्यक्षादि स्वरूपादिप्रतिपत्तौ शब्दप्रमाणमपेक्षते, तेन सापेक्षनिरपेक्षयोर्विरोधे सापेक्षागमवाच्य इत्यर्थः । किञ्च
परस्परनिगीततयाऽतिरिक्तहेतौ तावदुपहता आगमा विमु यत्कव्यमविगीतानुपहृतप्रत्यक्षादिविरोध इत्याह
—न हिंस्यादित्यादिना । ब्रह्मणे, ब्राह्मणत्वात् । आत्मवदिति विश्वसनपरा । यस्मिन्गृह्यमाणे षोडश शस्त्राणि
शस्यन्ते स ग्रहविशेष षोडशी । यथा होवस्यैव हिंसाहिंसे, ग्रहस्यैकस्मिन्नेव ग्रहणाग्रहणे, होमस्य चैकस्यैकसि-
द्धेय प्रयोगेऽनुदितोदितकालसम्बन्ध इति परस्परविरुद्धाधिगमयत्यागमो, न तथा प्रत्यक्षादीत्याह—प्रत्यक्षा-
देश्चेति । सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाश बलवदिति न्यायः, सावकाशाध्यागमा इत्याह—आगमस्य
चोपचरितार्थत्वेनेति । यथा ह्यागमस्य मुख्यलक्षणागुणात्मकानेककृत्स्नित्तया अन्यतमानुपपत्तावन्यतमामा-
दायापि प्रामाण्यनिर्वाहो, न तथा प्रत्यक्षादेर्वृत्त्यन्तरमस्ति शब्दधर्मत्वात्तासामित्यर्थः । सजातासजातविरो-
धिनाः सजातविरोधि दुर्बल, सजातविरोधिनश्चागमा प्रथमोपजातपदभेदावबोधकाध्यक्षाधीननुवर्तमाना इत्याह
—पूर्वसिद्धतयेति । किञ्चाभ्युपगम्य विरोधमिदं प्राबल्यमभिहितम् । बलुतस्तु विरोध एव नास्ति आगमेभ्य
एव प्रपञ्चसत्यतावगमादित्याह—मृत्तिकेत्यादिना । त्रीणि रूपाणीति—लोहितशुक्लकृष्णानीत्यर्थः । सदिति
भूतत्रय । त्यदिति वाय्वाकाशौ द्वौ । अत्रच सदिति चुरवैश्रवणेनोपपन्नस्यम् । भेदग्राहिप्रत्यक्षादीति येयमागमनि-
र्णीपिकोक्ता, तत्र प्रत्यक्ष सावर्जनीनमिति न तत्र किञ्चिद्व्यव्यमस्ति ।

अनुमान दर्शयति—विवादेति । प्रपञ्चमात्रस्य सत्यत्वसाधने शुक्तिरूपससर्गादौ याध स्वात्, तेषामप-
रोक्षतया बाध्यतया च सदसद्विलक्षणतया मिथ्यात्वात्, तथा घटाद्यनुगतसत्तायो सिद्धतावनता, तन्निष्ठरूप्यं विवा-
दास्पदग्रहणम् । नचासिद्धो हेतु, प्रत्यक्षे प्रदर्शितागमे चाविवादादिति । मित्रवस्तुसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं, भेदस्यापि
सत्यत्वेऽनुमानमाह—अयं घट इति । अथवा व्यावहारिकतारिक्त्वात्साविकल्पितविकल्पमादाय
यद्ययं विवदिपुरद्वैतवाची, तर्हीयमेव नीरन्ध्रा रीतिर्भवतित्याह—अयं घट इति । भेदाश्रय इत्युक्ते कल्पि-
तभेदमादाय सिद्धसाधनम्, तदर्थं बाध्यभेदातिरिक्तग्रहणं, तावति वाऽप्रविद्धविरोधपणता अद्वैतवादिन सर्वभेदाना
बाध्यत्वादत् उक्त—एतन्निष्ठेति । पदार्थान्तरनिष्ठभेदस्यैतन्निष्ठप्राप्यभेदातिरिक्तभेदत्वेन नाऽप्रविद्धविरोधपणता,
पक्षे तैतन्निष्ठप्राप्यभेदातिरिक्तत्व भेदस्यैतन्निष्ठप्रातिरिक्तत्वाच्च सम्भवति एतन्निष्ठत्वादेव । अतो बाध्यभेदातिरिक्त-
सत्यभेदसिद्धिः । अतिरिक्तत्वं चात्राभेदानधिकरणत्वं तेन नार्थान्तरता । इत्यनुमानतोऽपीति । एवप्रकारा-
र एतद्व्यायेनेत्यर्थः । अयं भावः । यथा रासभादे दुब्धादिभ्यवधाने तत्तुरुरव शुक्लोच्च्यतायमथ इति एवमेव
सदिति शब्दमात्रं श्रुत्वा पूर्वपक्षिणोक्त पृथिव्यादीनां सत्यत्वमिति न तु वस्तुगत्या तेषां सत्यं,

नच भेदस्य सत्यत्वे दृग्द्वययोः संबन्धानुपपत्तिर्वाधिका, तत्तत्प्रतिपत्तिहेतुभूतेन्द्रियलिङ्गादेस्तत्तद्विषयसंबन्धादेव तदुत्पन्नज्ञानानां तत्तद्विषयं प्रति नियमसिद्धावन्तरेणापि संबन्धान्तरमतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात् । शब्दान्तराभ्याससख्यादेश्च कर्मभेदप्रतिपादकप्रमाणस्य भेदमिध्यात्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्गः ।

सुमानत इत्यर्थं । ननु प्रतिकूलतर्कपराहत्वात् शङ्कितोपाधिदुष्टमिदमनुमानद्वयम् । तथाहि भेदस्य भेदिनो वा दृग्दर्शयस्य सत्यत्वे तस्य तज्ज्ञानस्य च क संबन्ध इति विवेचनीयम् । न तावत्तयोः, तस्य गुणत्वेन त्र्यम्मानश्रुतत्वात्, ज्ञानस्य गुणत्वात् द्रव्यत्वाभावात् । नापि समवाय, आत्मसमवेतलाज्ज्ञानस्य । नाप्यन्य कश्चित्प्रदर्शार्थनियमानुगुण सम्भवति । नाप्यभाव, अभावतज्ज्ञानयो संबन्धाभावप्रसङ्गात् । किंच यत्र यत्रास्यान्तर्भावन्तस्य तस्य तज्ज्ञानेन संबन्धो न स्यात्स्यश्रुतिविरोधादिति । तदेतदूपयति—**नचेति** । हेतुमाह—**तत्तदिति** । नियामको हि संबन्ध । संभवति च तत्र नियम, तत्तज्ज्ञानाना तत्तदर्थं स्वतन्त्रसंबन्धाभावेऽपि तत्तज्ज्ञानजनकेन्द्रियलिङ्गशब्दादीना तत्तदर्थं सह संबन्धेनेत्यर्थं । एव प्रतिपूक्तकं परिहृत्य स्वानुमानस्य विषये बाधकतर्कमाह—**शब्दान्तरेति** । अयमर्थ—शब्दान्तराभ्याससख्यासङ्गागुणप्रकरणान्तरं कर्मभेदो निरूपितो द्वादशरूप्या द्वितीयाप्याये । तत्र यजति ददाति जुहोतीत्यादौ धातुभेदेन धातुभेदेऽपि भावना मिथते न वेति सदेहे धातूना भेदेऽपि भावनावाचकलिङ्गादे सवेत्र प्रत्यभिज्ञयाऽभेदावगमनात् धातुर्थस्य च भावना प्रति गुणभूतत्वाद्गुणभेदेन प्रधानभेदस्यान्याप्यत्वात् अमेद एवेति पूर्वपक्षेऽपि धातोःरिति विवक्षितैकवचनेन सूत्रेणैकधातोःपरि प्रत्ययविधानात्सर्वत्र धातुर्थानुरजिताया भावनाया प्रतीतेरेकावुरजितायाधान्यानुवर्जनायोगात्प्रतिधातुर्थं मिथत एव भावनेति रादान्ति त 'शब्दान्तरे कर्मभेद कृतत्वं' वन्धत्वादि' त्यत्र, अयमर्थ—शब्दान्तरे धातुन्तरे सति कर्मभेद, भावनाभेदो भवितुमर्हति । कुत कृतानुबन्धत्वात् तेनैव कृतत्वच्छेदत्वात् भाषनाया इति । सोय शब्दान्तरात्कर्मभेद । तथा 'समिधो यजति' 'तनूनपात यजती'त्यादिषु पक्षकृतो यजतिश्रुती किं प्रथमविहितस्यैव यागस्य पुन पुनरभ्यास उत पत्रापि विधय इति सदेहे शब्दान्तरे सति कर्मभेदस्य पूर्वाधिकरणे वर्णनात् इहैकस्यैव यजते पुन पुन भ्रवणात् तस्यैवायमभ्यास आदराथं इति पूर्वपक्ष्याप्रवृत्तप्रवर्तकत्वाद्विधे सर्वेषां च प्राथम्याद्देवता विध्यनुवादविनिगमाभावादानर्थक्यपरिहाराय मित्रविधितया कर्मभेद इति सिद्धान्तितम्, 'एकस्यैव पुन श्रुतिरविशेषादानर्थक हि सा' दिलान् अयमर्थ—एकस्य विधे पुन श्रवणमपि एव कर्मभेदक, कृत अधिरोपाद् विष्णुपाद्विशेषाभावात् । इतरथा पुन भ्रवण हि यस्मादनर्थक स्यादिति । आनर्थक्ये वा हेतुरविशेषादिति । सोयमभ्यासात्कर्मभेद । तथा 'सप्तदश प्राजापत्यान्वशूलाभमेते' त्यत्र किं सप्तदशपशुकमेक कर्मोत सप्तदश वर्माणि विधीयन्ते इति सप्तये प्राजापत्यानित्यत्र वृत्तैकशेषापा पशूना तद्वित्तैकप्राजापतिदेवताकत्वबोधनादेककर्मत्वमिति प्राप्य रादान्तितम्, एककर्मत्वे हि एक एवातिदेश स्यात् । ततश्चैकपशुनिष्ठमेकादशावदानमतिदेशात्सप्तैकपशौ निष्पन्नमितीतरेषामदद्यार्थता स्यात् । सप्तदशकर्मत्वे तु प्रतिपशु एवादशावदानसिद्धिरिति दृष्टार्थताऽत कृततद्वित्तदेवतासंबन्धतया देवतास्यदानामेकशेषमिति सप्तदशकर्माणीति । इद भाष्यकारीय मतम् । नार्तिककारीय तु 'तिष्ठ आहुतीये होती'त्यत्रैकस्य जुहोते धवणादेकहोमत्वम् । नित्य तु एकादशप्रयाजादिवदाहृत्येति प्राप्ते रादान्त —नित्यस्य तावज्जुहोतिद्यामानाधिकरण्यमुत्सर्गता होमभेदकमेकातिरिक्तसख्याया पृथक्वसामानाधिकरण्यस्यसत्त्वात् । अतिरिक्तस्यऽभ्यासः । एकादशप्रयाजादौ प्रकृतौ पयत्वावधारणात् । नचेह तथा बाधकमतीति होमभेद इति । तदुक्त 'पृथक्वचनेचात्सख्याया वर्गभेद स्या'दिति । सख्ययापि हेतुना कर्मभेद स्यात् । कुत वर्गपृथक्त्वनिषेधात्, अमश्रवणमेवैव तस्या निवेरात् । एकातिरिक्तसख्याया कर्मपृथक्त्वतामानाधिकरण्यादित्यर्थं । सोय संख्याया कर्मभेद । तथा 'अप्ये च्योतिरिधेप विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेते'त्यत्र च्योतिर्विश्वज्योति -

गलेपादुकान्यायेन मृपात्वमेव पर्यवस्येत । नच निराश्रयेषु नित्येषु भावेषु सा नास्तीति लक्षणस्याव्याप्तिः । ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यतया कारणाश्रितत्वस्य व्यवहारद-
शायां रजतादेरिव श्रुतयाद्याश्रिततायाः स्वीकारात् । नाप्यतिव्याप्तिः । सत्यस्य ब्रह्मणो
निराश्रयत्वात्तस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितायाः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् ।

नच परैः प्रदेशवृत्तितयाभ्युपगतेषु संयोगशब्दादिषु सत्येष्वपि लक्षणस्य सद्भावादार्था-
न्तरता । भावाभावयोरेकाधिकरणत्वाभ्युपगमे सर्वत्रैव तथाभावापत्तेर्विरोधस्य जगति दत्त-
जलजलिताप्रसङ्गात् । भावाभावयोर्हि साक्षाद्विरोधस्तन्मुखेनैवान्यत्रेति परीक्षकपरिपदां
समतत्वात्, प्रदेशोपाधिभेदेन वा तत्र विरोधसमाधाने भावात्यन्ताभावयोर्भिन्नाधिकरणत्वेन
लक्षणस्य तत्र सत्ये कुतः समवः कुतस्तरां चातिव्याप्तिः कुतस्तमां चार्थान्तरता । तदेवं न
मिथ्यात्वानिरुक्तिः, नापि भानासत्त्वम्, अनुमानसद्भावात् । तथाहि 'अंशिनः स्वांशगाल्यन्ता-
भावस्य प्रतियोगिनः । अशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥८॥' विमतः पदः एतत्तन्तु-

परमाष्वाकाशादीनामाश्रयाभावेनोक्तलक्षणाभावात् मिथ्यात्वेऽप्यव्याप्तिरित्यत आह—नच निराश्रयेष्वि-
त्ति । लक्षणपदं तु मध्यस्थमपि वक्ष्येयम् । येन सत्ताभावालक्षणस्यैवपि पर्यवस्यति । वियदधिकरणाद्युक्तन्यायेन
तेषामप्यस्त्येव कार्यत्वमित्यर्थं । कार्यत्व चेद कल्पितत्वं, तेन नाविद्यायामव्याप्तिः । यथा चैतत्तथा द्वितीयपरि-
च्छेदे प्रसाधयिष्यते । अद्वितीयासङ्गस्य ब्रह्मण कथं मिथ्याभूतवियदाद्याश्रयत्वमिति मतिमपाकर्तुं व्यवहारद-
शायामित्युक्तम् । ननु सन्मात्रं ब्रह्म सत्ता च पदपटाद्याभित्ताऽतस्तन्नाप्युक्तलक्षणस्य शक्यसमर्थत्वालक्षणस्या-
तिव्याप्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—नाप्यतिव्याप्तिरिति । सत्यं सन्मात्रं ब्रह्म, तस्य तु षटादिसमवायोऽसिद्धं,
षटादीनामेव तत्र कल्पितत्वादिति भावः ।

यत्तु पूर्वपक्षिणोक्तं संयोगादिभिः स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणैर्यान्तरतेति तदनूय दूषयति—नच परै-
रिति । नच वस्तुसत्ता संयोगादीनामत्यन्ताभावसामानाधिकरण्ये प्रमाणभक्तिं व्यवहारस्तु विप्रममात्रशरीरै-
नियचनोचैरपि सेत्स्यतीति न सोऽस्य साधक इति भावः । ननु किमिति जलाजलिर्दायते, यावता भावा
भावावपष्टाय भावभेदेष्वेव गोत्वाश्रयत्वपदत्वप्रसूतिष्वयं प्राणान्धारयतीत्यत आह—भावाभावयोरिति ।
परीक्षकाणां परिपत्समा । नहि गोत्वाश्रयत्वयोस्तत्त्वं विरोधः, अपितु परस्परत्यन्ताभावाविनाभूतत्वम् । तद्यदि
भावाभावयोर्न विरोधः का तु नाम तदा तदाप्रातयोविरोधवार्तेति भावः । नन्वेकस्मिन्नपि प्रदेशेमेदमादाय
संयोगादेवतनम्, अतो न विरोधोच्छेद इति निरुद्धयते पूर्वपक्षिणो मतमाशङ्क्यातिव्याप्तिं परिहरति—
प्रदेशेति । पुनः समव इति तदज्ञीकाराभिप्रायम् । अज्ञीकारप्रयुक्तत्वादर्थान्तरतायाः । स्यादेतत्, यद्यपि
लक्षणमिदमधीणं तथापि तदङ्गलक्षितस्य मिथ्यात्वस्यात्र सद्भावे किं प्रमाणम् । नहि लक्षणमस्तीति सवत्र
तत्सत्ता सिध्यत्यतिप्रसङ्गादित्यत आह—नापीति । अशिनोऽवयविनः स्वावयवनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनः
इति प्रतिज्ञाया हेतुमाह—अंशित्यादिति । इतरवयवीवेति दृष्टान्तः । अनवयवविरूपगुणादिष्वतिदिशति
—दिगेष्वेति । दिव्यार्थः । श्लोकोफनयुमान विट्गोति—विमत इत्यादिना । पटमात्रं पशीकृत्यैत-
त्तुनिष्ठात्वं तामावप्रतियोगित्वे साधितेऽर्थान्तरता, पटान्तरत्वंतत्तुनिष्ठाभावात्तन्निवृत्त्यर्थं विमत इत्युक्तं ।
पटविरोध इत्यपि । रावत्र चर्चं विरोध एव पक्षीकर्तव्यः । अत्रैतत्पटारम्भकालं तव एतत्तत्तव । अन्योन्या-
भारानादिव्यच्छेदायमत्यन्ताभावमहणम् । तत्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्ते तन्त्वन्तरसादाथार्थान्तरता तद-

* लक्षणपदं सा नास्तीत्यन्वय इति व्याप्तिरित्यत्रापि तेन लक्षणस्य सत्ताभावाद्युक्तस्याव्याप्तिरिति कल्पितम्.

निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि^१ अवयवित्वात्पटान्तरवत् । एवमेतद्गुणकर्मजात्यादयोऽपि तत्तत्तन्तु-
निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनः तत्तद्रूपत्वादितरतद्रूपवदित्येवमादिप्रयोगः सर्वत्रैवोहनीयः ।

ननु किं प्रामाणिकैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यं किं वा प्रातिभासिकात्यन्ताभा-
वप्रतियोगित्वम् । नाद्यः । अभावानां प्रामाणिकत्वे तैरेव द्वैतापत्तेः प्रामाणिकाभावप्रति-
योगित्वे च^२ भावानामपि प्रामाणिकतया न मिथ्यात्वसिद्धिः । न द्वितीयः । रजते सीसविभ्रमे
सीसमेवैतन्न रजतमिति रजते रजतत्वप्रतिषेधे प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि रज-
तत्वस्यामिथ्यात्वेनार्थान्तरत्वापातादिति चेन्नैवम् । अभावानां प्रामाणिकत्वेऽपि सद्वैताव्या-
कोपात् । कथं च व्यावहारिकप्रमाणोपस्थापितस्वभावैर्भावैर्भावेर्वा तत्त्वावेदकप्रमाणोपनीत-
स्याद्वैतस्य व्याकोपाशङ्कावकाशः । नापि प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनोऽपि शुक्तीदमंशरजता-
कारद्वयालिङ्गितस्य संसर्गस्येदं रजतमित्येकज्ञानोपनीतस्य, फेवलतव्यवहारोपनीतस्य, वा
धीरूपरजताकारोपारोहिणो बहिष्प्लस्य वा, कुत्रचिद्देशे काले वा केनचिदपि वादिना सत्ता
स्वीक्रियते येन प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनः सत्तां भावाः प्रतिषेधेन् । द्वितीयस्तु विक-

थंमेतत्तन्तुनिष्ठेत्युक्तम् । पटान्तरे त्येतत्तन्तुभिरनारब्धे सुप्रसिद्ध साध्यम् । अवयवित्वात् अवयवित्वेन संम-
तत्वात् । तेन न प्रतिज्ञाद्देशोर्विरोध । द्विषेपैवेत्येतद्विष्टणोति—एवमिति । एतद्रूपमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभा-
वप्रतियोगि रूपत्वादितररूपवत् । एवं स्पर्शादिष्वपि । एतच्चलनमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि चलनत्वादन्य-
चलनवत् । तथा तन्तुत्व तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि जातिलाद्वटलवत् । एवं सत्तादयोऽप्यनुमेयाः । एवं
रामवायेऽपि द्रष्टव्यम् । अयमन्यविशेष एतदात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी विशेषत्वादात्मान्तरगतविशेषवदिति
विशेषेणु ।

स्यादेतत् पटादीना तन्त्वादिषु यदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यते सै किं प्रामाणिकोऽप्रामाणिको वा स्यादिति
विकल्प्य दूषयति पूर्ववाची—किं प्रामाणिकेत्यादिना । प्रामाणिको यस्तन्निष्ठात्यन्ताभाव इति विग्रहः ।
तैरेवेति । यानत्यन्ताभावान्प्रति प्रतियोगित्व तन्तुमन्नादौ पटप्रपञ्चादे साध्यते तैरेव प्रामाणिकैरित्यर्थः ।
किञ्च एष ह्यभावाना स्वभावो यत्प्रतियोगिनिरूपणीयत्वम् । तथा च यद्यभावा प्रामाणिका सुतरा तन्निरूपका
भावाः तथा चाद्वैताशैव नोदेतीत्याह—प्रामाणिकाभावेति । एतेन सद्वैतमेवादियत इति वेदान्तिनां
किञ्चिदन्यपोदिता । अप्रामाणिकपक्षं दूषयति—नेति । अप्रामाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व न मिथ्यात्वं,
सत्यस्यैव रजतत्वस्य सीसविभ्रमविषये रजते भ्रान्तिप्राप्तात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य परमिथ्यात्वास्वीकारादित्याह
—रजत इति । तमाक्षेपं परिहरति—मेवमिति । तत्र प्रमाणमैम्यत्वं सत्त्वमित्यभ्युपेय परिहरति—
अभावानामिति । इममभ्युपगम त्यजन् रादान्तरहस्यमादाय परिहरति—कथं च व्यावहारिकेति ।
न प्रमाणमात्रगम्यत्वात् सत्त्वमायाति । देहात्मत्वाद्दौ तथाभावाभावात्, अपि तु तात्त्विकप्रमाणगम्यत्वात् ।
न चैतत् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याभारस्य भावस्य वास्ति, येनाद्वैतघ्नोचावकाश स्यादिति भावः । यत्तु प्रामाणिका-
भावपक्षे प्रतियोगिभूतैर्भावैर्द्वैतविरोध इति तात्परिहरति—नापि प्रामाणिकेति । अयमर्थ—नैव व्याप्ति-
र्गस्य प्रामाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि क्वचिदपि देशे कदाचिदपि काले रचयमन्यथाख्यातिवादिभिर्न-
प्यते । तथाऽख्यातिवादिभिः संसर्गज्ञानाभावेऽपि सच्छब्दव्यवहारोपनीतस्य संसर्गस्य । तथा विज्ञानवादिभिरपि
धीरूपं यद्रजतं तन्नारोपितस्य बहिष्प्लस्येव यथादर्शनं व्यभिचारादिति । यत्त्वप्रामाणिकाभावप्रत्युक्तदूषण-
मुक्तं तदभावस्य प्रामाणिकतास्वीकारात् निरनुयोज्यानुयोगमित्याह—द्वितीयस्त्विति । यत्त्वाधयस्य

१ प्रतियोगि इति शाकल्यस्य. २ चकारो भिन्नकर्मः प्रामाणिकतयैवस्यानन्तरं द्रष्टव्यः. ३ शब्दाकोपमेवोपपा-
दयति. ४ स इति—अत्यन्ताभाव इत्यर्थः. ५ टीकाकृतमतानुसारेण अभावानामित्यादिपरिहारप्रत्ययस्यायमाशयः ।
यद्यपि प्रमाणगम्यत्वरूपं सत्त्वमभावेऽप्यस्ति तथापि सतो मन्त्रो भावरूपद्वितीयराहित्येनाद्वैताव्याकोप इति ।
वि. ६

स्पोऽनङ्गीकारपरास्तः । न च धर्मिप्राहकप्रमाणवाधः, धर्मिणस्तत्त्वावेदकप्रमाणसिद्धत्वानभ्यु-
पगमात् । तर्ह्यश्रयासिद्धिरिति चेन्न । साव्यावहारिकप्रमाणोपनीतस्याप्याश्रयत्रोपपत्तेः ।
प्रपञ्चस्तत्त्वावेदकप्रमाणविषयः धर्मिनादात्मप्रदिति चेन्न । आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् ।

न च व्यतिरेकासिद्धिः । अनात्मनः शुक्तिरजतसंसर्गादेस्तत्त्वावेदकप्रमाणाविषयस्योभ-
यवासिद्धस्य व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य सद्भावात्, धर्मित्वहेतोः शुक्तिरजतादिसंसर्गधर्मिणि
व्यभिचाराच्च । नासौ धर्मा मिथ्यात्वादिति चेन्न । एतमेव हेतुं प्रति धर्मित्वाधर्मित्व-
योस्तदयोगात् । एतेन प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे दूषणभूषणादेरपि तथाभूतस्य सुलभ-
त्वात् सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्ग इत्यपास्तम् । वादिप्रतिवादिमध्यस्थानां प्रमाणसिद्धमेत-
दिति संमत्यालम्बनतया त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्य तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितस्याश्रयस्य
दूषणभूषणादेश्च तत्रतत्र कथाङ्गताङ्गीकारात्, तादृशव्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्यैव च
व्यावहारिकसत्यत्वेन स्वीकारात्, सर्वथा वाधवैधुर्यस्यागमेतरप्रमाणैरसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्य-
त्वात् । एतेनेदमपास्तम्, यदाहुर्भट्टाचार्याः—‘सृष्टेर्न तु सत्यत्व सत्यभेदः कुतो न्वयम् ॥

प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वविकल्पेन दूषणमुक्त तत्परिहरति—न चेति । प्रमाणमात्रगम्यस्यात्यन्तिकसत्त्वाभा-
वादिति भावः । सत्य चेन्नास्ति तर्हि असदेव । तथा च शशविषाणवदेवानर्थक्रियाक्षममिति शङ्कते—तर्ह्येति ।
देहात्मभावादिव्यावहारिकसत्त्वमादाय परिहरति—न । सांव्यावहारिकेति । यथाच सदसद्विलक्षणाप्यपर-
कोटिस्तथाऽनिर्वचनीयवादे निवक्ष्यते । तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वाभावेन धर्मिप्राहकवाध परिहृतस्तत्र वाध
सिद्ध्यर्थं तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमप्यनुमिनोति पूर्ववादी—प्रपञ्च इति ।

ननु कथमात्मत्वमुगाधि साध्यव्यापकत्वानिर्णयात् । तथा हि यत्रात्मत्व नास्ति तत्र तत्त्वावेदकप्रमाण-
गम्यत्वमपि नास्तीति साध्याभावेनोपाध्यभावव्याप्तिरेष्टव्या । न चैषा शक्यनिर्णया । आत्मत्वरहिते प्रपञ्चे
साव्याभावानिर्णयात् । तस्मात्पवतेतरत्वादिवत्पक्षेतरौयमित्यत आह—न च व्यतिरेकेति । शुक्तिरूपस्य
संगोदौ सर्वथा प्रमाणायोग्ये शक्य उभयाभावो निर्णेतुमित्यर्थः । अनेकान्तिकता चाह—धर्मित्वेति ।
संसर्गधर्मिणीति । संसर्ग एव धर्मा । हेतोस्तत्राश्रयिताशङ्कते—नासाविति । परिहरति—नेति । अयमर्थ-
—मिथ्यात्वादितिमेव हेतुं प्रति संसर्गो धर्मा नवा । आद्ये धर्मित्वमशक्यनिषेधम् । द्वितीयेप्यशक्यनिषेधमेव
निषेधहेतोराश्रयासिद्धत्वादिति । यत्तु प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनादित्वेऽतिप्रसक्तिरित्युक्तं तदप्येव सति परि-
हृतमित्याह—एतेनेति । व्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्य साधनदूषणत्वाभ्युपगमेनेत्यर्थः । एतेनेत्येतदेव विदुष्व-
न्साव्यावहारिकप्रमाणशरीरमेव दर्शयति—वादिप्रतिवादीत्यादिना । त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्येति ।
त्रिचतुरपर्यवस्यबाधितस्येत्यर्थः । स्यादेतत् कतिपयपुरुषस्य कतिपयकाल बाधविपुत्रमित्यवधोविषयस्य साध-
गादिभावश्चेदभ्युपेयते तर्हि सिद्धान्तविरोधः, यतो व्यावहारिकसत्त्वमुक्तस्य वेदान्तिभिः साधनादिलभ्यमान-
क्रियत इत्यत आह—तादृशेति । ननु किमित्यस्य संकोचः, आत्यन्तिकमेव सत्त्वं किं न स्वीक्रियते इत्यत
आह—सत्येति । सर्वपुरुषसर्वदेशकालोपेक्षेत्यर्थः । तार्क्यं प्रमाणेऽपि तादृशं सत्त्वमशक्यज्ञानमित्यत
उक्तं—आगमेत्तरेति । नन्वागमेतरैरपि प्रमाणे सवर्णो वेनचित्तादृश सत्त्वं ज्ञायतामित्यत उक्तं—अस-
धेदेनेति । सपक्षस्य तु पक्षचित्तादृश प्रमाणमस्ति प्रपञ्चविषयमित्यत्र नार्वाग्दशां प्रमाणमस्ति, प्रयुतागमवि-
रोधादभावनिर्णय इति भावः । व्यावहारिकसत्त्वं नाम न सत्त्वविशेषः, अपिस्त्वेवविधनानविषयसत्त्वमित्यनेनैव
भट्टपदोपदूषणमप्यपान्तमित्याह—एतेनेदमिति । संश्रितसत्यमिति यद्वैदिकेभ्यस्ते तदूष्यते—संवृतेर्न तु
सत्यत्वमिति । अत्र च सृष्टौपि तत्त्वमिति पृथग्विद्या तस्या सत्यत्वमयुक्तं तत्र हेतुमाह—सत्यभेद

परिच्छेदः]

सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेत्सत्यता कथम् ॥ सत्यत्वं नच सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः ॥ विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयो'रिति । वस्तुतोऽसत्यस्यैव यात्राद्वाघं देहात्मभावव-
हौकिकवैदिकन्यवहाराङ्गतया सत्यत्वेन व्यवहारात् । नायमसिद्धो हेतुः । पटस्यांशित्वे
वादिनोरविवादात् । नापि विरुद्धः । एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनि विपक्षे आत्मनि
अंशित्वस्यावृत्तेः । नानैकान्तिकोऽपि । विपक्षाभ्यावृत्तेरेव । इह तन्तुपु पट इत्यादिनैव
प्रत्यक्षेण तन्तुनिष्ठतया पटस्यावगमाच्चद्वपहृतविषयतया कालात्ययापदिष्टतेति चेन्मैवम् ।
पटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वता तस्य प्रामाण्यानङ्गीकारादिह नभसि
नीलिमेति प्रत्यक्षाभिमतप्रत्ययनाधेनारूपित्वानुमानप्रवृत्तिवदत्राप्यनुमानप्रवृत्त्युपपत्तेः ।
नचैवं सति दहनशैत्यानुमानादेरप्यप्रतिवद्वप्रसरतया कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रास्तभिया-
दिति वाच्यम् । तत्रतत्रोभयवादिसंमतप्रयत्नप्रमाणे परिपन्थिनि जाप्रति तस्या निरङ्कुश-
प्रसरत्वात्, प्रकृते च तथाभावाभावात् । एतेन प्रमाणसिद्धत्वादिति प्रत्यनुमानविरोधोऽ-
पास्तः । प्रमाणसिद्धत्वस्यैवासिद्धेः ।

इति । इह सद्यसिद्धिद परमार्थसदिति वदता कि सत्यविशेष कश्चित्सद्येति सत्यं नाम स्त्रीक्रियते उतासदेव ।
द्वितीये सत्यशब्दो नार्थवान् । प्रथमे प्राह—सत्यभेद इति । उतोय सर्वभेद, न कुतोपि प्रमाणादित्यर्थं ।
किमिति प्रमाणाभाव इति, विरुद्धत्वादित्याह—सत्या चेदिति । विरुद्धत्वाज्जातिव्यक्तिभावो नास्तीत्युक्तम्,
इदानीं सदसतो परस्परविरुद्धयो सत्यत्वनातिसम्बन्धोपि न घटत इत्याह—सत्यत्वमिति । तत्र दृष्टान्त —
नहि वृक्षत्वमिति । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—वस्तुत इति । नचात्रानेतैत्रिष्ठत्वमुपाधि । आकाशादौ
साध्याभ्यापकत्वात् । नाप्येतदनिष्ठत्वम् । तस्यैव साध्यत्वात् । नाप्येतन्निष्ठत्वविशेषतया प्रतीयमानत्वम् । सयो-
गार्थां तव साध्याभ्यासे । एतेनैतदवयवानारब्धत्वमपि निरस्तम् । नच द्रव्यत्वविशेषितम् । गुणादौ साध्या-
भ्यासे । नच द्रव्यत्वविशेषिते साध्ये द्रव्यत्वविशेषितोयमुपाधिः । व्यतिरेकव्याप्तिसिद्ध्या पक्षेतरर्थादिति । स्वरू-
पासिद्धिं परिहृत्य विरुद्धत्व परिहरति—नापि विरुद्ध इति । अत्र ह्यात्मा विपक्षस्तस्य सर्वयत्तुस्वरूपतया
तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाभावात् । नच तस्मिन्निरययवैऽपि व वर्तते इत्यर्थं । एतेनैतन्निष्ठगुणादि व्याख्यातम् ।
एवमेतदत्यन्ताभावस्यैतत्तन्तुनिष्ठान्तीकारे तस्याप्येतदनिष्ठत्वाङ्गीकारे तु तदभावादेव बाधं शङ्कते—
इह तन्तुप्यिति । परिहरति—मैवमिति । यत्तदवोचामामिमतप्रहणेन बाधपरिहार इति तस्यैतदुत्थानम् ।
यथा ह्याकाशानीलिमप्राहिप्रत्यक्षविरोधेऽप्याकाशमरूपि विभुत्वादात्मवदित्याद्यनुमानमुदेति, तत्कस्य हेतो, दृढ-
तरन्यायादर्थोभावेऽवगते ह्यसत्कारणाभावेऽप्युत्पद्यमानत्वात्, तथेहाप्यद्वैतपरसकलश्रुतिसृष्टिवलदार्थभावेऽव-
गते जायमानं प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास इति नानुमानानुदय इत्यर्थं । नन्वनुमानवाद्यभिप्रायेण प्रत्यक्षाभासीकरण
सर्वत्र सुलभमिति दहनानुष्णतानुमानैपि न प्रत्यक्षबाध स्यादिति गर्तं कालात्ययापदिष्टकथयेत्यत आह—
नचैधं सतीति । हेतुमाह—तत्र तत्रेति । अयमभिसंधि —अभिरतुष्ण इत्यत्र निषेधमुष्णत्व कश्चित्प्रमितं
न वा । न यदि तदा प्रतियोग्यप्रमित्याऽभावप्रमित्यभावात् अप्रसिद्धविरोधेणता । नच भ्रान्तिसिद्धस्य निषेध,
अर्थक्रियायां बाधाभावात् । तस्मात्प्रमितमिति वक्तव्यम् । नच तदभिन्वितिरिक्तस्थलेऽस्तीत्युभयवादिसप्र-
तिपन्नमस्ति तत्र प्रमाणम् । अतस्तद्विरोधादनुमितिनान्दीत्यनिरुद्धैव बाधप्रवृत्तिरिति । प्रकृते तु न तथोपजी-
व्यमस्ति किंचित्प्रमाण येन बाध स्यादित्याह—प्रकृते चेति । प्रत्यक्षविरोध परिहृत्य यदुक्त पूर्ववादिना
प्रपञ्च सत्य प्रामाणिकत्वादिति तद्विरोधं परिहरति—एतेनेति । तस्यैव विवरणं—प्रमाणेति ।

१ समिति—संवृतिसत्यमिति समस्तपाठ सङ्गतो भाति, २ विशेषोऽन भेदपरार्थं, ३ षट्श्रित्त्वृत्तिस्यमित्यर्थः,
४ पक्षेतरत्वसमत्वादित्यर्थः । समनियतत्वेन तद्रूपत्वाद्वा, ५ पदान्तरात्प-तामावरेत्यर्थः, ६ पनःपटस्यापीत्यर्थः,
७ अतदनिष्ठत्वाभावादेव, ८ ह्यभावे इत्यर्थः, ९ बाधाभावरूपत्वादि ।

यत्र प्रत्यक्षमपि न तत्त्वावेदकं प्रमाणं तत्र का कथा तत्पादोपजीविनोः वराकस्यानुमानादेः प्रमाणतायाम् । यत्पुनरेतस्य घटस्य द्रव्यत्वादेतन्निष्ठवाध्यभेदातिरिक्तमेदवत्त्वानुमानं, तदप्यद्वैतागमविरोधात्कालात्ययापदिष्टमित्युपेक्षणीयम् । 'मृत्तिकेत्येव सत्य'मित्याद्यागमेन प्रपञ्चस्य सत्यतावगमादद्वैतागमः एवोपचरितार्थः किं न स्यादिति चेन्न । तस्यान्यपरत्वात् । तथाहि एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय ब्रह्मणः सर्वकारणतया सर्वकार्ये-रनन्यत्वप्रदर्शनेन तां प्रतिज्ञामुपपादयितुं लोकेऽपि घटरुचकादिकार्याणां मृद्धोहादिकारणादनन्यत्वं दर्शयति—'मृत्तिकेत्येव सत्यं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्य'मित्यादिना । न तु तेषां वास्तवत्वमभिप्रेति । 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे'त्यन्तेन ब्रह्मण एव सत्यत्व-प्रतिपादनविरोधात् । एतेन मिथ्यात्वानुमानस्यागमविरोधोऽप्यपास्तः ।

(दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तिश्च सत्यत्वानुमानस्य बाधिका । न च करणसंबन्धादेव संबन्धोपपत्तिः । ईश्वरज्ञानेऽकरणजन्येऽपि विषयाणां स्फुरणात्, करणजन्येऽपि योगिज्ञानेषु युक्तावस्थायामन्तःकरणासंबन्धानामतीतानागतानां बाह्यार्थानां च स्फुरणात् । न च मनसो वहिरर्थैः संबन्धः । परतन्त्रं वहिर्मन इति न्यायात्, अस्मदादीनां चैन्द्रियिकविभ्रमेऽपि चन्द्रियसंबन्धानामेव स्फुरणाङ्गीकारात्, अस्मदादिप्रमाणजन्येऽपि ज्ञाने सोऽयं देवदत्त इत्यादौ

न्येतदेव किं न स्यात्प्रमाणमिति तत्राह—यत्रेति । अथवा प्रत्यक्षविध्वंसनन्यायं कैमुतिकन्यायेन संभाव्यमानसर्वानुमानेष्वतिदिशति—यत्रेति । अस्मिन्नेव वा विवरणमिदम् । अनुभवविरोधपरिहाराय तत्त्वावेदकमित्युक्तम् । यत्तु भेदसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं तदन्य निराकरोति—यत्पुनरिति । अयं घट एतद्घटत्वे सति एतन्निष्ठवाध्यभेदत्वानधिकरणभेदाधिकरणं न भवति द्रव्यत्वात्पटवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षतापि द्रष्टव्या । न चैतन्मृदानारम्भत्वमुपाधिः । व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धेः । परसिद्ध्या च साध्यप्रसिद्धिः । ननु कथमद्वैतागमविरोधस्वस्यागमान्तरविरोधेनातत्परत्वादिति शङ्कते—मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिना । पौर्वापर्यपरीलोचनया अद्वैतश्रुतिशेषत्वमितरश्रुतेरयसीयते, तद्यदि मृदादिसत्यत्वमपीयं श्रुतिः प्रतिपादयेत् शेषविरोधः स्यात् । अतः कारणव्यतिरेकेण कार्यमनियंचनीयमित्येतावन्मानपरा सा श्रुतिः, अद्वैतश्रुतिस्तु स्वप्रधानत्वादनन्यपरत्वमभिप्रेत्याह—न । तस्यान्यपरत्वादिति । एकविज्ञानेनेति । 'यैनाश्रुतं श्रुतं भवती'त्यनेनेति शेषः । तयां—सर्वकारणतया सर्वकार्येऽनन्यत्वप्रदर्शनेनेति । 'सदेव सोम्येद'मित्यादिनेति शेषः । अथ कुतो वास्तव-पारमेय न प्रतिपाद्यत इति चेन्नोपसंहारविरोधादित्याह—एतदात्म्यमिति । एतेनेति । अन्यपरत्वादित्यर्थः ।

वापहनकर्मभावात् साद्विज्ञानेऽप्रयोजकत्वं रास्यत्वानुमानमित्याह—दृग्दृश्ययोरिति । पूर्ववाधुकात्मन्य-भोतपत्तिमनूप ह्ययमिति—नचेति । नायं सार्वत्रिकः, ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य तद्विषयाणां च नियमाभावप्रसङ्गा-दित्यर्थः । अथ जन्येऽप्यं नियम इति तर्हि तेष्वप्यव्याप्तिरित्याह—करणजन्येऽप्यपीति । युक्तावस्थायाम्-ह्यगमनोयोगमाप्रादेवासोपार्थज्ञानमिति तार्किकानां मतम् । अतीतानीनां चावियमानत्वादेव संबन्धानर्हत्वम् । अथ विषयास्तत्र परिस्फुरन्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । ननु युक्तावस्थायाम् कथमव्याप्तिर्यावता मनोलभ्येन्द्रियसंबन्धादेव एतन्निष्ठमोपपत्तिरिति तत्राह—न च मनस इति । अथ विशिष्टादृष्टानन्वयसचिपमनोबोगि-शोक्तिरन्वयविशेषात् नियम इति तर्हि तेष्वप्यव्याप्तिरित्याह—अस्मदादीनां चेति । अधिष्ठानस्येन्द्रियसंबन्ध-भावः, प्रत्यक्षत्वं नियम इति म्याभं प्रत्याह—अस्मदादिप्रमाणजन्येऽप्यपीति । तस्मादाशयेति ।

तत्तांशस्य करणासंबद्धस्यापि प्रत्यक्षताभ्युपगमात् । नच तत्तायामपीन्द्रियेण सह संयुक्त-
विशेषणतालक्षणः संनिकर्षः । समवायेतरभावस्येन्द्रियसंप्रयोगमन्तरेणापि प्रत्यक्षतायामयं-
पर्वतोऽग्निमानित्यत्राग्निमत्त्वस्यापि संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वापत्तेः प्रत्यक्षधर्मिकानुमान-
मात्रोच्छेदप्रसङ्गः । अस्तु तर्हि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावः संबन्ध इति चेत् । तदनि-
रूपणात् ।

तथाहि न तावज्ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वं, विषयनिष्ठफलजनकत्वं च विषयित्व-
मिति युक्तम्, विकल्पासहत्वात् । तत्फलं ज्ञातता व्यवहारो वा । नाद्यः । अतीतादौ तद-
भावेनाविषयत्वप्रसङ्गात्, तत्रैव फलजननेऽप्यनुगतनियमाभावात्, तद्योगे वा तस्यैव विषय-
त्वनियामकतोपपत्तेः । न द्वितीयः । कराकर्षणादेर्व्यवहारस्यात्मादावभावात्, फलधौत-
मलादेरपि नान्तरीयकतया तद्व्यवहारविषयस्य तज्ज्ञानविषयतापत्तेः । नापीच्छादिः, आत्मन
एव तदाधारतया तदन्यस्याविषयत्वप्रसङ्गात् । अथ ज्ञानप्रतिबद्धहानादिलक्षणज्ञानगोच-

तद्देशकालविशिष्टांशस्येत्यर्थः । एतच्च प्रलामिज्ञानस्यानुभवैकत्वादे । ननु चक्षुषा संप्रयुक्तत्वावदेवदत्तः तस्य च
विशेषणं तत्ताऽनः संप्रयुक्तविशेषणताप्रत्यासत्त्या भूतलविशेषणघटाभाव इत्येन्द्रियेण किमिति न गृह्यते इति त-
त्राह—नच तत्तायामिति । आत्मैद्वारा चायं संबन्धः शक्यनीयः । हेतुमाह—समवायेतरभावस्येति ।
भावस्यैवभावव्याप्तिः । समवायस्येन्द्रियासंप्रयुक्तस्यापि ग्रहणं परैरङ्गीक्रियत इत्यत उक्तं—समवायेतरैति ।
गुणादीनां तु संयुक्तसमवायादि नास्तत्संमतं तेषां द्रव्यतादात्म्येन समवायाधिदेः, संबन्धान्तरताभावाच्चैत्यपि
द्रष्टव्यम् । विद्यमानेतिविशेषणाच्च प्रत्यभिज्ञाया तत्ताव्यवच्छेदः । संयुक्तविशेषणतयेति । चक्षुषा संयुक्तः
पर्वतस्त्वं विशेषणमगिरित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—समवायाभावातिरिक्तस्यापि चेतस्युक्तविशेषणतया प्रत्य-
क्षत्वं तर्हि प्रत्यक्षे धर्मिणि न क्वाप्यनुमानं प्रवर्तेत सर्वत्र प्रत्यक्षत्वसंभवादिति । संबन्धान्तरमाशङ्कते—
अस्तु तर्हीति ।

ज्ञानजन्येति । ज्ञानेन जन्यं यत्फलं तत्रप्रत्याधारत्वं विषयत्वं तादृशफलजनकत्वं च विषयित्वमिति नच
युक्तमित्यर्थः । विकल्पासहत्वादिति । विमल्ये सति दूषणासहलादित्यर्थः । ज्ञातता प्राक्त्वम्, एतच्च
भाद्यभिप्रायेण । अतीतादाविति । फलजननसमयेऽतीतदेरविद्यमानत्वादेव फलाधारत्वानुपपत्तेः, अत एव
तज्जनकत्वं ज्ञानस्य न संभवति, अतस्तत्राव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः । दूषणान्तरमाह—तत्रैव फलजनन
इति । अयमेतत्—यत्फलं प्रत्याधारत्वं विषयस्योच्यते, तत्तत्रैव नान्यत्र जनयति विज्ञानमित्यत्रापि किञ्चि
ज्ञियामकमस्ति न वा । यदि नास्ति तर्हि नियतकार्यायोगः । यदाह—'भवेत्सर्वत्र सत्ता चानियमेऽन्यानपेक्षया
नियामान्द्रि भावानां क्वाचित्कत्वस्य संभव' इति । अस्ति ज्ञानज्ञेययोः संबन्धे नियमायोगाच्च । द्विती-
यं ज्ञानस्य तद्योगे वेति । यदि यत्किञ्चिज्ञियामकं स्वभावोऽन्यद्वा समाधीयते तर्हि तदेव विषयत्वनिया-
मकं भवेत् कृतं तदुपजीविना प्रौक्तनेत्यर्थः । तदुक्तं कुसुमाञ्जली—'स्वभावनियमाभावादुपकारोपि दुषटं ।
सुषट्वेपि सत्यर्थेऽस्ति वा गतिरन्यथे'ति । न द्वितीय इति । कोयं व्यवहारोऽस्मिन्तः किं कराकर्षणा
दिरुतेच्छादिः । भायं प्रत्याह—कराकर्षणादेरिति । आदिशब्देन भक्षणादि विवक्षितं, तस्य च विषय-
स्पर्शरहिते चात्मादावसमवादाव्याप्तिरित्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—फलधौतेति । फलधौतं रजतं, रजत-
मलस्यापि नान्तरीयकतया रजतज्ञानप्रयुक्तादानादिभान्त्वमस्तीति तदपि रजतज्ञानविषयः स्यादित्यर्थः ।
द्वितीयं दूषयति—नापीति । इच्छाधार आत्मैवेति अनात्मवर्गे लक्षणमव्यापकमित्यर्थः । नचेच्छादिविष-
यत्वं, तस्यैव निरूप्यमाणत्वात् । विषयत्वस्य लक्षणान्तरं शङ्कते—अथ ज्ञानेति । षट इति ज्ञानायज्ञाना-

रत्वं तद्योग्यत्वं चा विषयत्वम् । न । ज्ञानगोचरत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, हानादिज्ञानानां च हानादिज्ञानान्तरजनकतया निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । जनकत्वे वा हानादिज्ञानानुपरमाद्विषयान्तरसंचाराभावः सुपुष्ट्यभावश्च प्रसज्येयाताम् । व्यवहारयोग्यत्वं विषयत्वमित्यङ्गीकारे च योग्यतायां योग्यतान्तराभ्युपगमेऽनवस्था, तदनभ्युपगमे योग्यताया विषयत्वाभावः ।

अलमिह लक्षणान्तरगवेणपापरिश्रमेण यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तद्विषय इति लक्षणनिरुक्त्युपपत्तेरिति चेन्मैवं, विरुपासहत्वात् । संविदीति सप्तम्या किमधिकरणं विवक्ष्यते, अथ विषयः, किं वा संबन्धमात्रं, सतिसप्तमी वा । नाद्यः । घटादिद्रव्याणां बाह्यानामान्तरसंविदुणाधिकरणतानुपपत्तेः । न द्वितीयः । तस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, संविदो विषयत्वं घटादीनां च विषयत्वमिति वैपरीत्यापत्तेश्च । न तृतीयः । संविजनकतया तत्संबन्धिनो नयनादष्टादरेपि तद्विषयत्वप्रसङ्गात् । संविदि भासत इति भासमानताया विशेषणत्वान्न नयनादावतिप्रसङ्ग इति चेन्न । भासमानताया एवाद्याप्यनिरूपितत्वात् । न चतुर्थः । भासमानत्वानिरुक्तेरेव । ज्ञानाकारार्पको हेतुर्विषय इति चेन्न ।

दिज्ञानं जायते तत्प्रति विषयत्व हानादियोग्यत्वमेव वा यत्सत्त्वंज्ञान प्रति विषयत्वमित्यर्थः । एतेनातीतादि सञ्जीत, तदेतदात्माश्रयेण रूपयति—न । ज्ञानगोचरत्वस्यैवेति । किंच हानादिज्ञानानां हानादिज्ञानान्तरजनकत्वमस्ति न वा । यदि नास्ति तदा हानादिज्ञानानां निर्विषयत्वप्रसङ्गः । अस्ति च तदतोऽव्याप्तिरित्याह—
हानादिज्ञानानामिति । प्रथमं रूपयति—जनकत्वे वेति । ज्ञानान्तरजनकत्वेन तच्छानानामपि सविषयत्वसिद्ध्यर्थं ज्ञानान्तरजनकत्वे घटादिज्ञानानुत्पाद सुपुष्ट्यभावश्च प्रसज्येयातामित्यर्थः । द्वितीये रूपगमाह—
व्यवहारयोग्यत्वमिति । उपलक्षण चैतत्प्रथमपक्षस्यापि । तेन हानादिज्ञानगोचरत्वेपि गोचरत्वान्तरमास्ति न वा । यद्यस्ति तदानवस्था, अथ नास्ति तर्हि तस्यानिर्विषयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् ।

शालिन्धनाथोक्तलक्षणमवतारयति—अलमिह लक्षणान्तरेति । यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते सोऽर्थ रणव्यतिस्तस्या संविदो विषय इत्यर्थः । उक्तं च पक्षिकाप्रकरणे—‘अत्र ब्रूमो य एवाधो यस्या संविदि भासते । वेद्य एव नान्यद्वि वेद्यावेद्यस्य लक्षणमिति । तदेतद्रूपयति—मैवमिति । घटादिद्रव्याणां संवि (लक्षणगु) व्याहृणाधिकरणतानुपपत्तेरिति । उपलक्षण चैतद्गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । इदमनिष्टं च भवतीत्यदौ सर्वकारेण—बाह्यानामान्तरत्वानुपपत्तेरिति । ततश्च तेषु लक्षणस्याव्याप्तिरिति भावः । विषयसप्तमीपक्ष नि सत्त्वने—राचष्टे—न द्वितीय इति । विषयत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वादात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थः । किंच संविदो संविदो विषयस्याभिधाने वैपरीत्यमपि स्यादित्याह—संविद इति । संबन्धमानमिति च तृतीयाध्याय्ये विसृज्यते । संविदीति । संविदो विषयत्वमिति परिहरति—न । भासमानत्वमिति परिहरति—न । भासमानताया इति । सतिसप्तमीपक्षं निराचष्टे—अथ तथा संबन्ध विवक्षितम् । तथाचाप्रकाशमाननयनादिब्याप्तितिरिति शब्दे—संविदीति । भासमानताया इति । सतिसप्तमीपक्षं निराचष्टे—अथ भासमानत्व तथाचात्माश्रयत्वमिति परिहरति—न । भासमानताया इति । सतिसप्तमीपक्षं निराचष्टे—न चतुर्थं इति । अत्रापि संविदि सत्यां सद्भासते स विषय इति वक्तव्यम् । तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थः । नच ज्ञाने सति व्यवहारयोग्यत्वमेवार्थस्य भासमानत्वमिति वाच्यम् । योग्यताया पूर्वोक्तारूपगमात् । तौ-

ज्ञानतदाकारयोर्भेदाभावेन सर्वेषामपि ज्ञानहेतूनां तदाकारसमर्पकतया विषयत्वप्रसङ्गात् । दृश्यमानतया तदाकारसमर्पको विषय इति चेन्न । दृश्यमानताया एवाद्याभ्यनिरूपणात् । नच ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्, अतीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेनाविषयत्व-प्रसङ्गात् । संबन्धान्तरमन्तरेण ज्ञानस्य यद्विशेषणं स तद्विषयो, विशेष्यं च तेन विषयीति चेन्न । मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र व्यभिचारात् । संबन्धान्तरमन्तरेणैव मत्समवायस्य रूपज्ञानस्य च विशेषणविशेष्यभावेऽपि मत्समवायरूपज्ञानयोर्विषयविषयित्वाभावात्, तत्र समवायस्यानुव्यवसायज्ञानविषयत्वेऽपि रूपज्ञानाविषयत्वात् । तदेवं विषयविषयिभावानि-रूपणात् आत्मन्यध्यस्ततया चासिद्धौ प्रपञ्चस्य सत्यत्वे दृश्यत्वानुपपत्तिर्वाधिकेति स्थि-त्तम् । नच भेदस्य मिथ्यात्वे शब्दान्तरादेः कर्मभेदप्रतिपादकस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः । घटप-टादेरिव व्यावहारिकस्यैव भेदमात्रस्य कर्मगोचरस्य तत्रतत्र शब्दान्तरादिभिः प्रतिपाद्य-मानत्वात्तद्व्यवसायोपलक्षणस्य सत्यत्वस्य प्रतिपादने तेषामौदासीन्यात् । तदेवं निर-स्तसमस्तप्रत्यनीकमनुमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानमिति सिद्धम् ।

तामिमत्तं लक्षणं शङ्कते—ज्ञानेति । घटज्ञानं पटज्ञानमिति योय ज्ञानाकारस्तदर्पको यो हेतुः स विषय इत्यर्थः । तेन च नयनादिव्याप्तिः । उक्तं हि—“भिन्नकालं वयं प्राणमिति चेद् प्राणता विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिरा ज्ञानाकारार्पणक्षम”मिति । दूषयति—नेति । ननु यद्यपि नयनादीना ज्ञानस्वभावभूताकारहेतुत्वमस्ति तथापि दृश्यमानतयाऽऽकारहेतुत्वं नास्ति तादृशं च लक्षणं विवक्षितमिति शङ्कते—दृश्यमानतया इति । लक्षणान्तरं दूषयति—नचेति । तत्र हेतुः—अतीतादीति । कर्म नाम कारकविशेषः । कारकं च कारणविशेषः । कारणं च कार्यं संभवति, तेन नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तद्विषयस्य च विषयविषयिभावं न व्याप्नोतीदं लक्षणम् । अतीतादेस्त-नियमानत्वादेव नियतप्राक्क्षणसत्यलक्षणकारणत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । उपलक्षणं चैतदनुमानादेः, कर्मत्वं च तत्कलभान्तरं तच्च दूषितं पुरस्तात् । लक्षणान्तरं शङ्कते—संबन्धान्तरमिति । ज्ञानस्य विशेषणं विषय इत्युक्ते ज्ञानगतसत्तादिजातिधरामनि चक्षुरादिषु च समवायकार्यकारणभावसंबन्धाभ्या यथायथं ज्ञानं प्रति विशेषणेष्वतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं संबन्धान्तरमन्तरेणेत्युक्तम् । यद्यपि घटतज्ज्ञानयोः कार्यकारणभावोक्ति तथापि स नेश्वरज्ञानेऽतीतादी च संभवत्यनतिरिक्तध्वेषमिप्रायः । विशेष्यं चेति । तेन विशेषणेनेत्यर्थः । तदेतदति-व्याप्त्या दूषयति—न । मत्समवेतमिति । मत्समवेतमित्यत्र हि समवायो ज्ञानं प्रति विशेषणं, नचानयोः संयोगसमवायादिसंबन्धान्तरमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । अस्यैव प्रपञ्चः संबन्धान्तरमित्यादि । ननु मत्समवेतं ज्ञानमित्यस्यानुव्यवसायस्य समवायस्य च विषयविषयिभावाच्छ्रयमेव समवायः, तत्र च तद्व्यवसायमनुगुण-भवेत्यत आह—तत्र समवायस्येति । अनुव्यवसायं प्रति विषयत्वेपि यद्यत्र विशेषणं, न तत्र प्रति विषय-त्वमित्यर्थः । एवं नास्ति घटज्ञानमित्यादावभावस्यापि घटज्ञानादिविषयत्वप्रसङ्गः । प्रतिपादितं बाधकतर्कमु-पसहरति—तदेवमिति । यत्तु शब्दान्तराद्यप्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यादिना मिथ्यात्वे बाधकमुक्तं तदपि भेद-कर्मसमानस्वभावव्यावहारिकमेव सन्तं भेदं प्रतिपादयति ननु ब्रह्मन्त्वारमाथिकमित्यन्यथाप्युपपन्नमित्याह—नच भेदस्येति । निरूपितमनुमानमुपसहरति—तदेवमिति । तथा विमतः ससर्गः एतद्वद्वैतत्वसर्गा-न्यान्यौवाध्यान्यतरान्यः प्रमेयत्वादित्यादयोऽप्यत्र महाविद्या द्रष्टव्या ।

यद्यपीदमनुमानं घटादिमिथ्यात्वं साधयति तथापि न स्वस्य तत्सत्तावयितुमलम् । आत्माश्रयात् । नाप्यन्येन । अनयस्थापातात् । तथाच नाद्वैतसिद्धिः । धर्मिलौदीनां च क्रियता हेतुनामस्मिन्ननुमानेऽनैकान्तिकत्वमित्यभिप्रेक्ष

१ विशेषणीभूतस्य सत्ताभावस्येत्यर्थः, २ एतद्वद्वैतसंसर्गा-न्यान्यावाध्यान्या-न्यतरः इति पाठः साधुर्भाति । समन्व-यस्तु पटसंसर्गादौ अन्यानाध्यान्यत्वस्य अप्रतिष्ठावपि एतद्वद्वैतसंसर्गा-न्यत्वमस्तीति साध्यप्रसिद्धिः । पक्षे चैतद्वद्वैतसं-सर्गाण्यत्वस्य बाधितत्वेन हेतोः पक्षपरमंतामलादन्यावाध्यान्यत्वं पर्यवस्यतीति अन्यवाध्वत्वसिद्धिः । एतद्वद्वैतयोः संसर्ग इति समासः । अवयवश्चैतत्पर्यायः । ३ प्रपञ्चो मिथ्याधर्मित्वात् शुक्तिरजतवचरसंसर्गवदेतिवेदान्तिप्रयोगे आत्मनि अनेकान्तिकत्वमिति भावः । आत्मनो धर्मित्वान्तीकारेण च व्यभिचारपरिहार इति स्पष्टतया समाधानावसरे नोक्तः.

नन्वस्यानुमानस्य मिथ्यात्वं किमनुमानान्तरेण सिद्ध्यति किं वा स्वेनैव । आद्येऽनवस्था । तस्यतस्यानुमानस्य मिथ्यात्वसाधनेऽनुमानान्तरापेक्षणात् । जिज्ञासायां सत्यां तत्तदनुमानप्रवृत्तेर्नानवस्था मूलक्षयकरीति चेन्न । यद्यदुक्तसाधनं तत्तदुक्तसाध्यमिति व्याप्तिग्रहणसमये तस्यतस्यानुमानस्य मिथ्यात्वानधिगमे सर्वोपसंहारवती व्याप्तिर्न सिद्ध्येत् । अधिगमे च तदधिगमाय तत्तदनुमानान्तरं तदैवापेक्षणीयमिति कथय कथं न मूलक्षतिः । द्वितीये तु स्वात्मनि वृत्तिविरोधः, स्वगतमिथ्यात्वस्य स्वेनैव ग्रहणादिति चेन्मैवम् । शब्दशब्दवत्प्रपञ्चसत्यत्वानुमानवदध्ययनविधिवच्चाविरोधात् ।

ननु नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनम् । तस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वात् । तथाहि अध्ययनविधिर्न स्वविषयाध्ययनस्यानुष्ठापनक्षमः । निर्नियोज्यत्वात् । नह्यत्र कामी जीवनादिनिमित्तवान्यः कश्चिन्नियोज्यः प्रतीयते । नापि विश्वजिदादिवत्कल्पयितुं शक्यः । अध्यापनविधिप्रयुक्तित एव तद्विषयस्याध्ययनस्य सिद्धौ नियोगसिद्धेः कल्पकाभावात् । नचाध्यापनविधेरपि निर्नियोज्यतयानुष्ठापकत्वम् । आचार्यकरणकामस्य नियोज्यस्य प्रतीतेः । तथा हि 'अष्टवर्ष

प्रत्यवतिष्ठते—नन्वस्यानुमानस्येत्यादिना । शङ्कते—जिज्ञासायामिति । यदि हि प्रथमानुमानसमसमय एवानन्तानुमानस्फुरणापत्तिः स्यात्तदनुपलब्धिपराहततया मूलक्षयकरी, नात्र तदस्तीत्यर्थः । दूषयति—यद्यदुक्तसाधनमित्यादिना । तत्तदनुमानजातस्य मिथ्यात्वेन साध्यव्यक्तित्वात् व्याप्तिग्रहणकाले सर्वपापमेव स्फुरणापत्या मूलक्षतेरित्यर्थः । स्वेनैव स्वमिथ्यात्वसाधने दूषणमाह—द्वितीये त्विति । तमिमनाक्षेपं परिहरति—मैवम् । शब्दशब्दवदित्यादिना । यथाहि शब्दशब्दः शब्दत्वाकान्तं शब्दजातं विषयीकृत्यन्वमपि विषयीकरोति, यथा वा सर्वप्रपञ्चसत्यत्वानुमानं स्वात्मन्यपि सत्यतां साधयतीति भवद्भिरभिमान्यते, यथा वा 'साध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधिः साध्यायशब्दवाच्यसमस्तवेदराशेरध्ययनं विदधानस्यदन्तर्वर्तितः स्वात्मनोऽपि विधत्ते तेषु यः परिहारोद्धारभेदादिः सोऽत्रापि समान इत्यर्थः ।

अध्ययनविधेर्विधायकत्वमुक्तमदृष्टमाणः प्राभाकरः प्राह—ननु नाध्ययनेति । नन्वविहितस्य कथमनुष्ठापनमित्यत आह—तस्येति । ननु श्रूयमाणे विधौ कथमेतत्प्रयुक्तत्वं तत्राह—तथाहीति । स्वविषयरूपमध्ययनं स्वविषयाध्ययनम् । ननु यद्यप्यत्र स्वर्गादिवत्कान्यं, नित्यं वा जीवनादिवत्किञ्चिन्निमित्तं न श्रूयते, तथापि यथा 'विश्वजिता यजेत', 'अमावास्यायामपरारहे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्तीत्यत्र वाऽश्रूयमाणोऽपि स्वर्गकाम्यधिकारी कल्पितः । तथा हि 'विश्वजिता यजेते' त्यत्राश्रूयमाणोऽधिकारी कल्प्य उत नेति सदेहे द्वारमित्यत्र त्रिभान्यर्थं विना कारकाणामिव विषयेण पर्यवसिताम्बिताभिधानस्य कार्यस्वाधिकारिणा विनानुपपत्त्यमानात् अनध्याहार इति प्राप्य रादान्तितम् । कर्तृव्यापारकृतेः कर्त्रा विनानुपपत्तेस्तैरिहृष्यकार्यस्याप्यनुपपत्तिरिति सोऽप्याहर्तव्यं । स चासंबद्धकार्यसंबन्धो न संबद्धत इति स्वसर्वाभित्वेन कार्यबोद्धा नियोज्यो भवति । तत्रापि सर्वैकत्वनायां नैर्यत्रयत्त यस्य कस्यचित्कृत्यनाया विनिगमनमावात्सर्वाभिलपितस्वर्गकामोऽधिकारी कल्पितः 'चोदनायां फलाश्रुते'रित्युपक्रम्याधिकरणप्रयोगे, 'स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वा'दित्यन्तैर्न । एवं पिण्डपितृयज्ञेऽस्मावास्यायामिति कालपर उत वर्गपर इति सहाय्य कर्मपरत्वात्सहाय्यमिति पूर्वपक्षस्य कर्मपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गात् कालपरत्वमादाय स्वतन्त्राधिकारत्वेन स्वर्गकामाधिकार्येऽप्याहृतः—'पिण्डपितृयज्ञः स्वकालत्वादनग्रां स्वा'दित्यत्र, तद्वदत्र किं न स्यादित्यत आह—नापि विश्वजिदादिवदिति । ननु 'तमभ्यापयीते'त्यत्रापि न कश्चिन्नियोज्यः प्रतीयतेऽतो निर्नियोज्यत्वमुभयोः समानमिति कथमेतत्प्रयुक्तविषयत्वमितरस्य, तत्राह—न चाध्यापनेति । हेतुमाह—आचार्यकरणकामस्येति । आत्मनो यदाचार्यकरणमाचार्यत्वसंपादनं तत्कामस्येत्यर्थः । नन्वाचार्यकरणकाम इत्यपि न श्रूयते इति तत्राह—तथा ह्यष्टवर्षमिति । श्रूयते

प्राक्षणमुपनयीत तमध्यापयीते'ति श्रूयते, तत्र 'समाननोत्सञ्जनाचार्यकरणे'ति सूत्रेणा-
 चार्यकरणे नयतेरात्मनेपदविधानात् 'उपनयीत, तमध्यापयीते'ति चोपनयनाध्यापन-
 योरेकप्रयोगतावगमात्, उपनयनपूर्वकाध्यापनसाध्याचार्यत्वप्रतीतौ तत्कामिनो नियो-
 ज्यत्वावंगमात् न निर्णयोऽयताध्यापनविधेः, तथा च स्वविषयस्याध्यापनस्यानुष्ठानं प्रयु-
 खानोऽध्यापनविधिस्तन्निष्पादकमध्ययनमपि प्रयुङ्क्ते, तेन विध्याक्षेपलक्षणेपादानप्रमाणे-
 नान्यत एवाध्ययनसिद्धेर्नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति ।

अत्रोच्यते । भवतु नाम सनियोज्यताऽध्यापनविधेः, तथापि नाध्यापनविधिप्रयुक्तता-
 ऽध्ययनस्य सिद्धयेत् । कामाधिकारे करणांशे रागस्यैव प्रवर्तकत्वात् अध्यापनस्यापि

नाम, तावतापि किमायातमाचार्यकरण इति तत्राह—तत्र संमाननेति । 'समाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञान-
 भृतिविगणनव्ययेषु निय' । अयमर्थ—यद्यपि 'स्वरितजित कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इति कर्तृगामिफगामि-
 धायिनो नयतेरात्मनेपद सिद्ध तथाप्यकर्त्रभिप्रायाद्योयमारम्भ, समाननादिष्वर्थेणु गम्यमानेषु नयतेर्धातोरा-
 त्मनेपद स्यात् । तत्र समानन पूजन यथा नयते चार्वा लोकायते, चार्वा बुद्धिमानाचार्यो लोकायते मते शिष्या-
 न्नयते । ते हि सद्युक्तिमिराचार्येण प्रतिष्ठापितपुद्गय सन्त पूजिता भविष्यन्ति इत्यात्मनेपदार्थ । उत्सपन-
 सुत्क्षेपण यथा माणवकमुजयते उरक्षिपतीत्यर्थ । आचार्यकरणमाचार्यत्वसंपादन यथामाणवकमुपनयते
 आत्मानमाचार्यकर्तुं माणवकमात्मसमीप प्रापयतीत्यर्थ । ज्ञान प्रमेयनिश्चय । यथा नयते चार्वा लोकायते
 तन्मते प्रमेयैत्व निश्चिनोतीत्यर्थ । श्रुतिर्वैतर्ता यथा कमकरानुपनयते, स्मृतिदानेन समीपीकरोतीत्यर्थ ।
 विगणनवृणादेर्नियतान यथा मद्रा कर विनयन्ते, फरदानेन निवर्तयन्तीत्यर्थ । ज्यो धर्मादिषु विनियोग
 यथा शत विनयते सहस्र विनयते, धर्मार्थं विनियुङ्क्ते इत्यर्थ । अथ कथमेतेष्वित्युक्तम्, अजा प्राम नयती-
 लादिषु विनियुक्तये इति । तस्मादुपनयीतेति श्रौतमेवाचार्यकरणमित्यर्थ । ननु भवतूपनयनस्याचार्यकरण फल
 तत्र श्रूयत इति, किमायातमध्यापनस्य सनियोज्यत्व इति तत्राह—उपनयीत तमध्यापयीतेति चेति ।
 एकप्रयोगतेति । अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत उपनीय च तमध्यापयीतेति वैत्वाश्रुतेरेकप्रयोगतावगम्यते वाच्ये
 येनेष्टा वृहस्पतिसयेन यजेतेतिवदित्यर्थ । तथा चैकदेशस्यैवानुष्ठानात्कत्रासिद्धिरिति सोपनयनाध्यापनादाचा-
 र्यत्वसिद्धिरिति भाव । तथा च स्मृति—'उपनीय तु य शिष्य वेदमध्यापयेद्विज । सकल्प सरहस्य च
 तमाचार्यं प्रचक्षते' इति । ननु भवतूपनयनाध्यापनयोरेकप्रयोगतयाङ्गिभावावगमादङ्गे श्रुतस्याङ्गिनि
 उपसहारस्तस्य लनित्यस्याचार्यकरणस्य कथं नियोज्यविशेषणत्व, नद्यत्र स्वर्गादिवत्कामिषिरिस्कत्व प्रतीयते इत्यत
 आह—तत्कामिन इति । रानिसर्जन्यायेन फलत्व विपरिणम्यते इति भाव । नन्वध्यापनविधि स्वविषयम-
 ध्यापन विहाय कथमध्ययन प्रयुच्यतेत्याशङ्काह—तथा च स्वविषयस्येति । ननु विधिर्हि सर्वत्र स्वविषये
 तदङ्गे वा पुरुषमनुष्ठापयति, ज्ञाध्ययनस्याध्यापनाङ्गत्वे किंचन श्रुत्यादीनामन्यतम प्रमाणमस्ति, नचोपकारमा-
 त्रादङ्गत्व, गोदोहनधनाज्जनादेरप्यङ्गत्वप्रसङ्गात् । नचैतद्युक्तम्, उक्तं हि 'यस्मिन्प्रीति पुरुषस्य तस्य त्रिप्ताऽर्ध-
 लक्षणाऽविभक्तत्वादि'ति तत्राह—तेन विध्याक्षेपेति । तातार्थप्रमाणाभावेपि चातुर्थिकमस्ति प्रमाणमित्यर्थ ।

समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यत इति । अत्र तावदध्यापनविधेरपि समानमेव निर्णयोज्यत्वमुपनय-
 नस्याङ्गत्वेन तत्र श्रूयमाणस्यापापल्लोकध्रुवणवदर्थवादलादुपसहारायोगादङ्गीकृत्यापि तावदुपादानमन्यवैषोप-
 पत्त्या दूषयति—भवतु नामेति । हेतुमाह—कामाधिकार इति । अधिकारो नियोग । एष हि प्रामा-
 न्यकराद्धान्त । अन्यतोऽप्रवृत्त खलु पुरुष शास्त्रेण प्रवर्तनीयस्तथा च काम्यनियोगेषु फलवदेव करणाशेषि

१ चार्वा सोमना बुद्धिस्तद्व्योपकपदेन धर्मा आचार्यो लक्ष्यते । २ 'भवन्ति' इति पाठो सुचो भाति सुरकर्तृक-
 शिष्यसमाननविषयवत्त्वादारमनेपदप्रयोगस्यास्य । ३ प्रमेयमिति सुचो भाति । ४ वेदनमिति सुचो भाति ।
 ५ क्त्वाङ्गुतेरित्युपलक्षणं तमिति तच्छब्दस्य । ६ तत्र यथा आर्थादािकं प्रतिष्ठा रूप फल विधौ तथाप्राङ्गे उपनयने
 श्रुतमाचार्यकरण विधिफलत्वमापद्यते इति तात्पर्यम् । ७ प्रवर्तयतीत्यर्थ । ८ यागाङ्गत्वप्रसङ्गादित्यर्थ । ९ पञ्जा-
 र्यस्तु यस्मिन् पदार्थे श्रुते पुरुषस्य प्रीति स्वर्गादिलक्षणोपजायते स दर्शपौणभासादि पुरुषार्थं यत तस्य लिप्ताऽनुष्ठान-
 मर्थलक्षणमधोपचित्तस्य पुरुषार्थस्य प्रीत्याऽविभक्तत्वादव्यभिचारित्वादिति एकोऽर्थः । अर्थान्तरमपि अस्य सोमनाथेन
 दर्शितं तथाचैतद्व्यवहारेण दर्शादीनामिव गोदोहनधनाज्जनादीनामपि पुरुषार्थत्वमेव ननु क्लृप्तत्वमिति भाव ।

काम्यत्वात्, तद्विपर्यागेणैव तन्निष्पादकेष्वध्ययनेऽनुष्ठानलाभात् अध्यापनविधेरनुष्ठापक-
त्वकल्पनानुपपत्तेः । नचाध्यापनाङ्गत्वादध्ययने विधितः प्रवृत्तिराशङ्कनीया । तत्र श्रुत्या-
दीनामन्यतमप्रमाणस्यादर्शनात् । नचाध्यापनविधिप्रयुक्तत्वादध्ययनस्य तदङ्गत्वं, प्रयुक्ते-
र्व्यभिचारात् । न हि 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति' इत्यादौ भेदनादिना प्रयुज्यमानो होमस्त-
दङ्गमङ्गीक्रियते, तत्प्रयुक्तेरध्ययनस्याद्याप्यसिद्धेः, अङ्गत्वेन प्रयुक्तिः प्रयुक्तौ च तदङ्गत्वमिति
परस्पराश्रयता च । किं चाध्ययनविधावधिकारिणमङ्गीकुर्वता नियोज्यः कस्मान्न स्वीक्रियते
इति वाच्यम् । अनुष्ठानसिद्धये नियोज्योऽपेक्षितव्यः तच्चान्यत एव सिद्धमिति नासावङ्गी-
क्रियत इति चेत्तर्हि अधिकार्यपि नापेक्षणीयः, अनुष्ठानस्यान्यत एव सिद्धेः । अधिकारी
विधिपर्यवसानायापेक्ष्यत इति चेत् । नियोज्येपि तुल्यं, तेनापि विना नियोगापर्यवसा-
नात् । अन्यतोपि विषयानुष्ठानसिद्ध्या च नियोगसिद्धौ का नाम विधेरपर्यवसानवाचो-
युक्तिः । किं च तमध्यापयीतेति च नायमध्यापने विधिः, वृत्त्यर्थत्वेनाध्यापनस्य याजन-
वत्प्राप्तत्वात् । उक्तं हि—'पण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने

रागतः एव प्रवृत्तः, इतिकर्तव्यतासु तु शास्त्रेण प्रवृत्त इति । असु प्रवृत्ते किमायातमित्यत आह—अध्या-
पनस्यापीति । ननु भवतु करणाशेऽध्यापने कामतः प्रवृत्तिस्तदङ्गेऽध्ययने किमिति विधिर्न प्रवर्तयति ज्योति-
ष्टोमाङ्गेष्विव वीक्षणीयादिषु, न च दृष्टार्थलादविधेयत्वं, तत्तन्वियमोपेताध्ययनजन्यादृष्टस्यावघातादिविधान्यतो-
ऽप्राप्तस्य विद्यमानत्वादित्यत आह—न चाध्यापनेति । ननु श्रुत्यादिप्रमाणाभावेपि तत्प्रयुक्तत्वलक्षणोप-
दानप्रमाणात्तदङ्गत्वमुक्तमिति तत्राह—न चाध्यापनविधीति । भिन्ने जुहोतीत्यादौ भेदनादीना निमित्त-
त्वेन नैमित्तिकहोमं प्रति प्रयोजकत्वमस्ति, अथ च नाङ्गित्वं, भेदनादीना निमित्तत्वेनाननुष्ठेयतयाङ्गित्वानुपपत्तेः ।
अतः प्रयुक्तिर्व्यभिचारिणीत्यर्थः । अङ्गीकृत्य प्रयुक्तिमेतदुक्तं सैव तु नास्तीत्याह—तत्प्रयुक्तेरिति । रागस्यै-
वोभयत्र प्रयोजकत्वादिति भावः । नन्वङ्गत्वात्प्रयुक्तिरित्यत आह—अङ्गत्वेन प्रयुक्तिरिति । किञ्च नोपा-
दानात्मकं किञ्चिन्मानं, मेयानिहस्पणात् । तन्माच्छ्रुत्यादिपङ्केण विनियोगो, नचात्र (तत्)ते, यत्तु प्रोक्षणादेः कल-
र्थत्वमुपादानलभ्यमिति तत्र, श्रुत्यैवापूर्वसाधनत्वे व्रीह्यादिपते विनियोगात् । तथापि कथमपूर्वार्थत्वम् । उच्यते ।
व्रीहीणां तण्डुलपिष्टपुरोडाशयागप्रणालिकयाऽपूर्वसाधनत्वमस्ति तथाविधांश्वोदितश्च विधीयमानं सर्वस्य द्वाराद्वा-
रिभावव्यवस्थितस्याङ्गं भवतीति, पथेकत्वादीनामपि श्रुत्यैव विनियोगसिद्धिः, ज्योतिष्टोमादेश फलार्थत्वं वाक्या-
दिभिरिति । यच्च निनियोज्यत्वमध्ययनविधेरुक्तं तदपि दूषयति—किं चाध्ययनविधाविति । पूर्ववाची
नियोज्यत्वमङ्गीकारे कारणमाह—अनुष्ठानसिद्धय इति । दूषयति—अधिकार्यपीति । अनुष्ठानार्थ-
मधिकार्यपेक्षा तच्चेदन्यतः सिद्धं किमर्थमधिकार्यपेक्ष्यत इत्यर्थः । शङ्कते—अधिकारीति । अयमभि-
सन्धिः । यद्यपि कार्यमेव निशोगापरपर्यायं वाक्यार्थस्तथापि तदेवेष्टसाधनतानिवन्धनं यथाहुः—'फलता-
धनता तत्र कारणं तेन कार्यते'ति । तच्चेष्टसाधनत्वं कस्येति भोकारमधिकारिणमाकाङ्क्षमार्गं न तावत्पर्यव-
स्यति यावन्नाधिकारिविशेषप्रतीतिरिति, तदेतन्नियोज्येपि तुल्यं नियोगस्यापि नियोज्यत्वतिरेकेणापर्यवसाना-
दिति परिहरति—नियोज्येपीति । आपाद्यदूषणनिदम्, आधानादिनियोगेपु तैरनङ्गीकारात् । किं च विषयवि-
द्विद्वारा स्वसिद्धिर्हि विधेः पर्यवसानं सा चेदन्यतोपि सिद्धा पर्यवसित एव विधिरित्यधिनायपेक्षापि निरि-
बन्धनेत्याह—अन्यतोपीति । अध्यापनस्य विधेयत्वमङ्गीकृत्यैतदुक्तं तदेव नास्तीत्याह—किं चेति । तत्र
किं वृत्त्यर्थं यदध्यापनं तदेव विधेयमुत्तलौकिकविनियोगार्थं केचित् । नाय इत्याह—वृत्त्यर्थत्वेनेति ।
अध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिप्रहात्मकानां पण्णां कर्मणा मध्ये त्रीणि जीविका जीवनसाधनम् । तान्येवाह
—याजनेत्यादिना । ननु यदि न विधानं कथं तर्हि उपनयीताप्यापयीतेति विधीयत इत्यत आह—

वैव विशुद्धाद्य प्रतिग्रह' इति । 'तस्माद्यथैतयाऽन्नाद्यकामं याजये'दित्यादिपु याजनं न विधी-
यते कितु एतयान्नाद्यकामो यजेतेति वाक्यार्थः । तथेहाप्य'ष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत्सोधी-
यीते'ति वाक्यार्थः स्वीकार्यः । नचालौकिकनियोगार्थत्वेनाध्यापने विधिः, याजनेपि तथा-
प्रसङ्गात् । अपि चाध्ययनं नित्यं, 'योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव
शुद्धत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥' इत्यादिनाऽकरणे प्रत्यवायस्मरणात्, अध्यापनं चानित्यं,
नाम्यत्वात्, तथाच कथं नित्यमनित्येन प्रयुज्येत, विरोधात्, तस्मादध्ययनविधिप्रयुक्तमेवा-
ध्ययनमिति न दृष्टान्तासिद्धिः । अस्तु वाध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययनं तथाप्यध्यापनवि-
धिरखिलवेदवाक्याध्यापनं विदधानः स्ववाक्याध्यापनमपि विधत्त इति स एव दृष्टान्तो
भविष्यतीत्यलमतिविस्तरेण ।

तथैकमेवाद्वितीयमित्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम् । नचाद्वितीयशब्दस्तत्सजातीयवस्त्व-
न्तरनिषेधपरः, सकोचे कारणाभावात्, एकत्वविशेषणेनैव सजातीयस्य निषिद्धत्वात्, सजा-
तीयमात्रनिषेधपरत्वे चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानस्य वाचारम्भणशब्दस्य चैत-
दात्म्यमिदं सर्वमित्याद्युपसंहारस्य च वाधप्रसङ्गात् । नचैकमित्येकत्वसख्याविधानपरं
तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरिति वाच्यम् । एक रूपमेका सख्या एकोऽभाव इत्यादावपि प्रयो-
गात् । आनन्त्यमप्युभयान्ताभाव एव, तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरित्यपि न । पूर्वापर-
कालानवच्छेदस्यैवैहानन्तपदेन विवक्षाया नित्यमाकाशमनन्तं चेति प्रयोगानुपपत्तिप्रसङ्गात् ।

तस्माद्यथैतयेति । एतयाऽवेष्टा, यथाहि न तावद्यथाश्रुति याचन विधायु शस्य श्रुत्यथत्वेन तत्र स्वत
एव प्रवृत्तत्वादतोऽप्राप्तप्रयोज्यरूपसाक्षात्कर्तृव्यापारयागपरो विधिस्तथेहाप्यन्यतोऽप्राप्तप्रयोज्यमाणवक्यापाराद्यु-
पगमनाध्ययने विधीयेते इत्यर्थः । न द्वितीय इत्याह—नचालौकिकेति । सिंहाल्लोकितेन अध्यापन-
निषेधत्वपक्ष एव दूषणान्तरमाह—अपिचाध्ययनमिति । सान्वयः सवश । विरोधादिति । काम्य
हि कामनाधीन कामना हि वादाचित्की उपयान्तरादपि तत्फलप्राप्तौ यदा स्वविषय नानुष्ठापयति तदा
नित्यमध्ययनं कथं प्रयुञ्जीत अविद्यमानस्याप्रयोजकत्वात् । अथ स्वयमपि यावत्प्रयोज्य विद्यमानं तदा
काम्यत्वविरोध इति । अल वा गुरुसिद्धिवादेन । भवत्वध्ययनमध्यापनविधिप्रयुक्तं तथापि स एवाध्यापनवि-
धिर्दृष्टान्त इत्याह—अस्तु वेति ।

तदेवमनुमानं प्रपद्यमिध्यात्वे प्रमाणमिहितम् । अथागममपि प्रमाणयति—तथैकमेवेति । पूर्व-
पक्षोक्तदूषणमनूय दूषयति—नचेति । संकोच इति । अद्वितीयमित्यत्र द्वितीयमात्रवाचिनो द्वितीय-
शब्दस्य द्वितीयविशेषे तन्निष्ठनिषेधकन त्स्वद्विशेषनिषेधे वा सकोचे प्रमाणाभावादित्यर्थः । अन्यत्-
त्वाच्च नानेन तन्निषेधमित्याह—एकत्वविशेषणेति । किञ्च सजातीयमात्रनिषेधपरत्वे समस्तद्वैतनिषे-
धपरताप्रतिपादकोपक्रमपरामर्शापसंहाराश्च विरुद्धेरित्याह—सजातीयेति । नन्वेकशब्दे न सजातीय-
निषेधपरोऽपितु एकत्वस्यरामिधानपर । यथाह मानमनोहरकार—'एकैत्सरयामाचष्टे तत्रैव लोके
व्युत्पत्ते लोकाशक्तेश्च वेदे बोधकत्वादिति । तत्राह—नचैकमिति । सद्व्यारहितेष्वपि रूपसख्याभावेपु
प्रयोगाद्वाधकाभावाच्च नौपचारिकसख्यापीति भावः । यत् तैर्नैवोक्तम् 'आनन्त्यं पुनरुभयान्ताभाव एव तत्रैव
लोके व्युत्पत्तेरिति तदप्यनूय दूषयति—आनन्त्यमपीति । तत्र हेतु—पूर्वापरेति । अस्ति तावन्नित्य
माकाशमनन्तं चेति प्रयोगः, तत्र यद्यन्तपदेनैव पूर्वापरकालावच्छेदरूपोभयान्तोऽभिधीयते तन्निषेधश्चानन्त-
पदेनोच्यते तदा नित्यशब्दं पुनरुक्तं स्यादित्यर्थः । अथ देशकालकृतोऽन्त उभयान्तस्तथापि पुनैकस्फुरिति

१ तस्मिन् द्वितीयमामान्यनिषेधे निष्ठापूर्ववसानं यत्सदृशो यो निषेधको नञ् तस्यैत्यर्थः । प्रतिशोभित्वस्य धेन
द्वितीयसामान्यश्रुतियां निषेधस्तद्विषयत्व वा तन्निष्ठनिषेधत्वम् । अस्मिन्पक्षे तन्निष्ठो निषेधो यस्मिन् बहुव्रीहिविधेयवो-
धकभावश्च पश्यथ । २ पञ्चशब्द इति शेषः । ३ कालकृतान्तरादित्यस्य नित्यपदेनैव लामादित्याशयः ।

न चान्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणे व्युत्पत्त्यभावो दोषः । अन्तशब्दस्य देशतः कालतोऽस्तुतश्च परिच्छिन्ने व्युत्पन्नत्वात्तस्य नञ्समासे त्रिविधस्याप्यन्तस्य निषेधकतोपपत्तौ पृथग्व्युत्पत्त्यनपेक्षत्वात् । नेह नानास्ति किञ्चनेति च न ब्रह्मणि नानात्वं निषिध्यते । अप्रसक्तत्वात् । नहि लोकतः श्रुतितो वा वादिप्रसिद्धितो वा ब्रह्मणि नानात्वं प्रसक्तं येन प्रतिषिद्धेत । नानाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तताभावाच्च न नानात्वनिषेधः । तन्निषेधे वा संकोचे कारणाभावात् सजातीयविजातीयस्वगतनानात्वनिषेधाद्ब्रह्माद्वैतमेव पर्यवस्येदिति स एव घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तः प्रसज्येत ।

न चेन्द्रो मायाभिरितीन्द्रियद्वारकबुद्धिव्युत्पत्त्याधावीश्वरस्य भेदोऽवभासत इत्येतावत्परमिदं वाक्यं नतु द्वैतनिषेधपरमिति युक्तम् । ईश्वरस्य नित्यानुमेयस्यैन्द्रियकबुद्धिवृत्तिविषयत्वानङ्गीकारात् । मायाशक्तिविशेषाभिधाने च 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशो'ति वाक्यशेषो न संगच्छेत । इन्द्रियबाहुल्याभिधानस्य मायाशक्तिविशेषाभिधानं प्रत्यनुपयुक्तत्वात् । 'अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि यहूनि चानन्तानि चे'ति वाक्यशेषे सर्वस्येश्वरात्मकत्वप्रतिपादनविरोधाच्च । मृत्योः स मृत्युमिति च नाभेदप्रतिपत्तिविधिः । नेह नानास्ति किञ्च

भावः । यस्तु पूर्वपक्षिणा व्युत्पत्त्यभावोऽभिहितस्त्वं दूषयति—**न चान्योन्याभावेति** । सर्वत्र ह्यभाववाचकशब्दानां प्रतियोगिवाचकशब्दव्युत्पत्तित एव व्युत्पत्तिस्तत्कृतो हेतोः, यौगिकत्वाद्यौगिकानां चावयवव्युत्पत्तित एव व्युत्पत्तेः समुदायव्युत्पत्त्यनपेक्षणात् । तदिहान्तपदस्यावच्छेदनये व्युत्पत्तेर्नान्तनिषेधव्युत्पत्त्यल्लान् पृथक् समुदायस्य व्युत्पत्त्यपेक्षेत्याह—**अन्तशब्दस्येति** । यत्तु नेह नानेतन्न ब्रह्मणि नानात्वनिषेधादेकं ब्रह्मेति सिद्ध्यति न तु द्वैतनिषेध इत्युक्तं तन्निषेधेति—**नेह नानेति** । अयमभिधमिधः । प्रसक्तं हि सर्वत्र निषेधं नाप्रसक्तम् । यत्र तु क्वचिदप्रसक्तस्यापि निषेधो यथा नान्तरिक्षे न दिवि इत्यत्र, तत्र गलन्तरं नास्ति । नच तत्रापि निषेधपरत्वं, अर्थवादे ह्ययं स्वमोपधानस्य, स्वममुपपदातीलनेनैकत्वव्यत्वात्, तस्माद्यथाकथंचन तत्स्तुतावेव तात्पर्यम् । अत्र तु द्वैतनिषेधपरत्वमिति वैषम्यं, तदिहापि प्रसक्तद्वैतप्रपञ्चनिषेधपरत्वं युक्तं नाप्रसक्तेश्चरनानात्वनिषेधपरत्वमिति । किञ्च नानात्वनिषेधपरत्वे नानाशब्देन धेकयोरीत्यत्र द्वित्वैकत्ववत् नानात्वं लक्षणीयं, न च विना कारणं सा युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षादिविरोधस्तु कारणं हृदि विपरिवर्तमानं पुरस्तादेव निरस्तं तदनेनाभिधमिधनाह—**नानाशब्दस्येति** । भवतु नानाशब्देन नानात्वाभिधानं गोशब्देन गोत्वमेव तथापि सङ्कोचे कारणाभावात् समस्तप्रतियोगिकनानालनिषेधाद्द्वैतसिद्धिरित्याह—**तन्निषेधे वेति** । नानाशब्दस्य च नानात्ववाचकत्वेपि तवोक्तिवैयर्थ्यं तदुपलक्षितव्यक्तिचचनत्वे चेह गौर्नास्तीतिचत्तजातीयनिषेधसिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

यत्तु शुक्लान्तरस्यान्यथासिद्धिरुक्ता पूर्वपक्षिणा तामनुवादपूर्वकं दूषयति—**न चेन्द्र इत्यादिना** । प्रत्यक्षशोभं चाल्यैन्द्रियकबुद्धिश्चैतौ प्रतीयते, ईश्वरस्त्वतीन्द्रियो न तथेति न बुद्धिश्चैतन्यमिप्रायेणार्थं मायाशब्द इत्यर्थः । नीहपत्वाद्यत्वात्तदनवतारप्रकरणत्वाच्च न योगीन्द्रियापेक्षयेति भावः । यच्चीश्वरश्चक्रयो वेत्युक्तं तत्राह—**मायाशक्तीति** । असङ्गतिमेवाह—**इन्द्रियेति** । तत्र हि दशशतहरयोऽस्य युक्ता इतीन्द्रियाणि हरिश्चन्देनोच्यन्ते । तद्बाहुल्याभिधानं नेश्वरशक्तिप्रतिपादनोपयोगील्यर्थः । उत्तरत्र तेषां हरीणामीश्वरमात्रतया बोधनमपि त्वत्पक्षे विरुध्यते तेषां भिन्नलाभ्युपगमादित्याह—**अयं वै हरय इति** । नच निमित्तत्वाभिप्रायेण, सामानाधिकरण्यात्तुपपत्तेरिति भावः । यत्तु मृत्योः स मृत्युमित्येवददर्शनस्य विधिसिद्धतस्य श्रुतिर्नतु द्वैतनिषेधपरमिति तत्राह—**मृत्योरिति** । यदि क्षमेदप्रतिपत्तिमात्रं विधिसिद्धं तदा द्वैतनिषेधो व्यर्थः ।

१ देशादिप्रयुक्तभेदवतीत्यर्थः । २ अयं भावः । नान्तरिक्षे इत्यादिनाऽन्तरिक्षाद्युत्पत्त्याननिषेधेन तस्य निरिदतत्वे शेषिते निरिदतत्वेऽपि ननु विरुध्यते ।

नेति द्वैतनिषेधवैयर्थ्यात्, अनुपासनप्रकरणत्वात् । पूर्वापरालोचनायां चास्य प्रकरणस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ तात्पर्याधिगमात् । ननु पूर्वापरवाक्यानामुपासनपरतापि दृश्यते 'आयुर्होपासतेऽमृतं, विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेदे'त्यादिश्रवणादिति चेन्मैवं, प्रसङ्गागतत्वाद्दुपासनानुवादस्य ।

तमेव धीरो विज्ञायेति च "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना" इति पूर्वोदिताकाशादितत्त्वाधारतया सप्रपञ्चताप्रसक्तावधारणस्य तन्निवारणपरत्वात्, प्रज्ञां कुर्वीतेति च प्रज्ञाशब्देन विज्ञानशब्दाभिधेयपरोक्षज्ञानातिरिक्तसाक्षात्काराभिधानाङ्गीकारे तस्यानवधिसुखरूपत्मसाक्षात्कारतया फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः, सर्वस्य वशीत्यादेः स्तुतिपरतया गुणविधानार्थत्वाभावात्, आगमस्य च स्वरूपप्रतीतौ पदपदार्थसंघन्धावगमे च प्रत्यक्षादिसापेक्षत्वेपि तस्य तद्विषयस्य च पारमार्थिकत्वांशस्यानुपजीव्यत्वात्तद्वाधनेपि विरोधाभावात्, सांख्यवहारिकभेदाभावस्य ज्ञानोदयनान्तरीयकतया श्रुतिवाध्यत्वाभावात् न व्यावहारिकभेदासापेक्षतया श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गः । नच न हिंस्यादित्यादिकाव्येषु परस्परपराहतिः । सामान्यविशेषभावेनेच्छाविकल्पेन वा व्यवस्थितविकल्पेन वाऽविरोधोपपत्तेः ।

प्रत्युत्तानर्थकरत्वाद्द्वैततत्त्वप्रान्तिप्रसक्तेरिति भावः । किञ्च निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मज्ञानप्रकरणोत्कर्षोपासनपरत्वे इत्याह—अनुपासनेति । अस्यैव प्रपञ्च—पूर्वापरेति । ननु 'तं देवा ज्योतिषा ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतं' मिति, विज्ञाय शार्द्धं प्रज्ञा साक्षात्कारलक्षणा सपादयेदिति च, तथा सर्वस्य वशी सर्वस्येशान, अन्नादोऽजन्मा समन्ताद्दत्तं वसुदानो धनप्रद इति यो वेद स वसु धनं विन्दते लभते इति, तत्रैव पूर्वोत्तरभागयोरुपासनाश्रवणादुपासनप्रकरणभेदादिति चोदयति—ननु पूर्वापरेति । प्रसङ्गागतत्वादिति । निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रकरण एव स्तुत्यर्थमुपासनानुवाद स. न तु विधिवीच्यमेदप्रसङ्गादित्यर्थः ।

किञ्च तमेव धीर इति, तमेव मन्य इति चैवकाराभ्यां यस्मिन्पञ्च पञ्चजना पञ्चप्राणादयः आकाशश्च प्रतिष्ठित इति पूर्ववाक्यारोपिताकाशादिप्रपञ्चव्यावर्तनादिष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वमेवेत्याह—तमेव धीर इति । निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वेपि तत्साक्षात्कारविधिपरत्वं भवत्विति मेल्याह—प्रज्ञामिति । यत्तु सर्वस्य वशीत्यादिशुणकं य एव वेदेत्युपासन विधत्ते इति तत्राह—सर्वस्य वशीत्यादेरिति । प्रतिपादितं खल्विदं 'कामाधीतरत्न तत्र चायतनादिभ्य' इत्यन । उपजीव्यविरोधं परिहरति—आगमस्येति । तस्येति । प्रत्यक्षस्य । एतदुक्तं भवति । निषिध्यमानं तदीयपारमार्थिकत्वं नापेक्ष्यते यथापेक्ष्यते साव्यवहारिक रूपं न तद्वाप्यत इति । ननु साव्यवहारिकमपि रूपमागमेन बाध्यमेवेतरथाऽद्वैतानुपपत्तेरतस्त्वत्रौपजीव्यविरोधो दुर्निवारण इति तत्राह—साव्यवहारिकेति । यथा तेषां वास्तवज्ञान तत्त्वप्रतिपत्तिविरोधि न तथा साव्यवहारिकाकारणान्मिति भावः । तदेतदपिलमद्वैतश्रुतीनामन्यथासिद्धिष्यपरिधावनव्यथितचेतसे शालिकनाथायाकथयत । यत्तु कृत्स्नस्यैव च वेदस्य परस्परपराह्योपहतत्वमुक्तं तत्परिहरति—नचेति । सामान्यविशेषभावेनेति । मित्रविषयत्वस्योपलक्षणमिदं, मुख्यसामान्यविशेषभावाभावात् । यथाहवनीये जुहोतीति होममात्राधिकरणतया प्राप्तस्नाहवनीयस्य पदे जुहोतीति विशेषविधानात् तदितरहोमविषयतया सङ्कोचः । नहि तथेह हिंसामानविषयतया निषेध प्रवर्तते येन विशेषे सङ्कोचमर्हदपि तु रागप्राप्तहिंसाया, तावतापि निषेधोपपत्तौ न क्रतुप्रकरणेपि निषेधपदप्रक्षेपकल्पना तस्या प्रमाणाभावात् । प्रत्युत यदर्था प्रवृत्तिस्वदर्थः प्रतिषेध इति न्यायेनाहृतवदनाज्यभागादिप्रतिषेधस्यैवास्यापि क्लृप्त्यर्थत्वात् । तथाच विधिप्रतिषेधयोरनयोर्ग्रहणाग्रहणवदिकल्पः स्यादित्यनर्थपरपरैव सात्तस्माद्दर्शितविमिन्नविषयत्वस्य केवलमुपलक्षणमिदं, ग्रहणाग्रहणयोरिच्छया विकल्पः, उदितानुदितहोमयोः शासामेदेन व्यवस्थितविकल्पः ।

नच कर्मज्ञानकाण्डयोर्भेदाभेदविषयतया कर्मानुष्ठानतत्त्यागप्रतिपादकतया च विरोधः । विद्याविद्यावस्थाभेदेन विद्वद्विद्वत्पुरुषविषयतया चाविरोधात् । तदेवं मिथ्यात्वे लक्षण-
प्रमाणयोरुपपन्नत्वादर्निर्वचनीयानाद्यविद्याविलसित एवायमात्मनि द्वैतप्रपञ्च इत्यलमति-
प्रपञ्चेन । ४ ।

ननु भोः केयमनिर्वचनीयाविद्या नाम । नहि ज्ञानाभावव्यतिरेकेण काचिद्विद्या
प्रसिद्धा उपपन्ना वा । ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसयोरेव न जानामीत्यविद्यात्वेन लोके व्याव-
हारिकव्यवहारोपलम्भात् । अविद्येति च, विद्यापदेन समस्तमानस्य च नञस्तदभावस्त-
द्विरोधी तदन्यो वार्थोऽभ्युपेयः । आद्ये विद्याभावस्यापि वेद्याभाववन्नानिर्वचनीयता । द्विती-
ये तु संशयविपर्यासादेर्विद्याविरोधिनो गुणान्तरस्य वा नानिर्वचनीयतोपपत्तिः, प्रसिद्ध-
भावस्वभावत्वस्य व्याकोपात् । न तृतीयोपि । विद्यातिरिक्तस्य समस्तस्याविद्यात्वप्रस-
ङ्गात् । नचास्या लक्षणं प्रमाणं वा पश्यामः । न तावज्ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं, पूर्वज्ञानस्यापि
तन्निवर्त्यस्याज्ञानत्वप्राप्तेः । अनादित्वविशेषणाददोष इति चेन्न । ज्ञानप्रागभावे व्यभि-
चारात् । अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानमिति चेत् । न । अनादेर्भावस्यात्मवन्निल-
त्वेन निवर्त्यत्वानुपपत्तेः । अथ चिरन्तनमतानुसारेणानादेरेव भावस्य परमाणुगतश्याम-
त्वादेरिव निवर्त्यत्वमुच्येत तर्हि तस्मिन्नेवेश्वरज्ञाननिवर्त्येऽतिव्याप्तिः । त्वदुक्तलक्षणस्यापि

कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोर्विरोधं परिहरति—**नचेत्यादिना** । विद्याऽविद्यावस्थाभेदेनानिर्वचनीयत्वप्रतिपा-
दनयोरविरोधः कर्मत्यागविधानयोस्तु विद्वद्विद्वत्पुरुषविषयत्वाच्छ्रुदान्तःकरणः परोक्षज्ञानवान्वा विद्वान् ।
यथाहि न हिंस्यात्सर्वाभूतानीति फलांशे निषिद्धस्य ज्येनेनानिचरन्त्यजेतेत्यस्यानवबुद्धप्रतिषेधवाक्यार्थं पुत्रं
प्रति प्रशुतिरितरस्य त्वितरं प्रतीति विभागस्तद्वदिति भावः । वादार्थमुपसंहरति—**तदेवमिति** ।

अनिर्वचनीयानाद्यविद्येत्युक्तमुपश्रुत्य प्रलवतिष्ठते—**नन्विति** । ननु सर्वेषामेव मोक्षवादिनामनित्याद्युक्तिदु-
स्वरूपसंसारे नित्यशुचिसुखत्यागमिरतिनिदानमविद्या प्रसिद्धैव किमत्रं वक्तव्यमित्यत आह—**नहि ज्ञानाभा-
वेति** । ननु सामान्येन सिद्धाविद्याया उपपत्तिबलादनाद्यनिर्वचनीयत्वमावातीत्यत आह—**उपपन्ना वेति** ।
अमाय एव त्रिलिङ्गि निर्देशयति—**ज्ञानेति** । प्रागभावप्रध्वंसयोरेति सप्तमी । व्याकृतीर्यथा व्यपहारकर्तारः चोप-
व्यवहारोपलम्भादित्यर्थः । एवं प्रसिद्धभावमेवामिधायोपपत्त्यभावमाह—**अविद्येति** । अविद्येत्यत्र नयस्तावद-
र्थत्रयं समवति तच्च निर्वचनीयभावाभावयोरवान्तर्भवति नानिर्वचनीयः कश्चिद्विद्यासद्वार्थ इत्यर्थः ।
विद्याभावस्यापीति । यथावेद्यस्य घटादेरभावो नानिर्वचनीयो, भावाभावविलक्षणत्वाद्गीकारादर्निर्वचनीयस्य,
तथा ज्ञानाभावस्यापि नानिर्वचनीयत्वमित्यर्थः । विद्याविरोध्यविद्येति द्वितीयपक्षं निषेधति—**द्वितीये
त्विति** । एवमविद्याशब्दात्तावदनिर्वचनीयानाद्यविद्याप्रतीत्यभावमुक्त्वा लक्षणप्रमाणानिरूपणादपि तदभा-
वमाह—**नचास्या इति** । तत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तावद्वर्णनं अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा अनादिमा-
यत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा अनादित्वे सन्ननिर्वचनीयत्वं वा भ्रमोपादानत्वं वा । नाद्य इत्याह—**न ताद्य-
दिति** । निर्वचनीयतयाद्गीकृतपूर्वज्ञानादिष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये तु प्रागभावेऽतिव्याप्तिमाह—**अना-
दित्वेति** । तृतीयेऽसंभवमाह—**अनादीति** । आपुनिकैः पार्थिवपरमाणुविशेषगुणानां पाकजलाग्नीकारा-
चिरंतनप्रदणम् । तर्हि तस्मिन्निति । तैरेव चिरंतनैस्त्वेषामीश्वरज्ञाननिमित्तकविनायाः।।गीकारादतिव्याप्तिर्ल-
क्षणस्येत्यर्थः । त्वदुक्तलक्षणस्यापीति । त्वदुक्तं लक्षणं यस्य इयामत्वादेः स तथोक्तः । चतुर्थं शब्दे—
अथेति । किमिदमनिर्वचनीयत्वं नाम, न तावन्निर्वचनाविषयत्वं, अनेनैव प्रकारेण निरुच्यमानत्वाच्चापि सदे-

तस्याज्ञानत्वाभावात् । अथानाद्यनिर्वचनीयमज्ञानं तदपि न । निर्वचनागोचरतायाभावा-
भावविलक्षणतायाश्चासंभवित्रात् । भ्रमोपादानमज्ञानमित्यपि न । आत्मन्यतिव्याप्तेः ।
सत्योपादानत्वे भ्रमस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् नात्मोपादानमिति चेन्न । भ्रमस्यापि स्वरूपसत्य-
त्वात् । विषयापहाराद्धि तत्र मिथ्येति व्यवहारो न स्वरूपापहारात् । तथात्वे चेतावन्तं
कालमिदं रजतमित्यभादित्यनुभवविरोधः । अस्तु वा यत्किञ्चिद्विचारितरमणीयं
लक्षणं तथापि तत्र किं प्रमाणम् । अज्ञोऽहमित्यनुभव इति चेन्न । तस्य ज्ञानाभाव-
विषयत्वेनाप्युपपत्तेः । अनादित्वभावत्वयोस्त्वदभिमतयोरस्यानुभवस्यौदासीन्याच्च । नापि
सुप्तोत्थितस्य न किञ्चिद्वेदिष गाढं मूढोद्दामासमितिपरामर्शानुपपत्तिसिद्धः सुपु-
प्तिकालीनोऽनुभवः प्रमाणं, तन्मते ज्ञानाभावस्यापि साक्षिसिद्धस्य परामर्शोपपत्तेः ।
अस्मन्मते चेदानीमेव ज्ञानाभावस्यानुमीयमानतया परमर्शोसप्रतिपत्तेः । ननु कथं
ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकचेतन्यगोचरतया सिद्धिः तत्सिद्धेर्धर्मप्रतियोगिज्ञानपराधीन-
त्वात्, सुप्तौ च तदसभवादिति चेन्न । ज्ञानाभावस्यापि स्वरूपेण भेदादिवनिर्विकल्पक-
सिद्धस्य सविकल्पकदशाया धर्मप्रतियोगिज्ञानपराधीनतया स्फुटतरव्यवहारविषयत्वो-
पपत्तेः । नचासिद्धे तत्कालीने धर्मिण्यात्मनि, ज्ञानाभावस्येदानीमेवानुमीयमानत्वासिद्धिः,
प्रतिपत्ते हि प्रातश्चत्वरदौ धर्मिणि सायसमये तत्र गजाभावानुमानमुपलभ्यत इति
वाच्यम् । सप्रतिपन्नोदयास्तमयवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमययोरन्तरालकालमनुमाय का-

सद्विलक्षणत्व, परस्परविरुद्धयोर्भावाभाववदुभयवैलक्षण्यस्याप्यसभवात् । असभवीद लक्षणमित्याह—निर्वच-
नेति । भ्रमोपादानमज्ञानमिति । आत्मनोपि हि जगद्विभ्रमाधिष्ठानलमद्गीक्रियते भवद्विरन्यथा जन्मा-
द्यधिकरणाद्यनारम्भप्रसङ्गात् । अतीकृतमस्माभिश्चात्मनो विभ्रमसमवायिकारणत्वमिति भाव । आत्मनि लक्ष-
णागृप्तिं शङ्कते—सत्योपादानत्व इति । नायमनिष्टप्रसङ्ग इति परिहरति—न । भ्रमस्यापीति । ननु
स्वरूपमात्रसत्यत्वे कथं मिथ्याज्ञानत्वप्रविद्धिरित्यत आह—विषयेति । स्वरूपस्याप्यपहारे प्रत्यभिज्ञाविरो-
धमाह—तथात्वे चेति । अनादित्वेति । अज्ञोऽहमिति ज्ञानराहित्यमेव प्रतीयते ननु तस्याज्ञानस्यानादि-
त्वभावत्वे । अतो नेदमभिमतसाधकमित्यथ । स्यादेतत् । अस्ति तावत्सुप्तोत्थितस्य एतावन्तं कालं
न किञ्चिद्वेदिषमिति परामर्श, सच सुप्तिकालीनमज्ञानानुभव गमयति, अननुभूते परामर्शोयोगात् ।
स चानुभवस्तत्र प्रमाणमिति तदेतदूपयति—नापीति । सुप्तिकालीनज्ञानाभावगमकतया त्वन्मते
तावदन्यथासिद्धमस्मन्मते तूथानानन्तरकालीनमनुमानं पूर्वकालीनज्ञानाभावविषयमित्युभयथापि विवक्षि-
तासिद्धिरित्याह—त्यन्मत इति । या तु वेदान्तपक्षेऽन्यथासिद्धिरुक्ता सा न युक्ता धर्मप्रतियो-
गिज्ञानाधीनज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य सुप्तौ निर्विशेषचिन्मानादप्रतीतेरिति शङ्कते—ननु कथमिति ।
प्रथमं निर्विकल्पकानुभूतस्यापि पश्चात् सविकल्पकविषयतया विशिष्टव्यवहारहेतुत्वं भवति । नच
नित्यसापेक्षतया निर्विकल्पकविषयत्व, भेदसादृश्यादिभिर्व्यभिचारादिति परिहरति—न । ज्ञानाभावस्या-
पीति । ननु भवत्वसत्पक्षेऽन्यथासिद्धित्वपक्षे तु कथमनुमानलमस्य सौप्तिका मनस्तदागीमननुभवात्
तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानायोगात् यथाहि प्रातश्चत्वे गजो नासीदित्यत्र प्रातःकालीनचत्वरानधिगमे
गजाभावानुमानाभाव इति शङ्का निराकरणे—नचासिद्ध इति । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—
संप्रतिपत्तेति । यद्यपि सुप्तिसमये तत्कालीनात्मनो न ज्ञानमस्ति तथाप्युत्तरकाले सभवत्येवानुमानेन

१ यथा घटमित्रं पट इति सविकल्पनज्ञानात्प्रायः विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन स्वरूपेण प्रतियोगिनो
भेदस्य अनुयोगिनश्च निर्विकल्पकज्ञानं भवति तथाऽनापि धामप्रतियोगिज्ञानाभावेऽपि ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकसा-
क्षिव्यत्वमुपपद्यते इति भावः ।

लाख्येन लिङ्गेनानुमिते धर्मिण्यात्मनि ज्ञानाभावानुमानोपपत्तेः । भवत्वेवं धर्मिसिद्धिस्तथापि न ज्ञानाभावानुमाने लिङ्गमस्ति, अस्यैवमाणत्वस्य नियमेनास्यमाणत्वस्य वा पथि गच्छतस्तृणादिस्पर्शादौ निर्विकल्पकानुभूते चानैकान्तिकत्वादिति चेन्न । ज्ञानसामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गाज्ज्ञानाभावानुमानोपपत्तेः । तदेव कुतः सिद्धमिति न वाच्यम् । तत्सिद्धेरुभयवासिसिद्धत्वात् । अन्यथा वेदान्तिनामपि सुपुत्रिकाले घटपटादिविशेषज्ञानाभावानुमानं न स्यात् । ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकसाक्षिवेद्यतानङ्गीकारात् । नचावस्थाभेदसंभिन्नभावरूपाज्ञानपरामर्शसामर्थ्यसिद्धतदनुभवादेव तद्विरोधिन्नो ज्ञानस्याभावानुमानम् । भावरूपाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च परं प्रत्यद्याप्यसिद्धत्वात् ।

यत्तु कैश्चिदनुमानं रचितम्—न तावदज्ञानं ज्ञानाभावः अभावमानागम्यत्वात्, संप्रतिपन्नवत् । अभावो ह्यभावस्य प्रत्यक्षस्य वा विषयः परेणेप्यते । अज्ञानं च न मानगम्यं माननिवर्त्यत्वात्संप्रतिपन्नवदिति । तदन्ये नानुमन्यन्ते । अज्ञानस्य मानागम्यत्वे तत्साधनायानुमानप्रयोगायोगात् । एतन्मानगम्यत्वे वा मानगम्यं न भवतीति स्ववचनव्याघातात् । नचात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधन इव न स्ववचनव्याघातादिदोषापत्तिः । तत्र वृत्तिव्याप्यत्वेपि फलाव्याप्यत्वेनाविरोधात् । इह च वृत्तिव्याप्यत्वानङ्गीकारात् । नच प्रमाणनिवर्त्यस्य प्रमाणागम्यत्वनियमः, प्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यस्य तद्धेतोस्संस्कारस्य

तस्य ज्ञानं, तथाह्यनिद्राणस्य संप्रतिपन्नोदयास्तमययोरन्तरालकालानुभवाच्चिद्राकालात्पूर्वोत्तरास्तमयोदयकालयोस्तत्कालत्वेन हेतुनान्तरालकालवत्त्वमनुमाय तस्याप्यात्मवत्त्वं कालत्वेनेतरकालवदनुमाय 'तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानमप्रत्यहूमित्यर्थः । उक्तं च तात्पर्यपरिशुद्धायुदयनाचार्यैरपवर्गप्रकरणे—'पूर्वापरावस्थयोरैकत्वप्रत्यभिज्ञानेन मध्यावस्थायामपि तत्सामान्येनोपनया'दिति । अभ्युपगम्य धर्मिसिद्धिं हेत्वसिद्धिं शङ्कते—भवत्त्वित्यादिना । अन्तरालकालीनात्मा दुःखादिज्ञानाभाववानस्यमाणतदानींतनदुःखादित्वादिति हेतुः । पथि गच्छतस्तृणादिस्पर्शादौ ध्वनन्तरमस्यमाणेष्वनैकान्तः । नियमेनेति विशेषणपि निर्विकल्पकानुभूतेनुदितस्यविकल्पकेऽनैकान्त इत्यर्थः । उभयवासिसिद्धत्वादिति । विशेषविज्ञानोपरमस्य लयाप्यङ्गीकारादित्यर्थः । अतश्चैवमङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथेति । ननु नास्माकं सामान्यभावात्तदनुमेयमपितु साक्षिसिद्धमिति तत्राह—ज्ञानाभावस्येति । तत्काले निर्विकल्पकवेद्यत्वेपि न तावतोत्तरकालं विशिष्टव्यवहार इत्यनुमानमेव शरणमित्यर्थः । तेन च न पूर्वोत्तरयोर्व्याघातः । ननु परामर्शेचलाद्भावरूपाज्ञानसिद्धौ तद्गुलात्सिद्धौ रोषिघटादिज्ञानाभावानुमानमस्यन्मते न सामान्यभावादिति वैपरम्यमिति तत्राह—नचावस्थेति । अवस्थाभेदः सुपुत्रिकारूपावस्थानिशेषत्वेन यद्विशेषितं भावरूपमज्ञानं तत्परामर्शसामर्थ्येन सिद्धो यत्तदवस्थाऽज्ञानानुभवो न किञ्चिदेतावन्तं कालमवेदिपमित्येवंविधस्तस्मादिति योजना ।

न्यायदीपावलीकृतमनुमानमुद्भावयति—यत्तु कैश्चिदिति । हेतुमेव समर्थयते—अभावो हीत्यादिना । अभावस्येति भाग्यमिप्रायेण, प्रत्यक्षस्येति तार्किकमिप्रायेण । संप्रतिपन्नवदिति । शुक्तिरूप्यसंसर्गवदित्यर्थः । मानागम्यत्वे तत्साधनायानुमानप्रयोगो व्याहृतोऽनुमानप्रयोगे च मानागम्यत्वं व्याहृतमिति द्वयपयति—तदन्य इत्यादिना । ननु यथात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधनेपि न वेद्यत्वप्रसक्तिसिद्धद्वयमापेनेवाप्रामाणिकत्वसाधनेपि न प्राणाधिकत्वप्रसक्तिरिति तत्राह—नचात्मन इति । प्रमाणनिवर्त्यत्वादिति हेतोर्नैकान्तिकतां व्याहृतं—नच प्रमाणेति । संस्कारस्य हि कार्यपरिणतित्वात् तत्कार्यप्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यत्वं, अप्यवसायं नास्तीत्यर्थः । अनुभववसायनिवर्त्यं च तद्गम्येन परसंगतेन व्यवसायेननैकान्तं द्रष्टव्यं, विवरणकारोपा-

नित्यपरोक्षतया साक्षिसिद्धत्वाभावेनानुमानगम्यत्वाङ्गीकारात् । नच त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यादिव्यवहारोत्पन्तमुपुत्ते ज्ञायमाने वाऽसंभाव्यमानोऽतिरिक्तमेव ज्ञानाभावाद्-ज्ञानं गमयति । अचगतेऽशेषवगतत्वादेव न जानामीतिव्यवहारयोगादनवगतेश्चान-वगतत्वादेव प्रभानुपपत्तेरिति युक्तम् । त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीत्येवंपरतयापि व्यवहारोपपत्तेः, प्रतिवादिवाक्यादवगतार्थस्यानुवादपुरःसरं प्रमाणासंभवेन सर्वैर्वादिभि-र्निराकरणाङ्गीकारात् । नापि 'नासदासीन्नो सदासी'दित्युपक्रम्य 'तम आमीत्', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्', 'इन्द्रो मायाभिरित्याद्यागमस्तत्र प्रमाणम् । तमःशब्देन सांसारिकपुरुषाणां प्रलयकालीनज्ञानाभावस्यैवोच्यमानत्वात्, मायाशब्देन च परमेश्वरज्ञानशक्तेरेव तत्स्व-रूपभूतायाः संकीर्तनात् । तदेवमनिर्वचनीयाज्ञाने लक्षणप्रमाणयोरसंभवात्तादृगज्ञानम-स्तीत्येतदेवाज्ञानमिति सिद्धम् ।

अत्रोच्यते । न तावद्वृक्षाणासंभवस्तथाहि—'अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते । तद-ज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते ॥' ९ । अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरस्यगज्ञान-मिति लक्षणमिह विवक्षितम् । न तावदिहाव्याप्तिः । सर्वेषामप्यज्ञानानामुक्तरूपत्रयानु-गमात् । नाप्यतिव्याप्तिः । अनादेर्भावस्यात्मनो निवर्त्यत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्याप्यभा-वात्, तदन्यस्य च परमाणोस्तद्गतश्यामत्वादेश्च स्वरूपतो नङ्गीकृतस्य दूरत एवानादित्वान-ङ्गीकारात् । नचासंभवित्वं, भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वो-पचारादात्मवदनादिभावत्वेनानिवर्त्यत्वानुमानानुपपत्तेः ।

र्यापत्तिमाशङ्क्य निषेधति—नचेत्यादिना युक्तमित्यन्तेन । ननु सामान्यांशं ज्ञातमनूय विशेषांशे-ऽज्ञाते प्रभ इति तत्राह—अचगतेऽश इति । ततश्च स एवाशं ज्ञातश्चाज्ञातश्च वक्तव्यः, नचैतज्ज्ञानाभावपक्षे घटते, ज्ञानेन विरोधात् । अस्मत्पक्षे तु नित्यचैतन्यस्याज्ञानसाधकत्वादविरोध इति भावः । न युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—त्वदुक्तमर्थमिति । नांशतो ज्ञानाज्ञानविषयत्वमर्थस्यापि तु तत्रैव प्रमाणज्ञानाभावतदितरज्ञानयोः सह वर्तनं ब्रूमः । नचैवं सति विरोधः नापि प्रभानुपपत्तिरिति भावः । न केवलमत्रैवेयं गतिरपि तु सर्वत्रैव दृश्यस्थल इत्याह—प्रतिवादीति । प्रमाणावगतस्य कथमनुवाद इत्याशङ्क्यां वायं ग्रन्थः । आगमं निषे-धति—नापीति । तदानां प्रलयकालेऽसत्त्वासीत्सदपि नासीदिति प्रतिषेधे किं तर्हि तम आसीदित्येका श्रुतिः, मायां त्वित्यपरा, इन्द्रो मायाभिरित्यप्यन्या । प्रलयकाले ये संसारिणा ज्ञानाभावात्तेऽत्र तमःशब्दा-भिधेयाः न तदमिमतमज्ञानमित्यर्थः । इतरश्रुत्योरन्यथासिद्धिमाह—मायाशब्देन चेति । प्रकृतिं स्वभावभूतामित्यर्थः । उपसंहरति—तदेवमिति । एतदेवाज्ञानं मौल्यमित्यर्थः ।

लक्षणं श्लोकेन संगृह्णाति—अनादीति । पूर्वज्ञानादेः प्रागभावस्यात्मनश्च यथायथं विशेषणैर्व्यापृतिः । संगृहीतं लक्षणं विट्प्रणोति—अनादित्वे सतीत्यादिना । ननु चिरंतनमतानुसारेण पार्थिवपरमाणु-विशेषणुण्यतिव्याप्तिरुक्तेति तत्राह—तदन्यस्य चेति । एतच्च द्वितीयपरिच्छेदे विवक्षितम् । यच्चानादित्वे सति भावरूपं तदनिवर्त्यं यथात्मैखानुमानविरोधादसंभवीदं लक्षणमिति तदुपपत्ति—नचासंभवित्वमिति । अयं भागः । किमिदं भावत्वं हेतुत्वं, किं वस्तुत्वं, उताभावविलक्षणत्वम् । नायः । असिद्धेः । न द्वितीयः । वस्तुत्वसंबोधाधित्वादिति ।

१ यथाक्रमं ज्ञानसामान्याभावतद्विशेषाभावादन्यतररूपादिति भावः । २ मीयते वस्तु यथेतिव्युत्पत्त्या परमेश्वरस्य ज्ञानरूपा शक्तिरेवमायेति भावः । ३ प्रतिवादिवाच्यवगतत्वेन च परिहारः ।

नचैवंविधे मानासंभवः । यतः—‘देवदत्तप्रमा तत्त्वप्रमाभावातिरेकिणः । अनादेर्ध्वसिनी
मात्वाद्विगीतप्रमा यथा ॥१०॥ विगीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठप्रमाऽभावाति-
रिक्तानादेर्निवर्तकं प्रमाणत्वाद्यद्देवदत्तादिगतप्रमाणज्ञानवदित्यनुमानम् । ये तु प्रमा प्रमाप्राग्-
भावनिवृत्तिरेव न तु निवर्तिकेति मन्यन्ते तान्प्रति, देवदत्तप्रमा तन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्ताना-
दिनिवृत्तिरिति प्रयोक्तव्यम् । नचैतदसमवेतत्वमेतदन्यसमवेतत्वं वा तत्रोपाधिः । साध्या-
व्याप्तेः । एतत्समवेतसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानामेतन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादेः स्वप्रागभा-
वस्य निवर्तकत्वेन साध्ये विद्यमानेपि त्वदुक्तोपाधेरभावात् । नच विवादपदमनादेर्भावस्य
निवर्तकं न भवति पदार्थत्वात्संप्रतिपन्नवदिति प्रत्यनुमानविरोधः । सत्ताद्रव्यत्वाद्यनिवर्तक-
त्वेन सिद्धसाधनत्वात् । ननु संप्रतिपन्नात्मादिपदार्थातिरिक्तस्य भावस्याभावातिरिक्तस्य चाना-
देर्न निवर्तकमिति विशेषणादिदमदूषणमिति चेन्न । तस्य तवाप्रसिद्धतयाऽप्रसिद्धविशेषणत्वा-
पत्तेः । किंच ‘न किंचिद्वेदिप’मिति परामर्शसिद्धसौपुतिकानुभवोप्यत्र प्रमाणम् । नच ज्ञाना-

प्रमाणाक्षेपं परिहरति—न चैवंविध इति । श्लोकेनानुमानं संगृह्णाति—देवदत्तेत्यादिना ।
देवदत्तप्रमेति धर्मिनिर्देशः तत्स्थेत्यादिः साध्यनिर्देशः मात्वादिति हेतुनिर्देशः । अविगीता अविप्रतिपन्ना ।
यद्देवदत्तप्रमेति दृष्टान्तः । संप्रहं विवृणोति—विगीतमित्यादिना । इत्यमत्र प्रयोगः—देवदत्तप्र-
माणज्ञानमेतन्निष्ठप्रमाणाभावत्वानधिकरणानादिनिवर्तकं प्रमाणत्वात् यद्देवदत्तप्रमाणवदिति । अत्र चामा-
वत्वानधिकरणेऽप्येवात्मम् । अनादिनिवर्तकमित्युक्ते प्रागभावमादायार्थान्तरता तदर्थं प्रमाणाभावत्वानधिकरणेऽयु-
क्तम् । तावति चाप्रसिद्धविशेषणता प्रमाणाभावत्वानधिकरणस्यानादेर्ज्ञाननिवर्त्यस्य तेनानङ्गीकारादात्मन्य-
तन्निवर्त्यत्वानङ्गीकारात् तदर्थं देवदत्तनिष्ठेऽयुक्तम् । यद्देवदत्तनिष्ठप्रमाणे हि देवदत्तनिष्ठत्वे सति प्रमा-
णाभावत्वानधिकरणानादेस्तप्रागभावस्य निवर्तके सुप्रसिद्धमेव साध्यमिति नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये ।
पूर्वज्ञानसुखादिव्यवच्छेदायानादिग्रहणम् । पक्षे चैतन्निष्ठप्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणत्वमेतन्निवर्त्यस्यानादे-
रेतन्निष्ठत्वानधिकरणत्वेन न संभवति । अन्यनिष्ठप्रागभावं प्रत्यन्यनिष्ठस्यानिवर्तकत्वात् । तस्मादेत-
न्निष्ठत्वे सति यत्प्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणं अनादि ज्ञाननिवर्त्यं च, तदस्मिन्नाज्ञानमेवेति तत्सिद्धिः ।
नन्वभावनिवृत्तिरेव भावः, नहि भावव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिर्नाम संभवतीति केपाधिन्मतम् । तथा च
यद्देवदत्तप्रमाणस्य स्वप्रागभावनिवृत्तित्वात्, निवर्तकत्वलक्षणसाध्याभावात्साध्यविकलो दृष्टान्त इति तत्राह—
ये त्विति । व्याप्यत्वागिद्धिं परिहरति—नचैतदिति । सत्प्रतिपक्षमाशङ्क्य परिहरति—नच विवादपद-
मिति । संप्रतिपन्नवदिति । घटवदित्यर्थः । अत्र किंमनादिभावस्य यस्य कस्यचिदनिवर्तकत्वं साध्यते,
किं बोधयसंप्रतिपन्नानादिभावव्यतिरिक्तस्यानादेर्भावस्याभावविलक्षणस्य । अद्यं प्रत्याह—सत्तेति ।
द्वितीयं शङ्कते—नन्विति । नच विगीता प्रमा प्रमाऽभावातिरिक्तैतन्निष्ठानादिनिवर्तकत्वानधिकरणं प्रमात्वात्
यद्देवदत्तप्रमावत् इति प्रसाधनादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावाद्भवति प्रतिप्रयोग इति वाच्यम् । देवदत्तनिष्ठं
प्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठानाद्यभावात्निवर्तकत्वात्सन्ताभावानधिकरणं प्रमाणज्ञानत्वात् यद्देवदत्तप्रमाणज्ञानव-
दित्याभाससमानयोगक्षेमात्त्वात् । नच देवदत्तप्रमा देवदत्तनिष्ठत्वे सति देवदत्तप्रमाभावातिरिक्तानादिनि-
वर्तकत्वानधिकरणं प्रमात्वात् यद्देवदत्तप्रमावदिति सत्प्रतिपक्षता । एतन्निष्ठनिवर्तकत्वानधिकरणत्वस्यो-
पाधेः, एतत्सुखादौ च व्यतिरेकसिद्धिः । अभावविलक्षणाज्ञाने प्रत्यक्षमपि प्रमाणमाह—किं चेति ।

१ भावस्थेऽयस्य व्याख्यानभूतमेवाभावातिरिक्तमेति । २ ताद्रव्यत्वादिः सुखप्रागभावादिः तन्निवर्तकत्वानधि-
करणत्वं यद्देवदत्तप्रमायामिति साध्यप्रसिद्धिः । ३ यथा वेदान्तिनं प्रति पूर्वेण सत्प्रतिपन्नानुमानेन देवदत्तप्रमायां
देवदत्तनिष्ठज्ञाननिवर्तकत्वानधिकरणत्वं साध्यते तथा नैयायिकं प्रत्यपि अनेनानुमानेन तस्यां तत्प्रागभावनिवर्तक-
त्वानधिकरणत्वं सिद्धेयम् । अस्य यदि प्रत्यक्षविरोधेन बाधितत्वं तदा पूर्वस्यापि अज्ञानसापकानुमानविरोधेन तत्त्वं स-
मानमिति भावः । ४ मूलोक्तज्ञानसापकानुमानेन एव सत्प्रतिपन्नान्तरमाशङ्कते । ५ सत्यनन्दमना देर्निशेषणम् ।
६ उपाध्यभावसाध्याभावयोर्व्यतिरेकव्याप्तिरितिः ।

भावविषयोयमनुभवः । अभावप्रतीतेर्धर्मप्रतियोगिवोधपराधीनतया तदभावे तस्यानुभवितु-
मयोग्यत्वात् । नच भेदसादृश्यादिवत्स्वरूपेणाभावस्यापि निर्विकल्पकबुद्धिवोध्यता । तथात्वे
सादृश्यादिवदेव भावत्वापत्तेः, निर्विकल्पकबुद्धिवोध्यो भाव इति परैर्लक्षणाङ्गीकारात् ।
नायं सुपुत्रिकालीनानुभवजपरामर्शः, किंतूत्थितस्येदानीमेव सौपुत्रिकज्ञानाभावानुमानमि-
ति च न वाच्यम् । तदनुमापकलिङ्गासिद्धेः । नच सामर्थ्यभावो लिङ्गम् । तस्याप्यसिद्धेः ।
नच ज्ञानाभावेन तस्यानुमानम् । अन्योन्याश्रयतापत्तेः, सामर्थ्यभावाज्ज्ञानाभावानुमानं
तदभावाच्च सामर्थ्यभावानुमानमिति । नचैवं सति वेदान्तिनामपि ज्ञानाभावानुमानासं-
भवः । अवस्थाभेदसंमिन्नभावरूपाज्ञानसंवेदनादेव सुपुष्टयवस्थायां तद्विरुद्धस्य ज्ञानस्य
तत्सामर्थ्याच्चाभावानुमानात्, त्वयापि गत्यन्तराभावदेवमेव ज्ञानाभावानुमानस्यावस्था-
भ्युपेयत्वात् । नचैवंविधमज्ञानमयाप्यसिद्धमिति वाच्यम् । तत्रमाणस्य दर्शितत्वात् ।

त्वदुक्तमर्थं न जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्तिरपि भावरूपाज्ञानसद्भावे मानम् । नच
प्रमाणतो न जानामीत्येवंपरतयापि व्यवहारोपपत्तिः । त्वदुक्तेर्थं प्रमाणज्ञानं मम नास्तीत्यस्य
विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमात्वात्, तद्विशेषणतयार्थस्यापि प्रमाणेनाधिगतत्वात्, स्वचचनव्याघा-
तापत्तेः । एतदतिरिक्तप्रमाणज्ञानं त्वदुक्तेर्थं मम नास्तीति वदतो वचनव्याघातदोषानुपपन्न
एवास्यापि ज्ञानस्य पूर्ववदेव प्रमाणजन्यत्वात् । नच सामान्यतः प्रमाणेत्यर्थस्याधिग-
मेपि विशेषानधिगमाद्दोषः । विशेषस्याप्यधिगमानधिगमयोः पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः ।
ननु भावरूपमप्यज्ञानं ज्ञाननिरस्यमभ्युपगम्यते भवद्विस्तत्कथं ज्ञायमानेत्थं न जानामीति

उत्थितस्य न किञ्चिद्वेदिपमिति परामर्शादुन्नीतो य सौपुत्रिकानुभवः सोपि प्रमाणमित्यर्थः । ननु किमिति
निर्विकल्पकानुभवायोग्यत्वं यावता भेदसादृश्यादिवत्संभव उक्ततत्राह—न च भेदसादृश्येति । ननु
किमिति भावत्वापत्ति, नहि निर्विकल्पकबुद्धिवोध्यत्वसाम्यात्सादृश्यभेदयोरेक्यमिति तत्राह—निर्विकल्प-
केति । यत्तु तेनोक्तमस्यत्वे तु नायं परामर्श इत्यादि तदनूय दूषयति—नायमित्यादिना । ननु किमिति
सामग्रीवैक्यलक्षणलिङ्गासिद्धिः यावता ज्ञानाभावेनैव शक्यानुमानं तद्वैकल्पमिति तत्राह—नच ज्ञानाभा-
वेनेति । यच्च तेनोक्तमन्यथा भवतामपि घटदटादिज्ञानाभावानुमानं न स्यादिति तदनूय परिहरति—नचैवं
सतीति । मम तु भावरूपाज्ञानबलादुभयाभाव शक्यानुमान इत्यर्थः । तवापीयमेव गतिर्नान्येत्याह—
श्वयापीति । यत्त्वेवंविधाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च मा प्रत्यसिद्धिरिति तत्राह—नचैवंविधमिति ।
परामर्शस्यानुपलक्षणमिदं तस्यापि समर्थनात् ।

अर्थापत्तिमपि प्रमाणयति—त्वदुक्तमर्थमित्यादिना । पूर्वपक्ष्याशयमनूय निषेधति—नचेत्यादिना ।
त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीति यदिदं ज्ञानं तत्तावत्प्रमाणमेव । यथार्थानुभवत्वात् । तथा चैत-
ज्ज्ञानविषयान्तर्गततयैतद्विषयभूतस्यार्थस्यापि प्रमाणतो ज्ञातत्वात्तन्निषेधवचनविरोध इत्याह—त्वदुक्तेर्थं
इति । ननु प्रमाणतो न जानामीत्यसामर्थं—एतदज्ञातत्वप्रादिप्रमाणव्यतिरिक्तं प्रमाणज्ञानं नास्तीति ।
तत्राह—एतदतिरिक्तेति । अत्राप्येवविधज्ञानस्य पूर्वनिर्दिष्टादतिरिक्तप्रमाणत्वादेव तदविषयत्ववचनं
व्याहृतमित्यर्थः । ननु सामान्यतः प्रमितस्य विशेषतोऽधिगमोद्भवतान्न व्याहृतिरिति तत्राह—नच
सामान्यत इति । पूर्वोक्तेति । पूर्वपक्षसमयोक्त्यर्थः । ननु त्वन्मतेपि कथं ज्ञायमानेऽर्थं न
जानामीति व्यवहारः यावता ज्ञानाभाववदज्ञानमपि ज्ञाननिवर्त्तमेवेति चोदयति—नन्विति । न तत्रा-
ज्ञाननिवर्त्तकं प्रमाणज्ञानं तद्विधेकमपि तु साक्षिचैतन्म १ । नच तदज्ञाननिवर्त्तकं तत्साधकत्वादिति

१ त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीतिशानादित्यर्थः । २ भवगतैःशेऽवगतत्वादेव न जानामीतिव्यवहारा-
योगादित्यादिरूपेत्यर्थः ।

व्यवहारः । मैवम् । अस्मन्मतेऽज्ञानस्य साक्षिसिद्धतया प्रमाणाबोधत्वात्, प्रमाणज्ञानो-
दयात्प्राक्कालेऽज्ञानं तद्विशेषितोऽर्थः साक्षिसिद्धोऽज्ञात इत्यनुवादगोचरो भवति, भवति
च प्रभार्ह इत्यविरोधात् । उक्तं च संप्रदायविद्भिः “सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा
साक्षिचैतन्यस्य विषय एवेति । ✓

किंच 'तम आसीत्, मायां तु प्रकृतिं विद्या'दित्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम् ।
नच तमःशब्देन ज्ञानाभावः कथ्यते । नासदासीदित्यभावं व्यावर्त्य तम आसीदिति
प्रतिपादनात् । नच परमेश्वरज्ञानशक्तिर्माया । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः, मायामेतां
तरन्ति ते, तरत्यविद्यां विततां योगीं माया'मित्यादिना ज्ञाननिवर्त्ये मायाशब्दप्रयोगदर्श-
नात् । तदेवं लक्षणप्रमाणयोरुपपन्नत्वादानादिभावरूपाज्ञानमस्तीति सिद्धम् । किंच भ्रमो-
पादानमज्ञानमिति लक्षणेपि न दोषः । नचात्मन्यतिव्याप्तिः । तस्य केवलस्य कूटस्थस्य
कस्याप्यनुपादानत्वात् । सत्योपादानत्वे च विभ्रमस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात् । नच विभ्रमोपि
स्वरूपतः सत्यः, तथात्वे प्रमाणज्ञानवदेव विषयापहारलक्षणबाधस्याप्यसंभवप्रसङ्गात् । नचै-
तावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादित्यनुभवविरोधः । अनिर्वचनीयस्यापि विभ्रमस्याभाववि-
लक्षणतया तथात्वेनानुसन्धानोपपत्तेः । नच स्वरूपसत एवासीदिति प्रतिसन्धानम् ।
एतावन्तं कालमिहादर्शं मुखमासीत्फटिकश्च लोहित आसीदित्याद्यनुसन्धानदर्शनात् ।
प्रयोगश्च, विगीतो विभ्रमः एतज्ज्ञानकारणावाध्यातिरिक्तोपादानः विभ्रमत्वात् देवदत्ता-

परिहरति—मैवमिति । प्रमाणाबोधत्वादिति । अनाव्यवृत्तेरेवानुमानादिप्रमाणैर्बोध्यमानत्वादिति
भावः । यत एव पूर्वं प्रमाणज्ञानं नोत्पन्नं साक्षिणैवाज्ञानविशिष्टतयैवार्थो निर्जात इत्यत एवानुवादप्रथो
घटेते इत्याह—प्रमाणज्ञानोदयादिति ।

आगममपि प्रमाणयति—किंच तम आसीदित्यादिना । यत्तु जीवानां तात्कालिकज्ञानभावस्त्वम-
शब्दामिधेय इति तत्र । नासदासीदित्यभावस्यापि प्रतिषेधादित्याह—नच तम इति । नच प्रागभा-
वप्रध्वंसवर्गस्यानाद्यनन्तस्य सद्भावादशक्यनिषेधेति वाच्यम् । तयोरप्युत्पत्तिविनाशवत्तायाः साधयिष्यमा-
णत्वात् । मायाशब्दस्यान्यथासिद्धिसुक्ता निराच्ये—नच परमेश्वरेति । ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य ज्ञान-
निवर्त्यत्वानङ्गीकारादिति भावः । उपसंहरति—तदेवमिति । प्रथममपि मतं शक्यमपमर्षनमित्याह—
भ्रमोपादानमिति । नचात्मनीति । कूटस्थस्य तस्य वियदादिविकाराभावादविद्यावेशवदादिकारे
प्राप्ताप्राप्तविवेकेन तस्या एव विकारः । नचैवं साक्ष्यसिद्धान्तघटतेरिह गन्धिता, परमेश्वराप्यस्त्वानिर्वचनी-
याविद्यापरिणामस्य विवर्तापरनाप्रः स्वीकारादीदृशमेव हेतुत्वमभिप्रेत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः
संभूत' इत्यादिदृष्टियुक्ततया 'जन्माद्यस्य यतः, प्रवृत्तिधे'लायधिकरणान्यपि । अत एव धानुस-
नीश्यायां प्रप्लवित्प्रकाण्डैर्भर्वृहरिभिरगिहितं 'गुह्यतत्त्वं प्रपयस्य न हेतुरनिर्दिष्टितः । ज्ञानज्ञेयारिरूपस्य
भायेव जननी तत' इति । परिणामित्वायं चाभ्रोपादानत्वमभिप्रेतं, यत्तु विभ्रमस्यापि स्वरूपेण सत्यत्वाभे-
दमनियमिति तत्राह—नच विभ्रमोपीति । यदि हि पदादिज्ञानवत्स्वरूपेण सत्यो विभ्रमः स्यात्तत्र सद्-
देव यथापि स्पादित्यर्थः । अत एवाहुराचार्याः—'सदसज्जामनिर्वाच्याविद्या चैधः सह भ्रम' इति । प्रसभि-
ज्ञाविरोधमुक्तं परिहरति—नचैतावन्तमिति । ननु सादृशलक्षणस्यासतः कथमासीदिति प्रतिषंभानविषय-
मिति तत्राह—नच स्वरूपसत एवेति । भ्रमोपादानाज्ञानं प्रमाणमाह—विगीत इति । आगम्यतिरि-
क्यत्वेन तत्रानुपपत्तिरुपपत्तेः । अवाप्यत्वानधिकरणोपादान इत्युपेऽप्रतिषिद्धिरेवता उपेयोपादान-

दिविभ्रमवत् । दर्शित एव च सत्योपादानत्वे सत्यत्वप्रसङ्गो विपक्षे बाधकस्पर्कः । तस्माद्यदुपादानो विभ्रमस्तदज्ञानमिति सिद्धम् ।

ननु तथाप्यसंभवि लक्षणं, सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेन विभ्रमाणामेवाभावात्, विगीताः प्रत्यया यथार्थाः प्रत्ययत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यनुमानात्, अन्यथान्याकारस्य प्रत्ययस्थान्यालम्बनतायामनुभवविरोधात्, संविदां स्वविषयव्यभिचारे चानाश्वासप्रसङ्गात्, असतोपि संसर्गादेवभासमानतायामसत्त्व्यातेरपि दत्तावसरतया सौगतमतानु-
प्रवेशप्रसङ्गात्, असतश्च संसर्गादेः स्फुरणकारणानिरूपणात्, चक्षुरादेश्च संप्रयुक्त-
मात्राप्रहित्वात्, देशान्तरनिवेशिनः स्वरूपासतश्च संप्रयोगायोग्यत्वात्, दोषाणां च
स्वारसिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिरोधमात्रहेतुत्वात् मूपिकाप्रातशालिषीजादौ तथादृष्टत्वात्,
दावदहनदग्धवेत्रवीजात्कदलीकाण्डजन्मनो दग्धस्यावेत्रवीजत्वेन दोषाणां विपरीतका-

कारणस्य द्रव्यस्य परैरवाभ्यवाङ्गीकारात् तदर्थमेतज्ज्ञानकारणेत्युक्तम् । एतज्ज्ञानकारणत्वानधिकरणोपादान इत्युक्ते व्याहृतिस्तदर्थमवाध्यत्वानधिकरणेत्युक्तम् । ततश्चावाध्यत्वानधिकरणवाध्याज्ञानोपादानकत्वसिद्धिर्वि-
भ्रमस्य । दृष्टान्ते त्वेतज्ज्ञानकारणातिरेकमादौय साध्यप्रसिद्धिः । अन्तिसमसमर्थनमुपसंहरति—तस्मा-
दिति । 'इत्यभ्यस्तानुमानार्थापत्तिशब्दैः प्रसाधिता । अविभक्ते परेऽविद्या भावाभावविभागदा ॥ एषा साक्षा-
त्साक्षिचैतन्यवेद्याऽविद्यानादिः स्वीकृता स्वे कृतान्ते । वादिभ्रान्त्यापादिताभावभावादेभिर्मानैः केवलं मेदितात्र ॥
शास्त्रैकगम्येपि यथा ह्यपूर्वंपरप्रमाणाभिरणायि भेदः । यथाच रजूरगयोर्विभागं परे प्रमिष्वन्ति परानुबन्धात् ॥'

विभ्रमोपादानमज्ञानमित्युक्तं तत्र विभ्रमाणामेवाभावादुपादानत्वमसंभवीत्यख्यातिवादिनः प्रववतिष्ठन्ते—
ननु तथाप्यसंभवीति । किमेदं विभ्रमत्वेन विवक्षितं किं यथार्थज्ञानविशेषः यथास्माकं, उतायथार्थ-
ज्ञानम् । नायः । तदुपादानस्यात्मनोन्तःकरणस्य वा अविद्यात्वाभावात् । न द्वितीय इत्याह—सर्वप्रत्यया-
नामिति । विभ्रमाणामेवाभावादिति । ज्ञानानामयथार्थत्वाभावादित्यर्थः । ननु कुतः सर्वप्रत्ययानां
यथार्थत्वसिद्धिरित्यनुमानादित्याह—विगीता इति । अंशतः सिद्धसाधनतानिदृश्यै विगीतग्रहणम् । अय-
थार्थव्यवहारहेतुभूतज्ञानानां पक्षीकरणञ्च नाश्रयासिद्धिः । विपक्षे बाधकमाह—अन्यथेति । भासमानत-
या हि विषयत्वं ननु सत्तया, नापि कारणतयाऽतिप्रसङ्गात् । नच रजतज्ञाने शुक्तिका चकास्ति । तथाचा-
चेत्यमानशुक्तिशालम्बनत्वकल्पनायां विरुध्यत्येव रजतानुभव इति भावः । तथाच नयवीथ्यां—'अत्र ब्रूमो य
एवार्थ' इत्यादिना विषयलक्षणमुक्तत्वे कं तेन—'अन्यस्य चान्यथाभावं प्रतीत्यैव पराहृतम् । परस्मिन्भासमानेपि न
परं भासते यत' इति । बाधकान्तरमाह—संविदांमिति । तदप्युक्तं—'यदि स्वार्थं परित्यज्य काचिद्बुद्धिः प्रव-
र्तते । व्यभिचारवती स्वार्थं कथं विश्वासकारण'मिति । अपसिद्धान्तापत्तिरपि बाधकेत्याह—असतोपीति ।
यदिच बहिरसदिदं प्रतीयेत साकारतापि विज्ञानस्य स्यात् । तदप्युक्तं 'अयथार्थत्वपक्षे च ज्ञानं साकारमापते'-
दिति । तदेवं संविद्विरोधानाश्चासासत्त्व्यातिप्रसङ्गान्वाधकानुक्त्वा कारणानिरूपणं दर्शयन्नकारणकार्यप्र-
सङ्गमपि बाधकं ब्रूयति—असतश्चेति । तदप्युक्तं 'अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पादावस्ति कारण'मिति । नन्व-
न्यव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरवसीयते कारणमिति तत्राह—चक्षुरादेरिति । अस्तु तर्हारोप्येणापि संप्रयोग इति
तत्राह—देशान्तरेति । देशान्तरनिवेशिनो रजतादेः स्वरूपेणासतश्च नष्टपुत्रादेरिति योजना । ननु दोष-
दुपिताक्षदेरसि मिथ्याप्रत्ययजननसामर्थ्यमिति तत्राह—दोषाणां चेति । स्वाभाविकशक्तिप्रतिबन्धमात्रं
दोषकृत्यं नत्वतिशयाधानमित्यर्थः । ननु दावदाहोपहतवेत्रवीजानां हरिप्रजलावसिक्किहरिद्राज्ञारपरिदुष्टहारी-
तमांसस्य च दशरात्रे कांस्यपात्रोपितस्य सर्पिषथ हृष्टं विपरीतं रम्भाकाण्डारम्भकत्वं मरणकारणत्वं चेति तत्राह
—दावदहनेति । दोषाणां विपरीतकार्यकारणतां प्रति दावदहनदग्धवेत्रवीजात्कदलीकाण्डजन्मनोऽनुदा-

१ असत्संसर्गादिविषयकं यत्स्फुरणमिदं रजतमिति त्वदभिमतं तत्कारणानिरूपणादित्यर्थः । २ एतज्ज्ञानकारणी-
भूतोऽनाद्यो य आत्मा तदतिरिक्तो देवदत्तात्मा तदुपादानकत्वाद् देवदत्तविभ्रमस्य साध्यप्रसिद्धिः ।

र्यकारणतां प्रत्यनुदाहरणत्वात्, सर्वत्र च प्रतीयमानयोः संसर्गिणोः संसर्गव्यवहारस्यासंसर्गाग्रहनिबन्धनत्वात्, संसर्गज्ञानस्यापि हेतुत्वकल्पनायां गौरवात्, असंसर्गाग्रहप्रसञ्जितसंसर्गव्यवहारमात्रबाधनादेव बाधकस्य बाधकतोपपत्तेः, इदमिति प्रत्ययस्य च दोषदूषितचक्षुर्जन्यतयानाकलितविशेषस्य सामान्यमात्रग्रहणरूपत्वात्, रजतमिति चासंनिहितविशेषविषयस्य संप्रयोगलिङ्गाद्यजन्यतया संस्कारमात्रकारणत्वेन स्मरणत्वात्, तस्य च दोषहेतुकत्वेन तत्तांशागोचरतया स्वविषयाविवेचकत्वात्, तयोश्चान्योन्यसंसर्गसाक्षात्सामान्यविशेषालम्बनयोः स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतासंसर्गयोर्निरन्तरोत्पन्नयोः स्वरूपेण यथार्थयोरप्यथार्थव्यवहारप्रवर्तकयोर्विभ्रमत्वप्रसिद्धेरप्युपपत्तेः । तदेवं प्रत्ययानां यथार्थत्वेन स्वरूपतो विभ्रमत्वाभावात् विभ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणमलक्षणमे-

हरणत्वात्, कुतः, दग्धस्यावेत्रवीजत्वेनेति योजना । उक्तं हि 'भस्मकादिषु कार्यस्य विधातादेव दोषते'ति । ननु संसृष्टव्यवहारदर्शनासंसर्गज्ञानपूर्वकत्वमितरत्रेवानुमीयत इत्यत आह—सर्वत्रेति । सुषुप्त्यादौ सर्वत्र संसृष्टव्यवहारप्रसङ्गिचारणाय प्रतीयमानयोरित्युक्तम् । नन्विदं विपर्ययस्थलमात्रलोभेन सकलसमीचीनव्यवहारवर्तिसंसर्गज्ञानजातहेतुपरिहरणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहुं हातुमिच्छन्निवारणमूढः प्रतिभासि मे त्व'मिति न्यायमनुसरतीत्यत आह—संसर्गज्ञानस्यापीति । नन्वयथार्थज्ञानानङ्गीकारे नेदं रजतमिति बाधकयोधेन किं वेद्व्यमिति तत्राह—असंसर्गाग्रहेति । ननु सर्वमेतदिदं रजतमिति असंसर्गाग्रहप्रत्ययविरुद्धमित्याशङ्क्य नेदमेकं ज्ञानमपितु ग्रहणस्मरणतामकमगृहीतविवेकं ज्ञानद्वयमित्याह—इदमिति प्रत्ययस्य चेत्यादिना । इदमिति प्रत्ययस्य ग्रहणरूपत्वादित्युत्तरान्वयः । अस्य च ज्ञानस्य स्वप्रकाशात्पि स्वस्य स्वविषयस्य चेतरेस्मादविवेचकत्वस्य वक्ष्यमाणस्यानाकलितविशेषत्वस्य च सिद्ध्यर्थं दोषदूषितेत्युक्तम् । भवत्वेवमेतद्रजतमित्यत्र का घातेति, परिशेषात्स्मृतिरित्याह—रजतमिति । असंनिहितत्वेनासंप्रयोगादप्रत्यक्षत्वम्, अगृहीतव्याप्तिकत्वादानुमेयत्वमस्यार्थमभि । अननुभूतरजतस्य च प्रत्ययो नोत्पद्यते, तस्मात्सदृशदर्शनसमुद्भूदसंस्कारस्य सजायमानैवा स्मृतिरेवेति भावः । तदुक्तं 'परिशेषात्स्मृतिरेपेति निश्चयो जायतेन्तत' इति । ननु स्मृतेर्गृहीतग्रहणस्यभावायासाद्विपरीतात् ग्रहणाद्ग्रहमाणान्च गवयादिस्मृतिवत्स्वार्थस्य स्वस्य च किमिति न विवेचकत्वमिति तत्राह—तस्य चेति । दृष्टमन्योशित्वात् तदेतद्वाच्यमैश्वर्यं न गृह्णातीत्यविवेचकत्वमित्यर्थः । तथापि कथं स्वरूपतो विषयतश्च विभिन्नाभ्यामाभ्यां संसृष्टप्रवृत्तिरित्यत आह—तयोश्चेति । सामान्यविशेषेति । इदमिति सामान्यमात्रं, रजताकारो विशेषः । नन्विदंज्ञानमिदमि प्रवर्तयतु रजतज्ञानं च रजते, किमिति रजताभिः पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिस्तत्राह—स्वरूपतो विषयतश्चेति । स्यादेतत् किमिदमेकं व्यवहारहेतुः, उत मिलितम् । नाय । पृथग्प्रदेशो प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । साधकज्ञानयोर्मेलनायोमादित्यत आह—निरन्तरोत्पन्नयोरिति । यद्यपि मेलनं न संभवति तथापि नैरन्तर्येणोत्पत्तिरेव तथापि प्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । विनश्यदविनश्यतोः सहावस्थानं वा नैरन्तर्येण विवक्षितम् । ननु यथार्थज्ञानानामपि विभ्रमत्वे सर्वेषामेष किमिति न विभ्रमत्वसिद्धिरिति तदनुपपत्तिरेव विपर्यये प्रमाणमित्यत आह—स्वरूपेणेति । तदुक्तं नयवीर्या—'संनिहितरजतशकटे रजतमतिर्भवति यादपी सत्ता । मेदानम्बवधायान्दियमपि तादृक्परिस्फुरति ॥ साधारणं हि रूपं तस्याथासाध चिद्यते तेन । तन्मात्रप्रतिभानासमानतामेव मन्यन्ते ॥ तत्तुल्यव्यवहारप्रवृत्तिरपि युज्यते चातः । तद्विनियारणकारणबाधकभावोर्वा बाधकस्यापी'ति । श्रुतवादेसंगतिगर्भं पूर्वापक्षमुपसंहरति—प्रत्ययानामित्यादिना । एतेन पीतः सङ्घ इत्यादिप्रत्ययानां

१ पूर्वाकार्यस्य प्रतिरोधादेव भस्मकादिषु दोषत्वम्बवदाह इति योजना । २ बाधितत्वमिति पाठो सुषो भाषि ।

१ मयदात्पशुधिनियारणकारणत्वात् बाधकत्वात्पुनश्चानभेदि भावः । २ सुषुप्तिरुत्पन्नः ।

वेति । अत्रोच्यते । नैतत्सारं यतः 'स्वीकारे विभ्रमाणां स्यात्स्वीयसिद्धान्तवाधना । अन-
भ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥' ११ । विगीतविभ्रमाभ्युपगमे सिद्धान्तविरोधात् अन-
भ्युपगमे हेतोरश्रयासिद्धेरनुमानानुदयात् । अयथार्थव्यवहारहेतोर्ज्ञानस्य पक्षीकरणाददोष
इति चेन्न । यथार्थस्वापीश्वरज्ञानस्य सर्वव्यवहारहेतोरयथार्थव्यवहारं प्रत्यपि हेतुतया
तत्र तार्किकाणां सिद्धसाधनत्वात् । इदं रजतमित्यत्रापीदमंशविषयस्य वृत्तिज्ञानस्यायथा-
र्थव्यवहारहेतोरप्यधिष्ठानविषयस्य वेदान्तिभिर्यथार्थत्वाङ्गीकारात् । ज्ञानत्वं यथार्थमा-
त्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वात्प्रमात्ववदिति विवक्षितमिति चेन्मैवम् । मात्रशब्देनायथार्थवृ-
त्तिव्यावृत्तिविवक्षायामयथार्थव्यवहारे ज्ञानत्वस्य वृत्त्यभावेन सिद्धसाधनत्वात् । अयथार्थ-
वृत्तित्वात्प्रमाभावाधिकरणत्वं विवक्षितमिति चेन्न । दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वस्य
तत्रोपाधेः, यथार्थशब्देन च सदर्थविवक्षायां नायं सर्प इत्यादिबाधविरोधात्, तुच्छव्या-
वृत्तार्थविवक्षायां चास्मान्प्रति सिद्धसाधनत्वात् । किंचायथार्थप्रत्ययोस्तीत्यस्य प्रत्ययस्य
यथार्थत्वे तस्य सालम्बनत्वाय कश्चिदप्ययथार्थप्रत्ययोऽभ्युपेयः, तथा सति तत्रैव हेतोरनै-
कान्तिकता । अयथार्थत्वे तस्य प्रत्ययस्य कण्ठोक्त एव व्यभिचारः । अयथार्थप्रत्ययोऽस्ती-
त्येतादृशः प्रत्ययो नास्ति किंतु व्यवहारमात्रं पदार्थानामसंसर्गाग्रहनिबन्धनमिति

अपि व्याख्याताः, तेषु ग्रहणोविवेकसमाश्रयणात् । स्वप्रसंशययोश्च स्मरणाविवेकत्वमिति । सिद्धान्तयति—नैत-
त्सारमित्यादिना । श्लोकं विवृणोति—विगीतेति । ननुभयसंमतायथार्थव्यवहारे हेतुज्ञानमात्रपक्षीक-
रणादुभयपरिहार इति गङ्गापुरीयं मतं शङ्कते—अयथार्थेति । अयथार्थव्यवहारहेतोर्यथार्थत्वसाधने तार्कि-
काणां तावदीश्वरज्ञानमादायार्थान्तरमिति दूषयति—न । यथार्थस्यापीति । भवतु तान्प्रति त्वां प्रति तु
किमायातमिति तत्राह—इदं रजतमित्यत्रेति । अयमर्थः । इदं रजतमित्यत्रेदमित्यन्तःकरणपरिणामः
प्रत्यक्षः, रजतमिति तु रजतरूपसंस्कारानुरञ्जितेदमंशवच्छिन्नात्माविद्यापरिणामः । तयोरेकसाक्षिवेश्यत्वेनैकफ-
लत्वादेकज्ञानत्वमिति हि सिद्धान्तः । तत्तथेदमंशज्ञाने सिद्धसाधनमिति । अन्यथाख्यातिवादिनामपीदमंशज्ञाने
समानमेतत् । 'सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यध्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय' इति न्यायात् । धर्मिप्रयुक्तदूषणपरिहाराय रीत्यन्तर-
माह—ज्ञानत्वमिति । यथार्थवृत्तिलमात्रसाधने सिद्धसाधनता तदर्थं मात्रग्रहणम् । तथा ज्ञानवृत्तित्वादि-
त्युक्ते सत्तायामनैकान्तिकत्वं, अयथार्थव्यवहारेपि तस्याः वृत्तेस्त्विवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम् । अत्र मात्रशब्देन
किमयथार्थवृत्तित्वाभावमात्रं विवक्षितं, किं वाऽयथार्थवृत्तित्वानधिकरणत्वम् । प्रथमं प्रत्याह—मैवम् । मात्रश-
ब्देनेति । अयथार्थो हि व्यवहारस्तवापि संमतस्तत्र च ज्ञानत्वस्यावृत्तिरस्तीत्यर्थान्तरमित्यर्थः । ज्ञानत्वमनुभ-
वमात्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वादित्याभाससमानयोगक्षेमता च द्रष्टव्या । द्वितीयं शङ्कते—अयथार्थेति । अत्र
दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वमुपाधिः । नच साधनव्यापकता । दुष्टसामग्र्यप्रसूतग्रहणस्मरणयोरपि ज्ञानत्वस्य वृत्तेः ।
व्यवहारत्वसत्त्वादिना व्यतिरेकसिद्धिः । मात्रग्रहणं तु व्यर्थमेव विपर्ययस्मरणमुपाधित्वात् । किंचोभयोरप्यनु-
मानतोः साध्यगतयथार्थशब्दस्य कोर्थः किं सत्त्वसुतासत्त्वावृत्तत्वमिति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—यथार्थ-
शब्देनेत्यादिना । ननु भवतूत्तरपक्षे त्वां प्रति सिद्धसाधनत्वमन्यथाख्यातिवादिनं प्रति किं दूषणमिति
तदर्थं सर्वसाधारणं दूषणं वक्तुमुपक्रमते—किंचेत्यादिना । अयथार्थः प्रत्ययोऽस्तीति वाच्यजन्या तत्प्रयो-
गमूलभूता वा प्रतीतिरस्ति न वा । आद्ये यथार्थोऽयथार्थो वा, उभयथाप्येतत्प्रत्ययविषयेणैतत्प्रत्ययेन धानैका-
न्तिकत्वमुक्त्वा नास्तिपक्षं शङ्कते—अयथार्थेति । असंसर्गाग्रहमात्रात् संसृष्टव्यवहारो न युक्तः संसर्गा-

१ ग्रहणयोः स्वरूपतो विषयत्रयाविवेकस्य समाश्रयणादित्यर्थः । एवमग्रेऽपि स्मरणयोरविवेक इति बोध्यम् ।
२ मात्रप्रदानुपादाने इत्यर्थः । ३ उपाधिसमिति शेषः । ४ विषयमन्यासिप्रयोव्यस्यापि उपाधित्वव्यवहारस्य
गौणस्य आर्द्रेन्धनसंयोगादौ दृष्टत्वात् इत्यर्थः । तथाचोक्तम् । 'वादिनियमच्युतोऽपि कथकैरुपाधिद्वयाव्यः । पर्थ-
वसितं नियमवन् दूषकतावीजसामान्यात्' । उपाधी वादिभिरभिप्रेतो यो नियमः समन्यासिरूपसादृशितोऽपीत्यर्थः ।
दूषकतावीजसामान्यादित्यनेन तत्र गौण उपाधित्वव्यवहार इति दर्शितम् ।

चेन्मैवम् । सर्वत्र संसर्गव्यवहारस्य व्यवहियमाणपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकत्वनियमात् । अन्यथा मध्यमवृद्धव्यवहारेष्वसंसर्गप्रहादेव तदुपपत्तेर्व्युत्पत्सोः संसर्गज्ञानानुमानाभावाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गः । एवमनुमानाभास इव सदनुमानेष्वसंसर्गप्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेदः, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च । ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामसंसर्गप्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेः । यत्र दोषशङ्का नास्ति तत्र संसर्गज्ञानानुमानादुपपद्यत एव शब्दप्रामाण्यं, अन्यथान्यथाख्यातिवादिनोपि विपर्ययाशङ्कया व्युत्पत्तिविरहाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गो दुर्वार इति चेन्मैवम् । तव संसर्गज्ञानानुमानलिङ्गानिरूपणात् । तथाहि किं दोषाभावः संसर्गज्ञानानुमापकः, किं वा व्यवहारमात्रं, उताविसंवादिव्यवहारः । नाद्यः । दोषाभावंस्य संसर्गज्ञानस्य च व्यभिचारित्वात्, सत्यपि दोषाभावे सामग्रीवैकल्ये संसर्गज्ञानानुदयात् । नच दोषाभावविशिष्टसामग्रीसङ्घावेन संसर्गज्ञानानुमानम् । सामग्र्याः कार्यैकसमधिगम्यत्वात् । सति संसर्गज्ञाने सामग्र्यनुमानं तदनुमाने च संसर्गज्ञानमिति परस्परश्रयप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । इदं रजतमित्याद्यथार्थव्यवहारे व्यभिचारात् । नापि

ज्ञानमन्तरेण संसृष्टव्यवहारानुत्पत्तिनियमादिति परिहरति—मैवसिति । एवं नियमानङ्गीकारे बाधकमाह—अन्यथेति । गामानयेति हि उत्तमवृद्धेनोक्ते मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिं दृष्ट्वा बाल इत्यमाकलयति—नूनमनेन पदकदम्बेनैतावदर्थविपर्ययं ज्ञानं संसृष्टप्रवृत्तिहेतुभूतमुत्पादितमिति, पश्चादावापोद्गाराभ्यां पदार्थविशेषेषु पदविशेषसामर्थ्यं गृह्णातीति व्युत्पत्तिपरिपाटी । तदत्रापि संसृष्टव्यवहारस्यासंसर्गप्रहादेवोपपत्तौ संसृष्टपदार्थविपर्ययप्रथमिकज्ञानानुमानानुदयात्तन्मार्गसङ्घतिप्रहात्योगाद्गतं शब्दप्रामाण्येनेत्यर्थः । न केवलं शब्दप्रामाण्यस्यैवाद्यं वियोगोऽपि त्वनुमानस्यापीत्याह—एवमिति । यथा हि शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात् घटवदित्यनुमानाभासे संसृष्टव्यवहारोऽसंसर्गप्रहमात्रात् तद्वन्नित्यः शब्दः ध्वनितद्वयैव्यतिरिक्तत्वे सति ध्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्यत्रापीत्यर्थः । प्रत्यक्षेप्याह—प्रत्यभिज्ञेति । तत्र हेतुः—ज्वालैकत्वेति । दोषशङ्कासदसत्त्वत्वाभ्यां नियममन्यथाख्यातिवादिप्रतिग्रन्था शङ्कते—यत्र दोषेत्यादिना । अन्यथाख्यातिवादिनामपि उत्तमवृद्धप्रयुक्तशब्दासंसृष्टज्ञानमनुमाय तत्र बालस्य व्युत्पत्तिरित्यभिमतं, तथा सति यथा क्वचिद्विपर्ययेपि विपर्ययशङ्का तथा तत्रापि विपर्ययशङ्का निरवकाशेति । इतरथा तन्मौर्गव्युत्पत्तेरभावात् शब्दप्रामाण्यमह एव । विपर्ययशङ्कोपशमश्च तत्र दोषशङ्कोपशमासदस्मिन्मतेऽपि समानमित्यर्थः । दूषयति—मैवमिति । अस्यायं व्यवहारः संसर्गज्ञानपूर्वकः न पुनरसंसर्गप्रहादित्यत्र न किञ्चिन्निरुक्तमित्यर्थः । संभवन्ति लिङ्गानि विकल्प्य दूषयन्निज्ञानाभावमेवोपपादयति—तथाहीत्यादिना । यत्र दोषाभावस्तत्र संसर्गज्ञानमिति व्याप्तिर्नास्तीत्युक्तं तदेव विवृणोति—सत्यपि दोषाभाव इति । ननु न दोषाभावमात्रात्संसर्गज्ञानमनुमिदुमः किंतु तदुक्तसामग्रीसङ्घावात्तथाच न व्यभिचारः यस्मिन् सति मषस्येव कार्यमिति सामग्रीलक्षणमिति तत्राह—नच दोषाभावेति । मयेदेवं यदि सामग्रीवैकल्यं शायं, नत्येतत्, तस्याः कार्यैकगम्यतया संसर्गज्ञानलक्षणकार्यज्ञानतत्सामग्रीज्ञानयोः परस्परश्रयप्रसङ्गादित्याह—सामग्र्या इति । इदं रजतमिति । नहि तत्र संसर्गज्ञानं तथाभिमतमिति भावः । यिनापीति । अधिसंवादिव्यवहारस्यापि संसृष्टयोरर्थयोःसंसर्गप्रहादेवोत्पत्तिसंभवात् न संसर्गज्ञानं विना काचित्पुनरुत्पत्तिर्न तदनुमापयेदित्यर्थः । अत्र च विसंवादिव्यवहारद्वैपम्यार्थं संसृष्टयोःरित्युक्तम् । तेनैतदुक्तं भवति । अतपि

तृतीयः । विनापि संसर्गग्रहं संसृष्टयोरसंसर्गाग्रहादेव तदुपपत्तेः, त्वन्मते घटत्वतद्यत्तयोः समवायस्याप्रत्यक्षतया संसर्गाग्रहेपि संवादिष्वव्यवहारदर्शनेनानैकान्यथाश्च । व्यवहारादिसंवादस्य च देशान्तरकालान्तराधीनाधिगमतया व्यवहाराधिगमसमयेऽनधिगतत्वेनातल्लिङ्गत्वात् बालस्य मध्यमवृद्धसमवायिसंसर्गज्ञानानुमानानुदये व्युत्पत्तिविरहप्रसङ्गात् । नच प्रतीतिविरोधः । रजताकारायाः प्रतीतेः शुक्तिकालम्बनतानभ्युपगमात् । नहि रजतं शुक्तिरिति परैरपि प्रतीतिरूपेयते । इदमाकारस्य तु रजतज्ञानालम्बनतामनभ्युपगच्छतस्तथैव प्रतीतिविरोधः । इदं रजतमिति सामानाधिकरण्येन पुरोवर्तिन्यङ्गुलिनिर्देशपुरःसरमादानादिव्यवहारदर्शनात् । नच संविदा विषयव्यभिचारादनाश्वासप्रसङ्गः । विसंवादि-व्यवहारजनकत्वपक्ष इवास्मन्मतेऽप्याश्वासोपपत्तेः । नचासतः संसर्गादेरवभासाभ्युपगमादसत्त्व्यतिप्रसङ्गः । भासमानस्य संसर्गादेः सद्विलक्षणतावदसद्विलक्षणताया अप्यङ्गीकारात् । नचायथार्थज्ञानजन्मनि करणाभावः । दोषदूषितचक्षुरादेस्तत्करणत्वोपपत्तेः ।

ज्ञानानामाजानतो यथार्थव्यवहारजनकत्वेपि दोषवशादयथार्थव्यवहारहेतुत्ववदेव दुष्टानां करणानां विपरीतज्ञानहेतुताया अपि संभवात् । यथाच दवदाहस्य वेत्नीजवि-

ससर्गसंसर्गाग्रहात् उत्पद्यमानो व्यवहारो विसवादीतरस्त्वविसवादीति । न केवलमस्योक्तवर्त्मना शङ्कितानैकान्यमपि तु स्पष्टमेव त्वन्मत इत्याह—**त्वन्मत इति । घटत्वेति ।** घटत्वतद्यत्तिससृष्टव्यवहारस्तावदविसवादी । नचात्र व्यवहारसमये ससर्गज्ञानमस्ति, तत्संसर्गस्य समवायस्य लम्बते प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात्, अनुमानस्य चाविसवादिष्वव्यवहारलिङ्गतया प्रागसिद्धे । तत्तत्तत्राविसंवादिष्वव्यवहारस्य ससर्गज्ञानपूर्वकत्वं व्यभिचरतीत्यर्थं । स्वत्पाणिदिं चाह—**व्यवहारेति ।** अविसवादिष्वस्य कालान्तराधिगम्यत्वात् मध्यमवृद्धवर्तिज्ञानानुमानसमये दुरधिगमतया लिङ्गत्वाभावेन सन्नतिग्रहणायोगात् पुनरपि स एव दुरात्मा शब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्ग आगत इत्यर्थं । एवमनुमान दूषितम् । यस्तु रजतज्ञानस्यान्यालम्बनत्वेऽनुभवविरोध इति बाधकतर्कोमिहितस्त परिहरति—**नचेति ।** तत्र किं रजताकारप्रतीतिं प्रति शुकेरालम्बनत्वेऽनुभवविरोध, इदमात्रस्य वा, आद्योऽनङ्गीकारपरत्वात् इत्याह—**रजतेति ।** द्वितीय दूषयति—**इदमाकारस्यत्वेति ।** प्रतीतिमेवाभिनयति—**इदं रजतमिति ।** अनाश्वासप्रसङ्गपूर्वाका परिहरति—**नचेति ।** येन हि नियामकेन द्वचिद्विसवादिष्वव्यवहारजनकत्वेपि सविदा न सर्वत्र तच्छङ्क्या प्रत्युच्छेद, स नास्मन्मतेपि दण्डवारित इत्याह—**विसंवादीति ।** किंच बोधकतया स्वतः प्रमाणत्वात् ज्ञानानामव्यभिचारस्य चानुमानमात्राद्गतया प्रमाणमात्राननुप्रवेशित्वात् सितासितव्यभिचारेऽपि चक्षुष्य प्रामाण्याङ्गीकाराच्च नानाश्वासशङ्कापि । तृतीयं बाधक परिहरति—**नचासत इति ।** नानिर्वचनीयवादिनामय दोष इत्यर्थं । एतेन साकारताप्रसङ्गोऽपि परिहृत । अन्यथाख्यातिवादिना तु त्वदीयव्यवहारेण समानयोगक्षेमत्वमिति प्रष्टव्यम् । यस्तु कारणानावादिपर्यासापलापस्त परिहरति—**नचायथार्थेति ।**

ननु समीचीनज्ञानहेतुभ्यो नयनादिभ्य कथमसमीचीनज्ञानजन्म, नहि जातु कुटजनीजाद्रटाङ्कुरप्ररोह इत्याशङ्क्य तत्र प्रतिबन्धा परिहारमाह—**ज्ञानानामिति । आजानत.** स्वभावतः । यस्तु दोषोपहतेभ्योपि न सिध्याज्ञानजन्म प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकमात्रत्वात् दोषाणामित्युक्त तत्परिहरति—**यथाच दवदाहस्येति ।** दवो वनवह्नि तेन यो दाहस्तस्येत्यर्थं । मा भूद्वनवह्निदग्धवेत्नीजान्युदाहरण मा च भूतोपा वेत्नीजता, दाहस्यैव

नाशकत्वं रूपान्तरजनकत्वं च तथादोषाणामपि यथार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्वमयथार्थज्ञानजनकत्वं च किं न स्यात् । सर्वत्र चासंसर्गाप्रहादेव संसर्गव्यवहारमभ्युपगच्छतः शब्दलिङ्गादिप्रामाण्यभङ्गस्य दर्शितत्वादेव कल्पनागौरवस्यादूपात्तत्वात् । असंसर्गाप्रहमात्रस्य व्यवहाराप्रसञ्जकत्वादेव तत्प्रसञ्जितायथार्थव्यवहारबाधकत्वेन बाधकस्य बाधकत्वोपपादनासंभवात् । नच व्यवहारव्यवच्छेदो बाधः । अतदर्थिनां तत्र व्यवहारानुदये नेदं रजतमित्यादिज्ञानस्याबाधकत्वप्रसङ्गात् । तदर्थिनां च व्यवहारविच्छेदकस्य बाधकत्वे चोरादिज्ञानस्यापि तद्विच्छेदकस्य बाधकतापत्तेः ।

नच तद्योग्यताविच्छेदो बाधः, तद्विच्छेदे समयान्तरे पुनस्तत्र व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । योग्यताप्रतिबन्धो बाध इत्यपि न, विवेकज्ञानचैलायां हेतुभावादेव फलासिद्धौ प्रतिबन्धकल्पनानवकाशात् । नचाप्रहणनिवृत्तिर्बाधः, सर्वप्रहणानां तथात्वेन बाधरूपत्वप्रसङ्गात् । अतो न व्यवहारनिवारणेन बाधकस्य बाधकतोपपत्तिः । रजतगोचरविज्ञानस्य च दोषदूषितलोचनजन्यतया परिशेषासिद्धौ संस्कारमात्रजन्यतया स्मृतिवत्कल्पनायोगात् ।

नन्वसंयुक्तत्वेन रजतज्ञानं प्रत्यकारणस्य रजतस्य न तद्गोचरत्वं, सर्वत्र साक्षात्कारिज्ञाने तज्जनकस्यैव विषयत्वादिति चेन्न । प्रत्यभिज्ञाया तत्ताया अपि गोचरत्वात् । तत्र संस्कारसचिवमिन्द्रियं तत्तां गोचरयति संस्कारोपस्थापितत्वात्तत्ताया इति चेत्प्रकृतेःपि तर्हि

तावदुभयकारकत्वमनुमतं तदेव भवसूदाहरणमित्यर्थं । यत्संसर्गज्ञानस्यापि संसृष्टव्यवहारहेतुत्वे कल्पनागौरवादसर्गाप्रह एव सर्वत्र संसृष्टव्यवहारहेतुरित्युक्तं तत्राह—सर्वत्रचेति । प्रमाणबलत्प्राप्तगौरव न दोष । “प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्वपि । धालाप्रशतभागोपि न कल्प्यो निधमाणकः” इति न्यायादिति भावः । तदेव संसर्गज्ञाने संसृष्टव्यवहारान्यथानुपपत्तिं प्रमाणमभिधाय बाधान्वधानुपपत्तिमपि प्रमाणयति—असंसर्गोति । उपपादनासंभवात् । तदनुपपत्तिरपि संसर्गज्ञानसाधिकेतिशेषः । अङ्गीकृत्य तदीय बाधं तद्वेतुत्वं ज्ञानस्य निरस्तम्, इदानीं स एव तु न घटतेऽव्याप्तेरित्याह—नच व्यवहारेति । अस्ति हि विरक्तस्यापि कस्यापि पुरोवर्तिनीदं रजतमपि अन्तिनेदं रजतमिति बाधश्च । नच तत्र व्यवहारोऽतदर्थित्वात् अतोऽव्याप्तिरित्यर्थः । लक्षणान्तरं शङ्कते—तदर्थिनामिति । चोरादीति । यदाहि कश्चित्कचिद्देशे यागे चोरादिज्ञानाद्विच्छिन्नोद्योगो भवति तत्र चोरादिज्ञानस्य यागादिबाधकात् स्यादित्यर्थः ।

ननु येन व्यवहारयोग्यता पुरोवर्तिनो रजताचारमना, तद्विच्छेदो बाधस्तथाच नाव्याप्तेरपि, विरक्तस्यापि योग्यतानप्यादिति तत्राह—नच तद्योग्यतेति । तर्हि योग्यताप्रतिबन्धमानं बाधं तथाच प्रतिबन्धापये पुनरपि तत्रैव प्रमिष्यतीति तत्राह—योग्यतेति । सति पुष्कलकारणे कार्यानुपपत्तिर्हि शक्तिप्रतिबन्धकल्पिका साचात्र नास्ति विवेकप्रहणेन विवेकाप्रहस्य निरासादित्यर्थः । लक्षणान्तरं दूषयति—नचाप्रहेति । सर्वाणिहि ज्ञानानि स्वप्रागभावनिवर्तकानि नियुतिर्वेति बाधकत्व बाधत्व वा स्यात्, तथाच सर्वेष्वभ्रान्ता स्तुरित्यर्थः । नच विवेकाप्रहनिवृत्तिर्बाधः, सर्वनेदज्ञानानां बाधकत्वप्रतिष्यम्भावादित्यपि द्रष्टव्यम् । अन्योपपत्तिनिराकरणमुपसहरति—अत इति । परिणताज्ञाननियुत्तिर्बाधस्तथाच तत्परिणामरूपमिभ्याज्ञानतदर्थी विना न बाधसिद्धिरिति खण्डलकार्यं । यत्तु परिशेषात्स्मृतिरित्युक्तं तदूचयति—रजतगोचरेत्यादिना ।

असप्रयुक्तविषयत्वं साक्षात्कारित्वेऽनुपपन्नमिति शङ्कते—नन्विति । दूषयति—न प्रत्यभिज्ञाया-मिति । येषां हि प्रत्यभिज्ञानमेकं ज्ञानं तेषां तत्तापि चाप्यभेदेत्यर्थः । तत्र ननुवा संस्काराद्वारा प्रलापणा चाप्युपत्त्वेऽप्यापि ता समेत्याह—तत्र संस्कारेत्यादिना । प्रत्यभिज्ञावदेव ततोऽस्यैवयथार्थं प्रसङ्गव्यवहाराण्य

१ यदा वधिद्रजतार्थं १६ रजतमिति भ्रमोत्तरे चोरादिज्ञाने सति तदूषयेन तत्र न प्रवर्तेते तथा चोरादिज्ञानस्यापि बाधकत्वापत्तिरिति भावः । एव च टीकाकृतं उदाहरणं तत्रानुपाश्रयप्रदाय निमित्तं इति न मिथः । २ गच्छ-ककार्थे इति पाठः साधुः प्रतीयेते तत्सप्तानामो वा । ३ ततोऽस्यैवयथार्थं प्रसङ्गव्यवहाराण्येति मिथः ।

संस्कारोपनीतं रजतं दोषकलुपितेन्द्रियेण विपयीक्रियत इति न दोषः, तथापि समारोपे किं प्रमाणमिति चेदुच्यते—'नयनं नयनोद्भूतसम्यग्ज्ञानातिरेकिणः । ज्ञानस्य कारणं तत्त्वाद्यथैव नयनान्तरम्' ॥ १२ ॥ एतच्चक्षुरेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकं चक्षु-
द्वादिन्द्रियत्वाद्वा चक्षुरन्तरवदिन्द्रियान्तरवच्च । नच चक्षुश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकं न भवति इन्द्रियत्वात् घ्राणवदिति प्रकरणसमता । मनस्यनैकान्ति-
कत्वात्, तस्य साधारणकारणस्य चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तसादिज्ञानजनक-
त्वात् । चक्षुपश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तसादिज्ञानजनकतया सिद्धसाधन-
त्वाच्च । नच यहिरिन्द्रियत्वादिति विशेषणान्नानैकान्तिकता, तत्रापि सिद्धसाधनतायास्तादव-
स्थ्यात् । नच यथोक्तयथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्त्यन्तांभावाधिकरणतयो
साध्यस्य विवक्षितत्वाददोषः, घ्राणादिषु चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वस्यैवोपाधेः सत्त्वात् ।
नच व्यतिरेकोपसहारस्थलाभावः, मनसश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकस्यातिरिक्तज्ञानज-

दोषकलुपितेत्युक्तम् । यद्यपि सर्वप्रत्यययाथार्थमप्रामाणिक नापि विषेक्षे कश्चिद्वाधकस्तर्कस्तथापि समारो-
पसद्भावे किं प्रमाणं नहि परपक्षप्रतिषेधमात्रात्पक्षसिद्धिरित्यधिकविषयशाशङ्क्यति—तथापीति । श्लोके-
नानुमानं संप्रकृति—नयनमिति । अत्र नयनविशेषं पक्षसाध्ययोर्निधातव्यं । कारणमित्यन्ता प्रतिज्ञा । तत्त्वा-
दिति । नयनत्वादिन्द्रियत्वदेति हेतुः । यथैव नयनान्तरमिन्द्रियान्तरं वेति दृष्टान्तः । एतदेव विद्युत्प्रति—
एतच्चक्षुरित्यादिना । एतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वमधिकरणज्ञानजनकमिति च साधनीयम् । अन्यथा पूर्व-
कालैतज्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकत्वस्योत्तरकाले सभवेन सिद्धसाधनत्वात् । तत्र चक्षुर्मानुषीकरणे
चक्षुरन्तरज-यथार्थज्ञानजनकत्वमधिकरणेनैतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानेनार्थान्तरतां तन्निवृत्त्यर्थमेतच्चक्षुर्ग्रहणम् । एव
साध्येपि द्रष्टव्यम् । यथार्थज्ञानजनकत्वमधिकरणज्ञानजनकमित्युक्ते प्रभाकराणामप्रसिद्धविशेषणता विरुद्धता च,
तन्निवृत्त्यर्थमेतच्चक्षुर्जन्येत्युक्तम् । चक्षुरन्तरजन्यज्ञानस्य यथार्थत्वेनाङ्गीकारेऽप्येतच्चक्षुर्जन्यत्वाभावादेवैतच्चक्षु-
र्जन्यत्वे सति यथार्थज्ञानजनकत्वमस्तीति नाप्रसिद्धविशेषणत्वसाध्यवैकल्ये । व्याहृतिनिवृत्त्यै यथार्थ-
पदम् । पक्षे त्वेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वमधिकरणत्वमेतच्चक्षुर्जन्यत्वानधिकरणत्वाच्च सभवति व्यापातात् ।
तस्माद्यथार्थज्ञानत्वानधिकरणं किञ्चिच्चक्षुर्जन्यं ज्ञानं सिद्धतीति चाश्रुययथार्थज्ञानसिद्धिः । एव जिज्ञा-
भासादिकमपि पक्षीकृत्य साधनीयम् । सत्यप्रतिपक्षतामाशङ्क्य दूषयति—नच चक्षुरित्यादिना । यथार्थ-
ज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकं न भवतीत्युक्ते व्यौन्यसिद्ध्या बाधनैकान्तिकत्वे स्यात् तन्निवृत्त्यर्थं चक्षुर्ज-
न्येत्युक्तम् । चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकत्व, चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वाभावाद्वा व्यति-
रिक्तज्ञानजनकत्वाद्वा । आद्यं पक्षो व्याहृतः । द्वितीयस्तु सिद्धययथार्थज्ञानजनकनिवारणेन सिद्धतीत्यर्थं ।
अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—तस्येति । सिद्धसाधनता चाह—चक्षुप इति । मनस्यनैकान्तिकतापरि-
हारय विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—नचेति । 'प्रकारान्तरेण सिद्धसाधनतापरिहारमाशङ्क्य निषेधति—नच
यथोक्तेति । अतिरिक्तज्ञानजनकत्वाभावमात्रं न साध्यं किंतु तदव्यन्ताभावस्तथाच न सिद्धसाधनम्, अयथा-
र्थज्ञानजनकत्ववादिनामतिरिक्तज्ञानजनकत्वात् ताभावासिद्धेः । अत्र च यहिरिन्द्रियत्वादित्येव हेतुः, अन्यथा
मनस्यनैकान्तिकता । तत्र हेतु—घ्राणादिप्रति ।

ननु यत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वं नास्ति तत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनक-
त्वात् ताभावाधिकरणमपि नास्तीति व्यतिरेकं कं निश्चितं इत्यत आह—नच व्यतिरेकेति । नच

१ प्रामाणिकत्वाभावे इत्यर्थः । २ जनकतासंबन्धेन पञ्चवर्तिज्ञाने इत्यर्थः । ३ घ्राणादौ यथाप्यज्ञानजनकत्वस्य
चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकत्वस्य च सत्त्वेन हेतुसत्त्वेऽपि साध्याभावादेनैकान्तिकता चक्षुपि पक्षे तु स्वज-य-
यथार्थत्वान्नन-त्वेन स्वेतरेन्द्रियन-यथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकत्वेन च साध्याभावाद् बाध इति भावः ।

नकतया व्यतिरेकोपसंहारभूमित्वात् । विवादपदानि पदानि स्वस्मारितपदार्थान्वयप्रति-
पादकानि आकाङ्क्षासन्निधिमत्पदकदम्बकत्वाद्गामानयेत्यादिपदकदम्बवत् । नच योग्यता-
वत्त्वमुपाधिः, साध्येन समव्याप्त्यभावात् । आकाङ्क्षासन्निधिरहितपदेषु योग्यतावत्त्वेपि
साध्याभावात् । नचाकाङ्क्षादिमत्त्वेसति योग्यतावत्त्वमुपाधिः, व्यर्थविशेष्यापातात् ।
नह्याकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वेसति योग्यताभावेनान्वयज्ञानाजनकत्वमुभयवादिसंप्रतिपन्नस्थले दृ-
ष्टमस्ति । अयोग्यार्थविषयाणामाकाङ्क्षासन्निधिमत्पदानां सर्वेषां पक्षीकरणात् । नच यो-
ग्यतावत्त्वस्य विषयव्यापकत्वेनोपाधिता । यद्योग्यार्थं तदन्वितप्रतिपत्तिजनकं न भव-
तीति व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य पूर्वोक्तन्यायेन दर्शयितुमशक्यत्वात् । नच विवादपदानि
पदानि स्वस्मारितार्थान्वयप्रमितिजनकानि, आकाङ्क्षासन्निधिमत्पदत्वात्, गामानयेति

तत्राप्यान्तरेन्द्रियत्वमुपाधिः । आन्तरपदस्य पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वात् । तथा प्रमाणत्वमनुभा-
व्यादृष्टं अनुभवत्वातिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वावान्तरजातित्वात् स्मृतित्ववत् । प्रमानुभूत्येव लक्ष्यलक्षणभावा-
त्प्रोक्तौराद्वेदसिद्धिः । पूर्वं चाक्षुषविभ्रमसद्भावे प्रमाणमुक्तम् । इदानीं शाब्दविभ्रमं साधयति—विवादप-
दानीति । पदमात्रपक्षीकरणे गामानयेत्यादिषु यथार्थज्ञानजनकेषु सिद्धसाधनता तदर्थं विवादपदग्रहणम् ।
आकाङ्क्षासन्निधिमात्रवन्ति पदानीत्यर्थः । पदानां देवदत्तोयमधीत इति वक्तृविशेषानुमापकताप्यान्वयप्रतिप-
त्तिजनकत्वेन सिद्धसाधनतास्त उक्तं—स्वस्मारितेति । पदकदम्बकत्वात्पदसमूहत्वादित्युक्ते उरगस्तुरगः
खदिर इत्यादिपदसमूहेष्वनैकान्तिकता तदर्थमाकाङ्क्षाग्रहणम् । तावत्त्युक्ते 'गामानय प्रासादं पश्ये'त्यत्र साकां-
क्षयोरप्यसन्निहिततया परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोर्गो पश्येत्यनयोर्नैकान्तिकता तन्निवृत्त्यर्थं सन्निधिमदिति ।
तावत्त्युक्ते च, 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यता'मिति वाग्ये राज्ञ इति पुरुष इति च पदयोः सन्निधिम-
त्त्वेपि नैराकाङ्क्षयेण परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोर्नैकान्तिकता तदर्थमाकाङ्क्षाग्रहणम् । किं समव्याप्तिवादिना-
यमुपाधिर्दीयते विषयव्याप्तिवादिना वा । नाद्य इत्याह—साध्येनेति । तदेव विवृणोति—आकाङ्क्षेति ।
ननु न वयमन्वयप्रतीत्यजनकत्वे योग्यतावत्त्वमात्रमुपाधिं ब्रूमः किंतर्ह्याकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वविशेषितं तथाच
समव्याप्तिरस्त्येवेत्यत आह—नचाकाङ्क्षेति । हेतुमाह—व्यर्थविशेष्येति । आकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वेपि
यदि क्वचियोग्यताभावापराधेनान्वयप्रतीतिर्न स्यात्ततः साध्यव्याप्तिरित्यर्थं योग्यतावत्त्वमुपाधिर्न नचैतदस्ति
साहचर्यं सर्वेषां पक्षत्वादेव साध्याभावनिर्णयस्थलत्वाभावात्, अतः पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वमित्यर्थः ।
तदेव विवृणोति—नह्याकाङ्क्षासन्निधीत्यादिनां । द्वितीयं दूषयति—नचेति । अत्रापि पक्षेतरत्वमेवो-
पाधिव्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकेण व्यात्यनिर्णयात् । जर्दूवादिवाक्यानां पक्षतुल्यत्वात्, 'खदिरस्तुरग' इत्या-
दिपदानामाकाङ्क्षायभावादेवान्वयप्रतीत्यजनकत्वादित्याभिप्रेत्याह—यद्योग्यार्थमिति । आभाससमानयो-
गक्षेमतामाशङ्क्य निषेधति—नचेति । नेदं रजतमिति समनन्तरबाधकप्रमाणविरोधात् प्रमितिज-
नकत्वाद्गुमानं कालातीतम्, नैवम् प्रतीतिमात्रजनकत्वानुमाने, किञ्चिद्बाधकमस्ति उक्तानां संविद्धिरोपाधीनां

१ प्रकृतसाध्याभावसाध्यके प्रकृतोपाध्यभावहेतुकेच प्रयोगे इत्यर्थः । २ मेघभेदकभावस्वीकारादित्यर्थः । अनुभू-
तिर्दि सामान्यं प्रमाविशेषः । सामान्यस्य च भेदको विशेष इति सप्रदायविदः । ३ मानपदेन योग्यताया व्यवच्छेदः ।
अथयार्थज्ञानजनकत्वेन वेदान्तितार्किकाद्यभिप्रेतानि इदं रजतमित्यादिपदानीति भावः । ४ उरगस्तुरगः खदिर इति
पूर्वोक्तोऽप्यनैकान्तिकत्वसंभवे वदाहरणान्तरं शिष्यदुर्द्वैशवार्थम् । ५ उपाधिसाध्ययोरिति शेषः । ६ जर्दूगवः
कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि । तं मासणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रमाया लशुनस्य कोऽर्थः ।
इत्यादिवाक्यानामित्यर्थः [केचित्तु जर्दूगवो जीवः कम्बलपादुकापदाभ्या यथायथमविचार्यो आवरणविशेषशक्ती उच्यते
द्वारि मुक्तिद्वारि नृदेहे मद्रकाणि विषयगीतानि मासणी मद्राविषया दुर्द्वैः पुत्रकामा मोक्षकामा राजन् स्वप्रकाशरमाया
प्रशानयने लशुनस्य विषयस्य इत्यर्थं वर्णयन्ति] ततश्चान्वयप्रतिपादकत्वमेव । ७ पदकारेण उपाध्यभावस्य निषेधः ।

पदवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । तत्र बाधकप्रमाणविरोधेन कालाखयापदिष्टत्वात् । प्रतीतिमात्रसाधने तु बाधाभावात् । उक्तं चैतद्भट्टाचार्यैः—‘अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति ही’ ति । विपक्षे च प्रतिपक्षाप्रतिपत्तौ तन्निराकरणाय कथारम्भासंभयो बाधकः । तथाहि । शब्दोऽनित्य इति शब्दस्यानित्यत्वे वादिना प्रतिपादिते यदि न तत्प्रतिवादी प्रतिपद्येत तदा वादिना परिपदा च विज्ञातस्यापि स्वयमविज्ञातेऽविज्ञानं नाम निग्रहस्थानमापद्येत । प्रतिपत्तौ वा विपर्ययाभ्युपगमप्रसङ्गः । नहि शब्दस्यानित्यत्वज्ञानं तन्नित्यत्ववादिनो यथार्थम् । किञ्चैकाधिकरणविरुद्धधर्मद्वयप्रतिपत्तिलक्षणा विप्रतिपत्तिरेव भवन्मते न भवेत् तत्र कुतस्तरां कथाप्रवृत्तिः कुतस्तमां च विप्रतिपत्तिनिरासः । अपि च सर्वस्य वाक्यस्य संसर्गप्रतीत्यजनकत्वेऽनृतापार्थकनिरर्थकभेदो न स्यात्, समुदायार्थप्रतीतौ सत्यामपि यदर्थो बाधितो भवति तद्वाक्यमनृतमुच्यते, यथा नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीति विप्रलम्भकवचनं, यत्रावयवार्थप्रतीतौ सत्यामपि समुदायार्थप्रतीतिस्तदपार्थकम्, यथा ‘दश दाडिमानि पडपूपाः कुण्डमजाजिन’—मित्यादि । अवयवार्थप्रतीतेरपि यत्राभावस्तन्निरर्थकं यथा ‘नित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदवत्वान् रञ्जठथव’दिति । सचायमनृतापार्थकादिभेदः कचिदपि शब्दस्य संसर्गप्रतीत्यजनकत्वे न सभवतीत्यलमतिविस्तरेण । यदसत्तत्र प्रकाशते यथा गगनकुसुमम्, असच्च शुक्तिरजततादात्म्यमितिचेत् । मैवं । गगनकुसुमस्यापि तच्छब्दात्प्रतीयमानत्वेन

प्रागेव परिहृतत्वादित्यमिप्रेत्याह—तत्र बाधकेति । शशविपाण खपुष्पमित्यायसत्यर्थेऽयन्तायोग्येष्याकाङ्क्षासन्निधिमाम्बुच्छो ज्ञान करोतीति भट्टवार्तिकार्थं । योग्यतारहितस्याध्याकाङ्क्षादिमत प्रतीतिजनकत्वानङ्गीकारे प्रतिवादिवाच्याच्छब्दोऽनित्य इत्यादेरयोग्ययो शब्दानित्यत्वयो सच्छट्टप्रतीत्यनुपपत्तौ तदनुवादाभावेन तन्निराकरणाय ग्रन्थकरणादिरूपकथानारम्भप्रसङ्गो बाध इत्याह—विपक्षे चेति । एतदेव विरल्पपूर्वकं विवृणोति—तथाहीति । यदि न बुद्ध्येत बुद्ध्येत चेल्पि द्रष्टव्यम् । आद्ये तन्निराकरणमशक्यमित्यपि द्रष्टव्यम् । न केवलमप्रतिबुद्धस्य निराकरणमशक्यं निग्रहस्थानापत्तिश्चेत्याह—तदा वादिनेति । इदं च विशेषण “अविज्ञात चाज्ञानमिति” सूत्रस्थचकारानुक्रुष्टोऽर्थोऽविज्ञातार्थोतिव्याप्तिपरिहार प्रयोजनम् । ‘परिपत्प्रतिवादिभ्यां निरमिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थमिति सूत्रम् । निरमिहितमपीति । वादिनेतिशेष । द्वितीये आह—प्रतिपत्तौ वेति । तस्यैव प्रपञ्च नहि शब्दस्येति । दूषणान्तरमाह—किञ्चेति । एक शब्दादिकमधिकैस्त्विरुद्धधर्मविपक्षिण्यौ प्रतिपत्तौ हि विप्रतिपत्तिर्न पुनर्भिन्नाधिकरणे नाप्यविरुद्धार्थविपक्षिण्यौ । नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरित्यनयो नित्य आत्मा विभुधैत्यनयोर्वा विप्रतिपत्तिलाभावात् । सेयं विपर्ययाज्ञानङ्गीकारे न भवेत् नापि व्यवहारद्वयमानम् । अप्रतिपत्तौ विरुद्धधर्मप्रतिपत्तिलाभावात् । प्रतिपत्तित्वेच विरुद्धधर्माध्यातेनार्थस्यैव भेदापत्तिरित्यर्थं । ननु तादृशधर्मद्वयस्य प्रस्तुतधर्मव्यतिरिक्तेनित्यताऽग्रहणात्तथा व्यवहार इति चेत् । एकनिष्ठलाप्रतिपत्तौ व्याप्तिग्रहभावादनुमानानुदयादिति । बाधकान्तरमाह—अपिचेति । सर्वस्येति । वाक्यमानस्येति यावत् । अनृतादीना प्रसिद्ध विवेक दर्शयति तदभावापादनाय समुदायार्थेत्यादिना । अत्र चानृतशब्देन प्रतिज्ञासन्त्यासो निरनुयोग्यानुयोगोऽसिद्धिविशेषध विवक्ष्यते । अपार्थकमाह—यत्रेति । ‘पौर्वापर्यायोगादप्रतिषेधद्वयमपार्थकं’ “वर्णक्रमनिदशवजिरर्थकं”मित्यक्षपादसूत्रादित्यर्थं । कचिदपीति । एतेषु मध्ये कचिदपीत्यर्थं । संसर्गप्रतीतिमनुमानेनापलपन्तत्प्रतिपक्षयति—यदसदिति । दूषयति—मेवमिति । नच यदसत्तदपरोक्षतया न प्रकाशते इति साध्यं, तव व्यर्थविशेषणत्वात् । किञ्च तादात्म्यं प्रतीतं नवा यस्या-

१ अविज्ञाने इत्यर्थः । २ मूलकृता विकल्पस्याप्रदर्शितत्वात्तददर्शनं परोऽयं ग्रन्थः । ३ उदिस्येत्यर्थः । ४ इदं प्रथमादिवचनान्तं प्रतिपत्तिविशेषणम् ।

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तादात्म्यस्य च प्रतीतावन्यथाख्यातिस्वीकारात्, अप्रती-
तावाश्रयासिद्धेः, असंसर्गाग्रहवलेन च तद्व्यवहारे तत्रासत्त्वाप्रतीतौ हेतोरपक्षधर्मत्वात् ।
तस्माद्रजतादिविभ्रमे पुरोवर्तिशुक्तिशकलादि रजताद्यात्मनावभासत इति सिद्धम् । भव-
त्वेवं विभ्रमसद्भावः विभ्रमालम्बनं तु किमसत्सदेव वा किं बोध्यात्मकमुतोभयविलक्ष-
णमिति विवेचनीयम् । न तावदसत् । असतोऽपरोक्षावभासानर्हत्वात्, तदादित्सया प्रवृ-
त्त्यनुपपत्तेश्च । कचिदसद्विशेषेपि प्रतिभासप्रवृत्ती किं न स्यातामिति चेन्न । विशेषाधि-
करणत्वे तुच्छत्वानुपपत्तेश्च निःस्वभावत्वात् । सदैवलक्षण्यमात्रेणासत्त्वाभिधाने माया-
वादिमतप्रवेशात् । अन्तरेणापि ज्ञेयसामर्थ्यं निःस्वभावेऽप्यसति स्वकारणविशेषसमासा-
दितस्वभावविशेषविज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिमदिति चेत्तर्हि वक्तव्यं किमस्याः

यमप्रकाशः साध्यते, उभयथापि दूषणमाह—तादात्म्यस्य चेत्यादिना । ननु तादात्म्यं तावत्प्रतीयते,
अन्यत्र शुक्तिरन्ते च प्रतीयेते, तेषां चासंसर्गाग्रहदप्रतीतेऽपि विशिष्टतादात्म्ये तद्व्यवहार इति तत्राह—
असंसर्गाग्रहेति । आध्याप्रतीतौ तद्विशिष्टतया हेतोरप्यप्रतीतावसिद्धिः स्यात् । यद्योक्तं 'एकदेशदर्शनं
सत्त्वमुपापक'मिति । आप्यकारैरप्येकदेशदर्शनदेकदेशान्तरे बुद्धिरिति । एतेन शुक्तौ रजताकारेण न प्रका-
शते तद्रूपेणासत्त्वात् यथा घटः पटरूपेणैति मुरारिरम्यपास्तः । प्रमाणस्मृतिविवक्षायां सिद्धसाधनत्वात्
भ्रान्तिविवक्षायां तत्राप्रसिद्धविशेषणता साध्यविकलश्च दृष्टान्त इत्यादेश्च । वादार्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।
आरोपं निहृप्यारोप्यं निरूपयति—भवत्वेचमित्यादिना । सदेवेत्यन्यथाख्यात्वात्मात्मरुत्वात्सोर्निर्देशः उभ-
यात्मकमिति तु भेदाभेदादिनोऽन्यथाख्यातिविशेषस्य, उभयविलक्षणमिति तु सिद्धान्तस्य । प्रथममसत्त्वमिति
निरावष्टे—न तावदिति । अपरोक्षेति शब्दप्रतीतिव्यावृत्तौ । ननु यद्यपि शशविषाणादौ प्रवृत्तिप्रतीती
न दृष्टे तथाप्यसद्विशेषे रूप्यादौ किं न स्यातामिति शङ्कते—कचिदिति । सतः खल्वयं सामान्यविशेषभावो
न लसत इति परिहरति—नेति । अथासत्त्वं नाम न निःस्वभावत्वं येनेदं दूषणं स्यात् अपितु सदैवलक्षण्यं
तत्राह—सदैवलक्षण्येति । असतोऽप्यपरोक्षं संपादयत्यसद्भावी । अन्तरेणापीति । यद्यपि निःस्वभा-
वमसज्ज्ञेयं तथापि तस्य ज्ञेयस्य सामर्थ्यमन्तरेण स्वकारणविशेषात्समन्तरप्रत्ययादासादितः प्राप्तः स्वभाव-
विशेषो येन विज्ञानेन तत्तथा । तादृशविज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिलक्षणया असत्प्रकाशनशक्तिमदिति
योजना । एतदुक्तं भवति । यद्यप्यधिपैतिसहकार्यालम्बनसमनन्तरात्मकेभ्यः प्रत्ययेभ्यश्चतुर्भ्यश्चित्तचैत्ता
उत्पद्यन्ते इति स्थितिस्तथापि भ्रान्तिस्थलेष्वालम्बनप्रत्ययस्यासत्त्वात् अनर्थकिपाक्षमत्तादत एव तत्सयुक्त-
स्याधिपतेश्चक्षुरादेस्तत्सहकारिणश्चालोकस्य सहकारिप्रत्ययस्याभावेपि समनन्तरप्रत्ययलक्षणपूर्वज्ञानमात्रात्स्व-
भाववैचित्र्यवशाद्भिज्ञानमुत्पद्यते, स्मृतिज्ञानमिव विषयमन्तरेण सामग्रीमात्रप्रयोज्यमिति, 'तदेतद्दूषयति—
तर्हि वक्तव्यमित्यादिना । प्रकाशनशक्तिवैति । व्यञ्जवत्वात्प्रमाणस्य प्रमेयोत्पादकत्वमयुक्तमि-

१ रजताकारेण न प्रकाशते इत्यस्य तद्रूपेण न स्मर्यते इत्यर्थः । तथाच सा स्मृतिः प्रमाणभूता वा भ्रान्ति-
रूपा वा । नारयः । शुक्तौ तादृशस्मृतिविवक्षयाभावस्यास्माभिरपि स्वीकृतत्वेन सिद्धसाधनत्वात् । न द्वितीयः । तत्र
भ्रान्तिज्ञानस्याप्रसिद्धत्वेन तादृशस्मृतिवदितस्य साध्यस्याप्रसिद्धत्वापत्तेः । घटस्यापि चान्यरूपेण सम्यग्मागत्वापत्तौ
दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं च । केचित्तु रजताकारेण न प्रकाशते इत्यस्य इदं रजतमिति नैकज्ञानं किन्तु प्रमाणात्मक स्मृत्या-
त्मकं च ज्ञानद्वयमेवेत्यर्थः । तथाच प्रमाणरश्लोर्विवक्षायां प्राभाकर प्रति सिद्धसाधनम् । यदितु रजताकारेण न प्रका-
शते इत्यनेन रजताकारकप्रमाणकप्रतीतिविययो न भवति किन्तु भ्रमज्ञानविययो भवतीति विवक्ष्यते तदा भ्रमस्य
तत्राप्रसिद्धत्वात्तद्वदितस्य साध्यस्याप्रसिद्धत्वम् । किञ्च भ्रमस्वीकारे घटस्यापि घटरूपेण भासमानत्वात्साध्य-
विकलो दृष्टान्त इत्याहुः । २ यथा नीलाभासेऽधिपतिप्रत्ययः चक्षुरादिरूपः । सहकारिप्रत्यय आलोकः । आलम्बन-
प्रत्ययो नीलरूपम् । समनन्तरप्रत्ययः पूर्वं नीलविज्ञानम् । चित्तं विज्ञानं चैताः चित्ताभिप्रेदनुज्ञाः सुपादपः ।

शक्तेः शक्यमिति । यद्यसदेव, किमेतस्याः कार्यमुतैतज्ज्ञाप्यम् । नाद्यः । असतोऽकार्य-
त्वात् प्रकाशनशक्तिव्याघाताच्च । न द्वितीयः । प्रकाशान्तराभावात्, अनवस्थानाच्च ।
तदेव विज्ञानमसतः प्रकाश इति चेन्न । विज्ञानाश्रयां शक्तिं प्रति विज्ञानस्यैव शक्तशक्य-
तया विषयत्वानुपपत्तेः । नहोक्तस्यैकदैव सिद्धतया शक्त्याश्रयत्वमसिद्धतया च तद्विषयत्वं
संभवति, युगपदेव सिद्धसाध्यत्वविरोधात् । शक्यमेव तर्हि शक्तेर्माभूदिति चेन्न । शक्तेः
कस्य कुत्रेति शक्तशक्यनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् । अस्तु तर्हि स्वकारणविशेषासादित-
स्वभावभेदं विज्ञानमेवासतः प्रकाश इति चेन्न । सदसतोः संबन्धानिरूपणात् । असद-
धीननिरूपणत्वं ज्ञानस्य तत्संबन्ध इति चेन्न । तदधीननिरूपणत्वस्यापि संबन्धान्तरा-
धीनत्वादसतश्च निरूपाल्यत्वात्संबन्धाधारतानुपपत्तेः । ज्ञानजन्यातिशयानाधारत्वाच्च
घटादिवदसतो ज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः । अयमसदनुभव इत्यसता विना नानुभवो
निरूप्यत इति तेनाविनाभावः संबन्ध इति चेत् । मैवम् । अतदुत्पत्तेरतदात्मनश्चानुभ-

त्यर्थः । प्रकाशान्तरेति । एतज्ज्ञाप्यमिति कीर्थः, एतज्जनितज्ञानस्य विषय इति । तथाच यदनया शक्त्या
जन्यं ज्ञानं तत्किं ज्ञानान्तरमाश्रयभूतमेव वा । नाद्यः । असज्ज्ञानमन्तरेण द्वितीयज्ञानानुपलब्धेरुपलब्धौ
वाऽनवस्थानाच्चेत्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—तदेवेति । दूषयति—न विज्ञानाश्रयामिति । स्यादेतत्
सत्यमाश्रयविषयसापेक्षा शक्तिर्विषयभावे न भवेत्, शक्तिरेषु न स्वीक्रियते किं तर्हि विज्ञानमात्रमेव, तस्य च
तथाविधमेव रूपं कारणविशेषादाहितं येन परित्यक्तशक्तिकमपि तदसत्प्रकाशो भवतीति शङ्कते—अस्तु
तर्हीति । दूषयति—न सदसतोरिति । ननु शून्यवादिना कथं विज्ञानसत्त्वममिमत्तं येन सदसतोरिति
शक्यवचनं स्यात्, सत्यं, शून्यवादिविशेषोऽर्थः, का तर्हि शून्यवोदिता, विशेषस्य तर्वेधा शून्यलाङ्गीकारात् ।
योगाचारेण हि बहिःशून्यता वेद्यस्याङ्गीकृता । अनेन त्वन्तरेपीति ततो विशेषः । यथाचैतत्तथा भट्टशंभुना
तत्तदभिधुक्वचनान्युदाहरता “असौप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिन” इत्यत्रोपपादितम् । संबन्धा-
निरूपणादिति । यदि हि अविद्यारिमिका शक्तिः स्वीकृता स्यात्तदा सांभृतः कोपि संबन्धः, तामपि परिहरतः
कोनु नामानयोः संबन्धः स्वादित्यमिप्रायः । असत्प्रकाशोयमिति यदिदमसदधीननिरूपणत्वं ज्ञानस्य तत्ते-
नासता तस्य संबन्ध इति शङ्कते—असदधीनेति । दूषयति—न तदधीनेति । संबन्धोर्हि निरूप्य-
निरूपकभावो दृष्टः, नहि जातु धौतकलधौतकलशयवलिग्ना तालफलकालिमा निरूप्यमाणो दृष्टचर इत्यर्थः ।
भवतु संबन्धान्तरमपि संयोगादिलक्षणमिति नेत्याह—असतश्चेति । अथ घटस्य प्रकाश इतिवत् किं
न स्यादिति तत्राह—ज्ञानजन्येति । असत्त्वाद्देशान्नजन्यातिशयानाधारत्वात् अपरोक्षज्ञानविषयभावा-
नुपपत्तेः, घटादिवदिति दृष्टान्तो व्यतिरेके । शङ्कते—अयमसदनुभव इति । अयमर्थः । अस्तित्वावदयं
निरूप्यनिरूपकभावनियमः, तेन हेतुना तेनासता तस्य ज्ञानस्याविनाभावः कश्चिदस्ति मूलभूत इति विकल्प्यते
इति । परिहरति—मैवमतदुत्पत्तेरिति । अयमभिसन्धिः । त्रिविधोऽविनाभावः सौगतसमये, स्वभावः
कार्यमनुपलब्धिश्च । यदाह कीर्तिन्यायविन्दौ—‘त्रिरूपाणि त्रौण्येव लिङ्गान्यनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं
चेतीति । तत्रानुपलब्धिर्थाभावावेदिका, यथा यदुपलब्धिपलक्षणप्राप्तं सन्नोपलब्ध्यते सोऽसव्यवहारविषयः,
यथान्यत्र क्वचिद्दृष्टः क्वचिद्देशविशेष उपलब्धिपलक्षणं प्राप्तो घटघटादिर्नोपलब्ध्यते, नोपलब्ध्यते च शशविषाणा-
दिरर्थ इति साधर्म्यवत्प्रयोगः । स्वभावकार्यात्त्यौ तु भावबोधश्चै यथा वृक्षसिंहापालयोः यथावामिधुनयोरिति ।
तदप्युक्तं कीर्तिना ‘कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमोऽदर्शनाज्जनु दर्शनादिति ।

१ विज्ञानमात्रसत्त्ववादिनो योगाचारस्येति शेषः । २ माध्यमिकेनेत्यर्थः । ३ विज्ञानस्येत्यर्थः । ४ विकल्प्यत इति
कल्प्यत इति पाठः साधुर्माति । ५ अनुपलब्धेरित्यर्थः । इदमपि नियामकादिस्य विशेषणम् । दर्शनादित्यस्यान्वय-
व्यतिरेकेत्यादिः ।

वस्य तद्विनाभावासंभवात् । तस्मात्स्वप्रत्ययासादितस्वभावभेदं विज्ञानमेवासत्प्रकाश इत्यसत्ख्यातिवादिनामसत्प्रलाप इत्यारोप्यमाणं नासत् ।

नापि सत् । नेदं रजतमित्यादिबाधविरोधात् । यत्र बाध्यते ततोऽन्यत्रास्तीति चेन्न । तत्र प्रमाणानिरूपणात् । तथाहि भ्रान्त्यनुभवस्तत्र प्रमाणानुत बाधानुभवः किंवा भ्रमानुपपत्तिः बाधानुपपत्तिर्वा असत्ख्यात्यनुपपत्तिर्वा । नाद्यः । तस्य पुरोवर्तिरजतसत्तामात्रं गोचरतयाऽसंनिहिततत्सत्तायामौदासीन्यात् । न द्वितीयः । बाधानुभवस्यापि पुरोवर्तिन्यारोपिताभावविषयस्य देशान्तरतत्सत्तानावेदकत्वात् । न तृतीयः । रजतावभासस्य यथाप्रतीतपुरोवर्तिरजतसत्तां विनानुपपत्तावपि देशान्तरे तदीयसत्तामन्तरेणानुपपत्त्यभावात् । न चतुर्थः । बाधस्य प्रसक्तप्रतिषेधात्मनस्तत्रैव तत्सत्ताक्षेपकतयाऽन्यत्र तत्सत्तानाक्षेपकत्वात् । न च बाध्यमन्यत्रापि तस्यासत्त्वे तत्रापि कुतो न तस्य बाधः स्यादिति । तत्र तस्याप्रसक्तेरेव बाधाभावोपपत्तौ तत्सत्ताध्यवसायायोगात् । नेदं रजतमिति पुरोवर्तिनि रजततादात्म्यनिषेधात्मबाधानुभवो रजतमर्थात्स्वपि परिशिनष्टीति चेन्न । तथासति वनस्पद्योरिव विविक्तयोर्द्वयोरप्यत्रैवानन्तरं प्रतीतिप्रसक्तेः । नापि पञ्चमः । असतः संसर्गस्येव रजतस्याप्यसतः ख्यात्युपपत्तेः । अथाधुनिकस्य कस्यचिन्मतानुसारेणेदं रजतमिति ज्ञानमि-

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न भवतीत्यर्थः । तदिह ज्ञानस्यासत्प्रशङ्गाधर्मेण स्वभावाभ्यादनुपलब्धता दूरापेता । सदसतोः स्वभावस्वभाविलाभावाच्च, न स्वभावाविनाभावः । उक्तं हि न्यायविन्दौ—'स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः स्वभाव' इति, विज्ञानस्यासदुत्पत्त्यभावाच्च न कार्यकारणभाव इति । असत्ख्यातिनिराकरणमुपसंहरति—तस्मादिति ।

सत्ख्यातिं निराकरोति—नापीति । न वयमत्रैव सत्त्वं ब्रूमः येन बाधविरोधः स्यादपित्वन्यत्रेति शङ्कते—यत्रेति । भवेदेवं यद्यन्यत्र सत्त्वे प्रमाणं स्यान्नतु तदिति परिहरति न तत्रेति । संभावितप्रमाणानि विकल्प्य दूषयति—भ्रान्त्यनुभवेत्यादिना । प्रत्यक्षमर्थापत्तिर्वा इत्यर्थः । भ्रमानुपपत्तिं दूषयति—न तृतीय इति । अत्यन्तासतः संसर्गस्याप्यपरोक्षप्रतीतिमङ्गीकुर्वतो रजतस्यापि तथाप्रतीतिसंभवाच्च सत्तापेक्षेति सूचितम् अनुपपत्तावपीत्यपिना । तत्रैव तत्सत्तेति । सञ्चिधेरित्यर्थः । ननु यद्यन्यत्राप्यसदत्रैव तत्रापि बाधः स्यान्नत्वेतदस्ति ततो नूनमवगच्छामोऽन्यत्र सदिति तत्राह—न च बाध्यमित्यादिना । हेतुमाह—तत्र तस्येति । बाधाभावस्त्वन्यथासिद्ध इत्यर्थः । ननु न वयं रजतबाधान्यानुपपत्त्या रजतसत्त्वं ब्रूमः अपितु तादात्म्यमात्रबाधो धर्मिभूतं रजतं कापि परिशिनष्टीत्याशङ्क्य निषेधति—नेदमिति । अयमर्थः । कथमिदमवधारयते तादात्म्यनिषेधोयं न धर्मिनिषेध इति । यदि हि धर्मिणो रजतस्य मानान्तरात्सत्त्वमवसीयेत तदा प्रसक्तस्यापीदमंशस्येवाबाध इत्यवधारयत, नत्वेतदस्ति, नहि दूरस्थस्थावरयोर्मेदाप्रहायरूपरात्मत्वा-रोपे नेदिष्टं तिष्ठतश्च विवेकमहात्तादात्म्यांशनिषेधे तत्रैवानन्तरप्रतीतिवदनयोरस्ति प्रतीतिः । एतदुक्तं भवति । प्रसक्तयोस्तादात्म्यांशनिषेधो धर्मिणोस्तत्रैव समनन्तरप्रतीत्या व्याप्तसन्निरुद्धौ निवर्तत इति । न च तत्र संनिहितयोस्तादात्म्यारोप इदनु सन्निहितासन्निरुद्धितयोरिति वैषम्यम् । एतादृशेषु तादात्म्यारोपसंप्रतिपत्तेः द्वावैतौ नैक इतिवदबाधनाच्च । असतः ख्यात्यनुपपत्तिरिति पञ्चमं पक्षं निषेधति—नापि पञ्चम इति । असत एव संसर्गस्यापरोक्षतया ख्यातिरिति यस्य मतं तस्य कानु नामानुपपत्तिः असतो रजतस्य प्रतीतावित्यर्थः । ध्यायकल्पतरावुशीरितमाशङ्कते—अथाधुनिकस्येति । न संसर्गोऽत्र प्रतीयते येनासतः प्रकाशमानता

दमाकाररजताकारयोर्न संसर्गप्राहकमपितु तयोरेकज्ञानसंसर्गिणोर्भेदाप्रहादयथार्थव्यव-
हारो गृह्यमाणयोर्भेदाप्राहि सविकल्पकमेकं विज्ञानं विभ्रम इति भ्रमलक्षणाभ्युपगमात् ।
तथाच नासतः कस्यचित्ख्यातिरिति कश्चिद्भ्रूयात्तं प्रति भ्रूयात् । मध्यमवृद्धव्यवहारेष्ये-
कज्ञानोपारोहिणोः संसर्गिणोरसंसर्गप्राहादेव व्यवहारोपपत्तौ बालस्य संसर्गज्ञानानुमा-
नानुदयाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात् । एवमनुमानाभास इव सदनुमानेष्यसंसर्गप्राहादेव संस-
र्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेदः, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च । ब्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र
प्रत्यभिज्ञायामसंसर्गप्राहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरिति गुरुमतनिरसनेनैव 'गुरुमतपरि-
पोषणनिपुणमतेर्मतं निरस्तमिति ।

किंच कणभक्षाक्षचरणमतमवलम्ब्यैवमन्यथाख्यातिमन्यथावर्णयतो द्वितीयसूत्रे मिथ्या-
ज्ञानविवेचनवेलायाम्—'इहात्मनि मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारं वर्तते, तद्यथाऽनित्ये नित्य-
मिति सभये निर्भय'मित्यादिभाष्यविरोधः । 'कः पुनर्विपर्ययोऽतस्मिन्निति प्रत्यय'इत्यु-
द्धोतकरवार्तिकविरोधश्च प्रसज्येतेति, 'वध्यतां वध्यतां बालो नानेनार्थोऽस्ति जीवता ।
स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद्यः कुलाङ्गारतां गत' इति न्यायविषयतामयं नातिवर्तते । तस्मादस-
त्ख्यात्यनुपपत्तिरपि नान्यत्र सत्तावेदिकाऽऽरोपितस्य । कुत्रचेदमारोपितमन्यत्र भवद् भवेत् ।
न तावद्देशान्तरादौ, तस्यासन्नहितस्य द्रष्टृभयोग्यत्वात् । द्रष्टुं करणं विप्रकृष्टमपि द्रष्टुं

स्यात् । तद्दृष्टान्तेन च रजतस्य सच्चं निषेधेताऽपितु शुक्तिरजतयोः स्वरूपमात्रप्राहीदमेकं विज्ञानमित्यर्थः ।
तर्हि किं तत्संसृष्टव्यवहारो निर्निबन्धनो, न, भेदाप्रहनिबन्धन इत्याह—अपित्विति । कथं तर्ह्यख्यातेर्भेद-
स्तत्राह—गृह्यमाणयोरिति । एकं विज्ञानमित्यख्यातेर्भेदः, सविकल्पकमिति च वस्तुमानप्राहिणो निर्नि-
कल्पकाद्विवेचितो, नेदं रजतमित्यादिभ्यश्च भेदाप्राहीति व्यावृत्तिः, घट इत्याद्येकैकवस्तुप्राहिविज्ञानमितरस्माद्भेदं
न गृह्णाति उक्तरूपं चातस्त्रिभृत्पर्यं गृह्यमाणयोरित्युक्तम् । एकैकेन ज्ञानेन तु भेदवत्पटादेरप्यभ्रहणाद्या-
वृत्तिः । फलितमाह—तथाचेति । तदेतद्दूषयति—तंप्रति ब्रूयादिति । एकज्ञानोपारोहस्वीकारेपि संसर्ग-
ज्ञानापलापसाम्यात् अख्यातिवादिनि संसर्गज्ञानापलापिन्युक्तं शब्दानुमानप्रत्यक्षाप्रामाण्यप्रसङ्गं दोषमत्रा-
प्याह—मध्यमवृद्धेत्यादिना । किंचैकस्मिन्नेव घटे स एवायं घटो न भवतीति विभ्रमे लक्षणमव्यापकम् ।
विद्यमानभेदयोरिति विशेषणेषु दूरगिरिशिखरतरुनिकरमौत्रप्राहिविप्रलयेऽतिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम् । एतन्मतद्रूपण-
मुपसंहरति—इति गुरुमतेति ।

किंच कणादासपादमतावलम्बिना तावदिदं वक्तुं न युक्तं, भाष्यवार्तिकविरोधेनापसिद्धान्तापातादित्याह—
किंच कणभक्षेत्यादिना । द्वितीयसूत्रे—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरा-
पायादपवर्ग' इति । आत्मनीत्याधिकरणे सप्तमी । अत्र ह्यनित्ये इत्यादिसप्तम्या आधारधियरूपसंबन्धप्राहित्वं
विभ्रमस्य कण्ठोक्तमिति भावः । स्वपक्षहानीति । प्रहादं प्रति हिरण्यकशिपुवचनम् । अन्तिमपक्षेकदूषण-
मुपसंहरति—तस्मादिति । तदेवं साधारण्येनारोपितस्यान्यत्र सत्त्वं नास्तीत्युक्तमिदानीं विशेषतो दूषयितु-
मुपक्रमते—कुत्र चेदमिति । अन्यथाख्यातिं निराकरोति—न तावदिति । ननु यदि न दुष्टाक्षस्य

१ प्राभाकरमताद् भेद इत्यर्थः । २ एकैकविषयकेणल्यर्थः । ३ मात्रपदेन भेदो व्यवच्छिद्यते । यदा गिरिशिख-
रवती तरुनिकर इति प्रत्यक्षं नच परपर तरुणा भेदो गृह्यते तदा त्वदुक्तभ्रमलक्षणस्य तत्राऽतिव्याप्तिरिति भावः ।
४ वैषयिके इति शेषः । ननु औपलक्षिके । अनात्मसमवेतस्य मिथ्याज्ञानस्याप्रतिष्ठाऽऽत्मनीतिविशेषणस्य धर्मत्वा-
पत्तेः । ५ अनित्यादेर्भित्वादिना सद्य ए आधारधियभावरूपः संबन्धस्तदूमाहितमित्यर्थः । वस्तुतस्तु अनित्ये इति
निषयसप्तमी । अनित्यविशेष्यकं नित्यत्वप्रकारकमित्यर्थः ।

शक्तेतीतिचेन्न । दुष्टकरणस्य पुंसः सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात् । अतो दोषोऽप्यसदनिर्वचनीयं वा दर्शयति, दृष्टानुसारात् । तदेवं न देशान्तरादावारोप्यसद्भावः । अस्तु तर्हि बुद्धौ, स्वरूपेणासतो गगनारविन्दादिवदप्रतिभासात्, नेदं रजतमिति बाधस्येदंतामात्रगोचरत्वात्, द्वयोर्बाधकल्पनायां कल्पनागौरवात्, नेदं रजतमिति च रजते बाधादर्शनात् । नचेदंतानिपेधे सत्यनिर्दंतया बहिरपि व्यवस्थोपपत्तौ कृतः संविदाकारतेति सांप्रतम् । व्यवहितस्यापरोक्षसंविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तेः, संविदाकारो रजतं संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति प्रयोगोपपत्तेः ।

ननु संप्रयोगो नाम किमिन्द्रियसंयोगादिविशेषः किं वा संबन्धमात्रम् । नाद्यः । रूपादिनाऽनैकान्त्यात् । द्वितीयेतु विशेषणासिद्धिः । दृष्टान्ते साधनविकलता च । नहाध्यासिकसंबन्धं विनास्माकं रूप्यं तद्धीश्चापरोक्षा, धीरूपत्वे च रजतादेर्भ्रान्तिं विनापि दर्शनप्रसङ्ग इति चेन्मैवम् । इन्द्रियसन्निकर्षानधीनापरोक्षत्वस्य विवक्षितत्वात् । संवेदनस्य चेन्द्रियसंबन्धमन्तरेणैव स्वतःसिद्धतया साक्षिसिद्धत्वेन वा साधनवैकल्याभावात् । नच धीरूपत्वे रजतादेर्भ्रान्तिंविनापि दर्शनप्रसङ्गः । धियोऽन्यत्वेऽपि पटादिवद्भ्रान्तिं विनापि दर्शनप्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । ततो धीरूपमेव रूप्यमिति चेत्तदयुक्तम् । अत्यन्तालीकाया अपि बाह्यतायाः प्रतिभासवदत्यन्तासतोपि रजतादेः प्रतिभासोपपत्तेः । नच नेदं रजतमितीदन्तामात्रमेव बाध्यते कल्पनालाघवादिति न्याय्यम् । इदं रजतमिति प्रतिपन्नविशिष्टर-

विप्रकृष्टद्रष्टृत्वं कृतस्त्वर्हि दोषस्य दोषत्वमिति तत्राह—अतो दोषोऽपीति । प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकत्वेसति विपरीतकार्यनिष्पादको दोषः, तदिहाप्यसदनिर्वचनीयं वा सत्त्वेन भासयतोस्वीत्यर्थः । दृष्टानुसारादिति । असत्संसर्गावभासकत्वस्य ज्ञाने त्वयैव स्वीकारादित्यर्थः । आत्मख्यातिमवतारयति—अस्तु तर्हीति । तत्र युक्तीराह—स्वरूपेणासत् इत्यादिना । नन्वस्य सत्त्वकल्पनं नेदं रजतमिति बाधविरुद्धमिति नेत्याह—नेदं रजतमिति । अथ किमिति तदयं निषेधतीत्यत आह—द्वयोर्बाधकल्पनायामिति । अनुभवमपि प्रमाणयति—नेदं रजतमिति । नन्विदंतानिपेधे सत्यनिर्दंतया विप्रकृष्टं भवत्वत्यन्तसन्निकर्षानं स्वात्मरूपप्रत्ययात्मकं कृतस्त्वामिति तत्राह—नचेदंतानिपेधेसतीति । हेतुमाह—व्यवहितस्येति । संप्रयोगरहितस्येति यावत् । संविदाकारतायामनुमानमपि प्रमाणमाह—संविदाकारो रजतमित्यादिना । घटादेरनुमेयस्य च व्यवच्छेदार्थं संप्रयोगमन्तरेणेलायुक्तम् ।

यदत्र न्यायरीपावल्यां दूषणमुक्तं तदनुवदति—नन्वित्यादिना । रूपादिनेति । संयोगमन्तरेणापरोक्षता रूपादेः समैवायमन्तरेण च भाच्छब्दव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य तथापि संविद्रूपता नास्तीत्यनैकान्त्यम् । नच तत्रापि संविद्रूपत्वमेव सर्वस्य संविद्रूपताद्वीकारादिति वाच्यम् । तथासति विपक्षाद्यंभवेन संप्रयोगमन्तरेणेति विशेषणवैयर्थ्यात् । संबन्धमात्रविवक्षायां तत्राहिस्यविशेषणमसिद्धं, चैतन्येनाभ्यासिकसंबन्धस्वीकारात् रजतसंवेदनयोः । अत एव दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यं चेत्याह—द्वितीयेति । तर्कबाधमप्याह—धीरूपत्वेत्येति । तदेतत्परिहरति पूर्ववादी—मैवमित्यादिना । न संबन्धमात्राहिल्यं विवक्षितं, किरिन्द्रियसंबन्धराहित्यं, तेन नानैकान्तिकताऽसिद्धी इत्यर्थः । साधनवैकल्यं परिहरति—संवेदनस्य चेति । हृष्यतानस्येत्यर्थः । स्वतःसिद्धतयेति बौद्धाभिप्रायेण । साक्षिसिद्धतयेति स्वाभिप्रायेण । तर्कविरोधं परिहरति—नचेति । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तत् इति । न तावदसतः ख्यात्यनुपपत्तिः, बहिष्ठे तदभावादित्याह—अत्यन्तालीकाया इति । नच न्याय्यामित्युक्तं तत्र हेतुः—इदं रजतमिति । कल्पनायां हि लाघव-

जतस्य नेदं रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनीयत्वाभावात् । अतएव कल्पना-
लाघवन्यायानवतारात् । नच संविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तिः । बाह्यतावत्तदुपपत्तेः ।

किंचारोपितं बुद्धौ चेत्, गुञ्जापुञ्जादौ दहनसमारोपे देहदाहप्रसङ्गः । बुद्धावपि तस्याता-
स्त्विक्त्वाद्प्रसङ्ग इतिचेत्तर्हि न तद्बहिः सन्नान्तरित्यन्तत्वात्सदनिर्वचनीयं वा स्यात्, गत्यन्त-
राभावात् । संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वादिति हेतुर्बहिर्द्वेष्यबुद्ध्याकारे वर्तत इति सव्यभिचारः ।
तस्मान्नासत् नापि सत्संमारोपितं, नापि सदसद्रूपं विरोधात् । अविरोधेवा न भ्रान्तिबाधौ,
द्वयोरपि परमार्थविषयत्वात् । उभयाकारस्यैकाकारप्रतिभासो भ्रम इतिचेत्, तर्हि बाधस्यापि
भ्रमत्वप्रसङ्गः । तस्याप्येकाकारविषयत्वात् । सर्वज्ञानानां च सर्वोत्तमानां नवभासकत्वाद्भा-
न्तित्वप्रसङ्गो दुर्वारः स्यात् । तस्माद्गत्यन्तराभावादननिर्वचनीयमारोपितमिति सिद्धम् ।

ननु किमिदमनिर्वचनीयत्वं किं निरुक्तिविरहः किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य विरहः ।
नाद्यः । इदं रजतमित्यादिनिरुक्तेरङ्गीकारात् । न द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । तथाहि
निरुक्तेर्निमित्तं ज्ञानमर्थो वा । नाद्यः । रजतादिज्ञानस्य निरुक्तिनिमित्तस्य मायावादि-
भिरभ्युपगमात् । न द्वितीयः । अर्थस्यापि सतो विरहेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गात्, असतोपि
विरहे सत्त्वप्रसङ्गात् । उभयविरहस्य च परस्परविरुद्धयोर्लोकसिद्धयोरन्यतरनिषेधस्ये-
तरविधिनान्तरीयकत्वनियमदर्शनादेवानुपपत्तेः । भावाभावयोरलौकिकयोः स्वकपोलप

मनुसरणीय, नचान् कल्पना, प्रमाणमार्गागतत्वादितरथाऽतिप्रसङ्गादह रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गावेति भाव ।
अनुपपत्त्यन्तर परिहरति—नच संविदैक्यमिति ।

तदेवमप्रामाणिकत्वमुक्त्वा प्रमाणबाध चाह—किंचारोपितमित्यादिना । स यदि ब्रूयादान्तरं न
वस्तु सदतो न दाहादिरिति तं प्रत्याह—तर्हीति । अपत्तिद्वान्तापत्तिरित्यर्थ । यच्चनुमानमुक्त तद्बहिर्द्वेष्य-
कान्तिकमित्याह—संप्रयोगमित्यादिना । सत्ख्यातिनिराकरणमुपसहरति—तस्मादिति । अस्तु तर्हि
सदसदात्मकमारोपित यथाहु 'स्वरूपपररूपाभ्या नित्य सदसदात्मके । वस्तुनि ज्ञायते किंचिद्रूप कैश्चित्क-
दाचने'ति । तत्राह—नापि सदसद्रूपमिति । ननु यद्यपि परमार्थविषयत्वमुभयोस्तथाप्युभयाकारस्य
सतोऽर्थस्यैकाकारग्राहित्वात् पूर्वज्ञान भ्रान्तमित्याशङ्कते—उभयाकारस्येति । तर्ह्यसदाकारमात्रग्राहिणो
बाधकस्यापि स्याद्भ्रान्तित्वमित्याह—तर्हीति । अत्यल्पचेदं, सर्वज्ञानानामेवैवभावाद् भ्रान्तित्वप्रसक्तिरि-
त्याह—सर्वज्ञानानां चेति ।

आरोपितमनिर्वचनीयमित्युपसद्धत् तदाक्षिपति—नन्विति । किं निरुक्तिविरहोऽनिर्वचनीयत्व, किंवा
निरुक्तिनिमित्तस्य विरह, किंवा ज्ञानबाधत्व, अथवा प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमिति । तत्र प्रथम निषे-
धति—नाद्य इत्यादिना । निरुक्तेर्निमित्तमिति । निर्वचनसवन्धि हि निर्वचनीयं, तच्च निमित्त ज्ञान
मपि भवति । कारणतया सवन्धित्वात् । तथा विषयतयाऽप्यपि । तयोर्विरहश्चेदननिर्वचनीयत्व विवक्षितमित्यर्थ ।
ज्ञाननिमित्तविरह दूषयति—नाद्य इति । विषयज्ञान हि शब्दप्रयोगे निमित्त तच्च त्वयाप्यभ्युपेयते इत्यर्थ ।
अर्थविरहपक्ष दूषयति—न द्वितीय इति । अर्थविरह इति कोर्थ, किं सन्नर्थो नास्तीति, तर्ह्यसन्नैवार्थ इत्य-
सत्ख्यातित्वमेव न पुनरनिर्वचनीयत्वमित्याह—अर्थस्यापीति । अथासन्नर्थो नास्तीति तर्हि सन्नैवार्थ इति
सत्ख्यातित्वमेवेत्याह—असतोपि विरह इति । ननुभयोरन्यर्थयोर्विरहोऽर्थविरहस्तथा च नार्थान्तरतेति
तत्राह—उभयविरहस्य चेति । तत्र किं लोकप्रसिद्धसदसतोर्विरहोऽनिर्वचनीयत्वं उत समतसङ्केतितयो ।
नाद्यम्, असम्भावित्याह—लोकसिद्धयोरिति । द्वितीये आह—भावाभावयोरिति । निषेधयो-

रिक्ल्पितयोर्निषेधसमुच्चयाङ्गीकरणे तु लौकिकसदसतोरनिषेधात् न निरुक्तिनिमित्तार्थासंभवः । अतो न सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयं, नापि ज्ञानवाध्यत्वं, वाध्यत्वशब्देन निवर्त्यत्वाङ्गीकारे पूर्वज्ञानस्य संस्कारस्य चोत्तरविज्ञाननिवर्त्यत्वादर्निर्वाच्यत्वापातः । विश्वस्य चेश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वादर्निर्वाच्यत्वं स्यात् इति लक्षणस्यातिव्याप्तिः । अथ वाध्यत्वं नाम बाधकज्ञानविषयत्वं, तदा शुक्त्यादेर्लक्षणश्चानिर्वाच्यत्वं स्यात्, तयोरधिष्ठानतया बाधकज्ञानविषयत्वात् । अथ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च वाध्यत्वमिति । मैवम् । मायाविवर्तस्य पुरोवर्तिरजतस्य तथाविधनिषेधविषयत्वानङ्गीकाराल्लक्षणस्याव्याप्तेः, लौकिकपरमार्थरजतस्यात्र तथाविधनिषेधविषयत्वाङ्गीकारादर्निर्वाच्यत्वापत्तिरिति लक्षणस्यातिव्याप्तेश्च । एतेन प्रतिपन्नोपाधौ निषेध्यत्वमनिर्वचनीयत्वमित्यपास्तम् । पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्याधिष्ठानज्ञानेन^१ भाषायां विलीयमानायां तत्परिणामतया स्वयमेव विलीयमानस्य नेदं रजतमिति निषेधाविषयत्वात् ।

किंचात्र प्रमाणं, ख्यातत्वेसति वाध्यत्वानुपपत्तिः । असतो नरशृङ्गादेरख्यानात्सत्त्वचिदात्मनो बाधाभावात् उभयस्य चेह दर्शनादितिचेत् । न । देशान्तरे सत्त्वात्ख्यातेरिहासत्त्वाद्बाधस्यापि संभवात् अन्यथाप्युपपत्तेः । किंचासतो भानमनुपपन्नमित्यसत् । असतोपि वच्छब्दाद्भानात्, अन्यथात्त्वपार्थक्यत्वं वाक्यस्य, प्रयुक्तपदानां संभूयकारित्वनियमात् ।

किंचेदं सद्विवक्षितं, किं सत्तायुक्तम् ? अथावाध्यम् ? उत ब्रह्मस्वरूपम् ? नाद्यः । सत्तायु-

समुच्चयः निषेधसमुच्चयः । तृतीयं निषेधति—नापि ज्ञानवाध्यत्वमिति । तत्र वक्तव्यं किं बाधकज्ञाननिवर्त्यत्वं, किं वा बाधकज्ञानविषयत्वं, किं वा कालत्रयनिषेधप्रतियोगित्वम् । तत्र प्रथमं निषेधति—वाध्यत्वशब्देनेति । द्वितीयं दूषयति—अथ वाध्यत्वं नामेति । अधिष्ठानयाध्यात्म्यज्ञानं हि त्वन्मते बाधकं तथाच स्पष्टेवातिव्याप्तिः । असन्मतेपि नेदं रजतमित्यत्राधिष्ठानमपि स्फुरतीत्यर्थः । तृतीयमुत्थाप्य दूषयति—मैवमिति । त्वन्मतेऽनिर्वचनीयरजतस्य तत्रैवाविद्ययोत्पन्नत्वात्प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च न कालत्रयेऽप्यभावः शक्याङ्गीकारोऽतोऽव्याप्तिः, कस्मिंश्चिदपि लक्ष्येऽवर्तमानत्वादित्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—लौकिकेति । तृतीयपक्षोक्तं दूषणं चतुर्थेऽप्यतिदिशति—एतेनेति । अतिदिश्यमानामव्याप्तिमेव विवृणोति—पुरोवर्तिनीति । अधिष्ठानयाध्यात्म्यज्ञानेनाधिष्ठानाज्ञानमेव बाध्यते । तत्परिणामरूपशोक्तं ज्ञानहेतयोः स्वयमेव विलय इतिहि तव समयः । तथाच ह्युपादेर्निषेध्यत्वाभावादव्याप्तिर्लक्षणसेत्यर्थः ।

एवं लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणं प्रतिक्षिपति—किंचात्र प्रमाणमित्यादिना । अर्थापत्तिं शङ्कते—रयात्तत्त्वे सतीत्यादिना । अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—असतो नरशृङ्गादेरित्यादिना । इमामर्थापत्तिमानमनोहरकारोकान्याथाप्युपपत्त्या दूषयति—न । देशान्तरेत्यादिना । अनुदयमप्याह—किंचेति । यद्यसतो न भानं कथमसत्पदं बोधकं स्यात्, यदिचाबोधकमसत्पदं कथमपार्थक्यं नाम निग्रहस्थानं न भवेदिति भावः । निरर्थकं न्यात्रापार्थक्यत्वेन विवक्षितम् । नन्वसतोऽभानादित्यत्रासत्पदस्याबोधकत्वेपीतरपदानां बोधकत्वात्कथमपार्थक्यता तत्राह—प्रयुक्तपदानामिति । इदमपि तेनैवोक्तं, यदाह 'असतो भासनायोगादित्यादिनाशङ्का प्रथमे त्वसत्पदस्य बोधकत्वेऽसतो भासनायोगादित्यनेन व्यापातः । अन्वयानर्थक्यत्वं प्रयुक्तपदानां संभूयकारित्वनियमादिति ।

यत्तु तेनैव द्वितीये सत इति बोध्यं इत्यादिदूषणमुक्तं तदाह—किंचेदंसद्विवक्षितमित्यादिना ।

कस्य प्रपञ्चस्य भवन्मते बाध्यतया यत्सत्तदबाध्यमिति व्याप्येतरसिद्धेः । न द्वितीयः । यदबाध्यं तदबाध्यमिति साध्याविशिष्टत्वापत्तेः । न तृतीयः । सिद्धसाधनत्वात् । अर्थान्तरत्वाच्च । किंचान्यथैवोपपत्तिरभ्युहनीया, सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत्ख्यात्यनुपपत्तेः असद्विलक्षणत्वे चात्मवद्वाधयोगादुभयविलक्षणस्योभयानुपपत्तेः ।

नच वाच्यं सदसत्त्वे बाधाभावाभानप्रयोजके न तु तद्वैलक्षण्ये गौरवादिति । असतोपि तत्त्वदात्प्रतिभानेन सतोपि प्रपञ्चस्य बाध्यत्वदर्शनेनोक्तोत्तरत्वात् । तदेवं नार्थापत्तिरनिर्वचनीये प्रमाणम् । अस्तु तर्ह्यनुमानं—विवादपदमनिर्वाच्यं भ्रमविपयत्वात् यत्रैवं तत्रैवं यथात्मा । नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः । इच्छादीनामदृश्यातिरिक्ताश्रितत्वात्मानवत्सामान्यतः प्रसिद्धिविशेषपरिशेषाभ्यां तत्प्रसिद्ध्युपपत्तेरिति चेत् । शुक्त्यादावात्मनि च विपक्षे वर्तमानतया विरुद्धत्वात्, गुणत्वलिङ्गेन क्वचिदाश्रितत्वप्रसाधनवदनिर्वाच्यत्वसाधने लिङ्गाभावात् । अथैतद्वोपपरिजिहीर्षया विमतं सदसद्विलक्षणं दोषप्रयुक्तमानत्वात् भ्रान्तिसिद्धतादात्म्यवदिति प्रयुञ्जीत । तदप्यसत् । दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् ।

नहि शुक्तिरजततादात्म्यस्य सदसद्वैलक्षण्यं परीक्षकैरभ्युपगम्यते, येनोभयवासिद्धतया तस्य दृष्टान्तता स्यात् । अथ भावरूपतयाऽपरोक्षत्वेन भानाद्वाधाच्च तस्य सदसद्वैलक्षण्यं युक्त्या साध्येत, तदा रजतस्यापि तथा तत्साधयितुं शक्यमिति व्यर्थोयं वक्यन्वविधिप्रयासः । किंचेदं दोषप्रयुक्तमानत्वं किं दोषजन्यज्ञानविपयत्वं, उत दोषजन्यप्रथमं दूषयति—नाद्य इति । यत्सत्तायुक्तं तदबाध्यमितिव्याप्तिः क इष्टा । न तावत्प्रपञ्चे । तस्य सत्तायुक्तत्वेपि बाध्यत्वेन व्यभिचारभूमित्वात् । नापि ब्रह्मणि, तस्याबाध्यत्वेपि निर्धर्मकत्वेन सत्तायुक्तत्वाभावादिति भावः । द्वितीये तु सतो बाधाभावादिति कोर्थः योयमबाध्यस्तस्य बाधाभावादिति, तथाच साध्याविशिष्टत्वमित्याह—न द्वितीय इति । यद्ब्रह्मस्वरूपं तदबाध्यमिति हि तृतीयः पक्षः । तथात्वासाध्यस्यास्मिन्प्येवहीकारात्सिद्धसाधनं प्रपञ्चसानिर्वचनीयत्वापर्यवसानादार्थान्तरत्वेत्यर्थः । त्रीणि हि दूषणानि अर्थापत्तेः, अन्यथैवोपपत्तिरन्यथाप्युपपत्तिरनुदयधेति तन्नान्यथाप्युपपत्तिमनुदयं चोक्त्वाऽन्यथैवोपपत्तिमाह—किंचेति । सद्वैलक्षण्येऽसद्वैलक्षण्य उभयवैलक्षण्ये चानुपपन्नमानाभ्यां ख्यातिबाधाभ्यां सदसदात्मकरवमेव रजतादेः सिद्धतीत्यर्थः ।

स्यादेतत् । सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत् ख्यात्यनुपपत्तिरित्युक्तमयुक्तम्, सद्वैलक्षण्यस्य सप्रतियोगिकतयाऽनेकज्ञानापेक्षस्य बल्पनागौरवेण भानाभावं प्रति प्रयोजकत्वायोगात्, एवमसद्वैलक्षण्येपि, तस्मात्सत्त्वमेवभावेन प्रयोजकं तद्वि निरपेक्षं लभित्ति, तथा बाधाभावेपि सत्त्वमेव प्रयोजकं लघुत्वादेव, तदिह बाधो दृश्यमानः सद्वैलक्षण्यं गमयति ख्यातिश्चासद्वैलक्षण्यमिति, तदेतदाशङ्क्य निषेधति—नच वाच्यमित्यादिना । उक्तान्यथोपपत्तिमेव दूषणमाह—असतोपीति । एवमर्थापत्तिं दूषयित्वाऽनुमानं शङ्कते—अस्तु तर्ह्यिति । तत्र हि भ्रमविपयत्वं हेतुरधिष्ठानतया भ्रमे प्रतिभासमाने शुक्त्यात्मादौ वर्तते इति विरुद्ध इत्याह—न शुक्त्यादाविति । किंच यथा तत्र गुणत्वेन सामान्यतः क्वचिदाश्रितत्वसाधनं, नैवमनिर्वोच्यत्वस्य सामान्येन साधने लिङ्गमस्ति किंचित्, ततो वैलक्षण्यमित्याह—गुणत्वेति । अप्रसिद्धविशेषणतापरिहारायान्वयव्यतिरेक्यनुमानं न्यायरजदीपावलीस्यं शङ्कते—अथैतद्वोपेति ।

साध्यवैकल्यमेव विशदयति—नहि शुक्तीति । अथ तादात्म्यस्य प्रथमं युक्त्या सदसद्वैलक्षण्यं प्रसाध्य तद्दृष्टान्तेन प्रपञ्चस्य तत्साध्यत्वे तर्हि सैव युक्तिरत्रैवोपन्यस्तामलमनेन दण्डसर्पमारणन्यायेनेत्याह—अथ भावरूपतयेत्यादिना । भवद्वा यथाकथंचित्परं तथापि हेतुरेवायं न घटत इत्याह—किंचेत्या-

१ ख्यातिबाधोभयेत्यर्थः । २ देशान्तरे सत्त्वात् ख्यातिरिहासत्त्वाद्बाधस्यापि संभवादिति पूर्वोक्त्यर्थः ।

३ नकुलध्यापाद्यमानस्य सर्पस्य दण्डेन मारणनिव रजततादात्म्यानिर्वचनीयत्वसाधक्युक्त्यैव रजतस्यापि सत्त्वसिद्धी त्वानुमानोपन्यासोऽयमिति भावः ।

प्राकट्याश्रयत्वम् । नाद्यः । ज्ञानस्यैकत्वेन तज्ज्ञानविषयाधिष्ठाने व्यभिचारात् । न द्वितीयः । प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात् । नहि देशकालव्यवहितस्य रजतादेदोपजन्यमानाश्रयत्वमुपपद्यतेऽभ्युपेयते वा परैः । किंचेदमनिर्वचनीयत्वं न भ्रान्तिज्ञानानुकूलं, नापि वाधकज्ञानानुसारि । भ्रान्तौ सदिदं रजतमिति सत्त्वेन वाधे च नेदं रजतमित्यसत्त्वेन स्फुरणात् । अपिचानिर्वचनीये रजतशब्दो न जातिनिबन्धनस्तत्र जातेरभावात्, भावे वा सत्त्वरजतवदेवावाध्यत्वप्रसङ्गात् । नाप्यौपाधिकः ५ पाचकादिशब्दवदखण्डशब्दत्वात्, उपाधेरनिरूपणाच्च । नाप्यक्षादिशब्दवद्द्रुहः । स्वभ्रान्तिमात्रसिद्धस्यान्यत्रादृष्टचरत्वेन रजतस्य तेनागृहीतसंबन्धत्वात् । किंचानिर्वचनीयं चेद्रजतं, न प्रतीयेत । तथा हि किं दुष्टेन्द्रियेण तत्प्रतीतिरुत संस्कारात् अथवा साक्षिचैतन्यात् । नाद्यः । तस्य प्रतिभासमात्रशरीरतया संप्रयोगायोग्यत्वात् । न द्वितीयः । अननुभूते संस्काराभावात् । न तृतीयः । इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिनः केवलसाक्षिवेद्यत्वासंभवात् । नचाधिष्ठानविषयतयान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिः । तथासति ज्ञानद्वयस्वीकारेणाख्यातिमत्तानुमतिप्रसङ्गः ।

नच संसर्गप्रतीतेरभ्युपगमाद्भाख्यातिप्रसङ्गः, तथापि विज्ञानद्वयाभ्युपगमेनाख्याति-

दिना । भानशब्देन ज्ञानमभिधीयते प्राकट्यं वेल्यर्थः । प्रथमेऽनैकान्तिकतामाह—**नाद्यो ज्ञानस्येति** । अधिष्ठानज्ञानस्यादोपजन्यत्वादितरैस्य च ज्ञानलानङ्गीकारादसिद्धिरित्यल्पेके । द्वितीये स्वरूपासिद्धिरित्याह—**न द्वितीय इत्यादिना** । यद्यपि लक्ष्णे भ्रमस्य साक्षिवेद्यतास्वीकारादस्येवापरोक्षं तथापि विषयावच्छिन्नाभिव्यक्त्यैतन्यरूपप्राकट्यं नास्तीत्यपि द्रष्टव्यम् । किञ्च यदुपपादनायेदमनिर्वचनीयत्वमाद्रियते तान्यामेव भ्रान्तिवाधाभ्यां विरोधाद्युक्तमेतदित्याह—**किंचेदमिति** । रजतशब्दप्रयोगानुपपत्तिरप्यनिर्वचनीयत्ववाधिकेत्याह—**अपिचानिर्वचनीयेति** । तत्र वक्तव्यं किमयमनिर्वचनीये रजते रजतशब्दो जातिनिबन्धनः, किञ्चोपाधिनिबन्धनः, किवाक्षादिशब्दवद्द्रुह इति विकल्प्यायं निषेधति—**न जातिनिबन्धन इति** । अङ्गीकारे वाधकमाह—**भावे वेति** । रजतत्वाधिकरणं हि रजतं नाम तदिदमपि चेतथाविधं तद्वदेवावाध्यमपि स्यादित्यर्थः । द्वितीयं निषेधति—**नापीति** । हेतुमाह—**अखण्डशब्दत्वादिति** । अपौरुषिकत्वात् । यथाहि पाचक इत्यत्रावयवशक्त्या पचिक्रियासंबन्धाभिधानेन तद्युक्ते वर्तनं नैवं रजतशब्दस्यास्ति, ष्णुलादिवक्तत्रादिविहितप्रत्ययान्नाभावादित्यर्थः । अथ यथाऽखण्डत्वेपि जातिशब्दस्योपाधिवाचकत्वं तद्वदिकं न स्यादित्यत आह—**उपाधेरिति** । तृतीयं निषेधति—**नाप्यक्षादीति** । यद्यप्यक्षादौ न सर्वत्रानुगतः कश्चिज्जातिरुपाधिर्बोधोस्ति येन साधारणशब्दत्वं तथामि विभीतकत्वविदेवनत्वादिभिरवान्तरधर्मैः शक्यः संज्ञितप्रहः, आकाशादेधानादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्धतया, इह तु न तथाविधमपि किञ्चिदस्ति, भ्रान्तिसिद्धस्य प्रतीतिमात्रजीवनत्वात् । प्रतीतेश्च प्रत्यात्मवृत्तित्वादतोऽगृहीतसन्नतिक्रवादप्रयोग एवात्र रजतशब्दस्य प्रसज्येतेत्यर्थः । अनिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिरपि बाधिकेत्याह—**किंचानिर्वचनीयं चेदिति** । इन्द्रियेण प्रतीतिरिति प्रथमं पक्षं निराचष्टे—**नाद्य इति** । इन्द्रियव्यापारात्पूर्वमेव निर्दूतं पथादिन्द्रियसंप्रयोगाज्ज्ञायमानं ह्येन्द्रियकम्, न चैवं प्रतीतिमात्रशरीरं रजतमित्यर्थः । अननुभूत इति । प्रतीतिसमसमयशरीरस्य पूर्वानुभवाभावात्संस्काराभावे न ततः प्रतीतिरित्यर्थः । साक्षिवेद्यतां निराचष्टे—**न तृतीय इति** । यत्र हीन्द्रियादिव्यापाराभावेऽप्यापरोक्षं यथाऽज्ञानादौ तत्साक्षिवेद्यं नाम इतरथातिप्रसङ्गात्, नचेद तथाभावा इत्याह—**इन्द्रियान्वयेति** ।

ननु यद्यप्यधिष्ठानविषयतया अन्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धत्वाच्च रजतज्ञानमिन्द्रियजम्, अपि त्वविद्यापरिणाम इति ज्ञानद्वित्वमङ्गीक्रियते, तथापि संसर्गज्ञानस्वीकाराद्भाख्यातिप्रसक्तिरिति तत्राह—**नच संसर्गिति** ।

१ अधिष्ठानारोप्यविषयकत्वेति शेषः । २ जालतिरिक्तस्य धर्मस्येत्यर्थः । ३ रजताकारविद्यावृत्तिरूपस्येत्यर्थः । ४ तद्विषयस्येत्यर्थः ।

प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्, इदमाकारविषयमिन्द्रियजन्यं ग्रहणं रजततत्संसर्गविषयं साक्षिचै-
तन्यमित्यभ्युपगमात् । तदित्यं लक्षणप्रमाणयोरनिरूपणान्नानिर्वचनीयावभासो विभ्रम
इति । अत्रोच्यते । प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ॥ गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदा-
न्तवेदिनः ॥१३॥ सत्त्वेनासत्त्वेन च विचारसहृत्वे सति सदसत्त्वेन च यद्विचारं न सहते
तदनिर्वाच्यम् । नचैवंसत्यव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा । सर्वभ्रमगोचराणां तथाभावनियमात्, सदा-
दीनां च तत्तद्विचारसहृत्वेन परैरभ्युपगमाच्च । एवं च सति निरुक्तिविरहः किंवा निरुक्तिनि-
मित्तस्य च विरह इत्यादिविकल्पोऽकाण्डताण्डवितम् । निरुक्तेर्निमित्तभूतायाः प्रतीतेस्तदाल-
म्बनस्य चार्थस्य व्यवहारगोचरत्वेपि सदसदादिप्रकारैर्निश्चित्य चकृमनर्हत्वाङ्गीकारात् ।

नच परस्परविरुद्धयोः सदसत्त्वयोर्निषेधसमुच्चयोऽनुपपन्नोऽन्यतरनिषेधस्यान्यतरवि-
धिनान्तरीयकत्वादिति युक्तं, निषेधसमुच्चयस्य तात्त्विकत्वानङ्गीकारात् । तत्तत्प्रतियोगिदु-
र्निरूपतामात्रप्रकटनाय तद्विलक्षणत्वाभिलाषः । नहि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किञ्चिदपि रूपं
धास्तवं संभवति, तथा सति तस्यापि तात्त्विकत्वप्रसङ्गात् । नचैकतरनिषेधोऽन्यतरविधि-
नान्तरीयकः । अनिर्वचनीयवादिनं प्रति व्याप्त्यसिद्धेः ।

ज्ञानवाध्यत्वं वाऽनिर्वचनीयत्वं । नच पूर्वज्ञानसंस्कारयोरतिव्याप्तिः, तयोर्ज्ञाननाशत्वेपि

किंचेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिष्ठानोपक्षये संशनेनापि तद्गृहे तादृशभ्रमप्रसङ्गः । नच तेन सादृश्याग्रहादंप्रसङ्गः,
विसदृशेपि तद्गृहेरिति । ज्ञानद्वित्वाभ्युपगममेव प्रकटयति—इदमाकारेत्यादिना । रजततत्संसर्गति ।
तदज्ञानाकाराविद्यापरिणामस्याप्युपलक्षणम् । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तदित्यमिति । तत्र लक्षणं श्लोकेन संगृ-
ह्णाति—प्रत्येकमिति । यत्प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन च विचारपदवीं विचारमार्गं न
गाहते न प्रविशति तदनिर्वचनीयमिति वेदान्तवेदिन आहुरिति योजना । अत्र सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं
न गाहते यत्तदनिर्वाच्यमित्युक्ते सदसत्तोरतिव्याप्तिः तयोरप्युभयप्रकाराभ्यामनिर्वाच्यत्वादत उक्तम्—प्रत्येक-
मिति । तयोः प्रत्येकं विचारसहृत्वात् । तावद्युक्ते समुदितयोः सदसत्तोरतिव्याप्तिः तदर्थ—सदसत्त्वाभ्या-
मित्युक्तं । संगृहीतं लक्षणं विवृणोति—सत्त्वेनासत्त्वेनेत्यादिना । एतदुक्तं भवति—न प्रकारत्रितयप्रति-
योगिकाभाववत्त्वमनिर्वचनीयत्वं किंतु प्रकारत्रयप्रतियोगिकाभावत्रयवत्त्वमनिर्वचनीयत्वमिति । अब्याप्त्यभाव-
माह—सर्वभ्रमेति । अतिव्याप्त्यभावमाह—सदादीनामिति । एवं च सति यदुदयनेन तात्पर्यशुद्धौ
हि द्वितीयसूत्रे विपर्ययविचारानसरे गर्जितं 'किमिदमनिर्वचनीयत्वं किं निरुक्तिविरह एव'त्यादि । तदस्थाने
एवानाकलितपरामिसंन्धिना संभ्रान्तमित्याह—एवं च सतीति । अकाण्डताण्डवितमनवसरतंनम् ।
तत्र हेतुः—निरुक्तेरिति । न निरुक्तिमात्रस्य तन्निमित्तस्य वाऽभावोऽनिर्वचनीयत्वं किंतु सदादिप्रकारैर्निश्चित्य
चकृमनर्हत्वाभिलाषः ।

यत्त्वत्रापि तेनोक्तं तदन्य निराकरोति—नच परस्परेति । समुच्चयानुपपत्तौ हेतुः—अन्यतरनि-
षेधस्येति । नच युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—निषेधसमुच्चयस्येति । अनुपपन्न इति कोऽर्थः, यदि प्रमा-
णयुक्तयाघातं न सहत इति सिद्धमेवेदमस्माकमद्वैतवादिनामिति भावः । कस्तर्हि सदसद्विलक्षणशब्दार्थस्तत्राह—
तत्तत्प्रतियोगीति । प्रतियोगी सत्त्वादिः । किमुत्तरकातरतयेयमाश्रीयते विधा ? न, अपरधाऽसंभवादित्याह
—नहि स्वरूपत इति । स्वरूपेण सदसत्त्वादिभिर्दुर्निरूपस्य प्रपञ्चस्य भोगं सदसद्विलक्षणं धर्मः तस्य कथं
सदादित्वेन निरूपणसंभवः, तथात्वे वा तदाश्रयस्यापि तथात्वप्रसङ्गादित्यर्थः । किंचाङ्गीकृत्य व्याप्तिमिदमुक्तं
सैव नास्तीत्याह—नचैकतरेति ।

तृतीयमपि लक्षणं समर्थयते—ज्ञानवाध्यत्वं चेति । पूर्वज्ञानादौ ज्ञानवाध्यत्वलक्षणाभावं दर्शयितुं

ज्ञानबाधयत्वाभावात् । बाधो हि नाम् प्रतिपन्नोपाधावभावबोधनम् । नच पूर्वज्ञानस्य तत्संस्कारस्य वा प्रतिपन्नोपाधावात्मनि नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो वेद्यभावो बोध्यते । ईश्वरस्य ज्ञानेन च मुद्गरप्रहारेणेव घटादेः प्रपञ्चस्य प्रध्वंस एव क्रियते नामाव-
बोधनमतो नातिव्याप्तिः । एतेन बाधकज्ञानविषयत्वाच्छुक्त्यादेर्ब्रह्मणश्चानिर्वाच्यत्वप्रसङ्ग इत्यपास्तम् । धर्मितया बाधकज्ञानप्रतिपन्नत्वेऽपि बोध्यमानाभावप्रतियोगित्वाभावात् । अतएव प्रतिपन्नोपाधौ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च बाध्यत्वमिति केचिदाचार्याः । नचाव्याप्त्यतिव्याप्ती । शुक्तिशकले प्रतिपन्नस्य रजतस्य कालत्रयेपि तत्र सत्ताभावस्य नेदं रजतमिति बाधेन बोध्यमानत्वात्, लौकिकपरमार्थ-
रजतस्य देशान्तरादौ सत्त्वेन प्रमितस्य तत्रासत्त्वबोधनस्याशक्यत्वात् । तस्य शुक्तिका-
शकले कालत्रयासत्त्वं बोध्यत इतिचेन्न । तस्यात्राप्रसक्तेः ।

रजताभासप्रसक्तिरेव तत्प्रसक्तिरितिचेन्मैवम्, रजताभास इत्यप्रतीतेरिदं रजतमित्येव प्रतीतेश्च । प्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्तदाभासता पश्चान्निश्चीयते इतिचेत्, एवं तर्हि नाव्याप्तिः, प्रतिपन्नोपाधौ तस्य निषेधस्य त्वयाङ्गीकारात् । अतएव न देशान्तरादौ प्रमि-
तस्य लौकिकपरमार्थरजतस्यैतन्निषेधप्रतियोगित्वम् आभासविषयत्वात्तस्य । अन्यथा जगति रजतमेव न स्यात् । 'तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनाल्लौकिकरजतात्मत्वेनापरोक्ष-
तया प्रतीतस्य कालत्रयेपि लौकिकरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य

बाधस्वरूपमाह—बाधो हि नामेति । अभावबोधनप्रकारमेवानुकरोति—नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो वेति । यस्वीश्वरज्ञाननिर्वर्त्यस्वीकारादतिव्याप्तिरिति तत्राह—ईश्वरज्ञानेन चेति । अल-
प्ताभावबोधनं हि बाधः ननु ध्वंसकरणमित्यर्थः । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—धर्मितयेति । यत् बाधलक्षण-
मनूयाव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यां दूषयांबभूव तदपि परिहर्तुमुपक्रमते—अतप्येति । यत् एव निषेधोऽभाव-
बोधनमत एवेत्यर्थः । अव्याप्तिं निराकर्तुमाह—शुक्तिशकले प्रतिपन्नस्येति । नहि नेदं रजतमित्यस्याव-
मर्थः, यदिदानीं रजतं न भवतीति भावः । नन्वयं निषेधः किं लौकिकपरमार्थरजतविषयस्तथा च तत्रैव तावदतिव्याप्तिः अत्रैवासिद्धिरिति तत्राह—लौकिकपरमार्थेति । तत्रेदं वक्तव्यम् । किं यत्रेदं सत्त्वेन प्रमितं हृद्वादी तत्रैव निषेधः किंवा शुक्तौ, न तावदेशान्तरे तत्र सत्ताप्राहकप्रमाणविरोधादित्यभिधाय द्वितीयं शङ्कते—तस्य शुक्तिकाशकलेति । अत्राप्रतीतस्य न निषेधः संभवतीति परिहरति—न तस्येति ।

ननु यद्यपि तस्यात्र न साक्षात्प्रसक्तिस्तथापि रजताभासः प्रतीतस्तद्वारा रजतत्वसाम्यात् तदपि प्रसक्त-
मिति शङ्कते—रजताभासेति । तत्र किं भ्रमकाले रजताभासतयावभासस्तत्प्रसक्तिः, उत दैवगत्या तथा-
भूतस्य स्वरूपेण । नाय इत्याह—मैवं रजताभासेति । द्वितीयं शङ्कते—प्रतिपन्नस्येति । तर्हि प्रतिपन्न-
शुक्तिकाद्युपाधौ रजतादेः कालत्रयसत्तानिषेधरूपबाधविषयत्वमङ्गीकृतं रजतादेराभासतासिद्धये तथाचाद्युप-
तैवाव्याप्तिः परिहृतेत्याह—एवं तर्ह्येति । ननु तथापि तद्वारा लौकिकरजतप्रसक्तिरप्यस्तीति नेत्याह—
अतप्येति । आभासविषयत्वेन त्वयाप्यङ्गीकारादित्यर्थः । न केवलं तवाङ्गी-
कारः, अनुपपन्नश्च लौकिकरजतनिषेध इत्याह—अन्यथेति । रजततदाभासयोरैक्यायोमाद्रजताभाससम्यग्रजत-
विषयकप्रतीतिद्वयाभावात्प्रासक्तस्यैव सम्यग्रजतस्य निषेध इति वक्तव्यं तथाच यत्र यत्र प्रमितं तत्र सर्वत्र निषेधः स्यादित्यर्थः । नन्वेवं सति विवरणकाराचार्यवचनविरोध इत्यत आह—तस्मादिति । ननु लौकिक-
परमार्थरजतात्मत्वेन चेत्प्रतीतं निषिच्यते, तर्ह्यन्यथाख्यात्यापातः, देशान्तरस्थरजतस्यात्रप्रतीतस्य निषेध इति

नेतव्या । नचैवं सत्यन्यथाख्यातेः प्रसक्तिः । संसर्गवत्संसर्गिणोपि ख्यातिवाधान्यथानुप-
पत्त्या सदसद्विलक्षणताङ्गीकारात् । एवं च सति कुतोऽतिव्याप्तिः । प्रमाणं च तत्र ख्या-
तत्वे सति बाध्यत्वान्यथानुपपत्तिः ।

नच देशान्तरे सत्त्वाद्वासत्त्वाच्च ख्यातिबाधयोरन्यथाप्युपपत्तिः । अन्यत्र सत्ताया इह
प्रतीत्यहेतुत्वात् । नहि भूमावम्भोरुहं सदिति दुष्टाक्षस्यापि नभसि तदवभासते । अप्रती-
तत्त्वादेव च बाधयोगात् । नचासतोऽभाने शब्दस्यापार्थक्यप्रसङ्गः । अपरोक्षभानाभावस्येह
विवक्षितत्वात्, परोक्षभानस्य चानिराकरणात् । नच सच्छब्दार्थानिरुक्तेर्यत्सत्तद्वाध्यमिति
व्याप्त्यसिद्धिः । त्वयापि द्वे तत्त्वे सदसती इति तत्त्वं व्यवस्थापयता यदेव सत्त्वेन व्यव-
स्थापितं तस्यैव मयापि व्यवहारदशायामबाध्यत्वोक्तेः । नचान्यथैवोपपत्तिः । सदसत्त्वयो-
रेवावाधाभानप्रयोजकत्वोपपत्तौ तदितैरवैलक्षण्यस्य तत्प्रयोजकत्वकल्पनायां गौरवात् ।

नचासतोऽपि तत्पदात्प्रतिभासनात्सत्तायुक्तस्यापि प्रपञ्चस्य बाधाभ्युपगमात्तयोरप्रयो-
जकत्वम् । अपरोक्षतया भानस्य व्यवहारदशायां चाबाध्यस्येह विवक्षितत्वात् । ननु सत्त्वा-
सत्त्वयोरेवाबाध्यत्वाभानप्रयोजकत्वे यत्सद्विलक्षणं तद्बाध्यं यदसद्विलक्षणं तत्ख्यातिरिति
व्यतिरेके गौरवं स्यात् । सत्त्वासत्त्वयोस्तु ख्यातिबाधप्रयोजकतायां लाघवमिति चेन्नै-
वम् । तवापि व्यतिरेके गौरवस्य तुल्यत्वात् अख्यात्यबाध्यत्वयोः सदसद्वैलक्षण्यस्य प्रयो-
जकत्वाङ्गीकारात् । एवमपि प्रयोजकत्वविनिगमनायां को हेतुरिति चेत्, पक्षान्तरे ख्यात्यसं-
भवः । तथाहि न तावत्सत्त्वाद्बाध्यस्तस्य ख्यातिः, तस्येहासत्त्वात् सतश्च ख्यातौ भ्रान्ति-

हि तेषामपि मतमित्यत आह—नचैवं सतीति । संसर्गवदिति । संसर्गस्य सदसद्वैलक्षण्यङ्गीकारादेव ताव-
दन्यथाख्यात्यादिबादिभ्यः सिद्ध एव भेदः, संसर्गिणस्तु लौकिकपरमार्थरजततया प्रतीतस्यापि सदसद्वैलक्षण्य-
स्वीकारात् प्रसिध्यतितरां भेद इत्यर्थः । लौकिकपरमार्थरजताप्रतिषेधादेवातिव्याप्तिः परिहृतेत्याह—एवंच
सतीति । लक्षणं समर्थमित्यर्थापत्तिं तावत्प्रमाणमाह—प्रमाणं चेति ।

अन्यथाप्युपपत्तिमुक्तां परिहरति—नच देशान्तरेत्यादिना । ननु दुष्टाक्षस्यान्यत्र सदन्यत्र प्रतीयत
इति, नेत्याह—नहि भूमाविति । एवं प्रतीतेरन्यथाप्युपपत्तिं परिहृत्य बाधस्यापि तां परिहरति—अप्र-
तीतत्त्वादेव चेति । यत्त्वसतो भानाभावेऽसत्पदप्रयोगस्यापार्थक्यप्रसङ्ग इति तत्परिहरति—नचासत
इति । नासतो भानमात्रं प्रतिषिध्यतेऽपित्वपरोक्षभानम् । तथा च नान्यथोपपत्तिरपार्थक्यं चेत्यर्थः । यत्तु
सच्छब्दार्थं त्रिधा विकल्प्य दूषणमुक्तं तत्परिहरति—नच सच्छब्दार्थेति । शुक्तिरूप्याद्यपेक्षयाऽबाध्यत्वं
च घटादौ व्याप्तमित्यर्थः । दूषणान्तरं परिहरति—नचेति ।

नन्वसत्त्वमभाने न प्रयोजकम्, असतोपि तच्छब्दाद्भानात् । नापि सत्त्वमवाधायां, सतोपि प्रपञ्चस्य बाधाङ्गी-
कारादित्युक्तमिति तत्राह—नचासतोऽपीत्यादिना । पूर्वोक्तेव परिहारमत्राप्याह—अपरोक्षतयेति ।
नन्वबाध्यत्वे सत्त्वं प्रयोजकमङ्गीकुर्वता सद्वैलक्षण्यं बाध्यत्वे प्रयोजकं स्वीकर्तव्यं, तथा च प्रयोजकगौरवं स्यात्
एवमितरत्रापि । मत्पक्षे त्वसत्त्वं बाध्यत्वे प्रयोजकं सत्त्वं च प्रतीताविति लाघवमिति न्यायरजनीपावलीय-
माहाङ्ग तत्रापि व्यतिरेकेऽसद्वैलक्षण्यमवाधे प्रयोजकं सद्वैलक्षण्यं चाभाने प्रयोजकमिति गौरवं समानमित्याह
—नैवं तवापीति । नन्वेवं समानगुणदोषत्वे किमित्यन्यतरपक्षे पक्षपात इति शङ्कते—एवमपीति ।
विनिगमना निर्णयः । सत्त्वं भाने प्रयोजकमिति पक्षे बाध्यस्य किं सत्त्वात् स्फुरणमुतासत्त्वात्वाय इत्याह—
न तावत्सत्त्वादिति । दूषणान्तरमाह—सतश्चेति । असत इति पाठे द्वितीयपक्षनिषेधः । चत्त्वर्थः ।

१ शुक्तिरूप्याद्यभिधायिरजतादिशब्दस्येत्यर्थः । २ सद्विलक्षणत्वासद्विलक्षणत्वाभ्या यथाक्रममभानात्वाधयोत्प-
पत्तिः । तत्रश्च शुक्तिरूप्ये ख्यातिबाधयोर्दशनेन तयोरभावः सिद्धमिति न तु सदसद्विलक्षणत्वमिति । ३ सत्त्वास-
त्त्वान्माभितरद् यद् वैलक्षण्यं तस्येत्यर्थः । ४ सत्तायुक्तत्वाबाध्यत्वमद्वैलक्षण्यरूपत्वरूपप्रकारत्रयेणेत्यर्थः ।

बाधयोरनुपपत्तेश्च । असत्त्वे चापरोक्षतया भानत्वानुपपत्तेः । अनुमानमप्यत्र प्रमाणं विम-
तमनिर्वचनीयं बाध्यत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथास्मेति ।

संसर्गस्यैव बाध्यत्वाद्व्रजतस्य बाध्यत्वमसिद्धमित्येव । द्वयोरपरोक्षतया प्रतिभासमा-
नयोः संसर्गमात्रनिषेधे वनस्पत्योरिव विविक्तयोः बाधोत्तरकालमुभयोरपि इहावभासप्र-
सङ्गात् । नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः । यस्मात्—‘एकालम्बनसंसर्गनिषेधे सदसत्त्वयोः । धर्म-
त्वाद्द्वपरसवत्सिद्धानिर्वचनीयता’ ॥१४॥ विवादाध्यासिते सदसत्त्वे एकधर्मिनिष्ठात्यन्ताना-
वप्रतियोगिनी धर्मत्वात् रूपरसवदिति अनिर्धारितधर्मिनिष्ठतया सामान्यतः सिद्धस्य सद-
सद्वैलक्षण्यस्य केवलव्यतिरेकिणो रजतधर्मिनिष्ठतयोपसंहारादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावात् ।

सच दूषितपक्षात्पक्षान्तरपरिग्रहसूचकः । द्वितीयं निषेधति—असत्त्वं इति । द्वितीययोजनायां तत्रैव हेतुः ।
तदेवमर्थापत्तिमुक्तत्वानुमानमपि प्रमाणयति—अनुमानमपीति । विमतमिति । शुक्तिरुप्यादीत्यर्थः ।
अत्रच सदसद्वैलक्षण्यत्वमनिर्वचनीयत्वं साध्यमिति न साध्याविशिष्टता ।

असिद्धिमन्थाख्यातिवादी शङ्कते—संसर्गस्येति । परिहरति—नेति । असंनिहितबाधनिवारणा-
परोक्षतयेत्युक्तम् । सामान्यतो दृष्टानुमानेनानिर्वचनीयतां साध्यत्रप्रसिद्धविशेषणतां परिहरति—एकाल-
म्बनेति । धर्मत्वादेतोः सदसत्त्वयोरकालम्बनसंसर्गनिषेधे एकनिष्ठसंसर्गभावो एकाधिकरणात्यन्ताभाव इति
यावत् । तस्मिन्साधिते रूपरसवदनिर्वचनीयता सिद्धा भवति इति योजनासंग्रहं विवृणोति—विवादाध्यासिते
इति । अत्र च भावत्वाभावरत्वे संत्वांसत्त्वे एकधर्मिनिष्ठौ यावत्यन्तानावौ तत्प्रतियोगिनी धर्मत्वात् यौ धर्मौ
तावेकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनी यथा रूपरसौ तथाचामु ततस्तथेति प्रयोगः । मिलानधिकरणनिष्ठात्यन्ताभा-
वप्रतियोगितयार्थान्तरतानिश्चयर्थ—एकधर्मित्युक्तम् । सत्त्वमसत्त्वानधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि-
धर्मत्वात् रूपादिवदिति तु प्रयोगशरीरम् । नचार्थान्तरता, सतोऽस्ततो बोधयात्यन्ताभावद्वयाधिकरणत्वाना-
भावात्, मिलितयोश्चैकत्वानाभावादेकत्वे वा सदसदन्तर्भूततायामुभयाभावाधिकरणलायोगात्, अनन्तर्भूतत्वे च
सिद्धं नः समीहितमिति कार्यान्तरता । नच प्रमेयत्वाद् व्यभिचारः, तेषामपि वेदान्तमते पूर्वोदितन्यायेनै-
वात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् । नच वैपरीत्यानुमानं, धर्मत्वहेतो रूपादाववैकान्तिकत्वात् । अपरे त्वे-
वमेतदनुमानं समर्थयामासुः । सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि अनारामनिष्ठात्यन्ताभाव-
प्रतियोगित्वाद्भूषादियदित्यत्र विवक्षितम् । तेन चैतत्परिहृतं भवति । धर्मत्वहेतोर्भाव्यादिना व्यभिचारः ।
अथ तस्यापि निर्धर्मके ब्रह्मण्यभावेनाव्यभिचारः, तर्हि तस्मिन्नेव ब्रह्मणि निर्धर्मकतयोक्तसाध्यसिद्धेः न
जडानिर्धर्म्यतासिद्धिरत्यन्तान्तरता स्यादिति । नच व्यभिचारः । परस्परविरुद्धयोरेपि नित्यत्वानित्यत्वयोरिव शुक्ति-
रजतादिसंसर्गेषु ध्यायुत्तिसंभवात् । अतएव विवादाध्यासिते सत्त्वासत्त्वे एकानात्मनिष्ठसंसर्गभावप्रतियोगिनी
न भवतः परस्परानावरूपत्वात् नित्यत्वानित्यत्ववदिति न सत्प्रतिपक्षतापि । आरोपितसंसर्गं एवोभयव्या-
धृत्या साध्यविकलत्वादिति । तदेतदसमीचीनमिव । मेयत्वादेरपि सर्वधर्मविधुरे ब्रह्मण्युत्तरेव्यभिचारभूमि-
त्वात् । नचार्थान्तरता । निर्धर्मके ब्रह्मण्यत्वानाभावस्याप्युत्तरे, शून्यौ वा सत्त्वस्यापि शून्येनान्तरत्वात् ।
कथं तर्हि सत्त्वात्तत्त्वोत्सत्त्वत्यन्ताभावरूपयोर्ब्रह्मण्येव वर्तनम् । किमत्र चित्रं प्रत्यायकशुभौ कृत्वा, परस्परप्र-
तिकेपरूपभावाभावयोः संयोगादेरेकश्रुतितेऽथ, सस्मिन्नेव च मेयत्वाद्युत्तरेरनाधयात् । प्रसाधपिच्यते प्राय-
मर्थः । व्याघातस्तु नियमान्तिकीकारेणान्येव परिहृतः । नच नित्यत्वानित्यत्वव्याभ्युत्तरेतोऽप्यसंगं उदाहरणम् ।
अत्यन्ताभावरूपस्य तस्य नित्यतायाः परैरतीवृत्तत्वात् । नहि यत्ता तत्र जातिरूपिणी सम्पत्प्राप्तिकारात् ।
अद्वैतत्वामकस्य च तस्याभावेरीशेरिति । एतेन सामान्यादीनां नित्यत्वं ध्याय्यातम् । तदपान्यासमेवास्तु शतु-
मागमलमतिवैदग्ध्यप्रकटनेन । केवलव्यतिरेकिण इति पर्यायी । ननु यदिदं रजतमिति सत्त्वात्प्रवचयितमिर्

१ साध्यत्वहेतोरेति चेत्तः । २ निहृत्प्रतियोगित्वरूपहेतुस्वीकारेण प्रमेयत्वादी व्यभिचारहेतुं दूषनं इ-
हत्तं अशरीर्यः । ३ शुक्तिरुप्यादिसंसर्गेषु यथा परस्परविरुद्धे अपि मिलनकामिलत्वे न सत् परं तदवधिषे तदव-
रूपे कपीति भावः । ४ सदेव सोम्येति—असत्त्वेदेवमिति च गुणित्वे आमयीत्यर्थः । ५ बाधसंसर्गस्येति—असत्त्व-
आरोप्यसंसर्गहेतुत्वः ।

नचानिर्वचनीयत्वे सदिदं रजतमिति भ्रमानुभवविरोधः । अधिष्ठानेदंतासंसर्गवत्तत्सत्ता-
संसर्गस्यापि अनिर्वचनीयस्यैव भ्रमेऽनुभवात् ।

अपिच ब्रह्मणीव पारमार्थिकसत्तायाः प्रपञ्च इव च व्यावहारिकसत्ताया अभौवेपि
प्रातिभासिकसत्तास्वीकारेण सदिदं रजतमित्यनुभवो न विरुद्धयते । नच नेदं रजतमित्य-
सत्त्वानुभवविरोधः, अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव तत्र निपिध्यमानत्वात् । नचानिर्वाच्ये
रजतशब्दप्रयोगायोगः । सविकल्पकरजतानुभवसंस्कारजन्यतया रजतभ्रमस्य तद्वाचकश-
ब्दोल्लेखोपपत्तेः । नचानिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिः, शुक्त्यवच्छिन्नात्मचैतन्य-
स्थाविद्याविवर्ततया चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तेन प्रतीत्युपपत्तेः । नच संप्रयोगाभावादपरोक्षत्वा-
नुपपत्तिः, अध्यस्तस्यापरोक्षतायां संप्रयोगानपेक्षत्वात् । अन्यथा भवतोपि रजततरसंसर्ग-
योरपरोक्षत्वाभावापातात् ।

अधिष्ठानसंप्रयोगादेवापरोक्षत्वमस्मन्मतेपि तुल्यम्, अन्यत्र स्वपक्षपातात् । नचेन्द्रिया-
न्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं रजतस्य, तयोरधिष्ठानग्रहणेनान्यथासिद्धत्वात् । नचैवंसति
सद्वैलक्षण्यानुमानमिति तत्राह—नचानिर्वचनीयत्व इति । यथाह्यपुरोवर्तिनो रजतस्य पुरोवर्त्यधिष्ठानारो-
पात्पुरोवर्तित्वप्रतिभासः । तथासद्वैलक्षण्यरजतस्य सदधिष्ठाने समारोपितत्वात्तद्वृद्धिबोधित्वं न पुनः सत्त्वादिति
परिहरति—अधिष्ठानेति ।

अथवा सदिदं रजतमिति प्रातीतिकसत्त्वमनुभूयते पारमार्थिकव्यावहारिकसद्वैलक्षण्यं चानिर्वचनीयत्वं
साध्यत इति नानुभवविरोध इत्याह—अपिचेत्यादिना । सदसद्वैलक्षण्यतायां भ्रान्तिबाधानुभवविरोधो
ह्यधस्तादभिदधे । तत्र भ्रान्तिविरोधं परिहृत्य बाधविरोधं परिहरति—नच नेदमिति । नेदं रजतमिति
कोयं । नेदं मदमितरजतमिति । तथाचार्यक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव निषेधात् तद्वैलक्षण्यानुमानं विरु-
णद्धीत्यर्थः । सदसद्वैलक्षण्यमनिर्वचनीयत्वं मतं तन्निर्वाहावसरतया च पूर्वोदितलौकिकपरमार्थरजतविषयल-
निषेधेन न विप्रतिषेधश्चापीति भावः । दोषान्तरमुक्तं परिहरति—नचानिर्वाच्य इति । रजतानुभवसं-
स्काररक्षिता ह्यविद्या रजतज्ञानाकारेण विवर्तते । अननुभूतरजतस्य भ्रान्त्यनुपपत्तेः । सचानुभवः सविकल्पक
इति शब्दोल्लेखवान् । तथाच तत्संस्काररक्षिताविद्या तद्वृद्धिवत्तच्छब्दप्रयोगेपि हेतुः । एतदुक्तं भवति—रज-
ततुद्विवद्भ्रतजातीयद्विरप्युदेति । ततश्च तच्छब्दप्रयोग इति परस्यापि शुक्त्यादौ रजतलजालाद्यसंभवात्त-
त्संस्कार एव शरणमिति भावः । या तु प्रत्यायकानुपपत्त्या प्रतीत्यनुपपत्तिरुक्ता तां परिहरति—नचानि-
र्वचनीयेति । शुक्त्यवच्छिन्नं यच्चैतन्यं तदविद्यापरिणामो हि रजतं, न तु केवलशुक्त्यविद्यापरिणामः, शुक्ते-
रविद्याकार्यस्य स्वकारणाविद्यां प्रत्याग्रयत्वायोगात् । तदुक्तमाचार्यैरिष्टसिद्धिकारैः—‘शुक्त्यवस्थात्ममोहोत्था
रूप्यधीः शुक्तिमोहजा । कथ्यते मृदवस्थात्मजातो मृज्जो यथा घटः’ इति । ततस्तेनैव चैतन्येन रजतमपि
वेद्यमित्यर्थः । रजतस्य शुक्तिनामानाधिकरण्योपपादनाय शुक्त्यवच्छिन्नेत्युक्तम् । नन्विन्द्रियसंप्रयोगाभावे कथ-
मपरोक्षता तत्राह—नच संप्रयोगेति । न केवलमस्माकमयं नियमभङ्गोऽपि तु भवतोपीत्याह—
अन्यथेति ।

ननु न देशान्तरस्थं रजतं रजतज्ञानविषयोपि तु पुरोवर्ति वस्तु तच्चेन्द्रियसंयुक्तमितिन्द्रियसंप्रयोगादेवापरोक्षं
तर्हीदमस्मन्मतेपि समानमिति प्रौढिमार्कण्डः प्राह—अधिष्ठानेति । नन्विन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः सतोः
कथं तदभावावो येनैवं परिहियत इति तत्राह—तयोरिति । अधिष्ठानप्राहकेन्द्रियप्राप्तमन्तरेणारोप्य-
स्यापरोक्षतायां बाधकमाशङ्क्य परिहरति—नचैवं सतीति । न तत्रारोप्याधिष्ठानयोरैकेन्द्रियप्राप्त्यलनिय-

१ असत्त्वेऽपीत्यर्थः । २ सदिति पाठो भाति । ३ अवच्छेदकतासंबन्धेन शुक्तिनिष्ठो य आत्मा तदाश्रितमोहो-
त्येत्यर्थः ।

स्पर्शनेनाधिष्ठाने गृहीतेपि चाक्षुषो रजतविभ्रमः स्यादिति वाच्यम् । सादृश्यदर्शनजन्ये विभ्रमे तेनैवेन्द्रियेण सादृश्यस्य ग्रहणनियमात् । अन्यथा तवापि तिको गुड इति विभ्रमो न भवेत् । आरोप्यस्य रसस्य रसनेन्द्रियग्राह्यतया द्रव्यग्राहकस्पर्शनेन्द्रियागोचरत्वात् । तस्मात्तत्राधिष्ठानग्रहण एवेन्द्रियस्योपयोग इति त्वयापि वक्तव्यम् । तथाच न तत्प्रकृतेपि दण्डवारितम् । नच ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यातिप्रसङ्गः । इदमंशावच्छिन्नसाक्षिचैतन्यस्यैवाधिष्ठानज्ञानफलभूतस्य स्वमायाविवर्तरजतादिसिद्धित्वात् । अन्तःकरणवृत्तिलक्षणज्ञानद्वयानङ्गीकारात् ।

तदेवं लक्षणप्रमाणयोरनिर्वचनीये रजतादिविभ्रमे संभवात् तद्वद्वैतप्रपञ्चविभ्रमोपि वेदान्तवाक्यप्रमाणजन्यादधिष्ठानाद्वितीयात्मविज्ञानाद्विलीयत इति सिद्धम् । ननु कथं वेदान्तवाक्यानां सिद्धार्थबोधकत्वम् । सकलपदानां लोके कार्ये एव सङ्गतिग्रहणात् । लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेपि बोधक इति न्यायात् ।

लोके च प्रवर्तकवचनश्रवणसमनन्तरं श्रोतुः प्रवृत्तिमुपलभ्य प्रवृत्तिलिङ्गेन प्रवर्तक-

माङ्गमानुदयः, अपितु सादृश्यजन्यभ्रमेषु सादृश्याधिष्ठानयोरैकेन्द्रियग्राह्यतानियमात् तदभावापराधादित्याह—सादृश्येति । यदि च कस्यचित्समानेन्द्रियग्राह्यलनियमदुराग्रहादुच्चरीतिर्न रोचेत तं प्रति बाधकमाह—अन्यथा तवापीति । विभिन्नेन्द्रियग्राह्यतामेव हेतुमाह—आरोप्यस्येति । तदेवमधिष्ठान एवेन्द्रियोपयोगमुपपाद्य ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यालापत्तिमुक्तां परिहरति—नच ज्ञानेति । कोयं ज्ञानभेदः किं ज्ञानभेद उतान्तःकरणवृत्तिभेदः । नाद्य इत्याह—इदमंशेति । उभयोरपीदमंशावच्छिन्नैकसाक्षिवैयत्येन फलभेदाभावादित्यर्थः । द्वितीये प्राह—अन्तःकरणेति । नचैकजान्तःकरणपरिणामोऽपरत्राविद्यापरिणाम इति ज्ञानभेदः । अविद्यापरिणामस्य ज्ञानाभासत्वेन ज्ञानताऽसिद्धेः ।

उक्तं हि अविद्यावैद्यैः सह भ्रम इति । वादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—तदेवमित्यादिना । भेदप्रपञ्चसाविद्यापरिणामतया शुक्तिरूप्यादिवदनियंचनीयारोपितत्वात् तदधिष्ठानाद्वैतत्वसिद्धिः फलमित्यर्थः । इत्यनिष्टविपरीतयुद्धितत्त्वच्छब्दप्रियवाद्दूषणात् । व्यक्तमुक्तिमेव तत्तदुक्तिभिः शक्यनियंचनतानिवारणम् । वेदान्तवाक्यजन्याद्वितीयात्मविज्ञानादित्युक्तम् । तदसङ्गतम्, सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्याभावादिति कार्यवाची प्रत्यवतिष्ठते—ननु कथमिति । ननु भवतु लौकिकानां कार्ये शक्तिग्रहो वैदिकानां तु किमायातमित्यत आह—लोकावगतेति । निर्गातं खल्विदं प्रमाणलक्षणे आकृत्याधिकरणे तदर्धचिन्तया । तथाहि—स्वरवर्णलोपागमादिवैलक्षण्यात् अनप्यायादिधर्मभेदाद्धैकिकवैदिकव्यपदेशाच्च स्युष्टमेदयुपादिशब्दसाहचर्याच्च गोशब्दादेरपि लोकवेदयोर्भेदस्तद्रेदादश्वबालादिशब्देष्वर्थान्तरदर्शनात् 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति, तेजो वै पृत'मित्यादिपूतानवहनादिविपरीतलिङ्गाचार्यभेद इति प्रापञ्च्य प्रतिविद्धे, प्रत्यभिज्ञया तावदेवत्वं गवादिपदानामवगम्यते । नच स्वरवर्णलोपागमादिवैपम्यमात्रात् प्रत्यभिज्ञायमानशब्दस्वरूपभेदः, तथाप्येपि स एव, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उत्तानवहनादि तु स्तुतिर्न गवादिभेदप्रतिपादकं, तस्माद्रेदकाभावादनेदावगमाय शब्दार्थयोरेक्यमेव लोकवेदयोरिति लोकवेदाधिकरणे स्थितम् ।

नन्वसु लोकगृहीतसङ्गतिशब्दानां वेदेपि बोधकत्वं कथमेतावता सिद्धार्थबोधकत्वाभावस्तप्राह—लोकेचेति । अयमर्थः—सामान्येत्युत्तमश्रवणसमनन्तरं मध्यमश्रवणं गवानगमं इहा स्युत्पित्युत्पित्यमाफलयाति बालः, ज्ञानपूर्वकैयमस्य प्रवृत्तिः स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् मयीयस्यत्प्रवृत्तिपरिति । तथैव स्तान्दृष्टान्तेन प्रवर्तकप्रत्यये शब्दपूर्वकत्वं चानुमान तस्मिन्प्रवृत्तान्तरभाविनि शब्दस्य शक्ति एवास्ति, तदनु च

१ वेदे रजतादिभिः साह प्रमल्लज्जनाहारिण परिणामोऽपि अविद्येति बोधना ।

प्रत्यये पदसमुदायस्य सामान्यतः सामर्थ्यमधिगम्य पुनरावापोद्धाराभ्यां च प्रत्येकं कार्या-
 न्विते पदानां सङ्गतिप्रहणात्, आनयनादिलक्षणकार्यविशेषे व्यभिचारेपि कार्यमात्रस्य
 सर्वत्रान्वयभिचारात्तदन्वितस्वार्थेषु पदानां सामर्थ्याधिगमात् । नचान्तरेणापि व्यवहारं
 पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं श्रोतुर्मुखविकासादिना लिङ्गेन हर्षमनु-
 माय तद्धेतुप्रत्यये वाक्यस्य सामर्थ्यं सामान्यतोऽधिगम्यावापोद्धाराभ्यां पुनः पुत्रादि-
 पदानां तनयाद्यर्थविशेषेषु सङ्गतिप्रहो दृश्यते इति वाच्यम् । परिशेषावधारणानुपपत्तेः,
 प्रियासुखप्रसवादेरपि हर्षहेतोः संभवात् । यत्र च प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः
 पिवतीति प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्प्रसिद्धेतरपदार्थोऽप्रसिद्धमधुकरपदार्थः समधिगत-
 विभक्त्यर्थश्च यं मधुपाने कर्तारं पश्यति तं मधुकरशब्दवाच्यत्वेन प्रत्येति । तत्रापि
 न कार्यपरताव्याक्रोपः, तादृश्या अपि व्युत्पत्तेर्व्यवहारनिवन्धनप्रथमकार्यव्युत्पत्तिनिवन्ध-
 नतया तदानुगुण्येन व्यवस्थानात्, पुत्रस्ते जात इत्यादेश्च सिद्धार्थप्रयोगस्य लाक्षणिकत्वे-

प्रयोगान्तरेषु ना बधानाश्रमानयेत्यादिष्वानयनगोशब्दयोरुद्धारे तदर्थयोरप्युद्धारात् प्रक्षेपे च प्रक्षेपदर्शनात्
 अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गवादिविशेषेषु पदविशेषस्य सामर्थ्यं गृह्णाति । सर्वत्र च कार्यान्वयाव्यभिचारात्तदन्वि-
 तपदार्थेषु सामर्थ्यं गृह्णाति, न पुनः पदार्थमात्रे, नाप्यन्यमात्रान्वितेषु । प्रथमावगताव्यभिचारिकार्यान्वयपरि-
 त्यागे प्रमाणाभावादिति । ननु कथं कार्यान्विते सामर्थ्यप्रहः, यावता पर्यायवधानेत्यादावन्वयन्यकार्य
 प्रतीयतेऽतो व्यभिचाराद्गवादिबन्धेव शब्दविशेषामिधेयत्वमेव न सर्वशब्दसामर्थ्यप्रतियोगित्वमिति तत्राह—
 आनयनादिलक्षणेति । प्रकृत्यभिधेयबन्धनादिव्यभिचारेपि प्रत्ययामिधेयानुगतकार्यमात्रं न व्यभिचर-
 तीत्यर्थः । ननु यत्र प्रवृत्तिलक्षणमवलम्ब्य सङ्गतिप्रहः तत्रैवं भवतु, यत्रतु मुखविकासादिलिङ्गाद्धर्षहेतुसिद्धा-
 र्थमनुमाय शब्दस्य सङ्गतिप्रहः यथा पुनस्ते जात इत्यादिषु तत्रावश्यं कार्यमन्तरेणैव सिद्धार्थे शब्दशक्तिरा-
 श्रयणीवेति तत्राह—नचान्तरेणापीति । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—परिशेषेति । अयमभि-
 सन्धिः—न तावत्प्रवर्तकवाक्येष्विव सिद्धार्थबन्धनेषु प्रवर्तकविशेषानुमापकानयनादिप्रवृत्तिवदस्ति हर्षहेतुविशे-
 पानुमापकं प्रत्यक्षलिङ्गं, मुखविकासादितु हर्षहेतुमात्रमनुमापयति । तद्विशेषस्तु परिशेषात्प्रार्थनीयः । नचैवं
 संभवति, पुत्रजन्मवदेव सुखप्रसवादेरनेकस्योपह्वयमानत्वात् विनिगमनाभावादतः पुनश्चब्दस्य सङ्गतिप्रहो दूरो-
 त्सारित इति । यथाहुः नाथा.—‘प्रमाणपरायणेन च परिशेषेण न तत्प्रतिपादकताध्यवसानं भूतभविष्यद्वर्त-
 मानानां सन्निहितव्यवहितानां संभवात् परिशेष्यावधारणाया अत्यन्तदुष्करत्वादिति । स्यादेतत् । अस्ति प्रभि-
 न्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिवतीत्यादिवाक्यं श्रुतवतः पुरुषस्य मधुकरप्रतिपदिकार्थमानमजानतः समया-
 न्तरे सरसीरुहोदरविपरिवर्तितमधुकरमधुपानमवलोक्यतः प्रसिद्धपदसमभिव्याहारबलान्मधुकरशब्दस्य मधुक-
 रशब्दाद्यर्थे सिद्धे सङ्गतिप्रह इति तत्राह—यत्रचेति । किमिति न कार्यपरताव्याक्रोप इति तत्राह—तादृ-
 श्या अपीति । सोपि हीतरपदानां सङ्गतिं गृहीत्वा तत्समभिव्याहारादस्य सङ्गतिं गृह्णाति । इतरपदानां च
 व्यवहारबलात्प्रवर्तककार्यान्विते प्रथममेव सङ्गतिर्गृहीतव्या । नहि तत्रापि प्रसिद्धपदार्थसमभिव्याहारः
 वाक्यपरिप्रहः । अनवस्थादौस्थ्यत्वात् । तथाचोपजीव्यैकप्रयोजकानुगुण्येनानाप्यव्याहृतकार्यान्विते शक्तिर्गो-
 ल्यर्थः । कथं तर्ह्यगृहीतसङ्गतिकानां सिद्धार्थे प्रयोगः पुनस्ते जात इत्यादिपदानां तत्राह—पुत्र इति ।
 ननु ‘अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिलक्षणेभ्यते’ इति लक्षणांलक्षणात् अभिधेयकार्यान्वयसंबन्धः सिद्धाधान्यस्य

नाभ्युपपत्तेः, परस्परान्वयस्य कार्यान्वयाव्यभिचारात्, पुत्रस्ते जातस्तं पश्येति वक्तव्येपि कार्ये विव्रियतामिति पदावधीरणेन द्वारमिति प्रयोगवत्प्रयोगोपपत्तेः ।

ननु न कार्यान्विते पदानां सामर्थ्यमध्यवसातुं शक्यम् । कार्यस्य कार्यान्तराभावेन कार्यपदस्य कार्यान्वितस्वार्थाभिधायित्वानुपपत्तेः । योग्येतरान्विताभिधाने च प्रयोजकद्वैविध्यापातादिति चेत् । न । कार्यान्वयान्वयिनि कार्यपरपदार्थान्विते वा पदशक्तिप्रहणाभ्युपगमे प्रयोजकद्वैविध्याप्रसक्तेः ।

यत्तु कैश्चिदुच्यते कार्यान्वयान्वयिनि इत्यत्र किं कार्यं विशेषणमन्वयस्य किं बोधलक्षणम् । नाद्यः । अन्वयस्य कार्यविशिष्टस्य कार्यान्वये सति कार्यस्य संबन्धद्वयप्रसङ्गात् युगपच्च कार्यान्वययोर्विशेषणता विशेष्यता चापद्येत । नचैतत्सर्वमुपपन्नम्, अलौकिकत्वात् । नापि द्वितीयः । कार्यस्य शब्दशक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति । तदसत् । कार्यान्वयान्वयिनीति कार्यस्य संबन्धव्यावर्तकमात्रताया विवक्षितत्वात् । तत्र यथा गवादिपदार्थानामकार्यरूपाणां तत्संबन्धनिरूपकता तथैव कार्यस्यापि, संबन्धस्योभयनिष्ठत्वात् । इतरथा योग्येतरान्वयपक्षेऽप्यन्वययोग्येनेतरेणान्वयस्य विवक्षितत्वात् अन्वयस्य विशेषणोपलक्षणपक्षयोक्तदोषानुपपन्नस्तुल्य एव स्यात् ।

लिलक्षयिषितस्य वक्तव्यसूत्राह—परस्परान्वयस्येति । कार्यान्वयस्य परस्परान्वयविशेषलादित्यर्थः । उक्तं च नायेन—कार्यान्वयो हि परस्परान्वयाव्यभिचारीति । विवक्षितत्वात् कार्यान्वयवत् परस्परपदार्थान्वयविवक्षयापि लक्षणया श्लोकः शब्दं प्रयुक्ते इति । अर्थलक्षणया परिहृत्य वाक्यैकदेशलक्षणया च परिहरति—पुत्रस्ते जात इति । यथाहि द्वारं विव्रियतामिति प्रयोजकव्ये द्वारमिति वाक्यैकदेशं प्रयुक्ते नचैतावता विव्रियतामिति नाध्याहरन्ति व्यवहर्तारः तद्वत्तं पश्येति वक्तव्ये कार्ये तद्यतिरेकेण पुत्रस्ते जात इत्येवं प्रयुक्ते । अध्याहाराच्च वाक्यं पूर्णमित्यर्थः ।

उक्तप्रयोजकस्य कार्यपदे व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति । ननु तस्य योग्येतरान्विताभिधायित्वं भवत्वित्यत आह—योग्येतरवेति । अनुगतं प्रयोजकं दर्शयन् परिहरति—न कार्येति । कार्यान्वयः कार्यरूपोऽन्वयः तदन्वयि । तदाधारः सत्य कार्यमितरेच्च भवति संबन्धस्य ह्याधारत्वात् । तत्र सामर्थ्यं सर्वपदानामस्ति च कार्यपदस्येत्यर्थः । नयविवेककारोक्तं प्रयोजकमाह—कार्यपदेति । कार्यपरं सत्यदं तस्य योऽर्थः तेनान्विते सामर्थ्यमिति । तथाच न प्रयोजकमेदः, कार्यपदस्यापि कार्यपरगवादिपदार्थान्वितकार्यशक्तिलादितरेपामपि कार्यपरलिङ्गादिपदाभिधेयकार्यान्वितगवादिनिष्ठशक्तिलादित्यर्थः ।

अत्र रत्नदीपावलीकृतः प्रथमं प्रयोजकं दूषयांभूवुखदनुवदति—यच्चित्वादिना । संबन्धद्वयप्रसङ्गादिति । कार्यान्वयेत्यत्रैकः संबन्धस्तदन्वयीत्यत्रापर इत्यर्थः । किञ्च कार्यान्वयेत्यत्र कार्यस्य विशेषणत्वमन्वयस्य च विशेष्यत्वं, अन्वयीत्यत्र चान्वयस्य विशेषणत्वं कार्यस्य विशेष्यत्वमिति युगपदेव विशेषणत्वविशेष्यत्वे प्रत्येकमनयोरन्योन्यापेक्षया स्यातामित्याह—युगपद्येति । उभयमप्यस्तु को दोष इत्यत आह—नपेति । शक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति । विशेषणस्यैव क्रियान्वयितानियमाकार्यस्य च विशेषणत्वस्यापामात्र अन्वयवत् एव शक्तिगोचरत्वं ननु कार्यस्येत्यर्थः । तदेतत्परिहरति—तदसदिति । नात्र कार्यस्यान्वयं प्रति विशेषणत्वोपलक्षणत्वे विवक्षिते अपितूमयानुगतव्यावर्तकत्वमात्रं विवक्षितं नपेतद्विद्विन्त्याह—तत्र यद्येति । कार्यतदितरसंबन्धस्योभयनिष्ठलादितरपदेव कार्यमपि निरूपकमित्यर्थः । एतदेव प्रतिबन्धा साधयति—इतरयेति । योग्येतर इत्यत्रान्वयं प्रतीति वक्तव्यं, यद्विचिथोग्यताया अन्वयानु-

उपलक्षणपक्षेऽपि कार्यस्य शब्दशक्तिविषयत्वं न व्याहन्यते, कार्योपलक्षितत्वस्यान्वयविशेषणतया कार्यस्यापि परम्परया शब्दशक्तिप्रतियोगित्वोपपत्तेः । एवमनभ्युपगच्छतः स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्येवमादिलक्षणमपि न निर्वहति । प्रच्युतेः कार्यान्वये सत्तायोगित्वमात्रस्यैव लक्षणत्वादात्मादेरप्यनित्यत्वापत्तेः । स्वयमेव चानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाश इति प्रतिज्ञाय मोक्षदशायां व्यवहारहेतुत्वाभावात् लक्षणास्याव्याप्तिमाशङ्क्य व्यवहारहेतुत्वमुपलक्षणमित्यङ्गीकृत्योपलक्षितत्वमपि क्वचित्साध्यं यथा विनाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति स्वकीयग्रन्थे निबद्धत्वात् । एतेन विवादपदानि पदानि न कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमन्ति पदत्वात् कार्यपदवदित्यनुमानमपास्तम् । विशेषणोपलक्षणपक्षयोर्रुक्तदूपणोद्धरणत्वात् कार्यपदस्यापि कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमत्त्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, विवादपदानि पदानि कार्यपराणि पदत्वात्कार्यपदवदिति प्रयोगसंभवाच्च ।

नच 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिपदेषु व्यभिचारः, तेषामपि द्रष्टव्य इत्यादिविशेष-

पपादकत्वात् । तथाचान्वययोग्येनेतरैणान्वित इत्यत्राप्यन्वययोग्यान्वययोर्रुक्तदूपणानतिवृत्तिः, अन्वयविशेषितयोग्यविशेषितत्वात् । अन्वयस्योपलक्षणत्वे लमिहितान्वयवादात्पात इत्यर्थः । एतेन व्यावर्तकत्वप्रयुक्तदोषोपि परिहृत इत्यभिप्रायः ।

विशेषविषयज्ञायामप्युपलक्षणपक्षे न दोष इत्याह—उपलक्षणपक्षेऽपीति । कार्योपलक्षितोऽन्वय इति कोर्थः कार्यविशेषितोपलक्षितत्वविशेषितोऽन्वय इति । न चोपलक्षितत्वमप्युपलक्षणमेव, अनवस्थानात् । ततश्च परम्परया कार्यस्याप्यन्वयशरीरविनिवेशितया शब्दशक्तिगोचरत्वमित्यर्थः । यदि चोपलक्षणत्वापराधादेवात्यन्तमननुप्रवेश इत्याशयः, तर्ह्यनित्यत्वलक्षणमपि न सिद्ध्येत् । तत्रहि स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति लक्षणे प्रच्युतेर्विनाशस्योपलक्षणतया सत्तानन्वयात् केवलसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति स्यात् । तथाचरमादेरनित्यत्वमित्यतिव्याप्तिस्त्वदेतदाह—पचमनभ्युपगच्छत इति । कार्यं लक्षणम् । इष्टप्रसङ्गत परिहरति—स्वयमेवेति । सिद्धे व्युत्पत्तिदूपणेन कार्यव्युत्पत्तिसमर्थनेन च तर्कत्राघविपक्षवाधकतर्कमावाभ्यामनुमानमपि दूषितमित्याह—पत्तेनेति । यजेतेत्यादौ लिङादिव्यवच्छेदाय विवादपदग्रहणम् । इतरथा दृष्टान्तासिद्धेः । दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं चाह—कार्यपदस्यापीति । विशेषणोपलक्षणेऽेतदादिर्वायं ग्रन्थः । स्वपक्षोऽनुमानं दर्शयन् बाधमप्याह—विवादपदानीति । कार्यभावाद्येपदेशोः सिद्धसाधनतानिरूप्यै विवादपदग्रहणम् ।

ननु 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादीनि पदानि सिद्धब्रह्मस्वरूपपर्यवसितानि, विध्यश्रवणात् विधिसन्निधिश्रवणाभावाच्च । द्रष्टव्य इत्यादेश्च विधित्वं न संभवति । उपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा संस्कारार्हं यथाहुः—'भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमर्हतीति । नचात्र प्रोक्षितमहीणामिव विज्ञानसंस्कृतस्यात्मनः क्वचित्कृतौ विनियोक्ष्यमाणत्वम् । शुद्धबुद्धब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानस्य समस्वप्रवृत्तिविरोधित्वात् । नापि कृष्णविषाणादिवद्विनियुक्तत्वं, येन चात्वालप्राप्तनेनेव ज्ञानेनात्मा संस्क्रियते । नापि सुवर्णं विद्युदादितिवदात्मानं पश्येदिति विनियोगमङ्गः । दर्शनस्य प्रमाणपराधीनतयाऽविधेयत्वात् । साक्षात्कारस्य फलतया विधानानर्हत्वात् । विधिपूर्त्वे च ब्रह्मासिद्धेः, अतिस्पष्टो व्यभिचार इति तत्राह—नच विज्ञानमिति । अयमभिसन्धिः—यद्यपि यथाश्रुतसंस्कारपक्षोऽनुपपन्नस्तथापि सुवर्णमरणसकुहोमादिवद्विनियोगमङ्गे न क्वचिदस्ति बाधकम् । नच दर्शनाविधेयत्वं

१ प्रच्युतेः कार्यान्वये इत्यत्रेतिमात्रः । २ यथा सुवर्णं कार्यमिति श्रुतौ विधेरप्राधान्येन प्रतीत्या प्राधान्येन तत्रप्रतीत्यर्थं किञ्चिदादिति विनियोगमङ्गः कियते पवनेवात्मा द्रष्टव्य इत्यत्रात्मानं पश्येदिति विनियोगमङ्गेन दर्शनविधिः । ३ दर्शनेत्यादिः । ४ कार्यपरत्वसापेक्षपदत्वहेतोर्बेदान्तबाधयस्यपदेशित्वमित्यर्थः ।

तया कार्यपरत्वात् । तदेवं सकलपदानां कार्यपरत्वान्न सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां प्रामाण्यमिति । अत्रोच्यते—न तावत्सिद्धे प्राथमिकव्युत्पत्त्यसंभवः । प्रागुच्यतेन्यायेन पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यादपि व्युत्पत्तिसंभवात् । नच तत्र पारिशेष्यावधारणानुपपत्तिः । यतः—‘दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा । वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः ॥’ यो हि परिदृष्टचैत्रप्रहर्षहेतुपुत्रजन्मा पुत्रपदालिप्रकृद्भाङ्कितपटप्रदर्शकेन वार्ताहारेण सह चैत्रसकाशं गतः तस्य दिष्टया वर्धसे चैत्र पुत्रस्ते जात इति वार्ताहारव्याहारश्रवणसमनन्तरं समुन्मीलत्पुलकसकलकलेवरमुत्फुल्लगण्डयुगलमुल्लसितनयनयुगलं चैत्रमवलोकयतस्तत्प्रमोदलिङ्गेन स एव नूनमनेन मदवलोकितः सुतसंभवः प्रमोदहेतुरेतस्माद्वाक्यादधिगत इति परिशेषावधारणोपपत्तेः । नच प्रियासुखप्रसवस्यापि संभवात्परिशेषावधारणानुपपत्तिः, पुत्रपदाङ्कितपटप्रदर्शनवत्प्रियामुखप्रसवसूचकाभावात् । नच विद्यमानतामात्रेण तत्रापि शङ्कावकाशः । कार्येषुपानच्छत्रदण्डाद्याहरणलक्षणावान्तरकार्यदर्शनेन शङ्काप्रसरस्य दुर्निवारत्वात् । एवमुक्तरीत्या सिद्धेऽपि प्राथमिकव्युत्पत्तेः संभवात्प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारनिबन्धनव्युत्पत्तावपि सिद्धार्थपरता न व्याहन्यते, मुख्यार्थविषयतया सिद्धेऽपि प्रयोगयोगे लाक्षणिकत्वकल्पनानुपपत्तेः ।

नच प्रथमावगतकार्यान्वयानुरोधेन लक्षणाश्रयणम् । प्रथममपि पुत्रस्ते देशान्तरादागतः

बाधकम् । ध्यानत्वात्तस्य विधेयत्वमाद्युष्मताप्यनुमन्वते । यथाह श्रुतिः—‘निदिध्यासितव्य’ इति । नच ब्रह्मासिद्धिः । यूपदिवत्तत्सिद्धेरपि संभवात् । तत्सिद्धिधिविषयापेक्षितमात्मानं सत्यज्ञानादिरूपं समर्थयन्ति सन्त्यमूनि पदानि न कार्यपरतामतिवर्तन्ते । सर्ववेदान्तप्रत्ययतया चाश्रयमाणस्थलेष्वपि समर्थयन्त्येव विधि-मिति । उपसहरति—तदेवमिति । प्राथमिकव्युत्पत्तौ सिद्धे सिद्धाया प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहारात् व्युत्पत्तिः स्यात् एव सिध्यतीति तां समर्थयते—न तावदित्यादिना । परिशेषोपपत्तिं श्लोकेनोपनिबध्नाति—दृष्टे-त्यादिना । दृष्टा चैत्रसुतोत्पत्तिर्न तस्य दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदेन तस्य पुत्रस्य पदेनाङ्कितं चिह्नितं वासो वर्धं यस्य हस्तेऽसौ तत्पदाङ्कितवासस्तेन तत्पदाङ्कितवाससा वार्ताहारेण सह यातस्याविदिताभंगपस्य च पुंसः परिशेषविनिश्चितेः संभवादित्यर्थः । अत्र च विज्ञातपुत्रजन्म विहायाविज्ञातप्रहर्षहेतुकल्पनमयुक्तमिति दर्शयितुं दृष्टेत्यादिविशेषणं, विज्ञातादपि प्रियामुखप्रसवादिशेषदर्शनार्थं तत्पदाङ्कितेति । अस्यैव श्लोकस्यार्थं विवृणोति—यो हीत्यादिना । यत्तत्पदाङ्कितवाससेति विशेषणस्य प्रयोजनमुक्तं तद्दर्शयति शङ्कानिरास-पूर्वकं—नच प्रियेति । तत्र किं पुत्रजन्मैव तत्सूचकं किं चान्यत् आहो सभावनामात्रात्तच्छङ्का । आये प्रथमप्रतीतपुत्रजन्मपरित्यागे कारणाभावात् तत्रैव सङ्गतिग्रहो युक्तः । द्वितीयं निषेधति—पुत्रपदाङ्कितेति । तृतीयं निषेधति—नच विद्यमानतेति । विशेषनिर्णयकारणाभावेऽपि सभावनामात्रेण चेद्विपरी-तशङ्कोदयस्त्वर्हि गवानयनवदेव छत्राद्यानयनमपि तेन क्रियते इति तेषामपि शब्दार्थताशङ्कया अनिर्णयः स्यादित्यर्थः । एतेन तदपि निरस्तम् । यदाह भवनाथः—‘नच स्वाधिगततत्प्रिये तदोरिति कुतत्वादवध-तिस्तत्रैवानेकस्य सभवा’दिति । एवं सिद्धे प्राथमिकव्युत्पत्तिसमर्थनेन तत्पूर्वकप्रसिद्धार्थसमभिव्याहारनिबन्ध-नव्युत्पत्तिरपि समर्थितेत्याह—एवमुक्तरीत्येति । यत्तु सिद्धार्थपरपदप्रयोगो लाक्षणिक इत्युक्तं तत्राह—मुख्यार्थेति ।

ननु प्रथमं प्रयोक्तुः व्युत्पत्तिकाले पुत्रादिपदानामावापोद्दारेण कार्यान्वितत्वार्थं सङ्गतिग्रहः पुत्रं पर्येला-दिकार्यैवाक्येयु इतस्त्वदनुरोधात्प्रयोगसमयेऽपि सिद्धार्थप्रयोगो लाक्षणिक इति तत्राह—नच प्रथमेति ।

१ इत्यत्राद् वार्ताहाराधिगन्तव्यप्रियविषयिकेव चैत्रस्य धीरित्यवभूतिनिश्चयो नच निषेधे हेतुः तत्रैवानेकस्य संभवादिति ।

पुत्रस्ते गच्छति पुत्रस्ते सुखी पुत्रस्ते निरामय इत्यादिप्रयोगेष्ववावापोद्वाराभ्यां पुत्रा-
दिपदानां स्वस्वार्थे व्युत्पत्तेरुपपत्तेः । प्रथमन्युत्पत्त्यनुसारेण च लक्षणाश्रयणे लोके भावा-
र्थकार्ये व्युत्पत्तेर्वेदे तदसंभवात् यजेतेत्यादिशब्दानामबोधकृताप्रसङ्गः । कामाधिकारे च
प्रथमं कामसाधने नियोगे लिङ्गादिपदानां व्युत्पत्तेः नित्यनैमित्तिकाधिकारे लाक्ष्मिणिको
लिङ्गादिप्रयोगः स्यात् । एवं नित्यनैमित्तिकयोः स्वतन्त्रकार्ये पदशक्त्यधिगतेरङ्गवाक्ये परा-
र्थकार्ये लिङ्गादिपदप्रयोगो मुख्यो न स्यात् ।

अथावधीरितभावार्थकामसाधनस्वतन्त्रविशेषं कार्यमात्रं व्युत्पत्तिगोचरः, सर्वत्र तस्या-
व्यभिचारात् लाघवाच्चेति मतं, तर्हीहापि योग्येतरान्विते पदशक्तेरव्यभिचारात् लाघवाच्चेति
समः समाधिः । एवंच सति कार्यान्वयान्वयिनि पदशक्तिरित्यपास्तम्, अन्वितमात्रस्य-
प्रयोजकत्वे संभवति कार्यान्वयान्वयिनीति कल्पनायां गौरवात् । नच कार्यपरपदार्था-
न्वितस्वार्थे शक्तिः । विकल्पासहत्वात् । तथाहि कार्यपरत्वं पदधर्मः किंवा पदार्थधर्मः ।
नाद्यः । सर्वपदानां लिङ्गादिपदत्वकार्यपरत्वे पर्यायतापत्तेः । अथ पर्यायतापरिहाराय
मुख्यगौणसाक्षात्परम्परादिभेदेन कार्यपरतां विशिष्यात्, न तर्ह्येकप्रयोजकत्वलाभः,
मुख्यादिविशेषणानां सर्वपदेष्वेकरूपताभावात् । नहि सिंहो देवदत्त इत्यादौ सिंहादिशब्दानां
मुख्यगौणयोस्तत्परत्वमेकरूपम्, तथा सति देवदत्तादेरपि केसरादिमत्त्वप्रसंगात् ।
नापि द्वितीयः । पदार्थानां कार्याबोधकत्वेन तत्परत्वाभावात् । अथ कार्यशेषत्वं कार्य-

इत्यादिप्रयोगेष्विति । सिद्धार्थप्रयोगेष्वित्यर्थः । किंच प्रथमं योग्येतरविशेषकार्यान्विते व्युत्पन्नस्यान्यत्र
योग्येतरमात्रान्विते प्रयोगे लाक्षणिक इति यदि ब्रूये, तर्हि लोके धात्वर्थार्थककार्ये व्युत्पन्नस्य वेदे तस्य
लाक्षणिकतया कार्यतान्त्रीकारात् लिङ्गादेर्लाक्षणिकत्वं प्रसज्येत । तथा काम्यनियोगे फलीदातृनियोगे व्युत्प-
न्नस्य नित्येण लाक्षणिकतापातः । तथा नित्यनैमित्तिकविधिषु स्वतन्त्रकार्ये गृहीतसङ्गतिफलस्य तदङ्गप्रयाजादिषु
परतन्त्रकार्ये लाक्षणिकतापातः । यद्यप्यनुवादाशङ्कया न इटिति नियोगान्तरबोधकत्वमङ्गवाक्यगतलिङ्गादे-
रिति प्रभाकररादान्तरस्त्याप्यङ्गनियोगामिधाधायित्वमिष्यत एवारादुपकारकाङ्गवाक्येषु, इतरथा तदुपकारासं-
भवात् अनन्वविषयत्वाच्च । सन्निपत्योपकारकेषु तदुभयाभावादनुवादाकत्वमेवेति तदेतदाह—प्रथमन्युत्प-
त्तीत्यादिना । अवोधकतेति । अपूर्वस्य वाच्यभावार्थसंबन्धादष्टैर्लक्ष्यत्वस्याप्यभावादित्यर्थः ।

अथ तेषां सङ्ग्रहायानुगतरूपे व्युत्पत्तिरिति ब्रूये तर्हि सर्वसङ्ग्रहार्थं योग्येतरान्विते व्युत्पत्तिरित्येव खीकृत्
सर्वानुगतप्रयोजकत्वात् लाघवाच्चेत्याह—अथावधीरितेति । अवधीरितः परित्यक्तः भावार्थरूपकाम-
साधनादिविशेषो येन तत्तयोक्तम् । एवं सतीत्यस्यैव विवरणमन्वितमानस्येति । द्वितीयं प्रयोजकं दूषयति
—नचेति । किं कार्यपरं यत्पदं तदर्थेनान्वित इति विवक्षितमुत कार्यपरो यः पदार्थस्त्वदन्वित इति विव-
क्षितमिति विकल्प्य आद्यं दूषयति—सर्वपदानामिति । ननु कार्यपरत्वेपि न कार्यपर्यायता कार्यपदं मुख्य-
वृत्त्या तत्परमितरत्वं गौण्या, अथवा कार्यपदमव्यवधानेन तत्परमितरत्ववधानेनेत्यवान्तरविशेषादित्याहाङ्ग
परिहरति—न तर्हीति । नहि मुख्यवृत्त्या तत्परत्वमेवै जघन्यवृत्त्यातत्परत्वमेवमितरदपीत्यर्थः । तदेव
निदर्शयति—नहीति । किमिति तथा न स्यादित्यत आह—तथासतीति । मुख्यवृत्त्या तत्परत्वं हि
केसरादिमत्त्वमादाय तदेव चेतत्परत्वं गौणेपि स्यात् स्यादेव केसरादिमत्त्वमपीत्यर्थः । द्वितीये किं पदार्थानां
कार्यपरत्वं कार्यबोधकतया, उत साधकतया । नाद्यः । पदार्थानां बोधकत्वाभावात् । बोधकत्वे वा धूमादिवत्

परत्वं पदार्थानां, तर्हि कार्यशेषत्वं कार्यपदार्थस्य नास्तीति तदन्विताभिधायिकारकपदानां कार्यपरपदार्थान्विताभिधायित्वं न स्यादिति न किञ्चिदेतत् । यत्पुनरनुमानं कार्यपराणि पदानि पदत्वात्कार्यपदवदिति, तदपि न पित्रेन्न हन्यादित्यादिनिषेधवाक्यस्यपदैरनैकान्तम्, नहि तत्र प्राप्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण किञ्चिदनुष्ठेयमवबोध्यते, हननप्रागभावस्थानादित्वेनाननुष्ठेयत्वात् ।

न हन्यामिति संकल्पस्य विधारकप्रयत्नस्य वा विधानाभ्युपगमे तस्याप्रतीयमानतयालक्षणाप्रसङ्गात् । प्राप्तक्रियायाश्चेष्टसाधनत्वाभावबोधादेव निवृत्तेर्वाक्यस्य चरितार्थत्वोपपत्तेः ।

नच 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे' त्यादिवचसां प्रतिपत्तिशेषत्वं, विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं शाब्दी प्रतिपत्तिर्विधेया उत भावनात्मिका अथ साक्षात्कारलक्षणा । नाचः । तस्याः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशब्दादिवद्विदितपदपदार्थसंगतेः स्वयमेवोत्पत्तेः । न द्वितीयः । ज्ञानप्रकर्षहेतुत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वेन भावनाया अविधेयत्वात् । न तृतीयः ।

लिङ्गतयाऽनुमेयत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्याह—पदार्थानामिति । द्वितीय शङ्कते—अथेति । दूषयति । तर्हीति । अयमर्थः । न कार्यस्य कार्यशेषत्व मेदाभावात्तद्विदितार्थाभिधायिना गवादिपदानां नोक्तत्वरूपवत्तेति । निषेधवाक्येषु साध्याभाव दर्शयन्नैकान्तिकता स्फोरयति—नहि तत्रेति । प्राप्ता वा हननक्रिया तन्निषेधद निष्टसाधनताबन्धोधावस्तुरूपस्यौदासीन्य तद्यतिरेकेणेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । सर्वत्र भावार्थनिष्ठो विधिर्दध्या दावपि भावार्थनिष्ठस्यैव सतो विधेरन्यत्र प्राप्तत्वात्प्राप्ते शक्तिमानमुपसकामति । यदाग्नेयोऽष्टकप्राप्तो भवति इत्यादावपि द्रव्यदेवतासबन्धानुमितयागविषयत्वमेव, तदिहाभावो न भावार्थं ततस्तद्वाहृती तव्याह-विधिरपि व्यावर्तते इति । तदिदमाह—अनुष्ठेयमिति । किञ्च प्रागभावोद्यत्र नजामिधेय प्रथमे वैयर्थ्यं, क्षणिकत्वात्क्रियाया स्वत एव निवृत्ते सचानादिरननुष्ठेय इत्याह—हननेति ।

ननु यथा'नेक्षेतोच्यन्तमादित्य'मित्यत्र नैक्षिष्य इति सङ्कल्पविधिपरत्व व्यवसित "तदुत्सर्गे कर्मणोऽधिकरणे" तद्वदिह पर्युदासधृत्वा हननविरोध्यहननसकल्पो विधीयताम्, अथवा हननोद्यतदेहेन्द्रियादेर्विधारकसामग्री घटक कचनप्रथमन्तरेण नाकस्मादौदासीन्य भवितुमर्हतीति स एवात्र विधीयतामिति, तत्राह—नेति । न तावद्न सकल्प श्रौत, किमिति न श्रौत यावता तदन्यतद्दिरोधितदभावा यथायथ नचोर्या स्मरन्ते तद्विरोधी च संकल्प इति चेन्न । अभावस्यैव मुख्यार्थत्वात् इतरसोस्तु तदनुपज्ञादेव लक्षणादित्यन्तरेण प्रयोगोपपत्तेः । इतरथाऽनेकेन शक्तिकल्पनाप्रसङ्गात् । एव प्रयत्नोपि न श्रौत, श्रौतसमवे च लक्षणा न युक्ता । एतेन नच प्रकृत्यर्थसंबन्धेनाह्नन कुर्यादिति कल्पनमपि प्रत्युक्तम्, नैक्षेतेत्यत्र तु तस्य व्रतमित्युपक्रमदनुष्ठेयार्थविधिपरतावगमात् लक्षणयापि पर्युदासधृत्तिराश्रितेति वैषम्यादित्यर्थः । तत्किमिदानीमकस्मादेव हननोन्मुखाना देहेन्द्रियाणां तत उपरम इति, नैत्याह—प्राप्तेति । अयं भावः । इष्टसाधनत्वज्ञानात्प्राप्तितरनिष्टसाधनत्वज्ञानाच्च निवृत्तिरित्यनन्तरमेव समर्थयिष्यते । तदिह यदहन्यादिति प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां रागत प्राप्तहनने इष्टसाधनतामनूय तन्नति निषिध्यतेऽनर्थसाधनता च बोध्यते, तत्रापि प्रत्यक्षविरोधात् सहसेष्टसाधनताभाव बोधयितुमशक्नुवान प्रतिषेधसाधयिगमाय सामनर्थसाधनतामेवावेदयति, ततश्च विरलरागस्यानिष्टसाधनताज्ञानादौदासीन्यमिति निर्भूत निषेधवाक्यमतो न विधिनात्र किञ्चित्कृत्यमिति ।

यत्तु विज्ञानादिपदेष्वेव विधिनिष्ठतोपपादनेन व्यभिचारवारणं तदूषयति—नचेति । नच वचनीय स्वर्गकामादिवाक्येष्वप्यध्ययनविधित एव बोधनमिति यैतोऽत्रापि स एव शक्नोतीति । कृत्रिमव्यपेक्षानवकाशादिति, अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रविधा तत्वाच्च । अन्ययव्यतिरेकेति । गान्धर्वशास्त्रादौ पञ्जादित्स्वरप्राम

१ शान्दप्रतिपत्तिबोधनमित्यर्थः । २ अत्र अत इत्याद्याहार्यम् । ३ लोकिवचनपरसले विधिमन्तरेणशब्दबोधवद्वापि तदुपपत्तेरित्यादि ।

साक्षात्कारस्य ब्रह्मरूपत्वेन नित्यत्वेनाविधेयत्वात् । अन्तःकरणपरिणतिरूपत्वे चानन्द-
साक्षात्कारस्य फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः । द्रष्टव्य इत्यादिपदानां चार्हायतयाभ्युपपत्तेः ।

अथापि सिद्धार्थव्युत्पत्तौ किं मानमिति चेदुच्यते । 'विवादाध्यासितः सिद्धः शब्द-
व्युत्पत्तिगोचरः । मेयत्वाभ्यायगम्यत्वात्तवामिमतकार्यवत् ॥ १६ ॥' नच कार्यत्वमुपाधिः,
व्यतिरेकासिद्धेः । यत्कार्यं न भवति नासौ शब्दव्युत्पत्तिगोचरो यथा संप्रतिपन्नमिति
व्यतिरेकव्याप्तेः परं प्रति दर्शयितुमशक्यत्वात् । नन्वाकृतेरेव शब्दार्थत्वाद्येकेस्तद्भावात्-
त्रानैकान्तिकमिति चेन्मैवम् । आकृतेः शब्दार्थत्वेपि तस्या एव शब्दार्थत्वमिति नियमा-
नङ्गीकारात्, व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थ इत्यक्षरपक्षपातिभिरङ्गीकारात्, आकाशा-
दिपदानां च व्यक्तिचनताया मीमांसकैरप्यभ्युपगमात्, व्यक्तिशब्दस्य च व्यक्तिवाचक-
त्वात् । ननु तत्रापि व्यक्तिव्यतिरेकमेव वाच्यत्वं न व्यक्तेस्तस्या लक्ष्यत्वादितिचेन्मैवम् ।
कचिच्छब्दान्तरवाच्यस्यैव शब्दान्तरलक्ष्यत्वाभ्युपगमात् । व्यक्तिः शब्दवाच्या न भव-
तीति स्वयचनव्याघाताच्च । तस्मात्सिद्धं सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यमिति ।

मूर्धनासाक्षात्कार इत्यर्थः । तृतीयेऽपि साक्षात्कारः किं ब्रह्मभावभूतः किंवाऽन्तःकरणपरिणामरूपः । नाय
इत्याह—साक्षात्कारस्येति । द्वितीयं दूषयति—अन्तःकरणेति । नहि फलं विधेयं यथाहुः—'तस्य कि-
प्सारथलक्षणे'तीति भावः । तर्हि प्रमत्तप्रगीतमिदं "द्रष्टव्य" इत्यादिवान्ममित्यत्र आह—द्रष्टव्य इत्यादिप-
दानामिति । 'अहं कृतृत्वमे'ति कृत्यप्रत्ययानामर्होपेति विधानात् । "कृत्वाः प्राड् ण्युल" इति तव्यादीनां
कृत्यसंज्ञत्वान्नेत्यर्थः । एवं च सति सिद्धार्थे व्युत्पत्त्यसंभवेन वेदान्तानामपि आत्मा शातव्य इति विधिर्नैकवा-
क्यतया कार्यपरत्वं शालिकनाथोक्तं शुकृतम् । यच्च तेन परमानन्दादिवस्यानुभवपराद्वैतत्वात् अभिमवक-
ल्पनायाश्चायुक्तेर्निर्विकारस्वस्य च विज्ञानादिविकारवत्तया अयुक्तेर्नानन्दादिपरलमित्युक्तं तत्सर्वं चतुर्थपरिच्छेदे
एवाचार्येण तुच्छीकरिष्यते ।

ननु युक्तिरियं यदेतावदभिहितं प्रमाणमभिधीयतामिति शङ्कते—अथापीति । तत्र तावत्कार्यस्यापि
पदशक्तिगोचरतामङ्गीकृत्यानुमानमाह—विवादेति श्लोकेन । कार्यान्विते सिद्धसाधनताव्यवच्छेदाय विवा-
दाध्यासितप्रहणम् । कार्यान्वयरहित इत्यर्थः । व्यतिरेकासिद्धिमेव विव्रणोति—यत्कार्यमिति । ततश्च-
पक्षेतरलमिति भावः । केचित्त्विदमेवानुमानमुद्भाव्य दूषयान्भूयुः । "तद्वैतत्वं । कार्यान्वयोपाधिहृतत्वात् गवा-
दिव्यक्त्याऽनैकान्त्याच्च आकृतिः शब्दार्थ इति हि स्थिताः शब्दार्थविद" इत्यादिना, तत्रोपाधिः परिहृतः,
अनैकान्त्यं परिहर्तुमुद्भावयति—नन्वाकृतेरिति । किं मेयायिकादिसाधारणमिदमेनैकान्तिकत्वं किंवा
मीमांसकं प्रत्येव । नाय इत्याह—आकृतेरिति । आकृतिराकारः साक्षादिमत्त्वं सूत्रे विवक्षितम् । द्विती-
येऽपि सकलशब्दानां जातिवाचकत्वं तेषामप्यसिद्धं जातिरहितेष्वपि भावादित्याह—आकाशादीति ।
ननु तत्रापि गवादिव्यक्तिव्यनैकान्तिकत्वस्य कः परिहारस्तत्राह—व्यक्तिशब्दस्येति । व्यक्तिशब्देनापि न
व्यक्तिरभिधीयते किन्तु सर्वव्यक्तिवन्व्युत्पत्त्यव्यक्तित्वोपाधिरेवेति शङ्कित्वा परिहरति—मैवं कचिदिति ।
अस्ति मीमांसकानामभ्युपगमः शब्दान्तरवाच्यमेव शब्दान्तरलक्ष्यमिति । तथाच व्यक्तेरपि यत्किञ्चिच्छब्द-
वाच्यत्वं मंतव्यमितरथा लक्षणानुपपत्तेरित्यर्थः । नन्विमं नियमनभ्युपगच्छन्नः किमुत्तरं देयमिति तत्राह
—व्यक्तिरिति । व्यक्तिः शब्दवाच्या न भवतीत्यत्र यस्या व्यक्तेः शब्दवाच्यत्वं निविध्यते सा तावद्व्य-
क्तिशब्देनाभिधेया इतरथा कस्यायं निषेधः स्यात्ततश्च परस्परं व्याघात इत्यर्थः । नच तत्रापि व्यक्तिशब्द-
लक्षितस्य शब्दवाच्यत्वनिषेध इति वाच्यम् । यतः किं नाम तल्लक्षितमिति पर्ययुगे लक्षणपरंपराभ्रयणम-
न्तरेण निरुत्तरतापातादिति ।

१ कार्यान्वरूपोपाध्यभावेन शब्दव्युत्पत्तिगोचरत्वाभावादानुमानमुद्भाव्य शब्दव्युत्पत्तिगोचरत्वानुमानं दूषयान्भू-
युरित्यर्थः । २ दूषणमेवानुवदति । ३ पतादृशनिश्चयवन्तरत्यर्थः । ४ जालाकृतिव्यवयवः पदार्थ इति न्यायसूत्रे इत्यर्थः ।

अङ्गीकृत्यैतद्वोचाम । कार्येप्रामाण्यमेव शब्दस्यानुपपन्नं, तत्र सङ्गतिग्रहणायोगात् । ननु कथं तत्र सङ्गतिग्रहणायोगः, प्रवृत्तिदर्शनात् प्रवर्तकज्ञानमनुमाय तस्य च प्रवर्तकज्ञानत्वादेवात्मीयप्रवर्तकज्ञानवत्कार्यविषयकतामध्यवसानन्तरं शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तस्य शब्दजन्यत्वावगमेन तत्रैव शब्दशक्तेर्ग्रहणात् । नच स्वात्मनि प्रवर्तकबोधस्येष्टसाधनविषयत्वात्परप्रवृत्तावपि तदेव प्रवर्तकतयानुमीयते न कार्यमिति वाच्यम् । अतीतानागतविषयेष्विष्टसाधनज्ञानेषु प्रवर्तकत्वव्यभिचारात् । अथ कृतिसाध्येष्टसाधनत्वज्ञानं प्रवर्तकं, तर्हि कार्यमेव नामान्तरेण प्रवर्तकं त्वयाप्यङ्गीकृतं, तस्यैव कृतिसाध्यत्वात् 'कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते' इत्यभिधानात् । तथापि कृतिसाध्येष्टसाधनज्ञानमेव प्रवर्तकं न केवलं कार्यज्ञानमिति चेन्नैवम् । इष्टसाधनताबोधस्य कार्याबोधं प्रति हेतुतयाऽन्यथासिद्धेः । उक्तं हि—'किन्तु स्वयं क्लेशरूपं कर्म यत्कार्यतां व्रजेत् । फलसाधनता तत्र कारणं तेन कार्यता ॥' इति ।

ननु चिकीर्षवैषा भमेदं कार्यमिति । ननु तदतिरिक्तं कार्यं नामात्र किञ्चित्प्रतीयत

यत्तद्वोचाम कार्यस्य शक्तिगोचरत्वमङ्गीकृत्येति तदुद्घाटयति—अङ्गीकृत्यैतदिति । तत्र कार्यं सङ्गतिग्रहणपरिपाटीं दर्शयति पूर्ववाची—नन्विति । प्रवृत्तिदर्शनादिति । स्वतन्त्रस्य प्रवृत्तिदर्शनादिति यावत् । इतरथा बलवदनिलसलिलौघेन न्युत्तमानप्रवृत्तावनैकान्वितकता स्यादिति । नन्विष्टसाधनत्वज्ञानादेवात्मीयप्रवृत्तिर्हेष्टा न कार्यज्ञानादतस्तदेव परत्राप्यनुमीयतेऽतो विरुद्धो हेतुः साध्यविकलश्च दृष्टान्त इतीमां शङ्कां निषेधति—नचेति । तदेवेति । ज्ञायमानतया विवक्षितं, तेन न पूर्वोपरव्याघातः । तत्र किमिष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्तकं किवा कृतियोग्यताविशेषणविशिष्टतज्ज्ञानम् । आद्ये प्राह—अतीतानागतेति । द्वितीयं शङ्कते—अथेति । कृतिः पुरुषप्रयत्नस्तेन साध्यं यदिष्टसाधनं तज्ज्ञानमिति योजना । तर्ह्यविप्रतिपत्तिः कार्यस्य चैवं रूपत्वादित्याह—तर्हीति । यद्यपि भावार्थस्य कृतिसाध्यत्वमस्ति तथापि कार्योपाधित्वाच्च प्राधान्येन तदस्तीति भावः । एतदेव शालिकनाथवचनेन द्रवयति—कृतिसाध्यमिति । कृतिसाध्यं कार्यमित्युक्ते भावार्थेऽतिप्रसक्तस्त्वर्थं प्रधानमित्युक्तं, प्राधान्यं चेदं कृत्यदेश्यत्वम्, तावत्तिसोके फलेपि स्यात्तर्था कृतिसाध्यमित्युक्तं, तत्र कृतिसाध्यत्वं कृत्यन्वयव्यतिरेकरूपानुमानगम्यं, कृतिसाध्यं च मानसप्रत्यक्षमिति, प्रत्यक्षानुमानगम्यं बालेन स्वात्मनि कार्यं, यद्यौदनैः पाकश्चेत्यर्थः । भवतु कार्यस्याप्येवंविधत्वं तथापि न कार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिरिति शङ्कते—तथापीति । नेष्टसाधनताज्ञानं प्रवृत्तेर्हेतुरपि तु कार्यताज्ञानमेव तज्ज्ञानाच्च प्रवृत्तिरित्याह—मैवमिति । अत्रापि वाक्यार्थमात्रकागतं तद्वचनमेव प्रमाणमित्याह—उक्तंहीति । अयमर्थः । हितसाधनताकार्यतयोः पूर्वं मेद उक्तः अनन्तरं हितसाधनेष्वेव किमिति कार्यतामतिर्नान्येति शङ्कां परिहरन्त आहुः शालिकनायाः—किन्त्विति । सत्यमस्त्वयं नियमः कित्वयं तत्र विशेषः यत्कर्म कार्यता व्रजेत् तत्स्वयं क्लेशरूपमेव कथं तर्हि तस्य कार्यत्वं नहि दुःखाकारस्य कार्यत्वमुपपद्यते यथाहुः—'अकर्तव्यो दुःखफल' इत्यत आह—फलसाधनता तत्रेति । तस्यैव विवरणं—तेन कार्यतेति । अथवा फलसाधनता तत्र कथं कारणं यावता प्रवृत्तिं प्रत्येव कारणं तदिति केचित्तत्राह—तेनेति । तेन कार्यतास्य भवति ननु प्रवृत्तेरिति । अतएव तैरुक्तमिति "ज्ञापककोटिनिविष्टा फलसाधनता कार्यतामनुसृष्यते । नत्वसौ तदात्मैवेति ।

ननु कार्यसिद्धिरेव कुतः प्रमाणात् । न तावन्ममेदं कार्यमिति बुद्धिः प्रमाणं, तस्याधिचीर्षामानतयार्थासाधकत्वादिति शङ्कते—नन्विति । कोस्याभिपन्धिः किं कार्यमेव नास्तीति उत तत्रेयं प्रमाणं न भवतीति ।

१ कार्यतायामित्यर्थः । २ अमेदेन कार्यविशेषणत्वादित्यर्थः । ३ औदनो भविष्यत्वादन्वयव्यतिरेकानुमानगम्यः । पाकश्चयतमानत्वात्प्रत्यक्षगम्य इति भावः । ४ कार्यताज्ञान एवेति पाठः साधुः । ५ फलसाधनत्वमित्यर्थः ।

इतिचेन्नैवम् । अन्तरेणापि कार्यधियं समीहितसाधनतामात्रावबोधोदात्तसुधामरीचिमण्ड-
लोदयादौ चिकीर्षाया अध्यनुपपत्तेः ।

न चास्याः कार्यधियः कृतियोग्यतामात्रमालम्बनं, कृतियोग्ययोरपि दुःखतत्साधनयो-
स्तददर्शनात् । नापि समीहितसाधनम्, अतीतवर्तमानयोः समीहितसाधनयोस्तदभावात् ।
नापि फलमेव । तत्साधनेपि दर्शनात् । नापि फलतत्साधनयोरनुस्यूतमभिलाषगोचरता-
मात्रमस्या आलम्बनम्, अभिलाषमात्रगोचरेपि सुधामरीचिमण्डलादौ तदभावस्य दर्शित-
त्वात् । तस्मादेभ्योतिरिक्त एव कश्चिदाकारः कार्यधीगम्यः स एव चाकारः कृतिसाध्यः
कृत्युद्देश्यः कार्यमित्युच्यते । स एव प्रवर्तकतया स्वात्मन्यधिगतत्वाच्छब्दशक्तेर्गोचरः ।
तथापि कथमलौकिकनियोगे वैदिकलिङ्गादिशब्दानां व्युत्पत्तिरिति चेत् । उच्यते । यद्यपि
लोकव्युत्पत्त्यनुसारेण क्रियायाः कार्यत्वं प्राप्तं तथापि वेदे स्वर्गकामो यजेतेति नियोज्या-
भिधायिना स्वर्गकामपदेन समभिव्याहारा 'त्रियोज्यः स च कार्य यः स्वकीयत्वेन बुध्यते'
इतिन्यायात् । तस्य च कमिसंबन्धात्साध्यस्वर्गविशिष्टस्य क्षणप्रध्वंसिन्यां क्रियायां काला-
न्तरभाविस्वर्गसाधनयोग्यतावैधुर्येण कार्यताबुद्ध्यनुपपत्तेः क्रियातोतिरिक्तं कालान्तरभा-

नाद्यः । तदनङ्गीकारे चिकीर्षाया एवानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । नचेष्टसाधनतामात्रावबोधोदात्तदुपपत्तिः । सुरतारम्भ-
परिश्रान्तमुन्दरीसमीहितसाधनेपि सुधामरीचिमण्डलोदये मलयमादततरङ्गसङ्गमे वा असाध्यस्वभावे चिकीर्षाऽ-
भावादित्याह—**मैवमन्तरेणेति** । द्वितीये त्वनन्यगतिकत्वादेवैव भविष्यति प्रमाणमिति भावः ।

भवत्वियमिच्छातिरेकिणी तथापि कृतियोग्यतामेवालम्बते न तदतिरिक्तं किञ्चित्कार्यमस्ति तत्राह—
नचास्या इति । साधयितुं योग्यत्वमस्ति दुःखादेरपि, नकार्यबुद्धिविषयत्वमिति तदतिरिक्तमेवास्या विषय
इत्याह—**कृतियोग्ययोरिति** । अस्तु तर्ह्येष्टसाधनत्वमेवास्या विषय इति तत्राह—**नापीति** । तत्र हेतुः
अतीतेति । ननु यद्यपि साधनेपि दर्शनात्फलमात्रमस्य आलम्बनं न भवति नाप्युभयमेकैकव्यभिचारात्
तथाप्युभयानुगतमिच्छागोचरत्वमात्रमस्य आलम्बनमित्याह—**पूर्वकैकव्यभिचारेवाह—अभिलाषेति** । परि-
शेषादतिरिक्तमेवालम्बनमित्युपसंहरति—**तस्मादिति** । ननु भवत्वतिरिक्तं तथापि कथं कार्यत्वमिति
तत्राह—**स एवेति** । तथापि कथमस्य शब्दार्थत्वावगतिस्तत्राह—**स एवेति** । **स्वात्मनीति** । बाल-
स्येति शेषः । कार्यमात्रस्य शब्दार्थत्वेपि नियोगस्य शब्दार्थत्वमयुक्तम्, अलौकिकत्वेन तत्रागृहीतसंगतिक-
त्वादिति शङ्कते—**तथापीति** । अलौकिकत्वेपि विमर्शात्मकतर्कतः संभाविते सङ्गतिप्रहमुपपादयति—
यद्यपीत्यादिना । क्रियाया इति । भावार्थस्यैत्यर्थः । स्वर्गकामो यजेतेत्येतन्नियोज्यसमर्पणपरं ननु
फलपरमिति हि गुरुमतं, तथाच पण्डये राद्धान्तितमतस्तत्समर्पकपदेन समभिव्याहारात् सहपाठात्, क्रियाति-
रिक्तं नियोगमवगमयन्ति लिङ्गादय इत्युत्तरेणसम्बन्धः । ननु कर्तृपेश्वत्कार्यस्य तैत्समर्पकत्वमेव 'स्वर्गका-
मादिपदस्येत्यत आह—**नियोज्यः स चेति** । यः कार्यं स्वकीयत्वेन बुध्यते स नियोज्य इति न्यायादि-
योगसंबन्धबोद्धा नियोज्येन भवितव्यमितरथाकर्तृत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । तथापि भावार्थसंबन्धबोद्धेव नियोज्यो
भवतु कुतो नियोगसिद्धिरिति तत्राह—**तस्येति** । स्वर्गकाम इति काम्यस्वर्गविशिष्टत्वात् सिद्धे च कामाभावात्
साध्यस्वर्गविशिष्टः प्रतीयते नियोज्यः, एवंविधस्य च भावार्थक्रियायां यमेदं कार्यमिति कार्यताबुद्ध्यनुपपत्तेः, तत्र
हेतुः क्षणध्वंसिन्यामिति, मैदनादिव्याप्यर्थं कालान्तरभावीत्युक्तम् । तदुक्तं 'लिङ्गादिस्तत्र कार्यं चेत्क्रियाने-
वावबोधयेत् । समन्वयो नियोज्येन तदानीमेव हीयत' इति । ननु कथमस्य नियोगत्वम्, आशाहि नियोगः

१ नियोज्यस्यैत्यर्थः । २ कर्तृसमर्पकत्वमेवेत्यर्थः । ३ क्रियाध्वंसे स्वर्गस्यापि मर्दनं भवतीति संभाव्येत तद्व्या-
वृत्त्यर्थमित्यर्थः ।

विफलसाधनं नियोगमेव नियोज्यं प्रति लिङ्गादयः कार्यमवगमयन्ति । तद्य स्वात्मनि पुरुषं नियुञ्जानं नियोग इति, मानान्तरापूर्वतया अपूर्वमिति च व्यपदिश्यते । नच फलजनकतया फलंप्रति शेषत्वात् अपूर्वस्य प्राधान्यप्रच्युतिः, स्वसिद्ध्यनुकूलनियोज्यलाभायैव फलशेषतावलम्बनात् । स्वशेषभूतगर्भदासोपकाराय संविदधानस्य स्वामिन इव प्राधान्यानुपरोधात् । तदुक्तं — 'स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये । कुर्वत्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव न' इति । तदेवमलौकिकत्वेपि नियोगस्य यूपाहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहाराद्दिङ्गादीनां तत्र संबन्धग्रहणोपपत्तेरुपपन्नं तत्रान्नायस्य प्रामाण्यम् । प्रयोगश्च विवादाध्यासिता लिङ्गादयः एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायिनः कार्याभिययित्वाङ्गमानयेत्यादिपदवदिति । विपक्षे यागातिरिक्तकार्यानभ्युपगमात् यागस्य च स्वर्गसाधनत्वानुपपत्तेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यानामप्रामाण्यप्रसङ्गो धाधक इति ।

अत्रोच्यते । भवेदिष्टमनोरथो यदि स्वात्मन्यपि कार्यबोधस्य प्रवर्तकत्वमध्यवसीयेत, समीहितसाधनताया एव तु स्वात्मनि प्रवर्तकत्वाध्यवसायात् । नच भूतादौ व्यभि-

नचापौरुषेये वेदे सा संभवति अतएव च नापूर्वत्वमिति तत्राह—तच्च स्वात्मनीति । अथवा अपूर्वस्य शब्दार्थेवे नियोगस्य वाक्यार्थता कथमिति तत्राह—तच्च स्वात्मनीति । पुरुषाभिप्रायरूपप्रेषायाभावेपि परस्परव्यभिचारिणु तेष्वनुगतप्रवर्तकस्वरूपो नियोगः शब्दार्थः सचात्रापि संभाव्य इत्यर्थः । स्यादेतत् स्वर्गसाधनत्वयोग्यताबलेन खल्वलौकिकनियोगाङ्गीकारः तथा च वरपाताय कन्योद्ग्रहनं, यतः 'कृत्तिसाध्यं प्रधानं यतत्कार्यमभिधीयत' इति कार्यलक्षणमायुष्मन्मते तत्र स्वर्गं प्रतिसाधनतया तच्छेषस्य न प्राधान्यमिति तत्राह—नच फलेति । यदि परसिद्ध्यर्थमयं व्याप्रियेत तदा स्वात्प्राधान्यविषातः नतु तदस्ति, नहि स्वर्गोऽस्य स्यादिति नियोगव्यापारोऽपि तु कर्षकारं मार्गयं साधयेदिति, तदर्थमेव खल्वयमस्मै स्वर्गं ददाति गर्भदासोपकर्तव्यं स्वामी, तथाच कुतः प्राधान्यप्रच्युतिरित्याह—स्वसिद्धीति । संविदधानस्य । संविधानं योगक्षेमं कुर्वत इत्यर्थः । स्वात्मसिद्धीति । अनुष्ठानं विना नियोगसिद्धेः कर्त्रा विना च तस्यासिद्धेः अधिकारिणं विना कुर्वन्भावान्नियोज्यं विना च तदभावात् अकामानुषुणे च कामिनियोगलायोगात् तदिदमानुकूल्यम् । अपिभिन्नक्रमः । स्वर्गादिकं कुर्वदपि प्रधानमिति । प्रतिपादिततर्कोपसंहारपूर्वकमुपपादितं नियोगशब्दार्थं प्रतिबन्धीग्रहणपूर्वकमुपसंहरति—तदेवमिति । यूपादीति । यथा खलु यूपाहवनीयादौ 'यूपं तक्षति, यूपमग्राहीकरोति, यूपमनक्ति, अद्धोहिते सूर्ये आहवनीयमादधाती'त्यादिकाक्यपर्यालोचनया संस्कृतौ कौचन दार्ढ्यविशेषौ 'यूपे पञ्च निवध्नाति' 'आहवनीये जुहोती'त्यत्र यूपाहवनीयशब्दार्थाविति निर्णयते । आदिशब्देन यववराहादिसाक्षम् । विवादेति । कार्याभिधायिन इत्युक्ते भावार्थाभिधानेन सिद्धसाधनता तन्निवृत्त्यर्थं क्रियातिरिक्त्युक्तम्, तथाचाप्रसिद्धविशेषणता तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पदम् । क्रियान्तराभिधायिपदेण च सुप्रसिद्धं सार्थं, पक्षे चैतदभिधेयक्रियातिरिक्तकार्यत्वमेतत्पदम् । क्रियात्वाद्वाहा एतदभिधेयत्वे सति क्रियात्वानधिकरणत्वाद्वा, आद्यमभिधायकत्वसाधनव्याहृतम्, द्वितीयं सिद्ध्यत् क्रियात्वानधिकरणकार्यनियोगमादाय सिद्ध्यतीति नियोगसिद्धिः ।

तदेतत्कार्यं व्युत्पत्तिसमर्थनं दृषियित्तुमुपक्रमते—उच्यत इति । समीहितसाधनताया इति । तद्व्यपत्तेः, विषयेण विषयिलक्षणात् । ततश्च तस्यैव परत्राप्यनुमानेन तत्रैव शब्दशक्तिः नतु कार्ये इत्यभि-

चारः यतः—‘कार्यस्यावगतेर्हेतुर्यादृशं हितसाधनम् । प्रवृत्तेस्तादृशं हेतुर्व्यभिचारस्ततः कुतः ॥ १७ ॥’ येनापि हि कार्यावबोधस्यैव प्रवर्तकत्वमभ्युपेयतेऽभ्युपेयते एव तेनापीष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोधं प्रति हेतुता, तदभावे कार्यवोधानुपपत्तेः । तत्रापीष्टसाधनतामात्रस्य भूतादौ व्यभिचारात् कृतियोग्येष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानहेतुरित्यभ्युपेयं, तथाच तादृगिष्टसाधनतावबोधस्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वोपपत्तौ किमन्तर्गडुना कार्यावबोधेन । न चेदगिष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानम् । तस्य तज्ज्ञानं प्रति हेतुत्वाभ्युपगमात् । नच ममेदं कार्यमिति चिकीर्षामपहाय कार्यज्ञानं नाम किञ्चिदुपलभामहे । नच चिकीर्षैव कार्यधियमन्तरेणानुत्पद्यमाना तां कल्पयतीति युक्तम् । कृतियोग्येष्टसाधनतावबोधादेव चिकीर्षाया अप्युपपत्तेः ।

नच कृतिसाध्यं प्रधानमिति कार्यलक्षणं युक्तम्, फलेऽतिव्याप्तेः । अथ साक्षात्कृतिसाध्यत्वं विवक्षितं न च तत्फलेऽस्तीति मतम् । मैवं । नियोगे तदभावेनाव्याप्तेः, भावार्थस्यैव साक्षात्कृतिसाध्यत्वात् । अथ साध्यैकत्वभावत्वं, न । प्रागभाववत्सु व्यभिचारात् । नच सदा साध्यैकत्वभावत्वं, यागाद्यनुष्ठानोत्तरकालमपि तस्य साध्यैकत्वभावत्वे कदाचिदपि नियोगासिद्धौ स्वर्गासिद्धिप्रसङ्गात् । अस्तु वा यत्किञ्चिद्विचारितरमणीयं लोके कार्यं तथापि कथं वैदिकलिङ्गादिशब्दादलौकिकनियोगस्य प्रतिपत्तिः, मानान्तरानधिगते तस्मिँलिङ्गादेः सङ्गतप्रहणायोगात् । अधिगमे वा’तो मानान्तरापूर्वमपूर्व-

प्राय । इष्टसाधनतावबोधस्य भूतादौ प्रवर्तकत्वव्यभिचार पूर्वोक्तमनूय श्लोकेन परिहरति—कार्यस्येति । यादृशमिष्टसाधनत्व कृतियोग्यताविशिष्टं तव कार्यज्ञाने हेतुस्तादृशमेव प्रवृत्तिहेतुराश्रीयते मया तत् कुतो व्यभिचार इति योजना । श्लोक विट्णोति—येनापीति । ननु कृतियोग्येष्टसाधनज्ञानमेव कार्यज्ञानं नत्वन्मयोर्धूमाप्रिवोधवज्जन्यजनकता यदाह—‘यथा खल्वेकैधीवैद्यत्वेव्याकृतितो व्यक्तिकीदृके ति । तथाच तस्य प्रवर्तकत्वाभ्रयणमस्मदनुकूलमेवेति तत्राह—नचेति । हेतुगाह—तस्येति । फलसाधनता तत्र कारणेन कार्यतेति स्वीकारात् हेतुहेतुमतोरैक्यमनुपपन्नमित्यर्थं । यत्तु ममेदं कार्यमिति बुद्धे परिशेषात्कार्यविषयलमुक्तं तदप्यसिद्धं तस्याधिकीर्षारूपत्वादित्याह—नच ममेदमिति । यद्विषयसाधनतामानाधिकीर्षानुत्पत्तेस्तद्देतु कार्यं स्वीकर्तव्यमिति तदपि विशिष्टेष्टसाधनस्वीकारात्परिहरितमित्याह—नचेत्यादिना ।

तदेव कार्यस्याप्रवर्तकत्व प्रमाणाभाव चोक्त्वा तद्व्यभिचारमुक्तं दूषयति—नच कृतीति । फलमपि हि कृतिसाध्यं कृत्युद्देश्यतया प्रधानं चातस्वत्रातिव्याप्तिरित्यर्थं । नन्वव्यवधानेन कृतिसाध्यत्व विवक्षितम् नच तत्फलेस्ति नियोगव्यवधानात्तस्येति शङ्कते—अथेति । तर्ह्यसिद्धिर्धोत्वर्थस्यैव साक्षात्कृतिलक्षणप्रयत्नसाम्यत्वात् नियोगस्य तदव्यवधानादिति दूषयति—मैवमिति । किमिदं साध्यैकत्वभावत्वं किं साधनार्हत्वाधिकरणत्वं किंवा सिद्धत्वानधिकरणत्वम् । आवे प्रागभाववत्सुत्पत्तियोग्येव्यतिव्याप्तिरित्याह—प्रागभावेति । द्वितीयं दूषयति—नच सदेति । एवलक्षणके नियोगे तत्सिद्ध्यर्थप्रवृत्तिरेवानुपपन्ना व्याघातात्, फलासिद्धि पूर्वोक्तयोग्यताविरहश्च, तथाच स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्येत्यादिशालिक्रिया केवल विलपितमेव स्यादित्यर्थं । एव कार्यमानस्य लक्षणानि दूषयित्वा तद्विशेष नियोगं दूषयति—अस्तुवेति । तादृशो नियोग किं प्रमाणान्तरेण न गृहीत किंवा गृहीत । उभयथापि दूषणमाह—मानान्तरेत्यादिना । ननु नाल्यन्तमलौकिकत्वमस्य यावता कार्यताकारेण लोकप्रसिद्धस्यैव सतो विशेषमात्रनिर्णयो वाक्यविशेषविमर्शा-

१ यथा जातिव्यवचयोरैकज्ञानविषयत्वेऽपि जातिज्ञानादव्यक्तज्ञानमित्युक्तमेवमेव प्रकृते इष्टसाधनत्वकायत्वयोरेकज्ञानविषयत्वेऽपि इष्टसाधनताज्ञानकार्यताज्ञानमित्युक्तमेवमेति भाषाकराभिप्राय । २ शालिकनाथेन ।

मिति गीयते' इति स्वकपोलकल्पितापूर्वत्वभङ्गप्रसङ्गः । नच कार्यमात्रेऽवसितसङ्गति-
लिङ्गादयः शब्दाः नियोज्याभिधायिस्वर्गकामादिपदसमभिव्याहारसामर्थ्यात्क्रियाति-
रिक्तमेव कार्यमवगमयन्ति, आशुतरविनाशिन्याः क्रियायाः कालान्तरभाविस्वर्गादिसा-
धनतानुपपत्तेरिति युक्तं घट्टम् । अनुपपत्तिचेद्यत्वे मानान्तरगोचरत्वप्रसङ्गात् ।

ननु नेयमर्थापत्तिस्तर्क एवायमुपन्यस्तः तेन तर्काधिगते नियोगे सङ्गतिप्रहः सङ्ग-
च्छते तर्कस्यामानत्वात् । प्रमाणानुप्राहकस्तर्को ननु प्रमाणमिति हि परीक्षका इति
चेत् । मैवम् । तर्कगोचरत्वेपि प्रमाणान्तरगोचरत्वस्यापरिहर्यत्वात् । तथाहि प्रमाणा-
न्तराधिगतव्याप्यव्यापकभावयोरेकाभ्युपगमेन द्वितीयस्य नियतप्रसङ्गनिरूपस्तर्कः ।
यथा यद्ययं वह्निमान्नस्याद्भूमवानपि नस्यादिति । तथा च यद्ययं लिङ्गादिः क्रियातिरि-
क्तकार्याभिधायी न भवेत्तदा न स्वर्गकामपदेन समभिव्याह्रियेत समभिव्याह्रियते चायं
तस्मात्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायक इति प्रसङ्गरूपेऽपि तर्के द्वयोरापाद्यापादकभावयोस्त-
दभावयोश्च धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोस्तदभावयोरिव मानान्तरगोचरता कथं न स्यात् । नचा-
पाद्यापादकभावोऽपि, क्रियातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वेन तदभावस्याप्रसिद्धत्वात् ।

अप्रमाणभूतश्च तर्कः । स्मृत्यनुभवभेदेन ज्ञानद्वैराश्यवादिना स्मृतावन्तर्भवतीति वा-
च्यम् । न चात्राननुभूते नियोगे स्मृतिः संभवति, संस्कारजन्यायाः स्मृतेस्तदभावे-
ऽभावात् । ननु पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं-स्मृतिरिति न ब्रूमः, किंतु सापेक्षं
ज्ञानम्, अस्ति चात्र प्रमाणानुप्राहकतया तर्कस्य तदपेक्षा ततो नोक्तदोष इति चेन्मैवम् ।

अवति । यथाहुः—'व्युत्पत्तिरपिकार्येण व्यवहारानुसारिणी । किंतु निर्धारणमात्रं वेदवाक्यविमर्शज'मिति ।
तदेतत्पूर्वपक्षावसरोक्तमनूय दूययति—नचेत्यादिना । नच युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—अनुपपत्तीति ।
अर्थापत्तिः खल्वनुपपत्तिः । तथाच मानान्तरगम्यत्वादपूर्वत्वनिवारणमित्यर्थः ।

पूर्वपादिहृदयं शङ्कते—नन्विति । अपूर्वत्वं निर्वाहयति—तर्कस्येति । यद्यपि तर्कः स्वयं न प्रमाणं
तथापि तद्विषयः प्रमाणविषय एव तथा चोक्तदोषानुपपन्न इत्याह—मैवमिति । तदेव दर्शयितुं तर्कस्वरू-
पमाह—तथाहीति । एकाभ्युपगमेनेति । व्याप्याहार्यारोपेणेत्यर्थः । अनेन चानुमानेऽतिव्याप्ति-
हृता । नियतप्रसङ्गं तर्क इत्युक्ते ययनित्यः स्यान्मूर्तः स्यादित्यादिप्रसङ्गाभासेतिव्याप्तिस्त्वदर्थं प्रमाणान्तरे-
स्याद्युक्तम् । नियतपदं तु व्यर्थमेव । उदाहरति—यथेति । प्रकृतस्थलेप्यापाद्यापादके विवेचयति—तथा-
चेति । अस्य च विपर्यये पर्यवसानं दर्शयति—समभिव्याह्रियते चायमिति । कथं न स्यादिति ।
इतरथा मूलशैथिल्यादिति भावः । अभ्युपगम्यापाद्यापादकभावं प्रमाणान्तरगोचरत्वप्रसक्तिरुक्त्वा स एव
नास्ति अप्रसिद्धविशेषणत्वादित्याह—नचेति । अत्र हि क्रियातिरिक्तकार्यानभिधायकत्वापादकं स्वर्गकाम-
पदासमभिव्याहारश्चापाद्यस्त्रातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वादेव तदनभिधानमप्रसिद्धमेवेत्यर्थः ।

एवं तर्कगोचरत्वेपि प्रमाणान्तरगम्यत्वमुपादितमिदानीमप्रमाणरूपत्वमपि त्वन्मते तर्कस्य न शक्यसमर्थनं
स्मृतिव्यतिरिक्ताप्रमाणज्ञानस्य भवतानङ्गीकारात् । स्मृतेश्चाननुभूतचरताऽऽनुपपत्तिसंस्कारेऽनुपपत्तेरित्याह
—अप्रमाणभूतेत्यादिना । ननु वयमेतदलक्षणे न कसीकुर्मः यत्संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति येना-
ननुभूते संस्काराभावात्स्मृत्यनुपपत्तिः स्यात्किं तु सापेक्षं ज्ञानमिति शङ्कते—नन्विति । प्रकृततर्कं च लक्षणं
वर्तयते—अस्ति चात्रेति । यदिदमस्य सापेक्षत्वं तर्कं खोत्पत्तौ, उत विषयावबोधे । आद्येपि यत्किंचि-

१ निर्धारणमात्रमिति पाठे न छन्दोभंगः । २ यदि व्याप्यशानेन व्यापकज्ञानमित्येतावन्मात्रमभिधेयं तदाऽनु-
मानेऽतिव्याप्तिः । ३ मूलशैथिल्यं स्यादिति पाठान्तरम् ।

विकल्पासहत्यात् । तथाहि किमुत्पत्तौ सापेक्षत्वमुत विषयावबोधे । नाद्यः । प्रमाणज्ञानानाम-
पीन्द्रियलिङ्गादिसापेक्षतया स्मृतिरप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । विषयावबोधेऽपि सापेक्षत्वे
स्मृतेः प्रदीपवज्ज्ञानत्वाभावप्रसङ्गात् । अपसिद्धान्तापत्तिश्च । “प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृते-
रन्या स्मृतिः पुनः ॥ पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते” इति शालिकनाथवचनविरोधात् ।

नचार्थापत्तिगम्यत्वमपि, कृतेर्भावार्थजननद्वाराऽपूर्वसाधनत्ववक्रियाया एवापूर्वा-
धान्तरव्यापारायाः स्वर्गसाधनत्वोपपत्तेः । अपि च ‘यो ब्राह्मणायवगुरेत्तं शतेन यात-
या’दित्यत्रावगुरणकर्मणः क्षणिकस्यापि दुरितापूर्वजननद्वारा कालान्तर्भावि शतयातना-
फलसाधनत्ववत्क्षणिकाया अपि यागक्रियाया अपूर्वजननद्वारा स्वर्गसाधनता किं न
स्यात् । नन्ववगुरणे दुरितापूर्वकल्पना कामाधिकारे क्रियातिरिक्तनियोगसिद्ध्युत्तर-
कालीना । तथाहि तत्राशुतरविनाशिन्याः क्रियायाः कालान्तरभाविफलसाधनत्वासाम-
र्थ्यात्तदतिरिक्तापूर्वस्य फलसाधनत्वे स्थिते पञ्चादवगुरणेऽपि कालान्तरभाविशतयातनाफ-
लमपि दुरितापूर्वद्वारैवेति कल्प्यते, तथासति कथं नियोगासिद्धिः तत्सिद्ध्युत्तरकालीन-

दपेशा उत ज्ञानापेक्षा । आद्ये आह—नाद्य इति । एतेन द्वितीयोऽपि निरस्तः । लिङ्गज्ञानसापेक्षस्याप्यनु-
मानस्यास्मृतित्वात् । द्वितीयं निरस्यति—विषयेति । विषयावबोधे विषयव्यवहारजनने, कारणेन कार्यल-
क्षणात् । तत्र सापेक्षत्वे प्रदीपवज्ज्ञानत्वं न स्यादित्यर्थः । प्रमाणमनुभूतिरिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् ।
अनुभूतेर्लक्षणमाह—सा स्मृतेरन्येति । स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमित्यर्थः । तेन च स्मृतेः प्रामाण्यं निवारितम् ।
स्मृतेरपि लक्षणमाह—स्मृतिः पुनरित्यादिना । अनुमानप्रत्यभिज्ञादिव्यावृत्त्यर्थं मात्रग्रहणमिति प्रकरण-
पथिकाप्रमाणपारौषण्योकार्थः ।

एवमनुपपत्तिमङ्गीकृत्यापूर्वैलक्षितरापादिता । इदानीमनुपपत्तिरेव नास्त्यन्यथैवोपपत्तेरित्येतत्प्रतिबन्धीप-
र्वकमाह—नचार्थापत्तीति । यथाहि यजेतेत्यत्र कृतिसाध्यनियोगान्निधायिना लिङ्गा कृतिनियोगयोः
प्रतीतेरुभयोर्बैकपदत्वेन साध्यसाधनभावप्रतीतौ भावार्थविषयकत्वेन तज्जनकैत्वनियमात्कृतेर्नियोगस्य चाभा-
वार्थत्वात् प्रकृत्यभिधेयभावार्थमुत्पाद्य तद्वारा नियोगसाधनता कृतेर्भवद्भिरङ्गीक्रियते तथा क्रियाया एव
क्षणिकाया अप्यपूर्वाधान्तरव्यापारायाः फलसाधनत्वोपपत्तौ न स्वतन्त्रनियोगव्यतिरेकेण काचनानुपपत्तिरि-
त्यर्थः । यत्पुनरत्र कैश्चिदुक्तमपूर्वकल्पनायामपि साधनसाधनतैव यागस्य ननु साक्षात्साधनता यागस्येति
तत्कल्पनायामपि तदवस्थैवानुपपत्तिरिति । तत्र । व्यापारतयैव कल्पना तेन चाव्यवधानात् । यदि च तत्क-
ल्पनामात्राद्भावधानं तर्ह्यवगुरणादावपि स्यादिति प्रतिबन्दीं गृह्णाति—अपिचेति । यः पुरुषो ब्राह्मणयाव-
गुरेच्छतस्रस्रमुद्यमेत् उद्यतायुधं तदेवावगुरणं शतेन यातयात् । इत्थंभावे तृतीया । यावत्परत्रानेन दु खमुत्पा-
यते ततः शतगुणयातनामनुभावयेत् । अथवा शतेन सवत्सरेण यातयात् । तावतः संवत्सरान् पितृलोकं
न प्रजानातीति वान्यशेषात् । अत्रहि कालान्तरभाविशतयातनादेः न क्षणिकावगुरणादि साधनमिति किञ्चिदुरि-
तापूर्वं कल्पनीयमिति । नच तदपि श्रौतं, दुःखफलतया अकार्यत्वेनाशङ्क्यार्थत्वात् । यच्चवगुरणे तादृशापु-
र्वकल्पनमेव काम्येषु वाक्येषु स्वतन्त्रनियोगं गमयति तमन्तरेण तदनुपपत्तेरिति नयविवेककारणेणोक्तं तदु-
द्भाववति—नन्विति । तत्सिद्ध्युत्तरकालतामेव दर्शयति—तथाहीत्यादिना । अदृष्टचरस्य कल्पनानुप-
पत्तेः कामाधिकारसिद्धौ नियोगोऽत्र कल्प्यत इत्यर्थः । अन्यत्र सिद्धाविव हेतुः—तत्सिद्धीति । सत्यमन्यत्र दृष्टं

१ तन्मते भ्रमरूपस्यानुभवस्याभावात् । २ परायणेति पाठः मुष्टिष्टः । ३ भावार्थो धात्वर्थो विषयो यस्याः
कृतेः सा तथा तत्त्वेनेत्यर्थः । ४ कृतेर्भावार्थजनकत्वनियमादित्यर्थः । ५ भावार्थभिरवत्त्वादित्यर्थः । ६ मुपच्छेदिति
पाठो भाति ।

त्वादुत्तरकल्पनाया इति चेन्नैवम् । कृतिसाध्ये नियोगे प्रतीते कृतेर्भावार्थैकविषयत्वात्
 नियोगस्य चाभावार्थरूपत्वात्साक्षात्कृतिसाध्यत्वासंभवात् भावार्थ साध्यन्ती कृति-
 नियोगं साध्यतीति यथा कल्प्यते । अतएव चाघटितसंघटकतया भावार्थोऽपि विषयः
 करणं च नियोगं प्रतीति गीयते । यथाहुः—‘कृतितत्साध्यमध्यस्थो यागादिर्विषयो
 मतः ॥ कार्येऽसघटिताकारे करणत्वेन समत’ इति । तथा लोकावगतसामर्थ्यैर्लिङ्गादि-
 शब्दैरधिगतफलसाधनभावायाः क्रियाया नियोगमन्तरेणापि स्वजन्यापूर्वावान्तरव्या-
 पारद्वारा फलसाधनत्वसंभवे तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एवावगुरणेऽपि दुरितापूर्वकल्पनायां संभा-
 विन्यामलोकवेदसिद्धनियोगकल्पनानुपपत्तेः । इतरथा क्लृप्तक्रियाकार्यवाचकत्वभङ्गोऽप-
 रिक्लृप्तनियोगवाचकत्वकल्पना अपूर्वस्य फलसाधनत्वकल्पना यागस्य च फलनियोगयो-
 करणत्वकल्पना चेति गौरवं प्रसज्येत ।

किञ्च यथा तवाग्नेयादीनामुत्पत्त्यपूर्वावान्तरव्यापाराणां परमापूर्वसाधनभावस्तथा-
 स्मन्मतेऽप्यपूर्वावान्तरव्यापाराया एव क्रियाया ईश्वरप्रसादावान्तरव्यापाराया वा फल-

कल्प्यते तत्तु तत्रावान्तरव्यापारत्वेनैव दृष्टं ननु स्वतन्त्रत्वेनेत्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवमित्यादिना । अथ
 च कृतेर्भावार्थजननद्वारेणैव प्रपद्योऽपि । अत्र च यागादिधात्वर्थस्य नियोग प्रति विषयलक्षणीकरणं करणं
 त्वाङ्गीकरणं च समकमित्याह—अतएव चेति । एतदेव भवनाथवचनेन द्रढयति—कृतीति । कृति
 प्रयत्न तत्साध्यो नियोगस्तयोर्मध्यस्थो यागदानहोमादिधात्वर्थो विषयो मत । पिबो बन्धनकर्म्मणो विषयस्य
 ब्दव्युत्पत्तेः । कृतिं नियोगादौ घटयतो धात्वर्थस्य युज्यते विषयत्व तथा कार्येऽसघटिताकारे स एव च
 विषय तस्मिन्नेव करणत्वेन च समत इति श्लोकयोजना । एतदुक्तं भवति—प्रतिपूर्वव्युपाधौ विषयत्व सिद्ध्यु-
 पाधौ करणत्वमित्यस्ति तयोर्भेद इति । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथा लोकावगतेत्यादिना ।
 गवानयनादिक्रियैव तावत्फलसाधनत्वेनाधिगता लिङ्गादिशब्दैः, तथादि क्षणिकत्वादननुपपन्नं तर्ह्यवान्तरव्यापार-
 घत्यास्तस्या एव साधनत्वमास्थेयम् । एव दृष्टमनुगृहीतं भवति, इतरथाहि दृष्टहानिरदृष्टकल्पना प्रसज्येयाताम् ।
 अतएव तद्दृष्टान्तेनावगुरणेऽपि तत्कल्पनासिद्धेर्न नियोगेन विनानुपपत्तिरित्यर्थः । युक्तं चैतदितरथा क्लृप्तक्रि-
 याकार्यवाचकत्वभावेण व्यवहारोपपत्तौ अलौकिकबहुकल्पनाप्रसङ्ग इत्याह—इतरथेति । अपूर्वस्येति ।
 अपूर्वस्य फल प्रति साधनत्वकल्पनेत्यर्थः । यागस्येति । अपूर्वफलयोरेकैकैव भावना एकमेव करण एकै-
 कैव च भाव्यतेति हि तेषामभ्युपगमः । उपलक्षणं चैतत्, यागस्य नियोग प्रति विषयत्वकल्पनाया । प्रति
 पत्त्यनुबन्धिंतया तस्या करणत्वादपि प्राथमिकत्वात् ।

एव प्रतिबन्दी समर्थ्याग्नेयादिप्रतिबन्धापि क्रियाया एव फलसाधनतामुपपादयति—किंचेति । ‘आग्ने-
 योऽष्टाकपाल, ऐन्द्र दधि, ऐन्द्र पय’ इति यागत्रय दर्शनत्रय नाम । आग्नेयोऽष्टाकपालो याग, आज्यहविष्कथो
 पाशुयाग, अग्नीषोमीयैकादशकपालयागश्चेति पौर्णमासत्रयम् । एतेषां च परम दर्शपूर्णमासापूर्वं प्रति करणत्व
 ‘दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेते ति विधिना बोधितम्, नच क्षणिकानामुदीच्योपकारो घटते इत्यवान्तरव्या-
 पाररूपाणि पडपूर्वाणि कल्प्यन्ते । नच तावताग्नेयादीना साधनताऽभाव इति भवतामपि सप्रतिपन्न तथात्राप्य-
 स्मन्मते क्रियैवापूर्वावान्तरव्यापारा स्वर्गसाधन नत्वपूर्वम् । अथवेश्वरप्रसाद एवापूर्वस्थानेऽमिपिच्यता तस्य
 श्रुतिस्मृतिपुराणगणनिर्णयतत्त्वादित्यर्थः । यथाचास्मन्मते तत्तद्देवतायागावैयर्थ्यम् ‘देवता वा प्रयोजये’दित्यधि-
 करणाविरोधश्च । तथा ‘फलमत उपपत्ते’रित्यत्र वर्णितं वाचस्पतिमिश्रैः । ननु नामेयादिप्यपूर्वाणामयान्तर-
 व्यापारत्वम्, अपितु तान्येव परमापूर्वं प्रति साधनम्, आग्नेयादीनि तु तत्साधनानीत्याशङ्क्य दूषयति—

१ कृतेर्भावार्थजननद्वारा नियोगसाधनत्वे इत्यर्थः । २ अयामपि च उपाधिशब्दो निमित्तपर । सागहन
 निमित्तमादाय विषयत्वमुत्पत्तिरूप निमित्तमादाय करणत्वमिति योजना । ३ एकैव भावनेति अग्नेऽपि एवैव भाव्यतेति
 पाठो सापीयासो । ४ प्रतिपत्तिनिमित्तकतया तस्य विषयताया इत्यर्थः ।

साधनतोपपत्तेर्न नियोगकल्पनावकाशः । नचोत्पत्त्यपूर्वाणामेव परमापूर्वसाधनत्वमाग्नेयादीनां तु तत्साधनसाधनत्वैवेति युक्तं वक्तुं, प्रमाणाभावात् । तथाहि—किं 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते' लघिकारवाक्येनैषां परमापूर्वसाधनत्वमवगतमुत् 'आग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्याद्युत्पत्तिवाक्यैः । नाद्यः । दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्य कर्मसमुदायवाचकत्वात्, यजेतेति च परमापूर्वाभिधानात् । नापि द्वितीयः । दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यधिकारवाक्यसंनिधिसमाभ्रातानामुत्पत्तिवाक्यानामधिकारापूर्वानुवादाशङ्काकुण्ठितशक्तीनां द्रागित्वेवापूर्वान्तरप्रत्ययजनकतानाश्रयणात् । अन्यथाधिकारवाक्यसंनिधिपरिपठितसमिदादिवाक्यस्थलिङ्गादिशब्दानामपि स्वतन्त्रकार्याभिधायकत्वे ग्राहकग्रहणभङ्गप्रसङ्गः । प्रयोजनप्रयोजनिभावेनान्वितामिधानं ग्राहकग्रहणमित्यभ्युपगमात्, स्वतन्त्राणां च प्रयोजनप्रयोजनिभावासंभवात् ।

आग्नेयादीनामेव त्वधिकारापूर्वं प्रत्यवगतकरणविषयभावानां क्षणिकत्वेन तदनुपपत्तौ तत्सिद्ध्यर्थमेवावान्तरव्यापारतयोत्पत्त्यपूर्वाङ्गीकरणात् ।

नचोत्पत्तीत्यादिना । अधिकारवाक्यं फलसंबन्धबोधकं वाक्यं नियोज्यसमर्पकं वा, उत्पत्तिवाक्यं कर्मस्वरूपबोधकम् । आद्येपि पक्षे दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यनेन वा यजेतेत्यनेन वा । प्रथमे प्राह—दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्येति । आग्नेयादिकर्मसमुदायवाचकलाडुत्पत्त्यपूर्वानभिधायकलादित्यर्थः । द्वितीयं निषेधति—यजेतेति चेति । भावार्थविशिष्टपरमापूर्वाभिधायकत्वादित्यर्थः । उत्पत्तिवाक्यैरिति पक्षं दूषयति—नापीति । एष हि तेषामभ्युपगमः—आग्नेयादिवाक्यैरपूर्वान्तराणि नामिधीयन्ते । प्रधानपूर्वसंनिधिपठिततया तदनुवादाशङ्का कुण्ठितशक्तित्वात्, केवलं कर्मस्वरूपमात्रं तत्र शान्दम् । योग्यतावैधुर्याभावाच्च प्रकैरणिनाम्बितामिधानं कारणान्तरवशात्पूर्वाणां कल्पत्वमिति सोऽयं भज्येतैवमभ्युपगच्छत इत्यर्थः । न केवलमनुवादाशङ्कयानभिधायकमनिष्टप्रसङ्गत्वेत्याह—अन्यथेति । दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यादधिकारवाक्यप्रकरणपठितसमिदादिवाक्यानामप्याग्नेयादिवाक्यवदपूर्वाभिधायकत्वात् । अपूर्वस्य च कृतिसाध्यं प्रधानं यदित्युक्तक्षणवत्तया प्रधानलात्प्रधानयोश्चाङ्गाङ्गिभावाभावात्तद्बोधकप्राहकसंज्ञकप्रयोगवचनेन परिग्रहो न स्यादित्यर्थः । आपाद्य चेदं दूषणम् । परमापूर्वेण ग्राहकग्रहणस्वरूपं दर्शयति—प्रयोजनेति । प्रयोजनं प्रधानं नियोगः प्रयोजनिनः तत्प्रकरणपठितसकलपदार्थास्तदन्विततया प्रधाननियोगस्यामिधानं ग्राहकग्रहणमित्यर्थः ।

कथं तर्ह्यग्नेयादीनां क्षणिकानां सेतिकर्तव्यताकानां परमापूर्वेनिर्वर्तकत्वमित्यत आह—आग्नेयादीनामेव द्विविती । अवगतो विषयभावः करणभावश्च येषां ते तथा । अङ्गीकरणादिति । यत्रानन्यनिष्ठभावार्थलक्षणविषयलाभस्तत्राभिधायकत्वेकल्पना अन्यत्र केवलकल्पनेत्यर्थः । अत्र भवनाद्यः प्राह—न क्षणिकां क्रियां व्यवहितस्वर्गं प्रति साधनत्वेनाभिदधाति शब्दः । अतः कल्पनानुपपत्तेः अपूर्वकल्पनात् प्रागयोग्यत्वात् आग्नेयादीनां त्वपूर्वं प्रति योग्यत्वादन्वित्याभिधानमिति । तन्न । नहि क्षणिकलाब्धवहितत्वमाद्वाऽयोग्यत्वं, तैलपानादावदर्शनात् । निरन्वयविर्नाशस्तन्प्राप्तिसिद्धः, आग्नेयादेरिह च क्षणिकस्यापि योग्यतास्त्यतः कारणान्तरप्रयोजकम् ।

१ प्रकरणिना प्रधानापूर्वेण अन्वितानामाग्नेयादिकर्मस्वरूपाणामभिधानमित्यर्थः । २ यत्रैकस्मिन्निष्ठोद्बोधोपादिकर्मणः स्वर्गादिसाधनत्वं तत्र लिङ्गादेः परमापूर्वाभिधायकत्वकल्पना, यत्र तु अनेकेषां कर्मणा तत्त्वं यथा प्रकृते आग्नेयादीनां तत्र क्षणिकानां तेषां साहित्यासम्भवेन परमापूर्वानुत्पत्तिप्रसङ्गे लिङ्गादीनां परमापूर्वाभिधायकत्वकल्पनावामपि उत्पत्त्यपूर्वाणां केवलकल्पना शब्दसत्याकल्पनेत्यर्थः । अनन्यरिमन्निष्ठे निष्ठा पूर्ववत्तानं यस्य भावार्थस्य स तथेत्यर्थः । ३ कर्मस्वरूपमावार्थेति यावत् । ४ स्वर्गादिसाधनत्वेत्यादिः । ५ आग्नेयादीनां स्वर्गादिक प्रतीतिशेषः । ६ क्षणिके व्यवहिते च तैलपानादौ लेहनिविरेचनादिरूपफलयोग्यताया दर्शनादित्यर्थः । ७ यदि तु तैलपानादिक्रियाया न सर्वधाविनाशः शरीरान्तः तस्याः सत्त्वात्तदाऽग्नेयादीनामपि अपूर्वान्तरव्यापारवचयासत्त्वेन न सर्वधाविनाश इति समानम् । ८ यागातिरिक्तं नियोगरूपं कारणं स्वातन्त्र्येण स्वर्गप्रयोजकं न भवतीत्यर्थः ।

कश्चायं नियोज्यो नाम यदन्वयात्क्रियातिरिक्तनियोगसिद्धिः, स किं कार्यप्रति गुण-
भूतः प्रधानभूतो वा । नाद्यः । गुणत्वे कर्तृत्वान्वयान्तर्भावात् । न द्वितीयः । प्राधा-
न्येऽधिकार्यन्वयापातात् । गुणप्रधानभावातिरिक्तप्रकारान्तरासंभवाच्च । कार्यमात्मीय-
त्वेन योऽवबुध्यते स नियोज्य इति चेत्, तथाभूतावबोधस्यापि गुणप्रधानभावान्तर्भावे-
पोक्तदूषणापत्तेः । क्रियाकार्यप्रति गुणभूतत्वं कर्तृत्वं क्रियातिरिक्तं प्रति गुणभूतत्वमेव
नियोज्यत्वमिति विषयभेदाद्भेद इति चेत्, मैवम् । क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धौ नियोज्यान्व-
यसिद्धिः नियोज्यान्वयसिद्धयधीना च क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।
नच नियोगस्य कृत्युद्देश्यत्वम्, अपुरुषार्थत्वात् । सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ तदुभयसाधनं
वा पुरुषार्थः । नचैषामन्यतमो नियोगो, येन पुरुषार्थतया कृत्युद्देश्यः स्यात् । नच स्वर्गा-
दिसाधनतया पुरुषार्थत्वं, नित्यनैमित्तिकनियोगयोस्तदभावेन कृत्युद्देश्यतावैधुर्यापातात्,
नियोगसिद्धेरेव च पुरुषार्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थक्यप्रसङ्गात् । ननु कामा-
धिकारे फलकामिनो नियोज्यत्वात्फलं प्रति करणीभूतस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वात्
तत्साध्यस्य नियोगस्य फलान्तरसाधनता । नित्ये तु न फलकामिनोऽधिकारः नापि फलं प्रति
करणीभूतस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वं किंतु नियोगं प्रत्येव विषयत्वं करणत्वं च,
अन्यथा नित्यकाम्यवैषम्यानुपपत्तेः । तस्मान्नित्येपु नियोगसिद्धिरेव पुरुषार्थ इति चेत् ।

एवं नियोगस्याशब्दलक्ष्मणपथाय तद्यावर्तकं नियोज्यं दूषयति—कश्चायमिति । ननु नियोगदूषणसमये
नियोज्यदूषणमकाण्डताण्डवमिव नेत्याह—यदन्वयादिति । गुणत्व इति । क्रियां प्रति गुणभूतश्चेतनः कर्तृत्व
ननु तदतिरिक्त इत्यर्थः । तेन न समिदादिषु व्यभिचारः । इदं च निगूढाभिसन्देहदूषणम् । प्राधान्य इति ।
क्रिया प्रति प्राधान्यं नाम तत्फलभोक्तृत्वमत्र विवक्षितं चेतनत्वविशेषितं वा तदेव चाधिकारित्वमित्यर्थः । तेन
च ग्रीह्यादिव्यावृत्तिः । ननु गुणप्रधानभावव्यतिरिक्त एव कश्चित्प्रकारो भवति इति तत्राह—गुणप्रधानेति ।
स्वतन्त्रयोः संबन्धाभाषप्रसङ्गादिति भावः । तथाभूतेति । आत्मीयत्वं नामात्मसंबन्धित्वम् । नच निरा-
काङ्क्षयोः संबन्ध इत्यन्तर्भवत्येव गुणप्रधानभावे सोपीत्यर्थः । यो निगूढोऽभिसन्धिर्नृक्तस्तमुद्गाटयितुं शक्नोते—
क्रियाकार्यमिति । द्विविधं हि कार्यं क्रियारूपं तदतिरिक्तनियोगरूपं च । तत्र प्रथमं प्रति गुणभूतत्वं
कर्तृत्वं, द्वितीयं प्रति गुणभूतत्वं नियोज्यत्वमिति गुणभावे समानेपि यत्प्रति गुणभावस्तद्वैषम्यादिदं वैषम्य-
मित्यर्थः । दूषयति—मैवमिति । विषयनियोज्यनिरूप्यः कश्चित्कार्यनियोगो नाम, यथाहुः—‘कार्यत्वेन
नियोज्यं यः स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ । नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते’ इति । तथाच नियोज्यनिरूपणा-
न्नियोगनिरूपणं सप्रति नियोगेन तं निरूपयतीति परसाराश्रय इत्यर्थः ।

यच्च कृत्युद्देश्यत्वं प्राधान्यं जेगीयते शुद्धमतानुसारिभिरुदादिषु दूषयति—नच नियोगस्येति । पुरुषार्थ-
त्वप्रयोजकं दर्शयन्नपुरुषार्थतामेव विश्रुणोति—सुखेति । ननु किमिति न पुरुषार्थत्वं यावता स्वर्गदिसाधन-
तया सुखसाधनत्वमस्तीत्याशङ्क्य नित्यनियोगे फलरहिते ह्युद्देश्यता न स्यादित्याह—नचेत्यादिना ।
स्यादेतत्—लोकं सत्स्वियं यथा यत्सुखादिचतुष्टयान्यतमं स पुरुषार्थ इति, वेदे तु नियोगसिद्धिरेव पुरुषार्थ इति
तत्राह—नियोगसिद्धेरेवेति । शक्नोते—नञ्चिति । अयमर्थः । नियोगसिद्धिस्तु सर्वत्र पुरुषार्थो भव-
त्येव । नच काम्येषु स्वर्गसाधनत्वाभावप्रसङ्गं, स्वर्गकामिनस्तथाधिकारितात् । स्वर्गकरणस्यैव यागस्य नियोगं
प्रति विषयत्वाच्च । तेन भवतु नाम तत्र स्वर्गोऽपि फलं न तावता नियोगस्यापुरुषार्थता । अतएव च
काम्येषु साम्यविशुद्धिरिति वृद्धाः । नित्येषु न तादृशोऽधिपतारि नापि तादृशी विषयकरणे, अपितलकामिनियोगं
प्रत्येव विषयः करणं चातो विशुद्धिरहितं नियोगमात्रं तत्र पुरुषार्थं । अवयवं यैवं मन्तव्यम्, इतरथोभयपान्य-
निरिक्तफलकत्वे तदभावे वा नित्यकाम्यविभागानुपपत्तेरिति । तदेतन्नित्यकाम्योर्भ्यतिरिक्तफलकत्वेऽपि प्रकृता-

मैवम् । नित्यकाम्यवैषम्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वात् । तथाहि द्वयोः फलवत्त्वाविशेषेऽपि यत्र फामना निमित्ततया श्रूयते कल्प्यते वा तत्काम्यं, यत्र पुनर्नैवं यद्करणे च प्रत्यवायस्तदितर-
दिति वैषम्यात् । नित्यनैमित्तिकयोश्च फलशून्यत्वे हि तत्साधनताबुद्ध्या प्रवृत्तिरेव न स्यात् ।
ननु नियोगसिद्धेः परमपुरुषार्थत्वात्तत्साधने यागादौ हितसाधनबुद्धयैव प्रवृत्तिः,
नियोगार्थसिद्धेः किमन्यत्प्रयोजनं सर्वविधीनामिति गुरुणैवोदीरितत्वादिति चेन्मैवम् ।
तथासति तवापि नित्यकाम्यवैषम्यभङ्गप्रसङ्गात् । तथाहि फलं प्रति करणीभूते यागादौ
रागत एव प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु वैधी कामाधिकारे, नित्येषु तु करणेतिकर्तव्यतयो-
र्विधित एव प्रवृत्तिरिति वैषम्यं तवाभिमतं तद्देवं भज्येत । नियोगस्य फलरूपत्वेन तत्क-
रणे यागादावपि रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेः । किंचेदं यागस्य फलं प्रति करणत्वं श्रुति-
लिङ्गादिगम्यम्, उत नियोगानुपपत्तिगम्यम् । नाद्यः । श्रुत्यादेरदर्शनात् । 'स्वर्गकामो यजेते'-
त्यादौ फलंप्रति करणत्वस्य प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामप्रतीतेः, यागेन फलशिरस्कस्य नियोग-
स्यैव साध्यत्वप्रतीतेरभ्युपगमात् । लिङ्गादीनां चानाशङ्कनीयत्वात् । नापि द्वितीयः ।
विकल्पासहत्वात् । किं नियोगः स्वसिद्धये यागस्य फलकरणत्वं कल्पयति उत फलसि-

न्तरेण वैषम्यं दर्शयन्द्रूपयति—मैवमित्यादिना । विश्वजिदादिसङ्गहाथमाह—कल्प्यते वेति । ननु
फलवत्त्वं चेत्सवैत्र समान किमिति नित्येऽपि विश्वजिदादिवदेव न कल्प्यते कामः किमिति वा न काम्यमित्यत
उक्तं—यद्करणे चेति । यत्र प्रत्यवायश्रवणं तत्र न कल्प्यमित्यर्थः । नित्ये हि न फलं नित्यमिति खण्ड-
लकार्यः । वैषम्यान्तरं वा, यद्करणे प्रत्यवायो न दृश्यते तत्काम्यं, यत्र च श्रूयते नियतं निमित्तं तन्नित्यं,
यत्र च तच्छ्रुणोऽन्यनियतं निमित्तं तन्नैमित्तिकमिति विभागः । 'कर्मणा पितृलोक' इति शास्त्राच्च नित्यानां
फलवत्ताधिगमः । नित्येषु प्रवृत्तेर्लोभाद्यैवमेव वैषम्यं युक्तमित्याह—नित्यनैमित्तिकयोश्चेति ।

ननु किमिति न प्रवृत्तिः यावता नियोगो हितं तत्साधनं च यागः ततो हितसाधने प्रवृत्तिः संभवतीति
शङ्कते—ननु नियोगेति । वैषम्यभङ्गमेवोपपादयति—तथाहि फलं प्रतीति । यत्र करणे रागात्
प्रवृत्तिस्तत्काम्यं, यत्र पुनः करणेपि विधितः प्रवृत्तिस्तन्नित्यमिति हि नित्यकाम्यवैषम्यमभिमतं तन्न स्यात् ।
नित्येष्वपि करणीभूतयागादिषु रागादेव प्रवृत्तेरित्यर्थः । यदुक्तं पूर्वं फलं प्रति करणीभूतस्य यागस्य नियोगं
प्रति विषयत्वमिति तदपि दुर्निरूपमित्याह—किंचेदमित्यादिना । किमः श्रुतिलिङ्गादिगम्यमित्यनेनान्वयः ।
चक्षु किंचार्थः । श्रुत्यादेरदर्शनादिति । यथाहि इष्टसाधनतावाक्यार्थवादिनामस्माकं स्वर्गयागयोः सा-
ध्यसाधनभावः श्रौतः, यथाच भावनावाक्यार्थवादिना भाडाना वाक्यगम्यः साध्यसाधनभावः । यथाहुः
पार्थसारथिमिश्रा.—नहि तत्र स्वर्गकाम्यस्य यागस्य वा साध्यत्वं साधनत्वं वा केनचिदुक्तं, पदद्वयसामान्य-
हारादेव तु संबन्धे कल्पयितव्ये 'असाधकं तु तादर्थ्या'दिति न्यायेन कामिनैः प्राधान्यं यागस्य च गुणत्वं क-
ल्प्यत इति । तन्मतेऽपि फलसंबन्धः श्रौत इष्टसाधनरूपत्वात् विधेर्न तथा भवद्भिरभ्युपगम्यते और्षादानि-
कत्वाङ्गीकारादित्यर्थः । किं तर्हि प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामभिधीयत इत्यत आह—यागेनेति । यजेतेत्यस्य
यागेन नियोग इत्यर्थः । सच नियोगो देवगत्या फलसाधनमिति तच्छिरस्कस्य साध्यत्वं ननु फलस्य । फल-
रत्नाभावाच्च तद्द्वान्यस्य न फलयागयोः साध्यसाधनभाव इत्यर्थः । अस्तु तर्हि लिङ्गवाक्यादीनि प्रमाणमिति
तत्राह—लिङ्गादीनां चेति । नियोगानुपपत्तिलक्षणापादानिकत्वं दूषयति—नापि द्वितीय इति ।

१ पुत्रमिति पाठान्तरम् । २ भवत्वमिति पाठान्तरम् । ३ भवत्त्वंभापि नियतमिति यावत् । ४ अकरणे
प्रत्यवाय इति शेषः । ५ कामेलधिकं भाति । ६ यजेतेत्यादीनामनुष्ठात्रपैक्षितोपायतारहितप्रवर्तनामात्रार्थत्वे
यागादिकर्मोसाधकं साधकरहितं स्यात् । साधयितार नाधिगच्छेत् इत्यर्थो जैमिनिसूत्रस्य । ७ कामनाविषयस्य
स्वर्गदेः । ८ अर्थापत्तिगम्यत्वस्वीकारादित्यर्थः ।

द्वये स्वस्य फलकामिकृतिसाध्यत्वसिद्धये वा । न प्रथमः । स्वसाधनीभूतयागानुष्ठानादेव स्वस्य सिद्धेः । न द्वितीयः । स्वसिद्धयैव फलस्यापि सिद्धयुपपत्तेः । न चरमः । यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वाभाव इव करणत्वाभावेऽपि स्वर्गसाधनीभूतनियोगं प्रति करणत्वादेव स्वर्गकामिकृतिव्याप्यत्वोपपत्तेः ।

यागादेः फलंप्रत्यकरणत्वे तत्कामिनस्तत्र कथं प्रवृत्तिरिति चेत्, साधनत्वाभावेऽपि तत्र तस्य प्रवृत्तिरनुपपन्नेति तुल्यम् । किंच साधनत्वाभावे तद्विशेषरूपकरणत्वमपि न स्यात्, 'साधकतमं करणमिति पाणिनिस्मरणात् । अथ परोद्दिष्टकृतिव्याप्यत्वं करणत्वं तेन साधनत्वाभावेऽपि करणता किं न स्यादिति चेत्, तर्हि नियोगस्यापि परोद्दिष्टकृतिव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्गः । तस्यापि स्वर्गादिफलोद्देशेन प्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वात् । अथ साक्षादिति विशेषणाददोषः । मैत्रम् । इतिकर्तव्यस्य प्रयाजादेरङ्गजातस्य धात्वर्थतया साक्षात्कृतिव्याप्यत्वेन करणत्वप्रसङ्गात् ।

उभयोः साधनत्वाविशेषे करणेतिकर्तव्यतालक्षणो विभागो न सिद्ध्येदिति चेन्न । तवापि नियोगसाधने यागे तदितिकर्तव्येषु च साधनत्वाविशेषाद्विभागानुपपत्तेस्तुल्य-

फलकामीति । फलकामिनो यः प्रयत्नस्तेन साध्यत्वं यन्नियोगस्य तन्नोपपद्यते यागस्य तद्व्यक्तस्य स्वर्गकरणत्वाभाव इत्यर्थः । साधनत्वाभाव इति । नहि यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वं प्रमाणाभावात्, नियोगो हि वाक्यार्थस्तं प्रत्येतेतरेषां शेषत्वावगमात्, व्यवहितत्वेनायोग्यत्वाच्च न कामिनस्तस्मिन्साधनताबुद्धिः कर्तव्यापारगोचरगोचरतया करणता तु स्यात् । यथाह भवनाथः—'न स्वर्गकामो व्यवहितसाधनं यागादि कार्यतया बोद्धुमलमिति । एतदुक्तं भवति—फलं प्रति साधनत्वाभावेऽपि फलसाधनीभूतनियोगसाधनत्वादेव यथा यागस्य फलकामिनस्त्राहारा नियोगे प्रवृत्तिर्घटते तथा प्रकृतेऽपीति ।

ननु यदि न यागः स्वर्गं प्रति करणं कथं तर्हि तत्कामिनो यागे प्रवृत्तिरनुपाये प्रवृत्त्यभावादिति शङ्कते—यागादेरिति । अकरणे प्रवृत्त्यदर्शनवदसाधनेऽपि प्रवृत्तिर्न दृशा, तदिहासाधनेऽपि प्रवृत्तिर्न दृश्यतेऽकरणे प्रवृत्तिर्न विरुध्यते दर्शनस्य नियामकत्वानङ्गीकारादिति परिहरति—साधनत्वेति । साधनसाधनत्वात्प्रवृत्त्युपपत्तिं नृवाणस्य करणकरणत्वादित्युक्तम् । नच यत्कामिनो यत्र नियोगस्ततस्य साधनमित्यपि नियमः । ग्रामायसाधनेऽपि भोजनादौ 'ग्रामकामो भुङ्क्ते'ति निर्ज्ञातैविशेषणोऽनभोजनार्थं नियोगदर्शनात् । अथ कर्तव्यापारगोचरगोचरत्वात्करणमिति मेतिस्त्वन् साधनत्वरहितस्य करणलाङ्गीकारे व्याहृतेः, सामान्यव्यावृत्तौ विशेषव्यावृत्तेरित्याह—किंचेति । साधकतममिति । तमया साधनविशेषत्वमुक्तमिति भावः । न साधनविशेषं करणमपित्वन्यदुद्दिश्य प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यं यथा छेदनोद्देशेन प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यत्वं हि कुठारादेः करणत्वं तत्कृतो व्याघात इति शङ्कते—अथेति । तदिदमतिव्यापकं स्वर्गं प्रत्यकरणस्यानियोगस्य स्वर्गं हि निपुणप्रयत्नव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्गादिति दूषयति—तर्ह्येति । आपाद्य चेदम् । ननु परोद्दिष्टकृत्वा साक्षात्वाप्य च करणत्वं तथाच न नियोगेऽतिव्याप्तिः तस्य भावाध्यव्यवधानादिति शङ्कते—अथेति । तर्ह्येतिकर्तव्यतास्यैव भावार्थस्य साक्षात्कृतिव्याप्यतया यागवदेव करणत्वप्रसङ्ग इत्यतिव्याप्त्या दूषयति—मैत्रमिति ।

ननु साधनत्वव्यावृत्तौ करणत्वव्यावृत्तिरित्युक्तं तत्परिहृतं शङ्कते—उभयोरिति । प्रयाजादेः पद्मानस्येव स्वर्गं प्रति साधनत्वाविशेषे प्रयाजादेरितिकर्तव्यतालमितरस्य करणत्वमिति प्रसिद्धो विभागो न स्यात् । अतः करणेतिकर्तव्यताविभागलोभादेवासाधनस्यैव यागस्य स्वर्गं प्रति करणत्वं स्वीकर्तव्यमित्यर्थः । परिहरति—न तद्यापीति । यथाहि नियोगं प्रति साधनत्वाविशेषेऽप्ययं विभागश्चाप्य स्वर्गं प्रतीति भावः । यद्य यामा-

१ वृत्त्यापारः पुरुषप्रयत्नः तत्रोचरो नियोगः तत्रोचरो याग इति समन्वयः । २ अन्वयव्यतिरेक्यभिचारेनेत्याहः ।

३ ग्रामसाधनत्वेन निधिषे नार्थरूपनिधिषेऽपने भोजनाशयित्वर्थः । ४ तत्रेति पाठान्तरम् । ५ परिहरति पाठान्तरम् ।

त्वात् । नच करणांशे रागतः प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु विधित इति विभागो युक्तः । सेतिकर्तव्यताकस्यैव करणतया तत्र रागतः प्रवृत्तेरवर्जनीयत्वात् । तथा लोके दृष्टत्वात् । एतेन श्येनामीपोमीयवैषम्यमप्यपास्तम् । श्येनवदमीपोमीयेऽपि रागतः प्रवृत्तेः समानत्वात् । नच प्रथमतो नियोगेनैव संबद्धेति कर्तव्यता पश्चात्तत्प्रयुक्ता फलेन संबध्यते । यागस्य तु फलं प्रति करणीभूतस्यैव नियोगेन पश्चात्संबन्ध इति वैषम्यं, ग्राहकग्रहणद-
 १) श्यायां प्राकरणीकसकलपदार्थानामविशेषेण नियोगसंबद्धानां तद्वशादेव परस्परसंबन्धस्य पार्थिकस्याङ्गीकारात्, फलं प्रति करणत्वस्य विध्याक्षेपलक्षणोपादानाधीनतया तत्प्रतीतेर्वि-
 शिष्टनियोगप्रतीत्युत्तरकालीनत्वात् ।

कथं चैवं सति 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'ति विधौ जाप्रति रागतः प्रवृत्तौ निषेधानुप्रवेशाद-
 धर्मता स्यात् । नहि विधिसंस्पृष्टे निषेधः प्रवर्तमानोऽनर्थतां बोधयितुमीष्टे । तथासति षोड-
 शिग्रहणस्यापि नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधादनर्थत्वप्रसङ्गात् । उक्तं हि भट्टाचार्यैः—
 'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम् । विज्ञायते ह्यनर्थत्वं षोडशिग्रहणादिव'दिति ।

धिकारे करणेतिकर्तव्यताविभागो शुद्धमतानुसारिभिः परिकल्प्यते तमपि प्रसङ्गादुपयति—नच करणांश इति । अथवा साधनत्वाविशेषेऽपि कामाधिकारे करणत्वप्रयोजकमाशङ्कानेन दूष्यते । तत्र हेतुः—सेतिकर्त-
 व्यतेति । यथाहुद्यमननिपातनव्यापारविशिष्टस्यैव कुठारस्य करणत्वं नतु फेवलस्य तथा सेतिकर्तव्यताकं कर-
 णम् । तत्र चेद्रागतः प्रवृत्तिस्तर्ह्यतिकर्तव्यतास्यपि रागत एव सेति न विभाग इत्यर्थः । अथवा इतिकर्त-
 व्यतासाध्योपकारसापेक्षत्वात्करणस्य तदपेक्षेयत्वमपि रागतः प्रवृत्तिरित्यर्थः । तथा नित्ये विभागानुपपत्तिरित्यपि
 द्रष्टव्यम् । करणेतिकर्तव्यतयो रागतः प्रवृत्तिसाम्यापादनेन श्येनामीपोमीययागयोरपि वैषम्यमपास्तमित्याह
 —एतेनेति । एतेनेत्यस्यैव विवरणं श्येनवदिति । ननु नेतिकर्तव्यतासु रागतः प्रवृत्तिः, प्रथमत एव
 नियोगेन संबन्धात्तस्य च रागविषयत्वाभावात् । यागस्य तु नैवं, प्रथमतः फलसंबन्धित्वात् फलस्य च राग-
 विषयतया तत्करणेऽपि रागत एव प्रवृत्तिरित्यत आह—नच प्रथमत इति । हेतुमाह—ग्राहकेति ।
 न प्रथमतः फलेन यागस्य संबन्धः अप्रकरणित्वात्फलस्याप्रकरणिता चेतरेणासंबन्धत्वात् । तेनेतिकर्तव्यता-
 वदेव यागोऽपि नियोगशेषतया ग्राहकेण गृहीतः पश्चात्तमेव प्रधानान्वयं निर्वाहुं तद्वारेण परस्परान्वयः सच
 पृष्ठतो भवतीति पार्थिकस्य च दशायां यागस्वर्गयोरप्यन्वय इति भवतामङ्गीकार इत्यर्थः । किंच विध्याक्षे-
 पलक्षणोपादानप्रमाणरफलकामिकृतिव्याप्यतानुपपत्तिलक्षणाभियोगफलयोः संबन्धोऽभिप्रेयते । आक्षेपश्च विधै-
 यनियोज्यविशिष्टनियोगप्रतीत्याऽतोपीतराप्रकरणिकवन्नियोगेनैव विषयभूतयागस्य प्रथमं संबन्धो वक्तव्यः ।
 नतु फलेनेत्याह—फलं प्रतीति । तस्माद्बुभयत्र रागतो वा विधितो वा प्रवृत्तिः समानेत्यर्थः ।

ननु यद्यप्युभयत्र रागतः प्रवृत्तिः समाना तथापि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'ति निषेधानुप्रवेशादधर्मता श्येन-
 यागस्येतरस्य न तथा तदभावादिति वैषम्यमिति नेत्याह—कथं चैवं सतीति । रागतः प्रवृत्तिस्त्वावदुभ-
 यत्र समानेत्यावेदितम् । तथासति विधिसंशोस्पर्शाभ्यां वैषम्यं वक्तव्यम् । नचैतदपि, श्येनेपि विधेर्विद्यमानत्वा-
 दिति भावः । एतदेव षोडशिप्रतिबन्धा समर्थयते—नहि विधिसंस्पृष्ट इत्यादिना । विधिसंस्पृष्टेऽपि
 चेन्नियेधादनर्थत्वं तर्ह्यतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति विहितस्यापि षोडशिग्रहणस्य नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति
 निषेधादनर्थत्वप्रसङ्गः । नचैतद्युक्तम् । आह हि—'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम् । विज्ञायते ह्यनर्थत्वं
 षोडशिग्रहणादिव'दित्यर्थः ।

१ तत्रेत्सवानन्तरं रागतः प्रवृत्तावितिकर्तव्येष्वपीति इच्छिदधिकः पाठः । २ प्रधानवागेतरेणेतिकर्तव्यता-
 दिना इत्यर्थः । ३ नियोगविषये यागादी यो नियोज्यस्तद्विशिष्टेत्यादिरर्थः ।

ननु विधेर्द्विविधो व्यापारो भावार्थफलयोः साध्यसाधनसंबन्धबोधो भावार्थानुष्ठान-
बोधश्चेति । तत्रैव चानुष्ठानबोधो यत्र भावार्थेऽन्यतो न प्रवृत्तिः, श्येनादौ च फलोपाय-
त्वेऽधिगते रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेर्नानुष्ठापकत्वं, ततश्च निषेधप्रवेशाच्छ्येनादेरनर्थत्वमिति
चेन्न । उक्तोत्तरत्वात् । उक्तं हि सेतिकर्तव्यस्यैव करणत्वात्तत्र रागतः प्रवृत्तावितिकर्त-
व्येऽपि तत एव प्रवृत्तौ श्येनवदग्नीषोमीयस्यापीतिकर्तव्यस्यानर्थता प्रसज्येतेति । ननु
'अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहती'ति प्रायश्चित्तविधानादनर्थता निश्चीयत इति
चेन्मैवम् । नैमित्तिकत्वेनाप्यस्योपपत्तेः । यथाहि—'वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृप-
वदे'दित्यनृतवदनविधानानन्तरं 'तत्पावनाय निर्वाप्यश्वरुः सारस्वतो द्विजै'रिति नैमित्तिक-
त्वेन सारस्वतश्वरुर्निर्वाप्यो विधीयते नत्वनृतवदनजनितपापनिवर्हणाय । अनृतवदने का-
मतोऽप्रवृत्तेर्विधित एव तत्र प्रवृत्त्यङ्गीकारात् । एवमन्यत्रापि । तदेवं नित्यकाम्यवैषम्यस-
वक्तुमशक्यत्वान्नित्यवत्काम्येऽपि नियोगस्य फलसाधनत्वकल्पना निःप्रामाणिका, पुरुषा-
र्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थकताप्रसङ्गात् ।

नच स्वर्गादिसाधनत्वे नियोगस्य प्राधान्यमपि संभवति, स्वर्गादिसुखशेषत्वात् । नच
स्वानुकूलनियोज्यसिद्धये स्वर्गादिकं साधयतो नियोगस्य स्वामिवत्प्राधान्यानुपघातः, दृष्टा-
न्तवैपम्यात् । तथाहि द्वौ हि तत्र स्वामिभृत्ययोः प्रयत्नौ स्वार्थोद्देशेन प्रवृत्तौ परस्परसु-
पकुर्वाते, न तथेह नियोगस्य चेतनता येन स्वकीयप्रयत्ने स्वर्गमात्मार्थतया आक्षिपेत्,
प्रत्युत गर्भदासस्थानीयो नियोज्यः स एव स्वर्गाय प्रवृत्तो नियोगमेव स्वर्गशेषतया स्वी-

व्यापारद्वैविध्यं विधेर्दर्शयन् श्येनयागस्याधर्मतामुपपादयति पूर्ववादी—नन्वित्यादिना । तदेतदग्नीषो-
मीयहिंसायामपि समानमिति परिहरति—न । उक्तोत्तरत्वादिति । प्रकारान्तरेणाधर्मतामाशङ्कते—
नन्विति । अहीनोऽहर्णनिर्वर्त्यः ऋतुविशेषः 'अहः खः क्रतावि'ति समूहे गम्यमाने अह्नृशब्दात्प्रत्य-
यविधानात् । परिहरति—मैवमिति । निषिद्धत्वानिर्णये प्रायश्चित्तानिर्णयात् तद्विधानस्य च नैमित्तिकत्वेनानु-
पपत्तेः निषिद्धत्वविधानात्प्रायश्चित्तत्वे प्रायश्चित्तविधानाच्च निषिद्धत्वे परस्पराश्रयमिति भावः । ननु व्यपोहतीति
शेषनिवर्हणश्रवणात्प्रायश्चित्तत्वमिति तत्राह—यथाहि वर्णिनामिति । यत्र यस्मिन्समये ब्राह्मणादीनां षण-
प्राप्नोति तत्र तदा साक्ष्यनृतं वदेत् । अनृतवदनमवदनस्याप्युपलक्षणम् । ततश्च यदि घदनमात्राद्धः प्राप्नोति तत्र न
वदेत् । यदा तु सत्यवदनात्तदाहृतं वदेदित्यर्थः । तत्पावनायेति तच्छुद्ध्यर्थम् । द्विजैस्त्रैवर्णिकैः । सारसा-
सारस्वतीदेवताकथः । निर्वाप्यः निर्घपणेन यागपर्यन्तं लक्ष्यते । ननु तत्पावनायेति धवणात्प्रायश्चित्तं
किं न स्यादिति तत्राह—नत्वनृतवदनेति । तत्र हेतुः अनृतवदनेति । कामतः प्राप्तं ह्यनृतवदनं नारा-
वदेदिति निषिद्धं निषिद्धानुष्ठाने च प्रायश्चित्तं, प्रवृत्ते तु विधितः प्रवृत्तेर्न प्रायश्चित्तं युक्तं निषिद्धानुष्ठानाद्ब्रह्म-
वादित्यर्थः । एवंच विषयविभोगेन प्रायश्चित्तव्यवस्थापनमपि वैधितिक्यमाणमयुक्तमित्यान्तरविचारमुपस्था-
रति—तदेवमिति ।

यद्यपि प्राधान्यसमर्थनं कृतं स्वर्गादिसाधनत्वेपि तदुपपत्ति—नचेति । पूर्वपक्षशाशयमनूप पूरयति—
नचेति । गर्भदासस्वामिनोद्येतनतया स्वस्वप्रयोजनोद्देशेन प्रवृत्तिर्युक्ता एतन्तु नियोगस्य स्वामित्वादीदृश-
न युक्ता अचेतनलात् । अतएव न प्रवृत्तिरपीत्यर्थः । न केवलं नियोगस्य प्राधान्याभावः प्रयुक्तं स्वर्ग-
प्रति शेषत्वमेवेत्याह—प्रत्युत्तेति । ननु कथमिदमवधार्यते स्वर्गशेषो नियोगः ननु विपरीतमिति तत्राह—

कुर्यात् । नच स्वर्गादिसुरस्यान्यार्थता, स्वभात्रवैपरीत्यापत्तेः । यदर्थं सर्वं यच्च नान्यार्थं तत्सु-
 रमिति हि सुखस्य लक्षणमाचक्षते तत्कथमन्यशेषता स्वर्गादिसुखस्य भवेत् । नचलौकिक-
 त्वेऽपि नियोगस्य यूप्राहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहारात्संबन्धग्रहणम् । तत्र यूप्राहवनी-
 यादेर्यूपं तक्षतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारान्यथानुपपत्तिगम्यत्ववन्नियोगस्यार्थापत्तिगम्य-
 स्वानङ्गीकारात् । अङ्गीकारे वाऽपूर्वत्वव्याघाताच्च । यत्तु लिङादेः क्रियातिरिक्तकार्याभिधायि-
 त्वानुमानं तत्प्रत्यनुमानपराहत्वात्साधनम् । तथाहि “विवादाध्यासिताः शब्दाः क्रियाका-
 र्याभिधायिनः ॥ कार्यप्रत्ययहेतुत्वादानयेत्यादिशब्दवत्” ॥ १८ ॥ इष्टसाधनवादिनो वेदान्तिनः
 प्रति साध्यविकलत्वाच्च । लौकिकलिङादिशब्दानामपि श्रेयःसाधनबोधकत्वाभ्युपगमात् ।
 व्यापकानुपलब्धिपराहत्वाच्च । तथाहि—तदभिधायकत्वं तत्र सङ्गतिग्रहणेन व्याप्तं तच्च
 मानान्तरानधिगतादपूर्वाभ्यावर्तमानं लिङादीनां तदभिधायकतां व्यावर्तयति । नच क्रियाति-
 रिक्तकार्यानभिधाने स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः । क्रियाया एवापूर्वावान्त-
 रव्यापारायाः परमेश्वरप्रसादावान्तरव्यापाराया वा फलसाधनत्वोपपत्तेः प्रदर्शितत्वात् ।

वेदेवं विधिवाक्यानामपि सिद्धार्थबोधकत्वाद्विधिसंस्पर्शविधुराणां सत्यज्ञानादिव्याक्या-
 नामरण्डैकरसन्नलक्षणसिद्धार्थबोधकत्वं सुतरां सिद्ध्यतीति सिद्धम् ॥ १० ॥ ननु
 क्रयं वेदान्तानामरण्डार्थत्वं तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् तत्र प्रमाणासंभवाच्च । तथाहि—
 किमिदमरण्डार्थत्वं किं निर्विशेषवस्तुपरत्वं उत निर्भेदार्यनिष्ठत्वं आहोस्विदपर्यायशब्दानां

नचेति । अथवा पूर्वमचेतनत्वान्नियोगस्य न स्वर्गस्य तच्छेषत्वमित्युक्तम् । इदानीं स्वभावविरोधादपि न तथे-
 त्याह—नच स्वर्गादीति । यच्च नान्यार्थं तत्सुखमित्युक्ते दु खेऽपि स्मादत उक्त—यदर्थमिति । स्वर्गा-
 दिसुखस्यान्यशेषत्व यच्च नान्यार्थमिति लक्षणविरुद्धमित्यर्थ । यत्तु यूप्राहवनीयादि दृष्टान्तित तदपि वैपर्थ्यं
 दर्शयन् परिहरति—नचलौकिकत्वेऽपीति । प्रत्यनुमानमेव श्लोकेन दर्शयति—विवादाध्यासिता
 इति । लौकिकलिङादौ सिद्धसाधनतापरिहाराय विवादपदम् । वैदिकलिङादय इत्यर्थ । क्रियारूपं कार्यं
 क्रियाकार्यं तदभिधायिन इत्यर्थ । निशेगेनार्थान्तरतानिरासाय क्रियाग्रहणम् । नच लौकिकलिङादिलमु-
 पाधि, लौकिकपदवैयर्थ्येन पक्षेतरत्वात् । नन्वेवमपि लत्वक्षे किं प्रमाणम्, न तावदिदमेव, प्रतिरोधमात्रतया
 स्वपक्षासाधनत्वात् । नैतत्सारम् । बाधकत्वेन प्रतिरोधकत्वासिद्धे । समबलबोधितसाध्यविपर्ययत्व हि प्रतिघ-
 द्दलम्, नचात्र समबलत्व अधिकबलत्वादितरस्य दुर्बलत्वात्तदाह—इष्टसाधनेति । वादिनो वेदान्तिन
 इतिच द्वितीया । साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—लौकिकेति । एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वे गामानयेला-
 दिपद हि पूर्ववादिना दृष्टान्तितम् । नच तत्रापि कार्याभिधायित्वमिष्टसाधनताभिधायित्वाङ्गीकारात् मये-
 त्यर्थ । इदंचासिद्धेरप्युपलक्षण, दूषणान्तर चाह—व्यापकेति । व्यापक विधेचयन् तदनुपलब्धिमिहोप-
 लम्भयति—तथाहीत्यादिना । यद्यद्विषयस्याभिधायक तत्तस्य गृहीतसङ्गतिकमिति व्याप्तम् । नच प्रमाणा-
 न्तरानधिगतेऽपूर्वं तत्संभव इति व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरभिव्यावृत्त्येव धूमव्यावृत्तिरित्यर्थ । यत्तु
 वेन विपक्षे बाधकत्वेकं उक्तत्वमपि प्रशिक्षिलमूलमुन्मूलयति—नच क्रियातिरिक्तेति ।

वादार्थमुपसहरन् समन्वयोपयोगमाह—तदेवमित्यादिना । “हितसाधनतामवलम्ब्य यदा वट्टे विधि-
 बोधक्याश्रयमपि । परमान्तबोधविधौ सुतरां परमात्मनि चेदविरोसि तदा” ॥ अरण्डबोधकत्वमुक्तमाक्षिपति—
 ननु कथमित्यादिना । अरण्डार्थत्वस्य समबलक्षणानि दूषयति—किमिदमित्यादिना । अण्डशब्दस्य च-

- १ लिङादेरिष्टसाधनताबोधकत्वस्वीकारे । २ यदि पक्षेतरत्वमुच्यते न सात्तरा लिङादिवे लौकिकत्वविशेषण-
 नेव व्यर्थं स्यादिति भावः ।

प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं अथवा तेषामेवैकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं संसर्गाचरप्रमाजनकत्वं वा । नाद्यः । विकल्पासहत्वात् । तथाहि पदानां निर्विशेषवस्तुपर्यवसायित्वमभिधायकतया लक्षकतया वा स्यात् । न प्रथमः । तस्यात्यन्तमप्रसिद्धतया संबन्धग्रहणेन पदानां तत्पर्यवसायित्वासंभवेन लक्षणस्यासंभित्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । अप्रसिद्धत्वादेवाभिधेयाविनाभावस्य लक्षणाहेतोरसंभवेन प्राचीनदोषानुपपन्नप्रसङ्गात् ।

नचाभिधेयाविनाभावं विनापि गरमभ्यवहरेत्यादिगिरामिव वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिका । अत्यन्ताप्रसिद्धत्वेन गगनारविन्दादेरिव लक्ष्यत्वानुपपत्तेः । अथ निर्भेदवस्तुपरत्वम्, तदपि न । निर्भेदत्वस्यानिरुक्तेः । तथाहि निर्भेदत्वं नाम किं भेदाभावविशिष्टत्वं उत भेदाभावोपलक्षितत्वम् । नाद्यः । तत्परत्वे वाक्यस्य निर्घटं भूतलमिति च संसृष्टार्थत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । तत्रापि संसृष्टार्थत्वस्यानतिवृत्तेः । तथाहि भेदस्य योऽभावस्तोनोपलक्षणेनोपलक्षितवस्तुपरत्वे कथं न संसृष्टार्थता । वस्तुमात्रमेव तत्र प्रतिपाद्यं भेदाभावस्तु द्वारमिति चेत्, तथापि नाखण्डार्थता । उपलक्ष्यमाणस्य स्वेतरेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतीतावत्खण्डार्थत्वासंभवात् ।

विशेष भेद चार्थमादाय प्रथमद्वितीययो प्रवृत्तिस्तृतीयचतुर्थयो स्वविवक्षावशात् । तेषामेवेति । अपर्याप्तसद्धानामेवैत्यर्थः । पञ्चमस्तु खण्डशब्दस्य संसृष्टमर्थमादाय, निर्विशेषाणामप्यन्तर्निर्विशेषाणां भिन्नत्वस्य परैरङ्गीकारात्, नाद्यद्वितीयसङ्करः । तात्पर्यमभिहितेषु लक्षितेषु वा सम्भवति यथा गङ्गायां यादांसीति, यथा गङ्गायां घोष इति, तमुभयमपि प्रकारं विकल्प्य दूषयति—तस्यात्यन्तमिति । अन्यविशेषाणां भवद्विरनङ्गीकारादिति भावः । लक्षणापक्षं दूषयति—नापीति । अभिधेयाविनाभूतं हि लक्ष्यं दृष्टं, यथा गङ्गायां घोष प्रतिवसति इत्यत्र गङ्गाऽविनाभूतं तीरं गङ्गापदेन, न पुनरविनाभूतम् । अविनाभावश्चायं भूय सन्न्यदर्शनमानम्, यथा कोशन्तीत्यत्र मद्यपुरुषयोर्मुख्याविनाभावामावेऽपि लक्षणादर्शनात् । नचान्यताप्रसिद्धत्वं निर्विशेषवस्तुनोऽभिधेयाविनाभावः सम्भवतीति लक्षणाऽसम्भवाल्लक्षणाऽसम्भव इत्यर्थः ।

नचाभिधेयासंबन्धमपि क्वचिल्लक्ष्यं दृष्टं यथा कश्चित्कमस्य एते भोक्तव्यमिति केनचित्पृष्टं तन्निवारणार्थं विषयभुङ्क्वेति । नचानलक्ष्यमाणैतद्गृहनिष्ठभोजननिवृत्ते विषयभक्षणस्य च सन्न्ययोक्तिः अथ च लक्ष्यते तत्कस्य हेतोर्वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेरेवमत्रापि सत्यादिवाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेरेव किमिति न लक्षणैतत् अहं—नचाभिधेयेति । तत्र हेतुः—अत्यन्ताप्रसिद्धेति । अनुपपत्तिरपि हि योग्ये लक्षणां प्रवर्तयति न च योग्ये, इतरथा रावुणादेरपि लक्षणाप्रसङ्गात्, तस्मात् प्रामाण्यानुपपत्तिरपि अन्यपरतायामेव मीनत्वखण्डार्थतायामिति भावः । द्वितीयं दूषयति—अथ निर्भेदवस्त्विति । निर्भेदत्वं नाम भेदाभावविशिष्टत्वमिति प्रथमपक्षं दूषयति—नाद्य इति । यथा हि निर्घटं भूतलमिति पटाभावविशिष्टभूतलघोषस्य नाद्यखण्डार्थत्वमेव तत्रापीत्यर्थः । भेदाभावोपलक्षितत्वपक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । तत्रापि यत्कस्य किं भेदाभावोपलक्षितत्वविशिष्टमुत बहुमानमिति । आद्ये प्राह—भेदस्य योऽभाव इत्यादिना । द्वितीयं प्राह—घस्तुमात्रमेवेति । दूषयति—तथापीति । भेदाभावेन यद्गङ्गा लक्ष्यते तदिकमितरेभ्यो व्यावृत्तं प्रतीयते न वा । प्रथमे प्राह—उपलक्ष्यमाणस्येति । व्यावृत्तिविशिष्टस्याखण्डत्वाभावारित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—अप्रतीतायिति । फादाचित्कव्यावर्तकमुपलक्षणं नाम तस्य व्यावर्तकस्य व्यावृत्तमित्यर्थः । अपर्या-

अप्रतीतौ चानुपलक्षकत्वादेवोपलक्षणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्त्रापर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वेप्यखण्डार्थत्वादर्शनात् । नापि चतुर्थः । तथासत्येकेनैव तत्रप्रतिपत्तेः पदान्तरप्रयोगस्य वैयर्थ्येन लक्षणस्यासंभवित्वापात्तात् ।

व्यवच्छेद्यभेदादवैयर्थ्यमिति चेन्न । तदुनिरुक्तेः । तथाहि किं व्यवच्छेद्यानां व्यावृत्तयः पदैः प्रतिपाद्यन्ते अथवा तद्विशिष्टमाहोस्विर्दुपलक्षितं स्वरूपमात्रं वा । तत्र न प्रथम-द्वितीयौ । तथासति संसृष्टार्थत्वेनाखण्डार्थत्वानुपपत्तेः । नापि तृतीयः । तत्राप्यन्यतो व्यावृत्तस्य प्रतिपादने प्राचीनदोषानुपपन्नात् । स्वरूपमात्रप्रतिपादने च पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यस्य दर्शितत्वात् । नापि पञ्चमः । तथात्वस्यात्यन्तादृष्टचरत्वेन लक्षणासंभवित्वात् ।

ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्येषु दृष्टं संसर्गागोचरप्रमितिजन्तकत्वमिति चेन्नैवम् । लक्षणवाक्यैरपि लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतिपादनात् तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वेन प्रतिपादनाद्वा लक्षणवाक्यानामपि संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः । ननु सोर्यं देवदत्त इत्यादिषु देवदत्तागतभेदभ्रमव्युदासेन तत्स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वमपर्यायशब्दानां दृष्टमिति चेन्नैवम् । तत्रापि परोक्षदेशकालोपलक्षितस्यैतद्देशकालविशिष्टप्रतिपा-

यशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठत्वमिति तृतीयं दूषयति—नापि तृतीय इति । यस्य हि लक्षणवाक्यं लक्ष्य-प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसितमिति मतं तस्यैव लक्षणवाक्ये लक्षणजानलक्षणपर्यवसिते तथापि नाखण्डार्थता मिश्रलाङ्घ्ययोरित्यर्थः । अथवा पयःपावकशब्दयोरपि शीतोष्णस्पर्शवन्तावेवार्थौ जातिभेदपरत्वायोगात् । तथाच शीतोष्णस्पर्शवच्छब्दयोः पयःपावकशब्दयोश्च प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमस्ति नचानाखण्डार्थतेत्यर्थः । अपर्याय-शब्दानामेकप्रातिपदिकार्थत्वमिति चतुर्थं पक्षं दूषयति—नापि चतुर्थ इति । यदि हेतुमेव यस्तु युगोपयि-पितं तदैकेनैव युद्धमिति पदान्तरप्रयोगो वृथैव स्यात्, नच, पदमात्रं वाक्यमस्ति तस्मादसंभविलक्षणमित्यर्थः ।

यद्यप्येकमेव लिलक्षयिषितं तथापि व्यवच्छेद्या बहवः सन्ति असंख्यजात्यादयः नचैकपदमात्रात्सर्वेषां व्यवच्छेदः तदर्थमात्रेणेतरेषां विरोधाभावाद्, अतो न पदान्तरवैयर्थ्यमिति शङ्कते—व्यवच्छेद्येति । दूषयति—न तदुनिरुक्तेरित्यादिना । तद्यवच्छेदनात्रप्रतिपादनं व्यवच्छेदविशिष्टवस्तुप्रतिपादनं च संसृष्टार्थतया अखण्डार्थताविरोधीति दूषयित्वा व्यवच्छेदोपलक्षितवस्तुप्रतिपादनमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वमिति पञ्चमपक्षं दूषयति—नापीति । सर्वेन हि वाक्या-र्थस्य पदार्थसंसर्गतया वा संसृष्टपदार्थतया वा संसर्गग्राहि वाक्यमित्यसंभवि लक्षणमित्यर्थः ।

सिद्धान्त्यभिमतसंभवस्थलमाशङ्कते—ननु प्रकृष्टेति । अत्र हि चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रं पृष्टं एतद्वाक्य-विषयः न पुनः प्रकर्षादिसंसर्गस्वस्यास्तुभुसितत्वादिति, तदेतद्दूषयति—मैवमिति । तदितरव्यावृत्तिर्व तच्छब्दव्यवहारो वा लक्षणार्थः उभयथापि संसृष्टार्थपरतानतिवृत्तिः । तदिह प्रकर्षादिसंसर्गपरताऽभावेपि भव-त्वेव विधान्तरेण संसृष्टार्थत्वमित्यर्थः । उदाहरणान्तरमाहुते—ननु सोर्यं देवदत्त इति । देवदत्तैक्य-स्यैकैकपदादपि सिद्धैर्वान्यवैयर्थ्यमाशङ्कोकं—भेदभ्रमव्युदासेनेति । यद्यपि लक्षणवाक्यमिदं न भवति तथापि महावाक्याखण्डार्थत्वसंभाननाया भवत्वेव भूमिरितीदमाशङ्कितम् । यदि ह्युभयोरपि लक्षणया देव-दत्तमात्रपर्यवसितमिदं स्यात्तदाखण्डार्थत्वम्, नचेतदस्ति, एतद्देशकालसंसर्गप्रतिपादनपरत्वात्, तत्पदस्यैव केवलं लक्षणाश्रयणात् तावन्मान्नादेव भेदप्रान्तिनिवृत्तेः, विनाकारणं लक्षणायांमतिप्रसङ्गात्तदेतदाह—मैचं

१ तदुपलक्षितमिति पाठान्तरम् । २ तच्छब्दभेदमिति पाठान्तरम् । ३ इदं चिन्त्यम् । जातिमात्रपरयोरेव पयः-पावकशब्दयोर्वस्तुशल्या शीतोष्णस्पर्शवद्द्वयाभिधायित्वात् । न च तथा सति तयोर्जातिपरत्वेन प्रातिपदिकार्थमा-त्रपरत्वाभावः । मात्रपदेन संसर्गाव्यावृत्तेरभिप्रेतत्वेन जातिव्यावृत्तेरनभिप्रेतत्वात् । ४ पञ्चमं लक्षणमित्यर्थः । ५ लक्षणप्रयोजनमित्यर्थः ।

वक्तव्या संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः । तावतैव च भेदभ्रमव्युदासादुभयपदलक्षणाभ्युपगमे गौरवप्रसङ्गाच्च । तदेवं नाखण्डार्थत्वनिरुक्तिः । नापि तत्र प्रमाणं, प्रकृष्टप्रकाश इति वाक्यार्थश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थस्तत्प्रभोत्तरार्थत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा वाक्यान्तरार्थ इति व्यतिरेक्यनुमानमस्तीति चेन्नैवम् । विकल्पासहत्वात् ।

तथाहि चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थोऽन्यत्र प्रसिद्धो न वा । आद्ये तत्र हेतोर्वृत्तावन्वय-
व्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्वव्याघातः । अवृत्तौ तु सत्यपि सपक्षे तत्र हेतोरवृत्तेरसा-
धारणानैकान्तिकता । द्वितीये पुनरप्रसिद्धविशेषणतैव । अन्वयव्यतिरेकितया च यो
यत्प्रभोत्तरार्थः स तत्प्रातिपदिकमात्रार्थ इति व्याप्तिरभ्युपेया । तथाच त्वत्करे कति वरा-
टका इति प्रश्नस्य पाणौ पञ्च वराटका इति प्रतिवचने व्यभिचारः । नच विमतखण्डार्थ-
लक्षणवाक्यत्वात्पृथुबुधोदराकारः कुम्भ इति वाक्यघदित्यनुमानं मानम् । लक्षणवाक्यानाम-
भ्युक्तप्रकारेण संसृष्टार्थपरतया दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् । तदेवं लक्षणप्रमाणयोरभा-
वान्नाखण्डार्थत्वं शब्दानाम् । विवादाध्यासितं पदार्थसंसर्गप्रतीतिजनकं वाक्यत्वाद्भवानयना-
दिवाक्यवत् । नच जरद्गवादिवाक्ये व्यभिचारः । तस्य वाक्याभासत्वात् । आकाङ्क्षास-
न्निधियोभ्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति हि वाक्यविदुः ।

नच खं छिद्रमित्यादौ व्यभिचारः । तस्यापि लक्षणवाक्यत्वेन लक्ष्यस्य सजातीयविजा-
तीयेभ्यो व्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वेनाखण्डार्थत्वाभावात् । नच विपक्षे घाघकतर्काभावः,

तत्रापीति । गौरवप्रसङ्गादिति । प्रथमं मुख्यार्थप्रतीतिस्तत्परित्यज्य तत्संबन्धार्थान्तरप्रतीतिष्वेति बहु
कल्प्यमित्यर्थः । एतेनार्थादेकत्वप्रतिपादनाद्वरं साक्षादेकत्वप्रतिपादनमित्यपि परास्तम्, लक्षणागौरवादेव । यदत्र
न्यायरत्नदीपावल्यामनुमानमुक्तं तदनुवदति—प्रकृष्टेत्यादिना । सिद्धसाधनतानिदृश्यर्थं मात्रग्रहणम् ।
संसृष्टपदार्थानां वाक्यार्थत्वेन चन्द्रपदार्थस्यापि तत्स्वीकारात् । तत्प्रश्लोत्तरं यद्वाक्यं तदर्थत्वादित्यर्थः ।

अत्र साध्यश्चन्द्रप्रातिपदिकार्थः क्वचित्प्रसिद्धो न वेति विकल्प्य दूषयति—तथाहीत्यादिना । ननु
माभूत्केवलव्यतिरेकितया अन्वयव्यतिरेकित्यात्तु भवतु किमेतावतेत्यत्र आह—अन्वयेति । कति वराटका
इति प्रभोत्तरार्थे वराटकसङ्ख्याविशेषे वराटकप्रातिपदिकार्थत्वं नास्ति सङ्ख्यासंबन्धपरत्वाद्वाक्यस्येत्यर्थः ।
वराटकः कपर्दकः । नच तत्प्रातिपदिकप्रभोत्तरार्थत्वोपाधौ व्याप्तिः, क्वचिदपि प्रातिपदिकमात्रनिष्ठवाक्यार्थप्र-
तीपत्तेः । अन्यथा तस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तौ एतत्प्रसाधनवैयर्थ्यापातादिति । अतएव चन्द्रप्रातिपदिकप्रभोत्-
रार्थत्वोपाधावपि न व्याप्तिः, अस्तिदेवेव । आनन्दबोधाचार्यानुमानमुद्वाह्य दूषयति—विमतमित्यादिना ।
विज्ञानादिवाक्यमित्यर्थः । उक्तप्रकारेणेति । इतरव्याप्तेश्चैवद्वारस्य वा बोधनादित्यर्थः । स्वपक्षे चानुमानमात्रं
पूर्ववादी—विवादाध्यासितमिति । सत्यज्ञानादिवाक्यमित्यर्थः । प्रतीतिः प्रमितिः । प्रयोगद्वये च संसृष्ट-
पदार्थस्य पदार्थसंसर्गस्य वा पक्षीकरणे माघस्तदितरस्य त्वप्रसिद्धेराश्रयातिद्विरित्यपि द्रष्टव्यम् । जरद्गवेति ।
'जरद्गवः कन्धलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि । तं द्राक्षणीं पृच्छति पुत्रकामा राजन्रमाया
लज्जन्स्य षोषं' इति श्लोकैदाहित्यर्थः । वाक्याभासतामेव दर्शयति—आकाङ्क्षेति । न तत्र योग्यतास्वीत्यर्थः ।

ननु खं छिद्रमित्यत्र वाक्यत्वमस्ति, नच साध्यमस्ति, अनेकपदार्थाभावेन संसर्गाभावादतो व्यभिचार इति
तत्राह । नच खं छिद्रमिति । अत्र समाधानुपक्रमते—अत्रेति । खंसर्गंति । गिरामपयोग्यशब्दानां वा

१ यथापिपदं हेतुपरं दीपावलीकारोच्येतेत्यादिभिर्गिष्कतीति भावः । २ दीपावलीकारानन्दबोधाचार्याभ्यां
मुक्ताशिवे इति शेषः । ३ पूर्व व्याख्यातोऽयं श्लोकः (१८५-५६)

संसर्गप्रतीत्यजनकत्वे वाक्यत्वाभावप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात् । तदेवं नापण्डार्थता वेदान्ता-
नामिति । अत्राभिदध्महे । न तावल्लक्षणासंभवो यतः “संसर्गासङ्घिसम्यग्धीहेतुता या
गिरामियम् ॥ उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता” ॥ १९ ॥ अपर्यायशब्दानां संसर्गा-
गोचरप्रमितिजनकत्वमपण्डार्थता, नचेदमसंभवि लक्षणम्, प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येषु तत्स-
द्भावात् । नच लक्षणवाक्यमपि संसृष्टार्थं लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तित्वै-
शिष्यप्रतिपादनपरत्वात्तत्तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वप्रतिपादनाद्वेति युक्तं, विकल्पासहत्वात् । किं
प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं साक्षादन्यतो व्यावृत्तिं प्रतिपादयति किंवा स्वरूपप्रतिपादनेना-
र्थात् । नाद्यः । व्यावृत्तिप्रतिपादकशब्दाभावात् । नापि द्वितीयः । नान्तरीयकतया
सिध्यतोर्थस्य शब्दार्थत्वाभावात् । यश्चादर्थो न स चोदनार्थं इति न्यायात् । अन्यथा
गामानयेत्यादिवाक्येष्वश्वानयनव्यावृत्तेरपि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् ।

नन्वयं चन्द्र इति व्यवहर्तव्यः प्रकृष्टत्वे सति प्रकाशत्वात् यत्रैवं न तदेवं यथा नक्ष-
त्रादि न तथा चायं तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेकितया लक्षणवाक्यं पर्यवस्यति तथाच
कथमखण्डार्थता, चन्द्र इति व्यवहर्तव्यतालक्षणधर्मवैशिष्यप्रतिपादनपरत्वादिति चेन्नै-
षम् । चन्द्रतया व्यवहर्तव्य इति किं चन्द्ररूपार्थविशेषितो व्यवहारः कर्तव्यः उत
चन्द्रशब्दमात्रविशेषितो व्यवहारः । आद्ये चन्द्रविशिष्टं व्यवहारं यदि नाज्ञासीत्तदा
लक्षणवाक्यादपि विषयविशेषितकर्तव्यतां तस्य कथमधिगच्छेत् । नह्यविदितामिरनुमा-
नादप्यग्निसंबन्धमधिगमयितुं शक्यः । अथाधिगतवांस्तदा लक्षणवाक्यरूपमनुमानं निष्प्र-
योजनं, ज्ञातस्यैव ज्ञापनात् । अथ सामान्यतो जानात्यस्ति कश्चिद्विषयश्चन्द्रव्यवहारस्येति

ससर्गाविषयत्वे सति सम्यग्धीहेतुता इयमखण्डार्थतोक्ता । अथवा तेषामेव शब्दानां तत्प्रातिपदिकार्थता
तदिति संसर्गराहित्येन लक्षितमेकत्वं परामृशति—एकप्रातिपदिकार्थतेति लक्षणसमाहकश्लोकयोजना ।
अनेन च चतुर्थपञ्चमपञ्चो परिगृहीतौ । श्लोकं विवृणोति—अपर्यायेति । हस्त. कर इत्यादौ व्यभिचारवार-
णायपर्यायग्रहणम् । इन्द्रियव्यावृत्त्यै शब्दग्रहणम् । गामानयेत्यादिव्यवच्छेदार्थं संसर्गगोचरग्रहणम् । वाक्या-
भासव्यावृत्त्यर्थं प्रमितिग्रहणम् । तत्सद्भावात् । लक्षणसद्भावादित्यर्थः । तथापि ससृष्टार्थत्वं पूर्ववादिनो-
क्तमनूय तं दूषयितुं विकल्पयति—किं प्रकृष्टेत्यादिना । साक्षादित्यभिधानेनेत्यर्थः । अर्थादिति ।
नान्तरीयकतयेत्यर्थः । यद्यार्थाङ्कृतार्थान्तरीयकतया लभ्यते नच स चोदनार्थो वेदार्थं इति शबरस्या-
मिवाच्यार्थः । नचाश्वानयनव्यावृत्तेरपि तद्व्यवहार्यं, वाक्यमेदप्रसङ्गादिति भावः ।

ननु माभूयाद्यत्तिप्रतिपादनपरत्वं, व्यवहारसाधनमेव लक्षणप्रयोजनं ब्रूम. तावत्प्रात्यखण्डार्थता खण्डित्वैति
शङ्कते—नन्वयमित्यादिना । चन्द्ररूपार्थविशेषितव्यवहारकर्तव्यतासाधने दोषमाह—आद्य इति ।
यस्य कर्तव्यता अत्र साध्यते स किं चन्द्रविशेषितो व्यवहारः प्रतिवादिनोऽज्ञातो ज्ञातो वा । यद्यज्ञातस्तदाऽ-
प्रसिद्धविशेषणत्वम् । अविदितदहनं प्रतीय दहनानुमानप्रवृत्ताविलाह—तदा लक्षणवाक्यादपीति ।
अपिना स्वरूपसाधकत्वं लक्षणस्य सूच्यते । द्वितीय दूषयति—अथेति । चन्द्रव्यवहारस्य कर्तव्यतामानमेव
तावत्साध्यते, न पुनरग्निसंबन्ध इत्यान्यत्र सिद्धस्यान्यत्र संबन्ध, केवलव्यतिरेकिताभावात्तद्येकचित्सिद्धं सिद्धं-
मनुमानसाध्यमित्यर्थः । ज्ञाताज्ञातनिकल्पोक्तदोषं परिहरन्नाशङ्कते—अथ सामान्यत इति । अयमर्थः ।
यद्यपि न स्थलान्तरे सिद्धिः, केवलव्यतिरेकित्वात्, तथापि नाप्रसिद्धत्वं सामान्यत सिद्धत्वादिति तदेतदूष-

१ भ्रमभित्तत्वतदभाववति तदप्रकारकत्वादिरूपमत्र प्रमात्व विवक्षितं ननु सदति तत्प्रकारकत्वरूपं संसर्गगोचर-
त्वप्रमितित्वयोरेकश्रानवस्थानेन व्यापातात् । २ वाक्याभासो जरदग्यादिवाक्यं तस्योपस्थितिमात्रजनकत्वम् ।
३ मात्रमिति पाठान्तरम् । ४ दहनानुमानेऽतो नानुमानमवृत्तिरिति पाठान्तरम् । ५ सिद्धमेवेति पाठान्तरम् । ७

विशेषतस्तु न जानातीत्युच्यत, तथापि किं सामान्यतो व्यवहारस्य निमित्तवृत्तां जानाति किं वा व्यवहारविशेषस्य । आद्ये प्रकृतानुपयोगः । व्यवहारविशेषस्य विचार्यमाणत्वात् । द्वितीयेपि चन्द्रलक्षणार्थविशेषापरिज्ञाने तद्विशिष्टव्यवहार एव विज्ञानुमशक्यः । ज्ञाते च लक्षणवाक्यवैयर्थ्यमिस्त्युक्तम् । नापि द्वितीयः । लक्षणं विनापि गवादिशब्दानामिव वृद्धव्यवहारादेव वाच्यवाचकसंबन्धग्रहोपपत्तेः । पूर्वं प्रतिपन्न एव वाच्यवाचकभावो लक्षणवाक्येन स्मार्यत इति चेत् । न । अवगतसंबन्धस्य तत्रै तच्छब्दादेव संबन्धस्मरणोपपत्तौ लक्षणाभिधानवैयर्थ्यात् ।

अवगतसंबन्धस्यापि शब्दस्य लक्षणवाक्यादेव संबन्धस्मरणनियमे लक्षणवाक्यस्यपदानामपि प्रत्येकं लक्षणवाक्यैः संबन्धस्मरणप्रसङ्गादनवस्थादुरवस्था स्यात् । तस्माद्गवानयनादिवाक्यवदाप्तोपदेशतयैव लक्षणवाक्यमवबोधकम् । तच्च सर्वं स्वरूपमात्रे पर्यवस्यति अर्थात्पुनरन्यतो व्यावृत्तिः फलतीति युक्तम् ।

नन्वेवमपि नैतल्लक्षणं, अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगो नित्यः संबन्धः समवाय इत्येवमादिसंबन्धप्रतिपादकलक्षणवाक्येष्वव्याप्तेः । तेषां संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वादिति चेत् ।

यति—तथापीति । कीदृशमिदं सामान्येन ज्ञानं, किं वक्ष्यमाणदिशा चन्द्रशब्दविशेषितत्वात्तद्वेधे चन्द्रलक्षणार्थाज्ञानाच्चाश्वकर्णादिव्यवहारमात्रस्य नाम चन्द्रव्यवहार इति ततो व्यवहारमात्रं निमित्तवदिति, किंवा चन्द्रव्यवहारे निमित्तमात्रवानिति । आद्ये गवादिव्यवहारमात्रस्य निमित्तवत्त्वज्ञानं न चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतानुमानस्याप्रसिद्धविशेषणतां निवारयति । नह्यमिमत्त्वप्रसिद्धिरनित्यत्वानुमाने तां वारयितुमलमिल्यमिप्रोहा—आद्ये प्रकृतानुपयोग इति । द्वितीये चन्द्रविशेषितव्यवहारः किं चन्द्रलक्षणार्थविशेषितो व्यवहारः उत चन्द्रशब्दविशेषितः । द्वितीयस्तु प्राथमिकद्वितीयविकल्पसमानजीवनः । प्रथमेपि किं चन्द्रोऽविविक्तो विविक्तो वा । आद्ये प्राह—द्वितीयेपि चन्द्रेति । द्वितीये प्राह—ज्ञाते चेति । चन्द्रशब्दविशेषितो व्यवहारः साध्यत इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—नापि द्वितीय इति । अत्र चन्द्रशब्दः प्रयोक्तव्य इति वाच्यवाचकपक्षमिदं हि यदा लक्षणप्रयोजनं तदा लक्षणं व्यर्थमन्तरेणापि लक्षणं गवादिपदानामिव सन्नतिग्रहसंभवादित्यर्थः ।

प्रथमतोऽवगतस्यापि शब्दसंबन्धस्य लक्षणवाक्यास्मरणसाधनमप्यनर्थकं, गवादिपदानामिवान्तरेणापि लक्षणं स्मरणसंभवादित्युक्तम्, इदानीं न केषलमानर्थयमपि तानवस्थालक्षणानर्थोपि स्यादित्याह—अपगतसंबन्धस्यापीति । तत्तद्वाक्यस्यपदानामपि तैस्त्वरथैः संबन्धो लक्षणेरेव स्मारयितव्यः, एवं तत्तत्स्मारकवाक्यस्यपदानामपीति न कश्चिदपि स्यादित्यर्थः । तत्रिकं लक्षणमेव सेतुं ग्रन्थेषु न प्रयोगार्थं तयाचगतं तत्सं ज्ञानमनन्तमिति प्रपन्नलक्षणेन तत्प्रयुक्तजन्मायधिकरणेनापीक्षत आह—तस्मादिति । न लक्षणमनुमानतयोपयुज्यते अपि तु शब्दप्रमाणतयैत्यर्थः । ननु भवद्गु लक्षणं शब्दतयोपयोगि किमाद्यात्मसाधनार्थतायामिति तत्राह—तत्र सपर्यमिति । उपनेतत्पुरस्तादेव स्वरूपानां शब्देन बोध्यते इत्यव्यापत्तिसत्त्वार्थिणी नचाधिकः शब्दार्थ इति ।

यद्यपीदं संभवति, तदाप्यव्यापकमिदं लक्षणं, संदीगगमवायात्मकसंबन्धस्य यांश्चनपान्तं तन्म लक्षणसंगमोपियवत्त्वेन संगमगोचरत्तल्लक्षणांशामासादिति शब्दे—नन्वेवमपीति । संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वमिति शेषः, यद्गोचरपति तस्यैवसंसर्गगोचरस्ये ताप्रमितिजनकत्वमिति, अस्तिपैवद्वयमिति, मदि

१ चन्द्रशब्दविशेषः । २ तत्त्वप्रदीपिका पाठानुसारः । ३ तद्विचारः पश्ये इत्यर्थः । ४ प्रथमपदस्यप्येतिशेषः । ५ गोचरस्ये तदपीति कश्चिदधिकः पाठः ।

मैवं । तेषामपि स्वल्पदस्मारितपदार्थानामन्योन्यसंसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वात् । संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वशब्देन चास्यैवार्थस्य विवक्षितत्वात् । नाप्यतिव्याप्तिः, संसर्गप्रमितिजनकेषु गवानयनादिवाक्येषु लक्षणाभावात् । यद्वा अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वमखण्डार्थता । नचैवं पदान्तरवैयर्थ्यम् । व्यावर्त्यभेदादर्थवत्त्वोपपत्तेः । तथाहि लोके प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र प्रकृष्टपदेनाप्रकृष्टपद्योतादेः प्रकाशपदेनाप्रकाशात्मप्रकृष्टसंतमसादेश्च व्यवच्छेदेन बुभुत्सितश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थः प्रतिपाद्यते, अन्यथा वक्तुरबुभुत्सितमर्थं प्रतिपाद्यतोऽनवधेयवचनत्वप्रसङ्गात् ।

नच व्यावृत्तिपरत्वे व्यावृत्तिमत्परत्वे वा संसृष्टार्थत्वं स्वरूपमात्रपरत्वे च पदान्तरवैयर्थ्यमिति वाच्यम् । व्यावृत्तिद्वारा पदानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वाङ्गीकारात् व्यावर्त्यभेदानावैयर्थ्याच्च । तथा वेदेषु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादौ सत्यज्ञानानन्दानन्तात्मशब्दा अनृतजडदुःखान्तवत्त्वानात्मत्वभ्रान्तिनिवृत्तिद्वारा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्ति । नचैवमनेकाकारविज्ञानजनकत्वात्पदानां लक्ष्यस्य ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वप्रसङ्गः । लक्षणासमये भिन्नाकारविज्ञानजनकानामपि पदानां तत्तद्भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रप्रयोजकतया लक्ष्ये ब्रह्ममात्रे तात्पर्येण पर्यवसानात् । एवं च तत्तच्छब्दजन्यविज्ञानानां तत्तद्भिन्नाकारसमर्पिणां नान्तरीयकतया तत्तद्विरोध्याकारनिवर्तकत्वाद्वाक्यस्यखण्डार्थत्वसिद्धिः ।

संयोगस्य समवायस्य वा तत्तद्विशेषणसंसर्गबोधपरमिदं वाच्यं तस्याबुभुत्सितत्वादित्यमित्येव परिहरति—मैवं तेषामपीति । नच विषं भुङ्क्ष्वेत्यादिसर्वलक्षणावाक्येष्वतिव्याप्तिः, प्रतिपिपादयिषितसंसर्गागोचरत्वात् तदभावस्येह विवक्षितत्वात् । यद्वा तत्राप्रातिपदिकार्थतेति श्लोकावयवं विट्णोति—यद्वा अपर्यायेत्यादिना । यद्यप्येकपदलक्ष्यमेव पदान्तरपर्यवसानभूमिस्तथापि नैकपदव्यावर्त्यमेव पदान्तरव्यावर्त्यं जाव्यावृतादीनां विभिन्नत्वात् ततो न संसृष्टार्थतावैयर्थ्यं इत्युक्तम् । एतदेव लौकिकोदाहरणेन दर्शयति—तथाहीत्यादिना । संतमसं विष्वक्तमः । अत्र च व्यवच्छेदेनेति व्यवच्छेदानां द्वारतोका । प्रतिपाद्यत इति । तात्पर्यविषयत्वं तेन न शून्यनिष्ठतापत्तिः । ननु किमिति स्वरूपमात्रपरताभ्रयणं न पुनर्यथाश्रुतप्रकर्षादिसंसर्गपरत्वमिति तत्राह—अन्यथेति । यदि हि स्वरूपमात्रे पृष्टे गुणादिसंसर्गं प्रतिपादयेत्तर्थाश्रयेयवचनः स्यादित्यर्थः ।

यत्तु पूर्वपक्षिणा त्रेधा विकल्प्य दूषणद्वयमुक्तं तन्निराकरोति—नच व्यावृत्तीति । ननुक्तं स्वरूपमात्रपरत्वे पदान्तरवैयर्थ्यमिति तत्राह—व्यावर्त्यभेदेनेति । तदेवं लौकिकेपूदाहृत्य विवक्षितसत्यादिवाक्येषु लक्षणं वर्तयति—तथा वेदेपीति । ननु स्ववाच्यप्रक्षेपेणैव पदानां विरोधिव्यावर्तनमप्रक्षेपेण वा । न तावद्वितीयः । विरोध्यदर्शनेनानृतादिव्यावृत्तेरशक्यज्ञानत्वात् । प्रथमे तु विभिन्नैर्ज्ञानत्वादिभिराकारैर्प्रक्षणेप्यनेकाकारत्वमिति तत्राह—नचैवमनेकाकारेति । लक्षणासमय इति सामीप्यात् लक्षणाप्राप्तसमयो विवक्ष्यते । नहि तत्तदाकाराः प्रतिपिपादयिषिता इति प्रतिपाद्यन्ते किंतु कथं नु नामावृताद्यारोपरहितब्रह्मप्रतिपत्तिरिति, तद्यावदनृतादिव्यावृत्तिस्त्वावदेव सत्यत्वाद्याकाराणां स्थितिः, निवृत्तेषु तु तेषु एते एवाकारा अनृता जायन्ते, कः यत्तु विशेषोऽनृतादिभिराकाराणामद्वैतविरोधे । तस्मादेकानन्दव्यक्तिपरमेव सत्यादिवानर्थं न सत्यत्वादिपरं नाप्यनृतादिव्यावृत्तिपरमित्यर्थः । विधिमुखेषु वाक्येषु उक्तन्यायं निषेधमुखेन प्रतिपादकेष्वप्यतिदिशति—एवंच तत्तच्छब्दजन्येति ।

१ लक्षणावृत्तिविषयसं । २ लक्षणावाक्यानां शक्यार्थसंसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वादिति भावः । ३ प्रक्षेपेण वेति पाठान्तरम् । ४ यच्चदेवमिलादिवाक्येषु ।

उक्तं चैतत्सुरेश्वराचार्यैः “प्रतिपद्य पदार्थं हि विरोधात्तद्विरोधिनः । पश्चाद्देभावं जानाति
 वध्यघातकवत्पदात् ॥ १ ॥ शब्दात्प्रतीयते तावत्सङ्गतिर्धर्मधार्मिणोः । मानान्तरादपो-
 हस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः ॥ २ ॥ तत्रानन्तोनन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् । स्वार्थार्प-
 णप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम् ॥ ३ ॥ तद्विरोध्यर्थसंत्यागः सामर्थ्यात्स्यान्न शब्दत्”
 इति । नच गुणगुण्यादिभावप्रतिपादनेपि तत्तद्विरोध्याकारनिवृत्त्युपपत्तेः कथमखण्डैकर-
 सत्त्वसिद्धिरिति वाच्यम् । ब्रह्मशब्दार्थमात्रस्यैव युभुत्सितत्वात् । सर्वतोऽनवच्छिन्नवस्तुप्र-
 तिपादनपरब्रह्मानन्तशब्दाभ्यां विरोधाच्च एकधैवानुद्गृह्यमेकमेवाद्वितीयमित्याद्येकरस-
 त्वप्रतिपादकवाक्यविरोधाच्च, नेह नानास्ति किंचनेत्यनेकरसत्वप्रतिपेधाच्च ।

नचाप्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मणो लक्ष्यत्वासंभवः, प्रत्यगात्मतया स्वतः सामान्येन प्रसिद्धत्वात् ।
 नच तथात्वे लक्षणवैयर्थ्यं, लक्षणस्य विशेषाकारसमर्पणार्थत्वात् । अन्यथा गन्धवती पृ-
 थिवी नित्यज्ञानाधार ईश्वर इत्यादिलक्षणानामपि लक्ष्यस्याप्रसिद्धत्वप्रसिद्धत्वयोर्वैयर्थ्या-
 पातात् । एतेन सोऽयं देवदत्त इत्यत्रापि तत्कालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यत

तदेतद्विरोधिनिवृत्त्यर्थमेव तत्तदाकारविधानं किंचिदुक्तं तत्तदाकारविरोधिनिवृत्तेः शब्दत्वमुक्तं तदाचार्य-
 वचनेन द्रढयति—उक्तं चैतदिति । तैत्तिरीयके वार्तिके सत्यं ज्ञानमनन्तमिति वाच्यव्याख्यानसमये
 इति शेषः । पदात्सत्यादेः पदार्थं सत्यत्वादि ब्रह्मणि प्रतिपद्य ज्ञात्वा तेन विरोधाद्देतोर्विरोधिनाऽऽत्तादेः भावं
 जानाति तत्र निदर्शनं—वध्यघातकवदिति । यथा खलनाखुभूषिता भूमिं दृष्ट्वाऽऽर्योन्मार्जारोऽराभावोऽवग-
 म्यते एवमिति । तत्किमुभयमपि शब्दमाहोखिदन्यतरदिति तत्राह—शब्दादिति । प्रथमं धर्मधार्मिणो
 सत्यत्वादेः ब्रह्मणश्च सगति शब्दात्प्रतीयते तावताचास्यास्तात्पर्याविपयत्वं योत्यते, अपोहस्तु विरोधिब्याह-
 त्तिर्मानन्तरादनुपपत्तिलक्षणात् ज्ञायते तेन स अपोहस्तु न शब्दः, तत्र किं श्रैयाणामविशिष्टोऽयं न्याय इति
 नेति वैयर्थ्यमाह—तत्रानन्त इति । तत्र तेषु मध्येऽनन्तः अनन्तशब्दार्थः अनन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेष-
 णं व्यावर्तकं साक्ष्यदेव ब्रह्मणो व्यावर्तकमित्यर्थः । परिशिष्टौ तु सत्यज्ञानशब्दौ स्वार्थसमर्पणप्रणाड्या व्यव-
 धानेन विशेषणम् । नहि यथाऽनन्तमित्युक्तेऽन्ताभावः साक्षात्प्रतीयते तथा सत्यं ज्ञानमित्यत्राऽऽत्तायमान
 अपितु स्वार्थविधानव्यवधानेनेत्यर्थः । तर्हि तयोर्विरोधिब्यवच्छेदः किनिबन्धन इति तत्राह—तद्विरो-
 धीति । एतच्च मानान्तरादपोहस्तु इत्यस्यैव प्रथमः । ननु विरोध्याकारनिवृत्तिरखण्डार्थतामन्तरेण
 संसर्गपरत्वेपि सेत्स्यति किमर्थमखण्डार्थताऽऽग्रह इति तत्राह—नचेति । लौकिकवाक्येषु संसर्गपरताया-
 मुक्तं बाधकं प्रकृत्येप्याह—ब्रह्मशब्देति । ‘ब्रह्मविदाप्नोति पर’मिति श्रुतस्य ब्रह्ममात्रस्य युभुत्सितत्वादि-
 त्यर्थः । न केवलमनुभुत्सितार्थपरत्वं युभुत्सितार्थपरानन्तादिपदविरोधधेत्वाह—सर्वत इति । साक्ष्यदेवै-
 वार्थप्रतिपादकानन्ताकारनिवारणधुल्यन्तविरोधधेत्वाह—एकधैवेत्यादिना ।

ननु प्रसिद्धमेव लक्ष्यं नत्वप्रसिद्धं गगनारविन्दैर्दालेक्ष्यत्वादर्शनान्, अप्रसिद्धं च ब्रह्म सर्वप्रमाणागम्यता-
 दिति तत्राह—नचेति । अथवा लक्षणलक्ष्यत्वमत्राक्षिप्य समर्थते । स्वप्रशास्य प्रत्यगात्मतया प्रतिदि-
 रस्तीति समवलेख लक्ष्यत्वमित्यर्थः । न केवलमस्माकमेवेयं रीतिः अपितु सर्वप्रायेव लक्षणकारिनामित्याह
 —अन्यथेति । पदादिषु सामान्येन प्रसिद्धस्य पृथिवीव्यवहारसेनरेभ्यो भेदस्य च परमाकारिभूतो-
 लान्तसमुदायेऽप्रसिद्धस्य लक्षणेन साधनमिति पराशक्तारादित्यर्थः । ननु सोऽयं देवदत्त इत्या-
 राण्यर्थताऽभावाय पूर्वपक्षिणोक्तं तत्राप्युक्तन्यायमतिरिचति—एतेनेति । एतेनेत्येव विवरणम्—

इत्येतन्निरस्तम् । देवदत्तस्वरूपमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात् । एतत्कालवैशिष्ट्यस्य दृष्टत्वेनावुभुत्सितत्वात् । नच पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यप्रतिपादनेऽपि भेदध्रमनिरासः सिध्यतीति वाच्यम् । एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालसंबन्धासंभवेन तदुपलक्षितत्वस्यासंभवात् । तयोरभेदप्रतिपादनस्याशक्यत्वात् ।

ननु तथापि पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यसंभवात्संभवत्येव तयोरभेदप्रतिपादनमिति चेत् । भैवम् । विकल्पसहत्वात् । किं पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेनाभेदः प्रतिपाद्यत इत्युच्यते किंवा पूर्वकालोपलक्षिते वर्तमानकालवैशिष्ट्यलक्षणधर्मप्रतिपादनेनार्थादभेदः सिद्ध्यतीति । नाद्यः । विशिष्टाविशिष्टस्वरूपयोरभेदासंभवात् । तथासति वर्तमानकालविशिष्टस्य पूर्वमपि सद्भावप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । साक्षादेवाभेदप्रतिपादने संभवति परम्परया तत्प्रतिपादनाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । उभयपदलक्षणाश्रयणे कल्पनागौरवात्तथाश्रीयत इति चेन्नैवम् । अत्रापि परम्परया अभेदप्रतिपादनात्साक्षादभेदप्रतिपादने बुद्धिलापवस्य दर्शितत्वात् । तथापि विनिगमनायां को हेतुरिति चेत्, बुभुत्सितार्थस्य साक्षात्प्रतिपादनलाभ एवेति ब्रूमः । उक्तंच प्रतिज्ञावचनस्य साधनाङ्गत्वमाचक्षणेनाचार्यवाचस्पतिना—‘अनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किञ्चिदुच्यते यत्कृतकं तदनित्यमिति वा कृतकश्च शब्द इति वा तत्सर्वमसंबद्धबुद्ध्या न प्रत्येति प्रतिवादी’ति । एतेनोभयपदलक्षणास्वीकारे गौरवदोषो निरस्तो वेदितव्यः ।

देवदत्तस्वरूपेति । नन्वितरदपि बुभुत्सितं किं न स्यात्, नहि देवदत्तमात्रमत्र केनचित्दृष्टं येन लक्षणवान्यवत्तन्मात्रमेव बुभुत्सितं स्यादिति तत्राह—एतदिति । न केवलमबुभुत्सितत्वादप्रतिपाद्यत्वं बुभुत्सितैक्यविरोधाच्चेत्याह—नचेति । तत्किमेतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितेनेक्यं बोधयति किं वा पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेन । नाद्य इत्याह—एतत्कालेति । संबद्धं खलूपलक्ष्यं नासंबद्धम् । नचैतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालसंबन्धः संभवति, एतत्काले पूर्वकालाभावादतो न तयोरैक्यमित्यर्थः ।

द्वितीयं शङ्कते—नन्विति । किमुपलक्षितस्य विशिष्टेनाभेदः शब्दगम्यः, किवोपलक्षिते वैशिष्ट्यमात्रं शब्दार्थः, अभेदस्तुतानुपपत्तिक इति विकल्प्य दूषयति—मैवमित्यादिना । एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितस्वरूपस्य चैतन्मात्रसंभवेन प्रथमं पक्षं दूषयति—नाद्य इति । किमित्यसंभवत्तत्राह—तथासतीति । द्वितीये तु शब्दाद्विशिष्टमर्थोच्यं स्वरूपमात्रैक्यमिति कल्पनागौरवाद्द्वयं शब्दादेवोभयोपलक्षितस्यैक्यप्रतिपादनमित्याह—साक्षादेवेति । ननु साक्षाच्छब्दादभेदप्रतिपात्तावुभयोरपि लक्षणा प्रसज्येत ततो वरमेकलक्षणया पारम्पर्याश्रयणमिति शङ्कते—उभयेति । पारंपर्यकल्पनातो लक्षणाश्रयणं न्याय्यं व्यापारवरप्रमाणगौरवात् व्यापारगौरवस्य लघीयत्वात् । यदुद्दिश्य च वाक्यं प्रवर्तते तस्य बुभुत्सितत्वामेदस्य साक्षात्प्रतिपादनं न्याय्यमितरथायुद्दिष्टस्य साक्षात्प्रतिपादनं भवति उद्दिष्टस्य पारंपर्येणेतिक्लिष्टकल्पना स्यात् तदेतदुक्तिं निधाय परिहरति—मैवमत्रापीति । अनधिगतपरामित्यन्विः शङ्कते—तथापीति । विनिगमना निर्णयः । अमित्यन्विधमुद्गाढयन्परिहरति—बुभुत्सितेति । बुभुत्सितस्यार्थिकप्रतिपत्तेः साक्षात्प्रतिपत्तिरभ्यार्हितेत्यत्राचार्यवाचस्पतिवचनमपि प्रमाणयति—उक्तंचेति । हेतुदाहरणवयवद्वयवादिनं सौगतं प्रति प्रतिज्ञानानन्तर्यं हेतोर्भूतत्वस्यर्थः । अत्रच यत्कृतकं तदनित्यमित्युदाहरणनिर्देशः । कृतकश्च शब्द इति हेतुनिर्देशः । एतदुक्तं भवति । यथाप्युदाहरणहेतुनिर्देशादप्यर्थोच्छब्दस्यानित्यत्वं पर्यवस्यति तथापि साक्षादनिर्देशापरामानादिदिग्दर्शनसंबद्धबुद्ध्याभिधानमिति ।

२ पक्षपदं लक्षणाभाश्रित्य पारंपर्यकल्पनापेक्षया पदद्वयं लक्षणाश्रयणं न्याय्यम्, शब्दव्यापारलक्षणात्तदनयनप्रमाणगौरवापेक्षया लक्षणादिरूपशब्दव्यापारगौरवस्य लघीयत्वादिति बोधना । ३ हेतुपदं हेतुप्रकारकपक्षविशेष्यकबोधजनकवाक्यपरं तथाच हेतुपदेनोपनयः ।

बुभुत्सितार्थप्रतिपादनप्रयोजनतायां गौरवस्यैवोचितत्वात् 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्पयानि सुबह्वन्यपी'ति न्यायान्, तदेवमरण्डार्थत्वे न लक्षणसंभवः । नापि प्रमाणासंभवः । तथाहि 'सत्यज्ञानादिगीरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि । अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत्' ॥ २० ॥ सत्यादिवाक्यमेतत्पदार्थसंसर्गातिरिक्तेऽर्थे प्रमाणं प्रमाणत्वाच्चक्षुरादिवत् । विपक्षे चैकरसत्वप्रतिपादकश्रुतीनामुदाहृतानामप्रामाण्यप्रसङ्गः बुभुत्सिते ब्रह्मणि प्रामाण्याभावप्रसङ्गश्च बाधकस्तर्क उन्नेयः । यत्तु वाक्यस्याद्रवानयनादिवाक्यवत् संसर्गपरत्वानुमानं, तदेकरसत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात्कालात्ययापदिष्टं, उक्तनीत्या च संसर्गप्रतीतिजनकत्वाभावेऽपि वाक्यत्वोपपत्तेः संदिग्धव्यतिरेकी हेतुः ।

'आकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्य'मिति वाक्यविदः, नतु संसर्गप्रमितिजनकान्यपीति । विशेषणवैयर्थ्यात् । आचार्यशबरस्वामिना च 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानमित्येतावत् एव लक्षणस्याभिधानात् । प्रातिपदिकमात्रार्थप्रभोत्तरत्वानुपपत्तिश्च लौकिकवैदिकलक्षणवाक्यानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वे प्रमाणम् । प्रदर्शिता च तत्रानुपपत्तिः अबुभुत्सितार्थप्रतिपादनेऽनवधेयवचनत्वप्रसक्तिरिति । तदेवमशेषोपनिषदामखण्डैकरसे ब्रह्मणि स्वतःसिद्धमेव प्रामाण्यमिति सिद्धम् ।

एतेनेत्यस्यैवविवरणम्—बुभुत्सितार्थेति । लक्षणसमर्पणसंहरति—तदेवमिति । प्रमाणं श्लोकेन संगृह्णाति—सत्यज्ञानादीति । सत्यज्ञानादिगीर्वाक्यमेतत्संसर्गव्यतिरेकिण्यर्थे य एते सत्यादयः पदार्थास्तैषां संसर्गव्यतिरेके संसर्गरहिते प्रमाणमिति प्रतिज्ञानिर्देशः । शेषं विशदम् । सिद्धसाधनतानिगृह्यै संसर्गव्यतिरेकिणीत्युक्तं, तथापि यत्किञ्चित्संसर्गव्यतिरेकत्वेनार्थान्तरता तन्निरुक्त्यर्थमेतत्पदम् । यद्यपि गामानयेत्यादिवाक्यं संसर्गविषयं तथाप्येतत्संसर्गव्यतिरेकिण्यर्थे प्रमाणमेवेति न व्यभिचारः । ततश्चासंसृष्टार्थप्रमितिजनकत्वसिद्धिः । एतदेव विवृणोति—सत्यादिवाक्यमित्यादिना । पूर्वमद्वैतश्रुतीनामप्रामाण्यप्रसङ्ग उक्तः इदानीं सत्यज्ञानादिवाक्यस्य गुणगुण्यादिपरत्वेष्वप्रामाण्यप्रसङ्गमाह—बुभुत्सितेति । पूर्वपक्षिणोऽनुमानं दूषयति—यत्किञ्चित्स्यादिना । विपक्षबाधकतर्काभावाच्छ्रुतीर्षाधितां चाह—उक्तेति । उक्तनीत्या वाक्यत्वोपपत्तेरिति संबन्धः ।

नतु संसर्गपरत्वाभावे वाक्यत्वभङ्गप्रसङ्ग एव बाधक इत्यत आह—आकाङ्क्षेति । नतु प्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गो बाधको नेत्याह—आचार्येति । शब्दविज्ञानौच्छब्दविषयज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे प्रमाणान्तरेण तथावानधिगते यद्विज्ञानं जायते तच्छब्दात् शब्दप्रमाणमिति शाबरवाक्यार्थः । अत्रचानुवादविसंवाद्यव्यच्छेदाय, सन्निकृष्टपदम् । अपेक्षितादिपदनिराकरणार्थप्रहणम् । अनुमानत्वनिराकरणाय शब्दविज्ञानप्रहणम् । एतावदेवाचार्यैर्लक्षणममिहितं शब्दप्रमाणस्य नतु संसर्गविषयत्वमपीत्यर्थः । द्वितीयपक्षोप्यर्थोपपत्तिं प्रमाणमाह—प्रातिपदिकेति । अनुपपत्तिमेव दर्शयति—अबुभुत्सितेति । वादार्थमुपसंहरन् वर्तिष्यमाणमेवोद्धाटयति—तदेवमिति । 'अद्वैतवादि सत्यादिपदपर्यायतां तथा ॥ अपर्यायेऽद्वयध्वंस वागी वागीश्वरोऽप्रवीत् ॥ तस्य वाच्यार्थनानात्वात्क्षयस्यैक्यसमाश्रयात् ॥ न पर्यायाद्वयध्वंसावित्यनुत्तरमुत्तरम् ॥' यत्तु प्रकृतप्रकाशशब्दादपि प्रकर्षादिव्यक्तप्रवृत्तामिति, तदबुभुत्सितत्वेनात्रैव परिहृतम् । यत्तु प्रत्यक्प्रवृत्तयोः प्रकृतप्रकाशशब्दोरेकत्र प्रयोगाद्युज्यते अर्थविशेषबोधकत्वं, न तथेह, लौकिकज्ञानादिरपि ब्रह्मत्वादिति, तत्रोपहितज्ञानादेर्न ब्रह्मस्वरूपत्वमिति योजना ।

१ यथा चक्षुरादिकं सत्यज्ञानादिपदार्थसंसर्गातिरिक्ते घटाद्यर्थे प्रमाणं तथा सत्यादिवाक्यमपीति योजना । २ सत्येवो व्यतिरेकः साध्याभावो यस्येति बहुमीदिः । ३ संसर्गभिन्ने इति सूचितम् । व्यतिरेकपरस्य भिन्नार्थैकतयाऽत्यन्ताभावावोधकत्वात् । ४ श्रुतौ व्यभिचारशङ्कया तदुत्पाद्यतया सदस्य उपाधिर्भवेति बहुमीदिः । ५ प्रमाणान्तरेणासन्निकृष्टेऽनधिगतेऽर्थे यद्विज्ञानं शब्दविषयकत्वावगमप्रत्यक्षरूपजागृह्यायथे तज्जनकं शास्त्रं शब्दप्रमाणमिति योजना । ६ तस्यैतिपदमुत्तरमित्यनेन स्वभ्यते । अनुत्तरमुत्तरमित्यस्य खण्डनरहितमुत्तरमित्यर्थः ।

ननु किमिदं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं, न तावत्स्वत एव जन्म । स्वस्य स्वहेतुकत्वविरोधात् । नापि प्रमाणादेव जन्म । ज्ञानस्य गुणत्वेन स्वप्रामाण्य प्रति समवायिकारणत्वासभवात् । नापि ज्ञानसामग्रीतो जन्म । प्रामाण्यस्योपाधित्वे जातित्वे च जन्मासभवात् । तथाहि उपाधिपक्षे स्मृतित्वानधिकरणस्य ज्ञानस्य बाधाल्यन्ताभावः प्रामाण्यम् । नच तस्योत्पत्तिः संभवति । अत्यन्ताभावत्वादेव । नापि जातेर्जन्म । नित्यत्वात् । ज्ञानसामग्रीजन्यत्वं प्रमायाः प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति चेन्मैवम् । अप्रमाया अपि स्वतस्त्वप्रसङ्गात्, तस्या अपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वात् । अथ ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं स्वतस्त्वम् अप्रमा तु न तन्मात्रजन्या दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वादिति चेन्मैवम् । विरुत्पासहत्वात् । तथाहि । दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्व मात्रशब्दार्थः किंवा दोषासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् । नाद्यः । परतःप्रामाण्यवादिमतानुप्रवेशप्रसङ्गात् । तेऽपि हि दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव परतःप्रामाण्यमितीच्छन्ति । नापि द्वितीयः । विशेषदर्शनस्य भ्रमनिवृत्तिहेतुत्वे तद्विपर्ययस्य भ्रमहेतुत्वदोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्य ज्ञानमप्रमेत्यङ्गीकुर्वता प्रमा प्रति दोषाभावस्य हेतुताया अनिराकार्यत्वात् ।

मनुपहित तु न वाच्यमित्यस्येव पृथक्प्रवृत्ति ज्ञानादिशब्दस्यति न कोपि व्यतिकर । 'अद्वैयसत्त्वबोधविताने देहद्वेषीकर्मनोमतिहीने ॥ विश्वविवर्तनिदानमबोध श्रन्ति वचांसि स यत्र परोक्षि ॥

स्वत सिद्धमेव प्रामाण्यमित्युक्तमुपश्रुत्य परतः प्रामाण्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—नन्विति । तत्र लक्षण तावदाक्षिपति—न तावदित्यादिना । तत्र एक स्वत एव प्रामाण्यस्य जन्म स्वतः प्रामाण्य नाम आहोस्वित्स्वाश्रयज्ञानजन्यत्वमुत स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् अथवा ज्ञानसामग्रीजन्यप्रमाश्रितत्व, किंवा ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यप्रमाश्रितत्वम् । नाद्य इत्याह—न तावदिति । विरोधादिति । स्वस्यैव स्वकारणतया प्राक्क्षणे सत्त्वं कार्यतया च प्रागसत्त्वमिति व्याघातादित्यर्थः । द्वितीय निषेधति—नापीति । एतच्च स्वशब्दस्य स्वीयवचनत्वमाश्रित्य । स्वाश्रयप्रामाण्यजनकत्वे हि समवायिकारणतया द्रव्यत्वापातो ज्ञानस्येत्यर्थः । तृतीय निषेधति—नापि ज्ञानेति । तत्प्रामाण्यामपि हि यथावत्चित्संस्वीयतया स्वशब्दो भवत्येवेति भावः । तदेतदसभवेन दूषयति—प्रामाण्यस्येति । बाधात्यन्ताभावो घटादेरप्यस्तीति ज्ञानस्येत्युक्तम् । तथापि स्मृतावतिव्याप्तिस्तदर्थं स्मृतित्वानधिकरणस्येति । अवाध्यानुभवत्वमित्यर्थः । विषयापहारश्च बाधस्तदभावश्चापातत सहायादेरप्यस्तीत्यल्यन्तग्रहणम् । अत्र च भ्रमादौ धर्म्यंश जातिसङ्करप्रसङ्गात् प्रामाण्यमुपाधिरिति केचित् । अपरेतु तत्र गौण व्यर्थहारमादाय जातिरिति वदन्ति तनेद द्वैविध्यमुक्तम् । चतुर्थं शङ्कते—ज्ञानसामग्रीति । यदि प्रमाया ज्ञानसामग्रीजन्यत्वं तत्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति योजना । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—मेवमिति । ज्ञानविशयो ह्यप्रमा, विशेषसामग्री च सामान्यसामग्रीनुप्रविशति, शिक्षासामग्रीमिष वृक्षसामग्री, इतरथा तस्याकस्मिन्कल्पप्रसङ्गात् अतः परतस्त्वेनास्मिन्मात्रप्रामाण्यमपि ज्ञानसामग्रीजयाश्रितेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । अप्रमाया अपीति । अप्रामाण्यस्येत्यर्थः । पञ्चमं शङ्कते—अथेति । अप्रमायामतिव्याप्तिपरिहारं मात्रग्रहणेन विवक्षितं सं एव विवृणोति—अप्रमात्विति । अत्र मात्रग्रहणेनाप्रमासामग्रीरूपदोषासाहित्यद्वारेण तदभावसाहित्यमपि ज्ञानसामग्रीया विवक्षितम् उतासाहित्यमात्रमिति विरुत्प्याय दूषयति—नाद्य इति । एव स्वतः प्रामाण्य परतस्त्वेप्युपपद्यते इत्यर्थो तरमित्यर्थः । द्वितीय दूषयति—नापि द्वितीय इति । यथाहि प्रमाणज्ञानहेतोर्विशेषदर्शनस्याभावोऽप्रमाणज्ञानहेतु, एवमप्रमाण-

१ प्रमात्वस्येत्यर्थः । २ प्रमातः पक्षेत्यर्थः । ३ तथाच परतः प्रामाण्यवादिमतानुप्रवेशरूप दूषण तदवस्यमेव । ४ दोषत्वादि । ५ पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टे यत्र परस्मिन् विवक्षितभूतस्य विश्वस्य निदानमज्ञान तत्त्वमत्यादिवाचयानि विचारयति स परोऽहमस्मीति संबन्धः । ६ स्व प्रमारूप ज्ञानमाश्रयो यस्येति बहुव्रीहिना प्रामाण्यविशेषणम् । ७ भ्रमत्वप्रमात्वजालो संकरप्रसङ्गादित्यर्थः । ८ प्रमात्वेत्यादि । ९ पूर्वपक्षेवेत्यर्थः ।

नन्वीश्वरज्ञान इव दोषाभावस्यावर्जनीयतया अस्मत्प्रमास्यपि तथासन्निधिः किं न स्यात् । नहीश्वरज्ञानेऽपि दोषाभावः प्रयोजक इति युक्तं वक्तुं, तत्प्रयुक्तत्वस्य तदन्तर्भूतसामग्री-जन्यत्वानतिरेकात्, तस्यच नित्यतया विशिष्टसामग्रीजन्यत्वासंभवादिति चेन्नैवम् । अन्तरेणापि तत्सामग्रीजन्यत्वं नित्यद्रव्येषु गुणवत्त्वप्रयुक्तद्रव्यत्ववत्त्वप्रयुक्तत्वोपपत्तेः । नच दोषाभावस्याभावत्वादेवाकारणत्वं, विशेषदर्शनाभावस्य भ्रमहेतुत्ववत्प्रमाणाभावस्य प्रमेयाभावप्रमितिहेतुत्ववद्विहिताकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वप्रथमं तदुपपत्तेः ।

नच प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वे मानमस्ति । प्रामाण्यं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमप्रामाण्येतरत्वेसति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववत् । दोषजन्यत्वेन व्यभिचारो भाभूदिति ज्ञानैकधर्मत्वादित्युक्तम् ।

ज्ञानहेतोर्दोषस्याभावोपि प्रमाणहेतुर्भवत्येव । एवमवधृतस्याभावादानयोरित्यर्थः । यद्यपि प्रमासामग्र्या दोषाभावाऽविघातस्तथापि न हेतुतयापित्ववर्जनीयसन्निधेरानाशयत् ।

युक्तं चैतत्, इतरथा नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तदनुत्पाद्यतया प्रामाण्याभावप्रसङ्गादिति शङ्कते—नन्विति । जन्या प्रमा दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्या न भवति प्रमात्वादीश्वरप्रमावदिति भावः । साधैवैक्य परिहरति—नहीति । ननु जन्यत्वाभावेऽपि तत्प्रयुक्तत्व किं न स्यादित्यत आह—तत्प्रयुक्तत्वस्येति । तदन्तर्भूतेति । स दोषाभावादिरन्तर्भूतो यस्यां सामग्र्या सा तदन्तर्भूता सामग्री, अवयवान्तर्भाव एवान्तर्भूतत्वाभावे निष्ठा, तदन्तर्भाववती सामग्रीत्यर्थः । न तद्भ्रमेसामग्रीजन्यत्व, नहि गुणवत्त्वप्रयुक्त द्रव्यत्वमित्यत्र गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोर्यजनकभाव परस्परमेकस्योपाधित्वात् एकस्य च जातित्वात् किं तर्हि समव्यापकत्वमन्त्रेण प्रयोज्यप्रयोजकभाव एवमनापीति परिहरति—भैवमिति । अनित्ये स्वाश्रयद्वारा कादाचित्कत्वमपि वद्यचित्तभाव्यमिति नित्यद्रव्येष्वित्युक्तम् । नन्वभावस्य कारणतावायुक्ता नि स्वभावत्वादिति तत्रान्वेति । किमिदं नि स्वभाव व, यद्यसत्त्व, तत्किं सत्तानधिकरणत्व, तर्हि गत सामान्यादीना बुद्धिकारणत्वेन नच स्वरूपसत्त्वरहितत्व, तदस्मिद्धम् । यथाहोदयने—'नह्यभौ विधिरूपेण तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा इतरथाऽभावस्यापि तयात्वापाता दिति । अथ भावत्वानधिकरणत्व, किमेतावता । किंचाभावस्य कार्यत्वमपी क्रियते न वा । न यदि, तदा प्रथसानुत्पत्त्या घटस्य नित्यता स्यात् । अस्तिचेत्, कारणत्वेन किमपराद्धम् । क खलु विशेषो नियतप्राक्क्षणसत प्रागसत्त्वेसति सत्तायोगित्वेसत्त्वे । अथान्यधैवाभूत्वाभाविताद्यात्मक तत्र कार्यत्व शिक्षयति कारणत्वमपि तथा शिक्षयेति मूलीभावः । उक्तचोदयनेन—'भावो यथा तथाऽभाव कारण कार्यवन्मत' इति । किंच न सर्वत्र भावरूपा एव दोषा, येन तदभावस्याभावतया न कारणत्वम्, अपि लभ्यं वरूपा अपि सन्ति दोषा, तदभावस्य न किमिति कारणता स्यात् । अथ भावस्य तत्र तत्र दृष्टचर कारणत्व न त्वभावस्येति । तन्न । अभावस्यापि तत्र तत्र दर्शनात्स्वीकाराच्च भवद्विरित्याह—विशेषदर्शनेत्यादिना । साधारणधर्मदर्शनविशेषादर्शनाभ्यां सर्वत्र भ्रम इत्यर्थः । भाट्टानेव प्रत्याह—प्रमाणाभावस्येति । योगयानु पलब्ध्या ह्यभावप्रमितिरिदानीं क्रियते अनुपलब्धिधोपलब्धभाव इत्यर्थः । मतद्वयसमतमुदाहरणमाह—विधि साकरणेति । येत्वन—'स्वकाले यदकुर्वन् हि करोति यदचेतन । प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते' इति ब्रुवते तैरप्यतिप्रसक्तिपरिहारायाकुर्वन् यदन्यत्करोतीति वचनादभावहेतुताऽशक्यप्रत्याख्याना ।

एव लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणमाक्षिपति । नच प्रामाण्येति । रत्नदीपावलीकृतमनुमानमुद्गावयति—प्रामाण्यमिति । ज्ञानहेतुजन्याश्रयत्वसाधने सिद्धसाधनता तदर्थं मानग्रहण, ज्ञानैकधर्मत्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति तत्र व्यभिचारकारणाप्राामाण्येतरत्वे सतीत्युक्तम् । घटत्वादिव्यावृत्त्यै ज्ञानग्रहणम् । उक्तविशेषार्थकत्वमाह—दोषेति । तद्धि व्याधेरपि धर्म इति न ज्ञानैकधर्म इत्यर्थः ।

१ दोषाभावात्तत्त्वावयवत्वस्य । २ दृष्टाते इति शेषः । ३ तस्मिन् दोषाभावाद्दोषोऽन्तर्भूत यस्या इति श्रुतवत्त्वेति भावः । ४ सत्तायोगित्वे इति पाठः साधुर्भाति । ५ नियतकायप्राग्भाविस्वरूपम् । ६ हेतो यद्यविशेषणत्वाभि-प्रायेणेदम् ।

तथा प्रामाण्यमुक्तविधमप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वात् प्रत्यक्षत्ववदित्यनुमानं मानमतिकेचित्तत्र । विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं तथाविधव्यक्तिवृत्तित्तामात्रं विवक्षितमु-
तान्यावृत्तित्वेसति तथाविधव्यक्तिवृत्तित्वम् । नाद्यः । अंशतः सिद्धसाधनत्वात् ; अनुव्यव-
सायानुमित्युपमितीनां स्वतःप्रमात्वस्य परैरभ्यङ्गीकारात् । न द्वितीयः । आद्यप्रयोगे दृष्टान्तस्य
साध्यविकलत्वात्, ज्ञानत्वस्य दोषजन्याप्रमाणज्ञानवृत्तित्वस्याप्यङ्गीकारात् । नाप्रमाणज्ञाने
ज्ञानत्वस्य वृत्तिस्तस्य ज्ञानाभासत्वादितिचेत् । मैवम् । तथासत्यप्रामाण्येतरत्वे सति इति वि-
शेषणस्य वैयर्थ्यात्, अप्रमाणज्ञानस्य ज्ञानाभासत्वेनाप्रामाण्यस्य ज्ञानवृत्तित्वाभावात् । द्विती-
यानुमाने च संशयत्वादिना व्यभिचारः । तथाहि तदपि ह्यप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यून-
वृत्ति भवति नतु भवति ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयं तिमिरादिदोषजन्याश्रयत्वात् । दृष्टान्तस्य सा-
ध्यविकलता च । प्रत्यक्षत्वस्यापि परतःप्रामाण्यवादिना ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयत्वानाश्रयणात् ।
प्रमात्वमेव यस्य ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयं न भवति गुणविशिष्टज्ञानसामग्रीजन्यवृत्तित्वात् तस्य
कथं तदवान्तरजातिप्रत्यक्षत्वं तद्धेतुमात्रजन्याश्रयं स्यात् । अस्तिच परतस्त्वेपि प्रयोगः ।

अनीश्वरप्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वाद्वटवत् । ननु किं ज्ञानव्यक्तेः
प्रमाव्यक्तितोस्ति कश्चिद्विशेषः किं वा प्रमाव्यक्तिरेव ज्ञानव्यक्तिः । आद्ये प्रत्यक्षज्ञान-
व्यक्त्या स्पष्टो व्यभिचारः । प्रत्यक्षज्ञानव्यक्तेर्विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वाभावात् ।
द्वितीयेऽपि जन्यापि विज्ञानरूपा प्रमा न ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनेति बाध इति चेन्मैवम् ।

तदीयमेवानुमानान्तरमाह—तथेति । ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति अत उक्तमप्रामाण्ये-
रत्वे सतीति । सत्तागुणत्वज्ञानत्वैर्व्यभिचारनिवारणाय ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वग्रहणम् । अत्र किं ज्ञानहेतुमा-
त्रजन्यवृत्तित्वमात्रं साध्यं किं वा ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्यावृत्तित्वे सति ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमिति विकल्प्या-
यंशतः सिद्धसाधनमाह—अंशत इति । यथाचैतेषां स्वतः प्रमात्वं तैरङ्गीकृतं तथा सिद्धान्ते दर्शयि-
ष्यते । साध्यविकलत्वमेव दर्शयति—ज्ञानत्वस्येति । दोषजन्यत्वतिरिक्तजन्यत्वमुक्तम् । अत्रान्तरासिद्धा-
न्तिमतमवलम्ब्य कश्चिच्चोदयति—नाप्रमाणेति । उक्तं हि अविवैद्यैः सह भ्रम इत्यभिमानः । एवं प्रकृ-
तदूषणं परिहरतो विशेषणवैयर्थ्यं, तथाचैकं सन्निवृत्ततोऽपरं प्रच्यवत इत्याह—मैवमिति । व्यभिचारमेव
स्फोरयति—तथाहीति । दूषणान्तरं चाह—दृष्टान्तस्येति । तस्यैव विवरणं प्रत्यक्षत्वस्यापीति ।
ननु किमिति प्रत्यक्षत्वे नाङ्गीक्रियते, नहि तत्प्रमात्वमित्यत आह—प्रमात्वमेवेति । गुणविशिष्टसामग्रीजन्य-
प्रमाथयं प्रमात्वमिति यस्याङ्गीकारः स कथं तदवान्तरजातिं प्रत्यक्षत्वं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमङ्गीकुर्यादित्यर्थः ।
गुणग्रहणं दोषाभावस्याप्युपलक्षणम् ।

एवं स्वतस्त्वलक्षणप्रमाणे दूषयित्वा परतस्त्वे कुसुमाञ्जलीयमनुमानं दर्शयति—अनीश्वरप्रमेति । इदं
च तत्र युक्तं प्रक्षिप्तमीश्वरप्रमायां बाधासिद्धी माभूतामिति । यदस्य रत्नदीपावल्यामनुमानदूषणमुक्तं तदुद्दि-
धीर्गुणवदति—ननु किं ज्ञानव्यक्तेरिति । किं ज्ञानत्वाश्रयो या ज्ञानरूपिणी व्यक्तित्वतो भिन्ना प्रमात्वा-
श्रयः प्रमाव्यक्तिः किं वा नेति विकल्प्याद्ये व्यभिचारमाह—प्रत्यक्षेति । द्वितीये ज्ञानरूपायाः प्रमाव्यक्तेर्ज्ञा-
नहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वसाधनं व्याहृतं, ज्ञानं ज्ञानहेतुत्वानधिकरणजन्यमिति हि तदर्थः स्यादित्याह—द्विती-
येपीति । तदेतदूषयति—मैवमिति । यद्यपि व्यक्तयोर्भेदो नास्ति तथापि ज्ञानत्वप्रमात्वयोर्भेदात् प्रमाया

१ चकारोऽप्यर्थः । तेन पूर्वानुमानेऽप्येवं व्यभिचारो बोध्यः । २ कश्चिच्चिरन्तनैयायिको भ्रमध्यावृत्तं प्रत्यक्षत्वं
स्वीकरोति इत्येतदग्रन्थालोकनतः प्रतीयतेऽप्यथा—प्रमात्वव्याप्यत्वरूपं तदवान्तरजातित्वं प्रत्यक्षत्वे न स्यात् ।
३ वैद्यैः स्वविषयैः सह भ्रमोऽविद्येवैत्यर्थः । तथा च भ्रमस्याविद्यात्वेन ज्ञानाभासरत्वं सिद्धमिति भावः । अभिमान-
त्वोक्तिस्तु परतस्त्ववावन्निप्रायानुसारेण, अविद्यावृत्तावपि ज्ञानत्वाङ्गीकारेण वा ।

ज्ञानव्यक्तेः प्रमाव्यक्तितो भेदाभावेऽपि विज्ञानत्वप्रमात्वधर्मयोर्भेदात् । ततश्च घटत्वस्य पृथिवीत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधन इव प्रमाया विज्ञानत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधने बाधाभावात्, विपक्षे च प्रमात्वस्य विज्ञानत्वप्रयोजकमात्रप्रयोज्यत्वात्, ज्ञानत्ववदप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति बाधकस्तर्क उन्नेयः ।

ननु ज्ञानसामग्र्या एवानिरूपणात् तदतिरिक्तहेत्वधीनत्वं दुर्ज्ञानमितिचेत् । भैवम् । एवं सत्यप्रमायाः परतस्त्वं दत्तजलाञ्जलि स्यात् । तदपि हि ज्ञानसामग्रीनिरूपणार्थान्निरूपणं, तस्य दोषानुपक्तविज्ञानसामग्रीजन्यताप्रतिज्ञानात् । तस्मान्नोत्पत्तौ प्रमायाः स्वतस्त्वं नापि ज्ञप्तौ । तथाहि नीलसंवेदनस्य प्रामाण्यं नीलसंवेदनेनैवावेद्यत इति स्वतस्त्वमुच्यते किंवा तद्वेदनप्राहकमात्रप्राह्यत्वेन । नाद्यः । तस्य तत्राप्रमाणत्वात् । तथाहि यदेतन्नीलप्रकाशनप्रत्यक्षं तन्नीलं प्रति तावत्प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वात् । स्वप्रामाण्यपरिच्छिन्नौ तु कथं तत्प्रमाणं तस्य बहिरिन्द्रियैरसन्निकर्षात् । अपिच तत्प्रत्यक्षं विज्ञानस्यैव प्रामाण्यं गृहीयादुत तत्फलस्य । नाद्यः । ज्ञानस्य फललिङ्गानुमेयत्वेन तस्याप्रत्यक्षतया तत्प्रामाण्यस्यापि प्रत्यक्षतानुपपत्तेः ।

फलस्यापि स्वप्रकाशतया बाह्येन्द्रियाविषयत्वात्, तद्रतयथार्थत्वलक्षणप्रामाण्यस्यापि

अपि ज्ञानत्वप्रयोजकव्यतिरिक्तप्रयोज्यत्वमुपपद्यते यथाह्यकस्मिन्नेव घटे द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वानां विभिन्नप्रयोजकतया द्रव्यादीनामपि विभिन्नप्रयोज्यतेत्यर्थः । ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वाभावे च बाधकमाह—
विपक्षे चेति । यदि ज्ञानहेतुमात्रप्रयोज्येयं तर्हि तत्प्रयोज्यज्ञानवृत्तिज्ञानत्ववत्प्रमात्वमप्यप्रमायां वर्ततेत्यर्थः ।

ननु साध्यमेवेदं नाहं धारयति ज्ञानहेतोरेवानिरूपणादिन्द्रियादीनां परस्परव्यभिचारादात्मनःसंयोगस्य च सुखादिसाधारण्यात् अतस्तदतिरिक्तहेतुरपि दुर्निरूप इति शङ्कते—**नन्विति** । दूषयति—**भैवमिति** । अवयवं तावद्दोषानुपक्तविज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रमायां मन्वानेन ज्ञानसामग्री तावन्निरूपणीया, साच नास्मन्मते दण्डवारिता, भवितव्यं च तथा, अन्यथा विलक्षणकार्यादर्शनप्रसङ्गादिति भावः । किमाध्यज्ञानवेद्यत्वं प्रामाण्यस्य ज्ञप्ता स्वतस्त्वं किं वा ज्ञानप्राहकप्राह्यत्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति** । नीलसंवेदनस्य स्वप्रामाण्यप्राहकत्वाभावमेवोपपादयति—**तथाहीति** । इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ह्यनीश्वरप्रत्यक्षं तदिदं बहिरिन्द्रियस्यान्तरस्य वा प्रागाप्येन संनिकर्षादुत्पद्यते इति वक्तव्यं प्रत्यक्षवादिना, तत्र बहिरिन्द्रियप्राह्यत्वं प्रामाण्यस्यान्तर्धर्मत्वादेवासंभवीत्याह—**तस्येति** । नापि मानसत्वम् । तदाहि प्रामाण्यस्य मनःसन्निकर्षसमये तत्सत्त्वाद्यं तदाश्रयज्ञानस्यापि सर्वं वक्तव्यं, तथाच न तदेव ज्ञानं स्वाश्रितप्रामाण्येन्द्रियसन्निकर्षादुत्पन्नमर्हति सिद्धस्वभावात् । ज्ञानान्तरस्योत्पत्तौ तु परतःप्रामाण्यप्रसक्तिरिति, लिङ्गादिजन्यत्वाभावाच्च नानुमित्यादिरूपताशङ्कापि । किंचेदं प्रामाण्यमिति वा तत्तेन गृह्यते तत्प्रामाण्यमिति वा । आद्ये ज्ञाननिष्ठतया अप्रहणात् गृहीते तस्मिन् संशयप्रसङ्गः । द्वितीये स्वविशेषितप्रामाण्यग्रहणे स्वग्रहापत्तिः । अपिच यथातथा भवतु तन्न कस्य प्रामाण्यं गृह्णातीति भाट्टं प्रति विकल्पयति—**अपिचेत्यादिना** । तत्फलं प्राकृत्यं, प्राकृत्यलिङ्गानुमेयं विज्ञानं भाट्टैरभ्युपेयते । नचाप्रत्यक्षगतं प्रामाण्यं भवितुं प्रत्यक्षमर्हति । नच स्वर्गशब्दादितुल्यता, जातित्वात् । जातेरेव व्यक्तिसप्रत्यक्षतानियतप्रत्यक्षत्वं, वक्ष्यते च जातित्वमतमन्तरमेवेति भावः ।

फलगतप्रामाण्यग्रहणपक्षेपि किं बहिरिन्द्रियेणान्तरेण वा । नाद्य इत्याह—**फलस्यापीति** । अयंनिष्ठत्वादेव नान्तरप्रत्यक्षत्वमपि । यदि कश्चिदात्मनिष्ठत्वं मन्वीत सुचरितमिप्रमत्तानुसारेण तथापि स्वप्रकाशत्वादेवाविषयत्वे तद्रतप्रामाण्यमविषय इत्यपि द्रष्टव्यम् । ज्ञानप्राहकादेव तत्प्रामाण्यग्रहणं शिष्यस्वतस्त्वमिति

बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः । नापि द्वितीयः । ज्ञानप्राहकमात्रप्राह्यत्वे प्रामाण्यस्य क्वचिदपि ज्ञाने प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयाभावप्रसङ्गात् । ननु ज्ञानप्राहकमात्रप्राह्यत्वे-
प्यर्थविशेषितत्वस्य सांशयिकत्ववत्प्रामाण्यस्यापि सांशयिकत्वमुपपद्यते । तथाहि कुम्भज्ञा-
नस्याम्भो विषयोऽभून्नवेति संशयाना दृश्यन्ते जनाः साम्भसामनम्भसामपि कुम्भाना-
नुपलब्धात् । एव प्रामाण्येपि संशयः किं न स्यादिति चेन्मैवम् । अम्भसः कुम्भप्राहक-
सामग्रीमात्रप्राह्यत्वानङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वाऽविशेषेण सकलकलशानां सलिलप्रवृत्त-
सङ्गात् । तस्मान्नारिकेलफन्तान्तर्गतसलिलादिवद्भिन्नसामग्रीप्राह्यत्वादेव तत्र संशयः ।
प्रामाण्ये तु न तथेति युक्तमुत्पश्यामः । किञ्च विज्ञानप्राहकसामग्रीमात्रप्राह्यतायां प्रामा-
ण्यस्य शुक्तिकारजतादिवुद्धिष्वपि तद्रूपप्रसङ्गः । सत्त्वं, गृहीतमेव तत् बाधकादपनीयते
यथाहुः—‘तस्माद्बोधो धात्मरुत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता । अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैरपो-
द्यते ॥’ इति । तस्मादस्माकमिष्टप्रसञ्जनमिति चेत् । मैवम् । परतःप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।
तथाहि प्रसक्तमपि प्रामाण्यं रजतादिवुद्धिषु बाधकज्ञानादपनीयत इति वदता बाधक-
ज्ञानाभावनिवन्धनमेव प्रामाण्यावधारणमभ्युपगतं स्यात् ।

नच ज्ञप्तिस्वतस्त्वे मानमस्ति । ननु प्रमा स्वतो ज्ञायते परनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वात् ज्ञान-
वत्, तथा प्रामाण्यं स्वतो ज्ञायते अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववदित्य-
स्त्येवानुमानमिति चेत् । मैवम् । आद्यप्रयोगे परतःप्रामाण्यवादिनं प्रति हेतोरसिद्धेः
दृष्टान्ताभावाच्च । नहि पक्षीकृता प्रमां विपक्षकुक्षिनिक्षिप्रानप्रमा च विहाय ज्ञानस्यापरा

द्वितीय पक्ष दूषयति—नापि द्वितीय इति । दृश्यते हि क्वचिज्ज्ञाने प्रतीतेपि प्रामाण्ये संशयः, स न
स्यात् ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेरित्यर्थः । तत्र ज्ञानप्राहकमात्रप्राह्यत्वेऽप्युपपन्न संदेह ज्ञानगततद-
र्थविशेषितत्वस्य ज्ञानप्राहकमात्रप्राह्यत्वेपि तत्र संदेहदर्शनादत प्रशियिलमूलस्तर्क हेतुर्थं सव्यभिचार
इत्यौदयनं परतस्त्वानुमान केचिदूषयाबभूवुस्तत्प्रसङ्गादनूय दूषयति—नन्वित्यादिना । ज्ञानप्राह-
कप्राह्यत्वे समानेपि कुम्भसलिलयोर्भिन्नसामग्रीप्राह्यत्वात् सोदकेपि कुम्भे कुतश्चिन्निमित्तात्सलिलप्राहकसाम-
ग्रीवैकल्याद्विषयत्वोपलब्धेन सम्बन्धेपि तावत्सरे संशयः, इदं तु तथा किञ्चिदस्ति संशयकारणमिति परि-
हरति—मैवमिति । बाधकान्तरमाह—किञ्चेति । पूर्वमुत्पत्तिस्वतस्त्वे विभ्रमेपि तत्सत्त्वं स्यादित्युक्तं,
सप्रति ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तदुच्यत इति न जामितौ । उत्सर्गतं प्राप्तस्यापि तत्र तस्यापवादमाह स्वतः प्रामाण्य-
वादी—सत्यमिति । सत्यमर्थाङ्गीकारे । अनङ्गीक्रियमाणाशमाह—बाधकादिति । बोधात्मकरुत्वेन,
ज्ञानत्वादेव, शुक्तिरजतादिवुद्धेरपि प्रमाणता प्राप्ता गृहीता तथाप्यर्थान्यथाज्ञानैः प्रतीतार्थस्यान्यथात्वबो-
धकैः बाधरज्ञानैर्हेतूथदोषज्ञानैर्हेतुर्गतदोषज्ञानैश्चापोद्यते बाध्यत इति भट्टोक्तैरर्थः, परतः प्रामाण्यमापादयन्न-
निष्ठतामेव समर्थयते—मैवमिति । प्राप्तप्रामाण्यस्यापि बाधरज्ञानादपवादे तत्सदसत्त्वाभ्यामप्रामाण्य-
प्रामाण्यव्यवस्थेति परतः प्रामाण्यापत्तिः प्राप्नोतीत्यर्थः ।

ज्ञप्तिस्वतस्त्वानिरुक्तिमुत्त्वा प्रमाणमपि तत्राक्षिपति—नचेति । रजनीपावलीयमनुमानमुद्गावयति—
ननु प्रमेति । स्वतो ज्ञायत इति । ज्ञानज्ञापकमात्राज् ज्ञायते । परनिरपेक्षेति । ज्ञानसामग्रीमात्रादु-
त्पन्नत्वादित्यर्थः । परतः प्रामाण्यवादिनं परनिरपेक्षोत्पत्तिवत् प्रमाया अप्रसिद्धमिति दूषयति—मैवमिति ।
किञ्च प्रमाणाप्रमाणाभ्या द्वैरादयमेव ज्ञानस्य । तत्र प्रमाणवर्गं पक्ष सर्वं इतरस्तु विपक्षः । ततो दृष्टान्तोपि

१ अर्थविशेषितत्वे । २ कार्यत्वरूपं पूर्वोक्तं परतस्त्वसाधकं । प्रत्यक्षज्ञानमप्यथा स्पष्टो व्यभिचारः । ३ न
पुनरुक्तिः । ४ करणगतैत्यर्थः ।

ज्ञानव्यक्तेः प्रमाव्यक्तितो भेदाभावेऽपि विज्ञानत्वप्रमात्वधर्मयोर्भेदात् । ततश्च घटत्वस्य पृथिवीत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधन इव प्रमाया विज्ञानत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधने बाधाभावात्, विपक्षे च प्रमात्वस्य विज्ञानत्वप्रयोजकमात्रप्रयोज्यत्वात्, ज्ञानत्ववदप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति बाधकस्तर्क उन्नेयः ।

ननु ज्ञानसामग्र्या एवानिरूपणात् तदतिरिक्तेहेत्वधीनत्वं दुर्ज्ञानमितिचेत् । मैवम् । एवं सत्यप्रमायाः परतस्त्वं दत्तजलाञ्जलि स्यात् । तदपि हि ज्ञानसामग्रीनिरूपणाधीन-
निरूपणं, तस्य दोषानुपपत्तविज्ञानसामग्रीजन्यताप्रतिज्ञानात् । तस्मान्नोत्पत्तौ प्रमायाः स्वतस्त्वं नापि ज्ञप्तौ । तथाहि नीलसंवेदनस्य प्रामाण्यं नीलसंवेदनेनैवावेद्यत इति स्वत-
स्त्वमुच्यते किंवा तद्वेदनप्राहकमात्रप्राह्यत्वेन । नाद्यः । तस्य तत्राप्रमाणत्वात् । तथाहि यदेतन्नीलप्रकाशनप्रत्यक्षं तन्नीलं प्रति तावत्प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वात् । स्वप्रा-
माण्यपरिच्छिन्नौ तु कथं तत्प्रमाणं तस्य बहिरिन्द्रियैरसन्निकर्षात् । अपिच तत्प्रत्यक्षं विज्ञानस्यैव प्रामाण्यं गृहीयादुत तत्फलस्य । नाद्यः । ज्ञानस्य फललिङ्गानुमेयत्वेन तस्या-
प्रत्यक्षतया तत्प्रामाण्यस्यापि प्रत्यक्षतानुपपत्तेः ।

फलस्यापि स्वप्रकाशतया बाह्येन्द्रियाविषयत्वात्, तद्गतयथार्थत्वलक्षणप्रामाण्यस्यापि

अपि ज्ञानत्वप्रयोजकव्यतिरिक्तप्रयोज्यत्वमुपपद्यते यथाह्येकस्मिन्नेव घटे द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वानां विभिन्नप्र-
योजकतया द्रव्यादीनामपि विभिन्नप्रयोज्यतेत्यर्थः । ज्ञानहेत्वतिरिक्तेहेत्वधीनत्वाभावे च बाधकमाह—
विपक्षे चेति । यदि ज्ञानहेतुमानुप्रयोज्येयं तर्हि तत्प्रयोज्यज्ञानवृत्तिज्ञानत्ववत्प्रमात्वमभ्यप्रमाया वर्ततेत्यर्थः ।

ननु साध्यमेवेदं नाहं धारयति ज्ञानहेतोरेवानिरूपणादिन्द्रियादीनां परस्परव्यभिचारादात्मन सयोगस्य च सुखादिसाधारण्यात् अतस्तदतिरिक्तेहेतुरपि दुर्निरूप इति शङ्कते—नन्विति । दूषयति—मैवमिति । अद्वयं तावद्दोषानुपपत्तविज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रमाया मन्वानेन ज्ञानसामग्री तावन्निरूपणीया, साच नास्मन्मते दण्ड-
धारिता, भवितव्यं च तथा, अन्यथा विलक्षणकार्यदर्शनप्रसङ्गादिति भावः । किमाश्रयज्ञानवेद्यत्व प्रामाण्यस्य ज्ञप्ता स्वतस्त्वं किं वा ज्ञानप्राहकप्राह्यत्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—नाद्य इति । नीलसंवेदनस्य स्वप्रामाण्य-
प्राहकत्वाभावमेवोपपादयति—तथाहीति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ह्यनीश्वरप्रत्यक्ष तद्विदं बहिरिन्द्रियस्यान्त-
रस्य वा प्रामाण्येन सन्निकर्षादुत्पद्यते इति वक्तव्यं प्रत्यक्षवादिना, तत्र बहिरिन्द्रियप्राह्यत्वं प्रामाण्यस्यान्त-
र्धर्मत्वादेवासम्भवीत्याह—तस्येति । नापि मानसत्वम् । तदाहि प्रामाण्यस्य मन सन्निकर्षसमये तत्सर्वार्थं तदाश्रयज्ञानस्यापि सत्त्वं वक्तव्यं, तथाच न तदेव ज्ञान स्वाश्रितप्रामाण्येन्द्रियसन्निकर्षादुत्पन्नमर्हति सिद्ध-
स्वभावात् । ज्ञानान्तरस्योत्पत्तौ तु परत प्रामाण्यप्रसक्तिरिति, लिङ्गादिजन्यत्वाभावाच्च नानुमित्यादिरूपता-
च्छायापि । किंचेदं प्रामाण्यमिति वा तत्तेन गृह्यते तत्प्रामाण्यमिति वा । आद्ये ज्ञाननिष्ठतया अप्रदहणात् गृहीते तस्मिन् सशयप्रसङ्गः । द्वितीये स्वविशेषितप्रामाण्यग्रहणे स्वग्रहापत्तिः । अपिच यथातथा भवतु तत्तु कस्य प्रामाण्यं गृह्णातीति माहं प्रति विकल्पयति—अपिचेत्यादिना । तत्फलं प्राक्त्व्यं, प्राक्त्व्यलिङ्गानुमेयं विज्ञानं भाह्यैरभ्युपेयते । नचाप्रत्यक्षगतं प्रामाण्यं भवितुं प्रत्यक्षमर्हति । नच स्पर्शशब्दादितुल्यता, जातित्वात् । जातेरेव व्यक्तिप्रत्यक्षतानियतप्रत्यक्षत्व, वक्ष्यते च जातित्वमतमन्तरमेवेति भावः ।

फलगतप्रामाण्यग्रहणपक्षेपि किं बहिरिन्द्रियेणान्तरेण वा । नाद्य इत्याह—फलस्यापीति । अयंनिष्ठ-
त्वादेव नान्तरप्रत्यक्षत्वमपि । यदि कश्चिदात्मनिष्ठत्वं मन्वीत सुचरितमिभ्रमतानुसारेण तथापि स्वप्रकाश-
त्वादेवाविषयत्वे तद्गतप्रामाण्यमविषय इत्यपि द्रष्टव्यम् । ज्ञानप्राहकत्वादेव तत्प्रामाण्यग्रहणं ज्ञप्तिस्वतस्त्वमिति

घाह्येन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः । नापि द्वितीयः । ज्ञानप्राहकमात्रप्राह्यत्वे प्रामाण्यस्य क्वचिदपि ज्ञाने प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयाभावप्रसङ्गात् । ननु ज्ञानप्राहकमात्रप्राह्यत्वे-
व्यर्थविशेषितत्वस्य सांशयिकत्ववत्प्रामाण्यस्यापि सांशयिकत्वमुपपद्यते । तथाहि कुम्भज्ञान-
नस्याम्भो विषयोऽभून्नवेति संशयाना दृश्यन्ते जनाः साम्भसामनम्भसामपि कुम्भाना-
गुपलम्भात् । एवं प्रामाण्येपि संशयः किं न स्यादिति चेन्मैवम् । अम्भसः कुम्भप्राहक-
सामग्रीमात्रप्राह्यत्वानङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वाऽविशेषेण सकलकलशानां सलिलवत्त्वप्र-
सङ्गात् । तस्मान्नारिकेलफलान्तर्गतसलिलादिवद्भिन्नसामग्रीप्राह्यत्वादेव तत्र संशयः ।
प्रामाण्ये तु न तथेति युक्तमुपश्यामः । किंच विज्ञानप्राहकसामग्रीमात्रप्राह्यतायां प्रामा-
ण्यस्य शुक्तिकारजतादिवुद्धिष्वपि तद्ग्रहप्रसङ्गः । सत्यं, गृहीतमेव तत् बाधकादपनीयते
यथाहुः—‘तस्मान्नोघात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता । अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैरयो-
द्यते ॥’ इति । तस्मादस्माकमिष्टप्रसञ्जनमिति चेत् । मैवम् । परतःप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।
तथाहि प्रसक्तमपि प्रामाण्यं रजतादिवुद्धिषु बाधकज्ञानादपनीयत इति वदता बाधक-
ज्ञानाभावनिवन्धनमेव प्रामाण्यावधारणमभ्युपगतं स्यात् ।

नच ज्ञप्तिस्वतस्त्वे मानमस्ति । ननु प्रमा स्वतो ज्ञायते परनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वात् ज्ञान-
वत्, तथा प्रामाण्यं स्वतो ज्ञायते अप्रामाण्येतरस्त्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववदित्य-
स्येवानुमानमिति चेत् । मैवम् । आद्यप्रयोगे परतःप्रामाण्यवादिनं प्रति हेतोरसिद्धेः
दृष्टान्ताभावाच्च । नहि पक्षीकृतां प्रमां विपक्षकुक्षिनिक्षिप्तमप्रमां च विहाय ज्ञानस्यापरा

द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । दृश्यते हि क्वचिज्ज्ञाने प्रतीतेपि प्रामाण्ये संशयः, स न
स्यात् ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेरित्यर्थः । तत्र ज्ञानप्राहकमात्रप्राह्यत्वेप्युपपन्नः संदेहः ज्ञानगततद-
र्थविशेषितत्वस्य ज्ञानप्राहकमात्रप्राह्यत्वेपि तत्र संदेहदर्शनादतः प्रशियिलनूलसर्कः हेतुश्च संबन्धिचार
इत्यौदयनं परतस्त्वानुमानं केचिद्वृष्यांबभूवुस्तत्प्रसङ्गादनुय दूषयति—**नन्वित्यादिना** । ज्ञानप्राह-
कप्राह्यत्वे समानेपि कुम्भसलिलयोभिन्नसामग्रीप्राह्यत्वात् सोदकेपि कुम्भे कुतश्चिन्निमित्तात्सलिलप्राहकसाम-
ग्रीवैकल्याद्विषयत्वोपप्लवेन संभवत्यपि तावत्संशे संशयः, इहतु न तथा किंचिदस्ति संशयकारणमिति परि-
हरति—**मैवमिति** । बाधकान्तरमाह—**किंचेति** । पूर्वमुत्पत्तिस्वतस्त्वे विभ्रमेपि तत्सत्त्वं स्यादित्युक्तं,
संप्रति ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तदुच्यत इति न जायितौ । उत्सर्गतः प्राप्तस्यापि तत्र तस्यापवादमाह स्वतःप्रामाण्य-
याधी—**सत्यमिति** । सत्यमर्थाङ्गीकारे । अनङ्गीक्रियमाणंशमाह—**बाधकादिति** । बोधात्मकत्वेन,
ज्ञानत्वादेव, शुक्तिरजतादिवुद्धेरपि प्रमाणता प्राप्ता गृहीता तथाप्यर्थान्यथात्वज्ञानैः प्रतीतार्थस्यान्यथात्वबो-
धकैः बाधकरुर्नहेतू-यदोषज्ञानहेतुर्गैतदोषज्ञानैश्चाप्यद्यते बाध्यत इति भङ्गोक्तेरर्थः, परतःप्रामाण्यमापादयन्-
निष्टतामेव समर्थयते—**मैवमिति** । प्राप्तप्रामाण्यस्यापि बाधकज्ञानादपवादे तत्सत्त्वत्वाभ्यामप्रामाण्य-
प्रामाण्यव्यवस्थेति परतःप्रामाण्यापत्तिः प्राप्रोक्तौत्यर्थः ।

ज्ञप्तिस्वतस्त्वानिहक्तिमुक्त्वा प्रमाणमपि तत्राक्षिपति—**नचेति** । रजदीपावलीयमनुमानमुद्गायति—
ननु प्रमेति । स्वतो ज्ञायत इति । ज्ञानज्ञापकमात्राज् ज्ञायते । परनिरपेक्षेति । ज्ञानसामग्रीमात्रादु-
त्पत्तत्वादित्यर्थः । परतःप्रामाण्यवादिनः परनिरपेक्षोत्पत्तित्वं प्रमाया अप्रतिदममिति दूषयति—**मैवमिति** ।
किंच प्रमाणाप्रमाणान्यां द्वैराद्यमेव ज्ञानस्य । तत्र प्रमाणवर्गः पक्षः सर्वैः इतरस्तु विपक्षः । ततो दृष्टान्तोपि

१ अर्थविशेषितत्वे । २ कार्यत्वरूपः पूर्वोक्तः परतस्त्वसापकः । प्रत्यक्षज्ञानव्यक्तया रपथे व्यभिचारः । ३ न
पुनश्चिः । ४ करणगतेत्यर्थः ।

कोटिरस्ति या दृष्टान्तपदवीमुपारोहेत् । द्वितीये च प्रयोगे प्राभाकरस्य स्वयंप्रभत्वे ज्ञानैकधर्मे, भाट्टस्य च ज्ञाततानुमेयत्वधर्मे व्यभिचारः । तयोर्ज्ञानैकधर्मत्वेपि ज्ञानप्राहकसामग्रीमात्रप्राह्यत्वाभावात् । अन्यथा तत्र वादिनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसक्तेः । ज्ञानपरतत्त्वे चानुमानं न्यायकुसुमाञ्जलावाहस्य चोदयनः । प्रामाण्यं परतो ज्ञायते अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात् अप्रामाण्यवत् । विपक्षे प्रामाण्ये संशयो न स्यात् ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेर्वाधकस्तर्कः ।

ननु नैवमनुमानमुदेति । धर्मिहेत्वोरसिद्धेः । तथाहि प्रामाण्यं प्रवृत्तिसामर्थ्यलिङ्गावगम्यं भवद्भिरुपगम्यते, तस्य च लिङ्गस्य प्रवृत्तिः प्रामाण्ये संशयपूर्विका । असंदिग्धे सिपाययिपाभावात् अनुमानाप्रावृत्तेः । तत्संशयश्च क्वचिन्निश्चयाधीन इति प्रामाण्ये संशयनिश्चययोरन्योन्याध्यादानवस्थानाद्वा नैकमैपि सिद्धयेदिति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । किं स्वार्थानुमानमसंदिग्धे न प्रवर्तते, किंवा परार्थम् । नाद्यः । सद्यःसमुन्मीलितविलोचनस्य शिखरिशिखरविपरिवर्तमानधूमलेखावलोकनसमनन्तरमप्रत्यूर्ध्वं धूमध्वजमनीपासमुन्मेपात् । नापि द्वितीयः । विपर्यस्तमपि प्रति प्रतिवादिनमनुमानप्रयोगोपगमात् । अन्यथा जल्पवितण्डयोः प्रमाणतर्काभ्यां स्वपरपक्षसाधनोपालम्भासंभवात् । 'संदिग्धे न्यायः

नास्तीत्याह—दृष्टान्तेति । अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वादिति द्वितीयानुमानेपि गुरुमतभाट्टमतयोर्ध्यायधर्मनैकान्तिकमाह—द्वितीयेचेति । ज्ञाततानुमेयं हि ज्ञानं भाट्टमते ततो ज्ञाततानुमेयत्वं नाम कश्चिज्ज्ञानस्य धर्मस्तस्मिन्नित्यर्थः । ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वधर्मं च व्यभिचारे द्रष्टव्यः । अथ किमिति तयोरपि न स्वतो ज्ञानमिति तत्राह—अन्यथेति । यदि हि ज्ञानप्राहकादेव तयोरपि ज्ञानं स्यात्तर्हि ज्ञानवदेव तयोरपि न विवादो वादिनां स्यात्, विवदन्तेचेत्यर्थः । सांशयिकत्वादित्युक्ते भागासिद्धिः स्यात् । नहि करतलस्पर्शवत्त्वादिप्रलेशे मुग्धोऽपि सदिग्धे तत उक्तम्—अनभ्यासदशायांमिति । विपक्षे बाधकस्तर्क इति संबन्धः ।

यदत्र रत्नरीपावल्यां दूषणमुक्तं तदनुवदति—ननु नैवमिति । प्रवृत्तिसामर्थ्येति । विमतमर्थाव्यभिचारे समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा ज्ञानाभास इति व्यतिरेकिणानुमानादित्यन्वयिना वा । अनभ्यासदशापक्षेषु प्रामाण्यमनुमीयते संशयाच्च प्रवृत्तिः, अनभ्यासदशापक्षेषु तु तज्जातीयत्वैलिङ्गेन इत्यभ्युपेयत इत्यर्थः । क्वचिदिर्णितस्य साधारणधर्मदर्शनाद्युपस्थापिततया संशयकोटिर्नाऽभावात् तन्निर्णयस्य च संशयसापेक्षानुमानाधीनत्वात्संशयनिर्णययोः परस्परसापेक्षत्वे परस्पराश्रयात् संशयान्तरनिर्णयान्तरापेक्षायामनवस्थानाच्च नैकमपि सिद्ध्यति, लोकसिद्धं च किञ्चिद्रूपं सर्वत्र प्रमाणतः सिद्धमभिवाञ्छते नास्ति । अतो निर्णैतप्रामाण्याभावाद्धर्म्यभावः संशयाभावाच्च हेत्वभाव इति खण्डलार्थः । अत्र विकल्पपूर्वकं संशयव्यतिरेकेणापि निश्चयमुपपादयन्धर्मिहेतुं समर्थयते—मैवमित्यादिना । शिखरी पर्वतः तस्य शिखरमग्निभागः, अप्रत्यूर्ध्वं निर्दिष्टं, धूमध्वजो बहिर्मनीपा बुद्धिः, स्वार्थानुमानं च हितसाधनैवादिज्ञानप्रामाण्यानुमानमित्यर्थः । परार्थानुमानेपि न संशयपूर्वकत्वनियमः, विपर्यस्तं प्रत्यपि प्रयोगादित्याह—विपर्यस्तमिति । जल्पवितण्डयोरिति । नहि तत्र सद्विद्वानः प्रतिवादी, यं प्रत्यनुमानं प्रयुज्येत, अपितु विपर्यस्तः । तथाचाह—वाचस्पतिः—'निश्चितौ हि वादं कुरुत' इति । वादे तु स्वत एव वाहार्थो वा संशयोस्ति नद्वितरयोरित्यर्थः । ननु 'सदिग्धे न्यायः प्रवर्तते' इति दृढवचनस्य तर्हि का गतिरित्यत आह—संदिग्धे इति । नैतत्सदेहाभावेऽनुमाननिवृत्तिपरम्, अपित्वनुमानस्थले सदेहोप्यस्तीत्यवगम्यावृत्तिपरमित्यर्थः । श्रयो-

१ सवादित्वेत्यर्थः । २ प्रामाण्ये प्रवृत्तिः प्रामाण्यानुमापकत्वमित्यर्थः । ३ पक्षदेवोरिति शेषः । ४ तत्प्रामाण्ये इत्यर्थः । ५ दोनःपुन्याभावदशायामित्यर्थः । ६ अनुमानस्येति शेषः । ७ प्रामाण्यानुमानप्रवृत्तिरिति संबन्धयोः । ८ हितसाधनैवादिविषयकज्ञानगतप्रामाण्यानुमानमित्यर्थः ।

प्रवर्तते' इति वचनस्यायोगव्यवच्छेदपरत्वात् कचित्साधकवाधकप्रमाणानुदयात्संदेहे सति न्या-
यप्रवृत्त्युपपत्तेः । नचानभ्यासदशायामिति विशेषणस्य पैयर्थ्यम् । अंसिद्धिनिवारकत्वात् । नच
व्यभिचारवारकमेव हेतोर्विशेषणमिति नियमः । चक्षुस्तैजसं रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्य-
ञ्जकत्वात्, प्रदीपवदित्यादिचिरंतनानुमानेष्वसिद्धिनिवारकाणां विशेषणानां बहुलमुपलम्भात् ।
अपिचासिद्धिनिवारणार्थेपि विशेषणोपादाने न दोषं पश्यामः, क्षित्यादिकमकर्तृकं शरीर्यज-
न्यत्वादाकाशवदित्यादाविव व्याप्यत्वासिद्धिरिति चेन्मैवम् । तत्राकर्तृकत्वे साध्ये तदेकदेश-
स्याजन्यत्वस्यैवोपाधितया विशिष्टस्य व्याप्यत्वासिद्धेः । उक्तं हि 'एकामसिद्धिं परिहरतो द्वि-
तीयाऽसिद्धिरापद्यत' इति । प्रकृते तु परतो ज्ञाने न सांशयिकत्वमुपाधिः । स्फीतालोकविप-
रिवर्तिनां परतो ज्ञायमानानामपि घटादीनां सांशयिकत्वादर्शनात् । ननु प्रामाण्यस्य परतो
ज्ञानेऽनवस्था, तत्तत्प्रामाण्यग्रहणायान्यस्यान्वस्य प्रमाणस्यापेक्षणादतः प्रतिकूलतर्कपराहतं
परतःप्रामाण्यानुमानमितिचेत् । मैवम् । मानान्तरस्यावश्यंभावनियमाभावात् ।

नच स्फुरत एव मानस्यार्थनिश्चायकत्वमन्यथाज्ञानेष्यनन्तरं संदेहापत्तेरिति वाच्यम् ।
ज्ञाततयानुमेयं ज्ञानमिति मते निलीनस्यापि ज्ञानस्यार्थनिश्चायकत्वात् । स्वयं वेदनं संवे-

गव्यावृत्तिमेवोपपादयति—**कचिदिति** । यच्च तैरेवानभ्यासदशायामिति विशेषणं व्यर्थं व्यभिचारानिवार-
कत्वादसिद्धिपरिहाराय च विशेषणप्रक्षेपायोगादित्युक्तम्, अनभ्यासदशायामित्यादिना तदनूय दूषयति—
नचानभ्यासेत्यादिना । रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्ते मनस्यनैकान्तिकता तदर्थं रूपस्यैवेत्युक्तम्, तथाचासिद्धिः । द्रव्य-
सामान्यादेरपि व्यञ्जकत्वाच्चक्षुपस्तदर्थं रूपादिषु मध्य इत्युक्तम्, यद्यपि रसाप्राहकत्वेसति रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्त
एव मनस्यपि न व्यभिचारः, तथाप्यसिद्धिपरिहारार्थमपि भवति विशेषणमिति दर्शयितुमिदं चिरन्तनैर्विशेषणं
प्रक्षिप्तमिति भावः । तदिकैमनुपपन्नो व्याप्तवचनेनैव साध्योयमर्थ इति मन्वानं प्रत्यनुपपत्त्यभावं दर्शयति—
अपिचेत्यादिना । दोषं शङ्कयति—**क्षित्यादिकमिति** । अत्र ह्यजन्यत्वादित्युक्तेऽङ्कुरादेर्जन्यत्वादसिद्धिः स्या-
त्तदर्थं शरीर्यजन्यत्वादित्युक्तम् । तदत्र यथाऽसिद्धिपरिहाराय विशेषणे कृते व्याप्यत्वासिद्धिः अजन्यत्वस्यैवाकर्तृ-
कत्वोपाधिलात्तद्दिहापि स्यादित्यर्थः । न तत्रासिद्धिपरिहारप्रयोजनविशेषणवत्त्वाद्याप्यत्वासिद्धिः । किं तर्हि त-
देकदेशस्योपाधिलक्षणात् । नचान तथा साशयिकत्वस्यैकदेशस्योपाधिलमिति परिहरति—**मैवमित्यादिना** ।
एकामसिद्धिमिति । स्वरूपासिद्धिं परिहरतो व्याप्यत्वासिद्धिरिति बौद्धाधिकारे उदयनेनोक्तमित्यर्थः । **परतो**
ज्ञायमानानामिति । ज्ञानप्राहकातिरिक्तप्राह्याणामित्यर्थः । प्रकृतानुमानस्य तर्कपराहतिं शङ्कते—**ननु**
प्रामाण्यस्येति । येन हि प्रमाणेन प्राथमिकस्य प्रामाण्यं गृह्यते तत्प्रामाण्यमपि प्रमाणान्तरेणैवसुतरापीत्या-
नवस्थेत्यर्थः । उक्तं च वाचस्पतिमिश्रे —'पर हि' तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्युपेयते अर्थक्रियानिर्भासं वा ज्ञानं तद्गो-
चरं नान्तरीयकार्यान्तरदर्शनं वा तत्सर्वं स्वयमवोचितप्रामाण्यमाकुलं सत्त्वं प्रवर्तकज्ञानं पूर्वमनाकुल्ये'दिति ।
ननु कथनवश्यंभावनियमाभावः यावता स्फुरत एव प्रमाणस्य स्वविषयनिश्चायकत्वनिश्चयमात् तदुत्तरप्रमा-
णानामपि भवितव्यमेव स्फुरणेनेति, नेत्याह—**नच स्फुरत एवेति** । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतु —
द्वाततयेति । स्वतः प्रामाण्येपि समानैवैनवस्थेत्यपि द्रष्टव्यम् । भवतु भाट्टान्प्रति अज्ञायमानप्रकाराहेतु-

१ मागासिद्धीत्यर्थः । २ तदिरिक्तसिद्धिपरिहारविशेषणस्यानुपपत्त्येव तद्विशिष्टोऽनुपपन्नोऽयमर्थ एतद्देतुरूपोऽर्थो
व्याप्तस्य हेत्वन्तरस्योपन्यासेनैव साध्य इति संबन्धः । ३ अकर्तृकत्वे साध्ये सति हेतौ उपाधित्वादित्यर्थः । ४ द-
थाऽयं घट इति ज्ञानात्परम् ५ द्वांशं प्रमा इत्यनुमितिरूपं ज्ञान घटज्ञाननिष्ठप्रामाण्यविषयकमभ्युपेयते यदाऽयं
घट इति ज्ञानोच्छरं जायमानम् अयं जलाहरणाद्यर्थक्रियाकारिणी ज्ञान पूर्वज्ञाननिष्ठप्रामाण्यविषयकम् अथवा कश्चु-
त्रीवादि रूपनान्तरीयस्य पदार्थदर्शनं तत्प्रामाण्यविषयकमिति तत्सर्वमिति अन्वयात् प्राचीनस्यार्थः । ५ प्रामाण्यस्य ज्ञान-
प्राहकसामग्रीमात्रमाश्रयत्वरूपत्वतत्त्वस्वीकारेऽपि द्वाततालिङ्गकानुमितौर्वाणमादिकायाः प्रामाण्यप्रदस्यापेक्षायामन-
वस्थेति भावः । ६ इदं भाट्टानिलस्य विशेषणम् ।

दनमिति वदतः प्राभाकरस्यापि मते प्रामाण्यस्य तद्धर्मस्य तद्गतगुणत्वादेरिव न स्वतः स्फुरणं, तस्यापि सचेदनवत्त्वयंप्रभावंत्वापत्तेः । तथात्वे चाप्रमात्प्रत्यापि स्वत एव स्फुरणप्रसङ्गात्, ततश्चाप्रामाण्यं परतः प्रतीयते इति स्वस्तिद्वान्तभङ्गप्रसङ्गः । वेदान्तिना च प्रामाण्यस्य साक्षिवेद्यत्वेन स्फुरणनियमादिदं प्रमाणमप्रमाण वेति सदेहो न भवेत् ।

नच प्रमाणं स्वत एव फलं जनयति, हानोपादानोपेक्षालक्षणस्य त्रिविधस्यापि फलस्य वस्तुज्ञानातिरिक्तगुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनपूर्वकत्वाभ्युपगमात्, तस्माद्देवान्ताः स्वत एव प्रमाणमिति न प्रामाणिकप्रतीतिपथमवतरति । अत्राभिदध्महे । न तावत्प्रमायाः स्वतस्त्वा- निरुक्तिः यतः—‘आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यजन्यता । तदन्यतः प्रमायास्तस्वतस्त्वमिति तद्विदुः’ ॥ २१ ॥ विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्व प्रमाया स्वतस्त्वं नाम । नचैतलक्षणमव्यापकम् । सर्वप्रमाणानुगमात् ।

नचाजन्यत्वादव्याप्तिरीश्वरज्ञाने । तस्याजन्यत्वेपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्त कारणजन्यत्वलक्षणविशिष्टधर्मवत्त्वाभावात् । नाप्यतिव्यापकम् । अप्रमाया विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तहेतुजन्यत्वात् । अस्ति चेह मानमनुमान तथाहि ‘प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यतः । जायते व्यतिरिक्तत्वादप्रमातः पटादिवत्’ ॥ २२ ॥ प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति अप्रमातिरिक्तत्वात् पटा-

खवादिनो व्यभिचार, स्वप्रकाशवादिन प्राभाकर प्रति कि वक्तव्यमित्याह—प्राभाकरस्यापीति । तत्र क ज्ञान गत प्रामाण्य अर्थप्रकाशनसमसमये ज्ञानेन स्फुरति स्वत एव वा । न तावज्ज्ञानेन । पूर्वमेव निरस्तत्वात् । द्वितीय निषेधति—न स्वतः स्फुरणमिति । इतो न स्वत स्फुरणमिति तत्राह—तस्यापीति । ततोपि वा किमनिष्टमिति तत्राह—तथात्वे चेति । तथाप्यपरितुष्यन्त प्रत्याह—ततश्चेति । ननु साक्षिवेद्यतिज्ञान वादिना तत्समये च साक्षिणैव प्रामाण्यमपि स्फुरतीति वदतामखण्डितैव व्यतिरिक्तत्वात् आह—वेदान्तिना चेति । तेषा सन्देहानुपपत्तिरेव बाधिकेत्वं ।

एवमुत्पत्तौ ज्ञातौ च स्वतस्त्व दूषयित्वा परतस्त्व समर्थितम्, इदानी व्यवहृतावपि तर्हुभय व्याकरोति—नच प्रमाणमिति । नच वस्तुज्ञानमात्राद्दानादयोऽपि न इष्टसाधनतादिज्ञानात्ततश्च चटज्ञानस्य साधनतादिज्ञानापी नव्यवहारजनकरव तस्य व्यवहृतौ परतस्त्वमित्यर्थ । लक्षण तावत्समर्थयते—न तावदिति । श्लोकेन रूपण सगृह्णाति—आहुरित्यादिना । यद्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदन्यत तदतिरिक्तसामग्रीतोऽज्यता प्रमाया स्तस्त्वतस्त्व प्रमास्त्वतस्त्वमिति तद्विदुः आहुरिति योजना । लक्षणवाक्य विगृणोति—विज्ञानेति । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति विज्ञानसामग्रीत्वानधिकरणजन्यत्वानधिकरणत्व स्वतस्त्वमित्यर्थ । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति परत प्रामाण्यवादिनिश्च खीक्रियत इत्यतिव्याप्तिरर्थान्तरता वा स्यात् तन्निरूप्यते तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वमित्युक्तम् ।

ननु कथं नाव्यापक यावतेश्वरज्ञानेऽन्येऽव्याप्ति विशेषणाभावादिति तत्राह—नचाजन्यत्वादिति । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तसामग्रीजन्यत्व यदप्रमाणु प्रसिद्ध तदस्वन्ताभाववत्त्व हि लक्षण एव चेश्वरज्ञानेऽस्तीति नाव्याप्तिरित्यर्थ । अत्र चाप्रमाव्यतिरिक्त सर्वे लक्ष्यसमानयोगक्षेपे, पराभिमतपरतस्त्वव्यतिरिक्तस्त्वस्य विवक्षितत्वात् । श्लोकविवरणयो प्रमापदस्य प्रकृतोपयोगमात्रनिबन्धनत्वात् । अत एव वक्ष्यमाणानुमाने पटादीना सपक्षीकरणम् । एवच सति पटादिप्यव्याप्तिपरिहारार्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वप्रमाणमिति द्रष्टव्यम् । स्पष्टार्थं वा विज्ञानप्रहणम् । प्रमायामुक्तस्त्वसत्त्वावेऽनुमानमाह श्लोकेन—प्रमेति । अत्र जायत इत्यन्ता प्रतिष्ठा, अप्रमातो व्यतिरिक्तत्वादिति हेतु । अतिरिक्तसामग्रीजन्या न भवतीत्युक्ते

१ स्वप्रकाशवैल्यर्थ । २ ज्ञाना त्रेणैल्यर्थ । ३ अर्थप्रवाशप्रामाण्यप्रकाशयारेकपालावच्छेदेनेपि शेष । ४ स्वतस्त्व परतस्त्व चेति द्वय निषेध्यतया स्यान्वतया च निरपेक्ष बोधयतीत्यर्थ । ५ जगदेवैल्यर्थ । ६ स्वसामग्रीजन्यत्वे सतीत्यनेनेव सिद्धरिति भाव ।

दिवत् । नच ज्ञानत्वानधिकरणत्वमुपाधिः । ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः । नापि ज्ञानसा-
मग्र्यजन्यत्वमुपाधिः । यज्ज्ञानसामग्रीजन्यं तज्ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्यम-
प्रमाणवदिति व्यतिरेकिव्याप्तावप्रमात्वस्यैवोपाधित्वात् । विपक्षे च विज्ञानसामग्रीमा-
त्रादेव प्रमोत्पत्तिसंभवे तदतिरिक्तस्य गुणस्य दोषाभावस्य वा कारणत्वकल्पनागौरव-
प्रसङ्गो बाधकस्तर्कः । एतेन 'प्रमा विज्ञानहेत्वरितिकहेत्वधीना कार्यत्वात्पटव'दिति योऽय-
मुदयनस्य परतस्त्वेपि प्रयोगः सोपि परास्तः । प्रमा दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या
न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति प्रतिसाधनप्रस्तत्वाच्च ।

नच प्रमात्वस्य विज्ञानसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वादप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति वाच्यम् ।
तत्र प्रयोजकाभावादेव प्रयोज्यस्याप्रसक्तेः । दोषासहकृतज्ञानसामग्रीप्रयोज्यं हि प्रमात्वं,
तत्र दोषस्यैव सद्भावात् कथं प्रमात्वस्य वर्तमानत्वसंभवावनापि समुद्भवेत्, दोषस्याप्र-
माहेतुत्वे तदभावस्य गले पादुकान्यायेन प्रमां प्रति हेतुत्वं स्यादिति चेत्, स्यादेवं यद्यन-
न्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणत्वावेदकौ स्यातां, तौ तु विरोध्यप्रमाप्रतिबन्धकत्वे-

वाधः । यत्किञ्चित्तिरिक्तसामग्रीजन्यत्वात्तदर्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सतीत्युक्तम् । तावत्युक्ते परतस्त्वेप्यु-
पपद्यमानतयार्थान्तरता तदर्थमुत्तरं विशेष्यग्रहणम् । ईश्वरज्ञाने विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तसामग्री-
जन्यत्वाभावलक्षणं साध्यमस्ति नच ज्ञानत्वानधिकरणत्वरूपोपाधिः अतः साध्याव्याप्तेरनुपाधिरित्याह—ईश्वर-
रेति । ननु तर्हि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधिः, तथाचेत्श्वरज्ञानेपि विद्यमानत्वाच्च साध्याव्याप्तिरिति तत्राह—
नापीति । नायमुपाधिर्व्यतिरेके^३ सोपाधिकतया साध्याव्यापकत्वादित्याह—यज्ज्ञानेत्यादिना । ईश्वरप्र-
मायां चाप्रमात्वस्य व्यतिरेकसिद्धिः । नचाप्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति प्रमाति-
रिक्तत्वात् पटवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । दोषान्वयव्यतिरेकबाधात्, प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या अप्रसिद्धविशेष-
णत्वाच्च । विपक्षे बाधकतर्कमाह—विपक्षे चेति । यत्तु पूर्वपक्षे परतस्त्वेनुमानमुदयनीयमुक्तं तत्रापि गौर-
वतर्कपराहत्या शङ्कितोपाधितामतिदिशति—एतेनेति । सत्यतिरिक्ततां चाह—प्रमेत्यादिना । ज्ञानहेत्व-
तिरिक्तहेतुजन्यत्वानधिकरणत्वमात्रसाधने दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम् । अतिरिक्तदोषजन्यत्वादप्रमायास्तच्चिदुत्तर्यं
दोषातिरिक्तैत्युक्तम् । दोषातिरिक्तजन्या न भवति इत्युक्ते बाधस्तदर्थमुत्तरं विशेषणम् । दोषव्यतिरिक्तज्ञान-
हेत्वतिरिक्ताजन्यत्वं दोषजन्यत्वाद्वा, ज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्यत्वाद्वा । नायः । प्रमायामुभयानभिमतं हि तन्न ।
द्वितीयेऽभीष्टसिद्धिः । नच सिद्धसाधनतानिदृश्यै प्रथमं विशेषणम् । अनधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात् ।
नचाप्रमात्वमुपाधिः । ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः ।

यत्तु स्वतस्त्वे बाधकतर्क उक्तः विज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वे ज्ञानत्ववदप्रमाणवृत्तित्वमपि स्यादिति तत्परि-
हरति—नचेति । प्रयोजकमेव दर्शयन् तदभावं दर्शयति—दोषेत्यादिना । अत्रापि पूर्वपक्षोक्तं स्मर-
यति—दोषस्येति । नान्वयव्यतिरेकमात्रकार्यकारणभावावसायः । माभूद्भूमपैङ्गुल्लयोस्तथाभावः, स्तोत्रव्य-
व्यतिरेकाविति । किलनन्यथासिद्धाभ्याम् । नचात्र तथाविधाविति परिहरति—स्यादेवमिति । प्रमोत्पत्तौ
या विरोधिन्यप्रमा तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकविषयावित्यर्थः । यथाच न प्रतिबन्धकभावस्य कारणता तथोपरितन-
वादि विचरिष्यते । यत् एवं स्वतःप्रामाण्यं तस्माद्गुणैर्भ्यो दोषाणामभाव एव परं जायते नतु प्रमाणोत्पत्तिः ।

१ दोषव्यतिरिक्तत्वं ज्ञानहेत्वतिरिक्ते विशेषणम् । तच्च गुणरूपं पर्यवस्यति । २ उपाध्यभावेन साध्याभावे साध्ये
अप्रमात्वरूपोपाधिमत्येत्यर्थः । ३ अप्रमात्वरूपसंदिग्धोपाधिमात्रमित्यर्थः । ४ ज्ञानहेत्वतिरिक्तदण्डचक्रादिजन्यत्वा-
भावस्य प्रमायां सिद्धत्वादिति भावः । ५ ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्यत्वाधिकरणत्वसामान्याभावस्य विवक्षितत्वात् । तथा
च गुणजन्यत्वाधिकरणत्वस्य वादिना स्वीकारेण न सिद्धसाधनम् । ६ पैङ्गुलं बद्धेः पीतं रूपम् ।

नोपक्षीणौ न कारणमात्रत्वमावेदयतः । तथाचाहुर्भट्टपादाः—‘तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणा-
मभावस्तदभावतः । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदित’ इति ।

नन्वेकस्यापि दोषाभावस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वं प्रमाहेतुत्वं च किं न स्यात्, एकस्यापि
संस्कारस्यानुभवनाशकत्वस्मृतिहेतुत्वयोरपि दर्शनादिति चेन्नैवम् । तत्र संस्कारस्यानु-
भवनाशकत्वेपि स्मृतेः संस्कारातिरिक्तकारणान्तरानिरूपणात् उभयहेतुताया अवश्या-
श्रयणीयत्वात् । नच तत्रापि संस्कारनाशास्मृतिः किं न स्यादितिवाच्यम् । स्मृतिसमु-
द्भव्यतिरेकेण संस्कारनाशस्यैवासंभवात्, प्रकृते तु ज्ञानसामग्रीत एव प्रमोद्धवसंभवे
दोषाभावस्यापि तद्धेतुत्वकल्पना निष्प्रामाणिका, तस्यात्प्रमा विज्ञानसामग्रीमात्रादेव
जायत इति सिद्धम् । तथा प्रमाज्ञप्तिरपि विज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव । नच तथात्वे
विज्ञान इव प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयानुद्दयप्रसङ्गः । स्वतःप्रमाणत्वेन भवद्भिमत्-
धर्मिज्ञानेऽनुव्यवसाये च स्फुरत्यपि सुगतमतानुसारिणामप्रमाणमेवेति विपर्ययदर्शनात्,
स्वतःप्रमाणत्वेन भवद्भीकृतानुमित्यादावपि ज्ञायमानायां चार्वाकस्य प्रामाण्ये विप्रति-
पत्त्युपलब्धेः । स्वरूपभेदवादिनां च गृह्यमाणेषु स्थानोः स्वरूपे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति
संदेहस्य पुरुष एवेति विपर्ययस्य चोपलम्भात्, सत्यपि प्रतिभासपुष्कलकारणे प्रतिबन्ध-

ननु तर्हि दोषाभावादेव भवतु प्रामाण्यं तथापि सैव परत प्रामाण्यपिशाचिका विशेषेति तत्राह—तदभावत
इति । दोषाभावादप्रामाण्यद्वयस्य मिथ्यात्वसंशयत्वलक्षणस्यासत्त्वमेव जायते, अनुत्पत्तिलक्षणप्रामाण्यसा-
नायभावतया दोषादुत्पत्त्यसंभवेन तदभावेनाभावस्याप्यसंभवात् तेन कारणेनोत्सर्गो ज्ञानसामग्रीमात्रप्रयुक्त
स्वलक्षणोऽनपोदित अपोदितो न भवतीति भट्टवार्तिकार्थं ।

भवतु दोषाभावस्य विरोधिप्रतिबन्धकत्वं, तथापि किमायातं प्रमानुत्पादकत्वे, नहि संस्कारस्य स्वजनक
नुभवविनाशकत्वमित्येतावता स्मृतिं प्रति हेतुत्वमपनीयत इत्याशङ्क्य वैवम्येण परिहरति—नन्वित्यादिना ।
ननु किमिति तत्र कारणान्तरानिरूपणं यावता संस्कारनाश एव स्मृतिकारणं भवत्विति । नेत्याह—नच
तत्रापीति । नित्यद्वयेषु गुणनाशस्य गुणान्तरोत्पादनियतत्वादिति भावः । एव तत्रानन्यगतिकत्वमुक्त्वा
प्रकृते तदभावमाह—प्रकृतेत्विति । एतेनाप्रामाण्ये दोषाणामन्यथासिद्धिरुद्दयनापादितापोदिता । तत्र
हेलन्तराभावादभावहेतुताया निरस्तत्वादिति । नच सामर्थ्यैक्ये ज्ञानप्रमालक्षणकार्यभेदानुपपत्तिर्वाचिका ।
एकस्मादप्यभिसंयोगात्पार्थिवपरमाणौ रूपरसगन्धसौदाहादीना वह्नानामङ्गीकारात् । प्रागर्थाभेदस्य च
तदभौवे कार्यभावलक्षणव्यतिरेकाभावादकारणत्वात् । उत्पत्तिस्वतस्त्वमुपसंहृत्य शक्तिस्वतस्त्वमपि निर्विक-
तथा प्रमेति । यत्तत्राप्युक्त विज्ञानप्रादकसाक्षिमात्रप्राच्यत्वेन प्रामाण्यस्य संदेहो न स्यात् ज्ञानवदेव निर्णीत
त्वादिति तत्परिहरति—नचेति । तथाहि भवता धर्मिमात्रज्ञान स्वत एव प्रमाण, सर्वं ज्ञान धर्मिण्यप्रान्तो
मिति स्वीकारात् । तथातुव्यवसायज्ञानप्रामाण्यमपि तत्तज्ज्ञानस्फुरणसमय एव स्फुरति तथापि तत्र बौद्धान
धर्मधर्मिभावाद्यपलापाय र्हेद्दिष्टारोपवादिना स्वप्रकाशज्ञानरुचीनामप्रामाण्यमुद्ध्या विपर्ययसः । तथातुमित्युप-
मित्योश्च भवद्भिमत्तत्त्वाभाविकमानभावयोश्चार्थीकवैशेषिकयोर्विपर्ययसः । यथावा प्राभाकरार्कवन्धुप्रयुक्तीनां
स्वरूपभेदवैदिनां स्वरूपे स्फुरत्यपि भेदाप्रहात् संदेहविपर्ययो तथात्रापि किं न स्यातामित्यर्थः । समाधान-
सान्ध्यं दर्शयितुं तन्मुखेनैव समाधानमुद्गाहयति—सत्यपीत्यादिना । प्रतिभासस्य पुष्कलकारणे तस्यपि

१ गुणाभावेनेति भावः । २ प्रामाण्यप्रागभावस्य कारणत्वमाश्लेष्य प्रामाण्योत्पत्तौ परतस्त्वमापादित परिहरति ।
प्रागभावभेदस्य प्रागभावविशेषत्वत्वर्थः । ३ प्रागभावभावात् । ४ अनेन धर्मिज्ञानस्य अन्तर्त्वं स्वप्रकाशस्यापिम-
वात्तयेन चानुभवसायस्य तत्र बोधितम् । ५ स्थाणोः स्वरूपमेव स्थाणो पुरुषस्य भेद इति वादिनामित्यर्थः ।

कदोपादिसमवधानात्तत्र तत्र संशयविपर्यासयोरुपपत्तौ प्रकृतेपि समं समाधानमन्यत्रा-
भिनिवेशात् । नच ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यग्रहणे मिथ्यारजतादियुद्धिषु प्रामाण्यग्रह-
णप्रसङ्गः । प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्य कारणदोषावगमबाधबोधोधाभ्यामपनयात् ।
नच ताभ्यामपनये तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहणहेतुत्वोपपत्तौ परतःप्रामाण्यापत्तिरिति
वाच्यम् । दोषबाधबोधयोरनुदयमात्रेण प्रामाण्यस्फुरणोत्तीकरणात् ।

तथाचाहुर्भट्टपादाः—‘यदा स्वतःप्रमाणत्वं तदान्यत्रैव मृग्यते ॥ निवर्तते हि
मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयन्नत’ इति । अन्यथा तद्भावावगमस्यापि प्रामाण्यस्फुरणहेतुत्वेन
तद्भावावगमस्यापि प्रामाण्यावगमाय तत्तद्भावावगमान्तराणामप्यवश्याश्रयणीयत्वा-
दनवस्था, तथाचानभ्यासदशायां सांशयिकत्वादिति हेतोः स्पष्टमनैकान्तिकत्वम् । स्वतः-
प्रमाणत्वेन भवदभिमतेष्वेवानुमानोपमानानुव्यवसायधर्म्यध्यवसायेषु व्यभिचारस्य
दर्शितत्वात् । उक्तं चैतदनुमानादेः स्वतःप्रामाण्यमाचार्यवाचस्पतिना न्यायवार्तिक-
टीकायाम् । ‘विमतं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् यदि पुनरेवं नाम-

प्रवलप्रतिबन्धकवशात् तत्र तत्र सशयाद्युत्तिरत्रापि समानेत्यर्थः । यत्तु ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तेन बाधकमुक्तं तत्प-
रिहरति—नचेति । हेतुमाह—प्रसक्तस्यापीति । ननु कारणदोषज्ञानबाधकज्ञानाभ्यां चेतप्रसक्तस्यापि
प्रामाण्यग्रहणस्यापनयस्त्वाद् तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुत्वं स्यादिति युक्तमिति तत्राह—नच ताभ्या-
मिति । न वयनप्रामाण्यज्ञाने कारणदोषज्ञानबाधकज्ञानवदप्रामाण्यावगमे तयोरभावज्ञानं कारणनाश्रयामहे,
अपि तु तज्ज्ञानानुदयमात्रं, तेन न परतःप्रामाण्यापत्तिरित्यर्थः । उत्तीकरणं स्वीकारः ।

दोषाभावादिज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुताऽभावं भट्टाचार्यवचनेन द्रवयति—तथाचाहुरिति । यदा स्वतः-
प्रमाणत्वमस्याश्रीयते तदान्यज्ज्ञानप्राहकतिरिक्तं नैव मृग्यते । ननु दोषाभावज्ञानमतिरिक्तं मृग्यत इति
तत्राह—निवर्तत इति । दोषज्ञानानुदयमात्रात् अयन्नतो मिथ्यात्वशङ्का निवर्तत इत्यर्थः । नच दोषज्ञा-
नानुदयमादायैव परतस्त्वापत्तिरिति वचनीयम् । विरोधियुद्धयप्रतिबन्धकतयैव कृतसमाधानत्वात् । दोषा-
भावावगमस्यापि प्रामाण्यहेतुत्वेऽनवस्थाबाधकमाह—अन्यथेति । येन हि दोषाभावज्ञानेनाद्यस्य प्रामाण्य-
मवगम्यते तत्प्रामाण्यावगमार्थमपि दोषाभावज्ञानान्तरं गवेषणीयं एवंकारमुपर्यपीत्यनवस्थेत्यर्थः । यत्तु
ज्ञप्तिपरतस्त्वेऽनुमानमुदयनीयं तत्राप्युक्तं दूषणमतिदिशति—तथाचेति । तथाचेत्येतदेवोद्घाटयति—
स्वतःप्रमाणत्वेनेति । ननु यद्यनुमानादि स्वतःप्रमाणमिति परैरङ्गीकृतं स्यात् स्यादयं मनोरथस्त्वेव तु
कुत इति तत्राह—उक्तं चैतदिति । प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति प्रथमभाष्यव्याख्यानवसर इति शेषः—
समर्थप्रवृत्तीति । फेलाभिसन्धिप्रवृत्तिजनकत्वादित्यर्थः । व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—यदि पुनरेव-
मिति । अभिष्यदिति च क्रियातिपत्तौ लृङो रूपम् । अत्र चोपेक्षाज्ञानाना पक्षत्वेनानुपादानात् भागा-
त्किञ्चिद्विद्विः । व्यतिरेकी सर्वत्र सपक्षाभावमभ्युपेक्ष्य वर्तत इति नैसाधारणनैकान्तिकता । ननु नास्त्वेव वाची
यः प्रामाण्यनिश्चये विप्रतिपद्येत । नहि प्रामाण्यं स्वीकृत्य तन्निश्चये विप्रतिपत्तिः । स्वीकारस्य निश्चयमूलत्वात् ।
नाप्यस्वीकृत्य । प्रमाणशून्यविप्रतिपत्तेः सर्वत्र सुलभतया सर्वैवादविधिनिषेधप्रसङ्गात् । अनिश्चिते तु प्रामाण्ये
तद्वैतद्रूपसंदेहोपि क्वचिदुल्लेखः । विशेषस्मृतेरभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्च सशयानाम् । नापि सर्वत्रैवाप्रामाण्यप्रस-
ङ्गानम् । प्रामाण्यग्रहणोपायनिराकरणस्याप्रामाण्येऽपि तुल्यत्वात्तदस्य प्रामाण्यादिकं तन्निश्चयश्च, तदुपायस्त्वचि-

१ फेलेनाभिसन्धिपरिमिसबन्धो यस्याः सेति प्रवृत्तिविशेषणम् । सफलैति यावत् । २ सपक्षस्य सत्त्वे हेतोस्ततो
व्यावृत्तौ असाधारणानैकान्तिकता । व्यतिरेकिणि तु सपक्ष एव नास्तीति भावः । ३ प्रामाण्याप्रामाण्यसंदेहः ।
४ प्रामाण्यानिश्चये इति शेषः । ५ प्रामाण्ये स्वतस्त्ववदप्रामाण्येऽपि तत्स्वीकृत्यवारणसंभवात्तत्तदनुदयप्रसंदेहाना-
पत्तिरेव दोषः । ६ प्रामाण्यनिश्चयोपायस्तस्माद् विचारमर्तव्येत्यर्थः ।

विषयत्र समर्थी प्रवृत्तिमकरिष्यन् यथा प्रमाणाभास' इति व्यतिरेकी । अन्वयव्यतिरेकी वा । 'अनुमानस्य स्वतःप्रमाणतया अन्यस्यापि सभवात् । तथानुमानस्य तु परितो निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यम् । अनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्पत्त्वात् । एतेनोपमानं व्याख्यातम्' इत्यादि । सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्च । विवादस्थले प्रमात्वं विज्ञानप्राहृ-सामग्रीमात्रप्राहृं अप्रमामात्रवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ज्ञानैकवृत्तिजातिरानुमानत्ववत् ।

ननु कथं प्रमात्वं जातिः साक्षात्कारित्वेन तस्य परापरभावासभवात् । तथाहि यदि साक्षात्कारित्वं परं तदा तदपरसामान्यस्य प्रमात्वस्य परसामान्याविनाभावनियमात्सर्वेण प्रमा साक्षात्कारिण्येवेत्यनुमानादेः परोक्षस्याप्रमात्वमेव भवेत् । अथापर तदा साक्षात्कारित्वस्य प्रमात्वाविनाभावादिदं रजतमित्यादिसाक्षात्कारिणो विभ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गः । किञ्च यदि प्रमात्व जातिस्तदा सर्वं ज्ञान धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इत्येषा परिभाषा परिलुप्येत । एकस्यैवेदं रजतमिति ज्ञानस्य धर्म्यं प्रमात्वमप्रमात्व चेतुराशे इति जातिसङ्करप्रसङ्गादिति चेत् मैवम् । साक्षात्कारित्वस्य रजतादिविभ्र-

न्तामर्हति । एवञ्चान्वयोस्त्येव तत्कथं केवलव्यतिरेकीत्याशङ्क्य सप्रयुतरमाह—अन्वयव्यतिरेकीति । नन्वनुमानमेव कथं स्वतः प्रमाणं यदुष्टान्तादन्वयित्वमित्याशङ्क्य तत्रापि तथैवमेव ग्रन्थं पठति—तथानुमानस्येति । परितः सर्वप्रकारेण निरस्ता समस्तविभ्रमाशङ्का यसेति विग्रहः । अनुमेयेनाप्यादिना यद्विद्वन्मव्यभिचारि तेनोत्पन्नत्वात् । प्रत्यक्षज्ञानं अर्थादुत्पन्नमानमपि न गृहीताव्यभिचारादुत्पद्यते अपितु सत्तात्प्राप्तेणावस्थितादेव । एवमिन्द्रियादीन्यपि न गृहीताव्यभिचारीणि, व्यभिचारीणि वा अर्थेन, ज्ञानज्ञानं तु नाथोदुत्पन्नं नच शब्दस्यार्थाव्यभिचारस्तस्माच्च तयोः स्वतोऽव्यभिचारग्रहणमिति । प्रवृत्तिसामर्थ्यं तज्जातीयत्वं वा अर्थाव्यभिचारयानुसरणीयम् । अनुमानोपमानानुव्यवसायधर्मिज्ञानानां धर्मिज्ञाने स्वत एव तत्, व्याप्तिरक्षधर्मत्वप्राहृकेणैवानुमाने, कारणत स्वरूपतश्च व्यभिचाराशङ्कानिरासात्, उपमानेऽप्यतिदेशवाक्यसाहचर्यज्ञानयोः प्रामाण्यावधारणेन तन्निरासादनुव्यवसायेऽप्यज्ञानानुव्यवसायादित्यर्थः । एवमेवैकान्तिकतामुक्त्वा सत्प्रतिपक्षतामप्याह—सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्चेति । विवादस्थले इति । अनुमित्यादिव्यतिरेकस्य इत्यर्थः । इतरथाशतं सिद्धसाधनतापातादिति, परतः प्रामाण्यवादिनोऽर्थान्तरैतानि वृत्त्यै मानग्रहणम् । गुणत्वादिव्यभिचारवारणाय ज्ञानैकवृत्तीयुक्तम् । अप्रमात्वसशयत्वादिव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमप्रमावृत्तित्वानधिकरणेत्युक्तम् । साधनवैकल्यनिवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम् । प्रमामानवर्तिना प्रमान्यान्यत्वादिना व्यभिचारनिवृत्त्यर्थं जातिग्रहणम् । तस्यान्योन्याभावत्वेन प्रतियोगिज्ञानापेक्षत्वेन विवक्षितत्वात् ।

उदयनीया विशेष्यासिद्धिं शङ्कते—ननु कथमिति । साक्षात्कारित्वमप्रमात्वयोः परापरभावाभाव स एवापवादयति—तथाहीत्यादिना । अत्र साक्षात्कारित्वं एकं परं व्यापकं प्रमात्वमपरं व्याप्यमिति मतं विपरितं वा । नाथ इत्याह—यदीति । साक्षात्कारित्वव्याप्यत्वे प्रमात्वस्य तदहितेषु परोक्षेष्वनुमानादिषु प्रमात्व न स्यादस्ति च तदतो न व्याप्यमित्यर्थः । द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—अथापरमित्यादिना । यदि हि साक्षात्कारित्वं प्रमात्वावान्तरजातिस्तदा तदहितेषु विभ्रमेषु साक्षात्कारित्वं न स्यादिति स्यात्तर्हि तद्व्यापकं प्रमात्वमपि स्यादित्यर्थः । ततः परापरभावशयवोरैकत्र वृत्तौ सङ्करः स्यात्स च जातिवाचकं यथा वक्ष्यति—सङ्कर इति । सङ्करान्तरमाह—किञ्चेति । यदि प्रमात्व जातिस्ततो जातिसङ्करपरिहाराय विभ्रमेष्वपरमात्वाधिकरणेषु सा नेष्टव्या, ततश्च सर्वज्ञानानां धर्म्यं प्रामाण्यं प्रकारे रजतादौ विपर्यय इति यौक्तिकपरिभाषा निरर्थका स्यादित्यर्थः । साक्षात्कारित्वमपरं प्रमात्व परं, विभ्रमेषु न साक्षात्कारित्वं व्यवहारस्तु औपैयधिकस्ततो न जातिसङ्कर इति परिहरति—मैवमिति । प्रमान्याप्रमात्वसङ्करं परिहरति—धर्म्यंश इति ।

१ प्रमाणत्वेन निश्चितोऽनुमानादिरेवा वयदुष्टान्तः । २ परतस्वपि वृत्त्यै इति कथितम् । ३ परिद्वयकं वक्तव्यं-पाणिनिमिच्छक ।

मावृत्तित्वात् । तत्रतद्व्यवहारस्येन्द्रियसंप्रयोगजन्यतोपाधिमात्रेणोपपत्तेः, धर्मवैशेष्ये प्रमाव्यवहारस्य चावाधितानुभूतित्वोपाधिनिबन्धनतयापि संभवात् ।

नचैवं सर्वत्रोपाधिनिबन्धन एवास्तु प्रमाव्यवहारः कृतं जातिकल्पनयेति वाच्यम् । प्रमिणोमीत्यवाधितानुगतव्यवहारस्य गौर्गौरिति व्यवहारस्येव जातिमन्तरेणानुपपत्तेः । उपाधि-

नचावाधितानुभूतित्वसंभवे तद्व्याख्या जातिरपि तत्र भवेदिति वाच्यम् । प्रसाधने सङ्करवाधात्, प्रसङ्गने विपर्ययपर्यवसानात् । न तौघदिदं प्रयोजकं मीमांसकानां यथाह सूत्रकारः—'अर्थेऽनुपलब्धे तत्रप्रमाण'-मिति । तथा तद्भाष्यकारोपि—'असन्निकृष्टेऽर्थे ज्ञान'मिति । संशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानानि स्वतदतिरिक्तवृत्तित्वानधिकरणजातिमन्ति जातिमत्त्वासंप्रतिर्षन्नवदिति च प्रमात्वजातावनुमानम् । अत्र चैतदवसेयम् । परसिद्धान्तमात्रिस्तैवं जातिसङ्करपरिहार इति । यतो 'विज्ञानत्वमधिष्ठानधियामारोपितेषु यत् । अविद्यापरिणामत्वाद्भिज्ञानाभासता मता ॥ तेन यत्तत्र विज्ञानं तत्रप्रमाणमुपेयते । अप्रमाणं न विज्ञानं तत्क सङ्करसंभवः' ॥

ननु तर्हि सर्वमेव ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं च ज्ञानाभास इति ज्ञानस्य परतोऽप्रामाण्यमिति वचसः कोऽर्थः न कोपि । विज्ञानं परतः प्रमाणं अपि तु स्वत इत्येतावदुपपादनीयम्, अथवा अप्रामाण्यं परत इत्यस्यैवायं पर्यवसितोऽर्थः यद्विज्ञानव्यतिरिक्तसमवायप्रामाण्यमिति । सामग्रीभेदस्य कार्यभेदनियमात् अप्रमायाश्च ज्ञानविशेषत्वस्यासिद्धेरिति । नच सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेऽस्मात्प्रमातापातः, अविद्यापरिणामरूपप्रमारोप्ययोरङ्गीकारेण ततो विशेषादिति । नचैकत्रोपाधिनिबन्धनधेतुप्रामाण्यव्यवहारः सर्वत्र तन्निबन्धन एव भवतु किमिच्छार्थजरतीयं कल्प्यत इति तत्राह—**नचैवमिति** । तत्र किं कल्पकं नास्तीत्युच्यते, अन्यथासिद्धिर्वा । प्रथमे प्राह—**प्रमिणोमीति** । एष ह्युत्तरः यदनुवृत्तव्यवहारस्यानुवृत्तालम्बनमिति तत्रैकत्रयमिदुःसंपादं तदाऽण्वस्यैवाश्रयते साधारणशब्दता यथाक्षाक्षीनाम् । संभवति चेहानुवृत्तोऽर्थः तत्रापि वक्ष्यमाणवाघात्तत्त्वाभावे जातित्वमेवेति भावः । द्वितीये प्राह—**उपाधीति** । यदि हि संभवेऽप्युपाधिना जातिप्रत्याख्यानं तदा गोलादिव्यप्यनाश्वसः स्यात् तत्तद्व्यञ्जकस्यैवोपाधेः संभवादित्यभिप्रायः । ननु तर्हि पाचकादावपि किमिति जातिर्न कल्प्यते अस्ति हि अनुवृत्तप्रत्यय इति तत्राह—**तस्मादिति** । यत्रैकैव व्यक्तिः यथाकाशत्वादी न तत्र जातित्वकल्पना । अनुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वाभावात्, अनेकसमवेतत्वाभावाच्च । तस्य च तद्व्यञ्जकत्वात् । तथा यत्र तुल्यव्यक्तित्वं यथा कुम्भत्वकलशत्वयोः न तत्रोभयोर्जातित्वं एकैवानुगतव्यवहारसिद्धेः, इतरथा पर्यायत्वविलयप्रसङ्गात् । तथा यत्र सङ्करप्रसक्तिः परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र स्थितिर्यथा दण्डित्वकुण्डलित्वयोस्तत्रापि न जातित्वम् । प्रथममस्य दूषणत्वं श्युः । परस्परपरिहारेणैव वर्तमानतयावधृतस्वभावयोरेकत्र प्रतीतिरुपपद्यमाना माता मे धन्व्येतिवत्तद्विरुद्धार्थविषयतया अप्रमाणीभवतीति प्रमाणाभावादेव तदैवभावः परस्परपरिहारेण वर्तमानयोः सामान्ययोरेकत्र समावेशे तदतज्जातीयविरोधोच्छेदापत्तिश्चेति, तथा यत्रानवस्थाप्रसक्तिः यथा सर्पयोः सत्तास्त्रीकारे तत्रापि न जातिकल्पना यत्र रूपहानिप्रसक्तिरागन्तुर्नैवादिनाऽनिलत्वहानादिना यथा पाचकत्वादी

१ अवाधितानुभूतित्वस्य प्रामाण्यानुमापकत्वे । २ अवाधितानुभूतित्वेनानुपपद्यमानेन प्रामाण्यज्ञानेऽर्थोपत्तिरूपे स्वीक्रियमाणे तस्य ज्ञानस्य निपर्ययरूपत्वपर्यवसानादित्यर्थः । ३ अवाधितानुभूतित्वं न प्रामाण्यप्रयोजकं किन्तु अनुपलब्धार्थविषयकत्वादिरूपं सूत्रकाराद्युक्तमेवेति भावः । ४ तदितिवाक्यमित्यर्थः । ५ ज्ञानमिति करणे श्युः । ६ घटादिवदित्यर्थः । ७ शुक्लाविदं रजतमिल्लादिभ्रमस्वलेऽधिष्ठानज्ञानस्य विज्ञानत्वं रजतपुद्गेरु अविद्यापरिणामत्वाद्भिज्ञानाभासता मता । तेन भ्रमस्यले यदधिष्ठानविषयकज्ञानं तत्रप्रमाणमुपेयते । आरोप्याकाराविद्यावृत्तित्वात् विज्ञानं तस्मात्क संकरसमव इति योजना । ८ नूतननैयायिकाभिमतं संकरलक्षणमुदाहरणं चोपत्वा चिरन्तनवृत्तकलक्षणं तदूषकताबीजं चाह । ९ संकीर्णवोर्जातित्वाभावः । यथा नरसिद्धे नरत्वसिद्धत्वरूपं जातिद्वयं नास्ति किन्तु नरसिद्धत्वरूपं जालन्तरमेवेति भावः । अस्मिन् मते नरत्वसिद्धत्वजालोः संकर आश्रयभेदाभावापत्तिरूपः । १० वस्तुतो भेदं युक्तं व्यक्तेरभेद इत्यनेन गतार्थत्वात् । किन्तु निरिच्छलजातिव्येकं वैजाल्यं स्वीकृत्य तदैवात्यतदाश्रयजातिपु पुनर्नैवात्यभेदमधिपीतिरित्यनवस्था । ११ आगन्तुकत्वप्रयुक्तानिलत्वज्ञानं पाचकत्वादी स्वतोव्यावर्तकत्वज्ञानं विशेषेषु इति विवेकः ।

मादाय जातिप्रत्याख्यानस्य गोत्वादिष्वपि तुल्यत्वात्, तस्माद्यत्र 'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकोऽ-
थानवस्थितिः । रूपहानिरसंबन्धो जातिवाधकसंग्रह' इत्युक्तवाधकानामन्यतमोपि वाधको न
प्रसरति, तत्र जातिनिमित्तो व्यवहार इतरत्र तूपाधिनिबन्धन इति विभागो द्रष्टव्यः ।

तस्माद्ज्ञानैकनिष्ठजातित्वादिति न विशेष्यासिद्धो हेतुः, विपक्षे चानवस्थाप्रसङ्गो वाधक-
स्तर्कः । नच निलीनस्यैव प्रमाणस्यार्थे व्यवहारजनकत्वोपपत्तेर्नानवस्थेति वाच्यम् । तथा-
त्वनिश्चायकप्रमाणानुदये तदस्तित्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात् । अस्तु तर्हि ज्ञानस्य स्वत-
एव स्फुरणं तथापि तत्प्रामाण्यं तद्गतगुणत्वादिवदन्यत एव स्फुरिष्यति को विरोध इति
चेत् । मैवम् । तस्यादित एव प्रमाणत्वेनास्फुरणे तद्विषये निःशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नहि
ज्ञातमित्येतावता प्रवृत्तिः । मरुमरीचिकादौ सत्यपि विज्ञाने तदप्रामाण्यनिश्चये प्रवृत्त्य-
दर्शनात् । अस्तु तर्हि प्रामाण्यास्फुरणे प्रामाण्यस्फुरणमन्तरेणापि ज्ञानमात्रात्प्रवृत्तिरि-
तिचेन्मैवम् । विज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ययोरस्फुरणे संशयान्निःशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । अस्ति
चानभ्यासदशायां नववनस्थलीस्थितेषु फलितरसालादिषु तत्फलादानेच्छोर्निःशङ्कप्रवृत्तिः ।
अपिच त्वयापि पारलौकिकफलसाधनेषु निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनाभ्युपगता ।
नच कृप्यादौ संशयेपि प्रवृत्तिर्दृष्टेति वाच्यम् । तत्र निःशङ्कप्रवृत्तेरभावात् ।

एवंच यत्र यत्र निःशङ्कप्रवृत्तिः तत्र तत्र प्रामाण्यनिश्चयाधीनैव सेत्यभ्युपगन्तव्य-
मपरथा प्रामाण्यानिश्चयान्वृत्तेरपि प्रसङ्गात् । नच फलेपि परतस्त्वम् । ज्ञेयाभिन्वयकि-

यथा वा विशेषेषु तत्रापि न जातिकल्पना यत्र जातिकल्पनायां व्यक्त्या सह संबन्धाभावः यथा समवाये जाति-
कल्पनायां समवायाभावात् जातिव्यत्ययोश्च तन्नियमात्र तत्रापि जातिरिति किरणावलीकारसंगृहीतजातिवाचकानां
अन्यतमस्यापि यत्राभावस्तत्र जातिव्यतिरत्रोपाधिव्यतिरिति खण्डलायः ।

प्रमात्वजातिसमर्थनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयितुमुपसंहरति—तस्मादिति । ज्ञप्तिपरतरुवे वाधकमाह—
विपक्षे चेति । पूर्वपक्ष्याशयमनूय ह्ययति—नचेत्यादिना । ननु भवतु तदस्तित्वलोभाज्ज्ञानस्य स्वत-
स्फुरणं, प्रामाण्यं तु किमिति न परतःस्फुरतीति प्राभाकरं प्रति पूर्वोक्तं स्मारयति पूर्वपक्षी—अस्तु तर्हिाति ।
अर्थे तु निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रथमतः प्रमाणतया स्फुरण एव घटते नैतरथेति परिहरति—मैवं तस्यादित इति ।
तद्विषये तस्य ज्ञानस्य विषय इत्यर्थः । एतदेव विपक्षे वाधकेन विवृणोति—नहीति । मरुभूमिषु मरीचिक-
मरुमरीचिकाः । नन्वप्रामाण्यस्फुरणादेव तत्र प्रवृत्त्यभावः न प्रामाण्यास्फुरणात्, प्रामाण्यास्फुरणेपि प्रवृत्तिर्घटते
इति प्रस्तुतं तर्कि केन संगतमिति शङ्कते—अस्तु तर्हिाति । प्रामाण्यास्फुरणे न निःशङ्कप्रवृत्तिरुपपत्तेति
परिहरति—मैवं विज्ञानस्येति । ननु ज्ञानोदयसमसमयमेव निःशङ्कप्रवृत्तिः क्व दृष्टा यद्बलादिदं साध्यत
इति तत्राह—अस्ति चेति । रसाल आम्रः । अपिच त्वयापि पारलौकिकसाधनेषु ईदृशलौकिकेषु अनभ्यास-
दशापक्षेषु च निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेति स्वीकृता तत्साम्यात्सर्वेनिःशङ्कप्रवृत्तिस्थलेषु दान्यं
प्रामाण्यनिश्चयाधीनत्वमनुमातुमित्यभिप्रेत्याह—अपिच त्वयेति । ननु संशयादपि निःशङ्कप्रवृत्तिः कृप्यादौ
दृष्टा इति सव्यभिचार इति तत्राह—नच कृप्यादाविति ।

एवं पारलौकिकेषु निःशङ्कप्रवृत्तेर्निर्णयपूर्वकत्वस्य च व्याप्तिनिश्चयात् सर्वत्रैवं शायानुमानमित्याह—एवंच
यत्र यत्रेति । यदि च संशयात्प्रवृत्तिस्तदा संशयस्य 'कोटिद्वयसमानत्वात्प्रवृत्तिविवृत्तिरपि स्यात् । नच
नर्षेजत्वाद्ब्रह्मस्यम् । वैधर्म्यमात्रत्वात् । अथाप्रामाण्यानिश्चयात् निवृत्तिः, प्रामाण्यानिश्चयात् प्रवृत्तिरित्यपि

१ प्रामाण्येत्यर्थः । २ घेरेति पाठो भाति । ३ प्रामाण्येत्यादिः । ४ प्रवृत्तेर्नोत्पाद्यत्वं प्रागभावरूपाया नि-
वृत्तेस्तु नाशजत्वमिति वैषम्यमित्यर्थः ।

लक्षणफलस्य ज्ञानमात्रादेव सिद्धेः । उपादानादीनां पुनरिष्टसाधनादिज्ञानाधीनतया तद्विपर्ययप्रमाणस्य तत्रापि फलजनकत्वं स्वत एव । तस्मादवधीर्नैव गुणगणमनपेक्षैव दोषाभावं स्वशक्त्यैव स्वार्थभावेदयन्ति वेदान्ता इति सिद्धम् ।

ननु स्वरूपसहकारिसमवधानातिरिक्तां शक्तिमेव न जानीमः, तत्र प्रमाणाभावात् । तथाहि स्फोटादिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्तिस्तत्र प्रमाणमुत्पादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिः । नाद्यः । स्वरूपादेव पावकादेः प्रतिबन्धकाभावादि सहकार्युपवृंहितात् स्फोटादिलक्षणकार्योत्पत्त्युपपत्तावतीन्द्रियशक्तिकल्पनानुपपत्तेः । नचाभावस्याकारणत्वात्प्रतिबन्धकाभावो न सहकापीति सांप्रतम् । किमन्वयव्यतिरेकित्वं नास्त्युताभावस्य कारणत्वेऽनिष्टप्रसक्तिः । नाद्यः । भावचदभावस्यापि कार्यान्वयव्यतिरेकित्वात् । न द्वितीयः । योगानुपलब्धेर्भावप्रमितिहेतुत्वात्, विवेकाग्रहस्य च विभ्रमहेतुत्वात् ।

पश्य, तस्मान्निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनवैलम्बिप्रेत्याह—अपरथेति । यद्वा कुसुमाञ्जलावुदयनेन झटिति प्रचुरसमर्थप्रवृत्तेः स्वतः प्रामाण्यानधीनतामुपपादयतोक्तं 'झटिति प्रवृत्तिर्हीन्याद्युपक्रम्य 'इच्छा च प्रवृत्तेः कारणं सा च समीहितोपायताज्ञानमपेक्षते तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवं सोऽपीन्द्रियसन्निकर्पात्, प्रामाण्यग्रहणं तु न केनाप्यंशेनोपयुज्यते उपयोगेपि वा स्वत इति कुत एतदिति, तदपि तस्करस्य पुरतः कक्षे सुवर्णमपलपतः सर्वाङ्गोद्घाटनमिव, यतः समीहितसाधनताज्ञानमेव प्रमाणतयावगम्यमानमिच्छा जनयति' इत्यत्रैव स्फुटः स्वतः प्रामाण्योपयोगः । किञ्च क्वचिदपि चेत् निःशङ्कसमर्थप्रवृत्तिः सशयादुपपद्यते तर्हि सर्वत्रैवं तथाभावसंभवात् प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः । अनिश्चितस्य सत्त्वमेव दुर्लभमिति प्रामाण्यस्य जलाञ्जलिरेवं वदतः स्यादिति । एवमुत्पत्तौ ज्ञातौ च स्वतस्त्वमुपपाद्य व्यवहृतौ स्वतस्त्वमुपपादयति—नच फलेपीति । यदि तावज्ज्ञानानां शेषामिष्यक्तिः फलं यथाहुः—'हेयामिष्यक्तितो यस्माच्च ज्ञानात्फलान्तर...मिष्यते' इति । तच्च फलं ज्ञानमात्रादेव न पुनरन्यनिबन्धनमित्यर्थः । अथोपादानाद्येव सर्वत्र फलं विज्ञानस्य, तच्चेष्टसाधनादिज्ञानाधीनमिति परतस्त्वं पुरस्तादेव वर्णितमिति तत्राह—उपादानादीनामिति । न वस्तुमात्रज्ञानफलमुपादानादि अपितु गुणदोषमाध्यत्यज्ञानानां तेषां च स्वत एव तज्जनकत्वमिति तत्रापि वर्णितस्वतस्त्वं न व्यभिचरतीत्यर्थः । वादार्थमुपसहरन् समन्वयोपयोगमाह—तस्मादिति । 'इति स्वतस्त्वं परितः प्रसायितं प्रमाणमात्रस्य सतः स्वतो यदा । निषिद्धपुंशोपकथेषु लीलया समस्तवेदान्तवचसु सिध्यति ॥'

स्वशक्त्यैव वेदान्ताः स्वार्थभावेदयन्तीत्युक्तं तत्र स्वरूपसहकार्यतिरिक्तशक्त्यसहिष्णवस्तार्किकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते—नन्वित्यादिना । समवधानं मेलनं, तत्र किं कार्योत्पत्तिप्रयोजकधर्ममौल्यं शक्तिः कियतीन्द्रियत्वे सति तादृशो धर्मः किं वा मृदादिगतातीन्द्रियैः प्रयोजकधर्मविशेषो वा मृदादिस्वैर्भूमाग्रगतस्तादृशो वा । प्रथमे लविवादः । घटत्वमित्यादिजातीनामङ्गीकारात् । द्वितीयेपीश्वरेच्छादीनामङ्गीकारादविवादः । तृतीयेपि कालादिसंयोगस्य मृदादावङ्गीकारादविगानमेव । चतुर्थेचेत्तत्राह—तत्र प्रमाणाभावादिति । तत्र किमर्थोत्पत्तिरनुमानमागमो वा प्रमाणम् । तत्रार्थापत्तिं द्विधा विकल्प्य दूषयति—तथाहीत्यादिना । कार्योत्पत्त्यनुपपत्तिर्वा, इदमस्योपादानं दुग्धादि दध्यादेर्न पुनस्तिलाधीति, तिलाद्येव तैलस्य न पुनर्दुग्धाधीति श्योयं नियमस्तदनुपपत्तिर्वैत्यर्थः । स्यादेतत्, यदि स्वरूपसहकारिसमवधानमात्रात्कार्योत्पत्तिः प्रतिबन्धदशायामपि किमिति नोत्पद्यते

१ उपादानादिविषयकेष्टसाधनादिज्ञानात्मकप्रमाया इत्यर्थः । प्रमायामुपादानादिविषयकत्वञ्च तज्जनकत्वयेति बोध्यम् । २ उपादानादिष्वधीत्यर्थः । ३ प्रवृत्तौ सामर्थ्यं सवादित्वरूपम् । ४ प्रवृत्तिरित्यर्थः । ५ प्रवृत्तावितिशेषः । ६ एवमित्यस्य संशयस्य लीयप्रवृत्तिवत् प्रामाण्यनिश्चयं विनाऽपीत्यर्थः । ७ महान्नि वेदान्तानामिति शेषः । ८ उत्पत्तिश्चित्तव्यवहृतिष्वित्यर्थः । ९ सर्वस्य प्रमाणस्येत्यर्थः । १० केमुक्तिरन्यायेन सिद्धयति इति सवन्धः । ११ सर्वो धर्मोऽपिन्द्रियकोऽतीन्द्रियोवैत्यर्थः । १२ मृदादिगतत्वमतीन्द्रियत्वं च कार्यप्रयोजकधर्मविशेषे विशेषणम् । १३ मात्रादेन मृदादौ कालादिसंयोगं व्यवच्छिन्नमिति ।

ननु किं प्रतिबन्धकप्रागभावस्य कारणत्वमुत तत्प्रध्वंसस्य । नाद्यः । उत्तम्भकसद्भावे सत्यपि प्रतिबन्धके विनापि प्रागभावं कार्यदर्शनात् । न द्वितीयः । प्रतिबन्धकार्णुद्वयेपि कार्योपलब्धेरिति चेत् । मैवं । उत्तम्भरूपमिन्द्राद्यभावसहकृतस्यैव प्रतिबन्धकस्य प्रतिबन्धकत्वात्, तेन तत्र प्रतिबन्धकप्रागभावसहकृतस्यैव कारणत्वान्न व्यभिचारः । एतेनानियतहेतुकत्वमप्यपास्तम् ।

सर्वत्र प्रतिबन्धकसर्गाभावविशिष्टस्यैव कारणात्वाङ्गीकारात् । अन्यथानुपलब्धावप्युपलब्धिप्रागभावप्रध्वंसाभावविकल्पेनाभावप्रमितेरनियतहेतुकताया दुष्परिहरत्वात् । शक्तिपक्षेऽप्यप्रतिबद्धाया एव तस्याः कारणात्वाद्भावविकल्पोत्थदोषतत्परिहारयोः समानत्वात् । ननु न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, प्रतिबन्धापेक्षस्तद्भावः कारणं, कारणापेक्षश्च तद्भावः प्रतिबन्ध इत्यन्योन्याश्रयप्रस्तत्वात् 'प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतु प्रति-

स्फोटोदि । नहि तदाभिरनभि सहकारिणो वेधनादयोऽनिबन्धनादय । तस्माद्यत्प्रतिबन्धात्कार्यं नोत्पद्यते सैव शक्तिरित्यनुपपन्नैव कार्योत्पत्तिरन्तरेण शक्तिमिति तत्राह—प्रतिबन्धकाभावादीति । एतदुक्तं भवति । प्रमाणद्वयविरोधोऽर्थापत्ति, यथा देवदत्तस्य जीवनप्राहकस्य गृहभावप्राहकस्य च विरोधो बहिर्भाव कल्पयति विरोधपरिहृत्यै । नचान तथाविरोध, स्फोटोत्पत्त्यनुत्पत्तिप्राहकयोरभिमाने विरोधेपि प्रतिबन्धाभावतद्ब्रह्मिहलवैद भिविषयत्वेन विरोधशान्तेरिति । ननु न प्रतिबन्धकाभाववदभिविषयतया विरोध शान्तयति, अभावस्य कारणताभावादिति तत्राह—नचाभावस्येति । किंच भौटैस्तावदेवमयुक्तं वक्तुमित्याह—योग्येति । गुर्वनुवर्तिन प्रत्याह—विवेकाग्रहस्येति । विभ्रमशब्दोऽयथार्थव्यवहारपरो गुरैनये ।

अत्र प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्व विकल्पैकैक व्यभिचारेण दूषयति शक्तिवादी—नन्वित्यादिना । यदाद्युत्तम्भक प्रतिबन्धकसंविधि निर्धीयते तदा सत्यपि प्रतिबन्धके मण्यादौ कार्यमुत्पद्यते न तत्र प्रागभावोस्तीत्यथ । इयमपि प्रतिबन्धकसंविध्यव्यभिचारभूमिर्भवत्येव तथाप्यसाधारण दूषणमाह—प्रतिबन्धकेति । नद्यनुदितप्रतियोगी प्रध्वंस सम्भवतीति भाव । तदेतत्परिहरति—मैवमिति । नास्मान्निर्मण्यादि स्वरूपमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वमुच्यते, अपितुत्तम्भकाभावविशिष्टस्य । नच तादृशमुत्तम्भकसंविधानेऽस्तीति तदापि प्रतिबन्धकप्रागभावस्य न व्यभिचार इत्यर्थ । उक्तं च कुसुमाजलालुदयनेन—'प्रतिबन्धकोत्तम्भकाले तर्हि व्यभिचार स्यात् यदि यादृशे सति कार्यानुदयस्तादृशे एव समुत्पाद, नत्वेव, तदपि प्रतिपक्षस्याभावात् असत्प्रतिर्पक्षो हि प्रतिबन्धकोभिमतो न सत्प्रतिपक्ष सच तादृशो नास्त्येव यस्त्वस्ति नासौ प्रतिपक्ष'इति । स्यादेतत् प्रतिबन्धकाभावस्य सामान्यन्त पातित्वमयुक्तम् । अनियतहेतुकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि । यत्राप्यदि समवधाने प्रतिबन्धकमण्याद्यभावे क्षटिति कार्यमुत्पद्यते तत्र विशेष्यमण्यादिप्रतिबन्धकाभावादिति वक्तव्यम् । यत्र मण्यादौ विद्यमानेपि उत्तम्भकसन्निधौ कार्यमुत्पद्यते तत्रोत्तम्भकाभावरूपविशेषणाभावादिति नैक हेतुनिरूपणमिति तत्राह—एतेनेति ।

एतेनेत्यस्यैव विवरण—सर्वत्रेति । न विशेषणाभावो विशेष्याभावो वा हेतुस्त्वयोरप्रतिबन्धकत्वात् किं विशिष्टाभाव सचोभयैथापि न भियते यथाहि केवलदण्डसद्भावे दण्डपुरषसद्भावे द्वयाभावे केवलपुरषाभाव सर्वनाविशिष्ट तथा केवलोत्तम्भकसद्भावे प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे द्वयाभावे वा केवलप्रतिबन्धकाभावोऽविशिष्ट । ससर्गाभावशब्देन तद्विशेषप्रागभावादिति तस्यैव विवक्षितम् । प्रागभावप्रध्वंसापेक्षया चेदमनि-

१ तत्प्रागभावेऽपीत्यर्थ । २ एकैकविशिष्टत्वर्थे । ३ यदि तु विभ्रमशब्दस्य शानपरत्वमेवाद्रियते तदा मष्टम तेष्वप्यत्र अथ सुयोज । विवेकग्रहस्य भ्रमप्रतिबन्धकतया तद्भावकारणताया सर्वैरपि स्वीकृतत्वादिति व्येयम् । ४ सविधे इति गाति । ५ उच्छेजकसदितस्य प्रतिबन्धकरत्वेनाभिमतमण्यादे समवधानेऽपीत्यर्थ । प्रतिपक्षस्य प्रतिबन्धकस्य इत्यर्थ । ६ यत्र प्रतिपक्ष उच्छेजक । ७ विशेष्यत्व मण्याद्यन्वयि । ८ विशेष्यविशेषणयोरित्यर्थः । ९ केवलविशेषणसत्त्वे विशेषणविशेष्योभयसत्त्वे चेत्येक पक्ष । उभयासत्त्वे चेत्यपर पक्ष ।

बन्धक'इत्यङ्गीकारादिति चेत् । मैवम् । अवधीर्षेवाभावस्य कारणतां कार्यानुदयमात्रेणैव मन्त्रादेः कार्यप्रतिकूलतावगमात्, अनवलम्ब्यैव च मणिमन्त्रादेः कार्यप्रतिबन्धकतां तदभावस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव कारणताध्यवसायात् ।

किंचेदमन्योन्याश्रयत्वमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा स्यात् । नाद्यः । मन्त्रतदभावयोः परस्परहेतुत्वाभावात् । नापि द्वितीयः । अज्ञातयोरपि मन्त्रतदभावयोः कार्यं प्रति प्रतिकूलत्वकारणत्वयोरुपपत्तेः । ननु कार्याभावावसेयकार्यप्रतिकूलभावा मन्त्रादयः शक्तेरपहृवाय कारणाभावरूपा इष्यन्ते, अत एव मन्त्राद्यभावोपि कारणमिष्यते ततो मन्त्रतदभावनिष्ठप्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरन्योन्योर्पाधिकत्वाद्दुत्पत्तौ ज्ञप्तौ चान्योन्याश्रयता दुर्वारैति चेत् । उक्तोत्तरत्वात्, अन्तरेणैवाभावस्य कारणतावगमं मन्त्रादेः कार्याभावमात्रेण कार्यप्रतिकूलभावस्यावगन्तुं शक्यत्वात् तदभावकारणत्वस्याप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव सुकरावगम्यत्वात् इति ।

यतहेतुकत्वमाशङ्क्य परिह्रियते । तदाच ससर्गाभावशब्दोप्यनुगुणः त्रयाणुपतत्वात् 'यस्मिन्नसति कार्यं न जायते यस्मिन्सत्त्वेव कार्यं जायते इत्येवं ससर्गाभावमानस्यैव प्रयोजकत्वा'दियुदयनोकेषु । अतथैवमेवाङ्गीकृत्यम्, अन्यथाऽनुपलब्धेरप्यभावप्रमितिहेतुतायामपि उक्तदूषणसाम्यादित्याह—अन्यथेति । अलं वा स्थलान्तरप्रतिबन्धा शक्तावेवैवं सुप्रहा सापि ह्यप्रतिबन्धा कार्याय प्रभवति ततस्तत्रापि प्रतिबन्धकाभावे समानावेवाभावाक्षेपपरिहारविस्वाह—शक्तिपक्षेपीति । एवमभावविकल्पप्रयुक्तदोषे परिहृते प्रकारान्तरेण प्रतिबन्धकाभावस्य कारणतामाक्षिपति शक्तिवादी—नन्विति । यस्तदभावः प्रतिबन्धकाभावः कारणमसौ प्रतिबन्धापेक्षः तन्निरूपणीयत्वात् यत्र कारणाभावः प्रतिबन्धः सोऽपि कारणापेक्षः तन्निरूपणीयत्वादेव । ततश्च प्रतिबन्धाभावरूपकारणस्य कारणाभावरूपप्रतिबन्धस्य च परस्पराधीननिर्हणान्दन्वोन्याश्रयत्वस्यैः । ननु कारणाभावस्य प्रतिबन्धत्वे स्यादयमन्योन्याश्रयस्तदेव तु कथं, यावता कार्यानुत्पाद् एव प्रतिबन्ध इति तत्राह—प्रतिबन्ध इति । अयमर्थः । न तावत्कार्यानुत्पादः प्रतिबन्धः, तस्यानादितया प्रतिबन्धकाधीनत्वाभावात् । नापि तस्य कालान्तरसंबन्धः । कालस्यैकत्वात्, औपाधिकानेकत्वे च कालोपाधेरन्याद्यजन्यत्वात् । कस्ताहिं कारणाभावात्कार्याभाव इति परिभाषार्थः । भावधर्मोपचारात्, सामग्रीकार्ययोः पूर्वोपर्यनियमः तदभावयोरप्युपचारात्प्रयुज्यते, वस्तुतस्तु समतमयत्वमेव । कस्ताहिं प्रतिबन्ध इति हृदि निधायोक्तमुदयनेन—'भावो यथा तत्राऽभावः कारणं कार्यवन्मतः । प्रतिबन्धो विसामग्री तद्वेतुः प्रतिबन्धक' इति । अत्र पूर्वोर्धनाभावस्य कारणतानिर्हणनेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमुक्तम् । उत्तरार्धेन च प्रतिबन्धप्रतिबन्धकौ निर्दिष्टौ । प्रतिबन्धो नाम विसामग्री सामग्रीवैक्यस्य मन्त्रादि तद्वेतुस्तु मन्त्रप्रयोक्ता प्रतिबन्धक इति, तस्मात्सामग्रीप्रतिबन्धयोरस्त्वेवान्योन्याश्रयतेति । यद्यप्युभयाभावत्वमुभयस्य तथाप्यन्योन्यनिरपेक्षस्य शक्यनिरूपणलाभान्योन्याश्रयत्वमिति परिहरति—मैवमिति । मन्त्रादे स्वाभावकारणताज्ञानान्तरैणैव कार्यानुदयेन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यप्रतिकूलतालक्षणप्रतिबन्धकत्वावगमादित्यर्थः । मन्त्राद्यभावस्य कारणत्वमपि मन्त्रादिप्रतिबन्धकत्वज्ञानव्यतिरेकेणैव शक्यं ज्ञातुमित्याह—अनवलम्ब्यैव चेति । यथाह्यम्यादिः कारणत्वं कार्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तथा मन्त्राद्यभावस्यापीत्यर्थः ।

एवं सौधारभ्येन परिहारमुक्त्वा विकल्प्याह—किंचेति । यद्यपि मन्त्रादिप्रागभावस्य मन्त्रादिं प्रति हेतुता संभवति तथापि त प्रति न हेतुता मन्त्रादेरत आह—परस्परेति । ज्ञप्तौ परस्पराश्रयं परिहरति—नापीति । नहि यत्रकारणं तत्सर्वं ज्ञातमेव कारणं, चक्षुरादिरदर्शनात् । एवंप्रतिबन्धाभावोपीति भावः । तस्मिन्मुदयनीयमन्योन्याश्रयतापरिहार परिजह्नु न्यायरजवीपावलीकृतस्तदनुवदति—नन्विति । यद्यपि कार्यानुदयोदयान्वयव्यतिरेकावसेये मन्त्रतदभावयोः प्रतिबन्धकत्वकारणत्वे तथापि सामग्रीवैक्यत्वहपतया मन्त्रादे प्रतिबन्धकत्व ननु स्वरूपेण । एवं तदभावस्यापि प्रतिबन्धकाभावतया कारणत्व न स्वरूपेण, तथाच प्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरपरिहायैव सत्ताह्योरन्योन्याश्रयतेति खण्डलकार्यं । दूषयति—नेति । उक्तमेवोत्तरं दर्शयति—अन्तरेणेत्यादिना । यद्यपि कोष्ठगत्या विद्यत एवायमर्थः तथापीतरैतरनिरपेक्षत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतीयमानमनुभवसिद्धं न युक्तिसहस्रेणापि शक्यनिवारणमित्यर्थः ।

नच शक्त्यनङ्गीकारे प्रतिबन्धासंभवः, मणिमन्त्रादिसन्निधानासन्निधानयोः स्वरूप-
स्याविशेषादिति वाच्यम् । कार्योदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धशब्दाभिधेयस्य विशेषत्वात्,
अन्यथा शक्तिपक्षेऽपि प्रतिबन्धस्य दुर्विवेकत्वात् । नहि शक्तेर्नाशः प्रतिबन्धः । प्रति-
बन्धापाये कार्योभावप्रसङ्गात् । नच स्फोटाख्यकार्योत्पत्तये शक्त्यन्तर तत्रोत्पन्नम् ।
तत्कारणानिरूपणात् । नच प्रतिबन्धाभावः कारणम् । अभावस्य कारणतानङ्गीकारात् ।
अङ्गीकारे वा तस्यैव स्फोटादिकार्यजनकत्वमस्तु कृतमतीन्द्रियशक्तिकल्पनादुर्व्यसनेन ।
शक्तेः शक्त्यन्तर प्रतिबन्ध्यते इति वदतोऽनवस्था, तस्मात्कार्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वान्नाती-
न्द्रियशक्तिकल्पनावकाशः । नापि द्वितीयः । उपादानोपादेयभावनियमस्याप्यनादिसि-
द्धवृद्धव्यवहारावसिततत्कार्यानुकूलस्वभावभेदादेवोपपत्तेः । अन्यथेयमिदं किमिति शक्ति-
र्नान्यत्रेति पर्यनुयोगे कः स्वभावभेदादन्यः परिहारः स्यात् । तस्मादर्थापत्तिर्द्वयमपि नात्र
प्रमाणम् । अस्तु तर्ह्यनुमानं, तथाहि विमतमजनकदशातो जनकदशायामतिशययोगि,
कारकत्वात् कुण्ठकुठारवदिति चेत् । न । सहकारिसमवधानातिशयेनैव सिद्धसाधनत्वात् ।
अस्तु तर्ह्यभिरतीन्द्रियसामान्यवन्निक्रियाश्रयः कारणत्वात् गुरुत्वाश्रयवदिति प्रयोगः ।

ननु प्रतिबन्धान्ययानुपपत्ति शक्तौ प्रमाणम् । तथाहि । अग्न्यादिस्वरूप तावन्न प्रतिबन्ध्यते, पूर्ववदेवाविकल
मुपलभ्यमानत्वात्साद्यदनेन प्रतिबन्ध्यते तदतीन्द्रिय शक्तिर्नामेति तदिद-सहेतुकमनूय प्रतिषेधति — नचेत्या
दिना वाच्यमित्यन्तेन । तत्र हेतु — कार्योदासीन्येति । अग्न्यादिस्वरूपावैकल्येऽपि मन्त्रादिसन्निधाने
कार्योत्पाद प्रत्युदासीना भवन्त्यग्न्यादय अयमेव प्रतिबन्ध इत्यर्थः । शक्तिपक्षेऽप्ययमेव प्रतिबन्धशब्दायो
वक्तव्य स मत्पक्षेऽपि समान इति प्रतिबन्धीं गृह्णाति—अन्यथेति । एतदेव शक्तिपक्षे विशेषयति—नही-
त्यादिना । ननु सा शक्तिर्विनष्टैव उत्तरकाल(ले)तु शक्त्यन्तरमुत्पन्न तदा कार्योदय इति तत्राह—नच स्फो
टाख्येति । न तावदग्निसामग्रीतस्तस्योत्पाद । तस्या नष्टत्वात् । नाप्याश्रयभूतामे । तस्याऽशक्त्यानुपादक
त्वात् । उत्पादकत्वे वा कार्ये तर्था इति कृत शक्तिपिशाचिकया । शक्त्येतेष्वैव शक्ति कार्येऽप्यस्तु मुषोत्पाया
शक्ति, तस्मात्कारणान्तरानिरूपणाच्च शक्त्यन्तरतोत्पाद इति भावः । ननु किमिति कारणभाव, यावता प्रतिबन्धा
भावादेवेयमुत्पद्यतामिति तत्राह—नचेति । ननु शक्तेरपि शक्तिरस्ति सैव प्रतिबन्ध्यतामिति तत्राह—शक्ते
रिति । तत्राप्युक्तदूषणपरिहाराय शक्तिप्रतिबन्धो वक्तव्य तथाचानवस्थेति भावः । प्रथमार्थापत्तिदूषणमुपप
हरति—तस्मादिति । अनादिसिद्धो यो वृद्धव्यवहारस्तेनावसितो यस्तत्कार्यानुकूलस्वभावस्य मेदो विशेष
तस्मादेवोपादानोपादेयनियमोपपत्ते तदर्थमपि शक्तिर्न कल्पनीयेति द्वितीयमर्थोपपत्ति दूषयति—उपादा
नेति । यदि हि स्वभावो नियामको न स्वीक्रियते तर्हि शक्तावपि न स्यान्नियम इत्याह—अन्येति । तिमि
रैदिप्रयोगमनुवदति—विमतमिति । विमतमग्न्यादि । अतिशययोगीत्युक्ते अवियमानदशातो विद्यमानद-
शायाम् सत्त्वलक्षणातिशयवत्त्वात् सिद्धसाध्यता तदर्थमजनकेति विशेषणम् । इदं शक्तिसाधकं न भवति ।
सहकारिसमवधानस्यातिशयस्यापि जनकावस्थाया साधकतयार्थान्तरत्वादिति परिहरति—न । सहकारीति ।
न्यायरत्नदीपावलीस्थमनुमानमुद्भावयति—अस्तुतर्हीति । निक्रियाश्रय इत्युक्ते सामान्याभावाद्वाश्रय
त्वेन सिद्धसाधन तदर्थं सामान्यवदित्युक्तम् । तथापि गुणकर्मभ्या सिद्धसाधनता तदर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम् ।
वेजोद्युक्तरूपादिना सिद्धसाधनतापरिहारायैतत्सामान्यग्रहणम् । तस्यैन्द्रियकसामान्यवत्त्वात् । वाच्यश्रय
त्वेनार्थान्तरतानिश्चत्यै निक्रियेत्युक्तम् । गुरुत्वगुणाश्रय पार्थिवमाप्य वाऽन दृष्टान्त । गुरुत्ववजातेरतीन्द्रि

१ उपादानोपादेयभावनियमो यथानुपपत्तिरूप । २ स्फोटादिकार्यानुपपत्तिप्रतिनियतोपादानत्वानुपपत्तिरु
पेत्तदुद्वेगस्य । ३ औदासीन्य च कारणे कार्यजनकत्वापारप्रागभाववत्त्वमेव । ४ उत्पादकत्वमित्यर्थः । ५ तिमि
रवादिप्रयोगमिति पाठ साधीयान् । तिमिरद्वयत्ववादिनो भीमासकस्य प्रयोगमित्यर्थः । ६ सामान्य च भावश्चेति
द्वन्द्वं तदाप्याश्रयत्वेनेत्यर्थः ।

तेजोद्वयणुकमतीन्द्रियरूपस्य चायोश्चाधिकरणमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियसामान्यव-
न्निष्क्रियेत्युक्तमतः शक्तिसिद्धिरिति कश्चित् । तन्न । योगिस्वीकारवादिन प्रत्यतीन्द्रियविशे-
षणस्याप्रसिद्धत्वात् । विमतं न गुरुत्वजातिविषयमिन्द्रियत्वादस्मच्छुर्वदित्यतीन्द्रियसिद्धि-
रिति चेन्न । योगिनमनङ्गीकुर्वतो मीमासकस्याश्रयासिद्धेः, तत्सिद्धौ वा धर्मिप्राहकप्र-
माणत्वात् । अस्तु तर्ह्यस्मादाद्यभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणम् । मैवम् । अनुव्यवसाय-
प्रत्यक्षगोचरतया सर्वस्यास्मादादिविशेषणस्वीकारेपि पूर्वोक्तदोषतादवस्थात् । अनुव्य-
वसायेतरास्मादाद्यैन्द्रियकयुद्धवगोचरत्वाभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणमिति चेत् । न । प्रमा-
णान्तरोपनीतविशेषणवागहि विशिष्टज्ञानवादे सर्वेषामप्यैन्द्रियकत्वसमावनया पूर्वोक्त-
दोषानुत्तारान् । आश्रयपदस्य च समवाय्यर्थताया भाट्टस्य समवायानङ्गीकारवादिनो-
ऽप्रसिद्धविशेषणत्वात्, वहाँ स्थितिस्थापकसंस्कारसिद्धेः सिद्धसाधनत्वाच्च ।

ननु कथं सिद्धसाधनत्व तत्सत्त्वे मानाभावादिति चेन्मैवम् । विमतः स्थितिस्थापक-
संस्कारवान् रूपवत्त्वात्कटवदित्यनुमानसद्भावात् । नच स्थितिस्थापककार्यवत्त्वमुपाधिः ।
उत्पन्नमात्रविनष्टकटादिषु कार्यानुपलम्भेपि तथाविधसंस्काराभ्युपगमेन साध्याव्याप्तेः ।
किंच यैः स्वसिद्धान्तानुसारेण सिद्धसाधनता ब्रूयात् स कथमनुमानशतैरपि स्वसिद्धा-
न्तात्प्रत्याख्येत कथं वा तदीयसिद्धसाधनतामिधान् प्रत्युद्भिद्येत ।

यतया गुरुत्वाश्रयस्योक्तरूपत्वात् तेजसि गुरुत्वासम्भवेन शक्तिसिद्धिः । तदुक्तमेव व्यचर्यमाह—तेज इति ।
तदेतद्दृश्यति—योगीति । ताकिराणा हि सर्वं योगिप्रत्यक्षमित्यतीन्द्रियविशेषणस्यासिद्धत्वात् अप्रसिद्ध-
विशेषण पक्ष इत्यथ । अत्र तैरेवै गुरुत्वजातेयागिन प्रत्यतीन्द्रियत्वसमर्थनैनाप्रसिद्धविशेषणतासाध्य-
वैकल्ये परिहृते । तदनुवदति—विमतमिति । योगीन्द्रियमित्यर्थं । एवमनुमानस्य योगीन्द्रिय प्रसिद्ध-
मप्रसिद्ध वा । द्वितीये प्राह—योगिनमिति । प्रथमे प्राह—तत्सिद्धौ चेति । साध्य विशेषयति—
अस्तु तर्हीति । तथाप्यप्रसिद्धविशेषणतामाह—मैवमिति । यदा हि परमाणु जानाम्याकाश जानामी-
त्यनुव्यवसायो जायते तदा परमाण्वादि तज्ज्ञान चानुव्यवसायस्य मानसप्रत्यक्षस्य विषयो भवति एव सर्वोभ्यै
न्द्रियवृत्तानविषय इत्यप्रसिद्धमतीन्द्रियत्वमस्मादिदं प्रत्यपीत्यर्थं । अनुव्यवसायतरत्वे सतीति विशेषणमा
शङ्क्य दृश्यति—न प्रमाणान्तरेति । येषां हि व्योमशिवप्रवृत्तीनां मते सुरभिचन्दनमिल्लादिविशिष्टज्ञा-
नानि प्रमाणान्तरेण घ्राणादिनोपनीतगन्धादिकमपि विषयीकुर्वन्ति प्रत्यभिज्ञेव तत्ताशमिति मतं तन्मते
सर्वस्य शक्तिप्रत्यक्षार्थविशेषणतया एन्द्रियक्रतुदिवोध्यत्वसम्भवात्, अप्रसिद्धविशेषणता तदवस्थेत्यर्थं ।
अथ विशिष्टज्ञानानुव्यवसायातिरिक्तास्मादाद्यैन्द्रियरूपव्यविषयत्वमतीन्द्रियत्वमभिप्रतमिति विशेषणपरंपरामेव
प्राणधारणनिरपन्नपतया परिशुद्धीयात् स प्रत्यक्ष किमत्राश्रयशब्देन सयोगितयाधाराधेयभावो विवक्षित
संगवाचितया वा । नाद्य । दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । द्वितीये प्राह—आश्रयपदस्येति । साधारणाकार-
विवक्षया सिद्धसाधनतामाह—यद्वायिति ।

अत्रापि तदीयपरिहारमुद्भावयति—ननु कथमिति । अस्मिन्नप्यनुमो तदीय दृषणमुद्भाव्य दृश्यति
—नचेति । साध्याव्यापकत्वेनोपाधिं परिहरति—उत्पन्नेति । नदि यत्र यत्र स्थितिस्थापकवत्त्वं तत्र तत्र
तत्कार्यवत्त्वमस्ति, यदा श्लेषज कटोऽनुत्पादितपूर्ववस्थानसमानसस्थानादिस्थितिस्थापककार्यो विनश्यति तदा
साध्यवत्त्वेप्युपाधेरभावात् साध्यव्याप्तिरित्यथ । अत्र चोत्पन्नमात्रमिति अनुत्पादितकार्यवत्त्वमात्रं विवक्षितम्,
इतरथा तत्र साध्याभावस्यापि सुवर्त्त्वादिति ।

१ अस्मादीन्द्रियविरक्षणं योगीन्द्रियं प्राहवत् प्रमाणमैन्द्रियकातीन्द्रियविषयसाधारणमेव तदप्राह्येदिति तेन
प्रमाणेन गुरुत्वजातिविषयत्वाभावरूपसाध्यस्य वाध इति भावः । २ मीमासक इत्यर्थः । ३ न्यायरत्नदीपावली
दृष्टिवे । ४ उत्पन्नं द्रव्य क्षणमशुण तिष्ठतीति नैयायिकसिद्धांतादिति भावः ।

अस्तु तर्हि स्थितिस्थापकेतरातीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय इति प्रयोग इति चेत् । मैवम् । तथापि कर्माप्रत्यक्षवादितं प्राभाकरं प्रत्यर्थान्तरत्वापातात्, वहेरतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियकर्माश्रयत्वात् । कारणत्वादिति हेतोः शक्त्यानैकान्त्यात्, शक्तेश्च शक्त्यन्तराभ्युपगमेऽनवस्थापातात् । जनकशक्तियोगिन एव कारणत्वेन विवक्षितत्वात् न शक्तावनैकान्तिकतेति चेत् मैवम् । शक्तियोगित्वस्य विशेषणशक्त्यसिद्धावसिद्धेः, मानान्तरात्तत्सिद्धौ कृतमनया ग्रन्थकथाकन्थाकदर्थनया, गुणाद्यवनैकान्त्यं च ।

गुणादेरप्यतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयत्वे च घटादिवद्द्रव्यत्वप्रसङ्गात् यथोक्तशक्त्याश्रयत्वोपपत्तिः । अस्तु तर्हि विवादाध्यासितः स्फोट उभयवादिसप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्यः कार्यत्वाद्भवदिति प्रयोग इति चेन्मैवम् । प्रतिबन्धकाभावेन प्रतिवादिनोऽसप्रतिपन्नेन कारणेन सिद्धसाधनत्वात्, भावजन्य इति विशेषणेपीश्वरेण सिद्धसाधनत्वात् ।

ननु माभूदर्थापत्तिः प्रमाणं मास्य भूदनुमान, 'ब्रीहीन्प्रोक्षति, यूपं तक्षति, अग्नीनादधीते'त्याद्याः श्रुतय एव प्रमाणम् । तथाहि । ब्रीहीनित्यादिवाक्येषु द्वितीयाश्रुत्या प्राम गच्छतीत्यादिभिरेव ब्रीह्यादीना कर्मतावगमात् तेषु कश्चिदतीन्द्रियः प्रोक्षणजन्योऽ-

ननु यदि स्वसिद्धान्तानुरोधेन सिद्धसाधनता वदतोनुमानैस्त्वरीयसिद्धान्तात्प्रव्यावनमशक्य, सिद्धसाधनता वा अपरिहायां तर्हि स्थितिस्थापकेतरेति विशेषणीयमिति शङ्कते—अस्तु तर्हीति । तथापि प्राभाकरमते कर्मणार्थान्तरता, तन्मते कर्मण्यप्रत्यक्षे निष्क्रियेऽतीन्द्रियसामान्यवत्त्वादिरूपसाध्यस्य विद्यमानत्वादित्याह—**मैवमित्यादिना** । तथाहि यत्कादाचित्क तत्त्वाश्रयातिशयपुर सर इष्ट यथा सयोगविभागजन्य कार्यसयोगविभागलक्षणस्वाश्रयातिशयपुर सरमिति व्याप्त्या सयोगविभागयोरपि कादाचित्कत्वात् स्वाश्रयातिशयपूर्वकत्वमनुमीयते योसावतिशय तत्कर्मैति तेषा मत तस्माद्भवत्येव तेनाऽर्थान्तरतेतिभाव । एव प्रतिज्ञानिबद्धदूषणान्युक्त्वा अनैकान्तता चाह—**कारणत्वेति** । ननु किमित्यनैकान्तता यत् शक्तेरपि साध्यवत्तया सपक्षत्वादिति तत्राह—**शक्तेश्चेति** । उक्त च लीलावतीकारेण 'शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थिते, अनपेक्षत्वे तथा एव व्यभिचारा दिति । स्यादेतत् यदि न शक्ते सपक्षत्व तर्हि हेतुदेव तत्र न वर्तते इति शङ्कते—**जनकशक्तीति** । शक्तिमद्धि कारण नतु शक्तिरित्यर्थ । तर्हि हेतोरसिद्धिरित्याह—**मैवमिति** । कारणत्वादिति कोऽर्थ, शक्तियोगित्वादिति, तथाच विशेषणस्यैतदनुमानात्प्रामासिद्धेरेव हेतोरित्यर्थ । अथ ब्रूयान्मानान्तरादेव विशेषण साधयामोति तत्राह—**मानान्तरादिति** । ग्रन्थमयी कथाकन्था तत् द्विसहस्रविंशकलितप्रथितत्वात् तथा कदर्थनमुद्गजन तेन कृतमलमित्यर्थ ।

अनैकान्तिकतोदाहरणान्तरमाह—**गुणादावपीति** । तथाहि—द्रव्यगुणकर्मणामेव हि सामान्यवत्त्व, तत्र निष्क्रियत्वविशेषणत्वं यद्यपि द्रव्याश्रयत्व नायाति, आश्रितद्रव्यस्यावयवित्वेन सन्निवत्त्वात्, तथापि गुणकर्मणोरप्यन्तराश्रयत्व स्यादेव, तच्च द्वयमपि द्रव्यलक्षणं द्रव्यत्वव्याप्त वा अतो गुणादेरपि प्रसज्येतैव द्रव्यत्वमिति तद्गुणात् द्रहितत्वं वक्तव्यं तथाच तत्र कारणत्व वर्तते इत्यनैकान्तिकमित्यर्थ । अनुमानान्तरं शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । स्फोटकारणत्वानधिकरणकारणजन्य इत्युक्ते व्याहृतिस्तदर्थमुभयवादिसप्रतिपन्नैस्तुक्तम् । अप्रसिद्धविशेषणतान्निवृत्त्यै स्फोटग्रहणम् । उभयवादिसप्रतिपन्नकारणातिरिक्तकारण भवति प्रतिबन्धकाभावाच्चया विप्रतिपन्नात् अतस्तेनार्थान्तरत्वमिति दूषयति—**मैवमिति** । भावजन्य इति विशेषणाभावेन नार्थान्तरतेति चेत्तेत्याह—**भावेति** ।

ननु यद्यपि सहजशक्तावयवार्थापत्तिरनुमानं वा न सम्भवति, तथाप्यापेयशक्तावयवम प्रमाणमस्तीति तद्गुणात् सहजशक्तिरपि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**नञ्चिति** । ननु नैतेष्वामेषु शक्तिवाचक पदमुपलभ्यत इति तत्राह—**तथाहीति** । क्रियाजन्यातिशयभाक्त्वं हि कर्मत्वमित्यर्थ । अतीन्द्रियत्वे हेतुमाह—**दृष्टस्येति** । उत्पत्त्यातिविकृतिसंस्काराणां मध्येतीन्द्रियसंस्कार प्रोक्षणादिक्रियाफलमित्यर्थ । तावतापि कथं शक्तिरिति

१ शक्तिवादिनो गीमांसरस्येश्वरानभ्युपगच्छता इति भावः । २ साध्यतावच्छेदकत्वमित्यर्थः । तस्यापि साध्यविशेषणतया साध्यत्वादिति भावः । ३ अतिसिद्धिरिति शेषः ।

तिशयोस्तीत्यवसीयते, दृष्टस्य फलान्तरस्यादर्शनात् । स चायमतिशयः शक्तिरिति शक्ति-
 वादिभिर्गृह्यत इति । मैवम् । संस्काराख्यादृष्टस्य चेतनगतस्याचेतनेषु ब्रीह्यादिषु समवा-
 यासंभवात् । घटविषयज्ञानजनितभावनाया घटविषयत्ववत् ब्रीहिप्रोक्षणाद्युद्भूतसंस्कार-
 स्यापि तद्विषयक्रियाजन्यताभात्रेण तदीयत्वप्रतीत्युपपत्तेर्ब्रीह्यादिषु शक्तिकल्पनायां प्रमा-
 णाभावात् । तस्मान्न शक्तिसद्भावे प्रमाणमस्ति । तथाच प्रयुक्तं लीलावतीकारेण—
 'विवादाध्यासितं न निजरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियसापेक्षं, प्रमाणेन तथानुपलभ्यमानत्वात्
 यत्प्रमाणेन यथा नोपलभ्यते न तत्तथाभूतं यथा नीलं पीतरूपमिति । अत्र च निजरूप-
 मात्रसंबद्धशब्देन द्विष्टस्य संप्रयोगादेर्व्यावृत्तिः क्रियत इति । अत्रोच्यते । न तावच्छक्तौ
 प्रमाणाभावः, यस्मात् 'परास्य शक्तिर्विविधा, सर्गाद्या भावशक्तयः । इति श्रुतिस्मृतिमिता
 शक्तिः केन निवार्यते ॥ २३ ॥' 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च
 दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ॥

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निर्गूढाम् ।' 'य एकोऽवर्णो बहुधा
 शक्तियोगात्', 'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या
 दित्त्वनाह—सचेति । परिहरति—मैवमिति । आत्मनो गुणो बृहद्य नानात्मसु ब्रीह्यादिषु संभवति ।
 नचैतावता प्रोक्षणादिविधानार्थक्यम् । कर्तृसंस्कारत्वात् । यथाह—संस्कारं पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणा-
 दिभिरिति भावः । ननु ब्रीहिनिति द्वितीयया ब्रीहिणा संस्कार्यत्वावगमात्, तत्संस्कृता ब्रीहय इति प्रसिद्धे,
 तद्विरुद्धचेतनसंस्कारस्वीकार इति तत्राह—घटविषयेति । तथाहि घटविषयज्ञानादुत्पन्न. संस्कारो घट-
 संस्कार इत्युच्यते, तत्कस्य हेतोर्घटविषयत्वात् न पुनर्घटाधारत्वात् एवमनापीत्यतो न द्वितीयाश्रुतिः प्रसि-
 दिर्वा ब्रीह्यादिगतशक्तिसाधिकैर्लैथं । प्रयोगमेव दर्शयति—विवादेति । अभ्यासीत्यर्थः । अतीन्द्रियसा-
 पेक्षं न भवतीत्युक्ते चाधः स्यात् ईश्वरेच्छादृष्टादिसापेक्षत्वात् तदर्थं निजरूपसंबद्धेत्युक्तम् । तावत्युक्ते चाह-
 टवदात्मसयोगादिसापेक्षत्वाद्वाधः स्यात्तदर्थं निजरूपमानसंबद्धेत्युक्तम् । तस्य द्विष्टत्वेन व्यापित्वेन तदभा-
 वादिति । तत्र तावच्छकादागमं प्रमाणयति श्लोकेन परेति । विद्युतोति—न तस्येति । तस्येश्वरस्य कार्यं
 स्थूलशरीरं करणं सूक्ष्मशरीरं न विद्यते तथा तेन परमेश्वरेण समोऽभ्यधिको वा न दृश्यते श्रुतिस्मृत्योरे-
 त्यर्थः । तथा शक्तिः परोत्कृष्टा विविधैव बहुप्रकारा श्रूयते तथा ज्ञानबलक्षणबलस्य क्रिया संपादनं स्वाभाविकी
 अथवा ज्ञानबलेन क्रिया जगन्निर्माणादि स्वाभाविकी नान्याधीनेति अथवा ज्ञानं च बलं च क्रिया चेत्येतत्सर्वं
 स्वाभाविकं स्वरूपतादात्म्येनाभ्यस्ताचिन्त्यमायाशक्तिविजृम्भितमिति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रस्यार्थः ।

श्लोकोक्तश्रुतेरुपलक्षणत्वात्समानविषयश्रुत्यन्तराण्याह—ते ध्यानयोगेत्यादिना । ये किं कारणमित्या-
 दिबहुविधं सद्विद्वते स्म ब्रह्मवादिनः । ते ध्यानमेव योगो ध्यानयोगः तं ध्यानयोगमनुगताः प्राप्ताः सन्तोऽप-
 श्यन्दृष्टवन्तः । किं देवात्मशक्तिं, देवो वोतनात्मकश्चासावात्मा चेति देवात्मा ब्रह्म तस्य शक्तिमनाद्यनिर्वच-
 नीयाचिन्त्यानन्तशक्तिमया महामाया स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोमयैर्विद्यदादिकार्यैर्निर्गूढा छन्नामित्यर्थः । य एको-
 ऽवर्णः करणकर्मव्युत्पत्त्या नाम रूपं च वर्णस्तद्विहितः सन् शक्तियोगात् बहुधा बहुप्रकारं वर्णांविधदातीति
 च श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रौ । स्मृतिं विद्युतोति—शक्तय इति । तथा विष्णुपुराणे 'निर्गुणस्याप्रमेयस्य विशु-
 द्धस्य परात्मनः । कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽप्युपपद्यते ॥' इति मंत्रेण पृष्टे प्रत्युवाच पराशरः—'शक्तय'
 इत्यादि । सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः अचिन्त्या अनिर्वचनीयत्वात् ज्ञानगोचराश्च तत्तदुपासनासूपाधिता
 याता अचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः सन्ति यतोऽतः परमेश्वरस्यापि ता सर्गाद्या भावशक्तयः सन्ति । एत-

१ स्वजनकक्रियाविषयत्वसंबन्धेन संस्काररूपफलसंबन्धित्वाद् ब्रीह्यादेः कर्मत्वमिति भावः । २ द्विष्टत्वेने-
 त्यस्य व्याख्यातनमेवेदम् । प्रतिशोभ्यनुयोग्यमयष्टित्वेनेति तदर्थः । ३ वर्णव्येने इति कारणव्युत्पत्त्या नाम वर्णव्ये-
 इति कर्मव्युत्पत्त्या रूपं च वर्णशब्दार्थः ।

भावशक्तयः । 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिवोधःस्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च वि-
भोर्विधिज्ञाः पडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतैर्गीयमाना शक्तिः शक्यते
कथमपह्नोतुम् । नचैतानि वचांसि स्वरूपसहकारिमात्रप्रतिपादकानि । कार्यकरणादि-
सहकारिनिरासपुरःसर तस्याः प्रतिपादनात् । नच स्वरूपत्वमपि शक्तेः । परास्वेत्यादि-
पृथया स्वरूपातिरिक्तत्वप्रतिपादनात्, 'अस्य शक्तिर्विधिधा' 'तास्तु शक्तय' इति च नाना-
त्वेन श्रूयमाणाया एकरूपब्रह्मत्वासंभवाच्च । नचासा श्रुतिस्मृतीनामर्थवादत्वम् । उपर-
मोपसंहारादिलिङ्गेनेश्वरस्वरूपत्वाध्यवसायात्, नैयायिकादिभिरेतासामीश्वरस्वरूपपरत्वा-
भ्युपगमाच्च । अथैवमपि नार्थापत्त्यनुमाने विना तार्किकमन्यस्तुष्यति भवान्, तदर्थ्याप-
त्त्यनुमानोपन्यासेन भवन्तं परितोषयामः ।

तथाहि । स्फोटादिकार्यान्यथानुपपत्तिलक्षणोदाहृतैवार्थापत्तिः । ननु तत्राप्युदितै-
वान्यथाप्युपपत्तिः प्रतिबन्धकाभावसहकृतादेव वह्निस्वरूपात्कार्योत्पत्तेः । नच प्रागभाव-
प्रध्वंसाभावादिविकल्पेनाभावस्याकारणत्वम् । शक्तावपि तत्प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्, अप्रतिषद्धाया
एव शक्तेः कारणत्वादिति चेन्नैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि यदि प्रतिबन्धकाभाव
कारणं न स्यान्न स्यात्तर्हि शक्तिरपि कारणमिति प्रतिकूलतर्कमात्रमिदं, किं वा भवति च
शक्तिः कारणं ततः प्रतिबन्धकाभावोपि कारणमिति विपर्यये पर्यवसानादभावस्य कार-
णत्वसाधकं वा । नाद्यः । तर्कमात्रस्योपलम्भानङ्गत्वात् । नेतरः । भवति च शक्ति
कारणमिति विपर्ययस्य शक्तिमनिच्छता वक्तुमशक्यत्वात् ।

दुष्कं भवति । सर्वभावानामेव तावच्छक्तयः सन्तीति किमु वक्तव्यं ब्रह्मण परमेश्वरस्यात तानि सर्गादिकर्तृत्व
मुपपद्यत इति । अथवा सर्वभावानामिति कर्मणि पृष्ठीज्ञानगोचरा अचिन्त्या शक्यत्वावत्सन्ति यतोऽनन्त
सर्गाया भावशक्तयो ब्रह्मण सन्ति अन्यस्य तादृग्विधशक्तिनियन्तुरभावादत्त सर्गादिकर्तृत्व ब्रह्मण उपपद्यते
इत्यर्थं । पुराणान्तरवचनमुदाहरति—सर्वज्ञतेत्यादिना । अचिन्त्यशक्तिरिति तु प्रकृतोपयोगिनी । वि-
धिज्ञा वेदज्ञा परमेश्वरज्ञा इति वा । नन्वेतेषु शक्तिशब्द स्वरूपसहकारिमात्रपर नातीन्द्रियशक्तिपर इत्यत
आह—नचेतानीति । 'न तस्य कार्यं करणं च वियते' इति सहकारिनिषेधेन शक्तेरुच्यमानत्वात् सहकारि-
मात्रपरत्वमित्यर्थं । शकेर्ब्रह्मस्वरूपत्वाभावे हेतुमाह—परास्येति । पृथया शक्तेः ब्रह्मस्वरूपाद्देवप्रतिपादन
विधिषेति शक्य इति च बहुत्वाभिधानात्स्वेनैव स्वस्य भेदायोगात् एकस्यानेकत्वायोगाधेयर्थं । नैयायिकै-
दिभिः स्वीकृत चासामीश्वरपरत्वमित्याह—नैयायिकेति । परितोषयामः परितोषयिष्यामः ।

प्रथमार्थापत्तिं समर्थयते—तथातीति । स्फोटादीति । प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे शक्तेरप्र-
पञ्चयाया कारणत्व न स्यादिति यदुच्यते तद्विलम्ब्य दूषयति—मैवमिति । प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वान्ते
शक्तिकारणत्वापलापलक्षणप्रतिकूलतर्कं दर्शयित्वा विपर्यये पर्यवसानरूपप्रमाणादभावस्य कारणतासाधक-
मिति द्वितीयं पक्षं दर्शयति—भवतीत्यादिना । विपर्यये पर्यवधानरहितस्य तर्काभावात्तत्र तत्र प्रति-
श्रितिराकरणविधिरित्याह—नाद्य इति । द्वितीयं दूषयति—नेतर इति । एव हि विपर्ययपर्यवसानम् ।
श्रुदादिभिः शेषप्रतिबन्धाभाव कारण प्रतिबन्धाभावत्वात् शक्तिविशेषप्रतिबन्धाभावपरिति । नचैत-
दप्यानुमानम् । दृष्टा तस्याधैवहीनत्वादिदोषप्रत्याख्यादिरयम् ।

१ टीकादशनेन अचिन्त्याशक्तिरिति पाठः प्रतीयते । २ प्रकृतोपयोगिणी पृष्ठीयः । ३ विधिषेतिऽनेनेति शक्य-
भ्युपगमा विधिषेति । कर्मभ्युत्पत्त्या परतोष । ४ लीकृत्तुषो व आसवरात्प्रीतवदित्यर्थे ।

नच परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनम् । प्रमितप्रतियोगिकनिषेधवादिनः शक्तिरपि कारणं न भवेदित्येवंविधनिषेधस्याप्यसिद्धेः । तथापि जल्पकथामवधीर्य प्रतिबन्धकाभावस्याकारणत्वे प्रतिबन्धापि शक्तिः किमिति कार्यं न जनयेदिति सुहृद्भावेन पृच्छतः किमुत्तरमिति चेच्छ्रूयतां तर्हि दर्शनरहस्यम् । सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधि-प्रतिबन्धकमिति हि शक्तिवादिनः ।

तेन न सामग्रीवैकल्यात्तत्र कार्यानुदयः, किंतु विरोधिसद्भावादेव । नच सामग्री-वैकल्यमेव प्रतिबन्धः । लोकप्रसिद्धिविरोधात् । नहि कुशूलनिहितवीजानि क्षितिपवन-

ननु द्विविधस्वर्कः स्वपक्षसाधकानुकूलः प्रतिपक्षदूषकश्च, तत्राद्यस्य विपर्यये पर्यवसानमपेक्षितम्, इतरथा साधकानुकूलत्वासिद्धेः, चरमस्य तु न तदपेक्षितम्, परसिद्धव्याप्तिमादाय परस्यानिष्टप्रसक्तेः शक्यकरणत्वा-त्तादृशशायमिति तत्राह—नचेति । तत्र हेतुः—प्रमितेत्यादि । यस्य हि मते प्रमितेऽधिकरणे प्रमित-प्रतियोगिक एव निषेधः नाप्रमितप्रतियोगिकस्तस्य वादिनो 'यदि प्रतिबन्धाभावः कारणं न भवेत् तर्हि शक्तिरपि कारणं न भवेदिति शक्तिकारणत्वं निषेद्धं न शक्यम् । शक्तेस्तत्कारणत्वस्य चाप्रमितत्वात्, प्रमि-तत्वे वा स्वरूपेण निषेधानुपपत्तेः । उक्तं च प्रमितस्यैव निषेधप्रतियोगित्वं धर्मित्वं चोदयनेन—'व्यावर्त्या-भाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता । अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिते'ति । तदिह भवतु नाम विपर्ययापर्य-वसाय्यपि तर्को, निषेध एव शक्तिकारणत्वस्यापादयितुं न शक्यत इति भावः । वस्तुव्यावृत्तिं युमुक्तुः पृच्छति—**तथापीति** । यदि प्रतिबन्धाभावः कारणं न भवेत् प्रतिबन्धे विद्यमानेपि किमिति शक्तिः कार्यं न जनयेदित्यर्थः । अत्र सामग्रीवैकल्यस्य प्रतिबन्धकताऽभावं तावदाह—**सतीत्यादिना** । कारणाभावव्यवच्छेदार्थं सति पुष्कल-कारण इत्युक्तम् । कार्योत्पत्तिं प्रति कारणपौष्कल्ये सति यदुत्पत्तिविरोधि तत्प्रतिबन्धकमिति शक्तिवादिन इष्टं तेन प्रतिबन्धसमयेपि कारणपौष्कल्यात् प्रतिबन्धाभावस्य कारणान्तर्भाव इति भावः । यदत्रोदयनेन 'सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धक' इति मतमसहमानेनोक्तं 'ये तु प्रतिपादयन्ति कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्ध' इति तैः प्रतिबन्धमकुर्वन्त एव प्रतिबन्धका इत्युक्तं भवति । तथाहि । कार्यानुत्पाद इति कोर्थः, कार्यप्रागभावो वा स्यात् कार्यप्रागभावस्य कालान्तरप्राप्तिर्वा स्यात् । नाद्यः । तस्यानादित्वेन मणिमन्त्राद्यजन्य-त्वात् । न द्वितीयः । कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात् । अथ कालमेदक उपाधिः कालान्तरं, तस्य तावत्स्वका-रणजन्यत्वेन न मण्वादिजन्यत्वम् । अथ प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिर्मन्त्रजन्यः । न । प्रागभावस्यानादित्वेन तदवच्छिन्नकालोपाधेरपि मन्त्रादिजन्यत्वानुपपत्तेः । तस्मात्सामग्रीतत्कार्ययोः पौर्वापर्यनियमादभावयोरपि पौ-र्वापर्यभाव उपपद्यते । वस्तुतस्तु तुल्यकालत्वमेवेति नायं पन्थाः, किंतु सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धपदार्थो मुख्यः स च मन्त्रादिदेव न तस्य प्रतिबन्धकः नच तस्याऽकिञ्चिर्करत्वं दोषाय तत्प्रयोक्तारस्तु-प्रतिबन्धकाः 'ते च किञ्चित्करा' इति तदेतदपि गर्जनं कारणानां कार्यादासीन्यस्यैव प्रतिबन्धकत्वेन निर्वक्ष्यमाणत्वात् अंकांशमु-ष्टिहननायते । किंच भवतु कालस्य प्रागभावस्य चानादित्वं कालोपाधेश्च स्वकारणाधीनत्वात् मन्त्राद्यैर्जन्यत्वं च, तथापि प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिस्तत्संबन्धो वा किमिति मन्त्रादिजन्यो न भवेत्, नहि स प्रागभावो नाप्युपाधिमात्रं नापि कालमात्रं, तस्मात्सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धक इत्ययमेव पन्थाः ।

ननु भवत्स्यं प्रतिबन्धकस्ततः किमिति तत्राह—**तेनेति** । सामग्रीवैकल्यस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात् ततः कार्यानुत्पादः किलन्यस्याद्विरोधिन इत्यर्थः । ननु सत्यं न सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धकम्, किंतु प्रतिबन्ध इति तत्राह—**न च सामग्रीति** । प्रसिद्धिविरोधमेव दर्शयति—**नहीति** । पाप उदकम् । यदि हि सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धः, ततः सहकारिरहितवीजेषु सहकारिरहिततन्तुषु वा प्रतिबन्धयुक्तिः स्यात्, नत्वेतदस्ति,

१ व्यावर्त्यः प्रतियोगी तदभाववत्ता भाविकी पारमार्थिकी विशेष्यता आश्रयता वस्तुनः प्रामाणिकस्य स्वाभाव-
विरहरूपत्वं च प्रतियोगित्वमिति प्रकाशे । २ कार्यप्रागभावस्तेति पाठः क्वचिन्नास्ति । ३ सामग्रीभावकार्याभावयो-
रिति शेषः । ४ सामग्रीभावप्रयोग्यः कार्याभावः प्रतिबन्धः तज्जनकः सामग्रीभावस्तु प्रतिबन्धक इति मार्गो न
युक्त इति भावः । ५ सामग्रीवैकल्यस्य मन्त्रादेश्च समनियतत्वादिति भावः । ६ व्यापारशून्यत्वम् ।

पाथस्तेजस्संसर्गविरहितानि तन्तवो वा मञ्जूपानिहितास्तुरीवेमकुविन्दादिविरहिणः प्रतिबद्धा इति प्रतीयन्ति लौकिकाः । सामग्रीविधुरतामात्रस्य च प्रतिबन्धतायां समस्तस्यापि हेतुजा- तस्य प्रतिबन्धाभावतयैवोपक्षीणत्वादिदमस्य कारणमयं च प्रतिबन्धाभाव इति परीक्षकाणां विशेषावधारणमेव न स्यात् । अभावस्याकारणत्वे कार्येणान्वयव्यतिरेकविरोध इति चेन्नैवम् । अन्यथासिद्धत्वात्, 'अनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणकृष्टिं कुर्वाते' इति न्यायात् ।

तर्ह्यनुपलब्धेरप्यभावोपलम्भहेतुता न भवेत् विरोधिन्या भावोपलब्धेरभावतया तदन्वय- व्यतिरेकयोरप्यन्यथासिद्धेर्वक्तुं सुकरत्वादिति चेन्न । तद्व्यतिरेकेणाभावोपलम्भकारणानिरूप- णात् । इन्द्रियमेव कारणमिति चेन्न । तस्याभावेन सन्निकर्षाभावात् । सयोगसमवाययोस्त- त्राभावात्, विशेषणविशेष्यभावस्य च सबन्धान्तरगर्भस्यैव प्रत्यक्षाद्भवात्, न तत्राभावस्य प्रत्यक्षगम्यत्वं किंत्वनुपलब्धिगम्यतैवेति निश्चीयते । अन्यथाय पर्वतो वह्निमानित्यत्र वह्ने- रपि सयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् ।

नन्वसबद्धस्यैवाभावस्येन्द्रियप्राहृत्यमस्तु तत्प्रतीतेरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनाप- रोक्षत्वात्, गत्यन्तराभावाच्चेति चेत् । मैवम् । अयोगिप्रत्यक्षप्रमितविन्द्रियाणां सब-

ततो नियमेन बुद्ध्यनुपलब्धि ररथाभावनिवेदिता इत्यर्थः । इत्थं न सामग्रीवैकल्यमात्र प्रतिबन्ध इत्याह— सामग्रीविधुरेति । अस्ति तावदेदमस्य कारणमय प्रतिबन्धाभाव इति विभागः । इतरथा प्रतिबन्धतद्वि- कारणाणां सामग्रीवाभावप्रसङ्गात् । सचयं विभागस्त्वपक्षे न सिद्ध्यत् । सर्वस्यैव कारणस्य स्ववैधुर्यलक्षण- तिबन्धाभावरूपत्वादित्यर्थः । तदेव सामग्रीवैकल्यप्रतिबन्धनिरसनेन प्रतिव धाभावस्य कारणत्वमपि निरस्तं, तत्रान्वयव्यतिरेकविरोध शङ्कते—अभावस्येति । विरोधैर्भावविषयतान्यान्यथासिद्धत्वात्, न तावदभावस्य कारणत्व कल्प्यत इत्याह—मैवमित्यादिना । उक्तथायमर्थः स्वतः प्रामाण्यवादे ।

एव शक्तिप्रतिबन्धा परिहृताया पूर्वोदिता प्रतिबन्दी स्मारयति पूर्ववारी—तर्ह्यनुपलब्धेरिति । शक्य- हि तत्रापि वक्तुं घटाभावोपलब्धेर्विरोधिनी घटोपलब्धित्वात् तदनुपलब्धिरतो योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेर भावोपलब्धेश्चान्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकत्वात् न कार्यकारणभाव इत्यभावप्रमाणाभाव स्यादित्यर्थः । यद्यप्येव तथापि कारणान्तराभावाद्गत्यानुपलब्धेरनन्यथासिद्धायास्तत्र कारणचमाधितम् । इदं न तथेति वैपत्येन परिहरति—न तदिति । गत्यन्तरं शङ्कते—इन्द्रियमिति । सन्निकर्षाभावमेवाह—संयोगेति । द्रव्ययोर्हि संयोगो गुणलान्नाभावाद्द्रव्यं, तथा कार्यद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषणामेव समवायं, नचैवामन्यतमो ऽभाव इत्यर्थः । ननु सयुक्तविरोधेण वादिकमस्ति सबन्धान्तरमिति तत्राह—विशेषणेति । सबन्धाभावाद्प्र- त्यक्षत्वमुक्तमुपसहरति—न तत्रेति । यदि च सयुक्तविशेषणतैव प्रत्यक्षबुद्धिनिमित्तं तर्हि प्रत्यक्षधर्मिकानुना- नोच्छेद स्यादित्याह—अन्यथेति ।

नन्वपरोक्षाभावप्रतीतिरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ वान्यथानुपपन्नावसबद्धस्यापि ग्रहणं कल्पयत एव, यथापि भावेण विशेषणविशेष्यभावस्य मूलसबन्धनिबन्धनस्याननिबन्धनस्यापि च स्वीकारस्तथाऽभावे तदभावेपि प्रतीतिबलादेवाङ्गीकार इति शङ्कते—नन्यथेति । नन्येतदपरोक्ष स्मृतादिवद्भ्रान्तिरेवेत्याशङ्क्य मैव वाप्यभा- वादित्याह—गत्यन्तरेति । विनिष्ठप्रतीतेरुभयवादिदंमतत्वात्, मूलसबन्धरहितोपि विशेषणविशेष्यभावात् प्रत्यक्षाहमिति वक्तव्यं ननु तथाविधस्य प्रत्यक्षाद्भवे मानमस्ति अपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वात् । प्रापकप्रमाणमवा- दयोगीन्द्रियाणां सबद्धार्थप्राहकत्वनियममङ्गो नाङ्गीकरणीयः । इदं निर्धटं भूतत्वमिति व्यवहारस्यायं पदो

१ विरोधिनः कार्यप्रतिबन्धस्य योऽभावस्तदिवयतयाऽन्वयव्यतिरेकयो, प्रतिबन्धवाभावस्यान्यथासिद्धत्वात् इत्यर्थः । कारणसामग्र्याऽवश्यहेतुतया कार्यसंभवे तत्सहभूते प्रतिबन्धकामावेऽन्वयव्यतिरेकमपरेऽपि न च यथासिद्ध- त्वमिति भावः । २ राशः पक्ष इत्यत्र स्वस्वामिभावरूपमूलसबन्धावच्छिन्नविशेषणविशेष्यभावस्य स्वीकारः । तीशो- पद इत्यत्र च मूलसबन्धरहितस्य विशेषणत्वोपपत्त्यभावात् । ३ मूलसंभवाभावेऽपीत्यर्थः । ४ अभावोपलब्धे- रिति शेषः । इन्द्रियन्यथासिद्ध अपरोक्षत्वादिति भावः । ५ नियममङ्गोत्यादि ।

द्वार्यग्राहकत्वनियमस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, अभावप्रतीतेरपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणग्रहणमात्र एवोपक्षीणतयान्यथासिद्धत्वाच्च । नन्वधिकरणग्रहणमात्रोपक्षीणत्वमन्वयव्यतिरेकयोरयुक्तम्, अन्धस्य त्वगिन्द्रियेणोपनीतघटादौ रूपाभावप्रतीतिप्रसङ्गात्, अधिकरणस्य गृहीतत्वात्, इन्द्रियस्य चाभावाग्राहकत्वात् । तस्मादन्धस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाभावादेव रूपाभावप्रतीत्यनुदय इति वाच्यम् । तथाचाभावस्यैन्द्रियकत्वसिद्धिरिति चेन्नैवम् । अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमतेष्यनन्धस्यापि मेवादाँ घटतद्द्रवाद्यभावस्य चाक्षुपत्वं किं न स्यात् । ननु तत्र प्रतियोगिनश्चाक्षुपत्वेऽप्यधिकरणस्याचाक्षुपत्वान्न तत्र रूपाभावश्चाक्षुप इति चेत्, एवं तर्हि मन्मतेपि नान्धस्य त्वगिन्द्रियगृहीते घटादौ रूपाभावप्रतीतिः । प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणस्य घटादेरग्रहणात् । तर्हि घ्राणागोचरकुसुमादौ घायौ वाऽचाक्षुपे गन्धस्य रूपस्य चाभावप्रत्यक्षो न स्यादिति चेत्, माभूत्, तत्र प्रमाणान्तरवेद्यत्वेपि तद्व्यवहारविरोधात् । नच सर्वत्र पट्टभगागवादिनामनुपलब्धिगम्य एवाभाव इति नियमः । व्यापकाभावाद्याप्याभावस्य कारणाभावेन कार्याभावस्य वाऽनुमेयत्वाङ्गीकारात् ।

गुहरयं पर्वतो वह्निमानित्यादिव्यवहारवदधिस्तरणप्रत्यक्षताभिरेणोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवमिति । योगीन्द्रियव्यावृत्त्यै अयोगीति पदम् । आपरोक्षैयानुपपत्तेरनुदयमाह—अभावेति । स्वाप्नपरोक्षवद्भ्रान्तित्वादित्यर्थः । विशेषणादिभावे तु गत्यन्तरं नास्ति, आश्रयापरोक्ष्याच्च निषंदं भूतत्वमिति प्रतीतिर्घटो गुहरयमित्यादिवदिति भावः । अधिकरणवैपयत्येन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिरुक्ता, अतिप्रसङ्गादिति शङ्कते—नन्विति । यदिहाभावस्य नेन्द्रियग्राह्यता, तर्ह्यन्धस्यापि त्वगादिना घटादावधिकरणे गृहीते तत्र रूपाभावग्रहणप्रसङ्गः । तत्र हेतुः—अधिकरणस्येति । अथेन्द्रियाभावाच्च रूपाभावप्रत्यक्षमिति चेत्तत्राह—इन्द्रियस्येति । तस्माद्वैकल्यादाभावाग्रहणं तदिन्द्रियमभावाग्राहकं वक्तव्यमित्याह—तस्मादिति । तामिभामनुदयनीयामनुपपत्तिं परिहरति—मैवमिति । यस्यापि मते प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमभावस्यामिमत् तस्मात्सन्निहितमेवादाँ घटाद्यभावः किमिति चक्षुषा न गृह्यते इति पर्यनुयोगे यः परिहारः प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्रहणमधिकरणस्य सोऽस्मन्मतेपि समान इति खण्डलकार्यः । यदि प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणे गृहीतेऽभावस्य योग्यानुपलब्धिगम्यत्वं, तर्हि गन्धग्राहकेन्द्रियागोचरे कुसुमे रूपग्राहकेन्द्रियागोचरे च वायौ गन्धरूपयोरभावो न योग्यानुपलब्धिगम्य इति प्रत्यक्षो वक्तव्यः, स न स्यात्, प्रत्यक्षत्वं चैवंविधस्थलेषु समाहितमुदयनेन, आकाशे शब्दाभावस्य श्रौत्रत्वसमर्थनात् । एवं हि मेने । 'धर्मिसन्निकर्षो निदानं न पुनर्धर्मिग्रहणं भूतलादौ तु दैवगत्या योग्यत्वात् घृणाक्षरन्यायेन धर्मिधिपणा समुन्मिपति, नलभावग्रहणोपयोगितया, तस्मादिन्द्रियसन्निकृष्टे धर्मिप्यभावः प्रत्यक्ष एवेति ततः शब्दाभावः प्रत्यक्ष' इति । परिहरति—माभूदिति । अत्र तावद्वाप्यादौ रूपाद्यभावस्य चाक्षुपत्वे कोशर्षानमेव शरणम् । तद्यवहारस्य प्रमाणान्तरव्यवहारेनाप्युपपत्तेः । प्रत्युत प्रतियोगिवद्दर्शिनोप्यभावनिरूपकत्वात् तदप्रतीतावप्रतीतेरेव । नह्यस्यैवं प्रतीतिर्दामभाव इति, इह घटाभाव इत्येव प्रतीतेः । उक्तं च वृद्धैः 'संज्ञामभावो निरूप्यते नासन्न्या'मिति । नचैतदुभयनिरूप्यसंयोगादिप्रतियोगिकाभावविषयम् । संकोचे प्रमाणाभावात् । तस्माद्धर्मिग्रहणमपि कारणमेवाभावग्रहणे तद्विहितेषु च प्रमाणान्तरवेद्यत्वमित्यपरिपन्थी पन्थाः, प्रमाणान्तरं च कुसुमे गन्धानुपलब्धिरेव, तदभावेऽनुमानं, वायावपि द्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजालनधिकरणत्वादितिऽनुमानमित्यादि स्यात् । एतच्चस्य वादिनः प्रत्यक्षानुमानागमैः यथायथमभावो गृह्यते इति मतं तस्यैव स्यात् । यस्य तु योग्यत्वे सत्यनुपलब्ध्येकवेद्योऽभावः प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियगृहीत एव धर्मिणि, तस्य स्वरादान्ते विरोधः स्यादिति तत्राह—नचेति ।

१ वह्निगुह्ययोरप्रत्यक्षत्वादिभिर्भावः । २ अपरोक्षप्रमात्वानुपपत्तेरभावप्रतीतेरिन्द्रियादनुदयमाहेति वाक्यार्थः । ३ अभावस्य विशेष्यत्वे विशेषणत्वे वा भ्रान्तितिरिक्तः प्रकारो नास्तीत्यर्थः । वास्तवत्वासंभवादिति भावः । ४ कोशपानं दिव्यविशेषः । तथा च याश्वक्यस्य । देवानुमान् समन्वयर्थं तस्मान्नोदकमाहरेत् । संज्ञास्य पाययेत्साम्राजलं तु प्रसूतिप्रयम् । अर्वाकू चतुर्दशदहो यस्य नो राजदैविकम् । न्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यात् संशयः । ५ यत इति शेषः । वाय्वादौ रूपाभावज्ञानरूपव्यवहारस्येत्यर्थः । ६ सत्त्वेन प्रतीयमानान्ध्यां प्रतियोग्यनुयोगिभ्यामित्यर्थः । ७ अस्मिन्प्राप्तित्वस्य सत्त्वेनाप्रतीयमानान्ध्यामित्यर्थः—

उक्तं हि भट्टपादैर्नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते । विपरीते प्रतीयेते ते एव तदभावयोः' इति । तथाच ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रैर्विपर्ययाभावस्तु युक्तोनुमातुं हेत्वभावे फलाभाव' इति । तस्मादनुपलब्धेरनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकबलादभावप्रतीतिहेतुता स्थल- विशेषेऽवसीयते । प्रस्तुते च स्वपुष्कलकारणादेव कार्योत्पत्त्युपपत्तौ न प्रतिबन्धकामा- वस्य कारणता, अन्योन्याश्रयता चास्य मते दुर्बारा । यद्यपि मण्यादेः कार्यप्रतिकूलत्वमन्व- यव्यतिरेकावसेयं, तथापि विसामग्रीरूपतालक्षणं यदिदं प्रतिबन्धत्वं तत्तदीयाभावस्य सामग्र्यन्तर्भावविज्ञानसापेक्षं, प्रतिबन्धो विसामग्रीत्वङ्गीकारात् । तेन प्रतिबन्धत्वसाम- ग्रीत्वयोरन्योन्यापेक्षयैवाधिगतिरिति परस्पराश्रयता कथं न स्यात् ।

ननु मण्याद्यभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानसापेक्षमस्तु नाम मण्यादेर्विसामग्रीत्वज्ञानं तथापि तदभावस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव बहिस्वरूपवत्सामग्र्यन्तर्भाववगतिसंभवान्नान्योन्याश्रयतेति चेत् । मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं मण्याद्यभावाः प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाभ्यां

अयमर्थः । यदिहि वक्ष्यमाणतत्तद्ब्रह्मसंमतिवशात् प्रमाणान्तरगम्यत्वमप्यभावसास्ति तदा योग्यानुपलब्धि- गम्यस्थल एव प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणग्रहणनियमः, तत्कस्य हेतोः, तत्तदविर्नाभूतकारणव्यतिरेककारण- पौष्कल्यं हि योग्यत्वं तदन्तःपाति चेन्द्रियमिति तदभावेऽपि योग्यत्वं न भवेत् ।

यत्र तु प्रमाणान्तरगम्यत्वं तत्र तद्विरहेऽपि शक्योऽभावो ग्रहीतुमिति । व्यापकाभावाद्याप्याभावानुमाने भट्टसंमतिमाह—उक्तंहीति । अग्निधूमयोर्भावयोर्यादृशी नियम्यत्वनियन्तृत्वे गम्यगमकत्वे संमते ते एव गम्यगमकत्वे तदभावयोर्विपरीते प्रतीयेते । धूमो गनको वह्निर्गम्य इति हि भावयोः स्थितिः, अभाव- योस्तु तद्विपरीत्येनाम्यभावो गमको धूमाभावो गम्य इति स्थितिरित्यर्थः । कारणाभावेन कार्याभावानुमाने मण्डनमिश्रवचनमुदाहरति—तथा च ब्रह्मेति । 'नहि कारणसद्भावे कार्यसत्तावियोगता' इति श्लोकविरागे दोषाभावादब्रह्मेशङ्का निवर्तत इत्यख्यातिपक्षेऽविनिर्गम्यत्वमुक्त्वा स्वपक्षे वैयम्यमाह स, दोषाभावाद्विपर्ययहा- नाभावः शक्योनुमातुं हेतोरभावे फलाभावस्य नियमादिति । अन्यथापुपपत्तिबलादभावस्य कारणतासमर्थ- नमुपसंहरति—तस्मादिति । प्रतिबन्धकामाभावस्य तु न कारणत्वे किंचन प्रमाणमित्याह—प्रस्तुते चेति । उक्तान्योन्याश्रयमपि समर्थयते—अन्योन्येति । नन्वत्राप्युक्त एव परिहारः कार्यप्रतिकूलत्वस्य रूपप्रतिबन्ध- कत्वमनुत्पत्त्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवावसीयते इति तत्राह—यद्यपीति । वैसामग्र्यं हि प्रतिबन्धः, प्रतिब- न्धाभावलक्षणकारणवैकल्यं च वैसामग्र्यं, तथाच मन्त्राद्यभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानसापेक्षं मण्यादेर्वैसामग्र्य- रूपप्रतिबन्धत्वज्ञानं मण्यादिश्च प्रतिबन्धत्वज्ञानाधीनं तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानं प्रतिबन्धाभावलक्षणकार- णवैकल्येन वैसामग्र्योपपादनादिति चक्यमन्योन्याश्रयत्वमिति खण्डलकार्यः ।

प्रतिबन्धत्वस्य स्वाभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानसापेक्षज्ञानत्वेपि तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावः प्रतिबन्धज्ञानान- पेक्षः शक्यो ज्ञातुं, न ह्यम्यादेः कारणत्वं तत्तदभावस्य विसामग्रीत्वज्ञानाधीनमिति परस्पराश्रयपरिहारं पुर- वोक्तं स्मारयति पूर्ववादी—नन्विति । परिहरति—मैवमिति । अनुगतमप्युपादाय ह्यन्वयव्यतिरेको- प्रतीयेते ननु व्याहृतम् । तस्यानन्तत्वेनाशक्यज्ञानत्वात्, घटविशेषचिकीर्षया मृदिशेषोपादानानुपपत्तेश्च । नये- तद्यकिं प्रत्येतद्यैकरन्वयव्यतिरेकावभूताम् । तद्विशेषस्य प्रागनुत्पत्तेः । अनुगतेनापि तादृशा भवितव्यं यदन्त- प्रसङ्गि, तदिह प्रतिबन्धाभावस्यापि कार्यं प्रति हेतुत्वं व्याहृताकारेणाशक्यग्रहणं यदनुगतं पुरस्करोति रूप- मभावत्वं चानुगतमप्यतिप्रसङ्गि । नचाभावेपु जातिरस्ति, तत्प्रतिबन्धाभावत्वमनुगतमनुपाधिमादाय कार्य-

१ व्याप्यत्वव्यापकत्वे इत्यर्थः । २ विपर्ययज्ञानाभाव इत्यर्थः । ३ मण्याद्यभावस्यैकत्वः । मण्याद्यभावादीनां मण्याद्यभा- वत्वादिनेव कारणत्वं ननु प्रतिबन्धकामाभावेनेति नान्योन्याश्रयतेति भावः । ४ अभावापेक्षयापेक्षीभूतं यदाका- णमनुपलब्ध्यादिरूपं तद्व्यतिरेकेन्द्रियादिरूपकारणपौष्कल्यमित्यर्थः । ५ विवेकाप्रहासहेत्यर्थः । ६ दोषमनोव्यस्य निरे- कामस्य बोधभावस्त्येति शेषः । व्यापकत्वाभावमित्यर्थः । मन्त्राद्यभावत्वस्य कथनादिति भावः । ७ अत्र मन्त्रादेरिति पाठान्तरम् । ८ प्रतिबन्धाभावस्य परासामग्र्यन्तर्भावज्ञानं प्रतिबन्धत्वस्य तद्विशेषज्ञानादेरेत्यर्थः ।

कारणतया अवसीयन्ते अथवा प्रतिबन्धाभावत्वोपाधिना क्रीडीकृताः । नाथः । मण्याद्यभावानामनन्तानामुपसंग्राहकं विना प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाध्यवसानस्य पुरुषायुषेणाप्यशक्यत्वात् । नापि द्वितीयः । तथासति विसामग्रीलक्षणप्रतिबन्धज्ञानाधीनप्रतिबन्धाभावत्वोपाधिज्ञानमन्तरेण मण्याद्यभावानां सामग्र्यन्तर्भावस्य दुरधिगमतयान्योन्याश्रयताया दुरुत्तरत्वात् । नच शक्तिपक्षे प्रतिबन्धासंभवः । शक्तिमनभ्युपगच्छतामिव शक्तिमभ्युपगच्छतामपि कारणानां कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धतोपपत्तेः । वैसामग्र्यस्य प्रतिबन्धस्योदीरितरीत्या निरस्तत्वात् ।

अतः प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वासंभवात् कार्यार्थापत्तेरन्यथोपपत्तिः । उपादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिरपि शक्तौ प्रमाणमेव । ननु तत्र स्वभावभेदादेवोपपत्तेरन्यथोपपत्तिरुक्तेति चेन्मैवम् । तथासति सर्वत्र स्वभाववादपादप्रसारिकया सामान्यसमवायविशेषादेरपि पराकरणप्रसङ्गात् । तथाहि । सत्तायां स्वभावभेदादेव सदिति व्यवहारवत् द्रव्यादिष्वपि सव्यवहारोपपत्तौ सत्तामामान्यापलापः प्रसज्येत । एवं समवायवानयं घट इत्यादाविव संबन्धमन्तरेणापि गुणकर्मादेर्विशेषणत्वोपपत्तौ समवायापह्नवः स्यात् । विशेषाणां विशेषान्तरमन्तरेणैव व्यावृत्तिव्यवहारहेतुत्ववच्च नित्यद्रव्याणामपि स्वभावभेदादेव तथात्वोपपत्तौ विशेषपदार्थपरित्यागप्रसङ्गः । अथ यत्र यत्र प्रमाणमस्ति तत्र तत्र चस्त्वन्तराधीन एव तव्यवहारः, यत्र तु

पान्वयव्यतिरेकावगन्तव्यौ । यदाहोदयनः—“माभूज्जातिः, न तर्दुपहितगृहीतानामेव व्यवहारकत्वम् । सर्वत्रोपाधिमव्यवहारलोपप्रसङ्गादित्येत्यं दुष्परिहर एव दुरात्मा परसराश्रयस्त्वदेदिकल्पपूर्वकमाह—विकल्पस्यादिना । यत्तु शक्तिपक्षे कः प्रतिबन्धः, नहि शक्तेर्नाशइत्यादिना प्रतिबन्धाभावोभिहितस्तत्राह—नचेति । ननु न परस्य कार्यौदासीन्यं प्रतिबन्धो, येनेदं समीक्रियते, अपितु वैसामग्र्यमेव तत्राह—वैसामग्र्यस्येति । उदीरितरीतिः परसराश्रयः । यदत्र लीलावतीकारेणार्थापत्तिमाशङ्कोकं “तैत्रान्यथैवोपपत्तेः, भणिमन्त्रादिना दाहप्रतिपक्षभूतस्य क्षेत्रसमवायिनोऽदृष्टमेदस्योत्पादनात् । अपर्यन्तरेणापि तस्य पुरुषस्य दाहो न स्यादिति चेन्न । प्रतिनियतामिसाप्यदाहप्रतिपक्षसैवाहृष्टस्य जननादि”ति । तत्रत्वेतावद्बन्धं, किमभिविशेषोद्देशेन मन्त्रादिः प्रयुक्तः किंवा दाहो न स्यादिति दाहकामिमात्रमुद्दिश्येति स्वयमेव परिभाष्यतामिति । किंच दाहानुकूलमहापातकनिकेतने पुंसि दाहप्रतिकूलमुदाहृतप्रभावस्याप्यसंभवात्, ओपधिलिप्तं काष्ठादिष्वदाहाभावप्रसङ्गाच्च, इदमपि तेनैव शङ्कितमिति चेत्, सर्वं शङ्कितं परिहारस्त्वसंबन्धः । तत्राप्यौषधेलेपकारिपुरुषसमवेताहृष्टस्य दाहप्रतिपक्षभूतस्योत्पादादिति हि परिहारस्तत्र किं पुरुषकृतौषधेलापदादृष्टोत्वतिरौषधेलेपमात्राद्वा । नाथः । पवनाद्युपनीतौषधिसंपर्के काष्ठादावभिसंयुक्ते दाहभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । काष्ठादावप्यहृष्टोत्पादापातात् । तद्वलमनेन लीलावतीविलासवतो विलपनेन ।

प्रथमार्थापत्तिसमर्थनमुपसहरति—अत इति । द्वितीयार्थापत्तिं समर्थयते—उपादानेति । तत्र किं शक्तिवादिनोप्यन्ततः स्वभावशस्त्रग्रहणमेव शरणं तद्वरमादावेव स्वभावाश्रयणमिति अभिसन्धिरायुष्मतामाहो क्वचिदपि स्वभावातिरिक्तशक्तौ प्रमाणं नास्तीति । आद्ये प्राह—तथासतीति । सामान्याद्यपलापं यथायद्यमुपपादयति—तथाहीत्यादिना । सत्तायामनवस्थामयारसत्तान्तरमन्तरेणैव स्वभावविशेषात्सबवहारहेतुत्वाङ्गीकारवदितरत्रापि स्यादिति सत्तापलापः, तथा समवायवानयं घट इत्यापि अनवस्थामयादन्तरेणैव समवायान्तरं समवायस्य घटं प्रति विशेषणत्ववच्छुद्धः पदश्लति चैलाश्लमित्यत्रापि गुणकर्मणो स्वभावभेदादेव विशेषणविशेष्यभावप्रसङ्गात् समवायापलापः । तथाचान्यविशेषेषु परस्परव्यावृत्तिः स्वभाववशात् तत्कस्य हेतोर्विशेषेषु विशेषान्तरस्वीकारे तेषामप्यनुगतस्वरूपवत्तया रूपादिवदन्यविशेषत्वहानेः, अनवस्थानाच्च । क्वचित्त्वग-

१ जातिमन्त्रेण गृहीतानामित्यर्थः । २ अत्र तत्रेति पाठान्तरम् । ३ तद्देशवर्तिनेतिशेषः । ४ यदि अभिविशेषोद्देशेन मन्त्रादिः प्रयुक्तः एतत्क्षेत्रसंयुक्तोऽभिर्न दहत्विति तदा तद्देशवर्तिनाऽप्यन्तरेणापि दाहो न स्यात् । अभिविशेषश्च मन्त्रयोगाधिकरणदेशसंयुक्त एव । ननु व्यक्तिविशेषः । अननुगमात् । यदि तु अभिमात्रमुद्दिश्य, तदा देशान्तरस्थेनाप्यभिना दाहो न स्यात् इति वीकारुदाशयः । ५ अभिविशेषोद्देश्यकर्मोपधिलोपसामावादिनि भावः ।

तत्रास्ति तत्र तत्त्वभावभेदादेव व्यवहार इति व्यवस्थेति चेत्, हन्तैवमत्रापि प्रमाणसद्भावदेव स्वरूपातिरेकिणी शक्तिरङ्गीक्रियतां कृतं स्वभाववादापादावलम्बनकातरतथैत्यलमतिविस्तरेण ।

अनुमानमपि तत्र प्रमाणम् । तथाहि—‘स्थितिस्थापकधर्मान्यातीन्द्रियाद्विष्टप्रसंगः । दहनो गुणयोगित्वाद्गुरुत्वाश्रयकुम्भवत्’ ॥ २४ ॥ वह्निरद्विष्टातीन्द्रियस्थितिस्थापकेतरभावाश्रयः गुणवत्त्वात् घटवत् ।

नचेश्वरवादिनामतीन्द्रियत्वमसिद्धम् । प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणानालम्बनानुव्यवसायेतरासदादिप्रत्यक्षाविषयत्वस्यातीन्द्रियशब्दार्थस्य गुरुत्वादौ भावनादौ च प्रसिद्धत्वात् ‘गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रिया’ इति प्रशस्तपादैरुक्तत्वात् । ननु किमिहाश्रयशब्देनाधारत्वमात्रं विवक्षितमुत्त तत्समवायित्वम् । नाद्यः । वहेः कदाचित्परमाण्वाधारत्वसम्भवेन सिद्धसाधनत्वात् । नापि द्वितीयः । समवायमनिच्छतो भाट्टस्याप्रसिद्धविशेषणत्वादिति चेन्मैवम् । समवायानङ्गीकारेपि स्वीयरूपादीनामिवायुतसिद्धतया वहेर्विशिष्टधर्माधारत्वस्याश्रयशब्देन विवक्षितत्वात् । नचातीन्द्रियकर्माश्रयत्वेन भीमांसकस्यार्थान्तरता । शक्तिवादिनोरपि प्राभाकरवद्भाट्टवेदान्तिनोः कर्मातीन्द्रियत्वस्यासिद्धत्वात् ।

स्या निर्विशेषस्वीकारे च तेषामेवान्वयविशेषत्वादिति तद्वन्नित्यद्वयानामपि स्वभाववशाद्वायुनिवृत्तिजनकत्वं योगिनामित्यन्वयविशेषापलप इति खण्डलकार्यः । उपलक्षणं चैतत्, कालादेस्तैस्संबन्धमन्तरेण सत्त्ववदितरेषामपि स्यादिति कालाद्यपलप इत्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयमाशङ्क्य परिहरति—अथेत्यादिना । उपादानादिप्रहणमुपलक्षणं चञ्चुरादीनां रूपादिग्रहणनियमस्यापि । नहि सन्निकर्षमात्रात्तत्संभवः । रसादेरपि तत्त्वात् ।

एवमर्थापत्तिं समर्थयित्वा अनुमानमपि समर्थयितुं श्लोकेन संगृह्यति—स्थितिस्थापकेति । दहन इति धर्मनिर्देशः । पूर्वार्द्धेन साध्यनिर्देशः । सद्गृहं विष्णोति—चह्निरित्यादिना । आकाशादिसंयोगव्यावृत्त्यर्थमद्विष्टेत्युक्तम् । रूपादिव्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम् । प्रत्यक्षैवावयवतः पक्षत्वाद् व्युत्पादिगतरूपेण नार्थान्तरता । स्थितिस्थापकनिवृत्त्यै स्थितिस्थापकेतरेत्युक्तम् । अतीन्द्रियाकाशाद्यन्योन्याभावस्याभिगतस्य भावग्रहणम् । आश्रयग्रहणेन चायुतसिद्धतया सिद्धसंबन्धत्वं विवक्षितम् । तेन न वायुर्परमाणुभिरर्थान्तरता । गुरुत्वमादाय घटादौ साध्यप्रसिद्धिः ।

आकाशादौ च परममहत्त्वादिना । पूर्ववायुक्तमनूय दूषयति—नचेत्यादिना । प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणालम्बनव्यतिरिक्तमनुव्यवसायव्यतिरिक्तं च यदसदादिप्रत्यक्षं तदविषयत्वमतीन्द्रियत्वं विवक्षितं तच्च गुरुत्वादौ प्रसिद्धं तेन न पूर्वोक्तात्रविधाप्रसिद्धविशेषणान्तरा इति प्रशस्तपादवचनसंमतिपूर्वकं दर्शयति—प्रमाणान्तरेति । भाव्ये भावनाग्रहणं स्थितिस्थापकस्याप्युपलक्षणम् । कुण्डलिव बदरागामाश्रयो भवति वायोरप्यभिपत्तिं तैर्नार्थान्तरता इति प्रथमं पक्षं दूषयित्वा द्वितीये भाट्टे प्रत्यप्रसिद्धविशेषणतामाह—नापि द्वितीय इति । अस्ति तावदग्नेर्वान्नाश्रयत्वविलक्षणाश्रयत्वं स्वकीयरूपस्पर्शादि प्रति, तन्मालु नाम समवायित्वं स्वरूपादितुल्यमेवेदमाश्रयत्वमभिमत तेन नार्था-न्तरताऽप्रसिद्धविशेषणते इत्याह—मैवमिति । अयुतसिद्धतयेति । द्वैयोरन्यतरस्य वा पृथगाश्रयित्वराहित्यं पृथगगतिमत्त्वरहित्यं वा अयुतसिद्धिस्वदत्तयैवार्थः । ननु तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकरस्यार्थान्तरनोकेति तत्राह—नचेति । भाट्टवेदान्तिनोस्त्वावदर्शीणमिदमनुमानं तयोः कर्मप्रत्यक्षवादित्वाद् प्राभाकरस्य तु भ्रान्तिम प्रमप्रत्यक्षत्वान्निमानः । तथाहि कादणचित्कातिशयः स्यात्प्रयातिशयपूर्वक इति न तावद्यातिरस्ति । तस्यामेव क्रियायां व्यभिचारात् । या दा

१ इदं योगिस्वीकारस्याप्युपलक्षणम् । अतीन्द्रियत्व प्रत्यक्षाविषयत्वं ननु इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वं तथा एति ईश्वरप्रत्यक्षविषयस्यापि तथात्वेन अतिद्वयोकेरसांगलापातात् । २ प्रथमविशेषणानित्यर्थः । ३ कालसंबन्धमित्यर्थः । ४ क्वचिदपि स्वभावातिरिक्तशक्तौ प्रमाणं नास्तीत्येवंरूपमित्यर्थः । ५ गुणवत्त्वे हेतौ प्रत्यक्षत्वस्य विशेषणत्वादिप्रकृतितम् । ६ वायुश्च परमाणवश्चेति द्रष्टव्यमासः ननु वायोः परमाणव इति पृथीतरूपरूपः । परमाणुमात्रस्यातीन्द्रियत्वात् । ७ अतीन्द्रियत्वाप्रसिद्धिमूलक इति शेषः । ८ परमाणूनां नित्यद्रव्यत्वेनानाभिप्रत्यक्षस्वीकाराद् वायुप्रहणम् । ९ द्रव्यो रूपपदयोर्धमा । धानात्पानोरन्यतरस्य धानस्य वा यथा । आत्मानतु नित्यद्रव्यत्वेनाश्रयित्वप्रसिद्धिरेवेति भावः ।

विपक्षे च वहिस्वरूपस्यैव कारणत्वात् प्रतिबन्धकाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वात् मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोरविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधकः । नचैवंविधधर्माश्रयत्वे गुणकर्मादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्गः । तेषां गुणानधिकरणत्वात् । नचैवंविधधर्माश्रयत्वाद्गुणाधिकरणत्वमपि स्यादिति वाच्यम् । प्रसङ्गस्य विपर्ययापर्यवसायित्वात् । नहि यद्गुणानधिकरणं तदेवंविधधर्माधिकरणं न भवतीति प्रतिवादिंसंप्रतिपन्नमुदाहरणमस्ति, येनायं प्रसङ्गो विपर्यये पर्यवसायी स्यात् । शक्तिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात् ।

द्वितीयानुमानेपि मायावादिनं प्रति नेश्वरकारणत्वेन सिद्धसाधनता । तस्योभयवादिसंमतकारणातिरिक्तत्वाभावादीश्वरकारणत्वस्य वेदान्तिभिरभ्युपगमात्, जन्यभावजन्य इति विशेषणान्तरप्रक्षेपेण भाट्टस्याप्यर्थान्तरपरिहारसम्भवात् । नचैवं सति नित्येषु शक्त्यभावप्रसङ्गः । अनित्येषु शक्तिसिद्धौ तद्गुणान्तावष्टम्भत एव नित्येष्वपि तत्सिद्धेः, सलिलपरमाणुरूपादिवन्नित्येषु तस्या अनित्यत्वोपपत्तेः । श्रीहीनप्रोक्षतीत्यादिद्वितीयाश्रुतिभिश्च व्रीह्यादिषु अतीन्द्रियशक्तिसद्भावसिद्धिः ।

नचादृष्टस्य चेतनधर्मस्याचेतनेषु व्रीह्यादिष्वसंभवात् तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदी-

क्रिया सा कादाचित्की न वा, नचेतन्नित्यतया संयोगादिनित्यतापत्तिः । कादाचित्की चेदतिशयान्तरपूर्वकत्वेऽनवस्था । अतएवकत्वे हेतोस्त्रैव व्यभिचार इति भावः । विपक्षे बाधकमाह—विपक्षेचेति । विपक्षे मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोः । अनादरे सप्तमी । अविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधकः, कुनः, वहिस्वरूपस्यैव कारणत्वात् । प्रतिबन्धाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वादिति योजना दूषणान्तरमुक्तं निराकरोति—नचैवमित्ति । यद्यपि शक्तिवादिनां गुणादिष्वप्येवं धर्माभिमतस्तथापि माभूद्गुरुत्वस्थितिस्थापकादेरुक्तहृत्पतत्तद्वान्तरजात्याश्रयत्वमात्राद्द्रव्यत्वप्रसक्तिः । अथ तर्ह्यप्यनेकवृत्तिलाद्विष्टमपि भवतीति मत्तं तथापि गुणवत्त्वं द्रव्यत्वप्रयोजकं नच तद्गुणादावप्यस्तीति न द्रव्यत्वप्रसक्तिरित्याह—तेषामिति । तर्ह्यनेनैव गुणाधिकरणत्वमपि प्रसङ्गनीयमिति तत्राह—नचैवमित्ति । प्रशिथिलमूलतया आपादनं दूषयति—प्रसङ्गस्येति । एवं ह्यस्य विपर्ययः, विप्रतिपन्नं गुणादि एवंविधधर्मानधिकरणं गुणानधिकरणत्वादिति । नचात्र व्याप्तिरस्ति । शक्तिगुरुत्वाश्रयव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात् । अस्तु तर्हि शक्तिरेव विपर्ययपर्यवसानभूमिः । तस्याः गुणानधिकरणत्वाद्विष्टातीन्द्रियत्वादिविशिष्टधर्मानाश्रयत्वाच्च । तथा शक्तावपि शक्तिस्वीकारेणानवस्थापातादिति चेन्मैवम् । नैयायिकादिमते तदसिद्धेः । नच परसिद्धेन दृष्टान्तेन प्रसङ्गः प्रसरमाहाद्यतीति सांप्रतम् । उभयवादिप्रमितससाधनाङ्गतानियमभङ्गप्रसङ्गादिति भावः ।

एवं प्रथमानुमानं समर्थयित्वा स्फोटः संप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्य इत्यनुमानेऽर्थान्तरतामुक्तं परिहरति—द्वितीयेति । ननु भवतु वेदान्तिमिरीश्वराज्ञीकाराहुभयवादिंसंप्रतिपन्नत्वेन तदतिरिक्तत्वाभावादेश्वरैरेणार्थान्तरता, सीमांसकानां त्वनीश्वरत्वादित्वाद्भवत्येव तेनार्थान्तरतेति तत्राह—जन्यभावेति । तथाच न नित्येश्वरैरेणार्थान्तरतेति भावः । भाट्टस्यापीत्युपलक्षणम् । तर्हि नित्यगतनित्यशक्ताव्याप्तिरित्याशङ्क्य निषेधति—नचेत्यादिना । नित्यद्रव्येषु द्रव्यत्वेन नित्यगुणेषु गुणत्वेन सामान्यादिषु च शक्त्यन्यनित्यत्वेन संप्रतिपन्नवदेव शक्त्यनुमानादिति भावः । स्यादेतत्, साध्यतां नाम, नित्यता तु कथं स्यात्, यावता शक्त्युपाधावेकरूपायां नित्यत्वानित्यत्वविरोधादिति तत्राह—सलिलेति । इदमत्राकृतम् । नेयं शक्तिरेकैव येनैकरूपाः शक्तेर्जन्यत्वमजन्यत्वं च विप्रतिपिष्यते, अपितु प्रतिपदार्थविभिन्ना, तथाचावयवेषु अनित्यत्वेपि रूपस्य पाद्यः पाद्यकपरमाणुषु नित्यत्ववन्नित्यत्वं किं न स्यादिति । आधेयशक्तावागमं प्रमाणं समर्थयते—श्रीहीनिति ।

यत्तु मुख्यार्थानुपपत्त्युपन्यासेनार्थान्तरत्वमुक्तं तदनूय दूषयति—नचेत्यादिना, वाच्यमित्यन्तेन । तत्र

१ अर्थात्तत्रोपे । २ व्रीह्यादिविषयकैत्यर्थः । ३ गुरुत्वादिवृत्तिसामान्यमपीत्यर्थः । ४ शक्तेर्गुरुत्वाश्रयाच्च व्यतिरिक्तत्वेत्यर्थः । ५ शक्तिरूपे धर्मे इत्यर्थः ।

यत्रप्रतिपत्त्युपपत्तेश्च द्वितीयाश्रुतिर्गोणीति वाच्यम् । धर्माधर्मलक्षणादृष्टविलक्षणस्यैव कस्य-
चिदतिशयस्य तण्डुलपिष्टपुरोडाशादिपरम्परया प्रधानापूर्वजननसामर्थ्यापरनामधेयस्याभ्युप-
गमात् । अन्यथा स्वरूपेणैव ब्रीह्यादीनां तत्साधनत्वे प्रोक्षणादिविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्,
दृष्टस्यासंभवे चादृष्टस्यैव कल्पनीयत्वात्, सम्भवति च मुख्ये लक्षणाध्रयणस्यानवकाशत्वात् ।

एतेन लीलावतीकारस्यापि निराकृतः प्रयोगः । प्रमाणानामागमार्थापत्त्यनुमानानां
दर्शितत्वेन प्रमाणानुपलभ्यमानत्वादिति हेतोरसिद्धेः । तदेवमर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावा-
त्पदानां तदभिहितेभ्यः पदार्थेभ्यः रात्रिधानादिसहकारिवशात्पदार्थानामन्योन्यान्वयप्र-
तिपत्तिर्लक्षणया सिद्ध्यतीति सिद्धम् ॥१३॥

हेतुमाह—**धर्माधर्मैति** । नास्मिन्धर्माधर्मात्मकादृष्टं ब्रीह्यादिष्वभ्युपेयते, अपितु तद्विलक्षणम् । नह्यतीन्द्रि-
यातिशयः सर्वो धर्माधर्माभिधानः । गुरुत्वादेरपि तत्प्रसङ्गात् । योहि सुखदुःखफलौ पुरुषार्थवतिशयो पुरुष-
मवेतौ तौ नाम पुण्यापुण्याभिधानौ । एतादृशानि तु ऋत्वर्थानि, तथैव श्रुत्यादिप्रमाणैरवगमादिलर्थः । यथाच
प्रोक्षणादीनां गुणकर्मतया स्वतन्त्रापूर्वकल्पनानवकाशः, तथा भेदलक्षणे भावार्थपादे 'तानि द्वैधं गुणप्रधान-
भूतानी' लशोकम् । ननु ब्रीह्याणामेव प्रोक्षितानां तण्डुलादिपरंपरया प्रधानापूर्वनिर्वर्तकत्वमस्तु किमत्रादृष्टेन
विनानुपपन्नमिति तत्राह—**अन्यथेति** । एतदनुपपत्त्यात्मकं, प्रमाणान्तरमेव बोध्यते, त्रिविधं ह्यत्र दृष्टार्थ-
दृष्टार्थमुभयार्थं चेति । तत्र दृष्टार्थेऽपि नियमादृष्टमस्त्येव । केवलं दृष्टे विधिवैयर्थ्यात्, अनन्यत्वम्यस्य च
शब्दार्थत्वात् । अतोविध्यन्यथानुपपत्तिरप्यदृष्टसाधिकैलर्थः । ननु दृष्टमभवेनादृष्टकल्पनाऽप्युक्तेति तत्राह—
दृष्टस्येति । ननु भवतु विध्यन्यथानुपपत्त्याऽदृष्टं, तच्च चेतनसमवायि, चेतनधर्मत्वात् भावनाया इति तत्राह—
संभवति चेति । अयमर्थः । ब्रीह्यादीनां द्वितीयाश्रुत्या ब्रीह्याणामेव प्रोक्षणेन संस्कार्यत्वं श्रुतं ननु
सक्तूनामिव होमेन भस्मसाद्भूतानां विनियोक्यमाणत्वानुपपत्तिः येन सक्तूमिरितिवद्ब्रीहिसिरिति श्रुतविनियोग-
ज्ञावकाशः । नच तीर्थस्नानादिवत्कर्तृधर्मतौ । तदिह न विषयतामात्रेण द्वितीया श्रूयते किंतु संस्कारजन्याति-
शयाधारतया । तथा सति लक्षणा स्यात् । नच विनाकारणं लक्षणा । अतिप्रसङ्गात् । नचागमैकभूमिपु प्रमाण-
न्तरावतारो, येन विरोधशोऽपि स्यात् । तदुक्तं भाष्यकृद्भिः 'न विधौ परः शब्दार्थ' इति ।

यत्तु श्रीबल्लभेन शक्त्यपहवायानुमानमुक्तं तदप्युक्तप्रकारेण दूषितमित्याह—**एतेनेति** । एतेनेत्येति-
वृष्वक्षसिद्धिमाह—**प्रमाणानामिति** । किंच यच्छब्दतच्छब्दयोस्तावदर्थपर्यालोचनानामनुमानसती-
वृत्तिकृष्णान्डायते । तथाहि यत्तच्छब्दाभ्यां साध्यविवक्षायां यथा नीलं पीतरूपेणेति दृष्टान्तासङ्गतिः ।
नीलरूपविवक्षायां तु पक्षासङ्गतिः । अन्यथानुगतोयौऽनतिप्रसङ्गो दुर्मिरूपः, सारप्रतिपक्षत्वात् । तथाहि
विवादापदं स्वरूपमात्रसंबन्धातीन्द्रियसापेक्षं जन्यजनकत्वादात्मवदिति शक्यमनुमातुम् । नचात्रात्मत्वमुपाधिः ।
स्वरूपमात्रसंबन्धातीन्द्रियगुरुत्वसापेक्षाणां पतने पाषाणादीनामात्मलाभावेन साध्याव्यापकत्वात् । नच
विवादापदं स्वरूपमात्रसंबन्धातीन्द्रियभावनासापेक्षमदृष्टसापेक्षमिति वा जनकत्वादात्मवदित्यपि प्रसङ्गेनामात्र-
समानयोगक्षेपता । आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् । यच्च तेनोक्तं शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थितिः,
अनपेक्षत्वे तथैव व्यभिचार इति । तदसत् । शक्तस्य कारणत्वाभ्युपगमात् । नचान्ततः प्रतीतिं प्रलपि-
'कारणत्वमस्तीति वचनीयम् । प्रत्यक्षप्रतीतेरवार्थजन्यत्वात्, शकेश्चाप्रत्यक्षत्वात् । अनुमानादीनां तु नार्थ-
न्यत्वमितरथाऽतीतायनुमानानुदयप्रसङ्गात् । नच योगिनामतीताद्यपि प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षेऽप्यर्थजन्यत्वं शक्य-
भजनम् । अतीतादीनां प्रत्यक्षत्व एव विवादात् । यथाह परमर्षिः—'वियमैनीोपलम्भना' इति । शारदा-
मुपसंहरन् शक्तिसमर्थनस्य समान्ययोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना** । अर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावात्तदानीं

१ सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो लक्ष्य एवेति च स्यात्तमिति नीमांसकसिद्धान्तादिति भावः । २ कर्मभेदलक्षणरीते
इत्यर्थः । ३ तान्याख्यातानि द्वैधं द्विधा गुणकर्मप्रतिपादकानि प्रधानकर्मप्रतिपादकानि चेति ध्वजार्थः । ४ वेत्तव्य
इति सामलः पाठो भाति । ५ प्रोक्षणस्य गुणकर्मत्वादिति हेतुः । ६ विषयतामात्रेण द्वितीयादीनां द्वैधे सति ।
७ लक्षणादीनां भूतेति शेषः । ८ धर्माधर्मादिरूपातीन्द्रियसापेक्षरगतमिति शेषः । ९ शक्तीं दृष्टत्वात्तदानीं
कारणत्वरूपहेतोरेवावाद् व्यभिचारात्भावः । १० शक्तेरिति शेषः । ११ इन्द्रियैरिति शेषः ।

ननु पदानामेवान्योन्यान्वितस्वार्थाभिधायकत्वसंभवे किमिति पदार्थानां लक्षणया-
न्योन्यान्यव्यप्रतिपत्तिजनकत्वनास्थीयते । तथाहि योग्येतरान्वितस्वार्थेषु पदानामावापो-
द्धारदर्शनात्तत्रैव सामर्थ्यमध्यवसीयते । यद्यपि प्रतिप्रयोगं विशेषान्तरतत्संसर्गयोर्व्य-
भिचारः, तथापि योग्येतरान्वितस्य स्वार्थमात्रस्याव्यभिचारात् प्रथमायगतयोग्येतरान्वि-
तस्वार्थाभिधानसामर्थ्यानुसारेण प्रयोगान्तरेष्वपि तथैव कल्पयिष्यते ।

ननु किमनभिहितेन पदार्थेनान्वितं स्वार्थमवबोधयति गोपदमुत पदान्तराभिहितेन ।
नाद्यः । एकस्मादेव पदात्तत्तदर्थान्वितस्वार्थावबोधसंभवेन पदान्तरस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न
द्वितीयः । परस्परश्रयप्रसङ्गात् । तथाहि गामानयेत्यत्र गोपदं यावदानयपदेन गोपदा-
र्थान्वितस्वार्थो नाभिधीयते न तावत्तदन्वितस्वार्थमभिधातुमर्हति, एवं तदपि पदं याव-
त्स्वार्थान्वितमर्थं गोपदं नाभिदध्यात् तावत्तदन्वितस्वार्थं नाभिधत्ते ततश्च गोपदेन तद-
न्वितस्वार्थेऽभिहिते पश्चादानयपदेन तदन्वितः स्वार्थोऽभिधातव्यः, सति च तस्मिन् गोपदेन
स्वार्थोऽभिधातव्य इति व्यक्तमेव परस्परश्रयत्वम् । पदार्थमात्राभिधानपूर्वके तु तदन्वि-

पदैरेव स्वामिहितपदार्थेभ्यो द्वारभूतेभ्यः सन्निधानादिसहकारिवशात् पदार्थानामन्योन्यान्यव्यप्रतिपत्तिलक्षणया
सिद्ध्यतीति सिद्धमित्यन्वयः । 'इत्येषा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुःखीतितो मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्या
सहायोहिता । शक्तिर्विश्रमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधोद्धर्निर्धूताखिलमेदगन्धममलं वन्दे भवानीपतिम् ।'

पदार्थान्वयप्रतिपत्तिः पदैर्लक्षणया सिद्ध्यतीत्युक्तं, तत्र पदार्थानामन्वितावस्थापि पदैरभिधेयैव न लक्ष्येति
अन्विताभिधानैवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्तेतराम्—नन्वित्यादिना । श्रौतत्वसंभवे लक्षणा न न्याय्या, मुख्या-
शुस्यगोमुस्यस्याभ्यर्हितत्वादिति भावः । नन्वन्विते सामर्थ्याश्रयणाद्वरं स्वरूपमात्रे सामर्थ्याश्रयणमतिताध-
धात् इतरथा गौरवप्रसङ्गादिति तत्राह—**तथाहीति** । प्रमाणगर्भगौरवं न दोषायेति भावः । नन्वेकस्मि-
न्प्रयोगे बन्धनान्वितं गोत्वं प्रतीयते अपरस्मिन्नानयनान्वितम् अपरत्र दर्शानान्वितमिति व्यभिचारिणौ पदा-
र्थान्तरतदन्वयौ, अव्यभिचारि च गोत्वम्, अव्यभिचारिणि सामर्थ्यं युक्तमाश्रयितुमैककल्प्यादतः पदार्थमात्रमेव
पदशक्तिगोचर इति तत्राह—**यद्यपीति** । ननु किमित्येवं व्यभिचारिणोरपि पदार्थान्तरतत्संसर्गयोरनुगत-
मेकं रूपं आपाय अनुगतशक्तिकल्पनानिर्बन्ध इति तत्राह—**प्रथमेति** । तदुक्तं वान्यार्थमातृकायां नाथेन-
'आकाङ्क्षासन्निधिप्राप्तयोग्यार्थान्तरसंगमात् । स्वार्थानाहुः पदानीति व्युत्पत्तिः सन्निता यदा । अन्वर्थव्यभिचा-
राभ्या तदा दोषो न कश्चन ॥' इति । प्रयोगान्तरेषु तुरगमानयेत्यादिषु इत्यर्थः ।

अत्राभिहितान्वयवादिनामाश्लेषमवतारयति—**नन्वित्यादिना** । येन पदार्थान्तरेणान्वितं स्वार्थमभि-
दधाति गोपदं तदिकमन्येनानभिहितम् उताभिहितम् । आद्ये पदान्तरवैयर्थ्यं, विनैव तदभिधानं तदन्वयला-
भात् एकपदादेव सर्वार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् । नच योग्येतरमात्रान्विताभिधानिपि तद्विशेषान्विताभिधानसिद्धये
पदान्तरोपादानम् । विशेषान्विताभिधानेप्यभिहितानभिहितविकल्पस्य तुल्यत्वात् । द्वितीयं दूषयति—**न-
द्वितीय इति** । आनय इति पदेन गोत्वान्विततयाऽनयनानभिधाने सति आनयनान्वितं गोत्वं गोपदमभि-
दध्यात् । एवं गोपदेनानयनान्विते गोत्वेऽभिहिते तदन्वितमानयनमानयेतिपदमभिदध्यादित्यन्योन्याश्रय
इति खण्डलकार्यः । ननु नात्र परस्परश्रयताया अवतारः, परस्परनिरपेक्षाणि प्रथमं पदानि पदार्थानससृष्टान-
भिधाय पश्चादन्योन्यान्वितास्त्वानेव पदार्थानभिदधत इति तत्राह—**पदार्थमात्रेति** । न केवलमेवं कल्प-

१ इदमन्योन्यान्वयान्वयि । २ सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वाच्येत्यर्थः । दुःखीतितोऽस्मिन्स्वरचनारूपत्वान्माया । प्रबोध-
भयतो विद्यामपादविद्या सहायत्वेन कल्पितेति योजना । ३ योग्येतरान्वितशक्तिवादिनो भाट्टाः । ४ अनुगते शक्ति-
कल्पनेति सप्तमीसमाप्तः । ५ शक्तिप्रदः । ६ आवापोद्दाराभ्या तदा योग्येतरान्वितस्वार्थे शक्तिस्वीकारात् विशेषा-
न्तरतत्संसर्गयोर्व्यभिचाररूपो दोषो नैत्यर्थः । ७ समभिध्याहारविशेषरूपाकाङ्क्षाभासः सत्सर्ग इति वादिना नैया-
यिकानामित्यर्थः । वान्यलक्ष्यः संसर्ग इति वादिना त्वेत्यर्थः ।

ताभिधाने द्विरभिधानमप्रमाणमनुपपद्यमानं चापद्येत । ननु द्विरभिधानं न पदजातस्य, साहचर्यवशात्स्वार्थेषु प्रथम स्मारकाणा पश्चादन्विताभिधायकत्वाभ्युपगमादिति चेन्नैवम् । साहचर्यदर्शनदृश्यामन्वितानामेवानुभूततया तथैव स्मरणस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । नहि पद पदार्थमात्रप्रतिपत्तये प्रयुज्यते, किंतु व्यवहाराय, स चान्वित एवेति कथमन्वितानामेव पदार्थानां पदेभ्यः स्मृतिः स्यात् । तथा च गा पश्येति प्रयोगे गोपदेन पूर्वानुभूतानयनान्वितस्वार्थस्य स्मारितत्वात्पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थमसङ्गतं प्रसज्येत, एवं प्रासादं पश्येत्तत्र प्रासादान्वितस्वार्थाभिधायकत्वात्पश्येति पदस्य न गोपद तेन संबध्येत । तथाच वाक्यार्थः कापि परिनिष्ठितो न सिद्ध्येत् ।

नन्वव्यभिचाराद्गोपदं स्वार्थमात्रमेव स्मारयति, नार्थान्तराणि, तेषां व्यभिचारित्वादिति चेत् । मैवम् । पदभ्यासादरप्रत्ययैराहिताया भावनायाः प्रबोधवैत्याः स्मरणहेतुत्वाङ्गीकारात् । तत्प्रबोधस्य च व्यभिचारिण्यर्थान्तरे परिगणितप्रणिधानसाहचर्यादिजन्मनोऽविशेषात् । परिगणिता हि स्मृतिहेतवः प्रणिधानाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाभिता-

नाया प्रमाणाभावः, अपितु प्रमाणविरोधश्चेत्याह—अनुपपद्यमानं चेति । तथाहि ससृष्टाद्येपि चेत् पदानि गृहीतसगतिकानि, तमपि प्रथममेवाभिदध्युः, अगृहीतसगतिकत्वे पश्चादपि नाभिदध्यु इत्यस्येवावतुपपत्तिः, सकृत्प्रयुक्तशब्दस्य विरम्यव्यापारानुपपत्तिर्वानुपपत्तिः । ननु न प्रथममभिधायकानि पदानि, येन द्विरभिधानं प्रसज्येत, अपितु प्रथम पदार्थेषु स्मृतिरेव जायते सहचरितदर्शनात्, सहचरितानि हि पदार्थे प्रथम पदान्नुभूतानि देवदत्तदर्शनादिवत्तत्सहचरितयज्ञदत्ते, अनन्तर तु ससृष्टदृश्या स्मारितानां पदार्थानामभिधानमिति तदेतच्छङ्कयित्वा परिहरति—मैवमिति । अन्वितपदार्थे साहचर्यमेवोपपादयति—नहि पदमिति । व्यवहारसमर्थससृष्टपदार्थे साहचर्यासाहाय्यस्मारकपदानां पदार्थमात्रस्मारकत्वमप्रतिद्विमिल्यं । अत्रोक्तं च दूषणान्तरमाह—तथाचेति । अयमथ । गमानयेति प्रयोगे गोपदस्यानयनान्वितगतौत्वेन साहचर्योपलम्भात् गा पश्येति प्रयोगेपि कारकाभिधायिगोपदमानयनान्वितमेव गौत्व स्मारयेदिति पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थमसङ्गतं प्रसज्येत । एव तस्मिन्नेव प्रयोगे गोपदमपि पश्येत्यनेन क्रियावाचिनाऽनाकाङ्क्षिताथस्मारकमसङ्गतमेव स्यात्, पश्येत्यस्य प्रयोगान्तरेऽर्थांतरसाहचर्यदर्शनादिति । उक्तामन्यवस्थां सर्ववाक्येष्वतिदिशति—तथाचेति ।

साहचर्यविशेषेपि पदायातरवैपम्यं शङ्कते—नन्विति । व्यभिचारेपि भूयोदर्शनायाहितसंस्कारोद्घोषादुत्पद्यमाना स्मृतिर्नान्वितान्वितपदार्थयोर्विशिष्यत इति परिहरति—मैवमिति । भावना संस्कारः । सकृद्गृहीतेपि तद्विदादौ पट्टप्रत्ययः, कण्डिकादावभ्यासप्रत्ययः, अद्भुतेष्वादरप्रत्ययः, तथाप्यप्रबुद्धस्य न स्मृतिव न कत्वमिति प्रबोधप्रदणम् । ननु भावनोद्घोष एव न तथा व्यभिचारिणि, यथा अव्यभिचारिणि पदार्थमप्येति, तत्राह—तत्प्रबोधस्येति । प्रबोध उद्घोष । परिगणितेभ्यः प्रणिधानसाहचर्यादिभ्यो जन्म यस्य प्रबोधस्य तस्येत्यर्थः । भगवदक्षपादेन परिगणितानेव शास्त्रान्तरे स्मृतिहेतुत्वं शैव्येति—परिगणिता हीति । स्मृतिहेतवः संस्कारोद्घोषनद्वारेति शेषः । प्रणिधान मनोऽप्यधानम् । अभ्यास प्रसिद्धे । लिङ्गार्थासिद्धिरकारः । लक्षण धवलच्छत्रादिविधि राजादिसंस्कारोद्घोषकम् । सादृश्यं गुक्तिभास्वरतादि रजतादिसंस्कारोद्घोषकम् । परिग्रह स्वीकार कलाद्रिसंस्कारस्य । एवमाधिताश्रयावपि परस्परसंस्कारस्य । सम्बन्ध सहचार एव रितसंस्कारस्य । आनन्तर्यं पूयतनपदाथसंस्कारस्य । वियोग कामिन्यौदौ । एककार्यमेकसादुपपन्नकार्यमन्यत्तमसंस्कारस्य । विरोध सपनकुलादौ । अतिशयतातिशयिते । म्यास्यौ व्याप्यव्यापकयोः । व्यवधानं शिष्यैर्मन्त्र

१ पदपदार्थयोरीत्यादि । २ उद्घोषाया इत्यर्थः । ३ विशेषार्थताभकारकत्वस्यादि । ४ संस्कारस्येति शेषः । ५ भूयोदर्शनरूपः । स च संस्काराभाषक संस्कारोद्घोषकश्चेत्यभिप्रेत्येदम् । ६ साधनानाजिज्ञासाभ्यासिसंस्कारोद्घोषेति शेषः । ७ संस्कारस्येति निष्कृत्य संस्रज्येते । ८ एकस्य कावयमिति समासः । भाववधानं नोद्घोषक इति भाति । ९ संस्कार उद्घोषेति शेषः । १० नियतसाहचर्यरूपेत्यर्थः । भागिताश्रयतत्त्वं आपाताश्रयव्यापकम् ।

अयसंबन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयव्याप्तिव्यवधानसुरदुःखेच्छाद्वेषभयार्थत्वक्रिया-
यारागधर्माधर्माः प्रामाणिकैः, अस्ति चेह्योग्येतरान्वयस्यापि साहचर्यं स्मरणहेतुः । तस्मा-
त्पदैरभिहिताः पदार्था एवाकाङ्क्षादिमन्तः परस्परान्वयं बोधयन्तीति युक्तमाश्रयितुम् ।

मैवं, त्वयापि पदार्थविपयाः प्रत्ययाः प्रमाणविपर्ययसंशयादिष्वनन्तर्भावात्स्मृतय एष्ट-
व्यास्ताञ्चान्वितगोचरा न स्वरूपमात्रगोचरा इति तुल्यो दोषः । नच वाच्यमभिधानतः
स्मारितमेव वाक्यार्थान्वयि न साहचर्यमात्रादिति । गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीत्यादौ पदान्-
नभिहिततीरादीनां वाक्यार्थान्वयप्रसङ्गात् । अभ्यासातिशयश्च पदार्थस्मरणहेतुः । सच
यथा पदानां स्वार्थेषु, न तथार्थान्तरेषु । तेषां व्यभिचारित्वात् । तथा च स्वरूपमात्रेणैव पदे-
भ्यः स्मारिताः पदार्थाः आकाङ्क्षादिमन्तः पदैरन्विता अभिधीयन्त इति न परस्पराश्रयता ।
नापि पदान्तरानाकाङ्क्षा । आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, साचामिधानापर्यवसा-

हिते । सुखदुःखादि तन्मातीयस्य तद्धेतोश्च । अर्थत्वैर्मर्थनीये । अर्थत्वं तु अप्राप्तविषये पुनः पुनरिच्छा । तेनेच्छया
न पीनरुतयम् । क्रियारागः क्रियामक्तिः स्वविषयस्य । धर्मोधर्मौ शुभाशुभविषयसंस्कारोद्बोधकौ । यस्मादेवम-
न्वितामिधानपक्षो न घटतेऽतोमिहितान्वयपक्ष एव श्रेयानित्युपसंहरति अभिहितान्वययाथी—तस्मादिति ।
अत्रान्वितामिधानवादी स्वपक्षदूषणं प्रतिबन्धना समादधाति—मैवमित्यादिना । पदार्था एव पदैरभिधी-
यन्ते तदन्वयस्तु लक्ष्यैवे इति यस्मिन्मिहितान्वयवादिनो मतं तेनापि पदार्थविपयाः प्रत्ययाः प्रमाणत्वेन नाभ्यु-
पगन्तुं शक्याः । अनविगतायैगन्तुलाभावात्, सर्वस्य सर्वैवप्रसङ्गाच्च । नापि विपर्ययसंशयत्वाभ्याम् । यथार्थ-
निश्चयत्वात् । अतः परिशेषात्स्मृतय एवैष्टव्याः ताश्च न पदार्थमात्रगोचराः, सहचरितदशेनात् उल्लेख्यं संस्कारो-
द्बोधः, साहचर्यं चाङ्गितैः पदार्थैः नलनग्नितैरित्यायुष्मत्तैवावेदितम् । तथाच कथं लम्भतेपि पदार्थमात्रस्य प्रथमं
स्मरणं सोऽयम्यात्मीय एव वाणो भवन्तं प्रहरतीति भावः । ननु द्विविधा स्मृतिः पदजनिता, साहचर्यादभिधा-
नाच्च । तत्र साहचर्यमन्वितेपि समानम् । अभिधानं तु पदार्थमात्रे । अभिधानद्वारा च यत्स्मारितं तदेव वाक्या-
र्थान्वयपयोगि नेतरदिति ब्रूमः, देवदत्त गामानयेत्यादौ तैसहचरितयद्भूतादेरन्वयादर्शनात्ततो वैपम्यमिति
तत्राह—नचेति । हेतुमाह—गङ्गायामिति । यदि ह्यभिधानेन स्मारितमेव वाक्यार्थोपयोगि, तर्हि तीरादि-
पदार्थानां वाक्यार्थान्वयो न स्यात्पामिधानाभावान्मुख्यार्थसाहचर्यादेव स्मारितत्वादित्यर्थः । तत्किमेवमनुपप-
त्तिस्मात्पापादनेन निर्दूतो भवान् तथाच मतानुज्ञाराजयश्मकङ्गीकारः स्यादित्यतः स्वपक्षे परिहारमाह—अभ्या-
सेति । यस्मादव्यभिचारिपदार्थेष्वभ्यासातिशयात्तावन्मात्रस्य प्रथमं स्मरणोपपत्तिः, अतः पूर्वोक्तं परस्पराश्रय-
परिहारः स्थित एवेत्याह—तथाचेति । तदुक्तं शाब्दनिर्णये—‘क्रीमेणावगतानर्थान्युगपरसंहतार्थम् । प्रमिमीर-
न्पदानोति नान्योन्याश्रयदोषता’ इति । नाथैरपि—‘श्रूयमाणं पदं सर्वं स्मारितानैन्विताथैकम् । न्यार्थसंपादितव्यक्ति-
पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम् ॥ स्मृतिसिद्धितैरेवमर्थैरन्वितमात्मनः । अर्थमाहपदं सर्वमिति नान्योन्यसंश्रय’ इति ।

यत्तु सर्वेषां पदानामन्योन्यानाकाङ्क्षितार्थसमर्पणमापादितं तत्र । अभिधानापर्यवसानाद्वा अभिहितार्थ-
पर्यवसानाद्वा पदार्थान्तरे पुरुषस्य जिज्ञासा ह्याकाङ्क्षानाम् । यथाहुः—‘अभिधानावसाना हि जिज्ञासार्थाच्च
जायते । प्रयोजनावसानाच्च पदार्थे सा निवर्तते’ इति । नाथैनापि ‘अन्वितस्याभिधानार्थमित्यादि । तदिहा-
भिधानानवसानजनिताकाङ्क्षा पदार्थान्तरेपि समाना, तद्विशेषनिर्णयस्तु सन्नहितयोग्यपदावमर्शादित्यभिप्रेत्य
परिहरति—नापीति । नच पदजयाद्यात्मके अन्यतरानाकाङ्क्षा कारणद्वयैर्भावादिति वाच्यम् । अश्रूयमाणे हि

१ सुखदुःखादिविषयकस्य तद्धेतुविषयकस्य च सरकारस्रोद्बोधकम् । २ संस्कारोद्बोधकम् । ३ आकाङ्क्षया
भास्यते इत्यर्थः । ४ प्रमाविषयत्वमेव सत्त्वमिलमिप्रेत्येदम् । ५ देवदत्तसहचरितैत्यर्थः । ६ अभिहिताद् देवदत्ता-
स्ताहचर्यस्मारितस्य यद्भूतादेर्वैपम्यमित्यर्थः । ७ स्वपक्षे परिहारादिति शेषः । ८ अन्वय विना । ९ अन्वितानित्यर्थः ।
१० पूर्वमिति शेषः । ११ न्यायेन आकाङ्क्षायोग्यतादिसमवधानरूपया युक्तया संपादिता व्यक्तितरार्थान्वितस्वार्थ-
मिधानानुद्बूलक्षयमिभ्यक्तिर्यस्य वक्ष्या । १२ इतरान्वितस्याभिधानमवसानं यस्याः सा जिज्ञासाऽर्थात् उक्त्यापन-
प्रयास विना जायते । प्रयोजनस्य निश्चितिकारप्रतिपत्तिरूपस्य अवसानात्समाप्तेर्निश्चयेरिति यावत् । पदार्थविपया
जिज्ञासा निवर्तते इति योजना । १३ अभिधानापर्यवसानामिदितार्थोपर्यवसानरूपेत्यादिः ।

नादभिहितार्थापर्यवसानाद्वा भवति । यथा वृक्ष इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तेस्स-
रणात्तेनैव तस्यान्विताभिधानासम्भवादन्यस्य चानभिधानादभिधानपर्यवसानायैवाकाङ्क्षा ।
यथा वा 'विश्वजिता यजेते'त्यत्र कार्यस्य विषयकरणान्विततया प्रतीतस्यैवापर्यवसानादि-
शिष्टाधिकारिकल्पना । तदेवंभूताकाङ्क्षावशात्पदानामन्विताभिधानं न विरुध्यते ।

ननु तथापि पदानामन्विताभिधाने सामर्थ्यं न कल्पनीयं पदस्मारितानामेव पदार्था-
नामाकाङ्क्षादिवशादन्योन्यान्वयप्रत्यायकत्वोपपत्तेरिति चेत् । मैवम् । मानान्तराधिगताना
पदार्थानां वाक्यार्थप्रत्यायकत्वाददर्शनात् । ननु 'पश्यतः श्वेतिमोरूपं हेपाशब्दं च शृ-
ण्वतः । खुरनिक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धी'रिति न्यायावस्त्येव पदार्थानां ससर्ग-
बोधजनकत्वमिति चेन्न । अनुमानादर्थापत्तेर्वा तत्र ससर्गावगमात् । तथाहि । एषा पदा-
र्थानामेकाधिकरणतयावगताना प्रत्यायकत्वेनानुमानानतिरेकः, विशकलितैवावगताना वार्था-
न्तराभावे निश्चितैर्थापत्तिरेव परिशिष्यते, अनिश्चिते त्वनध्यवसाय एव ।

अपि च शब्दसामर्थ्याजन्यत्वे वाक्यार्थप्रत्ययस्य पदार्थाख्यं सप्तम प्रमाणमभ्युपेयं

तथा, श्रूयमाणे तु रक्तपेटन्यायेनाकाङ्क्षाकल्पनात् । अभिधानापर्यवसानोदाहरणमाह—यथा वृक्षेति । इष
इति पदेनापि हि पदलादन्वितो वृक्षोभिधातव्य, स च केनान्वित इति विमर्शं न तावद्बुद्धं घृष्टैरित्यादौ कर्म
करणादिभिरिव विभक्त्यर्थेन । प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाभिधानात् । 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे
प्रथमे'ति प्रातिपदिकार्थादिष्वर्थेषु प्रथमा पाणिनि स्मरति स्म । नच पदार्थान्तरमभिहितमस्ति । तस्मादभि-
धानपर्यवसानायैव तत्र तिष्ठतीत्यादौ जिज्ञासेत्यर्थः । अभिहितापर्यवसानस्योदाहरणमाह—यथावेति ।
विषयो धात्वर्थः स एव करण, तत्र हि पदान्तराध्वनादभिधानपर्यवसानेभ्यमभिहितापूर्वापर्यवसानमस्ति । विषय
नियोज्यव्यावृत्तो हि नियोग प्रतीयमानोऽनुष्ठानाय कल्पत इति विषयवन्नियोज्येभ्यस्त्वेवाकाङ्क्षत्यर्थः । प्रति
पादितामाकाङ्क्षा प्रकृतेःपि दर्शयति—तदेवमिति ।

यद्यप्यन्योन्याध्यादिदोषो नास्ति तथाप्यभिहितपदार्थेभ्य एव ससर्गसिद्धौ पदानामपि सामर्थ्यकल्पनाया
कल्पनागौरव दूषणमित्यभिहितान्वयवादी शङ्कते—नन्विति । यदि हि पदार्थानां ससर्गबोधकत्व स्मात्तदा
तदपहाय पदानामपि सामर्थ्यकल्पनाया स्यादेव गौरव, ननु तदस्ति, प्रमाणान्तरस्य हीतपदार्थेष्वदर्शनादित्याह—
मैवमिति । उक्तं च नाथेन—'किन्तु तेषां न दृष्टेषां शक्तिमान्तरोद्भूता । कल्प्या विशिष्टार्थपरपदससर्ग
भाविते' इति । प्रमाणान्तरस्य हीतानामप्यस्त्येव ससर्गबोधकत्वमिति शङ्कते—नन्विति । अत्र हि दृश्यन
श्वेतिमोरूपमव्यक्तरूप श्रूयमाणो च हेपाशब्दो निक्षेपशब्दो श्वेतोऽश्वो धावतीति ससर्गबुद्धि जनयन्तीत्यर्थः । अत्र
किमेवनिष्ठतयावगतमेतत्प्रथं ससर्गबोधक विशकलिततया वा । प्रथमेऽनुमानात् दर्शयति—तथाहीति ।
यत्र हेतुप्रथमेकत्रावगत तत्राश्वत्व दृष्टमिति व्याहृता बोधकत्वादनुमानमित्यर्थः । द्वितीयेऽर्थान्तरितानामाह—
विशकलितेति । नन्वर्थान्तराभावे विनिश्चितेऽनुपपत्त्याश्वत्वबोधकत्वाद्भवेदर्थापत्तित्वमर्थान्तराभावाऽपि यदा
न निश्चितस्तदा कथमर्थान्तरापत्तित्वमिति तत्राह—अनिश्चितेत्यिति ।

किंच शब्दानजन्यत्वे संसर्गबुद्धेरप्रामाणिकत्वं पदार्थारयसप्तमप्रमाणाभ्युपगमो वा प्रसज्येत, प्रत्यक्षारिष्य
न्तर्भावादित्याह—अपिचेति । अथ पदस्मारितानामेवेदं सामर्थ्यं, तर्क्षनकशक्ति कल्पनागौरव स्मारितत्वं—

१ नियोज्यकस्त्रनेत्यर्थः । २ अरूपमिति छेदः । अभ्यक्तवाधयो नन् । ३ अर्थविरणतया घातानामित्यर्थः ।
४ यथा रक्तपटस्य रक्षणं रक्ततत्त्वाद्यर्थं तथा श्रूयमाणे पदत्रयाघातस्य पदद्वये पररसतायाह्वाद्यान्त्यादि दृष्टे-
पदेनापि आपाङ्गावप्यवते शब्दनिक्षेपेतिपरसर्गमिति भावः । ५ विषयविशेषो ध्यावृत्तो यस्य स तथा । इति
विशयवकरणस्यापि कश्चात् । करणविशेषविषयवदत्रत्या नियोज्य २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

स्यात् । प्रत्यक्षादिषु तस्यानन्तर्भावात् । किंच पदार्थानामनभिहितानां संसर्गबोधकत्वाभावाद्भिहितानामेव तदेष्टव्यं, तथाच पदार्थानां संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यं पदानां च पदार्थेषु तत्सामर्थ्याधानसामर्थ्यमिति द्वयं कल्पनीयमिति कल्पनागौरवमभिहितान्वयवादिनः, अन्वित्ताभिधानवादिनस्तु पदानां योग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसामर्थ्यमेकमेव कल्पनीयमिति कल्पनालाघवमिन्वयमेव पक्षः श्रेयानिति । अत्राभिहितान्वयवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—'विनाभिधेयस्मरणमन्वयाप्रतिपत्तितः । तत्तत्पदार्थस्मृतयस्तेषामन्वयबोधिकाः ॥२५॥' पदकदम्बकश्रवणसमनन्तरमपि कुतश्चिन्मानसापराधादनुपजनितपदार्थस्मृतेर्वैक्यार्थप्रत्ययानुदयादुदयाद्योपजातपदार्थस्मृतेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थस्मृतीनां वाक्यार्थप्रत्ययहेतुत्वं तावदवसीयते ।

नच पदार्थस्वरूपमात्रविषयस्मृतीनामन्योन्यान्वयबोधकत्वमनुपपन्नमन्यत्रादृष्टत्वादिति वाच्यम् । स्मरणमात्रस्य सामर्थ्याभावेऽपि समभिव्याहृतपदकदम्बकसमुपजनितपदार्थस्मृतीनामाकाङ्क्षादिसहकारिणीनां संभवत्येव तद्वोधकत्वं, सहकारिभेदोपादानात्, कथमन्वयथा संस्कारेन्द्रिययोरन्यत्र परस्परसंगतार्थाविषययोः प्रत्यभिज्ञायां पूर्वापरदेशकालसंसृष्टेरुवस्तुबोधकत्वं, परस्परसहकारितया तथात्वं तु प्रकृतेषु तुल्यम् । न च पदार्थस्मृतीनां स्मृतानां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वे सप्तमप्रमाणाभ्युपगमप्रसङ्गः । लिङ्गप्रकरणस्थानानामिव शब्दप्रमाणान्त-

किञ्चेति । पदार्थानां तावत्सर्गावुद्भिजननसामर्थ्यम् एकम्, अपरमपि पदानां पदार्थेषु संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यमुत्पादयितुं सामर्थ्यं, पदेरेवाभिहितपदार्थेषु तादृशं सामर्थ्यमाधीयते । अनभिहितेषु सामर्थ्यादर्शनात् । नैवमस्तपक्षे, अन्वितस्वार्थेषु पदानामेकसामर्थ्याश्रयणात् । यद्यप्यर्थसामर्थ्यादन्विते सामर्थ्यकल्पनाया यौरवमस्ति तथापि न सामर्थ्यद्वित्वम्, अपितु स्थौल्यमात्रमिति भावः । अत्र च सामर्थ्यद्वयाभिधानं प्राथमिकपदार्थबुद्धेः सार्हचर्यात्स्मृतित्वमभिप्रेत्य । तच्च परिहारावसरे स्वयमेव स्फुटीकरिष्यति । उभेयसाधारणत्वाद्वावधीरितं पदार्थस्मृतिजननसामर्थ्यमिति । अभिहितान्वयवादे अन्वयव्यतिरेकौ तावत्प्रमाणमाह—विनेत्यादिना श्लोकेन । अभिधेयपदार्थस्य स्मरणं विनान्वयस्य वाक्यार्थस्याप्रतिपत्तिरित्यत्राविगानमायुष्मतोपि । ततोवक्ष्यापेक्षणीयाभिधेयस्मरणैः स्मृतेर्वैक्यवैरन्वयव्यतिरेकवद्भिरन्वयो बोध्यत इत्ययमेव श्रेयानिति श्लोकार्थः । श्लोकं विदुषोति—पदेत्यादिना । कदम्बकं समूह । एवं पूर्वार्थानान्वयव्यतिरेकौ प्रदर्श्य उत्तरार्थं व्याचष्टे—अन्वयेति ।

पूर्वपक्षिणोऽनुशर्यथीजमुन्मूलयति—नचेत्यादिना । विशकलितपदार्थमात्रस्मृतीनामदर्शनेपि पदस्मारितपदार्थस्मृतीनां सहकारिवशादुपपद्यत इत्यर्थः । सहकारीति । सहकारिणो भेदो विशेषस्तत्त्वबन्धादित्यर्थः । अन्यत्रादृष्टस्य कथं करपनमित्याशङ्क्य प्रतिबन्दी गृह्णाति—कथमिति । यथाप्यत्र विभिन्नविषयनिष्ठतया दृष्टयोश्चक्षु सस्कारयोः प्रत्यभिज्ञाया सहकारिवैचित्र्यवशात्सोयं देवदत्त इत्येकार्थविषयत्वमेवमत्रापि सभाव्यत इत्युपपाद्य सप्तमप्रमाणत्वं पदार्थानामापादितं परिहरति—नचेति । तथाहि श्रुतिवाक्यसमाख्यानां शब्दरूपत्वेपि लिङ्गप्रकरणस्थानानां न शब्दरूपत्वम् । अथ च न शब्दात्पृथक्प्रमाणत्वं, तथेहापीत्यर्थः । यद्यपि प्रकरणमप्यङ्गवाक्यापेक्षं प्रधानवाक्यमिति शब्दरूपमेव प्रतीयते, तथापीतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अर्थरूपत्वाद्शब्दरूपत्वमभिप्रेतमिति द्रष्टव्यम् । अविनियोजकत्वाद्वा । नहि लिङ्गादीनि साक्षाद्विनियोजकानीति । लिङ्गादिभ्यो वैषम्यं दर्शयितुं तद्वृत्तान्तमाह—नञ्चिति । शब्दस्वार्थस्यापेक्षितोर्थः शब्देनैव समर्पणीयः, न प्रमाणान्तरेण । नहि त्रयो ब्राह्मणा आगता कठथ माठरथेत्युन्त्वा स्मृतीयमहुल्या निर्दिशन्तं सन्तः प्रखं-

१ बहुव्रीहिः । २ शक्यगौरवमात्रमित्यर्थः । ३ ननु पदानां पदार्थस्मृतिजननसामर्थ्यमेकं पदार्थेषु च संसर्गबोधजननसामर्थ्यं द्वितीयं पदेषु च पदार्थसामर्थ्याधानसामर्थ्यं स्मृतीयमिति रीत्या सामर्थ्यद्वयाभिधानमसंगतमत आह अत्र चेलादि । ४ नखविधानादिति भावः । ५ पदनिष्ठसामर्थ्येन पक्षेनैव पदार्थस्मृतिः पदार्थनिष्ठ वाक्यार्थबोधयानु-कूलसामर्थ्यमिन्वेतदुभयं जगत्वे इति भावः । ६ शङ्खावोजमित्यर्थः । ७ स्मृतिषु विशकलितत्वं क्रमोत्पत्तरूपम् ।

र्भावोपपत्तेः । ननु लिङ्गादिषु श्रुतिं कल्पयित्वा विनियोगप्रतीतेः स्वीकाराच्छब्दत्वं न विरु-
द्ध्यते, इह तु पदार्थस्मृतीनां स्मृतानां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वमिति वैपम्यम्, शब्दावगत-
पदार्थजन्यत्वेनान्वयप्रतीतेः शाब्दत्वे चक्षुषावगतधूमजन्यस्यापि वह्निज्ञानस्य चाक्षुषत्वप्रसङ्ग-
इति चेन्मैवम् । अन्वयप्रतीतिं जनयतां पदानामवान्तरव्यापारत्वात्पदार्थस्मरणानाम् ।
नचस्वव्यापारव्यवधानाद्यापारवतः करणत्वं विहन्यते । यागादीनामपूर्वव्यवधानेन फल-
साधकानामकरणत्वप्रसङ्गात् । नच चक्षुषो लिङ्गज्ञानमवान्तरव्यापारः । अगृहीताविनाभाव-
स्यानुमानानुदयात्, अचाक्षुषस्थलेपि लिङ्गस्य बोधकत्वात् । गुरुमतानुसारिभिरपि लिङ्ग-
प्रकरणादीनामन्तरेणैव श्रुतिकल्पनं विनियोजकानां शब्दप्रमाणान्तर्भावोभ्युपगमाच्च ।

ननु त्वयाप्यभिहितान्वयवादे तिस्रः शक्तयः कल्पनीयाः, पदानां तावदर्थस्वरूपानुभ-
वजननशक्तिरर्थानां चान्योन्यान्वयप्रत्यायनशक्तिस्तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामिति । प-
दानां साहचर्येणार्थस्मारकत्वे पुनः शक्तिद्वयं कल्पनीयं, पदार्थानामन्वयबोधनशक्तिस्तु
तदाधानशक्तिश्च पदानाम्, अन्विताभिधाने तु पदानामन्योन्यान्वितस्वार्थाभिधानशक्तिरे-

सन्ति, प्रशंसन्ति तु कौण्डिन्य इति शब्देनैव समर्पयन्तम् । तदिहापि श्रुतिभिरेव चेतत्तदज्ञानि समर्थन्ते, सम-
स्यन्ते तदा श्रुतप्रधानेन, नेतरथेति श्रुतिकल्पनयैवैषां लिङ्गादीनां विनियोजकत्वं, न स्वातन्त्र्येण । श्रुतिकल्पनायां
च त्वरामन्तरतातरतन्त्रेणैषां प्राबल्यदौर्बल्ये, यथाह परमर्षिः 'अर्थविप्रकर्षा'दिति । अन्येपि "एकद्वित्रिचतु-
ष्पञ्चदशस्वन्तरौयकारितं, श्रुत्यर्थं प्रति वैपम्यं लिङ्गादीनां प्रतीयत" इति । प्रकृतेषु वैपम्यमाह—इहत्विचि ।
न शब्दस्येति शेषः । नन्वशब्दत्वेपि पदार्थानां शब्दावगतत्वात्तज्जन्यप्रतीतिरपि शाब्दी एवेति नातिप्रसङ्ग-
इत्याशङ्क्याह—शब्दावगतेति । तामिमां शङ्कां परिहरति सिद्धान्ती—मैवमिति । नात्र शब्दावगतप-
दार्थजन्यत्वमात्रान्वयप्रतीतेः शाब्दत्वमुच्यते, येनानुमितेरपि चाक्षुषत्वप्रवृत्तिः, किंतु शब्दावान्तरव्यापार-
पदार्थस्मरणजन्यत्वात् । उक्तं हि 'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् । वर्णोक्तथापि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्ति
निष्कले ॥ वाक्यार्थमित्ये तेषां प्रकृतौ नान्तरीयकम् । पाके ज्वालये काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनमिति । ततो
नातिप्रसक्तिरिति भावः । ननु तथापि पदार्थव्यवधानात् पदानां कथमन्वयप्रतीतिं प्रति करणत्वं, तज्जननफल-
त्वमिति तत्राह—नचेति । यागादीनामिति । गुरुमतेपि यागस्य फलं प्रति करणत्वमस्त्येवेति भावः ।
पदार्थेभ्यो लिङ्गज्ञानस्य वैपम्यमाह—नचेति । अथ किमिति न व्यापारस्तत्राह—अगृहीतेति । तज्-
जन्यत्वदाश्रितो वा यत्तदिक्रियाहेतुः स हि तद्यापारो नाम । तथाच कथं चक्षुषि व्याप्रियमाणेष्वगृहीतव्याप्तिस्य
लिङ्गज्ञानमनुत्पद्यमानं चक्षुष्यापारः स्यात् । नहि धूमज्ञानमात्रं लिङ्गज्ञानम्, अपि तु व्याप्तस्य सतः पक्षधर्मतया
ज्ञानमिति भावः । चक्षुष्यतिरेकेणोत्पद्यमानत्वादपि न तद्यापारत्वमित्याह—अचाक्षुषेति । अथवा न
चक्षुर्जन्यानुमितिः । तस्मिन्सत्यपि नियमेनोत्पद्यमानत्वात् । असति चोत्पत्तेरतो 'नेदं तस्य व्यापार इति
प्रन्थार्थः । यत्तु लिङ्गप्रकरणादि उदाहरतं तदन्विताभिधानवारिणः प्राभाकरस्य भवत्येवोदाहरणम् । श्रुतिरत्य-
नाव्यतिरेकेणैव लिङ्गादीनि विनियोजकानीति हि गुरुणा मतमित्याह—गुरुमत इति ।

यत्तु शक्तिकल्पनागौरवमुक्तं तत्परिहृत्यसुर्यापयति—नन्विति । ननु कथं शक्तिप्रयत्नत्वात्, यावता
साहचर्यवशादेव प्रथमं स्मृतिः पदार्थेभ्योपपद्यते भवतामिवेति, तर्हि शक्तिद्वयमवश्यंभावीत्याह—पदाना-
मिति । यत्तु पूर्वपक्षे स्पष्टीकरिष्यतीत्युक्तं तदत्र स्पष्टीकृतम् । स्वपक्षे च लापत्रं स्मारयति—अन्वियतेति ।

१ तदिति । अर्थनिष्ठशक्तिलयः । २ संबन्धन्ते इत्यर्थः । ३ यत्तन्तरासौ यत्तन्व्यवधानम् । ४ दण्डस्य प्रथम
दण्डसमवेतायां पदोत्पत्त्यनुकूलप्रियायां हेतुः सङ्कारिकारणम् अत्रो दण्डव्यापारः । तदाश्रितेऽपि तद्व्यवस्थावन्नेव ।
निषेदास्तु तदाश्रितत्वेनेति विशेषः । ५ लिङ्गज्ञानमित्यर्थः ।

कैवेति कल्पनालाघवमिति चेन्मैवम् । त्वय्यौप्यर्थान्तरे तदन्वये स्वार्थे च पदशक्तीनां कल्पनीयत्वात् । नचार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायकमपि पदं स्वार्थस्यैव वाचकं नार्थान्तर- तदन्वययोर्जातिवाचकमपि पदं व्यक्तितदन्वययोरिवेति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं जातिवाचकपदेन व्यक्तेरिव लक्ष्यत्वमर्थान्तरतदन्वययोरुक्त वाच्यत्वम् । नाद्यः । पदानामन्विताभिधानभङ्गप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । वाच्यत्वे तयोरपि शक्तेरवश्यकल्पनीय- तथा गौरवस्य तादवस्थ्यात् । किंचैकैकस्य पदस्य श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा तत्तत्पदार्थ- स्मरणजननशक्तिः, पुनरेकस्मरणगोचराणां च तेषामैव पदानामन्योन्यान्वितपदार्थाभिधान- शक्तिः, सकलपदगोचरस्य स्मरणस्य पदेष्वन्विताभिधानशक्त्याधानशक्तिश्चेति शक्तित्रयकल्प- नान्विताभिधानवादेपि तुल्या । नचाभिहितान्वयवादेपि शक्तिकल्पनागौरवस्य तुल्यत्वात् विनिगमनाभाव आशङ्कनीयः । विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तपदकदम्बसमभिव्याहारान्यथानुप- पत्त्या पदस्मारितानामर्थानामन्योन्यान्वयस्य लक्ष्यमाणत्वेनोपपत्तेः शक्तेरकल्पनीयत्वात्, 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थ' इति न्यायात् । उक्तं च 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जन' इति ।

ननु नेयं लक्षणा भवितुमर्हति, तद्वर्क्षणाभावात्, तथाहि 'वाच्यस्वार्थस्य वाक्यार्थे

अत्राभिहितान्वयवाच्यन्विताभिधानेपि शक्तित्रयकल्पनामापाद्यन्परिहरति—मैवमिति । स्यादेतत् । यथा- नित्यत्वेसत्यनेकसमवेतरूपजातिवाचकमपि पदं नानेकात्मकव्यक्तीनां तदन्वयस्य समवायस्य वा वाचकं, गोल- वाचकं यथा तद्व्यक्तितदन्वययोरवाचकं, तद्वदन्यान्वितस्वार्थवाचकमपि पदं स्वार्थमात्रमेव वक्षतीति न शक्तित्रयं कल्पनीयमिति तत्राह—**नचेति** । किं यद्वैचगत्यान्वितं तद्वन्नचकमित्यन्वयस्योपलक्षणत्वं आहोस्विदन्वितस्य वाचकमिति विशेषणमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति** । अभिहितान्वयवादिभिरप्येवमभ्युपगमा- द्भ्रायैस्तेति भावः । द्वितीयेतु शक्तित्रयमवश्यंभावीत्याह—**न द्वितीय इति** । स यदि ब्रूयान्विताभिधान- वादे शक्तित्रयं, नद्येतदर्थत्रयम्, अपि तु एक एव विशिष्टार्थः, परंतु सविशेषणत्वमिव शक्तेरिति, तं प्रकारान्तरेण शक्तित्रयमापादयति—**किंचेति** । एषाहि अन्विताभिधानपरिपाटी । प्रथमं श्रूयमाणैः स्मर्यमाणैर्वा पदैरन्यो- भ्यासंश्लेषार्थाः प्रत्याप्यन्ते, अन्यपदोच्चारणानन्तरं चैकस्मृत्याहृद्वानि तान्येव पदानि पदार्थानन्योन्यान्विततया प्रतिपादयन्तीति । तथाच पदार्थमात्रेषु संश्लेषपदार्थेषु च प्रत्ययाधाने पदानां सामर्थ्यद्वयं, सकलपदविपयस्मर- णस्य सकलपदेष्वन्विताभिधानसामर्थ्याधानसामर्थ्यं तृतीयम्, एकस्मृत्यनाहृदपदानां तत्सामर्थ्याभावादित्यर्थः । ननु शक्तित्रयकल्पनायामुभयोः समानायां कोयमाग्रहः यदभिहितान्वयवाद एव धेयानिति तत्राह—**नचेति** । अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः, लभ्यते चान्येभ्योपि व्यवहारः समर्थसंश्लेषपदार्थबोधार्थं प्रयुक्तपदस्मारितेभ्यः पदार्थेभ्यः । नच तस्यांशाब्दत्वं, शब्दैरेव लक्ष्यमाणत्वादतो न शक्तित्रयमिति सण्डलकार्थः । एतदुक्तं भवति । पदानां पदार्थस्मृतिजनकत्वं तवापि तुल्यं, स्मृतपदार्थानामन्वयप्रतिपत्तिहेतुतामात्रमपि तुल्यमेव, इतरथा प्राथमिकपदार्थस्मृतेस्तवापि वैयर्थ्यात्, कर्णत्वं तु मयापि नेष्यते, पदानां पदार्थेष्वन्वयप्रतिपत्तिजननसामर्थ्या- धानसामर्थ्यं भववीयसमुदायस्मृतिवामर्थ्येन तुल्यं, पदानां स्मृतपदार्थान्वयबोधने यत्सामर्थ्यमभिधानात्मकं त्वया परिकल्प्यते तन्मत्वक्षे नास्तीति मत्पक्षे लाघवमिति । जने मध्यमदृष्टे लोकव्यवहार इति वा पद- समभिव्याहृतिरुत्तमदृष्टस्य पदप्रयोगो वा विशिष्टार्थप्रयुक्तेति मण्डनमिश्रोक्तियोजना ।

परस्परान्वये पदानां लक्षणैव वृत्तिर्भूत मुख्येत्युक्तं, तदाक्षिपति मुख्यवृत्तिं मन्वानोऽन्विताभिधानवादी— **ननु नेयमिति** । लक्षणाभावं दर्शयितुं शालिकनाथोक्तं तद्वर्क्षणाभाह—**तथाहीति** । वाच्यस्वार्थस्य गह्ना- दिरूपस्य वाक्यार्थे घोपप्रतिवासादिरूपे संबन्धानुपपत्तौ सत्यां वाच्यार्थसंबन्धवशात्प्राप्तस्य वाक्यार्थान्वया-

१ अन्विताभिधानवादिनेत्यर्थः । २ लक्षणांलक्षणस्यासत्त्वादित्यर्थः । ३ पदार्थस्येत्यर्थः । ४ सविशेषणविप- कत्वमित्येत्यर्थः । ५ अन्येत्येत्यर्थः । ६ स्मृतपदार्थानामिति शेषः । ७ समभिव्याहृतपदान्तरार्थे इत्यर्थः ।

संबन्धानुपपत्तितः । तत्संबन्धवशात्प्राप्तस्यान्वयालक्षणोच्यते ॥' इति । नचौदनं चैत्रः पचति पिठर इत्यादौ चैत्रपिठरादीनामर्थानां वाक्यार्थसंबन्धानुपपत्तिः, नच पदार्थैर्लक्षितायाः पदार्थानामन्वितावस्थायाः पुनरन्वयान्तरशालिता, तेनेयं न लक्षणा तल्लक्षणविरहादिति चेन्नैवम् । अन्यापकत्वादेतस्य लक्षणा लक्षणत्वासंभवात् । नहि विपं भुङ्क्ष्वेत्यादावैतल्लक्षणमस्ति । तत्र सर्वेषां पदानां लक्षकत्वेन वाच्यार्थाभावात्, वाच्यार्थाविनाभूतस्य वाक्यार्थेन पुनरन्वयाभावाच्च ।

यदपि 'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे । मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणे-
च्यते ॥' इति लक्षणा लक्षणं तदप्यव्यापकम् । कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वती'-
त्येतल्लक्षणाऽव्यापकत्वात्, 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुह्वती'ति श्रूयमाणत्वात् प्रसि-
द्धाग्निहोत्रे चोपसदामभावात्कर्मान्तरेऽग्निहोत्रशब्दः प्रसिद्धाग्निहोत्रसाधर्म्याल्लक्षणया व-
र्तते । नच तत्र मानान्तरविरोधः, तदर्थस्य मानान्तरागोचरत्वात् ।

क्षेत्रीया शब्दस्य तत्र प्रैष्टुतिः सा लक्षणेति श्लोकार्थः । प्रकृते च वाच्यार्थानां वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्ति-
रूपलक्षणभागो नास्तीत्याह—नचेति । पिठरं भाण्डम् । यस्तु तत्संबन्धवशात् प्राप्तस्यान्वयादिति लक्ष-
माणार्थस्य पुनर्वाक्यार्थेऽन्वय उक्तः सोपि नास्तीत्याह—नच पदार्थैरिति । नद्यत्र वाक्यार्थद्वयमस्ति,
येन लक्ष्यमाणवाक्यार्थस्य वान्यार्थसंबन्धो भवेत्, खेनैव स्वसंबन्धानुपपत्तेरिति भावः । लक्षणमेवेदं लक्ष-
णाया न संभवति, अव्यापकत्वात्, अतो नेतदभावमात्राल्लक्षणाक्षय इति परिहरति अभिहितान्वयवारी-
मैवमित्यादिना । वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तितः, अत्र कोयं वाक्यार्थोऽभिमतः किं न्यायपरिशोधनया निष्-
सोर्थः किंवा क्रिया आहोस्वित्परिशिष्टपदवाच्योर्थः । नायः । तदानीमनिष्पन्नलाद्वाक्यार्थस्यैवमिप्रेत्याह—
नहीति । नापि द्वितीयः । विपं भुङ्क्ष्वेत्यत्र क्रियाया अविवक्षितत्वात् भुङ्क्ष्वेत्यस्यापि तन्निवृत्तिपरत्वात् ।
अत एव न तृतीय इत्याशयवानाह—तत्रेति । इतरोपि लक्षणांशो नास्तीत्याह—वाच्यार्थेति । नहि
भोजननिवृत्तिव्यतिरेकेणापरो वाक्यार्थोऽस्ति येनान्वयादिति भावः ।

लक्षणान्तरमप्यनुवदति—यदपीति । मुख्यार्थस्य परिग्रहे मानान्तरविरोधे सति मुख्यार्थेनाविनाभूते
संबन्ध इति यावत् । मन्वाः क्रोशन्तीत्यत्राविनाभावाददर्शनात्, तस्मिन्नविनाभूते या प्रतीतिः सा लक्षणोच्यते
इति योजना । अस्ति कुण्डपायिनामयनगतं कर्म 'मासमग्निहोत्रं जुह्वती'ति श्रूयमाणं, तत्र चाग्निहोत्रशब्दो
गौर्ण्यौ प्रयुज्यते इति स्थितम् । उक्तं "क्रियैभिधानम्" इत्यत्र । 'गौर्ण्यपि हि गुणलक्षणयोगेन वर्तते इति लक्षणो-
च्यते' । लक्षितलक्षणा हि गौणी, नच तत्र एतल्लक्षणमस्तीत्यव्याप्त्या दूषयति—तदित्यादिना । ननु किमिति
गौणः, मुख्य एवाग्निहोत्रशब्दः किं न स्यादत आह—उपसद्भिश्चरित्वा । एतथ भाष्यकारीयं मतं, वार्तिक-
कारमतं अनुपादेयमौपसंबन्धात्, विच्छिन्नप्रकरणत्वाच्च, प्रत्यभिज्ञाभावाच्च कर्मान्तरमिति । तथ दर्शितं प्रक-
णान्तराधिकरणमनुकामद्विरस्वामिर्मिथ्यात्ववादपूर्वपक्षवसरे, अस्तु लक्षणात्वं, लक्षणस्य तत्र कथमभाव इति,
मानान्तरविरोधाभावादित्याह—नचेति । यथाहि गन्नायां घोष इत्यत्र तद्वान्यव्यतिरेकेण मानान्तरविरोधो
मुख्यार्थपरिग्रहे, न तथैह प्रमाणान्तरविरोधः, तदर्थस्य तदयोग्यत्वात्, केवलमेतद्वान्यव्यापारपालीचनना
मुख्यार्थपरित्यागादिति भावः ।

१ इदमन्वयान्तरशालितेत्वेनान्वेति । २ लक्ष्यार्थेति कलितार्थः । ३ प्रेक्षधिकं भाति । ४ नित्याग्निहोत्रे
मुख्यत्वादिति भावः । ५ क्रियाया अभिधायकोऽग्निहोत्रशब्दो न द्रव्यदेवत्वयोगिति तदर्थः । ६ परमन्तरसंबन्धेन
द्रव्यवार्थसंबन्धितया हासिते लक्षणेति तदर्थः । ७ नित्याग्निहोत्रेऽनुपादेयो मासो दाबन्धीवस्तुते, तस्य संबन्धादित्यर्थः ।
८ विशिष्टं घृतीवार्थः । व्यतिरेको भेदः । तद्वान्यव्यतिरेकं यन्मानान्तरं तद्विरोध इत्यर्थः ।

तस्मात्पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव-
लक्षणं लक्षणायाः, सर्वलौकिकवैदिकलक्षणायां व्यापकत्वात् । तथाहि 'गङ्गायां घोषः
प्रतिवसति, आदित्यो यूषः, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वती'त्यादावस्ति पदार्थमा-
त्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिः । ननु तत्र वाच्यार्थान्वयानुपपत्तिरप्यस्ति तत्कथमिदमेव
लक्षणमिति नियम्यत इति चेन्मैवम् । वाच्यार्थान्वयानुपपत्त्यभावेऽपि लोकवेदयोर्लक्षणा-
दर्शनात् । तथाहि लोके 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः । शूरश्च कृतविद्यश्च
योऽभिजानाति सेवितुम् ।' इत्यादौ पदार्थानामन्वयसंभवेऽपि निष्प्रयोजने तात्पर्यासम्भवेन
वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेः प्रतीयमानवाक्यार्थं हित्वा शूरादित्वं संपदो हेतुरिति ध्वनिना
सूच्यते । तथाच वेदे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादौ संभवत्येव वाच्यार्थान्वये कैमर्थक्यवशेन देव-
ताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मणः प्राशस्त्यं लक्ष्यते । तस्माद्वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपि-
केति निश्चिनुमः । अस्ति चेहापि लोकानुसारतो विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृती-
नामर्थमात्रपरत्वे पदानां प्रामाण्यानुपपत्तिः । 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जन'
इति न्यायात् । अस्ति च शब्दानामर्थरूपसंबन्धवशात्प्राप्तिरन्वितावस्थायां, तथाचार्थरूप-
बोधनसामर्थ्यान्नाधिकसामर्थ्यद्वयकल्पनापि ।

एवं पराभिमतलक्षणं दूषयित्वा सर्वलक्षणानुगतं लक्षणमुपसंहारकैलेनाह—तस्मादिति । लौकिकवैदिक-
लक्षणानु लक्षणव्याप्तिमेव दर्शयति—तथाहीति । आदित्यो यूष इत्यत्रादित्यशब्दस्तेजसिलक्षणपरः ।
निर्णीतं खल्विदं प्रमाणलक्षणे नामधेयपदे—'तस्मिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमिलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रया
इत्यत्र सारूप्यादादित्यशब्दो यूषे वर्तते' इति । नन्वेतेपुदाहरणेऽस्मिन्नलक्षणमपि वाच्यार्थस्य वाक्यार्थं संबन्धा-
नुपपत्त्यात्मकमस्ति तत्कथं निर्णयं इति शङ्कयित्वा तल्लक्षणरहितेऽपि स्वकीयलक्षणानुपपत्त्या लक्षणान्वयं लोकवेद-
योर्दर्शयति—मैवमित्यादिना । सुवर्णपुष्पामिति । सुवर्णमयपुष्पशालिनां पृथ्वीं चिन्वन्तीति तत्र यो-
जना । अथवा पृथिवीं सुवर्णपुष्पां चिन्वन्ति पृथिव्येव सुवर्णपुष्पा यथा भवति तथा चिन्वन्ति संपादयन्ति ।
एवंतु नाम बहुसुवर्णमुपार्जयन्तीत्यर्थः । तांश्च त्रीनाह—शूरश्चेत्यादिना । कैमर्थक्यवशेनेति । नहि
वायोः क्षेपिष्ठत्वं प्रमाणान्तरेण विदुष्यते । अविदुष इव तु तस्मिन्स्वावता निष्प्रयोजनतया पर्यवसानाभावात्
कैमर्थमिदमित्यपेक्षावशेन रक्षार्पटन्यायेन वा नष्टाश्वदग्धरधन्यायेन वा देवताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मप्राशस्त्यमिति
वाक्यार्थः । एवं लौकिकवैदिकलक्षणानु लक्षणस्यानुगतिं दर्शयित्वा प्रकृतेऽपि तदनुगतिमाह—अस्तीति ।
विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्ता समभिव्याहृतिर्द्वारणं येषां पदानां तानि विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृतीनि
तेषामित्यर्थः । अर्थः पदार्थः । ननु वाच्यार्थं संबन्धानुपपत्तेः अन्वयान्तरशालिलस्य च सर्वलक्षणानुगतामेऽपि
तत्संबन्धवशात्प्राप्तेरन्वयः, इह च पदार्थानामेव वाच्यार्थत्वात् न तत्संबन्धात्प्राप्तिरिति तत्राह—अस्तिचेति ।
वाच्यार्थस्वरूपाणां परस्परं यः संबन्धः तद्वशात्परपर्यान्वितावस्थायां शब्दानां प्राप्तिरस्तीत्यर्थः । अथवा अर्थ-
स्वरूपाणां यो वाच्यार्थान्वयः, विशिष्टस्वरूपयोस्तादात्म्याङ्गीकारात्, तद्वशाच्छब्दानामपि प्राप्तिरस्ति वाक्यार्थं
इत्यर्थः । एवं च यदन्विताभिधानवादिनामतिरिक्तसामर्थ्यद्वयं, पदानामन्वितबोधनसामर्थ्यमेकं, स्मृतेश्च पदेष्व-
न्वितबोधनसामर्थ्यान्धानसामर्थ्यमपरमिति, तदपि निष्प्रयोजनं नास्मन्मतेऽस्तीत्याह—तथाचेति ।

१ लक्षणानामिति पाठान्तरम् । २ अदेवानुपादेये । ३ उपसंहारकैनेति पाठः सायुः । ४ पतेषु पुणेषु अन्यतमो
शुभ्राश्रयो निमित्तं यस्याः सा तथाभूता । ५ वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरुच्यं भवदुक्तं निश्कसंबन्धानुपपत्तिरुच्यं वा
मदुक्तं लक्षणालक्षणमिति संदेहे सतीति शेषः । ६ रक्तस्य पटस्य रङ्गं यथा रक्ततररूपान्तरसंपर्ययं तथा एकसिन्
वाक्यार्थे शतैः पुनरपेक्षा जायमाना वाक्यार्थबोधान्तरसंपर्ययमेव भवतीति भावः । ७ यथा कस्यचिदशो नष्टः कस्य-
चिच्च शो दग्ध इत्युभयापेक्षास्येनैककार्यकारित्वं तथा शब्दभावनाया इतिकर्तव्यताकाङ्क्षयाऽर्थवादवाक्यस्य च
कैमर्थ्यांकाङ्क्षया देवताप्राशस्त्यलक्षणयैकवाक्यवैतति भावः । ८ सामीप्येनेति शेषः । ९ अयमन्वयान्तरशालित्वे हेतुः ।

ननु पदानां सरंकारोन्मेषमात्रोपयोगान्नाभिधातृत्वं, पदार्थानामपि स्ववाचकपदसंस्कारोन्मेषकाणां तत्स्मारकतयाभिधायकत्वप्रसङ्गादिति चेन्न । पदानामेव पदार्थस्मारकाणामभिधातृत्वस्य लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धिसिद्धस्यानिवारणीयत्वात्, शब्दविषयविज्ञानस्यैव पदार्थस्मरणजननशक्त्युपहितस्याभिधाव्यापारत्वेन स्वीकारात्, अन्यस्य च परित्स्पन्दप्रयत्नलक्षणस्य व्यापारस्य विभौ विभुगुणे वा शब्दे चैतन्यानधिकरणे दुर्निरूपत्वात् । तस्मात्समभिध्याहृतपदकदम्बकस्मारितपदार्थानां परस्परान्वयप्रत्ययो लाक्षणिकः शाब्दश्चेति सर्वमवदातम् । तथाचोक्तं मीमांसावार्तिककारमिश्रैः—‘न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेपि पदानि नः । वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थिति’रिति ।

प्रयोगश्च—‘शब्दास्तात्पर्यविषयव्यतिपन्नस्य लक्षकाः । तत्तात्पर्याभिधानत्वात्स्वेव भुङ्क्तेति शब्दवत् ॥ २६ ॥’ विवादपदानि पदानि, लक्षणया पदार्थानामन्योन्यान्यव्यतिपत्तिपराणि, अन्वितप्रतिपत्तिपरत्वे सति पदत्वाद्विपं भुङ्क्तेति पदकदम्बवत् ।

सादेतत् । न पदानां पदार्थाभिधायकत्व, येन तस्मान्मर्ष्यादधिकं न कल्पनीयं स्यात्, अपितु साहचर्यवशात् संस्कारोन्मेषकतया स्मारकत्वम् । नचैतदेवाभिधायकत्वम् । अर्थानामपि शब्दाभिधायकत्वप्रसङ्गात् । अत्र च तेषामपि शब्दस्मारकत्वमिति, ततश्च तदतिरिक्तभिधाव्यापारस्वीकारेऽन्वितताभिधानवादस्वीकार इत्यभिप्रेत्य शब्दत्वे—नन्वित्यादिना । यद्यपि स्मारकत्वपदतदर्थयोः समानं, तथापि पदानामेवाभिधायकत्व लौकिकप्रसिद्धनेतरस्येति परिहृति—न पदानामिति । नन्वन्य एवाभिधाव्यापार शब्दस्य भादरभ्युपेयते, तत्स्य स्मारकाणामेव प्रसिद्धिशब्दाभिधायकत्वमिति तत्राह—शब्देति । अथवा स्मृतिजननशक्तिविशिष्ट शब्दमिज्ञानमभिधाव्यापार, नचैवविधो व्यापारोऽर्थस्वास्तीति कथमभिधायकत्वप्रसक्तिरित्याह—शब्दविषयेति । अथवाभिधायकत्व न निवारयाम, किंतु स्मरणजनकतातिरिक्तमेव तत्स्वीकर्तव्यमिति तत्राह—शब्दविषयेति । पदजनितविज्ञाने परिशेषास्मृतिरत्वेन तज्जनकत्वमेव शब्दस्याभिधायकत्वमित्यर्थं । अत्र वक्तृविशेषानुमापकशब्दविज्ञाने तदनभिधानरूपेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै पदार्थग्रहणम् । सहदृष्टवत्तन्तज्ञानेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै शब्दग्रहणम् । ननु परित्स्पन्द प्रयत्नो वा अन्य एव व्यापारो लोकप्रसिद्ध यथा तरुणा, यथा वा कौमारिलानामात्मन, तत्स्य विज्ञानस्य व्यापारत्वमित्यादाह—अन्यस्येति । विभाषिति मह्यनये । विभुगुण इति काशादादिनये । तदनेन मूर्तद्रव्यानुविधायिपरित्स्पन्दो निरस्तः । प्रयत्ननिरासायाह—चैतन्येति । अयमभिसन्धिः । तज्जन्यस्वदाभ्रितश्च तत्क्रियाहेतुस्वव्यापार इति चञ्चु सयोगादी यद्यपि दृष्टस्तथापि धोत्रशब्दसंज्ञिकत्वं तज्जन्यत्वमावेपि तथापारत्व दृष्ट, तथा अपूर्वस्य यागाश्रयत्वाभावेऽपि यागजन्यतया तव्यापारत्वमभ्युपगतं, तदिहापि शब्दविषयविज्ञानस्य शब्दाश्रयत्वाभावेपि तज्जन्यत्वादिपि भवति तथापारत्वमिति । स्वशब्दपूणसमाधानमुपसहरति—**तस्मादिति ।** लाक्षणिकत्वेऽत एव शाब्दत्वे च भद्रपादसमतिमाह—**तथाचेति ।**

ननु तथापि शाब्दार्थस्य लाक्षणिकत्वे किं प्रमाणं, नद्येतदभियुक्तवचनैकगम्यमिति तत्राह—**प्रयोगश्चेति ।** तात्पर्यविषयो व्यतिपन्न सचन्धस्त्वस्य लक्षका इति साध्यानिर्देशः । विष भुङ्क्तेति शब्दवदित्यर्थः । श्लोकेन सृष्टीतमनुमानं विष्णोति—**विवादपदेति ।** विष भुङ्क्तेत्यादी सिद्धसाधनतानि वृत्त्यै विवादपदग्रहणम् । अन्वितताभिधानेनाथीतरतानि वृत्त्यै लक्षणयैऽयुक्तम् । **पदार्थानामिति ।** अन्वयिना, न पुन स्वस्मारितानाम् । तेन न दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम् । पक्षे च सामर्थ्यात्स्वस्मारितान्वयव्यतिद्धि, इतरसाधनभावात् । गौरव इत्यादिपदैरनैकान्तिकतापरिहाराय हेतोः प्रथमं विशेषणम् । लिङ्गिल्लिङ्गसद्वर्धपरिल्लिङ्गव्यवच्छेदाय पदग्रहणम् । अनन्वितानधिकरणेऽपि विशेषणीयमिति केचित्, इतरथा स्वपुत्रानुमापकपदेऽपि व्यभिचार इति ।

१ स्ववाच्यपदार्थेलादि । २ दृष्टात्ते वाक्यस्यैव वाक्यार्थं लक्षणयास्वीकारेण पदानां पदार्थस्मारकत्वाभावादिति भावः । ३ व्यापकव्याप्ययोश्च संबन्धे तत्तात्पर्येके लिङ्गेऽनैकान्तिकतापरिहारायैत्यर्थः । ४ अनवयितानधिकारोपेति पाठो साधु प्रतीयते । अनवयितानधिकरणपदार्थानामिति साध्यवले निवेशेनैव पदैरुच्यते उच्यते । वैजायान्तपुत्रोऽनुमीयते तेषु पदैषु यत्किञ्चिद्विषयतमविपत्तिपरत्वे सति पदत्वस्य हेतोः सत्त्वेऽपि लक्षणया पुत्रपदार्थाव्यतिपत्तिपरत्वात्तत्रात्र नवविचारः । पुत्रपदार्थस्यानवयितानधिकरणत्वाभावादिति भावः ।

नच पदानि स्वार्थपरित्यागेन लक्षणयान्वयप्रतिपत्तिपराणि उक्तसाधनत्वात् त्वदुदाहृतवाक्यवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । अस्यैव त्वदुदाहृतानुमानवाक्यस्य स्वार्थपरित्यागापरित्यागयोस्तदनुपपत्तेः । तथाहि । स्वार्थपरित्यागे विशिष्टसाध्यप्रतीत्यभावादेवाविघातकत्वात्, अपरित्यागे च तत्रैवानैकान्तिकत्वात्, मुख्यार्थबाधोपाधिप्रयुक्तत्वाच्च स्वार्थपरित्यागस्य इह च बाधाभावाच्च स्वार्थपरित्यागानुमानं, तस्माद्भिहितान्वयवाद एव श्रेयानिति केचिदाचार्याः ।

नचैवमपसिद्धान्तः । भाष्यकारसंमतत्वात् । तथाच समन्वयसूत्रे वेदान्तवाक्यानि प्रस्तुत्य भाष्यकारः प्रतिपादयति स्म । “नच तद्गतानां पदार्थानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकरूपना युक्ता । श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्” । तत्र च पदार्थानामेवान्योन्यान्यवयप्रत्यायकता प्रतीयते, मण्डनमिश्रादिभिरप्यङ्गीकृतत्वात् । ‘पदार्थान्तरतुल्यत्वाद्विध्याकाङ्क्षानिवन्धनः । न संसर्गः पदार्थानां स्वशब्दैस्तु प्रदर्शिताः ॥ संवन्धयोग्यरूपेण तस्मात्संवन्धभागिनः । विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जन’ इति । व्यवहारे भट्टनय इत्यङ्गीकारात् भट्टपादैश्च वाक्यार्थस्य सर्वत्र लक्षणिकत्वस्वीकारात् । ‘वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थिति’रिति । तस्मात्पौरुषेयवाक्येभ्य इवापौरुषेयेभ्यो वेदान्तवाक्येभ्यो लक्षणया यथोक्तलक्षणं ब्रह्म सिद्धयतीति सिद्धम् ॥ १५ ॥

आभाससमानयोगक्षेमतां निराकरोति—नचेति । उदाहृतानुमानवाक्ये वाच्यार्थपरित्यागापरित्यागयोः प्रकृताविघातं दर्शयति—तथाहीत्यादिना । अनैकान्तिकत्वादिति । तत एव व्याघातकाभावादव्याघात इति शेषः । उपाधिमप्याह—मुप्यर्थेति । साधनव्याप्तिं परिहरति—इहँ चेति । किं चेदमन्वितगिघानं नाम न तावदन्वितप्रतिपादनमात्रम् । अविप्रतिपत्तेः । नापि पदार्थानिधायकशब्दस्त्वान्विते तात्पर्यम् । अत्राप्यभिवादादेव । नापि पदार्थमात्रे गृहीतसंगतिकस्यान्विताभिधायकत्वम् । पदार्थसंगतेस्तन्मात्रोपक्षीणत्वात्, इतरथाऽतिप्रसङ्गात् । अन्वितपदार्थसंगतिबलेन तस्मैतिपादनं तदिति चेत्, तत्र वक्तव्यं, किमन्वयविशेषवति संगतिग्रहः किं वान्वयमात्रवति । आद्ये वान्वयार्थस्यापूर्वत्वक्षतिः । अन्वयपदार्थप्रतीत्योः समसमयतया योग्यतादिप्रतिसन्धानविराहिणामपि पदार्थप्रतीतिवदन्वयप्रतीत्यापत्तिश्च । द्वितीयस्त्वसंभवानिरस्तः । नह्यन्वयमात्रवति गृहीतसंगतिकस्यान्वयविशेषद्वाराचकत्वं संभवति । जातौ गृहीतसंगतिकस्यापि व्यक्तिवाचकत्वप्रसङ्गात् । अन्वयमात्रवति गृहीतसंगतिकेन तावन्मात्रमभिधीयते विशेषस्तु लक्ष्यत इति चेत्, हन्त पदार्थानिधायिभिरेव शब्दैर्यं लक्ष्यतां कृतमन्तर्गडान्वयमात्रेण प्रमाणप्रयोजनरहितेनेत्यलम् । केचिदाचार्याः, वाचस्पतिमित्रप्रभृतयः ।

यदि चैवं न्यायपरिशुद्धेऽपि पक्षे विवरणकारादिमतमवलम्ब्यापसिद्धान्तपन्थितां कश्चिदादध्यात्तन्मुप्यं भाष्यकारप्रभृतिरुद्धवचनप्रतिबन्धेन पिदधाति—नचेत्यादिना । पदार्थान्तरेति । पदार्थानां संसर्गो न विध्याकाङ्क्षानिवन्धनः, कृतः, विधेरपि पदार्थान्तरतुल्यत्वात्, तस्मात्संबन्धयोग्यरूपेण स्वशब्दैः प्रकाशिताः पदार्थाः स्वयमेव संसर्गभागिनः । संवन्धयोग्यतया पदार्थप्रकाशे कारणमाह—विशिष्टार्थेति । सप्रयोजनकथनं बादाथमुपसंहरति—तस्मादिति । ‘संछट्टपरवान्येषु संछट्टार्थस्य लक्षणा । अरण्यार्थपरं वाक्यमरण्यस्यैव लक्षणम् ॥’ यद्वा ‘अरण्यार्थपरव्यादावस्ति संसर्गलक्षणा । तस्यापि च ततस्त्यागत्वेन नास्त्यरण्येण ॥’

- १ उक्तसाधनत्वत्वादिति वाचः साधुर्भाति । २ उपाधिपदं निमित्तपरमिति व्याख्यानान्तरमपि संभवति ।
 ३ स्वार्थपरित्यागेन लक्षणयाऽन्वयप्रतिपत्तिपरत्वानुमानमित्यर्थः । ४ अन्वितप्रतिपत्तिपरत्वे सति पदत्ववतीत्यर्थः ।
 ५ संगतिपदं शक्तिपरम् । ६ अन्वितप्रतीपादनमित्यर्थः ।

ननु कथमपौरुषेयत्वं वेदान्तानां, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्, नन्वपौरुषेया वेदाः
संप्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवदित्यनुमानमस्तीति चेत् । मैवम् । विशेष-
णासिद्धेः, पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये संप्रदायविच्छेदस्याभ्युपगमात् । असर्यमाणकर्तृकत्वं
च किमप्रमीयमाणकर्तृकत्वं विचक्षितम्, उत स्मरणागोचरकर्तृकत्वम् । नाद्यः । 'तस्माद्यज्ञा-
त्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत, त्रयो वेदा अजा-
यन्त, ऋग्वेद एवामेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्, इदं सर्वमसृजत ऋचो
यजूपि सामानी'त्यादिश्रुतिभिः कर्तुः प्रमीयमाणत्वात् । नापि द्वितीयः । विकल्पासह-
त्वात्, तथाहि किमेकेनास्मरणं विवक्षितमुतसर्वास्मरणम् । नाद्यः । मुक्तकश्लोकादावतैका-
न्तिकत्वात् । न द्वितीयः । सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञविज्ञानाविषयत्वात् ।

ननु 'वाचा विरूप नित्यया, यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै,
नाचिकेतमुपाख्यानां मृत्युप्रोक्तं सनातनम्, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवे-
त्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यो वेदस्य नित्यत्वावगमात् पौरुषेयत्वप्रतिपादकानि कल्पादौ
तत्संप्रदायप्रवर्तकत्वपराणीति चेन्मैवम् । वाचा विरूप नित्येयस्य वाक्यस्य "वृष्णे चोदस्य
सुष्ठु स्तुति"मिति वाक्यशेषादभिस्तुतिविधिपरत्वावगमात् अन्यार्थदर्शनस्य प्रास्यभावे प्रमा-
णत्वानुपपत्तेः । यो वै वेदांश्च प्रहिणोतीत्यस्य च पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोः साधारणत्वात्,
स्वयं निर्मायापि वेदानां प्रदानसंभवात् । 'मृत्युप्रोक्तं सनातन'मित्यस्य वाक्यस्यो 'क्त्वा श्रुत्वा
च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते' इति वाक्यात् उपाख्यानानुवचनश्रवणप्रशंसापरत्वात् ।
'अनादिनिधना नित्ये'ति स्मृतेश्च 'प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयत' इति स्मृत्यन्तर-
विरोधेनानिर्णायकत्वात् । एवं च नित्यत्वप्रतिपादकानामन्यार्थतया पौरुषेयत्वप्रतिपादकवा-
क्याबाधकत्वात् पौरुषेयत्वमेव वेदान्तानां निश्चिनुमः ।

अपौरुषेयेभ्य इत्युक्तममृत्युमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—ननु कथमिति । जीर्णकूपारामदिव्य-
भिचारवारणाय संप्रदायाविच्छेदे सतीत्युक्तम् । कालिदासादिवचसु व्यभिचारवारणायार्थमाणकर्तृकत्वा-
दित्युक्तम् । विशेषणासिद्धिमेवाह—पौरुषेयेति । असर्यमाणेत्यत्रापि स्मृतिपदं किं मूलप्रैमितिपरं किं वा
मुख्यवृत्तीति विकल्प्याये तदविषयत्वं वेदकर्तुरसिद्धमित्याह—नाद्यस्तस्माद्यज्ञादिति । तस्मात्प्रकृत्याज्ञा-
यज्ञरूपिणः परमेश्वरात् सर्वहुतः हुतं हुत् यस्मिन्सत्सर्वं विद्यते स सर्वहुत् ततः सर्वहुतः सकाशात्, अथवा सर्वं
जुहोतीति सर्वहुत् यद्यपि स एवेति यावत् । प्रलयकाले वा सर्वं खमात्रतया जुहोतीति सर्वहुत् ततः क्रमा-
दयो जज्ञिरे उत्पन्ना इति पुरुषसूक्तार्थः । त्रयो वेदा इति श्रुत्यन्तरम् । इदं सर्वमित्यपरा श्रुतिः । मुक्तकेति ।
विप्रकीर्णः श्लोकः मुक्तकश्लोकः तेषु यैः कैश्चिदसर्यमाणकर्तृकत्वमस्ति नचास्यपौरुषेयत्वमित्यर्थः ।

नित्यत्वप्रतिपादकागमविरोधात् सृष्टिश्रुतीनामन्यार्थत्वं शङ्कते—नन्वित्यादिना । हे विरूप वृष्णे नित्या
वाचा सुष्ठु स्तुतिं चोदयस्वेत्यर्थः । तथा यः परमेश्वरो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति विहिताय च तस्मै
वेदान्प्रहिणोति प्रददाति । उपदिशतीति यावत् । ननु करोतीति श्वेताश्वतरोपनिषदमन्त्रार्थः । नास्तिकेतमिति
कठवद्भोश्रुतिः । अनादिनिधनेति स्मृतिः । आदिनिधनरहिता, अत एव नित्या उत्सृष्टेषुपदिष्टेत्यर्थः । अत-
त्परत्वादासां न्यायसापेक्षाणां तदभावे नास्ति स्वार्थे प्रामाण्यम्, अतो न सृष्टिश्रुतिविनिवारकत्वमिति परिहरति
—मैवमित्यादिना । अन्यार्थेति । अन्यशेषे वाक्ये यद्दर्शनं पदसमन्वित्याहारमात्रात्तदन्यार्थदर्शनम् ।
साधारण्यमेव दर्शयति—स्वयमिति । उपाख्यानेति । उपाख्यानस्यानुवचनं श्रवणं च यत्तयोः प्रसादा-
परत्वादित्यर्थः । स्मृतः स्मृत्यन्तरविरोधमाह—अनादीति ।

१ सुष्ठुतिमिति पाठो माति । २ वेदानामिति पाठान्तरम् । ३ मूलभूतप्रमितिपरमिति पाठान्तरम् ।

अनुमानतोपि तथात्वमध्यवस्थामो, वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कालिदास-
वाक्यवदिति, वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवत् । ननु
'वेदसाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनरूपत्वादधुनाध्ययनं यथे'त्यनुमानात्सप्रति-
साधनतेति चेत् । मैवम् । सर्ववेदाध्ययनपक्षीकारे दृष्टान्तासिद्धेः, अतीतकालीनाध्ययन-
पक्षीकारे चांशतः सिद्धसाधनत्वात्, सर्गाकालीनाध्ययनपक्षीकारे सर्गमनङ्गीकुर्वतो मीमां-
सकस्याश्रयासिद्धेः, 'भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । भारताध्ययनत्वेन सांप्रताध्य-
यनं यथे'त्याभाससमानयोगक्षेमत्वात् । अथ तत्र कर्तृस्मृत्या वाधः 'कृष्णद्वैपायनं व्यासं
विद्धि नारायणं प्रभुम् । को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ॥' तर्हि इहापि
सकर्तृकताप्रतिपादकश्रुतिभिर्बाध इति समानम् । विपक्षे चाप्ताप्रणीतत्वाद्वालोन्मत्तादिव-
दप्रामाण्यप्रसङ्गो वाधकस्तर्कः । अथ वालोन्मत्तादिवाक्यानामनाप्तप्रणीतत्वेनाप्रामाण्यम् इह
तदभावादाप्तवाक्यवत्प्रामाण्यमुपपद्यत इतिचेत् । मैवम् । अनाप्ताप्रणीतवाक्यस्य जगत्या-
प्तप्रणीतत्वनियमदृष्टेः, अन्यथा वक्रुरभावे वाक्यस्योत्पत्तिप्रतीत्योरसंभवात् ।

अथाभिव्यक्तिरेव शब्दानां वक्तृव्यापारान्नोत्पत्तिः । मैवम् । एवं सति पापण्ड्याद्यग-
मानामपि नित्यत्वप्रसङ्गात् । किंच शब्दोऽनित्यः कृतको वा सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादि-
बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटवदित्यनुमानेन शब्दानां कृतकत्वेन पौरुषेयत्वसिद्धिः । नच
मीमांसकं प्रति योगिव्यवच्छेदार्थमस्मदादिपदं व्यर्थं तेन योगिनामनभ्युपगमादिति वा-
च्यम् । स्वमते व्यभिचारनिवारणार्थत्वात् । तथाच चिरन्तनाचार्याणामपि स्वमते व्य-

एवं नित्यत्वानुमानागमदूषणपूर्वकमनित्यलागम प्रदर्शयितुमानमप्यनित्यत्वे दर्शयति—अनुमानेति ।
गीतिरूपेषु हुकडादिस्तोभभागेषु चासिद्धिपरिहारार्थं वाच्यानीति विशेषणम् । ईश्वरकृतत्वेऽप्यनुमानमाह—
वेदेति । उन्मत्तवान्ये प्रत्यक्षादी च व्यभिचारवारणाय विशेषणद्वयं गृहीतम् । सत्प्रतिपक्षता शङ्कते—
नन्विति । अत्र किं कृतकं वेदाध्ययनं पक्ष, उतातीतकालीनम्, उत सर्गाकालीनाध्ययनमिति विकल्प्य क्रमेण
दूषयति—मैवमित्यादिना । आभाससमानयोगक्षेमतया दौर्बल्यमाह—भारतेति । ननु तत्र व्यासः
कर्तेति स्मर्यते 'कोह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवे'दित्यादी तेन बाधाद्वैपम्यमिति तत्राह—अथेति ।
शङ्कितोपाधिता निराकरोति पूर्ववादी—विपक्षे चेति । सोपाधितया प्रशिथिलमूलता शङ्कते—अथेति ।
अनाप्ताप्रणीतं चेदाप्तप्रणीतमेवेति नित्यत्वाभावाद्वाच्यस्येति हृदि निधाय परिहरति—मैवमिति । आत्मा-
दियु व्यभिचारवारणाय वाच्यैः प्रहणम् ।

ननु न वक्रा शब्दाना निष्पादनं क्रियते, किंलभिव्यक्तिरेव, तेन वक्रभावो नास्त्युत्पत्त्याप्त इति प्रशिथिलमू-
लता शङ्कते—अथेति । अतिप्रसक्त्या परिहरति—मैवमिति । तदेवं सदोपलब्धैर्ननुपलब्धिप्रसङ्गं नित्यत्वे
बाधकमभिधायानित्यत्वेऽप्यनुमानमाह—किंचेति । अथायमभिव्यक्तिवादिलांघनीमासक कृतकत्वे एव
विचदेत्तर्हि तदपि सावनीयमित्याह—कृतको वेति । ईश्वरप्रत्यक्षेभवात्साक्षादियु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमिन्द्रि-
यप्रत्यक्षत्वादित्युक्तम् । तथापि मनोप्राख्यात्मनि व्यभिचारस्त्वर्यं बाधेति । तथापि योगिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षपर-
माण्वादिषु व्यभिचारस्त्वर्यमस्मदादीत्युक्तम् । तथापि सामान्ये व्यभिचारस्त्वर्यं सामान्यवत्त्वे सतीत्युक्तम् ।
अत्रास्मदादीतिविशेषणं मीमांसक प्रति व्यर्थं तेन तन्निवर्त्ययोग्यनङ्गीकारात्तदुद्धारं च स्वमते व्यभिचार
इति केचिद्दूषणमूचिरे तत्परिहरति—नचेति । ननु न स्वमतमात्रव्यभिचारनिवारणाय विशेषणं युक्तमदृष्टव-
रत्वादिति तत्राह—तथाचेति । ध्वनिषु तदमोदात्तादिषु च व्यभिचारनिवारणायोक्तं ध्वनिधर्मान्यत्वेऽ-

१ अतीतकालिके यत्किञ्चिद्वेदाध्ययने गुर्वध्ययनपूर्वकत्वस्य सिद्धत्वादिति भावः । २ बालोन्मत्तादिवाक्यवदिति
भाति । ३ अनाप्ताप्रणीतवाच्यस्येत्येति शेषः । ४ शब्दानां नित्यत्वेऽनाश्रुतत्वे च सदोपलब्धिप्रसङ्गः । आश्रुतत्वे
च सदानुपलब्धिप्रसङ्गः इति भावः । ५ तादृशविशेषणप्रवेशे इत्यर्थः ।

भिचारनिवारणार्थं विशेषणोपादानं दृश्यते, नित्यः शब्दो ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति । नहि वर्णानित्यत्ववादिमते वर्णोतिरिक्त्वा ध्वनय उदात्तादयो वा तद्धर्माः सन्ति ये व्यावर्तेरन्, स्वमते तु ध्वनेस्तद्धर्माणां चोदात्तादीनां सङ्गावाहुपपद्यते ध्वनिधर्मान्यत्वे सतीति विशेषणम् । नचोपान्त्यादिशब्देषु भागासिद्धिः । श्रोत्रमालाशब्दविशेषस्यैव पक्षीकरणत्वात् ।

नचैवमपि विशिष्टधर्मिहेतोरसिद्धिस्तत्तच्छ्रोत्रेष्वेकस्यैव शब्दस्य समवायानङ्गीकारात् एकस्य शब्दस्य बहूनां प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेरिति वाच्यम् । शब्दनित्यत्वानुमानेष्यस्य दोषस्य तुल्यतया स्वव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वापत्तेः । तथाहि भवदिन्द्रियग्राह्यः शब्दः पक्षोऽसिद्धिर्नियमाहो वा । नाद्यः । प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धेः । न द्वितीयः । वादिनं प्रत्यसिद्धेः । तस्माद्धोक्प्रसिद्धशब्दत्वजात्याधार एव शब्दो नित्यत्वसाधने पक्ष इति वाच्यम् । एवमनित्यत्वसाधनेपीति न कश्चिद्दोषः । नच स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात् कालाख्यापदिष्टमनित्यत्वानुमानम् । प्रत्यभिज्ञाया जातिविपर्ययेन व्यक्तिविपर्ययेन च संदिष्टमानाया वाधकतानुपपत्तेः । ननु विवादाध्यासितः कालो वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वात् संप्रतिपन्नकालवदिति प्रत्यनुमानविरोध इति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं वेदप्रणयनात्प्राक्कालः किं वा तदुत्पादोत्तरकाल उत सर्गकालः पक्षीक्रियते । पक्षत्रयेपि मीमांसकस्य धर्म्यसिद्धिः, प्रथमे च प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातोऽतिरिच्यते, कालिदासादिवाक्यपाठेष्वेवमनुमानोत्थानादाभाससमानयोगक्षेमताचानुमानस्य ।

तीति । स्वमतसंमतं व्यभिचारवारकत्वं दर्शयति—नहीत्यादिना । वर्णग्रहणं शब्दपरम् । एतदुक्तं भवति । व्यभिचारमात्रनिवृत्त्यापि भवति सार्यक्यं हेतोरिति । यच्च दूषणान्तरमुच्यतेऽसदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यलक्षणान्यादिषु नास्तीति भागासिद्धिरिति तत्राह—नचोपान्त्यादीति ।

ननु तथापि धर्म्यसिद्धिः, भेरीदण्डसंयोगाक्षिमिलकारणात् भेर्याकाशसंयोगादसमवायिकारणात् महाकाशप्रदेशे समवायिकारेण प्रथममेकः शब्द उत्पद्यते, तस्य च शब्दस्य विभुगुणतया आश्रयद्वारा स्वतो वा गमनानुपपत्तेः प्रदेशान्तरोत्पन्नत्वात् स्वभावभेदाद्वा न श्रोत्रेण संबन्धः, ततश्च तस्माच्छब्दादसमवायिकारणात् अदृष्टादिनिमित्तकारणादाद्यशब्दाश्रयाकाशप्रदेशानन्तराकाशप्रदेशेषु समवायिकारेणु सर्वतो दिशि शब्दा उत्पद्यन्ते, तेभ्यश्चान्ये तेभ्यश्चान्ये इति वीचीसंतानवत् यावच्छ्रोत्रसमवेतशब्दं शब्दसंताना उत्पद्यन्ते, तन्नयः कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नाकाशप्रदेशे शब्द उत्पद्यते स श्रोत्रसमवायात् श्रोत्रेण गृह्यते, स च न श्रोत्रान्तरग्राह्यः तत्रासमवेतत्वात् स्वभावभेदाद्देति वैशेषिकादिदर्शनं, ततश्च न वादिप्रतिवादिश्रोत्रग्राह्य एकः शब्दोऽस्तीति धर्म्यसिद्धिः, अतएवोभयसंमतहेलसिद्धिरिति, तदेतदनुय निराकरोति—नचैवमित्यादिना । जात्युत्तरतां दर्शयितुं परपक्षेपि विकल्पसाम्यमुत्तरसाम्यं च दर्शयति—तथाहीत्यादिना । लोकप्रसिद्धः, श्रावणत्वेन लोकप्रसिद्धः । ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितमिदमनित्यत्वानुमानं, स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञया गकारस्यैवमवगम्यत इति तत्राह—न च स इति । तथाहि ज्वालादौ जातिमवलम्ब्य प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तमाना न व्यक्तिस्थैर्यसाधिका तद्वदिहापीत्याह—प्रत्यभिज्ञाया इति । न केवलं वेदप्रणयनोत्सादनं व्याकुर्वतो मीमांसकस्य प्रणयनात् प्राक्कालोत्पादोत्तरकालप्रणयनकालानामसिद्ध्या धर्म्यसिद्धिः, किंतु प्रथमपक्षे वेदसर्गाद्व्याकुर्वतो वेदाध्ययनप्रयुक्त इति प्रतिज्ञाविरोधश्चाधिक इत्याह—प्रथमेचेति । दूषणान्तरं चाह—कालीति ।

१ उभयसमतपरिगमत्वाद्दृशदेतोश्वासिद्धिरित्यर्थः । २ मात्रपरं कृत्वार्थकम् । स्वसंमतः परसंमतो वा यो व्यभिचारस्तद्विद्वृत्त्यर्थः । ३ समाहारद्वन्द्वः । व्याकुर्वतो निषेधतः ।

नन्वशरीरस्थेश्वरस्य तात्वादिविद्युतिरूपवर्णोच्चारणासम्भवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्येति चेत् । मैघम् । स्वभावतोऽशरीरस्यापि परमेश्वरस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहप्रहणोपपत्तेः । तदेवं वेदपौरुषेयतानुमानस्य निरस्तसमस्तदूपणतया वेदाः पौरुषेया इति प्राप्तम् । अत्र समाधिः । 'श्रुतीनामीश्वराब्जन्म केवलं श्रुतिषु श्रुतम् । मानान्तरोपलब्धेर्धे रचना तु न मीयते ॥' २७ ॥ इति । किमिदं पौरुषेयत्वं नाम यत्र श्रुतयः स्मृतयश्च प्रमाणत्वेनोदाहृताः, किं पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वं वेदानां पौरुषेयत्वमुक्तं प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वम् । तत्राद्योङ्गीक्रियते, आकाशवन्नित्यत्वेन सर्वगतत्वेन कालतो देशतश्च क्रमशून्यानां वर्णानामनित्योच्चारणप्रतिपत्तिक्रमविशिष्टानां पूर्वपूर्वक्रमानुसृष्टिनिमित्तत्तत्सदृशोत्तरोत्तरक्रमवतां वेदशब्दवाच्यानां सांप्रतमपि पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्तया सर्गसमयेऽपि श्रुत्या तथात्वस्य प्रतिपादयितुमुचितत्वात् । द्वितीयस्तु न, प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्रेश्वरेण वेदा विरचिता इति श्रुतिभिरप्रतिपादितत्वात् ।

नच पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वश्रवणान्यथानुपपत्त्यैव प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वं सिध्येत् । इदानीमस्मदादिभिरुच्चार्यमाणवेदवाक्येषु मालतीमाधवादिवाक्येषु च व्यभि-

ननु यदीश्वरो वेदकर्ता तर्हि शरीरी स्यादिति तर्कविरुद्धं वेदकर्तृत्वानुमानमिति शङ्कते—नन्विति । इष्टप्रसङ्गतया परिहरति—मैघमिति । लीलाया विग्रहस्य ग्रहणं लीलाविग्रहग्रहणम् । सिद्धान्तमिति—अत्र समाधिरिति । समाधिः समाधानम् । अभिधीयत इति शेषः । अत्र किं पुरुषादुत्पन्नत्वमात्रं पौरुषेयत्वं सिपाधप्रिपितं, यथास्मदादिभिरहरह उच्चार्यमाणो वेदः, किं वा प्रमाणेनार्थमुपलभ्य तत्प्रकाशनाय विरचितत्वात्मकत्वं वेदानां पौरुषेयत्वं, यथास्मदादिभिरेव ब्रह्ममानप्रत्यपद्धतिः । अथे त्वविवादः । द्वितीयेपि किमागमबलात् तत्साधनमनुमानाद्वा । नाथ इत्याह—श्रुतीति श्लोकेन । श्रुतिष्वीश्वरात् श्रुतीनां केवलं जन्म श्रुतं, नतु पुनरुपलभ्यविरचनं, तत्पुनरनुमीयते, तच्चायुक्तं वक्तव्यदोषादित्यर्थः । विषयविवेचनपूर्वकं श्लोकं व्याचष्टे—किमित्यादिना । ननु नित्यस्य कथं पौरुषेयत्वमिदं विनुदजायातीकारमेव विद्युतोति—आकाशवदित्यादिना । क्रमविशेषवान् शब्दराशिर्हि वेदः, क्रमश्च कालतो देशतो वा नियतः, स चोभयविधोप्यत्र न संभवति, वक्ष्यमाणनित्यत्वप्रमाणबलान्नित्यानां विभूनां च शब्दानां कालतो देशतो वा क्रमासंभवात् । प्रतीयते च, तेनाभिव्यञ्जकोच्चारणप्रतिपत्त्योरन्यतरक्रमोपरागात्क्रमवत्त्वं वक्तव्यं, तत्रोच्चारणप्रतिपत्ती अनित्ये इति तत्क्रमविशिष्टः शब्दराशिरपि तदुपाधावनित्य एवेति इष्टमेवेदं पौरुषेयत्वमित्यर्थः । ननु प्रतिपुरुषं क्रमद्वाराऽनित्यत्वे कथं स एवायं वेद इति प्रत्यभिज्ञानमिति तत्राह—पूर्वेति । क्रमस्येदंप्रथमतया पौरुषेयत्वभङ्गमाशङ्क्य चेदमुत्तरम्—सांप्रतमपीति । सृष्टिश्रुत्याप्येतदविरुद्धमेव प्रतिपादयितुमुचितमित्यर्थः । एवं पूर्वांघ्र्यां व्याख्यायोत्तरार्थं व्याचष्टे—द्वितीय इत्यादिना । अदर्शनं हेतुमाह—प्रमाणेति ।

स्यादेतत् । यद्यपि न साक्षाच्छ्रुतोऽयमर्थः तथापि श्रुतोत्वत्यनुपपत्त्या कल्प्यते पौरुषेयत्वं सोपि हि भवति कश्चित् श्रुतो व्यापारः । यथाहुः 'अर्थाद्वा कल्पेनैकदेशत्वा' दिति । तत्रैवं वक्तव्यम् । किं पुरुषाधीनोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते उत प्रमाणभूतवाक्यरचनान्यथानुपपत्त्या । नाथ इत्याह—नचेति । प्रायुक्तीत्या वेदवाक्यानि काव्यावाक्यानि च उच्चारणसमये सृज्यन्ते, तत्र प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनव्यतिरेकेण पुरुषाधीनोत्पत्तिम-

चारात् । एतेन प्रमाणभूतवाक्यस्य रचनान्यथानुपपत्त्या मानान्तरोपलब्धेर्धे विरचित-
त्वकल्पनापि प्रत्युक्ता । अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणमन्वादिवाक्येषु व्यभिचारात् । किंच यदि
विरचितत्वान्यथानुपपत्तिर्मानान्तरोपलब्धेर्धे रचनां कल्पयेत्, हन्तैव 'भृग्वेद एवाग्नेरजा-
यत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्या'दिति वेदानामग्न्यादिभ्यो जन्मश्रवणात् तत्क-
र्तृकतया ईश्वरकर्तृकत्वनियमो न स्यात् ।

अथ 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादिवाक्ये वेदानामीश्वरकर्तृ-
कत्वाधिगमादधिष्ठावृद्देवतापरं तत्तद्वाक्यमिति कल्पयेत्, तर्हि 'ब्रह्म स्वयंभु, वाचा वि-
रूप नित्यया, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टे'त्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्योपि वेदानां नित्य-
त्वावगमात् तस्माद्यज्ञादित्यादिवाक्यं संप्रदायप्रवर्तकत्वपरमिति कल्पना न प्रकृतेपि
दण्डवारिता । नन्वेपामन्यपरत्वात्रैतेभ्यो नित्यत्वसिद्धिरिति चेन्मैवम् । देवताधिकरण-
न्यायेन प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरसतोरन्यपराणामपि स्वार्थे प्रामाण्योपपत्तेः । एतेन
वाक्यत्वादिति पौरुषेयत्वानुमानमपि परास्तम् । पुरुषप्रणीतत्वमात्रसाध्ये सिद्धसाधनत्वात् ।

प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वसाधने च मालतीमाधवादिष्वनैकान्तिकत्वात् ।
तथा च प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वादाप्तप्रणीतत्वानुमानेपि सिद्धसाधनता । आप्तेनोच्चार्य-

त्वमुपपद्यमानं न वेदेष्वपि तत्कल्पयतीत्यर्थः । द्वितीये पक्षेऽपीदमेव दूषणमतिदिशति—एतेनेति । किंच
भवतैवायमज्ञीकर्तव्योऽयं इत्युत्पत्तिश्रुतेरन्यथासिद्धौ प्रतिबन्धीमाह—किंचेत्यादिना ।

अथ श्रुत्यन्तरवशादन्यथा नेतव्यं तदिदमिति, तदस्मन्मतेपि समानमित्याह—अथेत्यादिना । ब्रह्म
वेदः । पूर्वपक्षाद्ययमनुवदति—नन्वेपामिति । देवताधिकरणन्यायेनेति । द्वेषा दि वाक्यार्थे द्वार-
भूतः प्रधानं चेति । तत्र प्रधाने तात्पर्यं द्वारे त्वत्परमपि प्रमाणम् । अर्थाधितासंदिग्धानधिगतार्थबोधकत्वं
हि प्रमाणत्वम् । नचान्यपरैरपि मन्त्रादिभिः प्रतीयमानो ब्रह्महेतुन्द्रादिलक्षणार्थः संदिग्धः, नापि विपर्यस्तः,
बाधाभावात्, प्रमाणान्तराद्योऽन्यत्वाच्चानधिगत इति प्रमाणमेव तस्मिन्नपि मन्त्रादयः । नचार्थभेदे वाक्यभे-
दप्रसक्तिः । प्रधानार्थस्य भेदाभावात्, अवान्तरवाक्यस्येष्टत्वाच्च । नचातत्परत्वाद्प्रामाण्यम् । अतत्परस्या-
प्यर्थवादस्य द्वारभूतार्थे प्रामाण्यस्वीकारात् । इतरथा तद्वारा तत्प्रधानेपि तत्प्रामाण्याभावा 'दुष्णवादस्तु त-
त्सिद्धि' रित्यादि सूत्राणामनारम्भप्रसङ्गात् । विशिष्टविधौ च तात्पर्याधिपयेपि विशेषणे प्रामाण्यस्यावश्य-
कर्तव्यत्वात् । तत्रापि विशेषणांशे तत्परं विध्यन्तरमुच्यते इति चेत्, किं तदुच्चार्यकं विशिष्टविधानमेवेति चेत्,
हन्त परस्परश्रयप्रसङ्गात्, विशिष्टविधिप्रवृत्तौ च विध्यन्तरोन्नयनं विध्यन्तरप्रवृत्तौ च विशिष्टविधानमिति ।
नच प्रमाणान्तरगोचरत्वं विशेषणस्य सर्वत्र संभवति । वारैवन्तीयादौ तदभावात्, तस्मादातत्परमपि प्रमाणा-
न्तरप्राप्तिविरोधयोरभावे प्रमाणमेवेति सोयं देवताधिकरणन्यायसारः । तेनासामपि श्रुतीना वेदनित्यत्वे प्रामा-
ण्यमस्त्वैवेत्यर्थः । ननु नेदं पौरुषेयत्वं श्रुतं श्रुतसामार्थ्यसिद्धं वेति अस्माभिः स्वीक्रियते, कित्वनुमानबलादिति
तत्राह—एतेनेति । एतद्विशदयति—पुरुषेति ।

मालतीमाधवादिष्विति । यद्यपि प्रथमं कविकृतवाक्येषु साध्याभावात् व्यभिचारः, तथाप्यस्मदुच्चार्यमा-
णमालतीमाधवादिवाक्ये व्यभिचारः । नहि तत् तद्वाक्यं, तस्मान्यत्वादित्यर्थः । कविकृतेष्वौत्प्रेक्षिकत्विचक्यापरेषु
वाक्येषु व्यभिचार इत्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयानुमानेऽपि सिद्धसाधनतामाह—तथेति । अत्रापि किमाप्तेनो-
च्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वं किं बोधकत्वविरचनम् । प्रथमे सिद्धसाधनता विशदयति—आप्तेनेति । स्यादेतत्,
द्वितीय एव नः पक्षः सिधाधयिपितः । नचेदानीमुच्चार्यमाणवेदवाक्यैरनैकान्तिकता । तेषामपि पक्षदुत्वं

१ विपर्ययसंशयसंशरणवारणाय यथाक्रमं विशेषणप्रथम् । २ प्राशस्त्यरूपस्य । ३ वारवन्तीयनामकलाशो वेद-
मतिरूपेण प्रमाणान्तरगोचरत्वाभावादिति भावः ।

माणतया तत्प्रणीतत्वस्यापौरुषेयवादिभिरप्यभ्युपगमात् । प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचित-
त्वानुमाने तु हेतोरन्यथासिद्धिः । अस्मदादिभिर्गुरुचार्यमाणेदानींतनवेदवाक्यानामिष सर्गकाली-
नानामपि तेषामीश्वरेणोचार्यत्वमात्रेणापि प्रमाणवाक्यत्वोपपत्तौ प्रमाणान्तराधिगतिपूर्वकवि-
रचितत्वस्यानुमातुमशक्यत्वात्, तस्य च सर्वज्ञत्वाद्दीतकल्पान्तरगतवेदापरोक्षसंभवात् ।

अविग्रहस्यापि तस्य भक्तानुकम्पितया लीलाविग्रहग्रहणेन तदुच्चारणोपपत्तेश्च । एतेन
सर्गकालीनाध्ययनस्य पूर्वपूर्ववेदाध्ययनपुरःसरत्वमपि समर्थनीयम् । नचाश्रयासिद्धिः ।
वेदान्तिभिः सर्गाङ्गीकारात् । नच भारताध्ययनस्य तथात्वप्रसङ्गेनाभाससमानयोगक्षे-
मता । तत्र दृढतरकर्तृस्मरणेन वाधात् । नचेहापि कर्तृश्रुत्या वाधः । तस्याः संप्रदायप्रव-
र्तकत्वपरतयाप्युपपत्तेः, अन्यथा नित्यत्वप्रतिपादकवाक्यानामनवकाशत्वप्रसङ्गात्, भार-
तस्य नित्यत्वप्रतिपादकप्रमाणाम्बावाच्च ।

त्वेनान्ततः परमेश्वरविरचितत्वस्येष्टत्वादिति, तत्राह—प्रमाणेति । अन्यासिद्धिमेव दर्शयति अस्मदा-
दीति । यदि हि विरचनं प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनेन व्याप्तं, तदास्मदादावपि तथा स्यात्, नचास्ति, ततो-
द्वगम्यते, नूतनयोः संबन्धोन्यप्रयुक्त इति भावः । स्यादेतत्, कल्पाङ्गीकारे निर्लेपं प्रलीनस्य चिरकालातीतस्य
संस्कारप्रमोषात् कथमीश्वरेणापि शक्यः पूर्ववद्वेद उच्चारयितुमिति, तत्राह—तस्य चेति । न तावन्निलेपः
प्रलयः । तत्संस्काररजितभायोपवृंहितपरमेश्वरस्य मूलकारणस्य वा विद्यमानत्वात् । अतएव तत्संस्कारवशात्
तत्सदृशक्रमवद्वेदोच्चारणमपि संभवतीत्यर्थः ।

तथापि तात्वादिकरणरहितस्य कथं कर्तृत्वं संप्रदायप्रवर्तकत्वं चेति तत्राह—अविग्रहस्यापीति । अभ्यु-
पगम्येदमुच्यते, वस्तुतस्तुवीश्वरस्य शरीरादिनोपदेष्टृत्वमेव नास्ति, कल्पादिभुवामतीतकल्पानुष्ठितविशिष्टज्ञानैरंप-
रापरितुष्टपरमेश्वरानुग्रहवशाद्विरचितशयज्ञानसम्बद्धानां हिरण्यगर्भप्रभृतीनां बुद्धी यो वेदानामविर्भावः स खलु
परमेश्वरस्य वेदोपदेष्टृत्वं नाम । इदमेव च यो वै वेदांश्चेति श्रुत्याप्युच्यते, न तत्र शरीरेण किञ्चित्कल्पमिति ।
यत्तु वेदाध्ययनस्यानिर्द्वयप्रथमतायामनुमानमुद्गाढ्य दूषितं पूर्ववादिना, तदपि संस्कारप्रमोषादित्यादिना समर्थित-
मित्याह—पतेनेति । यत्तु वेनाश्रयासिद्धिरित्युक्तं, तत्र भवतु मीमांसकं प्रत्ययं दोषो, नास्मन्प्रतीति परिह-
रति—नचेति । तन्मतेपि यादृगहोरात्रादिपरिगणनाविशिष्टस्य सर्गकालत्वं पराङ्गीकृतं तत्कालः शक्यः पक्षी-
कर्तृमिति द्रष्टव्यम् । आभाससमानयोगक्षेमतां परिहरति—नचेति । ननुक्तमत्रापि कर्तृप्रतिपादकश्रुतिस्मृती
विद्येते इति तत्राह—नचेहापीति । अथ किमित्युपलभ्यविरचयिता कर्तृवाभिः श्रुतिभिः न स्वीक्रियते तत्राह
—अन्यथेति । नित्यत्वं चेदं पुरुषास्वातन्त्र्यं, न पुनः सर्वथैव । निःश्रुतमित्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् ।
उक्तं च वृद्धेः 'यन्नतः प्रतिपेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रते'ति । स्यान्मतं वयमपि तावद्वेदमुच्चारणद्वारेण विर-
चयामः परमेश्वरोपि चेत्यथैव रचयति नतु पूर्वक्रमान्वययति नाप्युपलभ्यार्थं विरचयति कस्ताहं विशेषः
परमेश्वरस्य माहेश्वर्यः, येन निःश्रुतमित्यादिश्रुतयः परमेश्वरमेव कर्तारमावेदयन्तीति । उच्यते । उपौदा-
नत्वात्स खलु परमेश्वरः प्रतिसंचरसमये समस्तमेव जगत्संहरन् विद्यदादिदेव वेदाद्यात्मकमपि शब्दार्थि-
संहरति महासर्गसमये च तत्तद्वासनावासिताचिन्त्यशक्तिरशिमहामायासहायमापन्नः शब्दाकारेण विवर्तते,
तदनु च पूर्वक्रमसदृशक्रमवच्छब्दराशिरूपवेदाकारेण विवर्तते, सर्गादिभुवा हिरण्यगर्भप्रभृतीनां च तमुपदिश-
तीति शब्दकर्तृत्वं संप्रदायप्रवर्तकत्वं चेश्वरस्यैवेत्युच्यते । यद्यपि सर्वज्ञस्येश्वरस्य वेदार्थविषयमपि ज्ञानमस्ति,
तथापि न तस्य वेदनिर्माणे कारणभावः, पूर्वपूर्वक्रमानुसरणमात्रेण तत्सदृशक्रमनिर्माणक्षमत्वात् । अस्मदादी-
नामिषवेदानींतनभारतादिक्रमनिर्माणे, तेन नापौरुषेयत्वशक्तिः । नन्वेवं भारतस्यापि संप्रदायप्रवर्तयितैव व्यासः
नतु कर्तेति तस्याप्यपौरुषेयत्वं स्यादिति तत्राह—भारतस्येति ।

१ मीमांसकमते सर्गाङ्गीकारेण सर्गकालिकाध्ययनरूपपक्षाप्रसिद्धिरित्यर्थः । २ ज्ञानमुपासना । ३ जगत इति शेषः ।

नच वेदानामनात्तप्रणीतत्वादात्प्रणीतत्वमनुमातुं युक्तम् । आत्माकाशादौ व्यभिचारात् । अथ शब्दत्वे सतीति विशेषणाद्दोषः । भैवम् । आत्तप्रणीततामात्रस्य पूर्वोक्तन्यायेन वेदैष्यङ्गीकारात् । नचैवंसति पापण्ड्याद्यागमानामपौरुषेयत्वं, मानान्तरेणार्थसुपलभ्य तत्तत्पुरुषविरचितत्वस्य सौगतादिभिः स्वयमेवाङ्गीकारात्प्रसिद्धेश्च । नच सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबहिरिन्द्रियप्रत्यक्षतया वर्णानां कृतकत्वानुमानम् । अस्मदादिबहिरिन्द्रियप्रत्यक्षस्य कालाकाशादेर्नित्यत्वेन भाट्टं प्रत्यनैकान्यात्, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । श्रोत्रं नित्यद्रव्यप्राहकं निरवयवेन्द्रियत्वात् मनोवदिति भाट्टमतेन प्रयोगसंभवात् । नच श्रोत्रं न नित्यद्रव्यप्राहकम्, अनित्यंभूतविशेषगुणप्राहकं वा । बहिरिन्द्रियत्वादिन्द्रियत्वाच्चाक्षुर्वदिति प्रत्यनुमानबाधः । प्रथमानुमाने नयनस्य नित्यगगनादिप्राहकत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्, द्वितीये च ध्वनिप्राहकतया सिद्धसाधनत्वात् । व्यक्तिकेदासिद्धौ च स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वकल्पनानुपपत्तेः तद्दिरोधश्च अनित्यत्वानुमाने

यद्यानात्ताप्रणीतत्वे सत्यात्प्रणीतत्वमेवायाति गत्यन्तराभावादित्युक्तं, तत्र किमनात्ताप्रणीतत्वनाशेनात्तप्रणीतत्वमनुमीयते शब्दत्वविशेषितेन वा । नाथ इत्याह—नचेति । द्वितीयं शब्दत्वे—अथेति । तत्रापि किमात्तप्रणीतत्वमात्रमनुमीयते, उपलभ्य विरचनं वा । आये प्राह—भैवमिति । द्वितीये तु पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः । यत्तु पापण्ड्याद्यागमानामपौरुषेयत्वमेवंसति स्यादित्युक्तं तत्राह—नचेति । अथ तदङ्गीकारे भ्रातौ नैयायिकादीनामिव वेदपौरुषेयत्वे इति तत्राह—प्रसिद्धेश्चेति । ननु सर्वमेतच्छब्दनिःसत्त्वे सति स्यात्तदेव तु नास्ति, अनुमानाच्छब्दानित्यत्वसाधनाशित्यत्वप्रमाणदूषणाच्चेति, तत्राह—नचेति । अत्र तावदेकदेशेभिर्मतेन दूषणमाह—अस्मदादीति । आकाशमस्मदादिप्रत्यक्षं प्रदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वात् आत्मवत्, दिक्कालाकाशाणि अस्मदादिप्रत्यक्षाणि विशुत्वादात्मवत्, श्रोत्रं विभ्रुप्राहकमिन्द्रियत्वान्मनोवैकल्यादिना च तेषां प्रत्यक्षत्वसिद्धेः । नच सन्नैवायंमवो बाधः । अजसंयोगसंभवात् । वक्ष्यते च तत्र प्रमाणद्वितीयपरिच्छेदे । तन्मतेनैव सत्प्रतिपक्षतामप्याह—सदिति । जातौ सिद्धसाधनतानिवृत्तये द्रव्यपदं, प्रायेण रूपे वानैकान्यनिवृत्तये हेतौ पदद्वयम् । प्रत्यनुमानविरोधं विराजते—नचेति । अनित्यो यो भूतविशेषगुणस्तस्यैतर्थाः । वेदान्तिप्रभाकरयोर्मते सिद्धसाधनतापरिहाराय अनित्यैः प्रहणम् । शब्दैर्निष्ठद्विवादिना भाट्टं प्रत्यन्तरेतानिष्टत्वे विशेषप्रहणम् । नभोगुणत्वार्थं भूतपदम् । मानसप्रत्यक्षतामवादिनां मनसि व्यभिचारवारणाय बहिरिन्द्रियेत्युक्तम् । अत्रापि भाट्टमतेन दूषणमाह—प्रथमेति । नैयायिकादीनां च योगीन्द्रियैर्ध्वनिचारः । अस्मदादिविशेषणं च परस्य व्यर्थमिति द्रष्टव्यम् । तार्थतापि तव मते किं दूषणमस्येलाशाहं प्रत्यभिज्ञाबाधं दर्शयितुं तस्या अपि जातिविषयत्वनेोक्तमन्यथासिद्धिं परिहरति—व्यक्तीति । अथ कथं व्यक्तिकेदासिद्धिर्यावतोदात्तानुदात्तादितारतम्यादिविरुद्धधर्माभ्यासाद्भेद एव गकारादेरवसीयते इति तत्राह—

१ सामान्यवत् इति शेषः । २ अनित्यत्व भूतविशेषगुणे विशेषणम् । प्राचीन नञ्पदमन न संवत्ते । ३ वर्णानां जन्यत्वप्रत्युक्तैलादिः । ४ निरुक्तप्रत्यभिज्ञाविरोधत्वैतर्थाः । ५ हेतोरेत्यथासिद्धिरूपमित्यर्थः । ६ भ्रातृनिमित्तिपाठः साधुर्भाति । ७ भाट्टमतेनेत्यर्थः । ८ शब्दं चिन्त्वम्—अत्र दिशिबलाकेलादिप्रतीत्या दिगादेः चाधुपतादीकारेऽपि तस्य श्रोत्रप्राहकतायाः कैरत्यनङ्गीकारात् । दिगादेः श्रोत्रप्राहकत्वाभावमाहकप्रत्यक्षादिप्रमाणवाचित्वाच्च तस्यानुमानस्य । ९ आकाशरूपस्य शोथस्य दिगादेश्चाजत्वैनेति शेषः । १० भाट्टमतेनेत्यर्थः । ११ शब्दत्वादीति शेषः । १२ इन्द्रियत्वमात्रोक्तौ नित्यद्रव्याद्याहके प्राणे व्यभिचारः । निरवयवत्वमात्रोक्तौ तथाभूते रूपे व्यभिचार इति भावः । १३ वेदान्तिनाऽपि सर्गादौ उत्पन्नस्य शब्दस्य कस्यान्तस्थावित्स्वरूपमित्यत्वस्य विवदादिकस्वीकारात् सिद्धसाधनम् इति भावः । १४ अनित्यगुणप्राहकत्वमात्रस्य साध्यत्वे इति शेषः । १५ सामान्यवत्त्वे सति योगीन्द्रियेन्द्रियप्रत्यक्षत्वस्य नित्यद्रव्येषु अस्वीकारेण व्यभिचारावारकत्वात् । योगीन्द्रियाणामपि योग्यप्राहकत्ववैक्योक्तिरुत्तरत्वात् । परस्य भट्टस्यैतर्थाः । १६ भाट्टमतेऽनैकान्यसत्प्रतिपक्षयोः सत्त्वेऽपि वेदान्तिमते कृतकत्वानुमानस्य किंदूषणमित्यर्थः ।

दुर्वारः । नच हुतो गकारो विलम्बितो गकार इति विरुद्धधर्मसंसर्गित्वाद्गकारव्यक्तिभेद-
सिद्धिः । तस्याः प्रतीतेर्ध्वनिविषयतया वर्णविषयत्वाभावेन प्रामाणिकविरुद्धधर्मसंसर्ग-
स्यासिद्धेः । प्रातीतिकस्य च तस्य मणिकृपाणादिष्विषयाननस्य भेदासाधकत्वात् । वेदा-
न्तवादिभिःसर्गस्य तद्विशेषितकालस्य चाङ्गीकारात् अतीतकालशब्देन तत्पक्षीकारेणा-
नुमानप्रवृत्तावपि न धर्म्यसिद्धिः । नचाभाससमानयोगक्षेमता । भारताध्ययनानामना-
दित्वनिरासेन पुरस्तान्निरस्तत्वात् ।

एवमपौरुषेयतया वेदान्तानामसंभावितारोपपुरुषदोषसंसर्गभ्यस्तेभ्यो विगलितनिखि-

नचेति । अत्र किं प्रामाणिकविरुद्धधर्माध्यासाद्भेदः साध्यते प्रातीतिकाद्वा । आधेऽसिद्धिमाह—तस्याः
प्रतीतेरिति । यदि व्यक्तिभेदः स्यात्तदा द्वौ गकाराविति स्यात्, न पुनर्द्विर्ग उच्चरित इति । तदिह स्वारसिकं
प्रत्यभिज्ञवैक्यं प्रतीयते, विरुद्धधर्मसंसर्गस्तु परोपाधिरुः । नच परोपाधिभेदेन स्वाभाविकमैक्यं विहन्यते,
माहि भूतभसोपि कुम्भाद्युपाधिभेदादाजानतो भेद इति, तेनानुवृत्तिव्यवहारः स्वरूपेण, ध्यातव्यव्यवहारस्तुपाधि-
निदान इत्यनवयम् । उक्तं च वृद्धेः 'तेन यत्प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णदेव लभ्यते । व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति
गर्वादिगीर्तये'ति । द्वितीयेष्वनैकान्तिकतामाह—प्रातीतिकस्येति । यथाहि मणिकृपाणदर्पणादिषु तद्भे-
देन भिन्नमिव प्रतीयमानमपि मुखं न स्वतो मियते एवमित्यर्थः । एतेन तीव्रादिधर्मोपेतत्वादुत्कर्षनिकर्षवत्त्वा-
दित्यादिकमनित्यत्वसाधकहेतुजातमपहस्तितं मन्तव्यम् । तथाच 'प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागति निर्वर्षप्रहा ।
अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि वाधते' । किंच सामान्यवत्त्वे सतीत्यनुमाने शब्दमात्रपक्षीकारेपि ध्वन्यंशे
सिद्धसाधनता, तदितरत्वविशेषणे चानिष्टैव्यवच्छेदाद्वैक्यं, हेतोश्चोपान्त्यादिष्वसिद्धिः । अन्यशब्दपक्षीकारे
च पूर्ववदेव वैक्यं, तथा स्वमतेन सोपाधिकत्वम् । अर्थावणत्वस्योपाधित्वात्, शब्दत्वादिनिर्वर्षसङ्गावाच न
पक्षेतरत्वम् । एतेनेदमप्यपास्तम् । यदाह मानमनोहरकारः 'अनित्यः शब्दः,' इन्द्रियविशेषगुणत्वात्, चक्षू-
पव'दिति । तत्रापि हि समानं ध्वन्यंशे सिद्धसाधनत्वं तदितरविशेषणे वैक्यमत्रावणत्वोपाधिहृतत्वं चेति ।
उदयनस्तु आश्रयाप्रत्यक्षत्वेभ्यभावस्य प्रत्यक्षता महता सरम्भेण समर्थयज्ञेव निवृत्तकोलाहल, उत्पन्नः शब्द
इति व्यवहारचरणैककरणः प्रत्यक्षमेव शब्दानित्यत्वे प्रमाणयति स्म, सच विरुद्धधर्मसंसर्गस्योपाधिकत्वोपपा-
दनन्यायेन दत्तवन्तिरेव वेतालः । योपि नित्यत्वे सर्वदोषलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गे न्यायभूषणकारोक्तः, सोपि
ध्वनिसंस्कृतस्योपलम्भाभ्युपगमात्निरस्तः । यत्तु युगपदिन्द्रियसंबद्धत्वेन प्रतिनियतसंस्कारसंस्कार्यत्वाभावात्तु-
मानं, तद्भवन्मत एवात्मन्यनैकान्तिकमित्यलमतिकलकलेन । यत्तु वैदिक्यानुपूर्वी इदंप्रथमा वर्णानुपूर्वीत्वासं-
प्रतिपन्नवदित्यनुमानं नैयायिकानां, तदसत् । विगीतः कालो वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वादिदानीतनवदिति सत्प्र-
तिपन्नत्वात् । यत्तत्र पूर्वपक्षिणोक्तं तत्परिहरति—वेदान्तचादिमिरिति ।

वादायमुपसंहरन्प्रथमपरिच्छेदार्थं संकलयति—एवमपौरुषेयतयेत्यादिना । अत्र च पुरुषदोषसंभ-

- १ न तु जन्मत्वप्रयुक्तो गकारव्यक्तिभेद इति भावः । २ ऐक्यव्यवहार इत्यर्थः । ३ अनेकत्वव्यवहार इत्यर्थः ।
- ४ तेन वर्णकृतकत्वनात्वादिना गत्यादिजातेर्वैक्यं स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञावलात्प्रार्थ्यते । तदेतद्वं
वर्णदेव लभ्यते । निरुक्तप्रत्यभिज्ञावलात्स्वरसतो वर्णगतमेवैकत्वं सिद्धति न तु जातिगतमिति तात्पर्यम् । व्यक्तिल-
भ्यन्तु उदात्तत्वानुदात्तत्वादिविरुद्धधर्मसंसर्गरूपं वस्तु नादेभ्यो ध्वनिभ्यो लभ्यते । ध्वनिधर्मा एवोदात्ताद्यो न
गकारादिव्यक्तिधर्मा इति हृदयम् । श्लेषं सति गत्यादिगीर्गकारादी गत्यादिजातिमात्मैकत्वप्रत्यभिज्ञासमर्थनं व्यर्थ-
मिति वृद्धवाक्यार्थः । ५ प्रतीयमानविरुद्धधर्माणां ध्वनिधर्मत्वस्वीकारेणेत्यर्थः । ६ निर्वर्षेत्यर्थः । ७ व्यभिचारा-
वारकत्वादिति फलितार्थः । ८ अन्यशब्दस्यैव श्रोत्रोत्पन्नस्य तैः प्रत्यक्षत्वाङ्गीकारात्पुनस्त्यादिशब्दानामप्रत्यक्षत्वादिति
भावः । ९ घटावच्छेदेन कृतकत्वव्यापकत्वम् । अन्यशब्दशब्दत्वावच्छेदेन च साधनान्यापकत्वमिति भावः ।
- १० सर्वेषामात्मनां त्रिगुणैः युगपदेकमनःसंबद्धत्वेऽपि नैयायिकैः प्रतिनियतसंस्कारसंस्कार्यत्वाभ्युपगमादिति भावः ।

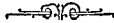
लभेदविशुद्धब्रह्मप्रमितिः सिद्धवतीति सिद्धम् ॥ ११५ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राज-
काचार्यश्रीज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखाचार्यमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां प्रथमः
परिच्छेदः ॥

वमहणमितरशब्ददोषासंभवस्याप्युपलक्षणं, तेन स्वतःप्रामाण्यशक्त्यभिहितान्वयापौरुषेयसिद्धार्यप्रामाण्यज्ञा-
र्यप्रामाण्यवादानां संप्रहः कृतः । विगलितनिखिलभेदग्रहणेनारण्यवाक्यार्थप्रपञ्चमिथ्यात्वतदुपपादकमावहण-
ज्ञानतदुपयोगितमःख्यातिविशेषविचाराः संगृहीताः । परिशुद्धब्रह्मग्रहणेन विज्ञानात्मस्वप्रकाशवादी संगृहीता-
विति परिच्छेदार्थः सकलः संकलित इति सर्वं निर्मलम् । विज्ञानं स्वप्रकाशं भवति च पुरुषस्तद्वपुर्भावस्त्वं
ध्वान्तं मिथ्या प्रपञ्चो भ्रमभरनिलयोऽनादिभावोऽप्रबोधः । आरोपारोप्यसिद्धप्रमितिजनकताऽखण्डता स्वप्रमार्त्वं
शाक्तिर्लक्ष्यः पदार्थान्वय इति कथिताः पौरुषेयो न वेदः ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्षप्रकाश-
पूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्षपूज्यवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकायां नयनप्रसादिन्यां प्रथमपरिच्छेदः ॥



१ आरोप्यारोपसिद्धप्रमितिजनकतेति पाठः शोभनो भास्ति । आरोप्यस्य प्रपञ्चस्य अद्वये ब्रह्मणि च आरोपोऽप्या-
सस्तास्वीकारेण सिद्धा या ब्रह्मैक्यप्रमितिस्तज्जनकता वेदवानयानामित्यर्थः ।

द्वितीयः परिच्छेदः ।



ननु कथं विगलितनिश्चिभेदग्रहप्रतिपत्तिः, प्रत्यक्षादिविरोधात् । तथाहि प्रत्यक्षेण तावदिदमस्माद्भिन्नमिति नीलपीतादेर्भेदमध्यवस्यामः । अथ मतं किं प्रत्यक्षं भेदमेव गोचरयत्युत वस्त्वपि, तदापि भेदपूर्वकं तद्गोचरयेत्तत्पूर्वकं वा भेदं युगपदेव बोधयाम् । नाद्यः । धर्मिप्रतियोगिवस्तुप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् । अतएव न भेदग्रहपूर्वको वस्तुग्रहः । नच वस्तुग्रहपुरस्सरो भेदग्रहः, बुद्धेर्विरम्यव्यापाराभावात् । नापि युगपदुभयग्रहः । कार्यकारणबुद्ध्योर्योगपद्यायोगात् । धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिर्हि भेदप्रतिपत्तेः कारणं, सन्निहितेऽपि धर्मिण्यसन्निहितप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदप्रतिपत्तिव्यतिरेकस्य वादिप्रतिवादिनोः समतत्त्वादिति । मैवम् । स्वरूपभेदवादिनं प्रत्येतेषां विकल्पानामनवसरदुःस्थत्वात्, वस्तुग्रहस्यैव भेदग्रहत्वात् । नच वस्तु-

नमस्ये मानौषे प्रमितममितं स्थाणुमनिश
समस्तज्ञं लोकत्रितयनयनं सत्रिनयनम् ।
सकालं कालारिं सकलवपुषं निष्कलमुमा-
सहायं कामारिं भवमभवमीशं पशुपतिम् ॥ १ ॥
ब्रह्मणि वेदान्तानामुदितोऽद्वैते समन्वयस्वस्य ।
भेदावगाहिमानैर्विरोधतुल्यै परं परिच्छेदं ॥ २ ॥

यद्यप्यद्वये ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं साधितं, तथापि भेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधादसाधितसमं तत्, अतोऽनुत्पत्तिलक्षणाप्रामाण्याभावेऽपि विरोधान्निश्चयात्प्रत्यक्षमप्रामाण्यं भवेत्कं खलु विशेषं स्वगोचरशूराणां प्रत्यक्षादीनामागमेभ्य इति प्रामाणिकभेदवादिनां प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमित्यादिना** । अनेन परिच्छेदयोर्विषयविषयिभावलक्षणा सगतिरपि दर्शिता, पूर्वस्य विषयत्वाद्गुत्तरस्य विषयित्वादिति । अत्र मण्डनमिश्रैर्भेदवस्तुनो किमेकैरुपग्राहकं प्रत्यक्षमुतोभयग्राहकम्, उभयग्रहपक्षेऽपि युगपत्क्रमेण वा, क्रमपक्षेऽपि किं पूर्वं किमपरमिति विकल्प्य दूषयद्भिर्भेदग्राहित्वमेव प्रत्यक्षस्य नास्तीत्युक्तं तदनुवदति पूर्ववाची—**अथ मतमिति** । वस्त्वेषेति तु पक्षस्वर्द्धनार्थमीति परित्यक्तं । धर्मिप्रतियोगिरूपं वस्तु धर्मिप्रतियोगिवस्तु । इदमेव दूषणमुभयग्रहेऽपि भेदग्रहपूर्वकवस्तुग्रहपक्षेऽप्यतिदिशति—**अतएवेति** । कार्यकारणभावमेवोपपादयति—**धर्मिप्रतियोगीति** । ननु यद्यपि भेदप्रतिपत्तिसमये धर्म्यादिज्ञानमन्वेति, तथापि न तावता कारणत्व शक्याध्यवसायं व्यतिरेकाभावादितरथा नभसोऽपि निमित्तकारणतापातात्, अस्तिह्यन्वय इति, तत्राह—**सन्निहितेऽपीति** । तमिममनुदितं पक्षं प्रतिक्षिपति—**मैवमिति** । किं वस्तुस्वरूपमेव भेद इति तस्य मतं प्रतीमानि दूषणान्युच्यन्ते किं वा धर्मभेदवादिनां प्रति । प्रथमे चौरापरं प्राधान्यमण्डव्यनिप्रहन्त्याय, उच्यमानदूषणानां तदविषयत्वादित्याह—**स्वरूपभेदेति** । ननु वस्तुस्वभावत्वमेव भेदस्य न घटते, तथासति घटस्वभाववदेव प्रतियोग्यनपेक्षितत्वप्रसङ्गात्, प्रतियोगिसापेक्षश्च सर्वं भेदं प्रतीयत इति, तत्राह—**नच वस्तुस्वभावस्येति** । अत्र यदि वस्तुस्वभावो भेदं स्यात्तर्हि सापेक्षप्रतीतित्वं न स्यादिति ह्यापादनं, तत्रायुक्तं, वस्त्वेव

१ अपरिच्छिन्नम् । यदा औपाधिकरूपेण नेयत्वेऽपि स्वरूपतः स्वप्रवाशत्वाद्भेदमित्यर्थं । २ भासकत्वेन नयनत्वारोपः । ३ कण्ठकालम् । ४ भेदासिद्धिरूपानशकीजमित्यर्थः । ५ यथा माण्डव्यमुनिनिग्रहस्य चौराव्याहृतस्य चौराविषयकत्वमेवमेव प्रकृतं वस्तुनि भेदबुद्ध्योर्व्यमानदूषणानां भेदाविषयकत्वम् ।

स्वभावस्यैव भेदत्वे तद्द्रव्यस्य प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गः । वस्तुस्वभाववर्तया भेदस्यानपेक्ष-
दृष्टिदृष्टस्य सविकल्पके व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षत्वोपपत्तेः । दृश्यते हि प्रादेशमात्र-
परिमाणवस्तुनोऽनपेक्षदृष्टिदृष्टस्य ह्रस्वं दीर्घमिति सविकल्पके व्यवहारे न्यूनाधिकपरि-
माणवस्तुप्रहसापेक्षता । नच धर्मभेदवादिनं प्रत्ययेते विकल्पाः प्रसरमहन्ति । युगपदु-
भयग्रहेऽपि विरोधाभावात् । असन्निहिते धर्मिणि प्रतियोगिनि वा युगपदुभयग्रहाभावेऽपि
सन्निहितस्थले दृण्डी देवदत्त इतिवदपर्यायमेवोभयग्रहोपपत्तेः । नच धर्मभेदवादे तस्य
तस्य भेदस्य भेदान्तरभेद्यत्वादनवस्थादोषापत्तिः । मूलक्षतेरभावात्, 'मूलक्षतिकर्तृ प्राहु-
रनवस्थां हि दूषणमिति न्यायात् ।

ननु धर्मपक्षेऽपि धर्मिणो भेदेन प्रतिपन्नस्य प्रतियोगितायां परस्परश्रयदोषः, स्वम्भा-
त्कुम्भस्य भेदसिद्धौ कुम्भात्स्तम्भस्य भेदसिद्धिरिति । अप्रतिपन्नभेदस्य तु प्रतियोगितायां
दुष्परिहरः स्वात्मनोऽपि तत्प्रसङ्ग इतिचेन्मैवम् । विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपेण च स्फुर-
तोर्धर्मिप्रतियोगित्वोपपत्तौ एकस्मिन्भेदग्रहप्रसङ्गाभावात् । ननु क्षीरनीरयोर्विद्यमानभेदयोरपि
स्वरूपग्रहणे भेदग्रहो न दृश्यत इति चेन्मैवम् । तत्र समानाभिहारलक्षणदोषप्रतिबन्धादेव
तदग्रहोपपत्तेः । एतेन दूरस्ववनस्पलयोरपि भेदग्रहप्रसङ्गः प्रत्युक्तः । उक्तं च 'अतिदूरात्सामी-

भेद इति वदन्तं मां प्रति व्याप्त्यसिद्धेः प्रक्षिपिलमूलत्वादित्याह—वस्तुस्वभावतयेति । प्रतीतिविशेषो
व्यवहारविशेषप्रयुक्तः, न वस्तुतिरेकप्रयुक्त इति भावः । अथैवमापायते—यदि हि निरपेक्षदृष्टिदृष्टं स्वात्-
स्यात्तर्हि सापेक्षदृष्टिदृष्ट इति, तत्रापि प्रक्षिपिलमूलतामाह—दृश्यते हीति । दीर्घमिति व्यवहारे न्यूनबहु
ग्रहापेक्षा, ह्रस्वव्यवहारे लघिक्रमहापेक्षा । अधिकत्वं चात्र दीर्घत्वं विवक्षितमित्यर्थः । अस्तु तर्हि द्वितीयो
नेत्याह—नच धर्मभेदवादिनमिति । ननु कथं युगपदुभयग्रहः, यावता कार्यकारणभावस्तदुभयग्रहयोर्व-
र्णितः, असन्निहितप्रतियोगिस्थले स्थितव्यतिरेकत्वादिति, तत्राह—असन्निहिते धर्मिणीति । यथाहि
विभिन्नेन्द्रियग्राह्यासन्निहितविशेषणविशेष्यज्ञानयोर्विशिष्टज्ञानपूर्वभावित्वेऽप्येकेन्द्रियग्राह्यसन्निहितस्थले पूर्वमा-
वित्वं नास्थीयते तत्कस्य हेतोर्व्याप्तेः संकोचाव्याप्तिसंकोचश्च दर्शनबलादेव, तथेहाप्यसन्निहितस्थले पीर्वापर्यदर्श-
नेन वस्तुभेदयोरभिषिष्टपर्वतवत्प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि सन्निहितस्थले यौगपद्यं भवतु को दोष इत्यर्थः । मूल-
क्षतेरिति । मूलं प्राथमिकभेदप्रतीतिस्वक्षतेरभावादज्ञायमानानामेव भेदानां प्रथमभेदोपादकत्वादित्यर्थः ।

धर्मभेदपक्षे धर्मिप्रतियोगिज्ञानयोः परस्परश्रयदोषमाशङ्कते—ननु धर्मपक्षेपीति । परस्परश्रयमेव-
मिनयति—स्वम्भादिति । ननु न भेदेन प्रतिपन्नस्य प्रतियोगिता, येनायमनन्तरो दोषः प्रच्छन्देतापिदु
स्वरूपेण प्रतीतयेति, तत्राह—अप्रतिपन्नेति । तदेतत्परिहृति—मैवमिति । न स्वरूपेण प्रतीतिमानं
विवक्षितमपितु विद्यमानभेदत्वमपि । तथाच स्वस्य स्वस्मात्तदभावात् भेदग्रहप्रसङ्गो नाप्यन्योन्याश्रयदे-
त्यर्थः । तदप्यश्रयोजकमिति शङ्कते—ननु क्षीरेति । समानैरभिहारो मिश्रणम् । प्रतिबन्धे सति कार्यात्-
त्पादो न कारणत्वं विहन्तीति भावः । यच्च विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण प्रतीतेः प्रतियोगिधर्मवर्तित्वप्रयोजक-
तायां दूषणं कैश्चिदुच्यते । दूरस्ववनस्पलयोरपि भेदग्रहप्रसङ्ग इति, तत्राप्युक्तं परिहारमतिदिशति—एतेनेति ।
अत्र च प्रतिबन्धमैत्रमतिदेशयति दूरत्वप्रतिबद्धत्वात्तयोः । अतिदूरादिति । अतिदूरादितिस्वरवर्तित्तर्वादी,
अतिसामीप्याहोचननिधीनसलिलविन्द्वद्वादेः, इन्द्रियघातादन्धादेः, मनोनवस्थानात्तीव्रदुःसाद्युदये, अतिसौम्या-
त्परमाण्वादौ, व्यवधानादपवरकान्तरवर्तित्तु, अभिभवादिवाचीपादौ, समानाभिहारानीरासाये नीरदनुच्यमाननी-

१ इदं दृष्टत्वेनेनाश्रितम् । २ विशेषधर्मविकल्पके इत्यर्थः । ३ इयं पञ्चमी भेदेनेत्येतदप्युच्यते । ४ ननु समाना-
भिहारप्रयुक्तः प्रतिबन्धः ।

प्यादिन्द्रियघातान्मनोनवस्थानात् । सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्चेति । किंचै-
कस्यामेव निर्विकल्पिकायां संविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपत्प्रतिभासे सत्येकं भेदिनं प्रतियो-
गीकृत्यैतस्मादयं भिन्न इति सविकल्पकधोपपत्तौ कुतः परस्परश्रयो दोषः । एतेन भेदभेदिनो-
भेदान्तरप्रतीतिमन्तरेण विशेषणविशेष्यभावसंभवाद्भेदस्य विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा प्रती-
तिनियमादनवस्था मूलक्षयकरी स्यादित्यपि प्रत्युक्तम् । विद्यमानभेदयोः स्वरूपेण स्फुरतीरेव
धर्मिप्रतियोगित्ववद्विशेषणविशेष्यभावस्याप्युपपत्तेः । तदेवं प्रत्यक्षप्रामितिगोचरो भेदः ।

अनुमानमपि लिङ्गविशेषस्य लिङ्गविशेषप्रत्यायकत्वाद्भेदे प्रमाणम् । आगमोपि शब्दा-
न्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामवेयैः कर्मोपासनादिभेदमेव बोधयति । उपमानमपि
प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टपरोक्षगोविपयमनेन सदृशी मदीया गौरिति भेदमेव
गृह्णाति । अर्यापत्तिरपि तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीति व्यवस्थान्यथानुपपत्तिप्र-
भवा भेदमेवाल्लिङ्गते । योग्यानुपलब्धिरप्यन्योन्याभावलक्षणा भेदं बोधयत्येव । तदेवं
भेदग्राहकप्रत्यक्षादिविरोधान्नाद्वैतं प्रतिपादयितुमर्हन्ति वेदान्ताः । प्रयोगश्च घटः घटनि-
ष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदाश्रयः दृश्यत्वात् पटवत् । अत्राभिदधमहे—‘सापेक्षत्वात्सावधेश्च
तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः । एकाभावादसंदेहान्न रूपं वस्तुनो मिदा ॥ १ ॥ न तावत्स्वरूपं

रेपु यथैवद्वहणप्रतिबन्धो भवति । चस्त्वनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन दुग्धादिषु दध्यादेरनुद्भवादग्रहोऽपि गृहीतः ।
तेन नानुपलब्धिमात्रादतीन्द्रियप्रधानात्पलप इति सांख्यार्थः । प्रकारान्तरेण परस्परार्थं परिहरति—
किंचैकस्यामेवेति । यदि धर्मिप्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वदा भेदः प्रतिभायात्तदा स्यादयं दोषः, नत्वेतदस्ति,
निर्विकल्पकसंविदि निरपेक्षप्रतीतिसंभवादित्यर्थः । यच्च कैश्चिदुच्यते विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र
भेदः प्रतीयते, तच्च द्वयं भेदेन प्रतीतस्य । तथाच विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा प्राथमिकभेदप्रतीतिर्भे-
दान्तरप्रतीतिपूर्विका तदपि भेदान्तरं तथैवेत्यनन्तभेदप्रतीत्यापत्त्या मूलक्षतिकारिण्येवानवस्थेति तदप्युक्तेन
परिहृतमित्याह—एतेन भेदभेदिनोरिति । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—विद्यमानेत्यादि ।

एवं प्रत्यक्षगम्यत्वं भेदस्योक्त्वाऽनुमानादिरपि भेदं गमयतीत्याह—अनुमानमपीत्यादिना । सुरभि-
धूमेन चन्दनदहनानुमानमितरव्याहृतवस्तुनि प्रमाणमित्यर्थः । शब्दान्तराद्यधिकरणान्यनुकान्तानि प्रपञ्च-
मिथ्यात्ववादे । यद्यप्युपासनान्यपि कर्मैव, तथापि मानसत्ववैषम्येण भेदेन निर्दिष्टानि । आदिशब्देन निर्गु-
णविद्याया इतरेभ्यो भेदसंप्रहः । उचलक्षणमेवोपमानं दर्शयति—अनेन सदृशीति । अन्योन्याभाव
इत्युपलक्षणं, भूतलादौ घटादिसंसर्गाभावस्यापि बोधकत्वात् । अत्र च साक्षादेव प्रमेयो भेदो, भविष्यन्ति
चैतेया प्रमाणानां लक्षणानि तत्तत्खण्डनसमये । भेदसत्यत्वेप्यनुमानं मानमाह—प्रयोगश्चेति । व्याख्यातं
चैतत्प्रपञ्चमिथ्यात्ववादे पूर्वपक्षावसरसमये । स्वरूपभेदपक्षे दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—सापेक्षत्वा-
दिति । न रूपं वस्तुनो भिदेत्यनेनेषां हेतूनामन्वयः । सापेक्षप्रतीतित्वाद्भेदस्य, वस्तुनश्च निरपेक्षप्रतीति-
त्वात् । तथा सावधेः सप्रतियोगिकस्य भेदस्य तत्त्वे वस्तुस्वरूपत्वे सति तद्वारा प्रतियोगिनामपि धर्मिस्वरू-
पत्वाद्द्वैतप्रसङ्ग इति द्वितीयो हेतुः । तथा विदारणात्मकस्य भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वे तस्यापि विधीर्णतयैका-
भावात् तन्निमित्तानेकैर्भावाच्च शून्यतापातादिति तृतीयो हेतुः । तथा स्वरूपत्वे भेदस्य धर्मिणि दृष्टमात्र
एव तत्स्वरूपभेदोऽपि दृष्ट इति सदेहो न भवेत् । उपलक्षणं चैतत् विपर्ययस्यापि, विशेषाग्रहनिबन्धनौ हि
तौ तद्गृहणे न स्यातामिति चतुर्थो हेतुः । एतेभ्यो हेतुभ्यो न स्वरूपं वस्तुनो मिदा भेद इति श्लोकयोजना ।

भेदः । प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गात् । नच प्रादेशमात्रपरिमाणस्य ह्रस्वदीर्घादिव्यवहार इव सविकल्पकव्यवहारे भेदस्यापि प्रतियोगिसापेक्षत्वम् । वैपम्यात् । तथाहि । प्रादेशमात्रपरिमाणं स्वतो न्यूनाधिकपरिमाणाभ्यामेकद्रव्यसमवायविरोधिधर्मद्वयविशिष्टतयोपलम्भे प्रतियोगिनमपेक्षत इत्यस्त्येव तत्र भेद्यभेदः । प्रकृते तु न तथा, स्वरूपस्यैव भेदत्वात् । यदि चास्मादयं भिन्न इति प्रतियोगिघटिततया प्रतीयमानो भेदो यस्तुनः स्वरूपं स्यात्तदा तस्य सपरिकरस्य भेदस्य स्वरूपेन्तर्भावात् प्रतियोगिनोऽपि स्वरूपतया निमज्जनादद्वैतमेव पर्यवस्येत् ।

अथ प्रतियोगी भेदस्य स्वरूपे नान्तर्भूतः, किंतु तदस्य एव तन्निरूपकस्ततो नाद्वैतापत्तिरिति । मैवम् । प्रतियोगिनो भेदस्वभावानन्तर्भावेपि स्वभावभूतस्य भेदस्य वस्तुस्वभाववदेवान्यनिरूप्यत्वानुपपत्तेः । किंच कुम्भं प्रति स्तम्भस्य यत्प्रतियोगित्वं तदपि स्तम्भस्य स्वरूपेन्तर्भूतं चेत्कुम्भस्यापि स्तम्भात्मना पर्यवसानादद्वैतापत्तिः । धर्मत्वे च कुम्भोऽपि स्तम्भधर्मतामनुप्रविशेत्कुम्भविशेषितस्य प्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वात् । अथ विशेष्यांशस्य धर्मतायामपि न विशेषणस्य तद्धर्मता, देवदत्तश्चित्रगुरित्यादौ ' बहुव्रीहि-समासाभिहितस्वामित्वस्य देवदत्तधर्मतायामपि गवां चित्रतायाश्च देवदत्ताद्भिन्नत्वेन धर्मत्वादर्शनादिति । सत्यम् । एषा विभीषिका तदा समुन्मिषेद्यदि लोके कापि कमपि भेदं परमार्थसत्यमभ्युपगच्छेम । यदा पुनरद्वैतमेव परमार्थमवलम्ब्य समस्तं भेदजातं प्रत्याख्यासामस्तदा घटस्य स्तम्भधर्मतायां गवां देवदत्तधर्मतायां वा कं विशेषमवलोकयति,

श्लोकं विवृणोति—नताद्यदित्यादिना । पूर्वपक्ष्याशयमुन्मूलयति—नचेति । वैपम्यमेव विवृणोति—तथाहीति । स्वतो न्यूनपरिमाणेन स्वतोधिकपरिमाणेन च सहैकद्रव्ये समवायविरोधि यद्धर्मद्वयं दीर्घल-ह्रस्वत्वात्मकम् अस्य प्रादेशमात्रपरिमाणस्य तद्विशिष्टतया प्रतीतावेव प्रतियोग्यपेक्षा न स्वरूपमात्रप्रतीताविति न भेदस्योदाहरणं तदित्यर्थः । सावधेधेत्यादि द्वितीयं हेतुं विवृणोति—यदिचेत्यादिना । घटिततयेति । विशिष्टतयेत्यर्थः ।

ननु न प्रतियोगिविशिष्टो भेदः, किंतु तदुपलक्षितः, तेन भेदस्य धर्मिस्वभावत्वेपि न प्रतियोगिनस्वदनन्तर्भूतस्य धर्मिस्वभावत्वेत्याह—अथ प्रतियोगीति । परिहरति—मैवं, प्रतियोगिन इति । तदानीमद्वैतप्रसङ्गाभावेऽपि धर्मिष्वेव तत्स्वरूपभूतमेदोऽपि न प्रतियोगिनिरूप्यः स्यादित्ययमेव दोषः स्यादित्यर्थः । तथा स्तम्भस्य यदिदं कुम्भं प्रति प्रतियोगित्वं नानावधिघटितं तदपि स्तम्भस्य स्वरूपं धर्मो वा । आद्ये सावधेस्वस्य तच्चे स्वभावत्वेऽद्वैतप्रसङ्गः । कुम्भस्यापि प्रतियोगित्वान्तर्भूततया स्तम्भान्तःपातित्वादिति योजनान्तरं विवक्षन्त्याह—किंच कुम्भमिति । द्वितीये दूषणमाह—धर्मत्व इति । ननु कुम्भविशेषितप्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वेपि न विशेषणीभूतकुम्भस्य स्तम्भधर्मता, तथा श्लोके दर्शनाभावादिति शङ्कते—अथ विशेष्यांशस्येति । चित्रगुरित्यत्र चित्रा गावो यस्येति पक्ष्या स्वामित्वं देवदत्तस्य विशेषणीभूतमभिधीयते, स्वाम्यस्य विशेषणं चित्रा गावः, चित्रगवां स्वामीति, तत्र चित्रगवां न देवदत्तविशेषणत्वं स्वाम्यशेष्यस्वाम्यस्य तद्विशेषणत्वेऽपि तद्वदित्यर्थः । देवदत्तादिति स्वामित्वपरं धर्मिणो धर्मलक्षणया, भिन्नत्वेनेति च युतैसिद्धिपरम् । यस्य भेदमात्रमेवाप्रामाणिकमविद्याविक्षुम्भितमत एव तत्प्रत्यक्षविशेषणदिव्यमहारोऽपि तादृश इति मतं, तस्य कथं पक्षविशेष एव व्यभिचारभूमिः स्यादिति परिहरति—सत्यम् । एतेत्यादिना । किंचादर्शनादिति कोर्थः किं नियमेन किं वा क्वचिदपि । अन्ये व्याप्त्यभावादर्शक्यप्रसङ्ग-

१ कुम्भात्मकभेदनिरूपित स्तम्भनिष्ठ यत्प्रतियोगित्वमित्यर्थः । २ वैपथिकरण्येनावस्थितिपरमित्यर्थः । ३ भेद-विश्यात्वे साधे पक्षभूता एव स्तम्भादयो गवादयो वा इति भावः ।

येनैवमुपालभसे । दृष्टचरं चैतत् विशिष्टस्य धर्मतायां विशेषणानामपि तद्धर्मत्वं तेषु तेषु बहुषु स्थलेषु । तद्यथा । शब्दोऽनित्यः भावत्वे सति कृतकत्वात्, नित्यः ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात्, अनित्यः सामान्यवच्चे सति अस्मदादिवाह्येन्द्रियमाह्वत्वादित्यादिषु । तदेवं स्तम्भस्य कुम्भधर्मता कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेति सर्वस्यान्योन्यधर्मतायामशेषवस्तुधर्मकमेकमेव धर्मि पर्यवस्येत् नचैवमुपलभ्यते । किंच विदारणात्मकभेदस्य भावस्वभावतायां न किंचनैकं वस्तु स्यात् । अभेदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधात् । परमाणुरपि नैक इति न तत्समाहाररूपोऽस्वेकोपि स्यात् । भेदस्य च वस्तुस्वभावत्वेन्यापेक्षत्वनिरासादेव “अन्यापेक्षं वस्तुस्वरूपं भेदो नतु केवलमतो नोक्तदोष” इत्यपि निरस्तम् । यदि च स्वरूपं भेदस्तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टं न कचिदपि संशयावकाशः, तथा विपर्ययस्यापि, भेदस्वभावस्य वस्तुनस्तथैवावभासनात्तस्मान्न स्वरूपभेदे प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तथा धर्मभेदेपि—“युगपद्ब्रह्मणोयोगादन्वस्थाप्रसङ्गतः । परस्परश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधीः” ॥ २ ॥

मिति तत्र काचित्कादर्शनमतिप्रसङ्गकम् । प्रयत्नस्त्वसिद्ध इत्याह—दृष्टचरं चैतदिति । अत्र हि भावत्वादिविशेषणं कृतकत्वादेः । इतरथा विशेषणविशेष्यसिद्धोरभावप्रसङ्गात् । तेषां शब्दस्यापि तद्विशेषणम् । तदेवं द्युद्रोपद्रवं समाधाय प्रकृतदूषणोपजीवनेन दूषणान्तरमाह—कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेत्यादिना । स्तम्भो धर्मो यस्यासौ कुम्भस्त्वद्गमं तद्भावः स्तम्भधर्मता । अयमर्थः—यदा तद्विषयं प्रति प्रतियोगित्वं कुम्भस्य तदा तस्य कुम्भस्वरूपत्वेऽद्वैतापातः । धर्मत्वेऽपि तद्वारा स्तम्भोऽपि कुम्भधर्मतायां धर्मत्वं स्यात्ततश्च यद्गदाराहो यः पदस्तत्पदाराहश्च स एव घट इति घटना स्यात् । एवमेकस्य विश्वप्रतियोगितायां विश्वधर्मकत्वं स्यात्, एवमितरेषामपि स्यात्, अतथ न धर्मधर्मिभावादिकल्पना, अस्मानेकधर्मकमेव वस्तु पर्यवस्येदिति । एकामावादिष्येतद्विशेषणोति—किंचेति । तत्र हेतुः—अभेदेति । अभेदेन सहैकस्मिन्नर्थे वर्तत इति तयोक्ता । ननु माभूदेकम्, अनेकमेव समस्तं वस्तु, तथाच बौद्धैः स्वरूपभेदवादिभिरवयवव्यतिरेकेणैव परमाणुपञ्चकेषु धूलदिप्रत्ययोभ्युपगम्यत इति, तत्राह—परमाणुरपीति । अथवा निरवयवपरमाणूनामविदारणामकलात्तत्समूहरूपानेकात्मकमस्तीं तांशङ्गं तत्सर्वस्यापि भेदात्मकत्वाद्युक्तदोषोपपादनमनेन क्रियते । अत्र केचिदद्वैतैकाभावप्रसङ्गदूषणद्वयपरैः हारायेदं वदन्ति—द्विविधं वस्तूनां स्वरूपं सारसिकमन्यापेक्षं चेति, तत्रान्यापेक्षं रूपं भेदो न सारसिकमिति, तत्राह—भेदस्येति । असंदेहादिति हेतुं विवृणोति—यदिचेति । अयमर्थः । अस्ति यज्ञदत्ते दृष्टे कदाचिद्दृष्टचरदेवदत्तस्य सोयं देवदत्तो न वेति सदेहः, तत्कस्य हेतोस्ततो मेदाग्रहात्, स न स्यात् । स्वरूपभेदवादिनः स्वरूपग्रहे तन्मात्रभेदस्यापि गृहीतत्वात्, भेदर्शनेन च सदेहानवकाशात् । एवं स्याणुर्वा पुरुषो वेल्लादौ, तथा विपर्ययोपि, सदेहग्रहणं विपर्ययस्याप्युपलक्षणमिति । एवं स्वरूपभेदं दूषयित्वा धर्मभेदेपि दूषणानि श्लोकेन सयद्वाति—युगपदिति । धर्मभेदेपि न प्रत्यक्षाधीः प्रमाणं, कुतः, धर्मिप्रतियोगिभेदानां युगपद्ब्रह्मणोयोगात्, दण्ड्यादावपि युगपत्प्रतिपत्तेः स्वरुपसंभतत्वात्, तथानवस्थाप्रसङ्गतः, भेदेन प्रतीयमानयोरेव विशेषणविशेष्यभावनियमादनन्तमेदप्रतीतिविना प्रथमभेदप्रतीतेरसम्भान्मूलक्षयाक्षतेः । तथा धर्मिप्रतियोगिनोरपि पूर्वन्यायेन प्रतीयमानयोरेव धर्मिप्रतियोगित्वप्रतीतियामात् भेदस्य च निर्विकल्पके निरपेक्षप्रत्यक्षत्वे स्वभावहानिप्रसङ्गेन पूर्वोक्तपरस्परश्रयस्यापि विश्रान्तत्वादिति श्लोकार्थः ।

१ व्यभिचारीत्यर्थः । २ विशेषणासिद्धिबद् विशेष्यस्याप्यसिद्धौ विशिष्टस्य पक्षेऽभावप्रसङ्गादित्यर्थः । ३ भावत्वं यथा सामानाधिकरण्येन कृतकत्वे विशेषणमिति शेषः ।

यद्यपि दण्डदेवदत्तौ तुल्योपलम्भयोग्यत्वेन युगपद्बुद्ध्यते, तथापि न तयोर्विशेषणविशेष्यभावस्तदैव प्रत्येतुं युक्तः । विशिष्टप्रत्ययस्य विशेषणविशेष्यस्वरूपप्रत्ययाधीनत्वात्— 'विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकीं स्थितिम् । गृहीत्वा संकलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथे'ति भट्टमतानुसारिभिः स्वीकारात् । तथा तार्किकैरपि, 'समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्वबुद्धेः श्वैत्वबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते' इति फाणादसूत्रात् । अस्यायमर्थः । पटसमवायिनः श्वैत्याच्छौक्ल्यगुणार्त्तर्मकारणभूतात्तस्मिन्गुणे शौड्यमिति मतिरुपजायते, तस्याश्च श्वैत्वबुद्धेः हेतोरुणविशिष्टे शुक्लमिदमिति बुद्धिरुपजायते, ते च बुद्धौ कार्यकारणभूते इति ।

तथाच सुरभि चन्दनमिति सौरभस्य गुणस्य घ्राणेन्द्रियैकगोचरस्य चन्दनस्य लोचनगोचरस्यैकेन्द्रियाविषयत्वात्क्रमेण गृहीतयोरेव विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिरित्यनिच्छताय-भ्युपेयम्, तथाच सर्वत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतीतावयमेव न्याय इत्यस्मादिदं भिन्नमिति धर्मिप्रतियोगिज्ञानपुरस्सरमेव तद्विशिष्टभेदज्ञानमेष्टव्यम्, तथाच सति न युगपद्बुद्ध्यभ्यवहसंभवः । भेदभेदिनोश्च भेदेऽनवस्थापि तदवस्थैव । नचानन्तभेदाभ्युपगमेपि मूलक्षतेरभावादनवस्थाऽदोषाय । भेदस्य 'इदमतो भिन्नमयमनयोर्भेद' इति वा विशिष्टत्वेनैव प्रतीतिनिय-

आयं हेतुं विवृण्वन्पूर्वोक्तं दृष्टान्तं विघटयति—यद्यपीति । कः खल्वित्थं कथयेद्विशेषणादिप्रत्ययानधीना विशिष्टप्रतिपत्तिरिति । किं भट्टमुद्रालम्बी, किं वा तार्किककरावलम्बी । प्रथमे भट्टाचार्यवचनविरोधमाह—विशेषणमिति इत्यस्मिन् स्थितिमिति । विशेषणविशेष्यत्वयोग्यतामित्यर्थः । तेन च संयोगस्य द्विष्टत्वाद—पुनरुक्तपदयोरेव दण्ड इत्यपि स्यादिति शङ्का परिहृता । संकलनमेकीकारः, सचैकज्ञानोपादेयः । द्वितीयोप्याह—तथा तार्किकैरपीति ।

न केवलं परैरङ्गीकरणं, युक्तिरप्यत्रास्तीत्याह—तथाच सुरभीति । अस्तु तर्हि विभिन्नेन्द्रियप्राप्तयोरेवम्, एकेन्द्रियप्राप्तेषु का वार्तेति, तत्रापि विमतं विशिष्टप्रत्ययं विशेषणादिप्रत्ययोत्तरकालीनं विशिष्टप्रत्ययत्वात्सुरभिचन्दनमिति प्रत्यक्षवदित्यनुमानं विवक्षन्नाह—तथाचेति । नच भिन्नेन्द्रियजन्यत्वमुपाधिः । व्यतिरेके प्रकृतहेतुव्यतिरेकस्योपाधेः । अस्तु, प्रकृते किं स्यादत्त आह—इतीति । तदेवं युगपद्बुद्ध्यणयोर्गादित्येतदुपपाद्य द्वितीयं हेतुं विवृणोति—भेदभेदिनोश्चेति । पूर्वपक्ष्याशयमनुवदति—नचानन्तभेदेति । हेतुमाह—भेदस्येति । प्रतीतिनियमादित्युत्तरजान्वयः । विशेषणादिभावेन हि भेदः प्रतीयते, सच भेदेन प्रतीतस्य, एवं द्वितीयो भेदः पूर्वभेदवद्विभिन्नतया प्रतीयमान एव प्रथमं भेदं प्रति विशेषणं भवति, एवं तृतीयोपीत्यनन्तभेदप्रतीतिप्रसक्तिरित्यर्थः । अस्तु तर्ह्यानन्तभेदप्रतीतित्त्वात्—युगपदिदिति । कमपक्षे विषयान्तरस्यचरोच्छेदादिप्रसङ्गापादनार्थश्चकारः । अत्र मानमनोहरकारो न्यत्वसिद्धिः 'नच भेदानवस्था वाधिका, भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्, भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात् । नचैकभेदेर्दबलेनान्येभेदानुमानम्, दृष्टान्तभेदाविघातेनोत्थाने दोषाभावात् । सोऽयं पिण्याक्याचनार्थं गतस्य पाकिनः खारिकात्तैलदातृत्वाभ्युपगम-

१ विशिष्टरूपेणैतर्थाः । २ मतेरित्यादिः । ३ सर्वभेदानां प्रतीतेरनावश्यकत्वेनेतिशेषः । ४ भिन्नेन्द्रियजन्यत्वलोपोपाध्यभावेन विशेषणादिप्रत्ययोत्तरकालीनत्वरूपसाध्यस्याभावे साध्ये विशिष्टप्रत्ययत्वरूपप्रकृतहेत्वभावस्य उपाधितया साध्याभावानुमापकत्वाभावेन न भिन्नेन्द्रियजन्यत्वस्योपाधित्वमिति भावः । ५ विशेषणादिभावः । ६ विनयो भेदो भिद्यते भेदत्वात्पदभेदादिवदित्यनुमानमित्यर्थः । ७ पदभेदादौ दृष्टान्तभूते भिद्यमानत्वस्वीकार एव दृष्टान्तविघातस्यपूर्वकं पक्षे भिद्यमानत्वसाधने को दोषः । ८ यथा कश्चित्पक्का पाकाय पिण्याक्याचनार्थं गतस्तस्यै सारिपरिमितैलदानं दाया स्वीकृत तद्वचन पक्षे भेदेभेदानङ्गीकर्तुर्दृष्टान्तभेदे भेदस्वीकार आपतितः पक्षे भेदं स्वीकारयथा भवति दृष्टान्ते भेदः परमार्थः स्वीकृत इति अहो ते बुद्धिबैभवम् । यदि तु दृष्टान्तभेदे न भिद्यमानत्वस्वीकारस्तादा पक्षेऽपि न तस्तिद्विरिति प्रकृतानुमानानुमानमित्यर्थः ।

मात्, भेदेनैव च प्रतिपन्नस्य विशेषणत्वात् । ततश्च पूर्वपूर्वभेदप्रतीतिमन्तरेणोत्तरोत्तरभेदप्रतीतेरसंभवात् युगपदनन्तभेदप्रतीतेरयोगाच्च जातैव मूलक्षतिः ।

अथ विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण गृहीतस्य विशेषणतोपपत्तौ भेदाप्रतीतिः किं करिष्यतीति तत्र । क्षीरनीरयोर्दूरस्थवनस्पत्योश्च तथात्वाप्रतीतेः । नच तत्र दूरत्वादिदोषप्रतिबन्धात्तदग्रह इति वाच्यम् । विद्यमानभेदयोरपि भेदेनाप्रतीतौ विशेषणविशेष्यभावाग्रहे सिद्धे कारणविशेषोपन्यासस्य निष्प्रयोजकत्वात् । नह्युभयवादिसंमतं तथाविधं स्थलमस्ति यत्र विद्यमानभेदयोः स्वरूपप्रतिपत्तिमात्रेण विशेषणविशेष्यभावग्रहणम् । एतेन भिन्नतया प्रतिपन्नयोरेव धर्मिप्रतियोगिभाव इतीतरेतराश्रयदोषो वज्रलेपायते । नच निर्विकल्पिकायां

इव, दृष्टान्तभेदविमर्देवनुरथानमेव । उपजीव्यस्य प्रबलत्वेन बाधात्, स्वामव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वाच्च । एतेन दृश्यत्वाद्यो निरस्ताः । नचानिर्वचनीयत्वं भेदस्य, तत्र प्रमाणाभावा'दिति गायनः । तत्र तावद्भेदानवस्थया बाधकत्वम्, उक्तरीत्या मूलक्षयकरिवादित्येवेहि । नच व्यवहारादर्शनात्प्रसज्यकाभावः, घटो भिन्नो घटस्य भेद इति विशेषणविशेष्यभावेन भेदव्यवहारस्यैव विर्हेसस्य समस्ताधस्तनभेदपद्धतिप्रसज्यकत्वात् । ननु तर्ह्ययमेवानन्तभेदान्कल्पयन्धारुडमूलः प्रौढो भवेत् । न जानीमः किमाखुडमूलतया प्ररुडः, किवाऽनुपलब्धिपरहिततत्तन्मूलतया निर्मूलत्वं सत्यवद्विलीयेतेति । यत्वेकभेदवलेनान्यभेदानुमानं मायावादिमततया आशङ्क्य दृष्टान्ताव्याघातव्याघातयोर्दूषणमुक्तं, तन्नोकोत्तरप्रज्ञस्य तवैव शोभते, कः खल्वनुमत्तोऽनिर्वचनीयसर्वभेदमायावादिमततयैवमाशङ्कते । अथ योयं विशेषणविशेष्यभूतभेदव्यवहारो भेदपरंपराप्रसज्यकः तत्रैवेदं दूषणैर्द्वयमास्तामिति चेन्न । दृष्टान्तभेदानङ्गीकारात् । तर्हि व्याप्तिराहित्यं स्वव्याघातकत्वंचेति चेन्न । प्रामाणिकत्वाभावेपि विशेषणादिभावस्य भिन्नतया प्रतीतेश्च व्यभिचारमावात् । यत्र दृष्टं स एव प्रामाणिको भेद इति चेन्न । प्रामाणिकत्वासिद्धेः । तर्ह्यसाधकमिति चेन्न । प्रतिबिम्बदेहात्मभावादीनामिव व्यावहारिकसतोपि लौकिकवैदिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्तेः, तत्रापि भ्रुग्धोयं मिथ्यात्ववादं व्याचक्षीत । व्यापातश्च यदि शून्यताकारणं तत्र । अन्यैत्राकरणात् । यद्यनिरूपितरूपतापादनम् । अनुमोदय एव तत्रै । एतेन दृश्यत्वादयोपि समर्थिताः । नचानिर्वचनीयत्वे प्रमाणाभावः । तदङ्क्षणप्रमाणयोरुद्धोषितत्वादनिर्वचनीयवादे । एवंचैतादृशमुत्तरदानं पिण्वाकयाद्विने खारिकातैलदानं वा सकललोकवेदनिन्दितवैशेषिकदर्शनमदिरामत्ताय मरणान्तिकप्रायश्चित्तरूपतीव्रतरक्ततप्तमदिराधारादानं वेत्यात्मनि परिभावयेत्यलम् ।

पूर्वोक्तानवस्थापरिहारमुद्गाव्य दूषयति—अथेत्यादिना । यत्त्वत्रापि तेनोक्तं समानाभिहारादिप्रतिबन्धात्तदग्रहणमिति तदन्य दूषयति—नच तत्रेति । अयमभिसन्धिः । तत्र तेषां परस्परं भेदो गृहीतो न वा । यदि गृहीतस्तदा दोषशतैरपि न विपर्ययादि शक्यमुत्पादयितुम्, असाधारणाकारग्रहणेपि भ्रमोत्पत्तावतिप्रसज्यात् । ततो भेद एव न गृहीतस्तदग्रहे चातिदूरत्वादि कारणमिति वक्तव्यं तथाचासमुक्तं प्रयोजकमनुसृत्यैव तत्र कारणवर्णनमनुकूलमेवेति । किञ्च भवदभिमतप्रयोजकस्य प्रयोजकत्वं क्वा दृष्टं येनास्य प्रतिबन्धकतेत्याह—नह्युभयवादीति । प्रतिबन्धरहितस्थलेऽपि क्षीरनीरयोः स्वरूपप्रतीतिमानाद्द्वय्यादिभावाद्दृष्टेर्भेदप्रतीतिपूर्वकत्वेचान्योन्याश्रयता स्यादेत्यर्थः । यस्तु धर्मिप्रतियोगिभेदोध्ययोरितरेतराश्रयपरिहारोभिहितः पूर्ववादिना तत्राप्युक्तदूषणमतिदिशन्परस्परश्रयत्वादिति श्लोकावयवं विवृणोति—एतेनेति । तस्यैव विवरणम्—भिन्नतयेति । परिहारान्तरमुक्तं दूषयति—नच निर्विकल्पिकायामिति । निष्प्रतियोगि-

१ विशेष्यविशेषणभावाप्रतीतिरित्यर्थः । २ भिन्नतया प्रतीतयोरेव विशेष्यविशेषणभाव इति स्वीकारेण । ३ भेदानिर्वचनीयत्वे प्रमाणाभावरूपेण बध्यमाणहेतुना दृश्यत्वादयो भेदानिर्वचनीयत्वसाधका निरस्ता इत्यर्थः । ४ निर्गृहीतमशक्यस्य । ५ दृष्टान्ताव्याघाततद्भावात्तरूप मित्यर्थः । ६ स्वसाध्यासाधकत्वमित्यर्थः । ७ आन्तः । ८ प्रत्याख्येयत्वेति शेषः । ९ आत्मनोत्यर्थः । १० निरूपितरूपत्वे इत्यर्थः ।

सविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपदङ्गुलित्रयवदवभासनादिदमस्माद्भिन्नमिति सविकल्पकव्यवहारोपपत्तेः कथमितरेतराश्रयतेति वाच्यम् । निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात्, नित्यं प्रतियोगिघटित एव तस्मिन्प्रमाणप्रसरात् ।

कश्चायं धर्मभेदः किमन्योन्याभावः किं वा वैधर्म्यमुत पृथक्त्वमाहोस्त्रिद्विलक्षणयोगित्वम् । तत्र तावत्—‘नान्योन्याभावरूपोयं द्वैताभावप्रसङ्गतः । तादात्म्यस्याप्यमानत्वात्प्रतियोग्यनिरूपणात्’ ॥ ३ ॥ अन्योन्याभावोपि हि यस्माद्भेदस्तं प्रतियोगिनमपि धर्मतया स्वस्मिन्नन्तर्भावयेत् । तथाच विश्वप्रतियोगिघटितान्योन्याभावस्य वस्तुनो भेदेऽन्यथाप्रसङ्गात्, वस्तु तावन्मात्रत्वे कथं नाद्वैतं पर्यवस्येत् । किञ्च तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभाव इति तद्वादिभिरभ्युपेयते, तथाचाभावप्रतियोगिभूतं स्तम्भकुम्भयोस्तादात्म्यं यदि न प्रमाणगोचरस्तदा कथं तदभावः प्रामाणिकः स्यात् । एव कुम्भस्य विश्वप्रतियोगिक तादात्म्यमादावेव प्रमितमित्यद्वैतसिद्धावूर्ध्वमपि तद्विरोधिनोऽन्योन्याभावप्रसङ्गं न समुदयः स्यात्, उपजीव्यविरोधात् ।

कमेदसद्भावे प्रमाणमेव नास्तीत्यर्थं । एतेन प्रतियोगित्वेनाप्रतीतावधिकरणत्वेन प्रतीतिरधिकरणत्वेनास्पृष्टौ च प्रतियोगिसृष्टिरित्यादि बौद्धधिकारस्यमुदयनीयसमाधानमपि निरस्तं मन्तव्यम् ।

तदेव साधारण्येन धर्ममेददूषणमुत्प्ला विशेषतोऽपि दूषणानि दर्शयितुं विकल्पयति—कश्चायमिति । वैधर्म्यं घटत्पटत्वनित्यत्वादि लक्षणालक्षणसाधारणम् । लक्षण त्वसाधारणम् । तेन च न द्वितीयचतुर्थैतद्भ्र । अन्योन्याभावभेदे दूषणं श्लोकेन सगृह्णाति—नान्योन्येति । अयं भेदोऽन्योन्याभावरूपो न भवति, कुत, सप्रतियोगिकस्यान्योन्याभावस्य धर्मस्य धर्मस्वभावत्वे विश्वप्रतियोगिकान्योन्याभावद्वारा विश्वस्यापि धर्मिभूतवस्तुमानत्वाद्वैतस्यैवाभावप्रसङ्गत, धर्मत्वे पूर्वोक्तानवस्था विश्वधर्मवत्ता च घटादेरित्येदं बहिरेव दातव्यम् । किंचान्योन्याभावस्यैवानिरूपणात्तद्रूपोऽपि भेदो दुनिरूप इति, कथं, तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभाव । तच्च सर्वत्र भेदवादिनस्ताकिंकस्याप्रामाणिकम्, ततस्त्रिरूप्याभावोपि प्रतियोग्यनिरूपणात्प्रामाणिक इत्याह—तादात्म्यस्येति । अथ तादात्म्यं घटपटयो प्रमित, तर्हि तत एव तन्निषेधरूपोऽन्योन्याभावस्तयोर्न घटते । एव सर्वत्रेति, पुनरप्यद्वैतापात इति धट्टकुटीप्रभातम् । नचान्यत्र प्रमिततादात्म्यस्यान्यत्र निषेध, ससर्गाभावत्वप्रसङ्गादित्यपि द्रष्टव्यम् । अस्तु तर्ह्यन्य एवान्योन्याभावप्रतियोगीति, तत्राप्येतदेवावृत्त्या योजनीयम् । प्रतियोग्यनिरूपणादिति श्लोकयोजना । श्लोक विवृणोति—अन्योन्याभावोपीत्यादिना । अन्योन्याभावोपि हि भेदो यस्मात्प्रतियोगिन सकाशादेष्टव्यं तमपि प्रति योगिन स्वस्मिन्नन्तर्भावयन्कथं न धर्मतया स्वस्य घटधर्मत्वात्तमपि घटधर्मतयैवा-तर्भावयेत् । घटधर्मतामापादयेदित्यर्थं । तथापि द्वैताभाव कथमित्यत आह—तथाचेति । यदुक्तमस्माभिर्बहिरेव दातव्यमिति तत्प्रथममाह—वस्तुनो भेद इति । द्वितीयं हेतु विवृणोति—किञ्च तादात्म्येति । अभाव निरूपयता प्रतियोगिना विशेषेणोपलक्षणेन वा भवितव्यम् । उभयथापि तस्याप्रामाणिकत्वे तद्विशिष्टं तदुपलक्षितं चाऽप्रामाणिकमेव स्यादित्यर्थं । वादीन्द्रस्तु पूर्वधर्मत्वादीना धर्माणामभावत्वसुररीकृत्य प्रतियोगिपर्यनुयोगे प्राह—वस्तुतस्तु न किञ्चिदिति । त प्रत्येतावद्भक्तव्यं वस्तुनोऽभावत्वमपीति । अनिषेधात्मकत्वेऽभावत्वव्याघातान्निषेधात्मकत्वे तु निषेध्यप्रतियोगिनमनङ्गीकृत्य न निस्तार इति ।

१ धर्मरूपो भेद इत्यर्थं । २ धर्मिणो भिन्नत्वे इत्यर्थं । ३ धर्मिमात्रस्वरूपत्वे इत्यर्थं । वस्तु इत्यस्य पर्यवसेदित्यनेन संबन्धः । ४ दूषणमिति शेषः । ५ यथा कुम्भे प्रमितस्य कुम्भतादात्म्यस्य स्तम्भे निषेध इत्यर्थं । ६ यद् सत्त्वादीना धर्माणामभावरूपता स्वीकृत्येत्यर्थं । ७ अभावत्वमपि न परमार्थमित्यर्थं । तदेवोपपादयति—अनिषेधात्मकत्वे इत्यादिना ।

ननु कुम्भः स्तम्भो न भवतीति स्तम्भप्रतियोगिकोऽभावो यः कुम्भमाश्रितः सोऽन्योन्याभाव इति कथमप्रमितप्रतियोगित्वप्रसक्तिः । मैवम् । प्रतियोगिभेदाभावादन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदाभावप्रसङ्गात् । स्तम्भः कुम्भे नास्ति कुम्भः स्तम्भो न भवतीत्युभयत्रापि स्तम्भस्यैव प्रतियोगिताङ्गीकारात् । प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोऽन्यन्ताभावः प्रतियोग्यनिष्ठत्वे सत्यकादाचित्कोऽभावोन्योन्याभाव इति लक्षणभेदादभावयोर्भेद इति चेन्मैवम् । यत्किञ्चित्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योन्याभावेऽपि भावादितिव्याप्तेः । स्वप्रतियोगिनिष्ठत्वं विवक्षितमिति चेन्मैवम् । स्वशब्देनात्यन्ताभावोपादानेन तत्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योन्याभावेऽपि भावेनातिव्याप्तेस्तदवस्थत्वात् । पटे घटो नास्तीत्यन्यन्ताभावस्य घटः प्रतियोगी,

प्रतियोग्यनिरूपणादित्यस्य द्वितीययोजना दर्शयितुं शङ्कामाह—ननु कुम्भ इति । न तादात्म्यप्रतियोगिकोऽन्योन्याभावः, किंतु स्तम्भादिप्रमितपदार्थप्रतियोगिकः, ततश्च कथमप्रसिद्धप्रतियोगित्वम् । अथवा भवतु तादात्म्यप्रतियोगिकत्वं, तथापि नोक्तदूषणद्वयसंभवः, स्तम्भादिस्वरूपमात्रलात्सातिरिक्तातादात्म्ये प्रमाणाभावादिति शङ्कते—नन्विति । दूषयति—मैवमिति । प्रतियोग्यभेदमेव दर्शयति—स्तम्भ इत्यादिना । अयमभिसन्धिः । स्तम्भः कुम्भे नास्तीति संसर्गाभावोऽपि स्तम्भप्रतियोगिकः कुम्भाधिकरणक एव । नच संसर्गप्रतियोगिकोऽपि न स्तम्भप्रतियोगिक इति वाच्यम् । तथासति संसर्गमात्रस्यैव प्रलयप्रसङ्गात् । स्तम्भविशेषितसंसर्गनिषेधे तु स्तम्भोऽपि प्रतियोगिकोऽपि दीर्घ इति पूर्वोक्तदोषतादवस्थम् । तथाचान्योन्याभावोऽपि चेत्स्तम्भप्रतियोगिकः व्यक्तमतिव्याप्तिस्वरूपलक्षणस्येति । एतेन तादात्म्यं नाम घटस्वरूपमित्यपि निरस्तम् । घटमात्रोच्छेदप्रसङ्गादेव । नच स्तम्भस्य कुम्भे निषेधः । संसर्गाभावत्वापातात् । तस्माद्घटस्य स्तम्भस्वरूपत्वं निषेधं, तथाचायमर्थो न क्वचित्प्रमित इति नोक्तदूषणलङ्घनजहालता । नच प्रतियोग्यैक्येऽपि प्रागभावादिबन्धनयोरपि भेदः स्यादिति वाच्यम्, असिद्धेः, पूर्वोक्तकालत्रितयस्वरूपविशेषणत्रयविशिष्टस्यैव घटस्य तत्रापि प्रतियोगितात्, तद्वदेव संसर्गाभावान्तरतापातात् । लक्षणभेदाद्भेदं शङ्कते—प्रतियोगिनिष्ठ इति । नहि स्वस्मिन्स्वयं वर्ततेऽतः प्रतियोगिन्यपि वर्तते एवात्यन्ताभावः । नच प्रमेयत्वादावसंभवः । प्रमेयत्वादेस्त्वनिष्ठत्वनिष्ठत्वादिना स्वस्मिन्निवान्यत्राल्यन्ताभावाभावात्, अन्यमते तु स्वस्मिन्प्यत्यन्ताभावभावात् । एतेन चेतरेतराभावसंसर्गाभाववर्गोऽपि व्यवच्छिन्नः । नह्यन्योन्याभावः स्वप्रतियोगिनि वर्तते । तस्यैव तदन्यत्वापत्तेः । एवं प्रागभावप्रवृत्तिसामावावपि, तत्समये प्रतियोगिनोरेवाभावेन तत्र घृतेः शङ्कितमप्यशक्यत्वादिति, सादृश्यादिव्यवच्छेदार्थमभावपदम् । अपरेतु रूपादिव्यवच्छेदार्थमभावपदं, प्रागभावादिव्यवच्छेदायाकादाचित्कविशेषणं दृष्टव्यमिति वदन्ति । इदं चान्योन्याभावाविनिर्णयोक्तम् । इतरथा प्रकृतानुषयोगात् । अन्योन्याभावलक्षणमाह—प्रतियोगीति । अकादाचित्केति प्रागभावप्रवृत्तिसामावयोत्पत्तिविनाशवत्तया कादाचित्कयोर्व्यवच्छेदः, तावतिचात्यन्ताभावेऽपि स्यादित्यर्थं विशेषणम् । तत्राल्यन्ताभावलक्षणं दूषयति—मैवमिति । प्रतियोगिनिष्ठलक्षणं यत्किञ्चित्प्रतियोगिनिष्ठत्वं स्वप्रतियोगिनिष्ठत्वं वा विवक्षितमिति विकल्प्यायं दूषयति—यत्किञ्चिदिति । द्वितीयं शङ्कते—स्वेति । अत्रापि स्वशब्देनाभावमात्रं विवक्ष्यते अत्यन्ताभावो वा । प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम् । द्वितीये प्राह—मैवं स्वशब्देनेति । अत्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठत्वमेवान्योन्याभावस्य दर्शयति—पटे घट इत्यादिना । तेनैव च तदलक्षणादात्माश्रयभावात् । नचान्योन्याभावप्रतियोगिनिष्ठत्वं लक्षणं वाच्यम् । प्रागभावादावपि भावात् । अनेकान्योन्याभावपक्षे तेनैव चानैकान्तिकता । यस्मिन् प्रतियोगिनि घृत्स्यत्प्रतिभ्यामभाववैलक्षण्यं विवक्षितं तदेव प्रति-

१ प्रविशतीत्यर्थः । २ भेद इति शेषः । ३ भेदेऽपीत्यर्थः । ४ उभयत्रापि स्वपदार्थः प्रतियोगी । ५ रूपादेर्घटादिप्रतियोगिनिष्ठत्वादिति भावः । ६ अत्रे वक्ष्यमाणस्य भेदलक्षणस्य लाभायेति भावः । ७ यत्किञ्चित्प्रतियोगिनिष्ठत्वेत्यादिप्रयोक्तव्यमित्यर्थः । ८ आत्माश्रयपरिहारं शङ्कते । ९ प्रतियोगिनिष्ठो भेदो भिन्नोऽनुयोगिनिष्ठश्च भिन्न इति मनै प्रतियोगिनिष्ठभेदेनैकान्तिकताव्यभिचारस्तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः ।

पटप्रतियोगिकान्योन्याभावोऽपि घटे वर्तत इति । किंचेदं प्रतियोगित्वं, निरूपकत्वं चेद्-
 र्मिणोपि प्रतियोगित्वप्रसङ्गः । अथ पञ्चम्यन्तशब्दवाच्यत्वं, तर्हि घटः पटो न भवती-
 त्यत्रान्योन्याभावे पटस्य प्रतियोगिता न स्यात्, पञ्चम्यन्तशब्देनानिर्देशात् । अथ धर्मि-
 णोन्यत्वे सति निरूपकत्वं प्रतियोगित्वं, तदपि न । प्रतियोगित्वस्यानिरूपणादेव धर्मिप्र-
 तियोगिकान्यत्वस्याद्याप्यसिद्धेः । तदेवं नान्योन्याभावो भेदः । नापि द्वितीयः । वैधर्म्ये
 वैधर्म्यान्तराभ्युपगमेऽनवस्था । अनभ्युपगमे वा वैधर्म्ययोरेकतापत्त्या तद्धर्मिणोरेक-
 तापत्तावद्वैतप्रसङ्गः । नापि तृतीयः । पृथक्त्वे पृथक्त्वान्तराभावादेव धर्मिणस्तस्यैकता-
 पत्तेः । किंच पृथक्त्वस्य गुणत्वान्निर्गुणेषु गुणादिषु पृथक्त्वगुणासम्भवेन भेदो न
 स्यात् । तत्रान्योन्याभावनियन्धनो भेदव्यवहार इति चेत्तर्हि द्रव्येष्वपि तन्निबन्धन एव
 सद्यवहारोस्तु कृतं पृथक्त्वेन, तत्सत्तावेदकप्रमाणभावाच्च ।

अथाकाशः स्पर्शवद्गुणासमवायिकारणाद्विष्टगुणयोराश्रयः द्रव्यत्वान्नूतत्वाद्वा पटा-
 म्भकतन्नुवत् । तेन वियद्गतयोरेकत्वपृथक्त्वयोः सिद्धिं मानमनोहरकारः प्रत्यतिष्ठिपदिति
 चेन्न । वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलंत्वात्, तेन कारणगुणानां कार्ये गुणान्त-
 रारम्भस्यानभ्युपगमात्, स्पर्शवत्त्वोपाध्युपहृतत्वाच्च ।

योगित्वं दुर्निरूपमित्याह—किंचेदमित्यादिना । एतदपि प्रतियोग्यनिरूपणादित्यस्यार्थः । ननु न निरूपकत्व-
 मात्रं प्रतियोगित्वं, येन धर्मिण्यपि प्रसङ्गः, किंतुधर्म्यन्त्यत्वेसति निरूपकत्वमिति शङ्कते—अथेति । धर्म्यन्त्यं
 हि धर्मिप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वं, नच प्रतियोगित्वमद्यापि सिद्धमित्यात्माश्रयत्वमिति परिहरति—तद्-
 पिनेत्यादिना । एतेनान्योन्याभावलक्षणमपि निरस्तम्, । तत्रापि प्रतियोगिप्रयुक्तदूषणानां सुवचत्वमिति ।
 वैधर्म्यपक्षं दूषयति—नापि द्वितीय इति । वैधर्म्ययोरपि घटत्वपटत्वयोर्भेदोक्ति नवा । आद्ये, स्वर्णा-
 न्योन्याभावयोर्वृषितत्वात् वैधर्म्यमेव मन्तव्यम् । तथाचानवस्थेत्याह—वैधर्म्य इति । ननु नानवस्था
 वैधर्म्यान्तरास्वीकारात् । यथाहोदयनो बौद्धधिकारे 'अनवस्था हि प्रवाहं प्रापयति गन्धे गन्धान्तराभ्युपगम
 इवे'ति । तत्राह—अनभ्युपगमे वेति । तयोर्हि भेदाभावे घटत्वमेव पटत्वमिति तदधिकरणं घटोपि पटः
 स्यादेवमितरद्विषयत्वद्वैतापात इत्यर्थः । पृथक्त्वपक्षं दूषयति—नापीति । पृथक्त्वस्य धर्मिणो भेदास्वीकारे-
 ऽनवस्थामयादभेदापत्तिः स्यात् । तथा च घटस्वरूपमात्रं न भेदः प्रतिषिद्धत्वादित्यद्वैतापात इत्यर्थः । अत्र
 त्वधिकमपि दूषणमाह—किंचेति । तत्र गुणादिव्यत्यर्थः । पृथक्त्वमेव तावदप्रामाणिकं तद्रूपभेदः कुतरा-
 मप्रामाणिक इत्याह—तत्सत्तावेदकेति ।

अत्र मानमनोहरस्थमनुमानं शङ्कते—अथाकाश इति । स्पर्शवद्द्रव्यगतगुणं प्रत्यसमवायिकारणभूतो
 यावद्विष्टगुणौ तयोरेधिकरणमित्यर्थः । अद्विष्टगुणाधिकरणमित्युक्ते शब्दपरममहत्त्वाद्यधिकरणत्वेनार्थान्तरता
 तदर्थमितरद्विशेषणम् । तावन्मात्रोक्तौ वाकाशतन्तुसंयोगविभागाभ्यामाकाशपटसंयोगविभागलक्षणस्पर्शवद्गुणौ
 प्रत्यसमवायिकारणाभ्यामर्थान्तरता, तन्निवृत्त्यर्थमद्विष्टेत्युक्तम् । तेनैकत्वसंख्यैकपृथक्त्वयोः सिद्धिः । तथाहि ।
 आकाशतदितरद्वैतित्वात्स्पर्शवद्गुणा भवन्ति द्विलिङ्गिपृथक्त्वाद्यस्तत्कारणे चैकत्वैकपृथक्त्वे इत्यर्थः । साध्य-
 वैकल्यमेव विज्ञोति—तेनेति । आरम्भवादिनां खल्विषयं प्रक्रिया यत्समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणप्रया-
 त्कार्योत्पत्तिरिति । यस्य तु पुनरज्ञातैरज्ञाने पवनाशनादिभावैकमात्मतत्त्वमनादिभावाविद्यासहायं विवदा-
 याकारेण विवर्तत इति मतं न तस्यैषा परिभाषेत्यर्थः । व्याप्यत्वासिद्धिं चाह—स्पर्शवत्त्वैति ।

नचान्यावयविनामनारम्भकत्वादेव तादृशगुणानधिकरणानामपि स्पर्शवत्त्वेन साध्य-
समव्याप्त्यभावादेवानुपाधित्वम् । विषमव्यापकोपाध्यङ्गीकारेण दोषाभावात् । नचैत-
त्पर्वतान्यत्वादेः पक्षेतरत्वस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गो दोषः । यं एतत्पर्वतोऽसावनग्निमानिति
व्यतिरेकासिद्धौ तस्य दुष्टत्वात् । 'एकसाध्याविनाभावे मिथः संबन्धशून्ययोः । साध्या-
भावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्यय' इति चोपाधिलक्षणस्य समासमव्यापकयोस्तुल्यत्वात् ।
समवायः समवेतः संबन्धत्वात् संयोगवदिति प्रयोगे संबन्धत्वे सति समवेतत्वे

यत्स्विममेवोपाधिमुद्गाव्य तेनोक्तं स्पर्शवतां घटादीनामपि तथाविधगुणद्वयाध्यत्प्रसङ्गादिति तदेतत्स-
प्रतिसाधनमनूय दूषयति—नचान्यावयविनामिति । नचानुपाधित्वमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—विषम-
व्यापकेति । अयमर्थः पक्षादुपाधिव्यापृत्त्या साध्यस्य विनिर्वैतनमुपाधिफलमस्मिन् समवद्विषमः क्षमः ।
स्वव्यापृत्त्या साध्यस्य पक्षाव्यापृत्त्या व्यापकप्रमित्युत्पत्तिप्रतिबन्धो वा हेतोरपहृतसाध्यतया विषमभूते पक्षे
वर्तमानस्यानैकान्तिकतापादनं बोधयेः कृत्यमिति हि नूतनोन्नयनम् । तच्च समव्याप्तिवद्विषमव्याप्तिरपि श-
ङ्कोति संपादयितुममिदमिव निवर्तमानं धूमवत्त्वं व्यावर्तयितुमतो विषमव्याप्तिरपि सम्भवत्येवोपाधिरिति ।
अभ्युपगम्य चैतदुक्तम् । वस्तुतस्तु समव्याप्तिरेवायम्, अन्त्यावयविनां पक्षतुल्यत्वेन साध्याभावाविनाग्यात् ।
विपक्षत्वे च द्रव्यत्वादेस्तत्रानैकान्तिकत्वात् सपक्षत्वे च तत्रोपाधेरपि शृतेः समव्याप्तिरिति । नन्वधिकव्या-
प्तेरप्युपाधित्वे पक्षेतरत्वमप्युपाधिः स्यात्, तथा च गतं धूमानुमानेन, अधिकव्याप्तेरुपाधित्वानभ्युपगमेन हि
पक्षेतरत्वनिवारणमिति, तत्राह—नचैतत्पर्वतेति । यदि हि पक्षेतरत्वस्य साध्यव्यापकता स्यात्सादयं दोषः,
नवेतदस्ति, एतत्पर्वतेतरत्वरहितेष्वेतत्पर्वतेऽभिमतविरहानिश्चयेन व्यतिरेकव्याप्तिसिद्ध्या साध्याव्यापकत्वात्,
ईदृशश्च सर्वत्र पक्षेतरः । यत्र तु साध्योपाध्योर्व्यतिरेकव्याप्तिनिर्णयस्तत्र न पक्षेतरत्वसंज्ञा, अपितुपाधित्वमे-
वेत्यभिहितिराह—य एतत्पर्वते इति । अत्रोदयनलक्षणविरोधमाशङ्क्य परिहरति—एकसाध्येति ।
मिथः परस्परं संबन्धशून्ययोर्धर्मयोरेकेन साध्याविनाभावे निरूप्यमाणे सहभावोऽविनाभावः तस्मिन्सति
यदत्ययः यस्याभावः साध्याभावाविनाभावी साध्याभावेन व्याप्तः स तदभावप्रतियोगी उपाधिः, अत्र च
मिथः संबन्धशून्योरिति साधनाव्यापकत्वमुक्तम् । अत्रापि साध्याभावस्य व्यापकत्वमुपाध्यभावस्य व्याप्यत्वं
च प्रतीयते, तेन च साध्यस्य व्याप्यत्वमुपाधेश्च व्यापकत्वं सिध्यति, तच्च द्वयमभिधूमवद्विषमव्याप्तिरिति घटत
इति नायं समव्याप्तिवगमक इत्यर्थः ।

न केवलमगमको, विषमव्याप्तितागमकक्षेतरधोद्योतकराचार्यवचनविरोधप्रसङ्गादित्यमिसन्धिस्तरीयग्रन्थ-
माह—समवायः समवेत इत्यादिना । संयोगे हि संबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधिः । कार्यत्वं
च समवायाव्यावर्तमानं संबन्धत्वे सति समवेतत्वं व्यावर्तयति । तत्रापि संबन्धत्वमुभयवयादिसंमतमिति
समवेतत्वव्यापृतिरुपाधिफलम् । यद्यप्ययं साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापको, नतु केवलसाध्यव्यापकस्तथापि विष-
मव्याप्तिरूपत्वेन प्रकृतोदाहरणं, साधनावच्छिन्नसाध्येन च विषमव्याप्तिकता, कार्याणामपि गुणादीनामुक्तसाध्य-
कत्वाभावादिति । एतेन 'समासमाविनाभावावेकत्र स्तो यदा समे । समे न यदि नो व्याप्तस्तयोर्द्विनोऽप्रयोजक'
इति मद्भाचार्यवचनमपि प्रतिभैदितं मन्तव्यम् । वस्तुतस्तु उभौवपि प्रकारौ संप्राप्तौ । नद्येत्सामान्यलक्ष-
णमपि तु विशेषलक्षणं, तस्य चानेकप्रकारत्वं न दोषाय, सामान्यलक्षणं स्वत्यन्ताभावप्रतियोगिधर्म इति, अ-

१ स्पर्शवत्त्वस्य साध्यसमव्याप्यत्वे एवोपाधित्वमिति स्वीकारादिति भावः । २ स्पर्शवत्त्वरूप सत्प्रतिपक्षहेतुमित्यर्थः ।
३ पक्षेसाध्यस्याभावबोधनमित्यर्थः । ४ साध्यानुमित्युत्पत्तिप्रतिबन्ध इत्यर्थः । ५ नवीना कल्पनेत्यर्थः । ६ व्याप्तिरूप-
संबन्धशून्योर्हेतुपाधिरूपयोर्धर्मयोरेकत्वमित्यर्थः । ७ व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति । ८ विषमव्यापकस्यापि उद्योतकराचार्यरुपा-
धित्वस्वीकारेण । ९ यदाहेतुपाध्योर्व्याप्यत्वेन समे तुल्ये एकत्रसाध्ये समासमाविना भावौ स्तः तयोर्हेतुपाध्योर्धर्मध्वेयः
कश्चन समेन साध्येन व्यातो न भवति स हीनः साध्यव्याप्तिरहितोऽप्रयोजकः साध्यव्यभिचारोत्रायकउपाधिर्नभव-
तीति मद्भाचार्यं वचनार्थः । १० निरल मित्यर्थः । ११ साध्यसमव्यापकस्य विषमव्यापकक्षेत्रमुभावापि उपाधी इत्यर्थः ।

कार्यत्वमुपाधिरिति विपमव्यापकोपाधेरुद्योतकराचार्यैरङ्गीकारात् । अपिचान्योन्याभावाद्यो भेदाः किं भिन्नमेव धर्मिणं परिरभन्ते उताभिन्नम् । नाद्यः । अनन्तभेदाभ्युपगमप्रसङ्गात् । अस्तु किं नः छिन्नमिति चेच्छृणु । क्रमेण तेषां धर्मिणा संबन्धे धर्मिणाश्च घटादेः कादाचित्कत्वेन तत्संबन्धासम्भवः । संभवेवाऽतीतानागतानां च भेदानां क्रमसंबन्धाय घटोऽनादिरनन्तश्च स्यात् । अथ युगपदेव धर्मिणा सर्वे भेदात्संबन्धोरत्तर्हि भिन्ने भेदस्थितिरिति पक्षक्षतिः । भेदसंबन्धं विना तस्य भिन्नत्वानुपपत्तेः । तत्संबन्धेनैव च भिन्नत्वे किंभेदविशिष्टे किंभेदस्थितिरिति नियामकाभावादेकोपि भेदो न भवेत् । उत्तरोत्तरेणैव च भेदेन पूर्वपूर्वभेदोपयोगोपपत्तावनन्तभेदाभ्युपगमोपि निष्कलः स्यात् । एवमपि भेदाः स्वीक्रियेरन्, यदि भेदपरंपराभरमन्थरा कापि संविदुदयमासादयेत् । तथाचाहुः खण्डनकाराः—‘प्राग्लोपाधिनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् । अनवस्थितिमास्थानुरचिकित्सा त्रिदोषते’ति । न द्वितीयः । अभिन्नेपि चेद्भेदो निविशेत्तदा तदपि नैकं स्यादित्येकाभावादानेकमपि न सिद्ध्येत् । नापि वैलक्षण्यं भेदः आत्माश्रयत्वात् ।

भावमात्रप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादेरप्यस्त्यन्योन्याभाववत्त्वात्, सच नोपाधिः, तस्य सर्ववस्तुनिष्ठतया साधनव्यापकत्वेन साध्यानपहारित्वाद्दत्त उक्तमत्यन्ताभावेति । धर्मग्रहणं तु परमाण्वादीनामनाश्रितानामुपाधित्वनिर्णयनार्थमिति नवीनानामुक्तयनम् । यथाचैतत्सर्वमविचारितरमणीयं तयोदकं दर्शयिष्यते । इदानीं सर्वस्य धर्मभेदस्य साधारणमाश्रयानिरूपणं दूषणमाह—अपिचेत्यादिना । किं परस्परं विभिन्नं घटादिकमालिङ्गत्वे भेदा उताभिन्नमित्यर्थः । ननुत्तरोत्तरभेदवर्तनार्थं पूर्वपूर्वाश्रयभेदेऽनन्तभेदश्चेत्प्रसज्येत, तत्प्रसज्यतां नाम, अज्ञायमानतयोपपादकत्वेन मूलक्षयाभावादित्याशङ्का परिहरति—शृण्विति । तत्रानन्तानां भेदानां क्रमेण घटे वर्तमानत्वं युगपद्वा । क्रमपक्षे तु सावधिके वस्तुनि तेषामसम्भव इत्याह—क्रमेणेति । असंबन्धेव विपक्षे बाधकेन द्रढयति—संभवेवेति । किमिति पक्षक्षतिरिति तत्राह—भेदसंबन्धमिति । यदीदानीमेव निष्पन्नं घटमाश्रयते भेदस्ततः पूर्वमभिन्नत्वात्तस्य स्यादेव पक्षक्षतिरित्यर्थः । ननु यद्यपीयं प्रथमेव प्रवृत्तिस्वयापि प्रथमः स्वपरनिर्वाहकतया स्वस्य परस्य चाश्रयभेदं संपादयति, तदुपरि चोत्तरोत्तरमुत्तरोत्तरस्य, यथाखल्वतिशूरः पदातिः परदुर्गेषु परेषामात्मनश्च कपाटविघटनेन द्वारमापादयति तद्वदिति तत्राह—तत्संबन्धेनेति । स्यादेवं यदा पदातिरिव कश्चिद्भेदः प्रमाणेन प्रथमप्रवृत्त इति निर्णयित नत्वेति स्थि भावः । केन भेदेन विशिष्टे घटादौ कस्य भेदस्य स्थितिरिति योजना । युगपदवबध्यमानैर्भेदैरेवाधारभेदस्य ह्यायां वायं ग्रन्थः । एवमविनिगम्यत्वमुक्त्वा प्राग्लोपापत्तिं चाह—उत्तरोत्तरेति । प्रतीतिक्रमोपशयोत्तरमुपापादकं पूर्वमुपापाद्यं, घटपटयोर्भेदव्यवहारसिद्धिर्हि प्रथमभेदोपयोगः, सचोपपादकेन द्वितीयेन सिध्यतीति मुधा प्राथमिकभेदः । एवमधोघोपीत्यर्थः । तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः ‘अग्ने धावन्पश्चालुप्यमानो विस्मरणशीलश्रुतवत् स भेदप्रवाहः किमालम्बेते’ति । प्रमाणापगममपि दूषणमाह—एवमपीति । विषयभूतया भेदपरंपरया मन्थरा अल्लसेत्यर्थः । उक्तदूषणत्रितयं श्रीहीरतनयोक्तयोर्द्वलयति—तथाचाहुरिति । भेदानवस्थितिमास्थातुः प्राग्लोपादिभिर्दोषैरचिकित्सा त्रिदोषता चिकित्सात्मतिकान्तो यद्विदोषो वातपित्तकृष्णप्रकोपः सभिपातस्तद्भावः स्यादिति श्रीहर्षोक्तैरर्थः । धर्मरूपो भेदो भिन्ने वर्तत इति प्रथमपक्षो निरस्तः । अभिन्ने वर्तत इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । यदि पटादभिन्ने घटे वर्तमानः पटाद्भेदमिन्वात्पटमपि पटाद्भिन्नात्समानयोगक्षेमत्वादिति भावः । भिन्नलक्षणयुक्तत्वं भेद इति चतुर्थं धर्मभेदवैकल्यं दूषयति—नापीति । अत्र चान्योन्याश्रयद्वारा तत्फलमात्माश्रयः सच ज्ञाती, आत्माश्रयमेव सुनोधेन प्रवेन

नानालक्षणयोगो हि वैलक्षण्यं, नानात्वं च भिन्नत्वापरपर्यायमद्याप्यसिद्धं, तेन च तत्सिद्धौ तत्सिद्धिरिति । किंच नानालक्षणयोगोपि दुर्निरूपः । तथाहि । द्रव्यादीनां पण्णां लक्षणानि नानाविधान्यभ्युपगम्यन्ते । तत्र तावद्गुणाश्रयो द्रव्यमित्यलक्षणं, यतः—‘अव्याप्तेरप्यतिव्याप्तेर्द्रव्यं नैव गुणाश्रयः । आद्ये क्षणे गुणाभावाद्गुणादावपि वीक्षणान् ॥ ४ ॥ उत्पन्नमात्रं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठतीत्यङ्गीकारादव्याप्तेः । गुणादिष्वपि चतुर्विंशतिर्गुणा इत्यादिसंख्यागुणान्वयवीक्षणान्दतिव्याप्तेः । नच तत्र संख्यावत्त्वप्रतीतिर्विभ्रमः । नवैव द्रव्याणीत्यादाविव बाधकादर्शनात् ।

अथ मतम्, आस्तामिदमृजुपथप्रस्थितानां द्रूपणाभिधानम्, अस्माकं पुनरभिनववक्रनयवत्सानुसारिणां नैषा विभीषा समुन्मिपति, यतो गुणवत्त्वात्यन्ताभाधानधिकरणतामेव गुणाधिकरणतामाचक्ष्महे, तेन नाव्याप्तिर्नाप्यतिव्याप्तिः । गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्व-

विद्योति—नानालक्षणेति । लक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तद्रूपोपि भेदो दुर्निरूप इत्याह—किंचेति । तानि च द्रूपयितुं नानालक्षणानि संकलयति—तथाहीति । यानि नानालक्षणानि अभ्युपगम्यन्ते, तानि द्रव्यादीनां ननु लक्षणानि, तदप्रधानैत्वादतस्तेषां दुर्निरूपत्वे दुर्निरूपतराणि तदवान्तरलक्षणानीत्यभिप्रायः । ‘भेदज्ञाने प्रविध्वस्ते भेदज्ञानेकविभ्रमोन् । आगमार्पायिनः सर्वानागमा वाधितुं क्षमाः ।’ द्रव्यलक्षणं द्रूपयति—तत्र तावदिति । आश्रयत्वं गुणकर्मणोरप्यस्ति तत्तन्वात्वाधारत्वात् उक्तं गुणाश्रय इति । तथा गुणो द्रव्यमित्युक्ते व्याघातस्तदर्थं गुणस्येत्युक्तम् । तथापि तत्संबन्धिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमाश्रयप्रहणम् । श्लेकेन द्रूपणं संश्लक्षति—अव्याप्तेरिति । गुणाश्रयो द्रव्यमिति यत्तत्रैव न भवत्येव तल्लक्षणं, कुतोऽव्याप्तेरतिव्याप्ते-श्वेति योजना । ते एव क्रमेणोत्तरार्धेन विद्योति—आद्ये इति । आद्यक्षणे गुणाभावं दर्शयन्नव्याप्तिमेव विद्योति—उत्पन्नमात्रमिति । कार्यस्य गुणस्य समवायिकारणं वक्तव्यं, तच्चाश्रयभूतं द्रव्यमेवेति तस्य गुणात्प्राक्क्षणावतिर्त्वं वक्तव्यं, नियतप्राक्क्षणावतिः कारणत्वादित्यवयवेषु गुणवत्त्वं लक्षणं नास्तीत्यव्याप्तिः । ननु केनैवमुक्तं यावन्नश्यं लक्षणेन भवितव्यमिति । यथाहि कादाचित्कमपि पतनभावेत्वं गुरुद्रव्यलक्षणमेव-मत्रापि किं न स्यादिति । उच्यते । लक्षणं हि केवलव्यतिरेक्यनुमानविशेषः, तथाचावक्षणावत्यपि द्रव्यं पक्ष एव, नच तत्र हेतुवृत्तिरित्यसिद्धिः स्यात् । पतनस्यापि लक्षणत्वमसंप्रतिपन्नं, किंचोत्तरक्षणे गुणोत्पत्तौ उत्पन्नमात्रस्यानुत्पन्नगुणस्यापि क्वचिद्विनाशसंभवात्तत्र सर्वथैवाव्याप्यकमिदं स्यात् । अपिच गुणस्य क आश्रय इति पृष्टे किमुत्तरं देयं, यदि द्रव्यमिति, तदा परस्परार्थम्, अथान्यत्किंचित्सकलगुणाध्यानुगर्तमनतिप्रसक्तं चाभिधीयेत, तर्हि तदेव भवतु लक्षणमितीतरव्यर्थम् । द्रव्यविलक्षणगुणाज्ञाने च लक्षणासिद्धिः । तज्ज्ञाने च चक्रकपरस्परश्रयात्माश्रयाणीति तदेतच्छ्लोकस्थापिना दर्शितम् । गुणादावपीत्येतद्विद्युवन्नतिव्याप्तिं दर्शयति—गुणादिष्वपीति । स्यादेतत् अगुणा गुणा इति लक्षणात्तेषु सख्यावत्त्वप्रतीतिर्नान्तेति तत्राह—नच तत्रेति । बाधाभावात् भ्रमत्वमितरथाऽतिप्रसङ्गात् ।

अत्र लीलावतीकारः प्राह—‘गुणाश्रयो द्रव्यं’ अत्र यद्यपि संबन्धो न सदातनः, योग्यता तु स्वल्पमननुगतं च, द्रव्यत्वं तु क्लिष्टं, तथाप्यत्यन्तायोग्यवत्त्वेदो लक्षणार्थं इति । तदेतच्छ्लोके निषाय शङ्कते—अथ मतमिति । अभिनयं वक्तुं च यत्रयवर्त्म न्यायमार्गस्तदनुसारिणामित्यर्थः । वक्रमार्गमेव दर्शयति—यत् इत्यादिना ।

१ नानात्वेन वैलक्षण्यसिद्धौ भेदसिद्धिरित्यर्थः । २ इदं दुर्निरूपतराणीत्यत्रान्वेति । ३ भेदशुभस्य भेदज्ञान-रूपानेकविभ्रमानित्यर्थः । ४ इदं विभ्रमविशेषणम् । ५ पतनभाक्त्वमिति पाठः शोभनो माति । ६ अव्याप्ति-प्रसक्तमित्यर्थः । ७ प्रसावितिशेषः । ८ अव्याप्त्यतिव्याप्तिशून्यमित्यर्थः । ९ श्लोकस्यो योऽपिस्तेनेत्यर्थः ।

निष्क्रियत्वे इति प्रशस्तपादभार्यदर्शनादिति । मैवम् । तत्रैवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः । सोपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावस्तस्यानधिकरणं, स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्तेः । अधानेकत्वादत्यन्ताभावो नामत्यन्ताभावेऽप्यत्यन्ताभावोस्ति । मैवम् । विकल्पासहत्वात् ।

किमेकैकगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं द्रव्यलक्षणमुत सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् । नोभयम् । उभयत्राप्यव्याप्तेः । तथाहि रूपादीनां गुणानामनेकत्वात्तदेकगुणाधिकरणस्यापि तदितरगुणात्यन्ताभावाधिकरणत्वादेव तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वाभावात् । सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य सर्वस्मिन्नसम्भवात् । सति हि सर्वगुणाधिकरणत्वे सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणता स्यात् । नच सर्वगुणाधिकरणत्वमेकैकस्यास्तीति कथं नाव्याप्तिः । अथ चतुर्विंशतिगुणानामन्यतमगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता विवक्षिता । तदपि न । अन्यतमशब्देन रूपादेरेवैकैकस्य सर्वस्य वा विवक्षायां पूर्वाभिहिताव्याप्तिदोषस्य तदवस्थत्वात् । किञ्चास्मिन्नपि वक्रलक्षणे गुणादिष्वपि सूक्ष्मापृथक्त्वगुणयोः प्रतीतेः कथं नातिव्याप्तिः ।

तथाप्यतिव्याप्तिरित्याह—मैवं तत्रैवेति । किं गुणवत्त्वात्यन्ताभावोऽनेकः किं वैकः । एकत्वे तावदाहस्योपि हीति । योपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावः, सोपि हि स्वस्यानधिकरणमेव, स्वस्मिन्स्वावृत्तेरिति । नच प्रमेयत्वादिवक्त्रेवलान्वयित्वं येनाधुनिकनीत्यापि स्मृत्यतिता स्यात् । केवलान्वयित्वे च भ्रमं द्रव्यलक्षणमिति भावः । अनेकलपक्षमुद्वाह्य दूषयति—अधानेकत्वादित्यादिना ।

अत्र तावत्प्रतियोगिमेदादभावभेदो वक्तव्यः, नह्यभावस्य स्वतो भेदोऽस्ति, निर्विशेषत्वात्, तथाच गुणवत्त्वभेदो वक्तव्य इति स्थिते विकल्पयति—किमेकैकैत्यादिना । रूपादिगुणानां मध्ये यदेकैकगुणवत्त्वं तत्प्रतियोगिकोऽत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वा उत चतुर्विंशतिगुणैर्यानि चतुर्विंशतिगुणवत्त्वानि तेषां योऽत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं चेत्यर्थः । प्रथमेपि किं नियतस्य कस्यचित् अत्यन्ताभावानधिकरणत्वमनियतस्य वा । नियमपक्षे दूषणमाह—रूपादीनामिति । रूपात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे वाप्यादिष्विद्विरेवमितरत्रापीति भावः । सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वपक्षं दूषयति—सर्वेति । सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं तत्प्रतियोगिसर्वगुणाधिकरणत्वे सति स्यात्, नचैतदस्ति । नहि तदस्ति किंविद्व्यं यच्चतुर्विंशतिगुणाधिकरणमिति असंभव एव लक्षणस्येत्यर्थः । अनियतपक्षं शङ्कते—अथेति । किमन्यतमशब्देन प्रत्येकं समुदितं वा विहायान्यस्य कस्यचिन्निर्देशः उतैतयोरेवान्यतरसोभयस्य वा । नायः । तथाविधस्य तस्य नियमेनादर्शनात्, उत्तरत्र दूषणमेव दूषणमित्याह—अन्यतमशब्देनेति । अथ भावत्वे इति गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमित्युच्येत । तन्न । रूपादावतिव्याप्तेर्वैश्यमाणत्वात् । ननु संयोगालन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे को दोषः । तदत्यन्ताभावस्यैकत्वे तस्मिन्नेवातिव्याप्तिः, अनेकत्वे पुनः किमेकैकसंयोगालन्ताभावः सर्वसंयोगालन्ताभावोऽन्यतमसंयोगालन्ताभावो वेति विकल्पैरन्मूलनात् । एतेन निनागपरिमाणसूक्ष्मापृथक्त्वरपि लक्षणनिश्चितप्रत्याशानवकाशीकृता चेदित्यया । किंचैवं विवक्षायामपि न पूर्वाप्यातिव्याप्त्युपशम इत्याह—किंचेति ।

१ गुणे गुणानतीकारादिति भावः । २ एकैकत्वमत्यन्ताभावविशेषणम् । एवमग्रे सर्वत्वमपि इति टीकाभिः ; रीतोऽन्यर्थः संभवति । ३ यत्किञ्चिद्गुणालन्ताभावाधिकरणत्वस्य सकलगुणालन्ताभावाधिकरणत्वस्य च द्रव्ये साधनेऽप्येव । ४ एकं रूपं रसापृथगित्याकारिकाया इत्यर्थः । ५ गुणवत्त्वात्यन्ताभावस्य द्रव्येऽपि सत्त्वतीकारपृथक्त्वरिति भावः । ६ सर्वगुणालन्ताभावप्रतियोगीत्यर्थः । ७ प्रत्येकसमुदितयोरित्यर्थः । ८ भावत्वविशेषणेन गुणवत्त्वात्यन्ताभावोऽतिव्याप्तिर्न भवतीति भावः । ९ संख्यादिमतीति शेषः । १० एकैकत्वसर्वत्वान्यतमत्वानि अत्यन्ताभावविशेषणम् । ११ विभागालन्ताभावानधिकरणत्वादिरूपेलादिः ।

नच प्रशस्तपादभाष्यं मनुवचनं, येन निर्गुणता गुणादीनां प्रामाणिकी स्यात् । नच मन्तव्यं गुणेष्वपि गुणाभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसक्तेः सङ्ख्यापृथक्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति । रूपादिषु तदभ्युपगमेपि सङ्ख्यापृथक्त्वयोस्सङ्ख्यापृथक्त्वान्तरानभ्युपगमेनैवानवस्थापरिहारात् । यथा भवतां सर्वन्धे संबन्धान्तरमङ्गीकुर्वतामपि समवाये तदनभ्युपगमादेवानवस्थापरिहारः । द्रव्यगतसङ्ख्यापृथक्त्वाभ्यामेव तदेकार्थसमवायलक्षणप्रत्यासत्त्या गुणादिष्वपि तद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था तत्कल्पनेति चेन्मैवम् । विपर्ययस्यापि सुवचत्वात् । अथ गुणानामनेकत्वेपि द्रव्यस्यैकत्वदर्शनात्कथं गुणसङ्ख्याया द्रव्ये तद्व्यवहारः । तर्हीहापि माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमिति न दीयते दृष्टिः । नवैव द्रव्याणि चतुर्विंशतिगुणा इति सङ्ख्यावैपण्यात् । अथावान्तरद्रव्यसङ्ख्यासंभवनिमित्तोयं व्यवहारः । तर्ही परार्द्धसङ्ख्याव्यवहारोपि गुणेषु स्यात्, द्रव्येषु तत्संभवात्, द्रव्यगतसत्तासामान्यादिभि-

यत्तु प्रशस्तपादवचनाभिर्निर्गुणत्वं गुणानामुक्तं, तत्राह—नच प्रशस्तेति । अत्र किरणावलीकारः प्राह—‘समानजातीयगुणामावस्तावदनवस्थाप्रसङ्गात्, रूपादौ रसादिवैगैन्तभावे मूर्तत्वप्रसङ्गात् । व्युत्पादीना च प्रति-सन्धानात्रात्मगुणत्वेन व्यवस्थितेरप्रसक्तिरेव, शब्दस्य नभोनियमात्, गुणेषु गुणयोगे च समवायिकारणत्वप्रसक्तौ द्रव्यत्वापत्तेर्गुणत्वव्याघातः, एवं रूपावयवि रूपेष्वेव वर्तते इति घटादेर्निरूपत्वप्रसङ्ग इत्यादि, एवं निर्गुणत्वे निष्क्रियत्वे च रसादयो गच्छन्ति चतुर्विंशतिगुणा महान्शब्द इत्यादयो व्यवहारास्तदेकार्थसमवायादिना साध-म्येण गौणैः समर्थनीया’ इति । तदेतदाशङ्का दूषयति—नच मन्तव्यमिति । अनवस्थाग्रहणं तदुक्त्वाः धकान्तराणामभ्युपलक्षणम् । नच मन्तव्यमित्युक्तं, तत्र हेतुमाह—रूपादिष्विति । अयमर्थः । सर्वं सजातीयगुणाङ्गीकारेऽनवस्था, विजातीयसंख्यापृथक्त्वयोराश्रयणे किं बाधकम् । नच समवायिकारणत्वप्रस-क्तिर्नाधिका । इष्टत्वात्संख्यादिसमवायिकारणत्वस्य । अतएव द्रव्यत्वप्रसक्तिरपि नानिष्टाय । कथं च द्रव्य-रूपप्रसक्तिः, यदि हेतुद्रव्यलक्षणं स्यात्, स्याद्द्रव्यत्वप्रसङ्गः, तदेव त्वयापि न निर्णीतम् । नच रूपाधारत्वत्वे सङ्ख्याया रूपादिदृष्टित्वात्तत्र द्रव्ये संख्या स्यादिति नचनीयम् । गुणेषु पर्यवैयोगस्य तुल्यत्वात्, प्रत्येयसा-भ्याच्च । यथा तु तन्तुशौक्ल्यव्यतिरेकेण पटेपि शौक्ल्यमङ्गीक्रियते प्रतीतिवलात्, एवमत्रापि सङ्ख्याद्वयं किं न स्यात् । नच सङ्ख्याया सङ्ख्यान्तरस्वीकारादनवस्थाप्रसक्तिः । तत्र पृथक्त्वस्वीकारात् पृथक्त्वे च सङ्ख्या-स्वीकारादिति, भवदुरीकृताचेयं रीतिरित्याह—यथा भवतामिति । अन्ययोपपत्तिं शङ्कते—द्रव्यग-तेति । द्रव्यगतसङ्ख्यादिप्रतीतेरपीयं समाना गतिरित्याह—मैवमिति । गुणगतसङ्ख्याया द्रव्ये संख्याप्र-तीतिरसक्योपपादना । गुणानामनेकत्वेपि तदाश्रयद्रव्यस्यैकत्वात्, अन्यथा आश्रयद्रव्यस्यानेकत्वप्रसङ्गा-दिति शङ्कते—अथ गुणानामिति । एयानुपपत्तिरत्रापि तुल्या । यदि हि द्रव्यसङ्ख्यायैव गुणेषु संख्या स्यात्तदा द्रव्याणां नवसङ्ख्यावत्त्वादतिरिक्तगुणा न भवेयुरिति परिहरति—तर्हीति । नन्वान्तरद्रव्येषु चतु-र्विंशतिगुणासङ्ख्यावत्त्वनिमित्तो व्यवहार इति शङ्कते—अथावान्तरैति । तर्ही चतुर्विंशतिलनियमः कि-कृतः, अधिकसङ्ख्यानामपि द्रव्येषु विद्यमानत्वात् । नच चतुर्विंशतिजातिनिमित्तं चतुर्विंशतित्वम् । जातेरेव चतुर्विंशतितात्त्विकसंभवादित्यभिप्रेत्य परिहरति—तर्ही परार्द्धेति । अतिप्रसङ्गं चाह—द्रव्यगतेति । तदेवं

- १ संयोगात्मके इत्यर्थः । २ द्रव्यघटितं यत्समवायसंबन्धावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं तदात्मकसंबन्धेनेत्यर्थः ।
- ३ गुणगतसंख्यापृथक्त्वाभ्यामेव द्रव्ये संख्यापृथक्त्वव्यवहार इत्येव वैपरीत्यस्येत्यर्थः । ४ संख्यापृथक्त्वाद्दौ संख्यापृथक्त्वादिस्वीकारे इति भावः । ५ रसादेवैगैन्तस्य गुणगणस्य सत्त्वे इत्यर्थः । ६ आत्मनोऽप्यत्रेति शेषः ।
- ७ अप्रसक्तिरेवेति समर्थयते । ८ गुणस्य समवायिकारणत्वापत्तौ सत्यात् । रूपावयविति कर्मापारयः । ९ समवाय-संबन्धावच्छिन्नसामानाधिकरण्यरूपसाधन्यमादाय शब्दे महत्त्वारोप इति भावः । १० संख्याया द्रव्यारण्यत्वे द्रव्यदृष्टित्वात्तत्र गुणे संख्या स्यादिति पर्यवैयोगस्येत्यर्थः । ११ द्रव्यगुणयो संख्येत्यादिः । १२ संख्याभेदक पृथक्त्व-मेव न तु संख्या । एवं पृथक्त्वभेदिकासंख्येव न तु पृथक्त्वमिति स्वीकारादिति भावः । १३ गुणगतेत्यादिः । १४ पञ्चकारोऽप्यर्थः ।

रेव गुणकर्मणोरपि सव्यवहारोपपत्तौ तत्र संज्ञासामान्यकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेन सम-
वायिकारणं द्रव्यमित्यपास्तम् । जातमात्रस्य तदभावात्, तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य चात्-
न्ताभावे एव व्यभिचारात्, रूपादिगुणानामपि सङ्ख्यापृथक्त्वसमवायिकारणत्वसंभवात् ।

अस्तु तर्हि द्रव्यत्वजातियोगित्वं द्रव्यलक्षणम् । न । यतः 'द्रव्यत्वजातियोगित्वमपि
नो द्रव्यलक्षणम् । तज्जातिव्यञ्जकाभावात्तन्मानस्यानिरूपणात्' ॥५॥ द्रव्यत्वं जातिमभ्युप-
गच्छता तज्जातिव्यञ्जकं किञ्चिदवश्यमभ्युपेयं, नच तन्निरूपणं सुशकम् । गुणविशिष्टस्य
तद्व्यञ्जकत्वे विशेषणभूतस्य गुणस्यापि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वापत्तेः, रूपादीनामपि सङ्ख्या-
दिगुणवतां तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्गाच्च । एतेन समवायिकारणस्यापि तद्व्यञ्जकता
निरस्ता । स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्वं व्यञ्जकमिति चेत्, किमिदं स्वातन्त्र्यं, किमाश्रयप्रती-
तिमन्तरेण प्रतीतियोग्यत्वमुतानाश्रितत्वमेव । नाद्यः । शब्दादेरपि तत्संभवात् । न द्वि-
तीयः । अवयविनामद्रव्यत्वापत्तेस्तेषामवयवाश्रितत्वात् । तदेवं न व्यञ्जकं द्रव्यत्वजातेः ।
नापि प्रमाणमस्ति । द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगतप्रत्ययः प्रमाणमिति चेन्न, सुवर्णमुपलभ्य सृति-
कामुपलभमानस्य लौकिकस्य तदेवेदं द्रव्यमिति प्रत्ययाभावात्, परीक्षकाणां चानुगत-

“क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यमिति” काश्यपसूत्रोक्तलक्षणेपु गुणवत्त्वलक्षणं दूषयित्वा तदीयलक्षणान्तरेपि
सदेव दूषणमतिदिशति—एतेनेति । अतिदिश्यमानाव्याप्त्यतिव्याप्ती विशदयति—जातमात्रस्येति ।

लक्षणान्तरं शङ्कते—अस्तु तर्हि । जातियोगित्वं गुणकर्मणोरप्यस्तीति द्रव्यत्वप्रवृणुम् । नियतव्यञ्ज-
कप्रमाणयोरभावाद्द्रव्यत्वजातिरेवासिद्धा, ततस्तद्गुणलक्षणमप्यसिद्धमिति श्लोकेन दूषयति—द्रव्यत्वेति ।
तज्जातिव्यञ्जकाभावादित्येतद्विद्वृणोति—द्रव्यत्वं जातिमिति । नच व्यञ्जकनियमो नास्तीति युक्तम् । तथा-
सति किं स्वया दृष्टं किं वा श्रुतमिति पृष्टे, न जानामि दृष्टं श्रुतं वेति, ज्ञातं तावदिति प्रत्यक्षत्वाद्वा सन्देहम् ।
नच व्यञ्जकस्फुरणव्यतिरेकेण संदेहकारणं तत्रास्ति । ज्ञानस्याश्रयभूतस्य मानसप्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वात् ।
तस्माज्जातिमिच्छता नियतव्यञ्जकं वक्तव्यमेव । तत्र किं गुणवत्त्वं तद्व्यञ्जकं, समवायिकारणत्वं वा, स्वातन्त्र्येण
प्रतीतियोग्यत्वं वा । नाद्य इत्याह—गुणविशिष्टस्येति । तद्व्यञ्जकतयेति । द्रव्यत्वजातिव्यञ्जकत्वे-
त्यर्थः । यस्य हि विशेषणाद्यनतिरिक्तं विशिष्टं तस्यायं दोषः, यस्य त्वतिरिक्तं तस्य घटादिव्यञ्जकत्वस्य
पातः । तन्मात्रस्य विशिष्टताभावादित्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयं दूषयति—एतेनेति । तत्र हि समवायि-
विशिष्टस्य कारणस्य तद्व्यञ्जकत्वे समवायस्यापि तद्व्यञ्जकत्वाद्भवत्प्रसङ्गः । सङ्ख्यादिसमवायिकारणत्वाद्गुण-
कर्मणोरपि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । तृतीयं शङ्कते—स्वातन्त्र्येणेति । शब्दादेरपीति । शब्द-
वायुस्पर्शस्य रसगन्धयोश्चेति गुणानामेवाश्रयप्रतीतिनिरपेक्षप्रतीतीनां स्वातन्त्र्यसमवेन तद्व्यञ्जकतया द्रव्य-
त्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । अवयविष्वङ्गाप्तिः, तेषामप्यवयवप्रतीतिव्यतिरेकेणाश्रित्येतिरिति केचित् । शनाश्रित-
स्वातन्त्र्यमिति द्वितीयं दूषयति—न द्वितीय इति । अवयवाश्रितावयविनां स्वातन्त्र्यभावेन द्रव्यत्वम-
ञ्जकत्वात्तत्र तज्जात्यभावेनाद्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । तन्मानस्यानिरूपणादित्येतद्विद्वृणोति—नापि प्रमाण-
मिति । तत्र प्रमाणं प्रत्यक्षं शङ्कते—द्रव्यं द्रव्यमिति । अनुगतप्रत्ययवेदीयं हि सामान्यम् । अत्र
धात्रानुवृत्तप्रत्यय इत्यर्थः । अत्र किं तदेवेदमिति युज्या ज्ञातिविद्धिः, किं वैकारप्रत्ययमात्रात् । प्रपने
लौकिकानामियं युद्धिः परीक्षकाणां वा । नाद्य इत्याह—न सुवर्णमिति । द्वितीये प्राह—परीक्षकाणां-

१ प्रथमशब्दे गुणाद्युपपत्तेरभावेनेति दोषः । २ समवायिकारणत्वात्त्वान्ताभावे इत्यर्थः । ३ ज्ञाने प्रत्यक्षप्रमाण-
विषयकः संज्ञादः कल्पविद्वेदीत्यर्थः । ४ हृदो वह्निमान् जल्पान् वा इति विश्वकामादयद्वेदीकृतसंज्ञास्यति शोभते-
मिर्वाणितत्वात् । ५ प्रत्यक्षप्रमाणशब्दान्वयतरेत्यादिः । ६ निर्वचनपीतिव्योक्तत्वं च शब्दादिगुणवत्त्वस्य च शब्दादिगुणवत्त्वस्य च
शब्दादीनामपि द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । ७ शास्त्रप्रमाणशब्दादि भावः ।

प्रत्यये विप्रतिपत्तेः । रत्नतत्त्वमिवोपदेशसहकृतप्रत्यक्षेणैव द्रव्यत्वमीक्षत इत्यपि स्वशिष्य-
धीवन्धनमेव । रत्नतत्त्वस्येव जातेः सर्वपरीक्षकासंमतत्वात्, धर्माधर्मयोरदृष्टत्वजातेरभ्यु-
पगमप्रसङ्गाच्च । अदृष्टमदृष्टमित्युभयोरप्यनुगतप्रत्ययदृष्टेः ।

यदपि लीलावतीकारमतम्, आकाशकालदिशः सत्तेतरजातिमत्यः संयोगविभागजन-
कत्वात्कर्मवत् । नच कर्मत्वमप्रसिद्धम् । चलतीत्यनुगतप्रत्ययवेद्यत्वादिति । तदपि मन्दम् ।
कर्माप्रत्यक्षवादिनां चलतीति प्रत्ययस्य संयोगविभागप्रवाहविषयतया कर्मविषयतानङ्गी-
कारात्कर्मत्वासिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् । आत्मा शौबलेयवृत्त्यवृत्तिशाबलेयनि-
ष्ठजातिमान्संयोगित्वाच्छाबलेयवत् । जलादेश्च पक्षतुल्यत्वाच्च तेन व्यभिचारः । तथा,
सत्ता दिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वात्पटवत् । आत्माऽनात्मवृत्तिरूपावृत्तिजाति-
मान् रूपान्यत्वे सति सामान्यवत्त्वाद्वटवदिति द्रव्यत्वजातिसिद्धिरिति चेत् । मैवम् ।
संयोगित्वहेतोर्वैगवत्त्वोपाधिहतत्वात् । मेयत्वहेतोश्च सत्तामनङ्गीकुर्वतामाश्रयासिद्धेः ।

मिति । यत्तु श्रीवल्गुमेनोक्तं “जातिसमवायस्य रत्नतत्त्ववद्भावादिति” तं प्रत्याह—रत्नतत्त्वमिवेति । यत्तु-
तेनोक्तं “प्रतारणैवेति चेन्न, रत्नशास्त्रेपि प्रतारणप्रसक्तेरिति” तत्र रत्नतत्त्वे वैषम्यमाह—रत्नतत्त्वस्येवेति ।
द्वितीये दूषणमाह—धर्माधर्मयोरिति । यदि हेकाकारबुद्धिमात्राज्जातिसिद्धिर्त्वाहं धर्माधर्मयोरप्यदृष्टम-
दृष्टमित्येकाकारबुद्धेरदृष्टत्वं नाम जातिः स्यात्, नचैतदिष्टम्, अनुगतजातिव्यञ्जकाभावादित्यर्थः ।

एवं प्रत्यक्षं निरस्यानुमानमपि द्रव्यत्वजाती निरस्यति—यदपीति । जातिमत्य इत्युक्ते सत्तया सिद्धसा-
धनत्वं तन्निवृत्त्यर्थं सत्तेतरेत्युक्तम् । तथाचाकाशत्वादेरभावाद्द्रव्यत्वजातिसिद्धिरित्यर्थः । अत्र च संयोगजन-
कत्वं संयोगप्रागभावस्याप्यस्ति एवं विभागप्रागभावस्यापि विभागजनकत्वमस्तीति तद्यभिचारपरिहारायोभ-
यजनकत्वादित्युक्तं, हेतुद्वयं वाच्यं निवक्षितम् । दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं स एव परिहरति—नचेति ।
अत्र प्रभाकरमते दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमाह—तदपि मन्दमिति । किंच कालाकाशदिशः
सत्ताद्रव्यत्वातिरिक्तजातिमत्यः संयोगविभागजनकत्वात्कर्मवदित्यनुमानसम्भवादाभाससमानयोगक्षेमात्मम् ।
विपक्षबाधकाभावाच्च शङ्कितप्रयोजकमित्यपिना सूचितम् । द्रव्यत्वजातावनुमानान्तराणि शङ्कते—
आत्मेत्यादिना । शाबलेयनिष्ठजातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता तदर्थं शाबलेयवृत्त्यवृत्तीत्युक्तम् ।
तस्याश्च शाबलेयवृत्तित्वे सति शुण्णकर्मणोरपि वर्तमानत्वाद्यवच्छेदः । तावन्मात्रोक्तावात्मत्वेन
सिद्धसाधनता तदर्थं शाबलेयनिष्ठेत्युक्तम् । तथापि शाबलेयात्मवृत्तिसिद्धिर्वादिधर्मरथान्तरता तदर्थं जाति-
ग्रहणम् । दृष्टान्ते गोत्वेन साध्यप्रसिद्धिः । पक्षे च तथाघातादुभयनिष्ठद्रव्यत्वसिद्धिः । ननु संयोगित्वमस्ति
जलादौ नास्ति चैवविधा जातिरिति तत्राह—जलादेरिति । द्वितीये तु जातेरन्येत्युक्ते घटत्वान्यत्वे-
नार्थान्तरता तदर्थं दिक्कालाकाशनिष्ठेत्युक्तम् । तावत्युक्ते तनिष्ठगुणान्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थं जातिग्रहणम् ।
अत्रचानुमानत्रयसूचनाय तथेति ग्रहणम् । इतरथा वैषम्यमिति या सा दिगादिनिष्ठा जाति तद्रव्यत्वमिति
द्रव्यत्वजातिसिद्धिः । तृतीये तु जातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता तदर्थं रूपावृत्तीत्युक्तम् । तावति चात्म-
त्वेनार्थान्तरता तदर्थं अनात्मवृत्तीत्युक्तम् । रूपान्यत्वेनार्थान्तरतापरिहाराय जातिग्रहणम् । रूपेऽनैकान्तिरु-
तापरिहाराय रूपान्यत्वे सतीत्युक्तम् । रूपलानधिकरणत्वे सतीत्यर्थः । सामान्यादिषु व्यभिचारवारणाय
सामान्यवत्त्वग्रहणम् । तत्राद्यहेतोर्व्याप्यत्वासिद्धिमाह—मैवं संयोगीति । द्वितीयानुमानं दूषयति—

१ टीकाधृतलीलावतीपाठपर्यालोचनया ब्रह्मनमिति पाठः शोभनी भाति । २ शबलायाश्चिन्नाया गोरपला वत्सः
शाबलेयः । शाबलेयवृत्तिरूपादिरेऽवृत्तिः शाबलेयनिष्ठा जातिद्रव्यत्वरूपा साध्यम् । ३ जलादौ साध्यस्यासाधितत्वेन
तत्र व्यभिचाररहा । समाधानाशयस्तु जलादेः पक्षतुल्यत्वेन तत्र व्यभिचारसंशयस्य साध्यसंशयपर्यवसायितया पक्षता-
सपादनोपयोगित्वेनानुमिलाप्रविरोधित्वाददूषणत्वमिति । ४ एकव्यक्तिवृत्तित्वेन जातिस्वभावादित्यर्थः । ५ भावत्व-
विशेषणेन तादृशव्यभिचारपरिहारे भाद । ६ शाबलेयवर्तिनोदिति शेषः ।

दिक्कालाकाशनिष्ठजातित्वेन तस्या एव विवक्षितत्वे चाप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च । प्रमेयत्वगुणवत्त्वज्ञानाधारत्वोपाधिभिरेव यथायोग्यं सद्रव्यमात्मेति व्यवहारोपपत्तौ तत्तत्सामान्यस्वीकारवैयर्थ्येन सामान्यवत्त्वहेतोरप्यसिद्धेः ।

तदेवं जातौ व्यञ्जकप्रमाणयोरसंभवेनाकाशवृत्तिसत्ताव्याप्यजातियोगि क्रियासमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि संयोगवद्बृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि द्रव्यमित्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि महाविद्यालक्षणानि निरस्तानि वेदितव्यानि ।

मेयत्वेति । नचाजातिरूपस्यापि पक्षत्वान्नाश्रयासिद्धिः । दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । किंच दिक्कालाकाशनिष्ठजालन्यत्वं किं सत्तान्यत्वेन किं वा द्रव्यत्वान्यत्वेन । उभयथाप्यप्रसिद्धविशेषणः पक्षः । तत्र प्रथमे व्याप्ताच्चरभेऽसिद्धेरित्याह—दिक्कालेति । सत्ता गुणवृत्तिदिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वादित्यपि संभवाद्भाससमानता चेति द्रष्टव्यम् । तृतीयहेतोः स्वरूपासिद्धिमाह—प्रमेयत्वेति । अयमभिसन्धिः । तिसृभिस्त्रयं जातिभिरात्मनः सामान्यवत्त्वमभिमर्तं, तासु च न किञ्चित्प्रमाणमस्ति, अनुवृत्तप्रत्ययस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वात्, अनुमानस्य चैतद्दृशत्वात् । अस्तुवानुवृत्तव्यवहारस्तथापि प्रमेयत्वादितत्तदुपाधिनिरेवायं व्यवहारः शक्यसमर्थनः । नच प्रमेयत्वस्य सत्तात्वे चाक्षुषत्वं न स्यात्, प्रमाविषयत्वस्याचाक्षुषत्वादिति वचनीयम् । सामान्यत्वेप्यचाक्षुषत्वस्य तदवस्थत्वात् । स्वरूपसद्विशेषो हि सामान्यं नाम । नच प्रमेयत्वातिरिक्तं स्वरूपसत्त्वमस्ति । रूपैकार्थसमवायाचाक्षुषत्वमितरत्रापि तुल्यम्, अभावत्वं तु प्रमेयत्वादेः शपथसाध्यमिति, यानि च महाविद्यानुमानानि द्रव्यत्वजातौ प्रवर्तन्ते तान्यपि परमाणुनिराकरणवादे निवेदनीयदूषणदूषितानीति नोदाहृतानि आचार्येण ।

तदेवं व्यञ्जकप्रमाणयोरसिद्ध्या द्रव्यत्वजातेरसिद्धौ तत्पुरस्कारेण यानि शिवादित्यमित्येव लक्षणानि लक्षणमालायामुक्तानि तान्यपि निरस्तानीत्याह—तदेवमिति । अत्र चाकाशवृत्तौत्वाद्येकं लक्षणं, क्रियासमानाधिकरणेत्याद्यपरं, संयोगवद्बृत्तौत्वादिलक्षणान्तरम् । तत्र सत्ताव्याप्यजातियोगिद्रव्यमित्युक्ते गुणादावतिव्याप्तिगुणत्वकर्मत्वादीनामपि सत्ताव्याप्यत्वात्तदर्थमाकाशवृत्तौत्त्युक्तम् । तावत्युक्तेपि गुणादावतिव्याप्ति, तेषामप्याकाशवृत्तिसत्ताजातियोगित्वात्तदर्थं सत्ताव्याप्येत्युक्तम् । आकाशगुणान्यान्यत्वमित्याद्याकाशवृत्तिसत्ताव्याप्यान्योन्याभावादिरूपधर्मयोगिगुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय जातिप्रहणम् । द्वितीये सत्तावान्तरजातियोगित्युक्ते गुणादावतिव्याप्तिः, तदर्थं क्रियासमानाधिकरणेत्युक्तम् । तावति च सत्तायुक्तगुणादावतिव्याप्तिः स्यात् तदर्थं सत्तावान्तरेत्युक्तम् । अत्र च सत्तासाक्षाद्याप्यत्वं सत्तावान्तरत्वम् । अनेन न षट्त्वादिकमादव्याप्तिसम्भवं । तृतीयेपि गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय संयोगवद्बृत्तीति विशेषणम् । सत्तामादाय गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय सत्तावान्तरप्रहणम् । आदिप्रहणेन जातिमन्निष्ठाल्यन्ताभावप्रतियोग्यैकाशवृत्तिजातियोगित्वं कार्यसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्याधिकरणं वा रूपसमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि वा स्पर्शसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्याधिकरणं वा रससमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्याधिकरणं वेत्यादीनि लक्षणानि संघृहीतानि । महाविद्यालक्षणानीति । महाविद्यारित्या प्रवृत्तानीत्यर्थः । द्रव्यलक्षणरूपहेनेन च तद्विशेषपृथिव्यादिलक्षणान्यपि यच्छ्रुतानि वेदितव्यानि । सामान्याभावे तद्विशेषस्य सुतरामसंभवात्, तल्लक्षणानामपि जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तत्वाच्च । गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वान्तरजातिमती पृथिवीत्यादिरूपाणि हि तानि, तत्र द्रव्यत्वजातौनेन तद्वान्तरत्वमपि दूषितमेव । प्रदर्शयिष्यते च जातिमात्रस्य रण्डनं, ततोपि तद्वर्भाणि लक्षणानि दुर्मंगानि । यादीन्द्रस्तु एतानि लक्षणानि दूषयित्वा स्वमतेन कार्यार्थयो द्रव्यं गुणाश्रयो द्रव्यमित्यादिलक्षणान्युदाहरणानि च तदर्थं निरस्तप्रायाणीति ।

१ एतदनुमानात्प्रागद्वयत्वस्याप्रसिद्धत्वेन तदन्वयवस्याप्यसत्ताकमप्रसिद्धत्वात् । २ साध्याप्रसिद्धेरित्यर्थः । तदर्थेन पादपति किञ्चिदिति । ३ निरुक्तदूषणप्रसङ्गादित्यर्थः । ४ सत्ताया इति शेषः । ५ अत्र सत्ताव्याप्यं सत्ताव्यवृत्तिरूपं च एवम् । तेन सत्तामादाय जातिव्याप्तिताद्वारणम् । ६ आकाशगुणाभ्यां यदन्वयवत्त्वमित्यर्थः । ७ प्रतियोग्यतं जातिविशेषणम् ।

तथा गुणलक्षणमपि न युक्तं लक्षयामः । 'सामान्यवानगुण इत्याद्यप्यस्य न लक्षणम् । अन्योन्याश्रयतापत्तेर्गुणस्याद्याप्यसिद्धितः' ॥ ६ ॥ "सामान्यवानगुणः संयोगविभागयोर्निरपेक्षो न कारणं गुण" इति कंदलीकारस्य गुणलक्षण तावदयुक्तम् । सिद्धे गुणे अगुण इति लक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च गुणसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वद्रूपणप्रस्तत्वात् । यत्तु लीलावतीकारेणोक्तं, "सामान्यवानचलनात्मकं समवायिकारणताहीनो गुण" इत्यपि न । रूपादीनामपि समवायिकारणत्वस्य दर्शितन्यायेन संभवात्तद्धीनतालक्षणस्य लक्षणांशस्यासभावितत्वात् ।

सामान्यवान्स्पर्शरहितो द्रव्याश्रयः कर्मातिरिक्तो गुण इत्यपि न । गुणात्कर्मणो भेदासिद्धौ कर्मव्यावृत्तेरयुक्तत्वात् । अन्यथा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्त इत्यपि विशेषणोपादानप्रसङ्गात् । तथाच गुणपदार्थे किरणावलीकारस्त 'स्माद्धरो भूपणः कर्मापि गुणस्त-

न्येतावतापि न नानालक्षणवत्त्वेन भेदासिद्धि, गुणलक्षणवत्त्वमेदसिद्ध, गुणलक्षणानामक्षीणत्वात्तदर्थं तान्यपि यण्डयति—तथा गुणलक्षणमपीति । तत्र 'द्रव्याश्रयी न गुणवान् संयोगविभागेष्वकारण निरपेक्ष' इति गुणलक्षणपर सूत्रम् । तदर्थतया च कदलीकाराद्यमितलक्षण तावद्बुध्यति—सामान्यवानित्यादिना । अन्योन्याश्रयतायामेव हेतु, गुणस्येति । यदि हि गुणो ज्ञात स्यात्तदा गुणरहितचक्षान स्यात्, स चैतल्लक्षणव्यतिरेकेण नाद्यापि सिद्ध । एतल्लक्षणेन सिद्धवान्योन्याश्रयतेत्यर्थ । श्लोक विवृणोति—सामान्येत्यादिना । सामान्यादिव्यावृत्त्यर्थं सामान्यवानिति विशेषणम् । द्रव्यव्यवच्छेदायागुण इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदाय संयोगविभागोलादिविशेषणम् । संयोगविभागयोर्हि निरपेक्षकारण कर्म तन्नभवति यत्स गुण इत्यर्थ । वाचीन्द्रस्तु पृथक्त्वानाश्रय सल्लयानाश्रय संयोगकारणत्वे सति विभागनिरपेक्षकारणत्वरहितो गुण इत्यादिप्रलयादीन् । तन्न । सल्लयापृथक्त्वावाश्रयत्वस्य पूर्वमेवोपवर्णनात् । अन्योन्याश्रयतापरिहाराय श्रवणनीयलक्षणमनुवदति—यत्त्विति । उक्तं च वैधर्म्यपरिच्छेदे इति शेष । अत्रापि सामान्यादिव्यावृत्त्यै सामान्यवानित्युक्तम् । द्रव्यव्यवच्छेदाय समवायिकारणताहीन इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदायाचलनात्मक इत्युक्तम् । तत्र 'कार्यं यत्र समवैति तत्समवायिकारणमिति' परेषा समवायिकारणलक्षण, तच्च पूर्वोक्तन्यायेन पृथक्त्वादि प्रति गुणादेरप्यस्तीत्यसंभव इत्यर्थ । एतेन केवलनिमित्तकारणे वर्तमानापरजातीयत्व वा समवाय्यसमवायिकारणतारहिते वर्तमानापरजातीयत्व वेति मानमनोहरकारोचलक्षणमपि परिभूत मन्तव्यम् । उक्तन्यायेन सर्वगुणानामपि पृथक्त्वादिसमवायिकारणतया केवलनिमित्तकारणत्वसमवायिकारणत्वरहितत्वयोरभावादिति ।

किरणावलीय लक्षण द्रूपयति—सामान्यवान्स्पर्शरहित इत्यादिना । कर्मातिरिक्त इत्युक्ते द्रव्ये ऽतिव्याप्तिस्तदर्थं द्रव्याश्रय इत्युक्तम् । तथापि कार्यद्रव्याव्यावृत्तिस्तदर्थं स्पर्शरहित इत्युक्तम् । यदि गुणाद्भेदेन कमज्ञान स्यात्कर्मातिरिक्तता गुणस्य ज्ञायेत, नचैतदस्ति, गुणानिर्णये तद्व्यतिरेकस्यापि कर्मणो ज्ञातुमशक्यत्वात्, एतल्लक्षणेन च गुण निश्चित्य ततोतिरिक्त कर्म ज्ञात्वा तदतिरिक्तत्वविशेषणज्ञान वाञ्छतश्चक्रुपापतिरित्य भिसन्धिराह—गुणात्कर्मण इति । यदि गुणाद्भेदात्तमेदादपि कर्मण सकाशादतिरिक्तत्व सिद्धव्यपदिश्येत, तदा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्त इत्यपि किमिति न विशेषण क्षिप्यते लक्षणे । समान ह्युभयोरपि गुणाद्भातमे दत्व व्यतिरेकानर्हीकारण्य प्रतिवादिन इत्याह—अन्यथेति । उक्तध्यायमर्थो गुणपदार्थपूर्वपक्षोपसहारसमये किरणावलीकारेणोलाह—तथाचेति । यस्मान् कर्मणो भेदकमस्ति तस्माद्भूपणो धर श्रेष्ठ । कथं कर्मापि गुण, तल्लक्षणयोगादिति हि तन्मतमित्यर्थ । तस्माद्भादिन सकाशादिति धार्थं । एतेन कर्मव्यवच्छेदे सति

१ उक्तमिति चकाररहित पाठो भाति । २ ज्ञानेच्छादी केवलनिमित्तकारणे वर्तमाना गुणत्वरूपापरजातिमादाय समवय । एवमश्रेष्ठेऽपि । ३ भेदावधित्वात्पादानत्व गुणस्य । ४ गुणस्येति शेष । ५ यथा प्रतिवादिनो नैयायिकस्य गुणे कर्मातिरिक्तत्वव्यतिरेकानर्हीकारण्य तथा रूपातिरिक्तत्वव्यतिरेकानर्हीकारोऽपि समान इति भाव । ६ कर्मातिरिक्तत्वपदितलक्षणोक्तद्रूपणेन वक्ष्यमाणद्रूपणेन चेत्यर्थ ।

लक्षणयोगादिति । ननु गुणत्वजातियोगी गुणः, नच व्यञ्जकाभावः, सामान्यवस्वे सति संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वस्यैव गुणत्वव्यञ्जकत्वात् । नापि गुणत्वजातौ प्रमाणाभावः, संयोगः संयोगत्वातिरिक्तावान्तरजातिमान्, जातिमत्त्वात्कर्मवदिति तत्सिद्धिरिति चेदत्र ब्रूमः । 'गुणत्वजातियोगोपि न भवेद्गुणलक्षणम् । अन्योन्याश्रयदुष्टत्वाज्जातेस्तद्व्यञ्जकस्य च' ॥ ७ ॥ सिद्धे हि सत्तासामान्ये गुणत्वसामान्ये वा तद्विशिष्टव्यञ्जकसिद्धिस्तत्सिद्धौ च सामान्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयत्वात्, अनिष्टवियोगेष्टसंयोगेद्देशेनानुष्ठानसमुपजनितधर्मे संयोगविभागहेतौ लक्षणस्यासंभवेत्त्वात्, तथाभिचारादिजनितेदुरिते शत्रोरिष्टवियोगानिष्टसंयोगहेतौ च लक्षणस्यासंभवेत्त्वात् । नच तयोर्निमित्तत्वेनैव जनकत्वं ननु समवायिकारणतयाऽसमवायिकारणतया वेति वाच्यम् । आत्मनिष्टसंयोगविभागहेतोरदृष्टस्य कार्यैकार्यसमावायिनोऽसमवायिकारणलक्षणोपपत्तेः, समवायित्वासमवायित्वकारणभेदस्याद्याप्यसिद्धेश्च ।

नापि तत्र प्रमाणम् । जातिमत्त्वहेतोरसिद्धेः । कर्मत्वादेरसिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यवि-

सामान्यैकैश्रयो गुण इति सर्वदेवीयमपि लक्षणं प्रतिक्षिप्तम् । पृथक्त्वाद्याश्रयतया सामान्यैकाश्रयत्वसाधित्वे रिति । ननु गुणत्वजातिरेव नास्ति, तद्यञ्जकप्रमाणयोरभावादिति, तत्राह—नच व्यञ्जकेति । द्रव्यकर्मेणैव्यवच्छेदाय संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वमिस्त्युक्तम् । द्रव्यं हि संयोगविभागयोः समवायिकारणं भवति, कर्म त्वसमवायिकारणं गुणस्तु न तथा । यद्यपि संयोगविभागयोरस्ति तज्जनैकत्वं, तथापि संयोगजनकत्वे सति विभागजनकत्वरूपोभयजनकत्वं न संयोगस्यास्ति । संयोगस्य संयोगं प्रत्येवासमवायिकारणत्वात् । एवं विभागस्यापि विभागं प्रत्येव । अजनकत्वं च समवाय्यसमवायिकारणत्वराहित्यं, तेनेश्वरेच्छादिप्रसङ्ग इति नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति भावः । **संयोग इति** । संयोगो जातिमानित्युक्ते सत्तायार्थान्तरता तदर्थमवान्तरजातिमानिति कृतम् । तथाच संयोगत्वेनार्थान्तरता तदर्थं संयोगत्वातिरिक्तेत्युक्तम् । यासाववान्तरजातिलक्षणत्वमिति तत्सिद्धिरिति भावः । गुणत्वजातेस्तद्व्यञ्जकस्य चान्योन्याश्रयदुष्टत्वाद्गुणत्वजातियोगोपि गुणलक्षणं न भवेदिति श्लोकेन दूषयति—**गुणत्वजातियोगोपीति** । अन्योन्याश्रयं विशदयति—**सिद्धेहीति** । येन गुणत्वजातिर्नाद्रियते तेन सत्तापि जातिर्नाद्रियते एवेति तद्व्यञ्जकस्य तद्यद्यजातेष्विति सिद्धिरित्यर्थः । व्यञ्जकस्याव्यापकतां चाह—**अनिष्टवियोगेति** । संयोगविभागद्वयाजनकत्वं तत्रासंभेदीत्यर्थः । सत्तासामान्यमात्रं विवक्षित्वा अन्योन्याश्रयपरिहारमाशङ्क्य वायं प्रन्यः । ननु तदुभयासमवायिकारणत्वसमवायिकारणत्वयोरभावो लक्षणं विवक्षितम्, अस्ति चादृष्टस्यापि तदभावः, निमित्तकारणत्वात्सत्येति तत्राह—**नच तयोरिति** । समवायिकारणप्रत्यासन्नमवशृतसामर्थ्यमसमवायिकारणम् । प्रत्यासत्तिश्च द्विविधा लघ्वी बृहती च, उत्पायेन कार्येण सहैकार्थे कारणे स्वस्य यः समवायः सा लघ्वी प्रत्यासत्तिः, यथा तन्तुसंयोगस्य तत्कार्यस्य पटस्य चैकतन्तुसमवायः, तत्कारणेन सहैकार्थे समवायो बृहती, यथा पटगतशीर्षत्यासमवायिकारणस्य तन्तुशीर्षत्यस्य तत्कारणेन पटेन सहैकार्थं तन्तौ समवायः, तदत्र संयोगं प्रति विभागं प्रति च समवायिकारणे आत्मनि संयोगेन सह वर्तमानस्यादृष्टस्यास्ति लघ्वी प्रत्यासत्तिरित्यसमवायिकारणं भवायेवादृष्टीत्यर्थः । किंच यस्य द्रव्यगुणादिभेदमात्रमेवाद्याप्यसिद्धं तस्य समवाय्यसमवायिकारणविभागोपि न सिद्ध इत्याह—**समवायित्वेति** ।

एवं व्यञ्जकं दूषयित्वा नुमानं दूषयति—**नापीति** । दूष्यमाणसामान्यमात्रसम्बन्धेन सत्ताकर्मवत्त्वोरप्यसिद्धिरिति भावः । एतेन रूपाद्यो रूपत्वाद्यतिरिक्तावान्तरजातिमन्तः सामान्यव्यञ्जकत्वमपि न सिद्ध-

१ गुणत्वजातियुक्तैः । २ सामान्यमात्राश्रय इत्यर्थः । ३ अश्रयवनिष्ठसंयोगविभागयोरेव्यवच्छेदोपपत्तेः । ४ समवायित्वस्य । ५ सत्तावशेति निमित्तकार्यद्वयाजनकत्वस्य गुणत्वव्यञ्जकतामभिव्यक्त्याश्रयपरिहारेऽव्याप्त्यभिधानित्यर्थः ।

फलत्वात् । गुणत्वजातेरसिद्धौ संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणावृत्तिसंयोगासमानाधिकरणजातिमान्विभागजन्यविभागसमवायिकारणावृत्तिविभागसमानाधिकरणजातिमान्गुण इत्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि गुणलक्षणानि निरस्तानि ।

तथा, कर्मलक्षणमपि दुर्लक्ष्यम् । न तावत्संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्मेति । यतः—
'यथाश्रुतेऽसंभवित्वान्निरुक्तेरप्ययुक्तितः । नानपेक्षतया हेतुः कर्म योगविभागयोः' ॥ ८ ॥

तीकारानुमानमपि निरस्तम् । गुणः कर्मव्यावृत्तजातिमान्कार्यत्वात्तुरगवदिति सर्वदेवः, तदपि द्रव्यवजालन-
शीकारेण परिहृतम् । संयोगित्वाद्युपाधिदत्तत्वाच्च, प्रध्वंसेनानैकान्तं च, रूपादिनान्यन्तरत्वाच्चेति, यानि
शिवादित्यभिप्रेतं गुणत्वजातिगर्भाणि गुणलक्षणानि विवक्षितानि तान्यप्येकप्रद्वारेण परिहरति—गुणत्व-
जातेरित्यादिना । जातिमान्गुण इत्युक्ते द्रव्येतिव्याप्तिस्तदर्थं संयोगासमानाधिकरणेत्युक्तम् । एवं सति
कर्मेत्यतिव्याप्तिस्तदर्थं संयोगासमवायिकारणावृत्तित्युक्तम् । एवं च सति संयोगेऽव्याप्तिस्तस्य संयोगासमवा-
यिकारणत्वेन तदवृत्तिजातिमत्त्वस्यासंभवात् तत्र उक्तं संयोगाजन्येति, संयोगजन्यो यः संयोगस्तं
प्रत्यसमवायिकारणं यत्तदवृत्तिजातिमानित्यर्थः । एतच्च संयोगस्याप्यस्त्येव, तस्य संयोगजन्यसंयोगासमवा-
यिकारणत्वेपि संयोगाजन्यसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणत्वाभावात्संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणावृत्तिजाति-
मत्त्वसम्भवादतो नाव्याप्तिरिति भावः । द्वितीयेपि लक्षणे विभागविशेषेऽव्याप्तिपरिहाराय विभागजन्येति-
विशेषणम् । शेषं पूर्ववत् । आदिग्रहणेनापक्षेपणौत्तिसंयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्वाप्यजातिमानित्यादि-
संयुज्यते । यत्तु तेन "रूपाद्यन्यतमत्वं वा तच्च तदन्यान्यत्वमिति" रीत्या सर्वत्र लक्षणनिर्वचनं कृतं, तदप्यन-
न्तरोक्तान्योन्याश्रयप्रत्यम् । रूपादिज्ञाने तदन्यत्वज्ञानं तदन्यत्वज्ञाने च रूपादिज्ञानमिति । किंच रूपादिविशिष्टा-
न्योन्याभावो वा तदुपलक्षितान्योन्याभावो वा लक्षणोपयोगी । आद्ये कर्मादीनां रूपादिमत्त्वं रूपादीनामपि
कर्मादिमत्त्वं स्यात् । अन्योन्याभावद्वयं प्रति वर्गद्वयस्य विशेषणत्वात् । द्वितीयेप्युपलक्षितत्वं विशेषणमुपल-
क्षणं वा । द्वितीयेऽनवस्था । प्रथमे परंपरयोभयोरप्युभयवत्त्वं स्यात् । अन्योन्याभावात्सन्ताभावयोश्च प्रागेव
प्रत्युक्तं निर्वचनं, प्रत्याख्यास्यते च, यद्वादीन्द्रेण तदुभयान्यतरत्वं नामैकान्योन्याभाववत्त्वे सति इतरा-
न्योन्याभाववत्त्वानधिकरणत्वमिति निर्वचनं कृतम्, "एतदन्योन्याभावानित्यत्वान्यतराधिकरणं शब्दत्वान्यन्ता-
भावानित्यत्वान्यतराधिकरण"मित्यादिषु, तदप्युक्तम् । तथा सति हि रूपाद्यन्यतमत्त्वं नाम हपान्योन्याभावा-
धिकरणत्वे सति रसादिनयोर्विशल्यन्योन्याभावाधिकरणत्वरहितत्वमिति लक्षणार्थः स्यात् । तथाच सत्यन्योन्या-
भावद्वयानधिकरणत्वं वा एकैकान्योन्याभावानधिकरणत्वं वा लक्षणं विवक्ष्यते, उभयथाप्यनुपपत्तिः ।
उभयान्योन्याभावानधिकरणत्वस्याव्याप्तेः । नहि रूपे रसान्योन्याभावो नास्तीति शक्यं यत्तु नापि हपान्यो-
न्याभावो रसादौ नास्तीति । एकैकान्योन्याभावानधिकरणत्वपक्षे रूपादिप्रतियोगिकाभावविशेषविषयक्षायां रसा-
दिष्वव्याप्तिस्तदवस्था । अनियतविषयक्षायां तु अनुगतलक्षणक्षय इति । 'ततोवादीन्द्र दर्पस्ते तदन्यतरतादिषु ।
अरविडतनिरुक्तयुत्यः पण्डितमन्य रविडतः ॥'

क्रमप्राप्तं कर्मलक्षणं यण्डयति—तथा कर्मलक्षणमपीति । धीधराचार्याभिप्रेतं लक्षणं तावद्वृत्त्यति-
—न तावदिति । अनपेक्षपदेन द्रव्यव्यावृत्तिः । संयोगविभागद्वयप्रद्वारेण संयोगविभागव्यावृत्तित्वयोस्सं-
योगजनकत्वे सति विभागाजनकत्वात् । तस्य चेहेष्टवादित्यर्थः । योगविभागयोः, संयोगविभागयोरनपेक्ष-
तया यो हेतुः सत्कर्मेति न लक्षणं, कृतः, यथाश्रुतेऽसंभवित्वात् । स्वातिरिक्ते कस्मिंश्चिदप्यनपेक्षायाम् असं-
भवित्वात् । तथा निरुक्तेरपि स्वोत्पत्त्यनन्तरमुत्पद्यमानानपेक्षेत्यादिरूपाया अन्ययुक्तित इति श्लोकयोजना ।

१ दुर्लक्षमिति पाठो भाति । २ विभागजनकविभागे । ३ अपेक्षेपणावृत्तित्वं कर्मेत्यतिव्याप्तिवारणाय संयोगा-
समानाधिकरणत्वं द्रव्येऽतिव्याप्तिवारणाय । रूपत्वादिकमादावाव्याप्तिवारणाय सत्तासाक्षाद्वाप्येति । ४ यथा
पदे घटपटोभयान्यतरत्वं घटभेदत्वे सति पटभेदवत्त्वानधिकरणत्वम् । ५ अन्यतरत्वरीत्येव अन्यतमत्वस्यापि निरुक्ति-
मभिप्रेलाह । ६ तेन रूपे रूपरसोभयभेदाधिकरणत्वसत्त्वेनाव्याप्तिरिति भावः ।

नानपेक्षतया संयोगविभागहेतुत्वं कर्मणः । समवायिकारणेश्वरेच्छादेशकालादृष्टापेक्षणात् ।
अथैवं निरुच्यते, पश्चाद्भावि निमित्तं नापेक्षते कर्म, तेन चेश्वरेच्छासमवायिकारणादयो
व्यावर्त्यन्ते, तेषां पूर्वभावितया पश्चाद्भावित्वाभावादिति । मैवम् । उत्तरसयोगे कर्तव्ये
पश्चाद्भावित्याः पूर्वसंयोगनिवृत्तेरपेक्ष्यमाणत्वात् । पश्चाद्भावित्वाभावरूपं निमित्तं नापेक्ष
इति चेन्न । पूर्वसंयोगनिवृत्तिक्षणस्य भावस्यैव पश्चाद्भावितोप्यपेक्ष्यमाणत्वात् । यदनन्तर
संयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मैति च कर्मलक्षणे तत्सामग्र्यामपि तत्संभवादतिव्याप्तिः ।
नच कर्मैव सामग्री । तथा सति विभागोत्पत्तिसमसमयमेव पूर्वसंयोगनिवृत्तेरुत्तरसयो-
गस्य चोत्पत्तिप्रसङ्गात्, सत्यां सामग्र्यां कार्यं विलम्बायोगात् ।

अस्तु तर्हि संयोगविभागयोरसमवायिकारणं कर्मैति लक्षणम् । नच संयोगविभागयो
रतिव्याप्तिः, तयोरैककारणत्वात्, अत्र चोभयकारणत्वस्य विवक्षितत्वादिति चेन्मैवम् ।

श्लोक विवृणोति—नानपेक्षतयेति । द्वितीय पाद शब्दापूर्वक विवृणोति—अथैवमित्यादिना । व्यावर्त्य
न्ते । अनपेक्षत इति शेष । कर्मत्वैदिति वा । तेषां पश्चाद्भाविकर्मोपेक्षितत्वात् । दूषयति—मैवमुच्येति ।
एषा हि परिपाटी वैशेषिकाणां 'मुत्त्वमनात्कर्मण स्वाश्रये पूर्वसंयुक्ताद्भिन्नानो जायते तत पूर्वसंयोगनाश
स्तत उत्तरसयोगोत्पत्तिरिति । तत्रोत्तरसयोगोत्पत्तौ पूर्वसंयोगनाशं पश्चाद्भावितोप्यपेक्षते कर्मैत्यतिद्विर्लभणस्य
ल्यर्थः । ननु भावरूप पश्चाद्भावितोप्यपेक्षते इत्यनपेक्षाशब्दाद्यो विवक्षितस्ततो नासभव इति शङ्कित्वा परि
हरति—न पूर्वसंयोगेति । यस्मिन्क्षणे पूर्वसंयोगनाश स कर्मण पश्चाद्भावी, औपाधिकस्योत्पाद्यत्वाद्भा
वरूपत्वात्तदपेक्षत्वात्कर्मणस्तदवश्य एव पूर्वदोष इत्यर्थः । स्यादेतद्यदनन्तरं संयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मैति
लक्षणम्, नचेश्वरेच्छादिषु प्रसक्ति, तेषु सत्त्वपि यावत्कर्मोत्पत्त्यनुपपत्ते । नाप्यनपेक्षाश्रित्यनुपपत्तेरिति
इति, तत्राह—यदनन्तरमिति । ननु नात्र कर्मातिरिक्तसामग्र्यस्ति यत्रातिव्याप्तिरुच्येतेति तत्राह—नच
कर्मैवेत्यादिना । यदि हि कर्ममात्र सामग्री, तदासति भवत्येवेति नियमात् विभागोत्पत्तिसमसमयमेव
पूर्वसंयोगनाशोत्तरसयोगोत्पत्तौ स्याता, नचैवमित्युच्यते युज्यते वा, पूर्वसंयोगस्य विभागव्यतिरेकेण नाशकाम
यात्, आश्रयस्य चानष्टत्वात्, अनिवृत्ते च पूर्वसंयोगे नोत्तरसयोगोत्पत्ति । अत प्रथमेव सामग्री, तथाचाति
व्याप्तिरिति भावः । पूर्वसंयोगनाशस्य च समसमयत्वापादनं पूर्वभावित्वस्योपलक्षणम् । तथाव्यतिरेकेणोत्तरसंयोगो
नुत्पत्ते । वाचीन्द्र प्राह—'विभागकुर्वद्रूपत्वापरिपर्यायविभागजननशीलत्वस्य धर्मविशेषस्यानपेक्षकारणत्वशब्द
र्थत्वात् तस्य पदार्थान्तरव्यावृत्तस्य कारणमात्रविभागकारणाकारणविभागविभागजनकविभागकारणकर्मैति
'एतद्विभागानपेक्षकारणम् इदं विभागानपेक्षकारणमित्यनुभवसिद्धत्वादिति । तदसत् । न खलु लज्जुतर्कानुस
रतुदेरेवमनुभवोक्तिः । विभागजनकत्व च विभागस्य विभज्यिष्यते । यातु महाविद्या अनपेक्षकारणत्वसाधना
योक्ता सा तदीयविदम्बनोक्तदोषविदम्बितेति नादरणीया ।

तदेवमेकद्वैतव्यमगुण संयोगविभागानपेक्षकारणमिति सौत्र लक्षणं दूषयित्वा लीलावतीलक्षणमुद्गावयति—
अस्तुतर्हि । निमित्तकारणेश्वरेच्छादौ समवायिकारणद्वये चातिव्याप्तिपरिहारयासमवायिकारणग्रहणम् ।
ननु तथापि संयोगविभागयोरतिव्याप्तिस्तयोरपि यथायथ तयोरसमवायिकारणत्वादिति, तत्राह—नचेति ।
उभय प्रत्यसमवायिकारणत्व विवक्षितं ततो नातिव्याप्तिरित्यर्थः । उक्तं च लीलावतीकारेण "द्वित्वे तात्पर्य
तेन संयोगविभागव्युदास" इति । मिलितसंयोगविभागजनकत्वकर्मलक्षणस्याव्याप्तिमाह—मैवमित्या

१ संयोगविभागसामग्र्यामित्यर्थः । २ अपेक्षा इति पाठः साधु । लक्षणपटकापेक्षयेषरादीनामपेक्षा न दूरे
इति भावः । ३ कर्मलक्षणादित्यर्थः । पश्चाद्भाविकर्म अपेक्षितं यैस्तत्त्वादिति विप्रह । ईश्वरादीनां पश्चाद्भाविकर्मसा
द्यतया संयोगविभागहेतुत्वेन कर्मलक्षणं नास्तीति भावः । वस्तुतस्तु कर्मण पूर्वभावीश्वरापेक्षयेऽपि न कर्मलक्षण
संभय इति मूलाशयः । ४ संयोगविभागयोरित्यादि । ५ यत्प्रसक्ति यत्र भवति यस्मिन् सति च यद्भवत्येव तादृश
पमिति नियमाकारः । ६ पदोपान्त विभागजननशीलत्वे विशेषणम् । ७ एव द्रव्यमादयस्येन वस्तुसिद्धे एव
भद्रमीति । तेनापेक्षद्रव्याधितानां संयोगदीना व्युदासः ।

कर्मविशेषे लक्षणस्याव्याप्तेः । तथाहि यदा पटारम्भकावयवतन्त्वादिनिष्ठेन कर्मणावयवान्तराद्विभागोद्भवस्तस्मिन्समये तदारब्धावयवविनिष्ठं कर्म यदि भवति तदावयवानां विभागादवयव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिसमयेऽवयविकर्मणा तस्मिन्नेवावयवविनि यतः कुतश्चिद्विभागो जायते । तत्र समवायिकारणावयवसंयोगनिवृत्त्यनन्तरमवयवविनो नाशात्रोत्तरसंयोगोत्पत्तिः । संयोगिनोऽवयविन एवाभावात् । तत्रावयवविनिष्ठस्य कर्मण उभयासमवायिकारणत्वाभावाद् व्याप्तिः कथं न भवेत् । नचावयवकर्मानन्तरमवयवविनि कर्म न जायत इति वाच्यम् । हस्तचलनानन्तरं देवदत्तचलनस्य शाखाचलनानन्तरं शाखिचलनस्य दृष्टत्वात् ।

नचोत्तरसंयोगानुपत्तौ कर्मणोऽनुपयोग्यत्वप्रसङ्गः । विभागजननेनापि पुरुषार्थत्वोपपत्तेः । नहि यावदशेषप्रयोजनसिद्धिस्तावद्वस्तुनोऽवस्थाननियमः । यीजादेरङ्कुराद्यजननेपि नाशाद्युपलम्भात् । अस्तु बोभयकारणत्वं कर्मणः, तथाप्यसमवायिकारणता निरूपणीया । समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणमिति चेत्, केयं प्रत्यासत्तिः । कार्यकार्यसमवायः कारणैकार्यसमवायश्चेति चेत् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । उभयविधप्रत्यासन्नता असमवायिकारणशब्देन कर्मलक्षणेपि विवक्षिता उतान्यतरा । नाद्यः । अनङ्गीकारादसंभवाच्च । नह्यन्त्यावयवविनिष्ठस्य कर्मणः संयोगविभागसमवायिकारणेनान्त्यावयविना सहैकस्मिन्नर्थे समवायः संभवति । कर्मण एकद्रव्यमात्रवृत्तित्वात् । न द्वितीयः । कारणैकार्यसमवायस्यानङ्गीकारादेव । कार्यकार्यसमवायस्य तु लक्षणान्तर्भावेऽतिव्याप्तेः ।

दिना । कर्मविशेषमेव दर्शयन्नव्याप्तिं विवृणोति—तथाहि यदेति । अत्र तावदवयवकर्मानन्तरमवयवविन्यपि कर्म संभवतीति वक्ष्यते । तथासत्यवयवभूततन्तुपर्मणा अवयविभूतपटारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पत्तिसमयेऽन्यविगतकर्मणापि विभागः शक्योत्पादः । अवयविनोऽविनष्टत्वात् । उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्तु असंभविनी । तदानीमाश्रयस्यावयविनः पटस्यासमवायिकारणभूतावयवसंयोगनाशादृष्टत्वात्, असमवायिनाशात्समवायिनाशाद्वाऽवयविनाश इति सिद्धान्तात्, ततश्च तस्मिन्वर्मण्यव्याप्तिरुभयजनकत्वलक्षणस्येत्यर्थः । अवयविनो नाशादित्यस्यैव विवरणं संयोगिनोऽवयविन इति । यत्तद्वक्ष्यत इत्युक्ते तदाह—नचावयवेति । अवयवावयविनोर्युगपत्कर्मेणोत्पत्तावप्येवा समानैव । उत्तरसंयोगोत्पत्त्यनुपपत्तेस्तत्रापि तुल्यत्वात् ।

ननु नास्ति तथाविधं कर्म यद्विभागमात्रमेवोत्पाद्योपरमेत्, स्वप्रयोजनासमर्थस्य सृष्टिवैयर्थ्यात्, यथाहुर्विभागप्रकरणे प्रशस्तपादा 'उत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपयोग्यत्वप्रसङ्ग' इति, तत्राह—नचोत्तरेति । यदि मन्येत विभागमात्रजननेऽपि समस्तप्रयोजनानिष्पत्तेर्वैयर्थ्यमेवान्यत्र कर्मणस्तथैव दृष्टत्वादिति, तत्राह—नहि यावदिति । संप्रत्यतिव्याप्तिं दर्शयितुमसमवायिकारणतामत्रत्या निष्कर्षति—अस्तुचेत्यादिना । ननु किमत्रनिरूपणीयमस्ति, प्रसिद्धं तल्लक्षणमित्याह पूर्ववाची—समवायिकारणेति । कार्योत्पत्त्यमानेन पटादिना सहैकस्मिन्नर्थे यः समवायस्तन्तुसंयोगादेः सा तावदेका लघ्यामिधाना प्रत्यासत्तिः । तथोत्पद्यमानपटशौक्यादेर्येत्समवायिकारणं पटादि तेन सहैकार्यं तन्त्यादेः तन्तुशौक्यादेर्यः समवायः स बृहत्स्वमिधाना इति द्वितीया प्रत्यासत्तिरित्यर्थः । कारणैकार्यसमवायाभावं दर्शयन्नभयाभावं विवृणोति—नह्यन्त्यावयवविनिष्ठस्येति । पटगतसंयोगकारणं वर्मं पट एव प्रवर्तते, न तन्तुपु, तेन न कारणैकार्यसमवाय इत्यर्थः । अन्यतरपक्षे बृहतीं दूषयित्वा लघ्यामिति व्याप्तिमाह—कार्येति । अदृष्टेतिव्याप्तिं दर्शयितुं लक्षणं निष्पन्नं दर्श-

१ यदिति शेषः । २ तेनावयविनि अवयवे चैककर्मसत्त्वे मानाभाव इति भावः । ३ अन्त्यावयविनिष्ठस्य कर्मण इति शेषः । ४ निरुक्तकर्मलक्षणेत्यर्थः । ५ दर्शनहेतुर्न विवरणमित्यर्थः । लक्षणदेशेतिरिति श्रुता ।

यन्निष्ठौ संयोगविभागौ तन्निष्ठतया संयोगविभागयोर्यत्कारणं तत्कर्मैति हि तथा लक्षणार्थः संपद्येत । तथाचात्ममनसोः संयोगविभागजनकादृष्टेऽतिव्याप्तिः कथं न स्यात्, कार्येण संयोगविभागाख्येन सह तज्जनकादृष्टस्यात्मन्येकस्मिन्नर्थे समवायात् । गुणान्यत्वे सतीति विशेषणादयमदोष इति चेन्न । तदोभयकारणताभिधानस्य धैयर्ध्यापातात्, गुणान्यत्वपरदेव विभागजनकविभागस्य संयोगजनकसंयोगस्य च व्यवच्छेदात् । एवं विभागाजन्यविभागासमवायिकारणं कर्मैत्यपि लक्षणं निरस्तम् । असमवायिकारणताया दुर्निरूपत्वात् । विभागाजन्यत्वविशेषणं च व्यर्थम् । व्यवच्छेद्याभावात् । नच विभागजविभागव्यवच्छेदार्थमिति वाच्यम् । कर्मण एव तदुत्पत्तौ विभागजविभागस्यैवाप्रामाणिकत्वात् ।

यति—यद्विष्टाविति । कार्यैकार्थसमवायमदृष्टे संपादयति—कार्येणेति । नच प्रत्यासत्तावपि कर्मण एवासमवायिकारणता नैदृष्टस्येति निर्वचनीयम् । तल्लक्ष्येणस्यातिव्याप्त्यापातात्, उभयोरपि तदुपपत्तेः । नचादृष्टचरैकल्पना । उभयासमवायिकारणत्वैवदुपपत्तेः । नच कल्पनागौरवम् । अवयवनिष्ठरूपादीनामनेके पामप्यवयविरूपादिकं प्रत्यसमवायिकारणत्वकल्पनावदुपपत्तेः । नच विभिन्नजातीयैककार्यानुत्पादः । बहुलप्रचयाभ्यां महत्त्वस्येवोत्पत्तिसंभवात्, उभयासमवायिकारणत्वस्य वस्त्वन्तरेऽनुपलब्धचरस्यापि कर्मणि कल्पनावस्तसंयोगविभागविशेषेप्यदृष्टस्य च प्रत्यासत्तेरसमवायिकारणत्वकल्पनायां दोषाभावात् । नचादृष्टस्यासमवायिकारणत्वे सर्वैनिमित्तकारणत्वानुपपत्तिः । कालादीनां स्वगुणसमवायिकारणानामपि निमित्ततावदुपपत्तेरिति । अतिव्याप्तिमदृष्टे परिहरति पूर्ववाची—गुणान्यत्वे सतीति । गुणत्वानधिकरणत्वे सतीत्यर्थः । दूषयति—न तदेति । एकैकजनकसंयोगविभागव्यवच्छेदाय हि उभयकारणता कर्मलक्षणे विवक्षिता । तौ च गुणान्यत्वप्रदूषणैव निरस्तौ, ततश्चोभयकारणत्वविशेषणं व्यर्थं स्यात्, अतो द्वित्वे तात्पर्यमिति केवलं लीलावला विलपितमेव भवेदिति भावः । गुणान्यत्वं चासिद्धम् । अद्यापि कर्मलक्षणानिर्णयात् । गुणलक्षणानां च परानुच्छिन्नत्वादिति वा भावः । उक्तं लक्षणमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमिति । अतिदिश्यमानमेव विदुषोति—असमवायिकारणताया इति । दुर्निरूपत्वादिति । यथाऽदृष्टे न संभवति तथा निरूपयितुमशक्यत्वात्तत्त्वादृष्टेऽतिव्याप्तिस्तदवस्था गुणान्यत्वविशेषणे च पूर्ववद्वैयर्थ्यमित्यर्थः । व्यर्थविशेषणत्वं चाह—विभागाजन्येति । ननु त्रिविधो विभागः अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजो विभागजश्चेति, तत्राद्यः सकिञ्चन निःक्रियस्य, यथा स्थाणोः ज्येनेन । द्वितीयस्तु सक्रिययोः, यथामल्लयोर्मेषयोर्वा । तृतीयस्तु कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागजश्चेति । तत्राद्यो यः खलु पटावयवस्य स्वगतकर्मणा पटावयवान्तराद्विभागो जायते स तु विभागः पूर्वतन्तरम्भकसंयोगनाशानन्तरकालीनावयवविनाशसहकृतः स्वाश्रयस्याकाशदेशाद्विभागमारभते । द्वितीयस्तु हस्तावयवाकाशयोर्विभागाद्वस्ताकाशविभाग इति, एवंच सति यदि विभागासमवायिकारणं कर्मैत्येवोच्यते, तदा विभागेतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं विभागाजन्येति विशेषणमिति, तत्राह—नच विभागजेति । अत्र नच विभागजशब्दस्तर्करणविभागोपलक्षणार्थः । हेतुमाह—कर्मण एवेति । न क्वचिदपि विभागो विभागजन्यः, किंतु वंशदलविभागजनकादेव कर्मणो वंशदलादेराकाशस्य च विभाग इत्यर्थः ।

१ कर्मादृष्टयोरित्यादिः । २ असमवायिकारणलक्षणे आत्मविशेषगुणान्यत्वस्य निवेशादिति भावः । ३ यथाऽदृष्टासमवायिकारणलक्षणमादाय निरुक्तकर्मलक्षणताव्याप्त्यभिधानादित्याशयः । ४ यो हेतौ । यतः कर्मादृष्टयोश्चमयोत्ति निरुक्तकर्मलक्षणोपपत्तिरतोऽतिव्याप्त्यापात इति संबन्धः । ५ अदृष्टेऽसमवायिकारणत्वस्येति शेषः । ६ वस्त्वन्तरेऽदृष्टचरस्य संयोगविभागोभयासमवायिकारणत्वस्य कर्मणि कल्पनाभिव्यक्त्यर्थः । ७ कर्मादृष्टयोः संयोगविभागोभयासमवायिकारणत्वे इति शेषः । ८ अदृष्टात्कर्मणश्चासमवायिकारणादिलब्ध्याहायंम् । ९ दिश्वदिरूपेति शेषः । १० ननु गुणान्यत्वं गुणप्रतियोगिकभेदवचनेव तथोभयभेदादिक्रमादायादृष्टेऽपि स्यादत आह । ११ कर्मलक्षणे निर्णयिते कर्मण्यत्वमिति गुणलक्षणं निर्णीयेत तत्र च निर्णयिते गुणान्यत्वं सिद्धे इति भावः । ननु कर्मान्यत्वापरिगणनेव गुणलक्षणानि सन्तु अत आह । १२ तेन विभागकारणविभागे कर्मलक्षणव्यवच्छेदार्थमिति मूलार्थः परैरस्ति ।

ननु यत्तावदिह वंशावयवेषु प्रवर्तमानं कर्म तद्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभाग-
मुत्पादयत्तदैव नाकाशादिभिः सह विभागमुत्पादयति, यस्मादाकाशादिविभागजनकत्वं
कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वेन व्याप्तमुपलभ्यते नलिनदलेषु ।
नहि तत्र द्रव्यविनाशः प्रत्यक्षाधिगतः । तदेवेदं नलिनमिति प्रत्यभिज्ञानात् । नाप्यनु-
मानतः । द्रव्यादिष्विव व्यूहान्तरस्य तदुच्चारकस्य लिङ्गस्यादर्शनात् । तथाच पद्मपत्रस्य
पत्रान्तराद्विभाग उपलभ्यमानो न द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधी, किंतु स्पर्शवद्द्रव्यसंयोग-
जात्कर्मण उत्पन्नो यः संयोगः सत्येव द्रव्ये द्रव्यारम्भके च संयोगे पद्मपत्रयोर्वर्तते तमेव
निवर्तयति, यथाङ्गुल्योर्विभागः प्रयत्नोत्पादितं संयोगमेव निवर्तयति नतु द्रव्यारम्भकसं-
योगं, तस्मादङ्गुलिविभागवत्पद्मपत्रक्रियाजनितो विभागो न द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधीति
व्याप्तिनिश्चये प्रयोगः, विवादाध्यासिता वंशदलक्रिया नाकाशादिविभागारम्भिका द्रव्या-
रम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वाद्यत्रैवं न तदेवं यथापद्मपत्रक्रिया । एककर्महेतुकत्वे
च विभागयोर्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधित्वाविरोधित्ववैलक्षण्यमनुपपन्नं, कारणवैचित्र्ये
कार्यवैचित्र्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गादिति विपक्षे बाधकस्तर्कः, तदेवमवयवक्रियावयवविभा-
गकाले पश्चाद्वा नाकाशादिविभागमारभते तस्मादाकाशवंशावयवयोर्विभागो न क्रियाजः ।

अत्र वंशदलाकाशविभागस्य कर्मजन्यत्वं दूषयन्विभागजन्यत्वं चैशेषिकः परिशेषयति—ननु यत्ताव-
दित्यादिना । तत्रावयवगतं कर्म किमवयवान्तराद्विभागजननसमय एवाकाशादिभ्यो विभागमारभते सम-
यान्तरे वा । द्वितीये तु प्रथमपक्षदूषणमेवातिदेश्यति । प्रथमं दूषयति—तदैव नेति । द्रव्यस्य वंशावय-
विनः आरम्भको यो वंशावयवयोः संयोगस्तद्विरोधिनं विभागमुत्पादयतीति योजना । ननु किमिति नोत्पाद-
यतीत्याशङ्क्य तत्रानुमानं बाधकं दर्शयितुं व्याप्तिं तावत्संपादयति—यस्मादिति । आकाशादिविभा-
गेति—द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागोपलक्षणम् । तथाच किरणावलीकारः—‘यत्कर्म द्रव्यानारम्भकसं-
योगविरोधिनं विभागमारभते, न तद्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं, यत्वेवं, न तत्तद्विरोधिनमिति, विकसत्कमल-
कुड्मलादी तथा तद्दर्शनाच्चैतदवधारणीय’ मिति । अथ कथं कमलकुड्मलदलविदलनेपि विभागस्य द्रव्यानारम्भ-
कसंयोगविरोधित्वं, न पुनरारम्भकसंयोगविरोधित्वमिति, तत्राह—नहि तत्रेति । यदि हि द्रव्यारम्भकसं-
योगविरोधी स्यात्ततो विकसनसमये नलिगावयवी नश्येत्, न चैतत्प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वावसातुं शक्यते, अतो
न तदारम्भकसंयोगविरोधी स विभाग इत्यर्थः । व्यूहः आकारः । कार्यद्रव्यानन्तरमिति यावत् । कस्य तर्हि
विरोधीत्यत आह—क्रितिवति । स्पर्शवद्द्रव्यं चन्द्रातपादि । द्रव्यारम्भकसंयोगे च सत्येव यः संयोगः
स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगजात्कर्मण उत्पन्नः पद्मदलयोर्वर्तते तमेव निवर्तयतीत्यर्थः । अत्र च सप्रतिपन्नमुदाहरण-
माह—यथाङ्गुल्योरिति । तदेव कमलकलिकाविकासकर्मणि समर्थिता व्यतिरेकव्याप्तिमुपसंहृत्य प्रयोग-
मारचयति—विवादाध्यासितेति । नाकाशादीति । न द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भके-
त्यर्थः । पद्मपत्रकर्मणि विभागारम्भके व्यभिचारवारणाय द्रव्यारम्भकेति विशेषणम् । यत्रैवमिति । यद्-
द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकं न, तद्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकमित्यर्थः । विपक्षे बाध-
कमाह—एककर्ममिति । उच्यं च किरणावल्या—‘कार्यविपर्ययाद्भवितव्यं कारणविरोधेन, नहि कार्यं विरुद्धम-
विरुद्धजातीयं कारणमिति संभवती’ति । उपपादितं कर्मानारम्भत्वमुपसहरति—तदेवमिति । यत्तद्वोचाम
द्वितीयेतिदेश्यतीति तदाह—पश्चाद्वेति । तत्रापि समानोऽयमविनाभाव इति भावः । तथापि विभागज-
न्यत्वं कथमित्याशङ्क्य तत्र परिशेषं दर्शयिष्यन्सामान्यतो दृष्टानुमाने प्राप्ते हि परिशेषावसर इति तदाह—

नचासमवायिकारणमन्तरेण कार्योत्पत्तिः शक्याभ्युपगन्तुम् । नचान्तरेण क्रियामन्य-
दसमवायिकारणमवयवविभागातिरेकि शक्यमुत्पादयितुम् । अवयवविभागस्त्ववशिष्यते,
स च तस्य प्रत्यासन्न एकार्थसमवायादिति सिद्धो विभागजो विभागस्तद्व्यावृत्त्यर्थं च विभा-
गाजन्यत्वविशेषणमिति चेत् । 'मैवं व्याप्तेरसिद्धत्वादनध्यवसितत्वतः । यौगपद्य-
प्रतीतेश्च प्रत्यक्षत्वमुपेयुषाम् ॥' न तावदाकाशादिविभागजनकस्य कर्मणो द्रव्यारम्भकसं-
योगविरोधिविभागानुत्पादकत्वं फचित्प्रत्यक्षसिद्धम् । आकाशादिविभागस्यातीन्द्रियस्य कि-
चान्वयव्यतिरेकयोः प्रत्यक्षत्वोधिगन्तुमशक्यत्वाव्याप्त्यसिद्धेः । अनध्यवसितश्चायं हेतुः, आ-
काशादिविभागानारम्भके रूपादौ सत्यपि सपक्षे ततो व्यावृत्तत्वात् । अपिच क्रमरूपनेय-
मनुपपन्ना । आकाशादिविभागप्रत्यक्षवादिनां विभागद्वयस्यापि यौगपद्यप्रतीतेः ।

नचासमवायिकारणमिति । प्रसक्तप्रतिषेधे सत्यन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेष इति परि-
शेषविदः । तदिह प्रसक्तं कर्म प्रतिषिद्धम्, अन्यत्राप्रसङ्गमाह—नचान्तरेणेति । उभयं हि प्रत्यासन्नता-
ऽसमवायिकारणं संभवति, एकं वंशदलकर्म, अपरं तु कर्मोत्पन्नस्वद्रवतो विभागः, तत्र कर्मण ईदृशी दशा ततो
विभागातिरेकि न संभवतीत्यर्थः । अन्यत्राप्रसंगमुक्त्वा शिष्यमाणे संप्रत्ययमाह—अद्यप्येति । अत्र
चासमवायिकारणलक्षणं संपादयति—सच तस्येति । उपसंहरति—सिद्ध इति । परिनिष्पादितपरिभ-
मस्य प्रकृतोपयोगमाह—तद्व्यावृत्त्यर्थं चेति । तत्रानुमानं तावदुपयति । कर्मजत्वसमवेन परिशेषं विषय-
यितुं—मैवमित्यादिना श्लोकेन । अत्र किं व्यतिरेकभूमावाकाशादिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भकसं-
योगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ व्याप्तिर्गृह्यते, किंवा द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वस्य
द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ । आद्ये प्राह—व्याप्तेरसिद्धत्वादिति । आकाशादि-
विभागस्याप्रत्यक्षत्वेन तज्जनस्त्वमपि कर्मणोऽप्रत्यक्षमतो न प्रत्यक्षत्वसिद्धिर्व्यातिरेक्यर्थः । द्वितीये द्रव्यणमाह
—अनध्यवसितत्वत इति । आकाशादिविभागानारम्भकत्वमस्ति रूपादौ नच तत्र हेतुरस्तीत्यर्थः ।
किं च वंशदलयोर्विभागस्याकाशवंशदलविभागस्य च हेतुहेतुमत्त्वकल्पनापि अनुपपन्ना, आकाशप्रत्यक्षवादिना-
मुभयोरपि विभागयोः प्रत्यक्षेण यौगपद्यप्रतीतेरित्याह—यौगपद्येति । अथवाकाशप्रत्यक्षवादिते व्यति-
सिद्धिमाशङ्क्येदमुक्तं, योजना तु पूर्वैव । श्लोकं विवृणोति—न तावदित्यादिना । दिक्कालादिषु सर्वोत्पत्तिम-
न्निमित्तकारणतया उभयविधविभागजनकेषु व्यभिचारोपि द्रष्टव्यः । अनध्यवसितत्वत इत्येतद्विवृणोति—अन-
ध्यवसित इति । अत्रन्तोक्तो विशेषो न प्रविस्मर्तव्यः । उपलक्षणं चैतत्सत्प्रतिपक्षस्यापि । तथाहि । विमतं
कर्म आकाशादिदेशेन विभागमारभते आरम्भककर्मत्वात् संप्रतिपन्नवत्, विभागो वा कर्मजन्यः विभागत्वा-
त्संप्रतिपन्नवत् इति शक्यं सत्प्रतिपक्षयितुम् । तेन च पदार्थतत्त्वनिर्णयोक्तदोषोपि परिहृतः । एतेन व्यभिचा-
रानध्यवसितत्वनिवारणाय कर्मणा हेतुसाध्ययोर्विशेषणमपि निष्कलीकृतम् । नच द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिवि-
भागानारम्भकत्वमुपाधिः, उभयविधविभागजनकेश्वरादौ साध्याव्याप्तेरिति, उत्तरार्धं व्याचष्टे—अपिचेति ।

१ सपक्षसत्त्वरूपवत्तयाऽनिश्चित इत्यर्थः । २ उपाधिर्धर्मः । अत्रायमाशयः । आकाशादिविभागस्य किं तत्त्वे-
न श्लेषः किं वा द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागत्वेनेति । ३ चो हेतौ । यतो द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभा-
गानारम्भकत्वमस्ति रूपादौ अतस्तदभावरूपो हेतुर्नास्तीत्यर्थः । अनेन सपक्षसत्त्वं दर्शितम् । इदञ्च व्याख्यानं इ-
तिरेकव्याप्तिमभिलष्यतटीकाकर्तुरनुरोधेन । वस्तुतस्तु अन्यन्यत्वात्तवपि यथाश्रुतमूलस्य हेतौ सपक्षसत्त्वरूपत्व संभ-
वति इति ध्येयम् । ४ व्यभिचाररूप इत्यर्थः । ५ पदार्थतत्त्वनिर्णयावसरे किरणवस्तुक्तः कार्यविपर्ययाद् भवितव्यं
कारणविरोधेनेत्यादिक इत्यर्थः । तेनेत्यस्य सत्प्रतिपक्षित्वेनेत्यर्थः । एवमग्रे मतेनेत्यस्यापि । ६ आरम्भककर्मत्व-
रूपहेतौ इति भावः ।

नच शतपत्रपत्रशतव्यतिभेदानुभववद्विभ्रमोयमनुभवः । बाधकाभावात् । नचोपन्य-
स्तानुमानं बाधकम् । तस्यानध्यवसितत्वेनापहस्तितत्वात् । “विवादाध्यासितं विभागज-
न्यगुणाधिकरणं नित्यद्रव्यत्वादात्मवत् । अस्ति ह्यात्मनो विभागविषयं प्रत्यक्षज्ञानं तत्क-
र्मकारकजन्यं तेन न साध्यविकलो दृष्टान्तः” इति मानमनोहरकारोक्तमनुमानं बाध-
कमिति चेत् । भैवम् । वेदान्तिनं प्रति हेतोरसिद्धेः । तेनात्मव्यतिरिक्तनित्यानङ्गीकारात्,
आत्मनो गुणानधिकरणत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । किंच नित्यविशेषणं व्यर्थम् ।
जीवाकाशव्यतिरिक्तस्य द्रव्यजातस्य विभागजन्यगुणाधिकरणतया विप्रतिपद्यमानस्य
पक्षीकृततया पक्षव्यापकद्रव्यत्वहेतुमात्रेणैव साध्यसिद्धेर्नित्यपदव्यापत्त्याभावात् । अस्तु
तर्हि द्रव्यत्वमात्रं हेतुरिति चेन्न । विमुत्वोपाध्युपहतत्वात् । नच दिक्कालेश्वरेषु पक्षैकदे-
शेषु साधनव्यापकता । पक्षीकृतपरमाण्वादिषु तदभावात् । किंच कर्मणो द्रव्यारम्भ-
कसंयोगविरोधिविभागजनकस्य नभोभागविभागजनकत्वे द्रव्यारम्भकसंयोगजनकस्य
तर्दजनकसंयोगजनकत्वमङ्गुल्याकाशसंयोगजनककर्मण इव न स्यात्, तथाच तन्तुद्वय-
संयोगजनकात्कर्मणस्तन्त्वाकाशसंयोगो न स्यात् ।

नन्वङ्गुल्याकाशसंयोगाच्छरीराकाशसंयोगवत्तन्त्ववयवाकाशसंयोगादेव तन्त्वाकाशसंयो-
गोपपत्तेर्नार्यं दोष इति चेत्, एवं तर्हि द्रव्यजनकसंयोगासमवायिकारणात्परमाणु कर्मणः

ननु पूर्वापरीभूतयोरपि विभागयोरतिशैध्याद्यागपद्यविभ्रमोयं, यथातितीक्ष्णसूच्या कमलदलशतवेधे सुगप-
द्विद्धत्वाभिमान इति, तत्राह—नच शतपत्रेति । शतपत्र कमलम् । व्यतिभेद वेधः । अपहस्तितत्वाद्-
स्तपरिहारमात्रेण परास्तत्वात् । उपलक्षणं चेतयौगपद्यप्रत्यक्षबाधव्यभिचारसत्प्रतिपक्षत्वानाम् । विभागाजन्य-
त्वेऽनुमानान्तरविरोधं शङ्कते—विवादाध्यासितमिति । आत्मैकाशव्यतिरिक्तनित्यद्रव्याणि पक्षः । दृष्टा-
न्ते साध्यं दर्शयति—अस्ति ह्यात्मन इति । विभागविषयं यत्प्रत्यक्षज्ञानं तद्विभागजन्यगुण । एवमाकाशे
शब्दो विभागजन्यगुणः । नच ताभ्यामेवार्थान्तरता, परमाण्वादेर्ज्ञानशब्दाधिकरणत्वाभावात्, ततश्च योसौ
विभागजन्यो गुण परमाण्वादिनिष्ठ स विभागजन्यविभाग इत्यर्थः । ब्रह्माद्वैतवादिवेदान्तिमतो परमाण्वादीना
नित्यत्वमसिद्धमिति विशेषणासिद्ध्या हेतुं दूषयति—भैवमिति । दूषणान्तरमाह—आत्मन इति । व्यर्थ-
विशेषणतया चासिद्धिमाह—किंचेति । धनित्यद्रव्यव्यापृद्वर्थं नित्यपदम् । अद्रव्यस्य द्रव्यपदेनैव व्यापृतेः ।
नच तद्य वैत्यर्थं, पक्षतुल्यत्वादतो वैयर्थ्यमित्यर्थः । आत्माकाशयोरुक्तगुणवत्त्वे विमुत्वमुपाधिः । नच साध-
नव्यापकता, पक्षीकृतपरमाणुनसोरुपाधेरभावादित्याह—न विमुत्वेत्यादिना । ननु कालो विभागजन्य-
गुणाधिकरणं द्रव्यत्वादात्मवदित्यत्र को दोषः, विशेषणुपपत्तेर्विहाय न किंचिदन्यत् । आभाससमान-
योगक्षेमता चाह—किंचेति । विमतं कर्म न द्रव्यानारम्भकसंयोगजनकं द्रव्यारम्भकसंयोगजनकत्वात् न
यदेव न तदेवं यथाङ्गुल्याकाशसंयोगजनकं कर्मस्यपि शम्भ्यमनुमातुमिति खण्डलकार्यं । भवत्वेवं किं नदिष्-
कमिति, तत्र गूढाभिसन्धिस्तावदाह—तथाचेति । द्वितन्त्वारम्भपटारम्भको यस्तन्तुद्वयसंयोगस्तज्जनकात्क-
र्मणस्तन्त्वाकाशसंयोगस्य द्रव्यानारम्भकस्योत्पत्तिर्न स्यादित्यर्थः ।

धमिसन्धिभविद्वान्म श्रीवृषभ शङ्कते—नन्विति । धयमर्थं—यथा हि संयोगजसंयोगविशेषस्य शरी-
राकाशसंयोगस्य तदवयवाङ्गुल्याकाशसंयोगादेव जन्म, न कर्मणः, तथा तन्त्वाकाशसंयोगोपि तदवयवाकाश-
संयोगादेव भवेदिति कर्माजन्यत्वमिष्टमेवेति । धमिसन्धिमुद्गाटयन्परिहरति—एवं तर्हीति । अवयवं हि

१ तेषां सपशत्वादिति भावः । २ द्रव्याजनकेत्यर्थः । ३ जन्यद्रव्यव्यापृद्वर्थं नित्यपदं न च देयमिति सन्धः ।

४ अत्र पक्षे विमुत्व न साधनाव्यापकमतः पक्षे साधनाव्यापकमुपाध्यन्तरमाह ।

परमाण्वाकाशसंयोगो न भवेत् । नहि तत्रावयवसंयोगात्परमाण्वाकाशसंयोगः, निरवयवत्वात् । अपिचैवं वंशदलावयवकाशविभागादेव दलाकाशविभागोपत्तेर्दलयोर्विभागस्यावयवविभागं प्रति हेतुता न स्यादिति दलयोर्विभागादाकाशविभागः स्वाभिमतो न सिद्धयेत् । तस्मादसमवायिकारणापेक्षिणो वंशदलाकाशविभागस्य वंशदलकथैवासमवायिकारणमिति न पारिशेष्याद्विभागस्य विभागजनकत्वसिद्धिः । नच कर्मैकहेतुकत्वे विभागयोरुक्तैर्लक्षण्यनुपपत्तिः । कर्मैकहेतुकयोः संयोगविभागयोरिव वैलक्षण्योपपत्तेः । तस्माद्विभागजविभागभावात्तद्व्यावृत्त्यर्थं विभागाजन्यत्वविशेषणं कर्मलक्षणे व्यर्थम् । व्यञ्जकप्रमाणयोर्निरस्तत्वा कर्मत्वजातेरभावे तद्योगित्वमपि लक्षणं परास्तम् ।

सामान्यस्य दुर्लक्षत्वाच्च तद्विशिष्टानि लक्षणानि सर्वाण्यपि निरस्तानि वेदितव्यानि तथाहि किमिदं सामान्यं किमनुवृत्तप्रत्ययकारणमुतानुवृत्तप्रत्ययप्रमाणकमथवानुवृत्तत्वमाहोस्विन्नित्यत्वे सत्यनुवृत्तत्वमथवा नित्यमेकमनेकसमवेतम् । तत्र 'अतिव्याप्त्या निराकुर्यादाद्यपक्षचतुष्टयम् । अनेकत्वानिरुक्तेश्च पक्षमन्यं प्रतिक्षिपेत् ॥ १० ॥' न तावदाद्यः । सामान्या तदेकदेशेषु चातिव्याप्तेः, ठेपामपि तत्प्रत्ययकारणत्वात् । नापि द्वितीयः । अनुवृत्तप्रत्ययस्वकारणानुमापकतया कारणस्यापि तत्प्रमाणकत्वादतिव्याप्तेः । न तृतीयः । अनुवृत्तत्वस्य संयोगादिष्वपि भावात् । नापि चतुर्थः । नित्येष्वनेककार्यवृत्तिषु परमाणुषु व्यभिचारात् ।

निरवयवपरमाण्वाकाशसंयोगस्य तदवयवसंयोगजन्यत्वासंभवात् द्युष्णकारम्भकपरमाणुसंयोगजनकपरमाणु कर्मजनितत्वं वक्तव्यं, तदेव मम प्रतिबन्दीस्थलमस्ति भावः । अनिष्टान्तरं चाह—अपिचेति । शक्यते हि तत्रापि वस्तुं, न वंशदलयोर्विभागाद्वंशदलाकाशयोर्विभागः । किंतु वंशदलावयवकाशयोर्विभागादिति, तस्य च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टं स्यादिति भावः । तदेवं कर्मजन्यत्वसंभवात्परिशेष्यादिसिद्धिमुपसंहरति—तस्मादिति । यस्तु विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्तं प्रशियिलमूलयति—नचेति । यथा कर्मैकहेतुत्वेपि सयोगविभागयोः परस्परं वैयर्थ्यं, तथेहापीत्यर्थः । एतेन कार्यविरोधात्कारणविरोधोन्नयनमपि किरणावलीं निरस्तम् । विरुद्धयोरेव संयोगविभागयोरेककर्मजन्यत्वात् प्रासङ्गिकस्यास्य विचारस्य प्रकृतोपयोगमाह—तस्मादिति । ननु संख्यैऽनुत्तिसंयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्वाप्यजातिमदिति वा संयोगजन्यसंयोगासमवायिकारणवृत्तिसंयोगत्वात्सामानाधिकरणजातिमद्वेत्यादीनि शिवादिखमिश्रोक्तलक्षणानि भविष्यन्तीति तत्राह—व्यञ्जकेति । उक्तलक्षणानि खलु व्यञ्जकानि भवन्ति तानि च यथायथं दूषितानि, प्रमाणं च प्रत्यक्षं द्रव्यखण्डनावसरे दूषितम्, अन्यच्च न निरूप्यते अतस्तादृशी नास्ति जातिरित्यर्थः ।

किञ्च सामान्यमेव यदा दुर्लक्षं, तदा दुर्लक्ष्यतराणि तद्वान्तरकर्मत्वादिसामान्यानि दुर्लक्ष्यतमानि च तद्गर्भलक्षणानित्यमिसन्धाय सामान्यखण्डनं प्रस्तावयति—सामान्यस्येति । तत्र किमनुवृत्तज्ञानं प्रति कारणं सामान्यं तज्ज्ञानेन प्रतीयमाणं वा अनुवृत्तं वा नित्यत्वे सत्यनुवृत्तं वा नित्यमेकमनेकसमवेतं वा इति विकल्प्य दूषयति—तथाहीत्यादिना । असमवेतस्यापि समवायवदनुवृत्तिसंभवाच्च चतुर्थपद्यमप्यनक्त्यम् । तत्र, तेषु मध्ये, इत्युत्तरश्लोकस्योपकारः । पक्षचतुष्टयेप्यतिव्याप्तिं दर्शयन्पूर्वार्थं व्याचष्टे—तथावदित्यादिना । तदेकदेशा धर्मोदयः । इदं चासाधारणसाधारणकारणविषययोर्ध्याययमुत्तरम् । नच विषयतया कारणमिति विशेषणीयम् । गौरिति विशिष्टव्यवहारे व्यक्तेरपि तत्पात्वापातात् । नापि द्वितीय इति । यथानुवृत्तप्रत्ययः कारणतया सामान्यमनुमापयति, एवं सामर्थ्यं तदेकदेशांश्चेति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । न तृतीय इति । अनेकवृत्तिसंयोगवृत्तिः, सा च संयोगविभागद्विलादिव्यप्यस्तीति तेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । अनेककार्यवृत्तिष्विति । सयोगिनामपि वृत्तिरस्त्येव, इतरथा । कुण्डेषु बदराणां वृत्त्यभावप्रदर्शनायसामानाधिकरणान्तम् ।

१ जाताविति शेषः । २ अनेकव्युत्पादिकार्यसंयुक्तमित्यर्थः । ३ गुणत्ववारणाय संख्यावृत्तिः । ४ सत्कारणत्वायसामानाधिकरणान्तम् ।

नापि पञ्चमः । विकल्पासहत्वात् । तथाहि किमनेकत्वसंख्याविशिष्टेषु समवेतत्वमनेकसम-
वेतत्वमुताश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वमाहोस्तिस्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाव-
वत्समवेतत्वम् । न प्रथमः । गुणकर्मवृत्तिसामान्येष्वन्याप्तेः, अद्रव्यत्वेन गुणकर्मणोः
संख्यानधिकरणत्वात् । नापि द्वितीयः । अन्यैर्विशेषैः परमाणुरूपैश्च व्यभिचारात्, तेषा-
मपि यत्किञ्चिदाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वात् । न तृतीयः । स्वशब्देन जातिवि-
वक्षायामात्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । नित्यत्वं च स्वप्रच्युत्यनुपलक्षितसत्तायोगित्वं प्रध्वंसप्रतियोगि-
त्वानधिकरणत्वं वा स्वप्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं वा । न प्रथमः । जातेर्जात्यनधिक-
रणत्वेन लक्षणस्यासंभवेत्वात् । न द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । किं तत्प्रतियोगित्वं यद्-
नधिकरणत्वं नित्यतामभिधासि, किं तन्निरूपकत्वमुत तेन सहानवस्थितत्वम् । नाद्यः । जाते-

ज्ञादिति भावः । समवायेऽप्यतिव्याप्तिः । असंबन्धत्वविशेषणेपि पूर्वमुत्तरम् । नन्वस्तु पञ्चमस्तथा च नाति-
व्याप्तिः । समवेतशब्देन परमाण्वाकाशादिव्यावृत्तेर्नित्यपदेनैव संयोगादिति । तथाच श्रीवल्लभः—'नित्यमेकम-
नेकसमवेतं सामान्यमिति । एकपदेन चान्यविशेषव्यावृत्तेरिति । तत्राह—नापीति । दूषणपरतयोत्तरार्थं यो-
जयति—किमनेकत्वेत्यादिना । अनेकत्वसंख्या द्वित्वादिसंख्या । स्वाश्रयेति । स्वस्य सामान्यस्य च आश्र-
यस्वरप्रतियोगिकान्योन्याभाववान् यस्तस्मिन्समवेतत्वम् । एवं ह्यनेकाश्रयत्वमुक्तं भवति । तस्यैव तस्मादन्य-
त्वायोगादित्यर्थः । अनेकत्वसंख्याविशिष्टे समवेतत्वमनेकसमवेतत्वमित्युक्तम् । गुणत्वकर्मत्वतदवान्तरजा-
तिषु तद्गर्भलक्षणस्याव्याप्तेरित्याह—न प्रथम इत्यादिना । तत्र हेतुः—अद्रव्यत्वेनेति । अन्यैर्विशेषैरितीदं
ह्यन्यविशेषाणामपाश्रिवपरमाणुविशेषगुणानामीश्वरज्ञानादीनां नित्यद्रव्यसमवेतैकत्वसंख्यापृथक्स्वरपरमाणुना-
मुपलक्षणम् । तेषां नित्यत्वात्तादाश्रयाणां च यत्किञ्चिदाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वादतोतिव्याप्तिस्तेष्वि-
त्यर्थः । स्वशब्देनेति । स्वाश्रयेत्यत्र स्वशब्देन यत्किञ्चिद्विवक्षायां पूर्वोक्तदोषः, जातिविवक्षायां तेनैव
तल्लक्षणादात्माश्रयः, पूर्वोक्तातिव्याप्तिश्च । तेषामपि सामान्याश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वादिति
भावः । एवमनेकसमवेतत्वानिरुक्त्या लक्षण दूषयित्वा नित्यत्वानिरुक्त्यापि तदूषयति—नित्यत्वं चेति ।
इदमपि श्लोकस्थचशब्देनास्त्विति । प्रच्युतिर्विनाशः, तेनानुपलक्षितसत्तायुक्तत्वं सत्तायामसभवि, निःसा-
मान्यत्वात् सामान्यस्येति प्रथमं पक्षं दूषयति—न प्रथम इति । आत्मादिष्वन्याप्तिः । तत्र वर्तमान-
सत्ताया अपि षैटादिप्रच्युत्युपलक्षितत्वात् । एतेन स्वरूपसत्ताविवक्षापि प्रतिक्षिता । प्रमेयरूपस्य तस्या-
नुवृत्तस्य तथात्वात्, इतरस्य च व्यावृत्तस्यानुगतनित्यशब्दार्थत्वायोगात् । स्वप्रच्युतीति विशेषणे चात्माश्र-
यत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् । प्रतियोगित्वविकल्पस्य प्रकृतोपयोगित्वमाह—यद्नधिकरणत्वमिति । किं प्रध्वं-
सनिरूपकत्वं किंवा प्रध्वंससहानवस्थितत्वमित्यर्थः । आद्ये तत्प्रतियोगित्वानधिकरणत्वं प्रध्वंसनिरूपकत्व-
मिति भावत, तच्चातिद्वमित्याह—नाद्यो जातेरिति । ध्वंसोऽन्य इत्यत्र कस्मादन्यत्वमित्यपेक्षायां जाते-
रिति जातिर्निरूपकेत्यर्थः । नचान्यत्वं प्रत्येव तदिति वाच्यम् । सतो पटस्य ध्वंस इत्यादौ विशेषणतया

१ पटत्वादिजातेः सत्ताजालनधिकरणत्वेनेत्यर्थः । २ अयं भावः । जातेर्निरूपकत्वसन्धेनान्यत्ववत्यन्वयो
न तु ह्यन्यत्वे । पदार्थः पदार्थेनान्वेति ननु पदार्थैकदेशेनेति न्यायविरोधात् । जातेक्षान्यत्ववदध्वंसनिरूपकत्वासं-
भवादन्यत्वनिरूपकत्वे पर्यवसानम् । स्वर्गां ध्वस्त इत्यादिवदेकदेशान्वये तादपर्यम् । यदा निरूपकत्वं व्यावर्तकत्व-
रूपं विशेषणस्यापि संभवति । प्रकृते च जातिविशिष्टान्यत्वस्य ध्वंसोऽन्येन जातेरपि ध्वंसविशेषणतया तन्निरूपकत्व-
मिति बोध्यम् । ३ परमाण्वादिषु व्यभिचाररूपमित्यर्थः । ४ अन्यविशेषादीनामित्यर्थः । ५ स्वपदेन यत्किञ्चिद्विव-
क्षायामिति भावः । ६ स्वरूपसत्त्वस्येत्यर्थः । ७ षैटादिप्रच्युत्युपलक्षितत्वात् इत्यर्थः । ८ स्वपदेन जातिविवक्षाया-
मिति भावः ।

ध्वंसोऽन्य इत्यत्र जातेरपि ध्वंसनिरूपकत्वात् । न द्वितीयः । सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्वानां घटध्वंसेन सह पृथिव्यामनवस्थानात् । नापि तृतीयः । जातिप्रध्वंसस्यैवाप्रसिद्धत्वात्प्रतियोगित्वस्याप्रसिद्धेः । ननु ब्रह्मणि तवापि नित्यत्वं सिद्धं तर्हि जातावप्यपसि । मैषम् । ब्रह्मणो निर्धर्मकतया नित्यत्वधर्मानधिकरणत्वात् । कथं तर्हि तद्व्यपदेश इति चेत्, विनाशस्य दुर्निरूपत्वादिति ब्रूमः । ननु घटादेरपि विनाशो दुर्निरूपः । सत्यम् । स्वरूपेण परमार्थस्य तदनिरूपणे नित्यत्वव्यपदेशात्, घटादेश्चातथात्वात् ।

त्वं पुनः सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमित्यादिभाष्यदर्शनात्प्रित्यत्वं साधर्म्यमिच्छसि । अस्तु तर्हि मनस्त्वात्मत्वातिरिक्तनित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सति समवेतं सत्तानाश्रयः सामान्यमिति सामान्यलक्षणमिति चेन्न । यतः 'जातेरद्याप्यसिद्धेऽसत्तादेरप्यसिद्धितः । तदनाश्रयतान्यत्वलक्षणेऽन्योन्यसंश्रयः ॥ ११ ॥' जातिमात्रलक्षणसिद्धौ सत्तात्मत्वमनस्त्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ चात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति सत्तानाश्रय इति लक्षणवि-

तस्यापि तथात्वात्, स्वरूपभेदादिनां तस्यापि भावाच्चेति । द्वितीयेपि ध्वंसासमानाधिकरणत्वस्य तत्प्रतियोगित्वे तदनधिकरणत्वं नाम ध्वंसासमानाधिकरणत्वानधिकरणत्वं वक्तव्यम् । नचैतदित्याह—न द्वितीय इति । यद्यपि कपाले सामानाधिकरण्यमस्ति तथापि तन्त्वादिरूपपृथिव्यादौ तदभावादसमानाधिकरणत्वानधिकरणत्वं नास्तीत्यर्थः । स्वध्वंसेनेति तु तृतीयपक्षदूषणेनैव दूषयिष्यते । यत्किञ्चित्प्रध्वंसप्रतियोगित्वं संयोगादेरप्यस्तीति तत्र लक्षणस्यातिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम् । स्वध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं नित्यत्वमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—नापीति । ननु ब्रह्मणो निर्धर्मकतया नित्यत्वं नास्तीति वक्तुमयुक्तम्, 'आकाशवत्-ध्वंगतश्च नित्यः, नित्यं विभुं सर्वगतं च' इत्यादिश्रुतिविरोधादिति शङ्कते—कथं तर्हीति । नात्र नित्यत्वं नाम धर्मो विवक्षितः, अद्वैतश्रुतिविरोधात्, किंतु दुर्निरूपविनाशत्वादिति परिहरति—विनाशस्येति । ननु ब्रह्मव्यतिरिक्तानिर्वाच्यत्वयादिनो घटादेरपि विनाशो दुर्निरूप इत्याशङ्क्य परिहरति—सत्यं । स्वरूपेणेति । यथाहि रज्जुवर्षादेर्नाशो दुर्निरूपः, नचैतावता तेषु नित्यत्वव्यपदेशस्तत्कस्य हेतोर्धर्मिणो दुर्निरूपत्वात्तथा वियदादेरपि, ब्रह्मणस्तु स्वरूपेणापि परमार्थत्वात् स्वरूपेण परमार्थत्वे सति दुर्निरूपविनाशत्वलक्षणनित्यत्वं संभवात्प्रित्यत्वव्यपदेश इत्यर्थः ।

नन्वस्मन्मतेऽपीदमेव नित्यत्वं सामान्यस्य भवत्विति तत्राह—त्वं पुनरिति । तथाहि सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्यत्वमकारणत्वमसामान्यविशेषवत्त्वं नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्वं चैत प्रशस्तपादभाष्यम् । तत्र च स्वात्मसत्त्वं स्वरूपसत्त्वम् । बुद्धिलक्षणत्वं बुद्धिमहिम्नैतानि लक्ष्यन्ते । अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यम् । अत्यन्तव्यापृत्युद्धिहेतवोऽन्त्या विशेषाः । इहप्रत्ययहेतुः समवायः । अकारणत्वानात्मगुणकार्यं प्रति, तत्र च नित्यत्वं साधर्म्यमभिप्रेतम् । साधर्म्यं समानो धर्म इत्यर्थः । एतेन नित्यत्वं सत्यनेकसमवेतमिति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि निरस्तम् । शिवादिस्वामिप्रोक्तलक्षणमुद्रावयति—अस्तु तर्हीति । सत्तानाश्रयः सामान्यमित्युक्ते अभावसमवाययोरतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं समवेतमित्युक्तम् । तावत्तु चान्यत्वविशेषैश्चतिव्याप्तिस्वदर्थं नित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सतीत्युक्तम् । एवंचात्मत्वमनस्त्वयोरव्याप्तिस्त्वदीयस्यमात्रसमवेतत्वात् अत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति, आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तं यत्किञ्चमात्रसमवेतं तदन्यत्वे सतीत्यर्थः । द्रव्यगुणकर्मव्यावर्तनाय सत्तानाश्रय इत्युक्तम् । जातिरेव तावदप्यापि न शिद्धा भवत्य एव तद्विशेषसत्तात्मत्वमनस्त्वानामप्यतिद्विस्ततश्च सत्तानाश्रयत्वेनात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वेन च सामान्यत्वगोऽन्योन्याश्रयः स्यादिति संप्रहृष्टोकार्थः । अन्योन्यसंश्रयं विशदयति—जातिमात्रेति । ननु सत्पि

१ सत्त्वातिरूपेणादिः । २ सत्त्वस्यापि ध्वंसनिरूपकत्वादित्यर्थः । ३ जातेर्ध्वंसोऽन्य इत्यनेतिशेषः । भेदस्य सात्त्विकसत्त्वस्यैवातिरिक्तत्वादि भावः । ४ आत्मगुणं शानादिकं प्रतिष्ठु विषयविषया सामान्यादीनां कारणत्वरूपेणैव शोच्यते ।

शेषणसिद्धिरिति परस्परश्रयता । तथाहि घटवृत्तिवृत्तित्वे सत्यात्मवृत्तिर्जातिः सत्तेति परैरभ्युपेयते, न धर्ममात्रं भावमात्रं वा । धर्ममात्रत्वे घटवृत्तिरूपादेरात्मनश्चान्योन्याभावेऽतिव्याप्तेः । भावमात्रत्वे वाऽपरजातिमत्त्वलक्षणे धर्मे गुणकर्मणोरारम्भे च वर्तमानेऽतिव्याप्तेस्त्वादवस्थ्यात्, अतः परिशेषादेवंविशेषिता जातिः सत्तेति वाच्यं, तथासति कथं नान्योन्याश्रयता, तथात्मत्वमनस्त्वलक्षणे च । तथाहि । घटावृत्तित्वे सत्यात्मनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिरात्मत्वम्, एवमाकाशावृत्तित्वे सति मनोनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिर्मनस्त्वं, नतु धर्ममात्रं भावमात्रं वा, तदुभयनिष्ठान्योन्याभावे बहुत्वसंख्यायां च व्यभिचारात्, तथाच तदतिरिक्तत्वलक्षणे कथं न प्राचीनदोषानुपपन्नः, कथं च सत्सदित्यबाधितप्रत्यये सति सत्ताया गोत्वादावभावः । नचैकार्थसमवायात्सदिति प्रत्ययः गुणकर्मणोरपि तयोपपत्तौ सत्ताऽभावप्रसङ्गात्, सत्तासमवाययोः सदिति व्यवहाराभाव-

सत्तादीनां जातिमेदत्वं, तथापि न तेषां सामान्यज्ञानाधीननिरूपणमतो नान्योन्याश्रयतेति, तत्राह—**तथाहीति** । जातिः सत्तेत्युक्ते गुणत्वादावतिव्याप्तिरत उक्तमात्मवृत्तीति । तथाप्यात्मत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं घटवृत्तित्युक्तम्, तथापि द्रव्यत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं घटवृत्तित्युक्तम् । घटवृत्तिनी ये गुणकर्मणी तद्वृत्तित्यर्थः । ननु घटवृत्तिवृत्तिरात्मवृत्तिभावः सत्ता, अथवा तथाविधो धर्मविशेषः कश्चिदिति सत्तालक्षणमस्तु, न जातिविशेषणं युक्तं, येनान्योन्याश्रयता स्यादिति, तत्राह—**न धर्ममात्रमिति । घटवृत्तीति** । रूपादेरात्मनश्च यो धर्मभूतो घटान्योन्याभावस्तत्रैतल्लक्षणमस्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । भावमात्रत्वे दूषणमाह—**भावेति** । अस्ति हि गुणकर्मणोरारम्भपरजातिमत्त्वं धर्मः, सच भावरूपोऽप्रतिषेधात्मकत्वादितरथातिप्रसङ्गात् । किंच विशिष्टरूपमिदं, विशिष्टं च विशेषणविशेष्यतत्संबन्धात्मकम्, नच तेषां नियमेनाभावत्वमिति कथमीदृशानामभावान्तर्भावः । यथाह 'विशेषणं विशेष्यं च तैस्संबन्धफलार्पकम् । ज्ञानरूपं स्वसामर्थ्याद्वैशिष्ट्यमिति कील्यैत' इति । ततश्च तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वसंश्लेषान्योन्याश्रयमाह—**तथात्मत्वेति** । तयोरपि जातिगर्भत्वाल्लक्षणस्येत्वाह—**तथाहीति** । सत्ताद्रव्यत्वयोरतिव्याप्तिपरिहाराय घटावृत्तित्युक्तम् । उदकत्वगुणत्वाद्यतिव्याप्तिवारणायैवमन्योन्याश्रयत्वान्ताभावाप्रतियोगिनीत्युक्तम् । मनस्त्वलक्षणमाह—**एवमिति** । अत्रापि सत्ताद्रव्यत्वाद्यतिव्याप्तिनिरूपणार्थमाकाशावृत्तित्युक्तम् । घटत्वादिष्वतिव्याप्तिपरिहाराय मनोनिष्ठत्वादिविशेषणम् । यदि हि धर्ममात्रमात्मत्वमनस्त्वे स्याता, तदा तदुभयनिष्ठावाःमनोनिष्ठौ यावन्न्योन्याभावौ आत्मनि घटान्योन्याभावो मनसि चाकाशान्योन्याभावस्तयोरतिव्याप्तिः स्याताम् । अथ भावमात्रं, तदात्मवृत्तिज्ञाने मनोनिष्ठबहुत्वसंख्याया चातिव्याप्ती स्यातामित्यर्थः । बहुत्वसंख्याप्रदं ज्ञानादेरप्युपलक्षणम् । प्राचीनदोषोन्योन्याश्रयः । सत्तानाश्रय इति विशेषणं सत्ताव्यतिरिक्तगोत्वादिष्वसिद्धं, गोत्वं सद्रव्यत्वं सदित्यबाधितानुत्पत्तप्रत्ययवन्नात्तेयार्थमपि सत्ताश्रयत्वप्रतीतेरित्याह—**कथं च सत्सदिति** । ननु गोत्वादिषु सदिति प्रत्ययो न सत्तानिमित्तः किंतु सत्तया सहैकस्मिन्नर्थे गवादौ समवायादिति, तत्राह—**नचैकार्थेति** । गुणकर्मणोरपि द्रव्ये तदेकार्थसमवायात्तदुपपत्त्या सत्ताऽभावः प्रसज्येत, एवमवयविष्वपीति भावः । किंच यदि सत्तैकार्थसमवायात्तत्र सदिति व्यवहारस्तर्हि सत्तायाः सत्तान्तराभावेन समवायस्य चासमवायित्वेन सत्तैकार्थसमवायो नास्तीति सद्बुद्धिस्तत्र न स्यादित्याह—**सत्तासमवाययोरिति** । किंच सत्तायामेवाव्याप्तिः, तस्याः सत्ताश्रयत्वात् । नचा-

१ सत्तालक्षणे जातिपदमपहाय धर्मपदं भावपदं वा न निवेदयमिति भावः । २ जातिपटिवे इति शेषः । ३ अतिकरणभेदेनाभावभेदो नेष्यते लाघवादिस्मिन्निषेधम् । ४ अपरजातिमत्त्वमित्यर्थः । ५ तत्संबन्धः फलार्पकमिति पाठः शोमनो भाति । विशेषणं विशेष्यं तत्संबन्ध इत्येतेषां फलतोऽपेक्षमवमासकं ज्ञानरूपं भवति । कुतः स्वसामर्थ्यात् पदद्वयसमभिव्याहारसामर्थ्यादित्यर्थः । संबन्ध एव च वैशिष्ट्यमिति कील्यैते इति योजना । ६ सत्तानाश्रयत्वपदितजाति-लक्षणस्याव्याप्तिरिति संबन्धः ।

प्रसङ्गाच्च । विवादाध्यासितं सत्त्वारहितमपरजातिरहितत्वात् सत्तावदिति बाधकमिति चेन्मै-
वम् । सद्गोत्वं सदश्वत्वमित्यादिप्रत्यक्षविरोधे कालात्ययापदिष्टत्वात्, अन्यथा गुणकर्मणी सत्ता-
रहिते अद्रव्यत्वात्सत्तावदित्यपि स्यात्, अथ तत्रानुभवविरोधः, स न प्रकृतेऽपि दण्डवारितः,
तस्मादसंभवित्वात्सत्तानाश्रय इत्यलक्षणमेतत् । विशेषलक्षणमपि दुर्निलम् । तथाहि ।
नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषा इति न लक्षणं यतः—‘नित्यद्रव्यैकवृत्ति-
त्वमयोगपरिहारतः । न लक्षणमतिव्याप्तेस्तवात्मत्वमनस्त्वयोः ॥ १२ ॥’ आत्मत्वं मतत्वं
च नित्यद्रव्येष्वेव वर्तत एवेति तयोरतिव्याप्तिः । ननु कालाकाशादियु नित्यान्तरेष्वसत्त्वा-
न्नतत्सर्वत्र नित्येषु वर्तते विशेषास्तु नैवं, वर्तन्त एवेति नियमादिति चेन्न । प्रतिविशेषम-
व्याप्तेः । सर्वेषां विशेषाणां सर्वत्राभावात् । यज्जातीयमेवं स विशेष इति लक्षणार्थं इति
चेन्न । विशेषत्वजातेरनङ्गीकरणान् । उपाधेर्विवक्षितत्वाददोष इति चेन्न । तदुपाधिसिद्धौ

त्माश्रयान्योन्याश्रयानवस्थाः उत्पत्तिज्ञान्यप्रतिबन्धकतया प्रमेयैत्वादाविव भवन्मते दूषणत्वाभावादिति । विवा-
दाध्यासितमिति गोत्वं विचक्षितं, जातिरहितत्वादित्युक्ते साध्याविशिष्टता तदर्थमपरग्रहणम् । नहि द्रव्यत्वादि
द्रव्यत्वादिकमस्तीति तेषु मतमिति भावः । यदि प्रतीतावनादरस्तर्हि गुणादावपि न जातिसिद्धिरुक्तानुमानस्य
तत्रापि प्रचारादित्याह—अन्यथेति । शिवादित्वमिधलक्षणमुपसंहरति—तस्मादिति । कन्दलीकारो-
लक्षणमनुवदति—नित्येष्वेवेति । द्रव्येषु ये वर्तन्ते ते विशेषा इत्युक्तेऽभावसामान्यसमवायेष्वतिव्याप्ति-
संदर्भं द्रव्येष्वेवेत्युक्तम् । तथापि गुणकर्मणोः प्रागभावप्रध्वंसयोश्चातिव्याप्तिस्तदर्थं नित्येष्वेवेत्युक्तम् । तथा-
प्यात्मत्वमनस्त्वयोर्नित्यद्रव्यगतगुणविशेषेषु चातिव्याप्तिरत उक्तं वर्तन्त एवेति । अनेन केंद्रादिद्वयैः नि-
द्वयैश्च व्यावर्त्यते । ते च नित्यद्रव्ये कादाचित्ककाचित्कानां ज्ञानादीनामकादाचित्कानामपि काचित्कानां
मनस्त्वादीनां व्यवच्छेदः, तेषां कालतो देशतश्चाहंतेरपि विद्यमानत्वाद्दत्तं एवैत्ययमंशो न संभवतीति भावः ।
तदलक्षणमित्युक्तम्, तत्र दूषणं श्लोकेन संघृह्णाति—नित्यद्रव्येति । यदिदं वर्तत एवैत्ययोगपरिहारतो
नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वं लक्षणमुक्तं, तत्र लक्षणम् । कृतः । लन्मते आत्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तेरिति श्लोको-
जना । अद्वैतवादिनो मनसो नित्यत्वं नास्ति नाप्यात्मत्वं जातिरित्यत उक्तं तत्रेति । संग्रहं विदुषोति—
आत्मत्वमिति । पूर्ववाची हृदयं शङ्कते—ननु कालेति । तर्हि सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वं किमेकैकविशेषतत्त्वं
किं वा संभूयमानानाम् । नान्यः । अनुगतलक्षणायोगात् । प्रथमे प्राह—प्रतिविशेषमिति । नन्वस्य एव
पक्षः, नचानुगतलक्षणासिद्धिः, अयोगान्ययोगव्यवच्छेदेन नित्यद्रव्यावृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्ययोगव्यवच्छेदेन
नित्यद्रव्यवृत्तित्वमिति मत्त्वमिति लक्षणादिति शङ्कते—यज्जातीयमिति । अनङ्गीकरणादिति । सामा-
न्यादीनां त्रयाणामित्युपक्रम्यासामान्यविशेषत्वमिति प्रदास्तपदैः साधर्म्याभिधानात्, अन्वयविशेषत्वहनेषु,
जातिमत्त्वे ह्यत्यन्तैव्यावृत्तत्वं न स्यात् । अत एवाश्रयस्यापि नाल्पैतव्यावर्तकैः स्युः । ननु यज्जातीयमित्यत्र
यदुपाधिकमित्युपाधिसामान्यं विवक्षितमित्याशङ्क्य तस्यैवाध्याप्यतिव्याप्तिरहितस्य लक्षणत्वमस्त्वपरयाधपत्तौ-
यत्वाद् कृतं तदुपजीविनाग्नेनेति दूषयति—न तदुपाधिसिद्धाविति । एतदेव विपक्षे बाधकत्वं

१ गोत्वसत्तासमवायादिकमित्यर्थः । २ यथा प्रमेयत्वं प्रमेयत्वाङ्गीकारेऽपि न त्वारमाश्रयादिकं तथा मनसत्ता
सत्तास्तीकारेपीति भावः । ३ एतयोः समवायिकारणमाश्रयित्वादिति भावः । ४ यत्किञ्चित्कालमिति इति-
त्यर्थः । ५ यत्किञ्चित्कालमिति सेत्यर्थः । ६ मनोमाश्रयित्वमित्यादिमित्यर्थः । ७ मनस्त्वादीनां कादाचित्क-
परार्थमिति तदुपाधिभावस्येत्यर्थः । ८ अत्र वृत्तियायो वैशिष्ट्यम् । परमुत्तरादि । ९ सतोभ्यादुत्पत्तिरिति ।
१० स्वकृतीव्यावर्तका इत्यर्थः ।

तदुपजीविनो लक्षणस्य वैयर्थ्यापातात्, असिद्धौ च लक्षणस्य दुरवधारणत्वात् । एकद्रव्याः स्वभावसन्तो विशेषा इत्यपि न लक्षणम् । एकद्रव्यत्वस्य दुर्निरूपत्वात् । तथाहि ।

किमिदमेकद्रव्यत्वं किमेकत्वसंख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतत्वमुताद्विष्टत्वम् । नाद्यः । द्रव्य-
निष्ठसामान्येष्वतिव्याप्तेः, तान्यपि हेकत्वसंख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतानि स्वभावसन्ति च,
सत्तासामान्यरहितत्वात् । नापि द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । तदपि कचिद्वृत्तित्वे सत्य-
न्यावृत्तित्वमुताश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वम् । न प्रथमः । प्राचीनदोपानुप-
ज्ञात् । सामान्यान्यपि हि किञ्चिन्नष्टत्वे सति तदन्यावृत्तीनि, सर्वत्रावृत्तेः । अत एव न
द्वितीयः । सर्वावृत्तित्वेनाश्रयप्रतियोगि कान्योन्याभाववद्वृत्तित्वस्यापि सामान्येषु भावात् ।
स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वं विवक्षितमिति चेन्न । स्वशब्देन
विशेषविवक्षायामात्माश्रयप्रसङ्गात् । एतदात्मवृत्तित्वे सत्येतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष
इति प्रतिव्यक्तिलक्षणं विवक्षितमिति चेन्न । अन्योन्याश्रयत्वात् । नित्यद्रव्याणां भेदा-
धिगतिहेतवो विशेषाः परैरभ्युपगम्यन्ते । ततश्च विशेषसिद्धौ नित्यद्रव्याणां भेदाधिगतिस्त-
त्सिद्धौ च विशेषाधिगतिरिति कथं नान्योन्याश्रयः ।

दृश्यति—असिद्धौ चेति । शीवलभोदयनयोर्लक्षणमनुवदति—एकद्रव्या इति । स्वभावसन्तो विशेषा
इत्युक्ते सामान्यसमवायोरतिव्याप्तिरत उक्तं एकद्रव्या इति । एकमेव द्रव्यं आश्रयो येषां नत्ववयविसंयो-
गादिवदनेकं ते तथोक्ताः । एकद्रव्या इत्येवोक्ते रूपादिगुणकर्मणोरतिव्याप्तिस्तदर्थं स्वभावसन्त इत्युक्तम् ।

तदेतदेकद्रव्यानिरुक्त्या दूषयति—किमिदमित्यादिना । एकत्वसंख्यावति वर्तमानत्वे सति स्वभाव-
सत्त्वं द्रव्यगतसामान्येष्वस्तीत्यतिव्याप्तिरित्याह—द्रव्यनिष्ठेति । स्वभावसत्त्वे हेतुः—सत्तासामान्येति ।
सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वमिति भाव्यमिति भावः—अद्विष्टत्वमिति कोर्यः, कचिद्वर्तमानत्वे सति
कचिद्वर्तमानत्वं द्विष्टत्वं तदभावोऽद्विष्टत्वमिति, किंवा स्वाश्रयान्योन्याभाववति वर्तमानत्वं द्विष्टत्वं तदभावो-
ऽद्विष्टत्वमिति । नाद्य इत्याह—न प्रथम इति । प्राचीनदोपेवानुपज्ञयति—सामान्यान्यपि हीति ।
सामान्यान्यपि गुणादिषु वर्तमानानि गुणादिष्वेकत्र वृत्तित्वे सति तदन्याभावाद्यवृत्तीनीत्युक्तलक्षणकानीत्यर्थः ।
अत एवेत्यतिदिष्टं विशदयति—सर्वावृत्तित्वेनेति । सामान्यादिष्ववृत्तित्वेन सर्ववृत्तित्वाभावादिति
भावः । ननु तादृगवृत्तित्वमात्रमत्र न विवक्षितं, किंतु स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वं,
न तत्सामान्येष्वस्ति, तेषामनेकवृत्तित्वेनोक्तरूपत्वाभावादिति शङ्कते—स्वाश्रयेति । अत्र स्वशब्देन किं
प्रवृत्तविशेषा गृह्यन्ते यत्किञ्चिद्वा । द्वितीये त्वसंभवः । प्रथमे विशेषैरेव विशेषलक्षणादात्माश्रयत्वमित्याह—
न स्वशब्देनेति । एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वासंभवेन यदुपपन्नमुक्तं तच्चिद्वृत्त्यर्थं प्रतिविशेषं पृथक्-
लक्षणं शङ्कते—एतदिति । नित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इत्युक्ते व्याहृतिः, असिद्धप्यवर्तनप्रसङ्गात्तच्चिद्वृत्त्यर्थं
एतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तीत्युक्तम् । तथाप्येकदात्मन्यतिव्याप्तिस्तदर्थमेतदात्मवृत्तित्वे सतीत्युक्तम् । एतदात्मवृ-
त्तिरित्येवोक्तावात्मत्वादिनार्थान्तरता तदर्थमेतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरित्युक्तम् । अत्र सैताराहित्यमप्यवगन्त-
व्यम् । वृत्तिशब्देन समवायस्य च विवक्षा । इतरथा तन्मानवृत्त्यन्योन्याभावादौ सुखादौ चातिव्याप्तिप्रसङ्गात् ।
अन्योन्याश्रयं विज्ञोति—नित्येति । तथाहि । अनित्यद्रव्याणामाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेर्न तेषु विशेषस-
द्भावे प्रमाणं, गुणकर्मणोरपि स्वाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेः, सामान्यमात्राश्रयत्वाच्च, तेषु न विशेषसिद्धौ
किञ्चिदस्ति प्रमाणं, नित्यानामपि विभिन्नलक्षणानां पार्थिव्याप्यपरमाण्वादीनां पार्थिवत्वादिनैव व्यावृत्तिरित्यत-
स्तुल्यलक्षणनित्यद्रव्यावृत्तिहेतवो विशेषाः स्वीक्रियन्ते । एवं च सति तादृग्विशेषसिद्धावैतदात्मसिद्धिरेत-
दात्मज्ञप्तौ च विशेषसिद्धिरिति परस्परआश्रयत्वमित्यर्थः ।

१ स्वरूपेणैव सद्रूपा ननु सत्तावन्त इति भावः । २ येन तन्मात्रवृत्तिप्रसङ्गादौ नातिव्याप्तिरिति भावः । ३ स्व-
गतविशेषधर्मैरित्यर्थः ।

अन्यत एव चेद्भेदाधिगमस्तदा विशेषाधिगमो व्यर्थः स्यात् । आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सति नित्यमात्रसमवेतः सत्तारहितो विशेष इत्यपि न लक्षणम् । परममहत्त्वसामान्येतिव्याप्तेः । अस्ति हीदं परममहदिदं परममहदित्यनुवृत्तप्रत्ययबोद्ध्या परममहत्परिमाणेषु परममहत्त्वं जातिः ।

नच तत्र व्यञ्जकाभावः । नित्यमहत्परिमाणस्यैव तद्व्यञ्जकत्वात् । तर्हि तेनैव परममहत्त्वव्यवहारोपपत्तौ व्यर्था जातिकल्पनेति च न वाच्यम् । व्यञ्जकमादाय जातिनिरासे गोत्वादेरपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात् । नचैवं परमाणुत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्गः । तत्र पृथिवीत्वादिना परापरभावस्थानिरूपणात् । यदि पृथिवीत्वं परं, तर्हि परमाणुत्वस्य पृथिवीत्वाव्यभिचारत्सलिलादिपरमाणुषु परमाणुत्वं न स्यात्, अथापरं तर्हि परमाणुत्वस्य परत्वे पृथिवीत्वं परमाणुत्वं न व्यभिचरेदिति सर्वा पृथिवी परमाणुरेव स्यात्, तेन न परमाणुत्वं जातिः, नचैवमत्र बाधकमस्तीति परममहत्त्वजातौ भवेदेवातिव्याप्तिः । नित्यमात्रसमवेतत्वं च किञ्चि-

अथानुमानादिप्रमाणान्तरेणैतदात्मादिरूपनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यधिगतिस्तर्हि विशेषकल्पनं मुधा । नच योगिनां प्रत्यक्षतया व्यावृत्त्यधिगमस्य तत्कल्पनम् । प्रथमत्वेनैव तदुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वादित्यभिसन्धिग्रहणं अन्यत एव चेदिति । किञ्चैतदात्मविशिष्टस्यैतलक्षणमुपलक्षितस्य वा । आये विशेषणासिद्धिः । न हेतुदात्मविशिष्टस्यैतदात्मवृत्तित्वं सम्भवति, अंशत आत्माश्रयलप्रसङ्गात् । द्वितीये स्वसंभव, एतदात्मोपलक्षितस्याप्येतदात्मवृत्तित्वाभावात्, तत्कस्य हेतोः, तदपि हेतुतदुपलक्षितत्वविशिष्टं तदुपलक्षितं वा स्यात् । अन्तेऽनवस्था । आये फलतो विशेषणपक्षात् विशेष इति । शिवादित्यभिधोक्तलक्षणमुद्भाव्य दूषयति—आत्मत्वेति । सत्तारहितो विशेष इत्युक्ते समवायाभावयोरतिव्याप्तिस्तदर्थं समवेत इत्युक्तम् । तथापि सामान्येतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रेऽप्युक्तम् । तथाप्यात्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तिरत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सतीति । सत्तारहित इति ध्यणुकादिव्यर्थच्छेदः । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—परममहत्त्वेति । ननु परममहत्त्वं नाम न सामान्यमस्ति प्रमाणाभावादिति, तत्राह—अस्तीति । अनुवृत्तप्रत्ययस्यासति बाधके जातिविषयत्वमिति हित्वदङ्गीकारः, सचात्राप्यस्तीत्यर्थः । परममहत्परिमाणं महत्त्वावान्तरजातिमन् महत्परिमाणत्वाद्भवित्तत्त्वादपरिमाणवदित्यनुमानादपि तरिसद्धिरवगन्तव्या ।

ननु नात्र नियतव्यञ्जकमस्ति, नित्यपरिमाणत्वस्य परिमाणत्वसाधारण्यादिति, तत्राह—नच तत्रेति । न नित्यपरिमाणत्वं व्यञ्जकमपि तु नित्यमहत्परिमाणत्वमिति भावः । ननु तर्हि तेनैव व्यञ्जकेनानुवृत्तप्रत्ययव्यवहारसिद्धावधिकजातिकल्पना मुधेति तत्राह—तर्हीति । आभाससमानयोगक्षेमतामाशङ्क्य परिहृयति—नचैवमिति । तत्र जातिसद्व्यवहारो बाधकः, नेह तथास्ति किञ्चिद्विद्याह—तत्रेति । परापरभावान्तेषु विवृणोति—यदीति । पृथिवीत्वस्य परत्वे तद्व्युत्पत्तेः परमाणुत्वस्य तद्विदित्सलिलपरमाणुषु वृत्तिर्न स्यात् अस्ति च तदित्यर्थः । परमाणुत्वस्य परत्वे दूषणमाह—अथापरमिति । परमाणुत्वस्य परत्वेन तद्व्युत्पत्तेः पृथिवीत्वस्य तद्विदित्सलिलपरमाणुषु वृत्तिर्न स्यादित्यर्थः । समुदायदूषणमुक्त्वाऽवयवानिरूपणादपि दूषयति—नित्यमात्रेति । एकनित्यवृत्तित्वं सर्वनित्यवृत्तित्वं वा विवक्षितम् । आये सर्वविशेषाव्याप्तिः । सर्वविशेषाणां एकनित्यद्रव्यवृत्त्यभावात् । द्वितीये न क्वापि संभवः । एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यावृत्तेरिति उक्तत्वात् । एकनित्यद्रव्यवृत्तित्वमपि किमेकलनित्यत्वविशिष्टद्रव्यवृत्तित्वं तदुपलक्षितद्रव्यवृत्तित्वं वा इत्यन्तत्त्वं वा । आये संख्यानित्यत्वयोरपि विशेषाधारत्वप्रसङ्गादसंभवि लक्षणम् । द्वितीयवृत्तीययोर्लक्षणं मात्रवृत्तित्वं स्यादुपलक्षणस्य कार्यानन्वयात् । तथाच सर्वद्रव्यसामान्येऽतिव्याप्तिः । तथा रासाविशिष्टे तद्व्य-

न्नित्यसमवेतत्वं सर्वनित्यसमवेतत्वं वा । उभयथापि लक्षणस्याव्याप्तिः । सर्वेषां विशेषाणां एकनिष्ठत्वाभावाच्च । किं चात्र प्रमाणम् ।

समानजातिगुणकर्मकार्याः परमाणवोऽन्योन्यव्यावर्तकधर्मसमवायिनः द्रव्यत्वाद्भावादि-
वत् । तथा 'सत्ता सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गिणी जातित्वाद्भोत्वच'दिति लीला-
वतीकारोत्रीतमनुमानं प्रमाणमिति चेन्मैवम् । आद्यप्रयोगे पृथक्त्वेन सिद्धसाधनत्वात् ।
नच वाच्यं पृथक्त्वस्य पृथक्त्वान्तरसदृशत्वान्न ततो व्यावृत्तत्वबुद्धिसिद्धिः । याहि यतो
व्यावृत्तिबुद्धिः सा न तत्सदृशधर्मकार्या, यथाश्वात्कुञ्जरस्य । तदणोरपि नाप्यन्तराव्या-
वृत्तबुद्धिः सदृशधर्मकार्येति । अयं विशेषोयं च विशेष इति विशेषेष्वपि सदृशबुद्धेः

नसुखादावतिव्याप्तिः, तेषामप्युक्तलक्षणवत्त्वात्, सत्ताश्रयत्वं तत्रास्तीति चेन्नून बधिर इव भवानामाति,
कथमन्यथा सत्ताविशिष्ट इति विशेषैर्ण श्यतः शङ्का स्यात् । नहि सत्ताविशिष्टेपि सत्तास्ति, अशत आत्मा-
श्रयप्रसङ्गादिति । नच नित्यत्वानधिकरणासमवेतत्वं तदिति वाच्यम् । गित्यमात्रनिष्ठकार्यप्रतियोगिकप्रागभा-
वप्रसङ्गस्योर्ध्वमिचारात् । नच भावत्वविशेषणम् । पूर्वोक्तजातावतिव्याप्ते । किच किमेतैर्लक्षणैर्लक्ष्यं, इत्या-
दिप्रसङ्गमुतातिरिक्तम् । नायः । असिद्धेः । नान्यः । तत्र प्रमाणाभावेनासिद्धत्वादित्यभिप्राह—किंचा-
त्र प्रमाणमिति ।

श्रीवल्लमीयमनुमानद्वयं साङ्गते—समानेति । अत्र च जातिभिर्गुणै कर्ममित्सादारब्धकार्यैश्च व्यावर्तकै-
रर्धान्तरतापरिहारापत्तेः समानताप्रहणम् । निरवयवद्रव्यत्वादिभिर्घटादिव्यावर्तकैरर्धान्तरतापरिहारायान्यो-
न्येत्युक्तम् । गवादियु च गोत्वादिना साध्यप्रसिद्धिः । तथा सत्तेति । भावासंसर्गिणीत्युक्ते सामान्यसमवा-
यासंसर्गित्वासाधनेन तत्सिद्धिपर्यवसानार्थान्तरता तथाऽसंसर्गिणीत्युक्तेऽभावासंसर्गित्वपर्यवसायितयार्थान्त-
रता तदुभयनिवृत्त्यर्थं सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्युक्तम् । यस्माच्च भावात्सा व्यैबल्यते सोन्य-
विशेष । द्रव्यादिन्याससर्गित्वस्य व्याघातादिति । दूषयति—मैवमित्यादिना । अत्र किमयोगिनः प्रति-
व्यावर्तकधर्मसमवायित्वं शिवक्षितं योगिनः प्रति वा । नायः । तेषां परमाणुसाक्षात्काराभावात् । द्वितीये तु
योगिनः परमाणुश्रुतज्ञानमेव कृतः सिद्धं येन व्यावर्तकधर्मपेक्षा । अथ ब्रूयैत्समानजातिगुणकर्मकार्याः
परमाणवोऽन्योन्यव्यावर्तकसमवायिधर्मविशिष्टबुद्धिद्विपया द्रव्यत्वाद्भवदिति, तत्राह—पृथक्त्वेनेति ।
तदाह पैतृजलिः । योगिविवेकज्ञानविषयं दर्शयन्पृथक्त्वंदूषणावसरे—'तत्रैपि देशलक्षणमेदो मूर्तिव्यवधिः
जातिमेदश्चान्यत्वधीहेतु'रिति । तत्त्वर्चो'रटीकारोपि—'इति सर्वमेदप्रत्ययस्यान्यथासिद्धेर्नान्यविशेषकल्पने'ति
'भूतचरेण देहसबन्धेन मुक्तात्ममेदो योगिबुद्धिगम्य उच्येय' इति च । इममपि दोष स एव परिजहार यत आह
'नच पृथक्त्वादिकमेव परमाण्वन्तरात्परमाणुव्यावर्तकबुद्धिजनकमस्तु, तस्य परमाण्वन्तररुतिपृथक्त्वादिना
सदृशत्वात् । या हि यतो व्यावृत्तिबुद्धि सा न तत्सदृशधर्मकार्या यथाश्वात्कुञ्जरस्य । तदणोरपि नाप्यन्त-
राव्यावृत्तित्वसदृशधर्मकार्येति । तदेतदमूय निराचष्टे—नच वाच्यमित्यादिना । न तत्सदृशेति ।
तद्धर्मसदृशः धर्मसत्सदृशधर्मः । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—अयं विशेष इति । एतेन नित्य-

१ पतदसमवायिनीलथः । २ समाधत्ते तदणोरपीत्यादिना । ३ शानस्तेति शेषः । ४ विशेषलक्षणमित्यर्थः ।
५ परममहत्त्वेत्यर्थः । ६ पूर्वोक्तयुक्त्यादूषितत्वेन लक्षणानामित्यादि । ७ इदंभावासंसर्गित्वं सत्तया साध्यते इत्यर्थः ।
८ न तत् सत्तया साध्यते इति भावः । ९ प्रकारान्तरेण योगिनः प्रति विशेष साध्यमित्यर्थः । १० अन्योन्य-
व्यावर्तको यः समवायी धर्मः तद्विशिष्टा ये परमाण्वादवः तद्विपया वा ब्यावृत्तिबुद्धितद्विपया इत्यर्थः । ११ जाति-
लक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्सुखयोस्ततः प्रतिपत्तिरिति सूत्रशेषभाष्ये व्यास इत्यर्थः । १२ विशेषदूषणावसरे इति शेषम् ।
१३ अत्र वाक्ये लक्षणं चिह्नं मूर्तिः संस्वान् देहो वा भवविष्यवधानमित्यर्थः । १४ भाष्यव्याख्याने वाच-
रपतिरित्यर्थः ।

स्वीकारात् । द्वितीयोऽपि प्रयोगः 'आश्रयासिद्धिदुष्टत्वादप्रसिद्धविशेषणात् । प्रमाणतामशु-
चीत न प्राभाकरभाट्टयोः ॥ १३ ॥ सत्ताजातेरनङ्गीकारात्प्राभाकरं प्रत्याश्रयासिद्धिरुचिता ।
एवं समवायस्य चानङ्गीकाराद्भाट्टं प्रति समवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्यप्रसिद्धविशे-
षणः पक्षः । विशेषाख्यभावानभ्युपगमेपि तदसंसर्गित्वसिद्धेरर्थान्तरता च । किंच सामा-
न्यसमवायातिरिक्तभावशब्देन द्रव्यगुणकर्माण्यभिधीयन्ते किं वा विशेषा भावमात्रं वा ।
नाद्यः । अपसिद्धान्तापातात् । सत्ताया द्रव्यगुणकर्मसु वृत्तेः स्वयमङ्गीकृतत्वात् । न
द्वितीयः । विशेषाणामाध्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात् । नापि तृतीयः । विकल्पासहत्वात् ।
असंसर्गित्वपदेन किमसंसर्गितामात्रं विवक्षितमुत संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वम् ।
नाद्यः । सिद्धसाधनत्वात्, अतीतानागतव्यक्तिभिः सत्ताया अध्यसंसर्गित्वस्वीकारात् । नापि
द्वितीयः । दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, गोत्वस्यापि किंचिद्भावसंसर्गित्वेन तदत्यन्ताभावा-
धिकरणत्वाभावात् । आकाशं गुणैसामान्यव्यतिरिक्तसमवायि द्रव्यत्वाद्दृष्टवदितिमानमनोहर-
कारोक्तमनुमानान्तरमस्तीति चेन्मैवम् । प्राभाकरं प्रति शक्त्या सिद्धसाधनत्वात्, तेन शक्ये-

द्रव्यव्यावृत्तिहेतवोऽन्यविशेषा इत्यपि लक्षणं प्रतिक्षिप्तम् । द्वितीयोपि प्रयोग इत्यस्य प्रमाणता नाशुबीवेत्-
त्तरल्लोकस्यपदेनान्वयः । तत्र हेतुभूतानि दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—आश्रयेति । आश्रयासिद्धेरप्रसिद्ध-
विशेषणतयोर्यथायथं प्राभाकराणां भाट्टानां च सवन्धः । इदमेव दूषणद्वयं विवृणोति—सत्ताजातेरित्या-
दिना । सर्वसाधारणं चार्थान्तरत्वं दूषणमाह—विशेषाख्येति । सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गित्वं
साध्यमानं न नियमेन तत्सर्ता साधयति, तदभावेपि तदसंसर्गित्वोपपत्तेः । नहीदमसंसर्गित्वं नाम विभा-
येन समवायिकारणतया तस्यापि सत्त्वमपेक्षेत । नच तदसंसर्गित्वस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य धर्म-
पेक्षेति वाच्यम् । अत्यन्तासतोपि प्रतियोगित्वधर्मिलयोरुपपत्तेरिति भावः । भङ्गयन्तरेणाप्रसिद्धविशेषणता-
माह—किंचेति । अपसिद्धान्तापत्तिमेव दर्शयति—सत्ताया इति । अङ्गीकृतत्वादिति । द्रव्यरीनां
त्रयाणां सत्तासवन्ध इति भाष्यमतस्तादृशभावात्सत्ताया व्यावृत्तिसाधनमयुक्तमिति भावः । ननु न विशेषा-
रमकभावादसंसर्गित्वं साधयामो येनाप्रसिद्धविशेषणता, अपित्वविवक्षितविशेषाद्भाट्टात्प्रात्रादिति तृतीयं पक्षं
दूषयति—नापि तृतीय इति । भावासंसर्गिणीत्यत्रासंसर्गित्वं संसर्गित्वाभावमात्रं किंवा संसर्गित्वात्यन्त-
भाव इति विकल्प्याद्य दूषयति—नाद्य इति । तामेव विवृणोति—अतर्ति । भावमात्रादसंसर्गित्वमात्रं
हि सत्तायाः सिसाधयितं, तच्चातीतादिभ्यः सिद्धमिति न विशेषसिद्धिः, सिद्धसाधनं चेदमर्थान्तरत्वम् ।
साध्यवैकल्यमेव दर्शयति—गोत्वस्यापीति । बाधश्च द्रष्टव्यः । किंच सत्ता सामान्यसमवायिविशेषातिरि-
क्तभावासंसर्गिणी जातित्वाद्गोत्ववदित्यनुमानसमवादाभाससमानयोगक्षेपरत्वं, विपक्षे बाधकतर्कभावाच्छङ्ख-
प्रयोजकता च । मानमनोहरकारीयमनुमानं शङ्कते—आकाशमिति । एतच्च तथीयविवादपदविवरणम् ।
एतच्च विभुद्रव्यमात्रोपलक्षणम् । समवायीत्युक्ते शब्दादिगुणस्य सामान्यस्य च समवायित्वेनार्थान्तरता तदर्थ-
गुणसामान्यव्यतिरिक्तैत्युक्तम् । घटे च कर्मणा साध्यसिद्धिः । आकाशे च तदभावाद्विशेषसिद्धिः । अस्मा-
र्थान्तरत्वमाह—मैवमिति । शक्तिः पदार्थान्तरमिति हि गुरुणा मतं, तत्समवायिप्रयुक्तं च दूषणमाह—

१ सामान्यसमवायातिरिक्तभावद्रव्यादित्रयप्रतियोगिकममवायाभाववत्त्वसिद्धेरित्यर्थः । अतो न व्यापारो न वा
विशेषसिद्धिरिति बोध्यम् । २ विशेषा इति द्वितीयो विकल्पः । भावमात्रं चेति तृतीयः । ३ द्रव्यादिप्रवाणुषोर्भि-
समवायप्रतियोगित्वस्य सत्तायां स्वीकारादिति भावः । ४ गोत्वमेवैतरेनेत्यर्थः । ५ इदमप्रमाणः । ६ सत्तायां
वैषां दूषणवत्त्वं व्यावृत्तकारवाभावादिति भावः । ७ विशेषस्यापीत्यर्थः । यदि असंसर्गित्वं विभागः स्यात्त-
त्समवायिकारणतया विशेषस्य सत्त्वमपेक्षेतेत्यर्थः ।

णसामान्यव्यतिरिक्त्या वियदाश्रयताश्रयणात् । समवायमनभ्युपगच्छतोर्भाट्टवेदान्तिनोरप्रसि-
द्धविशेषणत्वात्, वेगवत्त्वोर्पोष्युपहृतत्वाच्च । तस्मान्न विशेषलक्षणमपि साधु । नापि समवाय-
लक्षणम् । तथाहि । अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुर्यः संबन्धः स समवाय
इति समवायलक्षणपरं परेषां भाष्यम् । अस्य चायमर्थः । युतसिद्धिरुभयोरपि संबन्धिनोः
परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वं, सा ययोर्नास्ति तावद्युतसिद्धौ, तयोः संबन्धः समवायः
यथा तन्तुपटयोः । तत्र यद्यपि तन्तवः स्वारंभकावयवाश्रितास्तथापि पटस्य तन्वाश्रितत्वात्
द्वयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम् । तेनानित्यौनां द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं युत-
सिद्धिः, अयुतसिद्धिस्तु तद्विपरीता । नित्यानां तु पृथग्गमनयोगित्वं युतसिद्धिस्तद्विपरीतायुत-
सिद्धिः । यथाकाशद्रव्यत्वयोः । तत्रायुतसिद्धयोः संबन्ध इत्येतावति लक्षणे सुखस्य धर्मस्य
च कार्यकारणभावसंबन्धोपि समवायः स्यात् । आत्मैकाश्रिततया तयोरयुतसिद्धत्वात्तदर्थ-
माधार्याधारभूतानामिति पदम् । एवमप्याकाशस्याकाशपदस्य च चान्यवाचकसंबन्धः सम-
वायः स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमिहप्रत्ययहेतुरिति पदम् । नहि तस्मात्संबन्धादिहेदमिति बुद्धिर्जायते ।
केवलाकाशस्यैव प्रतीतेः । आधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुरित्येतावति लक्षणे कुण्डबद्ध-
संबन्धेऽतिव्याप्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमयुतसिद्धानामिति पदम् । “न समस्तमेवेदं समवायलक्षण”मिति

भाट्टेति । व्याप्त्यासिद्धिमाह—वेगवत्त्वेति । इदमप्याभाससमानयोगक्षेमं, शक्यतेऽनुमातुं आकाशं
गुणसामान्यविशेषव्यतिरिक्तसमवायि इत्यव्याहृतवदिति । यं च समवायमवलम्ब्यामुक्तसमवाय्यमुक्तसमवायीति
निरर्गलं जल्पसि सोपि समवायो दुर्निरूप इत्याह—नापि समवायेति । तत्र प्रशंखापादोक्तं लक्षणमनुव-
दति—तथाह्ययुतसिद्धानामिति । भाष्यं व्याचक्षणः कृत्स्नस्य तस्य लक्षणपरतां दर्शयति—अस्य
चायमर्थ इति । तत्रायुतसिद्धेः युतसिद्धिज्ञानाधीनत्वं तावद्दर्शयति—युतसिद्धिरिति । ननु कथं तन्तु-
पटयोरयुतसिद्धिः, तावता पटसंबन्धव्यतिरेकेण तन्तूनां स्वावयवाश्रितत्वमिति, तत्राह—तत्र यद्यपीति ।
उभयोः पृथगाश्रयाश्रितत्वं युतसिद्धिः । नचेह तथात्वं पटस्य संबन्धितन्तुव्यतिरिक्तानाश्रितत्वादित्यर्थः ।
फलितमाह—तेनेति । द्वयोरपि संबन्धातिरिक्ताश्रयाश्रयित्वं, युतसिद्धिस्तद्विपरीतां अयुतसिद्धिरित्यर्थः ।
नन्वियं चेद्युतसिद्धिर्गतं तर्हि परमाणूनां युतसिद्ध्या, भवितव्यं च तथा, इतरथा परमाण्वोः संयोगाभावेन ब्यु-
क्त्याकार्यान्तरम्भप्रसङ्गात्, सदातनभावप्रसङ्गात् ब्युत्पादेः, अयुतसिद्धपरमाणुसंबन्धस्य सदातनत्वादित्यत आह
—अनित्यानामिति । का तर्हि नित्यानां परमाणुमनसामाकाशादिभिः परस्परं च युतसिद्धिरिति तत्राह
—नित्यानां त्विति । यथाकाशद्रव्यत्वयोरित्येति । नहि तत्रान्यतरस्यापि पृथग्गतिमत्त्वमस्ति, यथा-
काशपरमाण्वोरिति भावः । उक्तार्थां विभागस्तदीयभाष्ये । सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्, इयं
तु नित्यानां, अनित्यानां तु युतेर्भावधेयु समवायो युतसिद्धिरिति । इदानीं श्रीधराचार्यरीला विशेषणानु-
पयोगं दर्शयति—तत्रेत्यादिना । ननु कथं सुखधर्मयोरयुतसिद्धिरिति तां दर्शयति—आत्मैकेति ।
उभयोः परस्परानाश्रयत्वे सति परस्परानाश्रयातिरिक्ताश्रयत्वं हि युतसिद्धिस्तदाहित्वं चानयोरस्तीति भावः ।
इदं तु चिन्त्यम् । कथमनयोः परस्परानाश्रयातिरिक्तानाश्रययोरयुतसिद्धिरिति । द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावस्यै-
वायुतसिद्धत्वोपपत्तौ परस्परपरिहारविशेषणवैयर्थ्यात् । नच नित्यरीला, अनित्यत्वात् । तृतीयविशेषणकृत्यामाह
—एवमपीति । अस्याकाशतद्वाचकाकाशादिपटयोरयुतसिद्धिर्वाधाराधेयभावश्चाकाशविशेषगुणत्वात्सायेति

१ शब्दापनुत्पत्त्याः समवायेनेति शेषः । २ इदन्ते साध्यव्यापकता । पक्षे साधनाव्यापकता । ३ निर्धारणे
पट्टी । तयोः । ४ पृथग्भूतेष्वित्यर्थः । ५ परस्परानाश्रयत्वे सतीति विशेषणैक्यर्थः ।

कन्दलीकारः । तदसत् । 'न स्याद्युतसिद्ध्यादि समवायस्य लक्षणम् । विशेषणविशेष्यत्वसंबन्धे व्यभिचारतः ॥ १४ ॥' इह भूतले घटाभाव इति विशेषणविशेष्यभावलक्षणेपि संबन्धे लक्षणस्यातिव्याप्तिः । अस्ति हि तत्रायुतसिद्धिर्भूतलघटाभावयोः, भूतलसखावयवाश्रितत्वेऽप्यभावस्य भूतलातिरिक्ताश्रयाभावात् । अस्तिचाधार्याधारभाव इहप्रत्ययश्च । अथ भावयोरीदृशः संबन्धः समवायः, तथापीह पटे रूपसमवायो रूपसमवायान्पट इति विशेषणविशेष्यभावे लक्षणस्यातिव्याप्तिः । उक्तलक्षणस्य तत्रापि संभवात् । अथ गुणगुणिनोः क्रियाकारकयोरवयवावयविनोर्जातिजातिमतोर्विशेषतद्वतोश्च यः संबन्धश्चेत्तरूपः समवाय इति चेन्न । तेषामेवान्योन्यविशेषणविशेष्यभावेतिव्याप्तिः ।

तत्र समवायस्यैवेहप्रत्ययहेतुत्वं नेतरस्येति चेन्न । एवमपीहाकाशे शब्द इत्यत्रेहशब्दस्या-

भावः । इत धारभ्यासिद्धान्तोपक्रमं निगदव्याख्यातम् । कन्दलीकार इति । किरणावलीकारपक्षे हि न समस्तमिदं भाष्यं लक्षणम्, अपि त्वयुतसिद्धानां संबन्ध इत्येतावत् । तेन च नित्यः संबन्ध इति लक्षणमुक्तं भवति । इहप्रत्ययहेतुरिति च तत्र प्रमाणोपन्यासः । इहप्रत्ययस्य च निर्विपर्ययत्वेनासंभवपरिहारायाद्यथायथैव तानामिति विषयनिर्देश इति भाष्ययोजनेति भावः । तदेतद्व्युत्पत्तिः—तदसदिति । अयुतसिद्धिं पुरस्कृत्य यदिदं लक्षणमुक्तं तन्न स्यात् । कुतः । विशेषणविशेष्यत्वसंबन्धे व्यभिचारदिति श्लोकयोजना । उत्तरार्धे विशेषणोति—इह भूतल इति । ननु यद्यपि तयोराधाराद्येवभावः प्रतीयते, तथापि कथमयुतसिद्धिरिति, तत्राह—अस्तिहीति । अन्यतरस्य पृथगाश्रयाश्रयिस्वाभावे भवत्येवायुतसिद्धिरिति भावः । निगदव्याख्यानेन ग्रन्थेन लक्षणविशेषं तत्र वर्तयति—अस्ति चेति । विशेषणान्तरं शङ्कते—अथेति । तथापि भावैरूपगुणगुण्यादिनिष्ठसमवायसमवायिगतविशेषणविशेष्यभावेतिव्याप्तिरित्याह—तथापीति । शङ्कते—अथ गुणगुणिनोरिति । क्रियाकारकयोः, कर्मतद्वतोरित्यर्थः । ननु किमनेनाधिकरणमाशङ्कते, यावत्तत्रैव पूर्वमप्यतिव्याप्तिरुदीरितेति, सत्यम् । दुष्टेऽस्माभिप्रायः । सचामिप्रायदोषो नन्तरमेवाभिर्विषयति । पक्षमु हि स्थलेपु समवायसंभवस्तदेतेपुक्तविधेः संबन्धः समवायो, विशेषणविशेष्यभावस्त्वतिरिक्तेष्वपि व्यवहारप्रसवितेति नातिव्याप्तिरिति भावः । तथाप्युक्तातिव्याप्तितादवस्थमिति परिहरति—न तेषामेवेति ।

योसावभिप्रायदोषः पूर्वमुद्धतस्तमुद्धिरन्यैरनुयुक्ते—तत्र समवायस्यैवेति । यद्यपीहपटे रूपमित्यादौ विशेषणविशेष्यभावोप्यस्ति, तथापि नासाविहप्रत्ययहेतुः, तत्कस्य हेतोः, अमुक्यत्वात् । औपचारिकः यत्नं विशेषणविशेष्यभावः संबन्धः । नच मुख्यसंभवेऽप्यौपचारिकाश्रयणं युक्तम् । न खलु बलवर्मेणि कौर्यशौर्यरोपविस्तृतरोजद्वस्फन्धादिगुणयोगादिसहशब्दः प्रवृत्तः सिंहेपि तन्निमित्तः प्रयुज्यते, अस्ति हि तदिति, तस्मात्समवाय एव तत्र हेतुरिति । अत्र तावदिदं वक्तव्यम् । कथं विशेषणविशेष्यभावस्यौपचारिकत्वमिति । नियामकत्वं वा संबन्धद्विजनकत्वं वा संबन्धत्वं, तत्र सर्वं संयोगादिभ्यो विशेषणाविशेष्यभावस्य न विशिष्यते । नच मूलसंबन्धापेक्षत्वाद् औपचारिकत्वम् । संयोगस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । नच मूलसंबन्धाभावाद् औपचारिकत्वम् । सर्वत्रैसिद्धेः, समवायेपि तथाभावप्रसङ्गात् । तदेतदपिना सूचयन्त्युपणान्तरमाह—एवमपीति ।

१ अधिकरणभेदेनाभावभेद इति मतेनेदम् । भेदाभावपक्षेऽपि भूतलेऽवर्तमानत्वे सति अन्यत्र इतिराभावादेवमुक्तम् । २ इहप्रत्ययहेतुरित्यर्थः । ३ सिद्धान्तरारम्भं मर्यादीकृत्येत्यर्थः । ४ इह पटे रूपसमवाय इत्यत्र पुनित्येव समवायगतो विशेषणविशेष्यभावः । उच्यते तु समवायिगते गुणनिष्ठः स इति बोध्यम् । रूपानेतिष्ठसमवायविशेषणत्वे रूपस्यापि तत्रादिति भावः । ५ अधिकमाशङ्कते इति पाठो भाति । ६ संयोगस्य समवायरूपमूलसंबन्धस्य अपेक्षत्वं । विशेष्यविशेषणभावस्य तु न तथेति भावः । ७ विशेष्यविशेषणभावस्यारि मूलभूतो बुद्धिधर्मिकत्वः स्वरूपसंबन्धोऽत्येवेति मूलसंबन्धाभावात्सह इति भावः । विशेष्यत्वोपगमाभौकतीत्या समवायस्यारि औपचारिकत्वप्रसङ्गमेति भावः ।

काशस्य च वाच्यवाचकसंबन्धे इहप्रत्ययहेतावतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात् । तत्र हि गुणगुणि-
नोराधार्याधारभूतयोर्युतसिद्धयोरिहप्रत्ययहेतुरिहेतिशब्दाकाशयोरस्ति वाच्यवाचकलक्षणः
संबन्धः । किंचाधार्याधारभूतानामिति व्यर्थं विशेषणम् । अयुतसिद्धयोरिहप्रत्ययहेतुः संबन्ध
इत्येतावत्यपि लक्षणे भवतामव्याप्त्यतिव्याप्त्यभावात्, अनाधार्याधारभूतयोरिहप्रत्ययस्यैवानु-
दयात् । अस्तु तर्ह्येतावलक्षणमिति चेन्न । तत्रापि प्रागुक्तवाच्यवाचकसंबन्धेऽतिव्याप्तेः ।

भवतु तर्ह्यर्वाचीनमतानुसारेण नित्यः सवन्धः समवाय इति लक्षणमिति चेन्न ।
विशेषणविशेष्यभाव एव व्यभिचारात् । सोऽनित्यः प्रतियोगिनोरनित्यत्वादिति चेत्तथापि
नित्यप्रतियोगिनिविशेषणविशेष्यभावे व्यभिचारस्य तुल्यत्वात्, प्रतियोगिनोरनित्यत्वेन
संबन्धानित्यत्वापादनस्य समवायेपि समानत्वाच्च । भावैरूपत्वे सतीति विशेषणादयमदोष
इति चेन्न । अजसंयोगे व्यभिचारात् । स एव नास्तीति चेन्मैवम् । प्रमाणसिद्धत्वात्, आका-
शमात्मना संयुज्यते संयोगित्वाद्भवत् । नच क्रियावत्त्वमूर्तत्वादिरूपाधिः । तद्व्यतिरेकेऽस्यो-

ययप्याकाशावाचकप्रदानवाच्यवाचकभावस्येहप्रत्ययहेतुत्व नास्ति तथापीहाकाशे शब्द इत्यनेहशब्दस्या-
काशस्य च वाच्यवाचकसंबन्धेतिव्याप्ति स्यादित्यर्थः । एतदेव विवृणोति—तत्र हीति । गुणगुणिनो-
रिति । इहेतिशब्दाकाशयोरित्यर्थः । नच तत्रापि समवाय एवेहप्रत्ययहेतुर्न वाच्यवाचकभाव इति वच-
नीयम् । तथा सति अग्रहीतसंगतिकानामपीहेति पदध्रवणादिहेति बुद्धुपुदयप्रमत्तात्, अस्ति हि समवाय इति ।
किंचाधार्येभूतानामिति विशेषण व्यर्थम् । इहप्रत्ययहेतुरित्यनेनैवाधार्याधारभावस्यापि सिद्धत्वादित्याह-
किंचेत्यादिना । उत्तरौ चोद्यपरिहारौ विशदौ ।

लक्षणान्तरं शङ्कते—भवत्विति । एतच्चैतद्वाच्यार्थतयोदयेन समर्थितं लक्षणं, तदेव श्रीवल्लभवादिवा
गीश्वरसर्वदेवानां समतं लक्षणम् । अत्र च संयोगव्यवच्छेदाय नित्यप्रहणम् । आत्मादिव्यवच्छेदाय सवन्ध-
प्रहणम् । ननु न विशेषणविशेष्यभावे लक्षणप्रसक्ति, तस्य नित्यत्वाभावाद्, घटतद्रूपादिप्रतियोगिको ह्यय
संबन्धः, सच प्रतियोग्यनित्य इत्यनित्य एवायमिति शङ्कते—सोऽनित्य इति । तत्रायमेकोऽनेको वा । एकत्वे
नित्यवृत्तित्वेभान्नित्यत्वमस्यापि वक्तव्यं, तथाच तत्रातिव्याप्ति । अनेकत्वे प्राह—तथापीति । न खलु सर्व-
प्रानित्ययोरेव विशेषणविशेष्यभावः, नित्यानामप्यात्मतज्जातिप्रभृतीनामात्मतज्जातिमानित्यादौ विशेषणविशे-
ष्यभावदर्शनात्तत्तत्र तत्र न प्रतियोगिद्वाराप्यनित्यत्वमित्यर्थः । किंचानित्यप्रतियोगिस्थलेपि न विशेषणविशे-
ष्यभावस्यानित्यता, समवायेपि तथाभावप्रसङ्गादित्याह—प्रतियोगिनोरिति । शिवादित्यमतं शङ्कते—
भावरूपत्वे सतीति । तथाप्यजसंयोगेतिव्यापकं, स हि विभुद्रव्यसंयोगत्वात्ततोऽन्यकर्मभ्यां जायते,
नापि संयोगज, कारणकारणसंयोगजायमानं खलु कार्यकार्यसंयोग संयोगजसंयोग । नच विभुद्रव्य
संयोगस्यैवभावः, तेषामकारणत्वेन तत्संयोगस्य कारणकारणसंयोगजन्यत्वाभावादतत्त्वत्रातिव्याप्तिरित्याह
—नाजसंयोग इति । नन्वजसंयोग एव नास्ति प्रमाणाभावाद्यथाह भाष्यकार—‘नाज संयोगेस्ति नित्य-
पारिमाण्डल्यवत्पृथगानभिधाना इति । तदेतच्छङ्कते—स एवेति । विभुद्रव्ययोरपि संयोगेनुमानं मानंमाह
—आवाशमिति । इदमनुमानमाशङ्क्य मानमनोहरकारो दूषयामास । “तत्र क्रियावत्त्वस्य मूर्तत्वस्य परत्वा-
परत्वयोर्वोपाधे, आत्माकाशेन न संयुज्यते अमूर्तत्वाद्द्रूपादिवदि”ति श्रुवाण । तत्रोपाधिं दूषयति—नचेति ।
उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि व्याप्तिरेष्टव्या, अन्यथा साध्याव्यापकत्वप्रसङ्गात्, सा च नास्ति, सोपाधिकत्वादि-
त्याह—व्यतिरेक इति । रूपादावमूर्तत्वात्मसयोगित्वाभावयोर्व्याप्तावसंयोगित्वमुपाधिस्तथा च व्यतिरेक-

१ परममहत्परिमाणोदिरूपेत्यादि । २ निरूपकयोरित्यर्थः । ३ विशेष्यविशेषणभावस्य च न भावरूपत्वम् ।
भेदरूपत्वात् । तथा हि नीलादिशाप्यो भेद एव घटादौ विशेष्यता । स एव च शापकतासंबन्धेन नीलादौ वर्त-
मानो विशेषणरूप इति भावः । ४ क्रियावत्त्वादिरूपोपाध्यभावेन साध्याभावोत्पत्तये इत्यर्थः ।

गित्वस्यैवोपाधित्वात् । किंचाकाशमात्मना संयुज्यत इत्यात्मसंबन्धाधार इति साध्ये क्रियाव-
त्वमूर्तत्वयोरुपाधित्वमेव नास्ति, आत्मनि साध्याव्याप्तेः, तस्मादुक्तयुक्त्या न समवायस्य
लक्षणसंभवः । प्रमाणमपि तत्र प्रत्यक्षमनुमानं वा । नाद्यः । तदभावात् ।

इह तन्तुपु पट इति प्रत्यक्षमस्तीति चेन्न । विचारासहत्वात् । समवायो ह्याधारबुद्धिं कुर्या-
दाधेयबुद्धिं बोभयबुद्धिं वा । सर्वथापि नोपपद्यते । तन्तुपटयोरुभयोरप्याधारबुद्धेराधेयबुद्धे-
रुभयबुद्धेश्चाविशेषेण प्रसङ्गात् । जातिजातिमन्तौ मिथःसंबन्धावित्यस्यैवानुभवान्तरमिहेति
चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । अस्मिन्ननुभवे समवायस्तदीयत्वेन वान्यदीयत्वेन

व्याप्तिभङ्गात्साध्योपाधोरपि व्याप्तिभङ्ग इत्यर्थः । एतेन मानमनोहरोक्तं प्रत्यनुमानमपि निरस्तम् । एवं च
साध्याव्यापक उपाधिः । आत्मना संयुज्यते इति कोर्थः, आत्मनिष्ठास्वन्ताभावप्रतियोगित्वानाकान्तसंयोगा-
धिकरणमिति । तथाच कथं मूर्तत्वाद्युपाधिः संभवति, आत्मन्येव साध्याव्याप्तेः । यच्च तेन स्वानुमानेऽ-
व्यत्वमुपाधिमाशङ्कोकमाकारे तदभावेन साध्याव्याप्तेरिति, तदप्येवं साध्यव्याख्याने क्रियमाणे निरवकाशम्,
उपाधिवदेव साध्यस्याप्याकाशेऽभावेन साध्यव्याप्तेरीक्ष्यमाणत्वात् । मूर्तत्वं च पक्षेतरत्वात्तौपाधिः । तथाहि ।
परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं मूर्तत्वं, तत्र परिमाणवत्त्वमित्यनेनैव साध्यव्याप्तिसिद्धौ परिच्छिन्नप्रहणं पशुहृताकाश-
शुल्यविभुद्वयव्यावृत्त्यर्थमिति कथं न पक्षेतरः । सोयमविदितस्वरसाध्यतत्त्वो निर्विषयानेव दूषणभावा
नाहोपुरुषिकयैव भाषमाणो 'निमित्तादपरादेशेर्धानुष्कलेव वल्गितमि'ति न्यायविषयतां नातिवर्तते ।
नित्यत्वानिरूपणाच्च तद्विशिष्टलक्षणसिद्धिः । तथाहि तत्किं ध्वंसाप्रतियोगित्वं स्वध्वंसाप्रतियोगित्वं वा ।
आधे संयोगेतिव्याप्तिः । तस्यापि यत्किंचिद्ध्वंसाप्रतियोगित्वात् । नेतरः । आत्माभ्रयात्, प्रतियोगिध्वंसादे-
धानिरूपणात् । किंच 'तर्तलक्षणवलक्ष्ये तत्तलक्ष्म न विद्यते । आत्माभ्रयादतोऽव्याप्तिलोषु स्यात्तत्तलक्ष्म-
णाम् ॥ १ ॥ नच तेषामलक्ष्यत्वं पटपदार्थातिरेकतः । नचाल्यन्तमसत्त्वं तद्बुद्धेर्बाधायभावतः ॥ २ ॥
नामाववर्गनिक्षेपस्तेषामप्रतियोगिनः । प्रतियोग्यनिश्चयस्याभावता जातिर्चकितः ॥ ३ ॥ किंच 'तत्तल-
क्ष्ये लक्ष्माणि वर्तन्वा न वा वद । वर्तन्वदि च तत्तलक्ष्येऽतिव्याप्तिरापटेत् ॥ ४ ॥ न चेत्तदा तदा सेतु
लक्ष्येष्वव्याप्तिरक्षता । न च तत्संभवायित्वं तत्तद्वैध्वंसंभवात् ॥ ५ ॥' नित्यः संबन्ध इति लक्षणं किं
संप्रतिषेधसंयोगादिसंबन्धस्य तदतिरिक्तस्य कस्यचिद्वा । नाद्यः । अपसिद्धान्तौपातात् । न द्वितीयः । तसि-
न्प्रमाणाभावादित्यसिंधिराह—प्रमाणमपीति ।

ननु किमिति प्रमाणाभावः, प्रत्यक्षस्य सत्त्वादिति शङ्कते—इह तन्तुपुटि । यथाहि तन्तुपुटेः पट-
शुद्धेऽपि विषयतया हेतुभूतो तन्तुपटो प्रतीयते तथेहेति बुद्धेर्जनकतया समवायोपि प्रतीयते इत्यनिमान-
'प्रत्यक्षवादिनः, दूषयति—नेति । पक्षत्रयोपि दूषणमाह—तन्तुपटयोरिति । आधारबुद्धिमात्रजनकत्वे
इहतन्तुपु पटेषु इत्युभयप्राप्याधारबुद्धिं कुर्यात् । द्वितीये तु तन्तवः पटे वर्तन्त इत्याधेयबुद्धिर्न कुर्यात् ।
तृतीये तु तन्तुप्राप्याधारधेयबुद्धिं पटेषुप्राप्याधारधेयबुद्धिं कुर्यादित्यर्थः । अविशेषेणोभयपुटेरिति शान्त्यः ।
प्रत्यक्षान्तरं शङ्कते—जातिजातिमन्ताविति । तदीयत्वेनेति । जातिजातिमन्तौनत्वेनेत्यर्थः ।

१ आत्मसंयोगित्वानुमाने क्रियावत्त्वरूपः । २ आकाशसंयोगित्वाभावादानुमाने इत्यर्थः । ३ आत्मसंयोगित्वा-
नुमान इत्यर्थः । ४ समवायलक्षणासिद्धिरित्यर्थः । ५ समवायलक्षणे समवायध्वंसप्रतियोगित्वस्यापिधेयो आत्मनः ।
समवायध्वंसप्रतियोगित्वस्याप्रसिद्धिश्चेति भावः । ६ तत्तलक्षणविशिष्टं तत्तलक्ष्ये लक्षणतररे आत्मात्मनः । निरि-
द्वयसरे विशेषेऽपि तत्तत्प्रसङ्गात् । अतस्तत्र लक्षणासरेऽव्याप्तिरित्यर्थः । ७ पटपदार्थाविषयप्रसङ्गादित्यर्थः ।
८ भावप्रधानो निर्देशः । अप्रतियोगित्वादित्यर्थः । ९ यदि प्रतियोग्यनिरूप्यस्यापि अभावात्ता भवेत्तदा मातृत्व-
मातृत्वमसत् इति भावः । १० लक्षणस्य लक्ष्ये समवायेन शृण्वित्त्वविषयार्थां जालादिषु स्वलक्षणस्यासंभवं इत्यर्थः ।
११ नित्यत्वेनेत्यादिः । १२ विभुद्वयसंयोगस्य समवायत्वापातादित्यर्थः । १३ पदकारोऽप्यर्थः । १४ तन्तु इति
वर्तने इतिवदिति चेन्न ।

वा स्वरूपेण वा प्रथत इति वक्तव्यम् । नाद्यः । तदीयत्वस्य संबन्धान्तरायत्तत्वेनानवस्थापातात् । न द्वितीयः । अन्यत्रैव संबन्धबोधप्रसङ्गात् । न तृतीयः । कचिदपि संबन्धप्रत्ययानुपपत्तेः । असत्येव संबन्धे तदीयत्वमनुभवसिद्धमिति चेन्न । जात्यादेरप्यसत्येव संबन्धे तदीयत्वानुभवप्रसङ्गात्, असत्ख्यातिप्रसंगाच्च । असत्येव संबन्धे संबन्धभ्यां निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारे जातेरपि संबन्धान्तरमन्तरेण व्यक्त्या निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारप्रसङ्गः ।

नानुमानमपि । लिङ्गाभावात् । विवादाध्यासित इहप्रत्ययः संबन्धपुरःसरोऽवाधिते-
हप्रत्ययत्वादिहकुण्डेवदराणीतिप्रत्ययवदित्यनुमानमस्तीति चेन्न । विशेषणविशेष्यभा-
वाधाराधेयभावसंबन्धादिना सिद्धसाधनत्वात् । विशेषणविशेष्यादैरेव मूलसंबन्धपुरःस-
रत्वं सिसाधयिषितमिति न सिद्धसाधनत्वमिति चेन्न । इहभूतले घटाभाव इत्यसिन्नेव
विशेषणविशेष्यभावप्रत्ययेऽनैकान्त्यात् ।

स्वरूपेण वेति । अपराधीनतया वेत्यर्थः । नाद्य इति । तत्संबन्धं विना तदीयत्वानुपपत्तेः समवायस्यापि
संबन्धान्तरवत्त्वेऽनवस्था स्यादित्यर्थः । अनवस्थापि द्वितीयपक्षे द्रष्टव्या । प्रथमपक्षेऽनवस्थापरिहारं शङ्कते—
असत्येव संबन्ध इति । इह गवि गोलमिलादौ तदीयत्वैव समवायः प्रतिभाति, नच तावता संबन्धव-
त्त्वम्, अप्रतीतिः । नच संबन्धाभावे तदीयत्वबुद्ध्यभावः । जातिव्यक्तिसमवायबुद्धीनामेव स्वभाववशात्तदीयत्व-
व्यवहारजनकत्वादिति भावः । एवं तर्हि समवायोपि न सिद्ध्यति, तत्तत्स्थलेपि संबन्धबुद्धिभिरेव जाल्यादीनां
तदीयत्वबुद्धिसंभवादिति दूषयति—न जात्यादेरपीति । दूषणान्तरमाह—असत्ख्यातीति । यदि हि
संबन्धव्यतिरेकेण तदीयत्वं प्रतीयते, तदा संबन्धाभावे एव तत्संबन्धत्वप्रतीतिरित्युक्तं स्यात्, ततोऽन्यत्र सद्-
न्यत्र प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातित्यागः असत्ख्यातिस्वीकारश्च स्यात् । नचान्यत्र सतः समवायस्य तत्र प्रतीतिः,
अन्यत्रापि तदभावस्वापादितत्वादिति भावः । विपर्ययाभावे जायमानशुक्तिरजतसंसर्गप्रत्ययवद्भ्रान्तित्वं वा
अस्तरयातिलम् । ननु समवायस्य समवायिभ्यां यदिदं निरूप्यत्वं तत्कृतेयं तदीयत्वख्यातिस्त्वेन नासत्ख्या-
तिप्रसङ्गः, निरूप्यनिरूपकभावस्यैव तदात्मन्त्वत्वादिति, तत्राह—असत्येवेति ।

तदेवं प्रत्यक्षं दूषयित्वाऽनुमानं दूषयति—नानुमानमिति । अनुमानं शङ्कते—विवादेति । इहपदे
रूपसमवाय इत्यादीहप्रत्यये बाधपरिहाराय विवादाध्यासितग्रहणम् । जाल्यादिप्रतियोगीत्यर्थः । इह शङ्के मीत-
मित्यादिप्रत्ययेषु व्यभिचारपरिहारायाबाधितग्रहणम् । असंबन्धपदार्थप्रत्ययव्यवच्छेदायैहेति विशेषणम् ।
तथाच कुण्डबदरादिवजातिषु सयोगासमवायसमवायसिद्धिरित्यर्थः । नेदं समवायषाधकं, जाल्यादेर्विशेषणवि-
शेष्यभावनादिसाधकतयाप्यर्थान्तरत्वादिति परिहरति—न विशेषणेति । नन्विहप्रत्ययस्य संबन्धपुरःसर-
त्वमनुमिन्वतामयममिप्रायः—यत्तत्प्रत्ययविशेषणविशेष्यभावस्य मूलभूतः संबन्धः सेत्स्यतीति शङ्कते—विशे-
षणविशेष्यादैरिति । तत्किमिदानीं जाल्यादिगोचरो विशेषणविशेष्यभावः संबन्धान्तरपूर्वकः विशेषण-
विशेष्यभावलाङ्घ्यादिष्विवेत्यनुमिनोषि, तथाचनैकान्तिकत्वम् । इहभूतले घटाभाव इहपदे रूपसमवाय
इत्यादिविशेषणविशेष्यभावस्य संबन्धान्तरपूर्वकत्वाभावादिति दूषयति—नेति । अत्र च शङ्कायामपि विप-
र्ययाच्चकपदं विपयिप्रत्ययस्य लक्षकं, प्रत्ययशब्दो वा परिहारे प्रमादलिखितः, अतो विपयस्य लक्षकत्वे “तत्प्र-
त्ययेनैकान्तिकत्वाभिधानमयुक्तमिति” नाशङ्कितत्वम् ।

१ संबन्धत्वेनेत्यादिः । २ समवाये इत्यादिः । ३ तथा सति न समवायसिद्धिरिति भावः । ४ प्रामाण्यमता-
वेद्यपेदम् । ५ जाल्यादिः प्रतियोगी विशेष्यतया निरूपको यस्मिन् प्रत्यये स तथैत्यर्थः । ६ विशेषणविशेष्यादैरिति
पदमित्यर्थः । ७ विषयीत्यादिः ।

यच्च लीलावतीकारेणानुमानमुक्तं, जात्यादिगोचरो विशिष्टव्यवहारः संबन्धनियवो
भावमात्रविषयाबाधितविशिष्टव्यवहारत्वात्सघटं भूतलमिति व्यवहारवत् । सामानाधि-
करण्यज्ञानमबाधितसंबन्धज्ञानपुरःसरमबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानत्वाद्दण्डकुण्डले देवद-
त्तसंसृष्टे इति ज्ञानवदिति । तदप्ययुक्तम् । प्रागुक्तनीत्या सिद्धसाधनत्वात् । अथ विशेषण-
विशेष्यभावादेः संबन्धत्वमेव नस्ति, अद्विष्टत्वात्, द्विष्टत्वे चोभयत्रापि विशेषणबुद्धेर्विशेष्य-
बुद्धेश्चाविशेषेण जननप्रसङ्गात्, एवमाधाराधेयभावेपि, ततो न सिद्धसाधनतेति चेन्मैवम् ।
द्विष्टत्वेपि कुण्डे बदराणीति प्रतिनियताधाराधेयभावबुद्धिजनकसंयोगवत्, तन्तुपु पट इति
प्रतिनियतप्रतीतिजनकसमवायवच्च बुद्धिवैचित्र्यजननोपपत्तेः, प्रतिवादिनाङ्गीकृतस वा-
द्यनङ्गीकारमात्रेण सिद्धसाधनतायाः परिहर्तुमशक्यत्वात् ।

अत्र लीलावतीकारः पूर्वपक्षावसरे स्वयमेवैतानि दूषणानि उद्गीर्य सिद्धान्तेऽनुमिमाय । तदनुवदति—
यच्च लीलावतीकारेणेति । अघटं भूतलमित्यादिपु बाधपरिहारार्थं जात्यादिगोचर इत्युक्तम् । अबाधि-
तविशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते अघटं भूतलमिति विशिष्टव्यवहारेऽनैकान्तिकत्वं तदर्थं भावमात्रेत्युक्तम् । भाव-
मात्रविषये विशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते पीतः शङ्ख इत्यादिव्यवहारेऽनैकान्तिकता तदर्थमबाधितेत्युक्तम् ।
इमौ घटपटावित्यादिव्यवहारव्यावर्तनाय विशिष्टपदम् । सघटं भूतलमित्यत्र संयोगमादाय साध्यसिद्धिः ।
अनुमानान्तरमपि तदीयमुद्भावयति—सामानाधिकरण्यज्ञानमिति । अबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानं
पक्षः । इतरथा भ्रान्तस्थले बाधासिद्धयोः प्रसङ्गात् । रूपं सैमवेतमिदं रजतमित्यादिस्थलेष्विवारोपितसंबन्ध-
ज्ञानेनार्थान्तरतानिदृश्यर्थमबाधितप्रहर्णम् । तादृशस्थलेष्वनैकान्तिकतानिदृश्यर्थं च हेतावबाधितप्रहणम् ।
घटः पट इत्यादिज्ञानव्यवच्छेदाय सामानाधिकरण्यपदम् । इदं समवायस्य प्रत्यक्षत्वसाधनाय प्रयुक्तम् ।
न्यायनये 'नतु प्रत्यक्ष एव समवाय' इत्युपक्रम्य नैयायिकमतेन समवायप्रत्यक्षतोपन्यासात्, तदेव दूषयति
—तदप्ययुक्तमिति । प्रागुक्तनीतिविशेषणविशेष्यभावः संबन्धः । ननु विशेषणविशेष्यभावादेः संबन्ध-
त्वमेव नास्ति, तत्कुतस्तेनार्थान्तरतेति शङ्कते—अथेति । नन्वद्विष्टत्वमेव कुतः, तत्राह—द्विष्टत्वे चेति ।
विशेषणविशेष्यत्वनियमो न स्यादित्यर्थः । इममेव न्यायमाधाराधेयभावेत्याह—एवमिति । तत्रापि बदरा-
देराधारत्वं कुण्डादेराधेयत्वं च प्रतीयत इत्यर्थः । दूषयति—मैवमिति । यथा हि कुण्डबदरसंयोगस्य दिग्-
त्वाविशेषेपि कुण्ड एवाधारबुद्धिं करोतीति रूपे, नतु बदरेषु, बदरेष्वेवाधेयबुद्धिं, नतु कुण्डे, तत्कस्य हेतो,
स्वभावविशेषादेव । एवमाधाराधेयभावदेरपीत्यर्थः । स्यान्मतं, न सयोगित्वमात्रात्कुण्डादेराधाराधेयभाव,
किं तर्हि, बदरपतनप्रतिबन्धकत्वं कुण्डस्य तदाधारत्वं, बदराणां च तत्प्रतिबद्धगुणत्वाधिकरणत्वं तदाधेयत्वं, तच्च
द्वयं प्रतिनियतमेवेति वैषम्यमिति, तत्राह—तन्तुपु पट इतीति । नहि तत्राधायवियोगरुचमवयवैः प्रतिबन्धते ।
नित्यप्रतिबन्धप्रसङ्गेनावयविनो नियमेन पतनाभावप्रसङ्गात्, रूपायाधारत्वाभावप्रसङ्गाच्च । नहि तेषां पतन-
मस्ति यत्प्रतिबन्धकतया तदाधारत्वं स्यात् । नवीपचारिकवचनम्, मुख्ये बाधाभावात्, वैपरीत्यस्यापि सु-
चत्वाच्च । तस्मात्तन्तुपु पट इत्यनोभयोः समवायाभ्रयत्वाविशेषेपि समवाये स्वभावविशेषादेव तन्तुपु पट-
बुद्धिः पटे चाधेयबुद्धिरित्यङ्गीकार्यं, सच्च स्वभावविशेषोत्रापि समानः । अथ तत्र समवायस्यैकत्वेपि व्यग्र-
शाक्तिवैचित्र्यात्प्रतिनियमः, ययोर्कं भाष्यकृता समवायेकत्वेन द्रव्यत्वगुणकर्मसङ्कराद्वाद्याः परिहारगुण-
रता 'यथा कुण्डद्रोः सयोगैकत्वेपि भवत्यध्याश्रयिभावनियमः, तथा द्रव्यत्वादीनां समवायेकत्वेपि व्यग्र-
शयव्यग्रकशाक्तिमेदादाधाराधेयत्वनियम इति मतं, तर्हि इहाप्याधाराधेयभावस्यैकत्वेपि व्यग्रकशाक्तिवैचित्र्य-
वैचित्र्यव्यवहार' इति समं समाधानमन्यत्राभिनविवेशादिति भावः । किंच प्रतिवादिना स्वसिद्धान्तानुरोधेन।

१ नीले पट इत्याधाकारकम् इति भावः । २ अनुममाविति पाठो भाति । ३ नमतीत्यादिः । ४ एवमेव
शेषः । ५ रूपायाधारत्वेति शेषः । ६ गुणायाधारत्वेत्यापीत्यर्थः । ७ व्यग्रशयस्यापि भावो पाठः सन्तुपु ।
व्यग्रशक्तिवासां व्यग्रकशाक्तिव्यर्थो इति भावः ।

किंचेदमवाधितत्वं सर्वानुमानेषु विवक्षितं, किं प्रत्यक्षेणावाधितत्वमुत युक्त्या किं वा व्यवहारे बाधराहित्यम् । नाद्यः । नीलं नभः प्रादेशिकः सवितेत्यादिविशिष्टव्यवहारे व्यभिचारात् । नापि द्वितीयः । युक्तिबाधविरहस्यात्राप्यसिद्धेः । तथाहि समवायः स्वतन्त्रः परतन्त्रो वा । नाद्यः । समवायिभ्यामसंबन्धे पदार्थान्तरवत्तद्वटकत्वाभावप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । संबन्धिभ्यां संबन्धे संबन्धान्तरसापेक्षत्वेनानवस्थाप्रसङ्गात् । अथ समवायः संबन्धिभ्यां संबन्धे संबन्धान्तरं नापेक्षते, तस्य संबन्धिसंबन्धनपरत्वात्, नहि तस्मिन्सति संबन्धिनावसंबद्धौ भवतोऽतो नानवस्थेति चेन्न । संयोगस्याप्युक्तनीत्या संबन्धान्तरानपेक्षत्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । नीलं नभ इत्यादावपि व्यवहारे बाधाभावेन व्यभिचारस्य तादवस्थात् । 'घटस्तद्द्रव्यनित्यान्यभावसंबन्धवानयम् । संबन्धित्वादिति स्याच्चेन्नाभावे व्यभिचारतः' ॥ १५ ॥ अयं घट एतद्घटनिष्ठानित्यत्वानधिकरणभावरूप-

धाराधेयादिसंबन्धेष्वर्थान्तरत्वेऽभिहिते न वैशेषिकेण खानज्ञीकारमात्रासच्छक्यपरिहारम्, तस्य स्वसिद्धान्तात्प्रख्यावनाभावादित्याह—प्रतिवादीति ।

एवमर्थान्तरतामुक्त्वानुमानत्रयहेतुष्ववाधितेति विशेषणप्रयुक्तदूषणान्याह—किंचेदमिति । नाद्य इति । प्रत्यक्षेणावाधितविशिष्टव्यवहारत्वं नीलं नभ इत्यादिष्वस्ति, नहि तत्र प्रत्यक्षेण वैपरीत्यननुभूयते, तदयोग्यत्वात्तेषाम्, अथापि न साध्यमस्ति, नैत्यादर्शयदादेश संबन्धासंबन्धादित्यर्थं । युक्तिबाधविरहितत्वमवाधितत्वं प्रकृतेष्वसिद्धमिति सप्रपथं दर्शयति—नापि द्वितीय इत्यादिना । यदि समवायः स्वतन्त्रस्तदा स्वतन्त्रयो स्याद्यव्यतिरिक्तसंबन्धाभावादव्यत्वेन तस्याप्यसंभवात्संबन्धिभ्यामसंबद्ध इति वक्तव्यम् । असंबद्धस्य च न तद्वटकत्वमितिप्रसङ्गादित्याह—नाद्यः । समवायिभ्यामिति । परतन्त्रपक्षे दूषणमाह—नापि द्वितीय इति । परार्थीनं हि परतन्त्रं नाम, नचासंबद्धस्य तदधीनता, अतिप्रसङ्गात् । तथाचानवस्थेति भावः । ननु संबन्धिभ्यां संबद्धोपि समवायो न संबन्धान्तरेण, येनानवस्था स्यात्, अपितु संबन्धात्मकतया, खभावादेव । यथाहुर्भाष्यकाराः 'यथा द्रव्यगुणकर्मणा सदात्मकस्य खभावस्य नान्य सत्तायोगोस्ति, एवमविभागिनां वृथात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्तीति । तदेतच्छब्द्वे—अयेति । संबन्धिनोर्यत्संबन्धन घटं तत्परत्वात्तत्स्वरूपत्वादित्यर्थं । एतदेव विवृणोति—नहि तस्मिन्निति । अयमत्र प्रथितोर्थः । समवायः संबन्धान्तरेण संबद्धः संबन्धित्वाद्घटवदिति सिद्धान्तिनोऽभिमतम् । तत्रचासंबन्धैत्वमुपाधिरिति पूर्वपक्षिणोभिप्रेतं, तत्र सिद्धान्ती सयोगे साध्याव्यापकतामाह—न संयोगस्यापीति । नचासमवायत्वमुपाधिः, पक्षेत्तरत्वात् । नचातेजस्त्वन्यायः, सप्रतिपक्षबोधकाभावादिति । व्यवहारे बाधाभावोऽबाध्यत्वमिति तृतीयपक्षे व्यभिचारमाह—नापि तृतीय इत्यादिना । एतेन "विवादाध्यासितं नित्यसंबन्धेन संबद्धं द्रव्यत्वादाकाशावदिति" मानमनोहरकारोकमपि निरस्तम्, विशेषणविशेष्यभावेनार्थान्तरत्वादिति । अनुमानान्तरमुद्गावयति श्लोकेन—घट इत्यादिना । सगृहीतमनुमानं विवृणोति—अयं घट इति । एतद्घटनिष्ठध्यानित्यत्वानधिकरणं च भावरूपस्य यः संबन्धस्तदधिकरणमिति योजना । विशेषणविशेष्यैर्दिरूपमावात्मकसंबन्धेनार्थान्तरतानिष्टैर्ये भावग्रहणम् । भावरूपसंबन्धवानित्युक्ते संयोगेनार्थान्तरता तदर्थमनित्यत्वानधिकरणमित्युक्तम् । तथाचाप्रसिद्धविशेषणता, तन्निवृत्त्यर्थं एतद्घटनिष्ठैत्युक्तम् । घटान्तरसयोगे साध्यप्रसिद्धिः, तस्या-

१ तदयोजकत्वाभाषेत्यर्थः । २ वेदान्तेत्यादिः । ३ संबन्धभिन्नत्वमित्यर्थः । ४ यथा तेजः अनुष्णं द्रव्यत्वाद् घटवदितिप्रयोगे तेजोभिन्नत्वमुपाधिः पक्षेतरत्वरूपमपि भवति तत्रात्रासमवायत्व मविष्यतीति भावः पूर्वपक्षिणः । ५ अनुष्णत्वानुमाने बाधानुगृहीत पक्षेतरत्वमुपाधिर्भवन्न तु न तथेति समाधानुराद्ययः । ६ विशेषणविशेष्यत्वात्दिरूपेत्यर्थः—निरूपितत्वासाभित्युपपदेन टिप्पण्या विशेषणविशेष्यत्वयोर्भेदरूपत्वम् । ७ इष्टान्तरपदनिष्ठे इति शेषः ।

संबन्धवान्संबन्धित्वात्पटवदिति चेन्मैवम् । अभावे हेतोर्व्यभिचारात्, तस्यापि विशेषणवि-
शेष्यभावसंबन्धेन संबन्धित्वाङ्गीकारात् । अथ भावत्वादिति हेतुः, तथापि समवाये व्यभि-
चारात्, द्रव्यत्वादिति प्रयोगेपि संयोगनित्यतापादकतयार्थान्तरत्वप्रसङ्गः । नचानित्यस्य घटादे-
नित्यसंबन्धाधिकरणत्वानुपपत्तिः । समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेः । अतो यथा समवायस्य
स्वभावसामर्थ्यादेवात्मनि परत्र च संबद्धव्यवहारहेतुत्वम्, एवं गुणगुण्यादेरपि स्वभावसाम-
र्थ्यादेव संबद्धव्यवहारहेतुत्वोपपत्तेर्न कल्पनागौरवानवस्थादुःखसमवायस्वीकारावकाशः ।
तदेवं लक्षणासंभवात्प्रमाणाभावाच्च न समवायस्य द्रव्यादिभ्यो भेदसिद्धिः । अतो न कापि
लक्षणभेदाद्भेदसिद्धिरिति सिद्धम् ।

नित्यत्वाधिकरणत्वेपि एतद्धटनिष्ठत्वे सत्यनित्यत्वानधिकरणत्वमस्येव, एतद्धटनिष्ठत्वानधिकरणत्वात् । गुणर-
यश्च पक्षनुत्वा इति न व्यभिचाराशङ्कावकाशः । नाभावे व्यभिचारत, इत्यंशं व्याचष्टे—अभाव इति ।
नहि तस्य भावरूपसंबन्धाधिकरणत्वसंभवः, अभावस्य भावानधिकरणत्वात् । अथ च विशेषणविशेष्यभावे-
न तत्र संबद्धत्वमस्तीत्यर्थः । अभावे हेतोर्दृष्टिमेव दर्शयति—तस्यापीति । हेत्वन्तरं शङ्कते—अथेति ।
तथापि समवायेऽनैकान्तिकता, अद्रव्यत्वेनासयोगित्वादनवस्थाभयाच्च न समवायवत्त्वम्, अथ च भावत्वं
समवायस्यास्तीत्यर्थः । अस्तु तर्हि द्रव्यत्वादिति हेतुस्तथा च न व्यभिचारोपद्रवस्तत्राह—द्रव्यत्वादि-
सीति । इदं हि भावरूपे नित्ये कस्मिंश्चित्संबन्धे विश्राम्यतीति, तथाच संयोगनित्यतयापि सार्धंनचा-
र्थान्तरमित्यर्थः । ननु कथमर्थान्तरता, यावता संयोगस्य नित्यतैव न संभवति, तन्नित्यत्वेऽनित्यघटादिनिष्ठत्वा-
नुपपत्तेः । अथ कथमनुपपत्तिः । घटाद्यभावदशायामानाधारस्य स्थित्यनुपपत्तेः, असमवेतस्य च गुणत्वानु-
पपत्तिः, कदाचिदसमवेततया स्थितस्य युतसिद्धतया कदाचिदप्यसमवायादिति, तत्राह—नचानित्यस्येति ।
तत्किमियं राजाज्ञा, नेत्याह—समवायेति । अयममिसन्धिः, पणामपि पदार्थानामित्युपक्रम्याश्रितत्वं
चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति भाष्यकारैर्भीषणात्समवायस्याभितत्वं वक्तव्यं, तत्रानित्यघटादिविगमे यः परिहा-
सचात्रापि भविष्यति । अथ तत्र समावस्यैकत्वात्कतिपयनित्यपदार्थद्रव्याभिततया नाश्रितत्वमावताव्या-
घातः । संयोगस्यैतन्न्यं केन वार्यते । अथ तत्र घटसंयोगः पटसंयोग इति बुद्धिभेदात्संयोगभेदः, समवायेपि
धीयतां दृष्टिः । अस्ति “रूपसमवायः गोलसमवाय” इति बुद्धिभेदः । अथ घटासमवेतसंयोगस्य घटगुणर-
गुपपत्तिः, युतसिद्धतया च समवायानुपपत्तिरिति नूनं बधिर इव भवाद्ब्रह्मयते कथमपरया समवायमेव निरा-
वेन्तं प्रत्यनुरूपाणि ईदृशानि च वचनानि जल्पसि । किंच ‘असंसिद्धस्य रूपादेः समवायो न सिध्यति । सति-
रूपापि रूपादेः समवायो न सिध्यति’ । अलब्धात्मकस्य रूपादेः स्वान्धत्वाभावात्संज्ञात्मकस्य संबन्धो वक्तव्य-
स्तथाचोद्भूतगुणद्रव्यतान्तापात इति, तस्मात्साधुत्वं—समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेरिति । तर्हि सम-
वायनाममात्र एवायुष्मत्तः प्रद्वेषो, न त्वर्थे, यावता भवतापि भावरूपनित्यसंबन्धः समयोगो नाम स्वीहृत इति । सति-
तद्विदं मिथुकृपादप्रसारणं पूर्ववादिनः परिहरन्नुपसहरति—अतो यथोक्तं । नास्माभिस्त्वाहस्य संयोगः सौ-
क्रियते, कथं तर्हि न गुणादीनामनन्यत्वापत्तिस्तत्संबन्धव्यवहारस्य वा न निर्विषयता, तत्तत्स्वभाववशादे-
समीरुपपत्तिरित्यवेहि । तथासति धर्मधर्मिभावस्यैवोद्धारप्रसङ्ग इति चेन्नोर्ध्वेर्धर्मिणित्यर्थं यदि धर्म्यधर्मनामक-
येन्महदेतद्वैतनादिभ्योऽस्मभ्यो मर्मोद्घाटितं स्यादिति, अवश्यं च समवायं स्वीकृत्यापि स्वभाववाद एतत्त्वम-
तदवश्यपेक्षणीयस्वभाव एव सर्वत्राधीयतां किमनवस्थाकल्पनागोचरोहगन्धाधायिनाऽप्रामाणिकेन स-
वायकल्पनादुर्भ्यसनेनेत्यर्थः । समवायद्वयगुणमुपसंहरति—तदेवमिति । मित्रलक्षणमुत्तरं भेद इति पर-
द्वयगुणमुपसंहरति—अतो न कापि लक्षणभेदादिति । किंच लक्षणानामेव तावदनुगतसंज्ञानामि-
१ । अथवादिभिनाशे चालादिति शेषः । २ यथोक्तवाच्येन भवत्वात्तासमुदायिकहेतुसुभूतलक्षणेनोद्घः तावन्ते इत्येव
कथमात्मकस्य संबन्धस्वीकारे तदुत्पत्तेर समवायः प्रत्यास्थापते । तथाचि स्वभावकस्य संबन्धः तावत् न विरि-
संयोगादिरिव इह इति भावः । ३ नित्यसंयोगस्येति शेषः । ४ वेदान्तिभिरित्यर्थः । ५ निरासपत्त इत्यर्थः ।

अन्ये मन्यन्ते माभूलक्षणभेदाद्भेदः, तथापि सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गा-
द्बीजादीनां भेदः सिद्ध्यति । तथाहि । यदि कुसूलनिहितं बीजं तदानीमङ्कुरजनने समर्थं,

वा । न यदि, तदा तेषामितरव्यावृत्ततया ज्ञानं न स्यात्, तदन्तरेणापि वा तथा ज्ञाने पदार्थेष्वपि तथैव स्या-
दिति लक्षणशक्तिः । अथास्ति किञ्चिदनुगतं लक्षणलक्षणं, किं तत्, सजातीयविजातीयव्यावर्तकत्वमिति चेन्न,
सामान्यादिलक्षणेष्वाप्तोः । नहि ते जातिमन्तः, येन तस्मिन्जातीयमन्यते लक्षणैर्व्यवच्छेद्यं स्यात् । किंचैवं
द्रव्यादीनामपि लक्षणं न स्यात्, सामान्याद्यव्यवच्छेदकत्वात् । नहि सामान्यादयः सजातीयतया विजातीयतया
वा व्यवच्छेदमर्हन्ति । जातिरहितत्वादेव, प्रमेयाभिधेयादिलक्षणेषु चाव्याप्तिः । नहि तत्र किञ्चिद्व्यवच्छेदमस्ति,
तस्य प्रमितौ प्रमेयतयाऽव्यवच्छेद्यत्वात्प्रमितौ च किं व्यवच्छेद्यं स्यात्, एवमभिधेयत्वेपि । किंचेदं साजात्यम-
भिमत्तं व्यवच्छेद्यस्य, किं लक्ष्यमात्ररूतिजात्या किं वा यथा कयाचन । नाद्यः । लक्ष्यस्यापि व्यवच्छेदापातात् ।
न द्वितीयः । विजातीयपदवैयर्थ्यात् । अन्ततः सत्तयापि जातिमत्तां साजात्यात् । विजातीयव्यावर्तकमिति चेन्न ।
सामान्यादिलक्षणेष्वाप्तोः । नहि ते जातिमन्तः, जातिरहितानां च वैजात्यस्याप्यभावात् । जातिशब्दस्यो-
पाधिपरत्वेष्वेते दोषा दुरुद्धराः । एतेन लक्ष्यैलक्षणमपि प्रत्युक्तम् । तस्याप्युक्तदूषणलङ्घनाज्जालत्वात् ।
नच सामान्यादीनामपि सामान्यवत्ता, अनवस्थानात् । नचेष्टानवस्थादीनामदूषणत्वम्, अवर्षेभ्यात्, अदर्शन-
नियमसामान्यात् । एवमुपाधयुपाधिस्वीकारेपि, तत्तल्लक्षणानिरुक्तेषु जातिलक्षणं च खण्डितं, खण्डयिष्यते च
जातिः । तेन जातिद्वारोपाधिद्वारा वा वादीन्द्रादिभिरुत्प्रेक्ष्यमाणलक्षणान्यपि क्षुण्णानि मन्तव्यानि । अपि च
'वादीन्द्रस्येष्टदा तावन्महाविद्या पुलोमजा । सा च सव्यभिचारादिदोषैस्संक्षुषितात्मना ॥ १ ॥ तामेव
दूषयन्नेप तत्पादे निपतन्नपि । कथंकारं मदोन्मत्तः प्रदेयवचनो भवेत् ॥ २ ॥ पक्षतद्विज्ञरूतिताद्युप-
ज्ञाभिश्च रीतिभिः । आत्तासाधकतासीमा एता । पारिप्लवावहाः ॥ ३ ॥ नोपादेया महाविद्यामुद्रिता जातु
जातयः । तत्त्वं चापि स्वीययज्ञाजिगीषयिषुभिर्भुषैः ॥ ४ ॥ शक्यते च सर्वप्रकारविज्ञो महाविद्याभिः
साधयितुं ग्रन्थगौरवभयाच्च प्रपश्यते सः ॥ ५ ॥' तस्मात् 'लक्ष्यलक्षणभावानोयमलक्ष्योऽभिन्नवस्तुनि । त्वद्यु-
क्तवैवाङ्गितमनिर्वाच्याविद्याविजृम्भितम् ॥ ६ ॥ इति पटपदार्थमतल्लण्डनया परिशुद्धचिद्धनसुखैकनिधिः ।
प्रतिषिद्धभेद इह यः परमः प्रतिपादितस्त्वमिन्नौमि भवम् ॥ ७ ॥'

ननु वैधर्म्यभेदनिरसनेनैव क्षणभङ्गवादिनामपि भेदहेतुर्विभजित एव, सामर्थ्यासामर्थ्योरपि वैधर्म्यरूप-
त्वात्, अतो मुधैवायं क्षणभङ्गवादावतार इति । उच्यते । न तावत्सुगतमतो वैधर्म्यरूपो भेदः, स्वरूपभेदादि-
त्वात्तथागतानाम् । नापि सामर्थ्यासामर्थ्ययोर्धर्मरूपत्वम्, यतस्तयोः सत्त्वासत्त्वात्मकतया स्वरूपत्वम्, अतः
स्वरूपभेदस्यैवायं विशेषो भङ्गयन्तरेण निराक्रियते । अथवा प्रत्यक्षतो भेदाधिगतिं निराकृत्यानुमानिकेभेदाधिगतिं
विध्वंसोऽजनेन क्रियते । तत्र क्षणभङ्गवादिनो वावर्दन्ति 'एकस्वभावत्वायोगात्सामर्थ्यस्य च स्वभावत्वात्समर्थस्व-
भावस्यासमर्थस्वभावत्वमयुक्तं, स्वभावहानिप्रसङ्गात्, अत एकत्वेन भवद्विरभिमन्यमानमपि भिन्नमेव । यदा च
समर्थक्षणादसमर्थक्षणेव प्रत्यभिज्ञायमानमपि भिद्यते, तदा किमु वक्तव्यमप्रत्यभिज्ञायमानतया अप्रतीयमानै-
क्यानां घटपटप्रभृतीनां भेद इति, तदेतदाह—अन्ये मन्यन्त इति । धर्मेर्निर्देशाद्यर्थं परकीयरीत्या । स्यादे-
तत्, यदि विरुद्धधर्मसंसर्गः स्यात्स्यात्तदा बीजक्षणानां भेदः, स एव तु कुतः, यावता समर्थमेव कुसूलनिहितमपि
बीजमङ्कुरजनन इति, तत्राह—यदि कुसूलनिहितमिति । तत्र जनकत्वेन सामर्थ्यस्य व्याप्तिं दर्शय-

१ विजातीयव्यावर्तकत्वमात्रमेव लक्षणलक्षणमिति भावः । २ विरुद्धजातिरूपस्येति भावः । ३ सजातीयवि-
जातीयव्यावर्तकत्वादिरूपमिति भावः । ४ दूषणभूतानवस्थात् इति शेषः । ५ अवध्वददर्शननियमसाग्यादिलक्ष्यः ।
६ पक्षविपक्षवृत्तित्वादिना प्रथमं प्रकाश्यमानाभीरीतिभिः संप्राप्तसाधकत्वाभावमर्यादा यताः साध्यसिद्धौ चञ्चल-
महाविद्या जातु कदाचिदपि नोपादेयाः । जातयो जात्युत्तराणि मुद्रितानि वारितानि न्यायपत्रकदादिभिः । वादिजि-
गीषां कर्तुमिच्छुभिर्भुषैः स्वीययज्ञाचापि तत्तन्मुनेयमिति कारिकाद्वयार्थः । ७ अर्थं लक्ष्यलक्षणभावोऽभिन्नवस्तुनि
प्रक्षणिअलक्ष्योऽदृश्यः । त्वद्युक्तयाऽनितं सिद्धं जगत्तु अनिर्वाच्याविद्याविजृम्भितमेवेत्युभयत्रापि न लक्ष्यलक्षणभाव
इति भावः । ८ वावदतीति पाठो भाति ।

तर्हि तदैवाङ्कुरं जनयेत्, यद्यदा यजननसमर्थं तत्तदैव तत्करोति यथा सामग्री, नच कुर्व-
दुपलभ्यते, तस्मात्समर्थं, सहकारिसमवधाने च समर्थमिति, सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणवि-
रुद्धधर्मसंसर्गः । नच समर्थस्यापि सहकारिसमवधानाभावाद्जनकत्वमिति संदिग्ध्य-
तिरेकिता । जनकस्वभावत्वे तस्य सहकारिसमवधानाभावेपि स्वभावविरोधाद्देवाजनक-
त्वानुपपत्तेः । सहकारिसमवधाने जनकमजनकं चान्यदेति स्वभाव इति चेन्मैवम् ।
एकस्थानेकस्वभावतानुपपत्तेः । किञ्च यदि सहकारिसमवधानमपि स्वभावान्तर्भूतं, तदा
तदपि तदैव संपद्येत, स्वभावस्यानपायात् । अथाजनकत्वं स्वभावः, तदा न कदाचिदप्य-
ङ्कुरं जनयेत् । अथ सहकारिसमवधानान्तरभाविनः कार्यात्समनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं
स्वभावः, तर्हि कुसूलनिहितावस्थायामपि बीजस्य यथावर्णितस्वभावो भवेत्, तत्स्वभावस्य
तदानीमभावे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात् । अथ सहकारिसमवधानं न स्वभावः, तर्हि तदा-

व्यापकजनकत्वनिवृत्त्या व्याप्यसामर्थ्यनिवृत्तिमनुमिनोति—यद्यदेत्यादिना । कुसूलनिहितं बीजमसमर्थ-
मङ्कुरोत्पादे, तदानीं तदजनकत्वाद्यदेवं तदेवं यथा पदार्थान्तरमिति परीत्या च प्रयोगः, स्वकीयरीत्या तु
यद्यत्र जनयति तत्तत्रासमर्थं यथा पदार्थान्तरं, न जनयति चेदं कुसूलनिहितं बीजमिति स्वभावेहेतुः । तदेवं
प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामसामर्थ्यमुपपादितम्, इदानीं क्षणान्तरस्थस्य सामर्थ्यं दर्शयति विरुद्धधर्माप्यासिद्धये—
सहकारीति । तत्रापि यदि सहकारिसमवेतं बीजमसमर्थमङ्कुरजनने स्यान्न जनयेदिति प्रसङ्गः । यद्यज-
येततत्र समर्थं यथा सामग्री, जनयति चेदमिति विपर्ययः । धर्मद्वयप्रतिपादनमुपसंहरति—इति साम-
र्थ्येति । ननु तदानीं तदजनकत्वादिति हेतुरनैकान्तिको विपक्षव्यावृत्तेः संदिग्धत्वात् । यदि हि समर्थसा-
जनकत्वमसंभवेवेति निर्णयित, तर्ह्येव विपक्षव्यतिरेकजिर्णयो, न च तदस्ति, समर्थस्यापि सहकारिमेलनाभाव-
दजनकत्वसंभवात्, तस्मात्संदिग्धविपक्षव्यतिरेकित्वात्संदिग्धानैकान्तिकमेव । यथाहुः—‘यवैवाद्यतिरेक-
शतांशेनापि शङ्खवे । विपक्षस्य कुतस्त्वावदेतोर्गमनिकावल’मिति । तत्राह—नच समर्थस्यापीति । त-
व कल्प्यं किं बीजस्य जनकत्वं स्वभावं उत जनकत्वमजनकत्वं चाहोस्तिदजनकत्वमेवेति । तत्र प्रथमं द्वयव-
—जनकस्वभावत्व इति । स्वभावविरोधादेवेति । स्वभावभूतेन जनकत्वेन विरोधादजनकत्व-
पपत्तिरित्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—सहकारीति । इत्ययति—मैवमेकस्येति । सौहि भावः स्वभाव-
असाधारण इति यावत् । तथाचोभयस्वभावत्वे किं युगपदुभयं स्वभावभूतं पर्यायेण वा । नाद्यः । भवद्वित-
सहकारिसमवधानासमवधानावस्थतया व्यवस्थापनात्, नित्यं कार्यसत्त्वासत्त्वयोः प्रसङ्गाच्च । द्वितीये तु शोभ-
योरपि स्वभावता, तस्योभयत्रानुगच्छतोपि तयोरननुगमनेन मेदावसायादिति भावः । यदि च सहकारि-
समवधानासमवधानव्यवस्थया जनकत्वाजनकत्वयोरप्येकत्र व्यवस्थामिप्रेयते, सापि न संभवतीत्याह—
किञ्चेति । तथाच तदसमवधानाभावात्प्रत्युक्ताजनकत्वमपि तस्य नास्तीति जनकैकस्वभावत्वं स्यात्, तथा च
पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः । सहकारिसमवधानस्याप्यस्वभावत्वपक्षमुत्तरप्राशङ्ग्यं निराकरिष्यति । धनक-
त्वमेव स्वभाव इति तृतीयं पक्षं शङ्कते—अथाजनकत्वमिति । ननु नात्यन्तं जनकत्वमजनकत्वं कान-
स्वभावः, किं तर्हि सहकारिसमवधाने सति यत्कार्यं भवति तस्मादनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं स्वभावः, तेन न सह-
कारिसमवधानाभावेपि जनकत्वं नापि सहकारिसमवधानेप्यजनकत्वमित्याह—अथ सहकारीति । इत्य-
—तर्हीति । एवंविधः स्वभावः कुसूलनिहितावस्थायामप्यस्य विद्यत इति तदापि कार्यजनकत्व-
इत्यर्थः । विपक्षे चापकमाह—तत्स्वभावस्येति । यत्तदासाहप्य निराकरिष्यतीत्युक्तं तदाह—अद्येति ।

१ बोधेः कार्यकारणभावस्वभावेतदन्वतररूपा व्याप्तिः स्वीक्रियते । तत्रायं तदानीं तदजनकत्वस्यो हेतुः स्वभाव-
समकम्पासिमानित्यर्थः । २ प्रसज्यमानस्य जनकत्वाभावस्येति शेषः । ३ निपक्षस्याव्यतिरेकित्वं हेतुसंबन्धिनः कारण-
प्रतापेनापि गृह्यते तादृश हेतोः साध्यव्यपकत्वसंज्ञं कुत इति योजनं । ४ कारणस्य जनकत्वेऽनन्तरकाले वाप्यु-
त्तरेपि तदुपपत्त्युक्तकारणकर्तृकानुगमनभावेन कारणीभूतवस्तुनो जनकत्वाजनकत्वस्याऽपि मेदावसायादिति भावः ।

रणस्योपकरोति न वा । नचेदंनपेक्षणीयत्वम् । उपकरोति चेत्, उपकारो वस्तुनो भिन्नो न वा । भिन्नत्वे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन स एव कार्यजनक इति न स्थिरस्य कारणता । अभिन्नत्वे तु पूर्वावस्थस्य वस्तुनः सांप्रतमुपकाराभिन्नतयोत्पत्त्यसंभवाद्भवन्तरोत्पत्तेः क्षणिकस्यैव कारणताप्रसङ्गः । उपकारस्य वस्तुतन्मात्रत्वे च सहकारिसमवधानात्पूर्वमपि तद्भावात्तदापि कार्यजननं, सहकारिसमवधानवैयर्थ्यं च प्रसज्येत ।

अथोपकारो वस्तुनस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयः, तदा तस्यैव कारणत्वमिति न वस्तुनः कारणता । नच वस्तुनोग्यन्वयव्यतिरेकित्वात्कारणता, केवलव्यतिरेकाभावात्, सत्युपकारे चस्त्वभावापराधेन कार्याभावानुपलम्भात् । तदेवं सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाज्जनकाजनकयोर्भेदसिद्धिः ।

ननु यद्यनुपकारिण्यपेक्षानुपपन्ना, तर्ह्युपकारान्तेव सहकारिणः कारणस्येति शक्तिते परिहरति—उपकारो वस्तुन इति । उपकारस्य वस्तुनो भिन्नत्वे वस्तुनः कारणत्वं न स्यात्, अन्यव्यतिरेकाभ्यां तस्यैव कारणत्वात् इति परिहरति—भिन्नत्व इति । द्वितीये दूषणमाह—अभिन्नत्व इति । अत्र यत्कथं हि वस्तुन उपकारादभेदे उपकारस्य वा वस्तुनोऽभेदः । प्रथमे ग्राह—पूर्वावस्थस्येति । उपकारः खल्विदानीमुत्पद्यते पूर्वसिद्धस्य च वस्तुनस्तदभेदे तस्यैव पुनरुत्पत्तिः प्रसज्येत, तच्चायुक्तं, द्विरुत्पत्त्यभावात्, अतोन्वयस्यैवोत्पत्तिर्वच्यता, तथाच कथय कथं न क्षणिकस्य कारणतापत्तिरित्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—उपकारस्येति । वस्तुनः पूर्वमेव विद्यमानत्वात्तदभिन्नोपकारोपि पूर्वमेव विद्यत इति तदापि कार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । दूषणान्तरमाह—सहकारिसमवधानेति । वस्तुसमावस्य तस्य तत्पूर्वमपि भावादिति भावः ।

भेदाभेदप्रयुक्तदूषणपरिजिह्वोर्निर्वाच्यमतमुद्भावयति—अथेति । दूषयति—तदेति । यथा भेदेनानिर्वचनीयत्वं तथाऽभेदेनापीति न वस्तुस्वरूपलमुपकारस्य । तथाच क्षणिकस्य कारणत्वं दुरपवादं, वस्तुनथाकारणतापत्तिरितिच्यत इति न मित्रपक्षारफलोऽभेद इति भावः । ननु किमिति वस्तुनोऽकारणता, यावत्तान्यव्यतिरेकाभ्यां तस्यापि कारणत्वमवसीयत, इतरयोपकारस्यापि तच्च स्यादिति, तत्राह—नच वस्तुनोपीति । हेतुमाह—केवलेति । तदेव विवृणोति—सत्युपकार इति । यथा हि बीजे विद्यमानेषुपकाराभावादनुत्पत्तिमभ्युपैषि, न तयोपकारे विद्यमानेषु वस्तुनोऽभावादनुत्पत्तिः शक्यनिदर्शना, अभेदेवादिनो व्याघातात्, भेदादेवेषुपकार्याभावे उपकारस्यैवाद्यभावात्, अनिर्वचनीयेषु भेदपक्षप्रयुक्तदूषणानुपपन्नादिति भावः । तदित्यं बाधकपद्धतिभिः संदिग्धव्यतिरेकितानिरसनेनाजनकत्वादसामर्थ्यानुमानमप्रत्यूहमिति स्थितं, तथाच विरुद्धधर्माध्यासः सिद्ध इत्याह—तदेवमिति । एवमुपपादितप्रकारेण यदा विरुद्धधर्मसंसर्गः सिद्धस्तदा तस्मादेव हेतोर्भेदसिद्धिरपि भवतीति योजना । सहकारिभिराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकम्, अन्यथा तदभावे तदुदयापत्तेः । बीजं चातिशयमादधानं सहकारिणोऽपेक्षते, अन्यथा सर्वदोषकारवृत्तावङ्कुरस्यापि सर्वदोषत्तिप्रसङ्गात् । तस्मात्तदतिशयार्थमपि सहकारिभिरपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिरतिशयान्तरमाधेयं बीजे, तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन बीजं सहकारिसापेक्षं जनकमित्युपकारजनकोपकारजननार्थमपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिरुपकारान्तरं बीजे जनयितव्यमिति तत्तदतिशयार्थमपेक्ष्यमाणसहकारिसंपाद्यबीजवृत्त्यतिशयानवस्येति । यद्वा बीजवर्तिनि सहकारिभिरतिशये क्रियमाणे बीजमपि सहकारिभिरपेक्षणीयमिति बीजेन सहकारिष्वतिशय आधेय, एवं बीजेन सहकारिष्वतिशय आधीयमाने, सहकारिणोऽपेक्षणीया इति तैर्बीजे पूर्वमतिशयान्तरमाधेयं, तस्मिन्नप्यतिशये सहकारिभिर्बीजस्य क्रियमाणे बीजमपेक्षणीयमिति बीजेन पूर्वं सहकारिष्वतिशयान्तरमाधेयमित्यनवस्थितिः । उपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणो बीजनिरपेक्षः कार्यं जनयति बीजसापेक्षो वा । आधेयं बीजादेरहेतुतापातः । द्वितीये तु बीजादिनापेक्ष्यमाणोपकारेणातिशय आधेयः । एवमा-

१ वस्तवभावे कार्यभावे इति व्यतिरेकभ्यासो व्यभिचार इत्यर्थः । २ पृष्ठान्त मतान्वयि । प्रथमान्तपाठस्य शोभनो भाति । ३ बीजाभावेऽर्जिज्ञोदयापत्तेरित्यर्थः ।

मादुभयोः संभूय कारणतानुपपत्तिः । स इत्ययमिति च पारोक्ष्यापारोक्ष्यविरुद्धधर्मसं-
सर्गस्य स्फुटमुपलम्भाच्च । ज्ञानभेदात्प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षत्वाभावाच्च प्रकृतानुमानस्य प्रत्य-
क्षविरोधः, तस्माद्विरुद्धधर्मसंसर्गाद्धस्तूनां भेदसिद्धिरिति । अत्रोच्यते—‘सिद्धे भेदे विरोधे
च धर्मयोर्धर्मिभेदधीः । तयोर्नाद्यापि संसिद्धिर्धर्मिभेदस्तदा कुतः ॥ १६ ॥’ अशेषभेदा-
नपाकुर्वतोऽद्वैतवादिनो यदा भेदमात्रमेव नास्ति, तदा कुतो धर्मयोर्भेदः, कुतस्तत्र विरोधः,
कुतस्तमां च तदधीनो धर्मिभेदाध्यवसायः । अन्यतो वा भेदविरोधयोः सिद्धौ तत एव
धर्मिभेदसिद्धिः, कृतमनुमानेनाजागलस्तनायमानेन विरुद्धधर्माध्यासेन ।

स्वर्थः । विरुद्धधर्माध्यासे तु विप्रतिपत्तिरद्वैत नास्तीत्याह—स इति । फलितमाह—ज्ञानभेदादित्या-
दिना । प्रत्यक्षत्वाभावादिति । समस्तस्येति शेषः । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति । विरुद्धधर्मा-
ध्यासाद्भ्रसुभेदसाधनेऽन्योन्याध्रयं श्लोकेन सगृह्णाति सिद्धान्ती—सिद्धे भेदे इति । धर्मयोर्जनकत्वाजनकत्वा-
यामकयोः परस्परं भेदे सिद्धे सति विरोधसिद्धिः, अभिज्ञस्य विरोधाभावात्, तयोः सिद्धे विरोधे तदाश्रयतया
धर्मिणोः कुसुमनिहितसहकारिसमेतवीजयोर्भेदयुद्धिः स्यात् । यदा च तयोर्भेद एव न सिद्धस्तदा विरोधस्य
तद्धारकधर्मिभेदस्य च कुतः सिद्धिः परस्परश्रयादित्यर्थः । श्लोकं विदुषोति—अशेषेत्यादिना । अद्वैतवा-
दिन इति पदच्छेदः । ननु कथमन्योन्याश्रयता, यावता प्रत्यक्षेण धर्मयोर्भेदः सिद्ध्यति, ततश्च विरोधसिद्धिस्ततश्च
धर्मिभेदसिद्धिरित्यत आह—अन्यत इति । तत्र वक्तव्यं कीदृशं तद्भेदप्रादिप्रत्यक्षमभिमतं, किं निर्विक-
ल्पकं समिकल्पकं चेति । न तावत्सविकल्पकं, तस्य प्रामाण्याभावाद्भवन्मते । नापि निर्विकल्पकं, तस्य चसु-
मात्रप्राहितया स्वलक्षणतिरिक्तविकल्पगोचरत्वात् । यथाहुः ‘कल्पनैपोठमभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति । भेदस्यापि
स्वल्पज्ञानमात्रत्वे स्वरूपभेदविमर्दनप्रस्तावोक्तदोषानध्यस्यामः । एतेनेदमप्यपस्तं यथाहुस्तथागताः—‘वर्तमानं
परिच्छिन्ददवर्तमानताव्यावृत्तिमपि परिच्छिनत्ती’ति । अवर्तमानताव्यावृत्तेर्वर्तमानतायाच्च धर्मत्वे प्रत्यक्षगोच-
रत्वात्, स्वरूपत्वं चैकस्योभयस्यभावलाभयोगात् । नच वर्तमानतैवावर्तमानताव्यावृत्तिः । भावाभावयोरैक्यायो-
गात् । यथाहातमतत्त्वविवेककृत—‘विधिरात्मास्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः । सोपि चारमेति कः प्रेश शृण्व-
न्नपि न लज्जत’ इति । भूतभविष्यतोऽद्यवर्तमानत्वात् तद्व्यावृत्तिरप्युभयविधया । एकरूपवर्तमानतामकत्वायो-
गात्, भविष्यत्तथावर्तमानभूतव्यावृत्तत्वेपि वर्तमानत्वाभावात्, भूतस्य चाभविष्यदवर्तमानव्यावृत्तत्वेपि वर्त-
मानत्वाभावात्, वर्तमानतावगाहिताया उदयन्यावगाहितारूपतया उत्पन्नयुदेरवर्तमानव्यावृत्त्यवगाहितैवा पुनरु-
त्पत्त्यभावात्, जन्ममौत्रव्यापारत्वाच्च बुद्धेः, तस्माच्च प्रत्यक्षं भेदावभासनायालम्, अनुमानं त्वनन्तरमेव निरा-
करिष्यते तदेतादृशी दर्शनस्थितिः । आर्चौर्धस्तु भवतु वा यत्किञ्चिःप्रमाणं तथापि तत एव धर्मिभेदस्यापि
सिद्धेरुपा धर्ममेदोपन्यास इति प्रौढिमारुढः प्राह—अन्यतो वेति ।

१ इदमनुमानविशेषणम् । २ सुगतमते इत्यर्थः । ३ स्व स्वीयासाधारणधर्मरूपाजातिर्लक्ष्यते येनादः स्वलक्षणं
व्यक्तिः । ४ विकल्प्यते व्यावर्त्यते वस्तु येनेति व्युत्पत्त्या विकल्पो धर्मः । ५ कल्पना. कल्पवृक्षपत्त्या जालादिरूपा-
धर्मोत्तरादिति लियर्थः । ६ प्रमाणेत्यादिः । ७ अस्यानुभूयमानस्य भावस्य विधिः सत्ताऽन्या स्वरूप निषेधस्तु ततो
विध्यात्मकाद् भावस्वरूपात्परतोऽतिरिक्तः सोऽपि निषेधोऽपि भावस्यात्मेति शृण्वन्नपि कः प्रेशो विवेकी न लज्जते ।
पठेन घटाभावाभावादिर्न घटादिरूप इति कलति । ८ वर्तमानं च भूतश्चेति इन्द्रः । ९ अस्यानन्तरं “भविष्यद्-
बुद्धिरूपत्वेन भविष्यद्बुद्ध्यानन्तरमपि कार्यस्य” इति शेषः । उत्पन्नयुदेरुत्पत्तिविविधिकायाः सत्त्वादिति शेषः ।
पुनरुत्पत्त्यभावादिति ग्रन्थस्य । १० ननु न भवत्येव भविष्यद्बुद्ध्यानन्तरं कार्यजननेत्यत आह-व-नमेत्यादि । भवि-
ष्यद्बुद्धेः कार्यजननमार्तं व्यापारो यस्याः तत्त्वादित्यर्थः । ११ सुगतैत्यादिः । १२ चित्तसुखेत्यादिः ।

कश्चायं धर्मयोर्विरोधो, येन विरुद्धधर्मसंसर्गित्वेन भेदोऽभिधीयते, किं सहानवस्थायित्वं वध्यघातकभावो वा भावाभावरूपत्वं वा तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं वा । प्रथमे किमेकस्मिन्काले सहानवस्थायित्वमुक्तैकस्मिन्नधिकरणे । नाद्यः । एकस्मिन्नपि क्षणे धर्मिभेदेन जनकत्वाजनकत्वयोः सहावस्थानात् । नेतरः । एकजनकस्याप्यन्याजनकत्वेन जनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्नधिकरणे सहभावात् । एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकत्र धर्मिणि सहानवस्थायित्वमिति चेन्न । स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः । क्षणभङ्गादिनोपि तत्कार्यजनकस्यैकस्य क्षणान्तरे तदजनकत्वेन तयोरेकत्रैव वस्तुनि साहित्यात् । नापि द्वितीयः । वध्यघातकभावस्य युगपदेकधर्मिनिष्ठयोरेव धर्मयोः संभवेनाश्रयभेदासाधकत्वात् । नापि तृतीयः । कार्यभेदं प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपयोरेकस्मिन्नपि भावात्, एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्वस्तुनि क्षणभेदेन भावाच्च । नापि चतुर्थः । स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः । किंच सहकारिसमवधाने यः कार्यमुत्पादयति स

पूर्वं भेदासिद्ध्या विरोधासिद्धिरुक्ता । अधुना धर्मिभेदापादनकोविदः कोपि विरोधो दु साध्य इत्यभिप्रेत्याह—**कश्चायमित्यादिना** । जनकत्वात्यन्ताभाववति धर्मिण्यजनकत्वस्य वृत्तिरिति चतुर्थविकल्पार्थः । किं सहानवस्थायित्वमिति प्रथमे पक्षे यदिदमवस्थानस्य साहित्यं निषिध्यमानं तर्हि देशतः कालतो वा इति विकल्पयति—**प्रथम इति । एकस्मिन्नपि क्षणे इति ।** एकक्षणे सहानवस्थायित्वस्यो विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरसिद्धः । एकस्मिन्नपि क्षणे बीजवीरणयोरङ्कुर प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्वर्तमानत्वादित्यर्थः । द्वितीयेपि विरोधोऽसिद्धः । एकस्मिन्नपि धर्मिणि जनकत्वाजनकत्वयोः कार्यभेदापेक्षया वर्तमानत्वादित्याह—**नेतर इत्यादिना** । नन्वेकधर्मित्ववदेकविषयत्वमप्यपेक्षितं, तादृशश्च विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरस्त्येवेति शङ्कते—**एककार्येति** । ईदृशश्च विरोधो न कापि सप्रतिपन्न, स्थायिवादिनमेकस्यैकं प्रत्येव कालभेदेन जनकत्वाजनकत्वयोः सर्वत्रैवाङ्गीकारादित्याह—**न स्थायिवादिनमिति** । क्षणभङ्गादिनं प्रत्यसिद्धिमाह—**क्षणभङ्गेति** । यदिदमिदानीं तनाङ्कुरजननसमर्थं बीजं तत्कालान्तरे त जनयेत् वा । यदि जनयेत्सिद्धान्तमनुबन्धत्स । ननु क्षणान्तरे तदेव नास्ति कथं तस्य जनकत्वं, मास्तु, सैक्षण एव तं किमेति न जनयेत्, स्वानन्तरक्षणवर्तिनं प्रत्येव समर्थं तैदिति चेत्, एवं तर्ह्यसमर्थं तत्तत्रेति वचनीयम् । तथाच तस्य बीजस्य तत्कालीनमङ्कुरं प्रति जनकत्वमन्यकालीनं तमेव प्रत्यजनकत्वमिति तादृशमपि सहावस्थानं त्वयैवा-
नुमतमित्यर्थः । वध्यघातकभावपक्षं निषेधति—**नापि द्वितीय इति** । अजातस्य भिन्नाधिकरणस्य वा घातकत्वाभावादेकाधिकरणे वर्तमानयोरेव वध्यघातकभावो वक्तव्यः, तदिहेतुशो विरोधोऽनयोः संभवति नवेति तावदास्ता विचारः । सभवेपि नाधिकरणभेदकः प्रत्युत तदैन्यापादक इत्यर्थः । भावाभावरूपो विरोध इति तृतीयं पक्षं निषेधति—**नापि तृतीय इति** । ननु विषयभेदेन वर्तमानयोजनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपत्वेपि न विरोधः । परस्परनिषेधरूपत्वाभावात् । नहि पटाभाषो घटश्च परस्परं विरुध्यते, अस्ति भावाभावरूपतेति, तस्मादेकविषययोरनयोर्विरोध इति, तत्राह—**एककार्येति** । श्रुतौपपादनं येन नन्तरमेव । जनकत्वाजनकत्वयोः परस्पराल्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं विरोध इति चतुर्थं परं निषेधति—**नापि चतुर्थं इति** । यस्य हि स्थायिवादिनो जनकत्वमजनकत्वं चैकत्र वर्तते इति नियमस्यं प्रति कथं तयोः परस्पराल्यन्ताभावसामानाधिकरणत्वं सिद्धवदुदाहियेतेत्यर्थः । तदेवं स्वप्ने विरुद्धधर्माप्यासौ परिहृत्य परपक्ष एव समाश्रयति—**किंचेति** । ननु न सहकारिविरहकालीनकार्यं प्रत्यसमर्थं तत्, किं तर्हि, सहकारेभ्यो गणयाम्ये तदेव नास्ति, ततो न विरुद्धधर्माप्यासौ इति शङ्कते—**सहकारीति** । तर्हि सहकारिविरहजनने

१ प्रतियोग्यन्ता बहुमीदृजनकत्वविशेषणम् । एककार्येतिरूपितजनकत्वाजनकत्वयोरेत्यर्थः । २ इदं सहावस्थानम् ।
३ धीमनिलभः ।

भावः सहकारिविरहकाले तत्र समर्थो न वा । समर्थश्चेत्, तदापि जनयेत्, नचेत्, तदेव वस्तु शक्तमशक्तं चेति दुर्निवारो विरोधः, सहकारिविरहकाले सोऽसन् नत्वसमर्थ इति चेन्न । सहकारिविरहकाले येयमसद्रूपता सा सहकारिसन्निधानकालेपि विद्यते न वा । विद्यते चेत्, स्वकाल एवासत्त्वप्रसङ्गः । नचेत्, न तर्हि सहकारिविरहकाले तदसद्रूपम्, असद्रूपाभावेऽप्यस्य भावात् । अथैकमेव वस्तु सहकारिभावाभावयोः सदसद्व्यवहारयोग्यं, तथैव तर्हि स्थिरमपि शक्ताशक्तव्यवहारयोग्यमिति तुल्यम् । नचासामर्थ्यं विहायान्यदसत्त्वमस्ति । अथैकस्मिन्नेव वस्तुनि सहकारिसमवधानानन्तरं कार्यजननस्वभावात् तद्विरहे चासमर्थस्वभावतेत्युभयमप्यविरुद्धं, तुल्यमिदमस्मन्मतेऽपि, तथापि सहकारिसमवधाने यत्समर्थरूपं तदेव चेत्प्रागप्यस्ति पूर्वमपि कार्यप्रसवप्रसङ्ग इति चेन्न । सहकारिविरहे यत्तव कार्येऽसमर्थं रूपं तदेव चेत्सहकारिसमवधानेपि ततोऽजननप्रसङ्ग इति तुल्यत्वात् ।

नच सहकारिणां स्वभावेन्तर्भावो येन गलेपादुकान्यायेन तेषामपि तदैव समुदयः स्यात्किंतु भवन्मते समर्थक्षणेत्पादकानां क्षितिपवनपाथस्तेजसामिन सहकारितैव । नच सहकारिकृतोपकारस्य भेदाभेदविकल्पानुपपत्तिः । वस्तुनस्तत्प्राप्तत्वाभ्यामनिर्वच-

येनासद्रूपेण भवति तत्कारणं, तत् सहकारिसमवधानसमयेपि विद्यते नवा । प्रथमे सद्रूपवस्थायामप्यसत्त्वं स्यात् । द्वितीये तु पूर्वसिद्धस्य वस्तुन. पश्चाद्भावसत्त्वं न स्वभाव, असत्त्वावस्थायाः पूर्वमपि वस्तुनो वियमानत्वादिति परिहरति—नेत्यादिना । ननु यद्यपि तदेकं, तथाप्युभयव्यवहारालम्बनं भवति सहकारिसमवधानासमवधाननियन्धनत्वेन, विरोधाभावादिति शङ्कते—अथैकमेवेति । स एव तर्हि न्याय सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपीत्याह—तर्हीति । स्यादेतद्यदि च सत्त्वासत्त्वयोर्निर्दर्शनेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोरभयणं भवति । तर्हि सहकारिविरहकालेऽसत्त्वं, तथाच क्षणिकतैवेति गत स्थैर्यस्येति, तत्राह—नचासामर्थ्यं विहायेति । यदिदं सहकारिविरहकालेऽसत्त्वं, तद्भवन्नये तावदसामर्थ्यरूपम्, अर्थक्रियासामर्थ्यस्य सत्त्वाभ्युपगमात्, तथाचैतादृशासत्त्वमेतादृशक्षणिकत्वं च नासम्भ्यमपि दृढ्यतीति भावः । अथ वा सहकारिविरहकाले यदिदमसत्त्वं, तदेवासाधारण्यं, ततश्चासदेव तत्रासमर्थमित्युक्तमुक्तमित्याह—नचासामर्थ्यमित्यादिना । सा अर्थ्यं हि सत्त्वमज्ञीक्रियते, ततश्चासत्त्वमप्यसामर्थ्यमेवेत्यर्थं । शङ्कते—अथैकस्मिन्निति । इयं च विरुद्धगतिःसौगतशङ्का । अहो मामकभाग्योद्गमसमयोऽथ यदायुष्मत्तैवास्तसमीहितं स्वीकृतमित्यभिप्रेत्याह—तुल्यमिदमिति । यद्यपीदमावयो. समान, तथापि स्थिरपक्षेऽनुपपत्त्यन्तरमस्तीति शङ्कते—तथापीति । स्थैर्यवादिना सहकारिसमवधाने सामर्थ्यमेवं रूपं प्रागपि वर्तते इति वचनीय, तथाच प्रागपिकार्यप्रसवप्रसङ्ग इत्यर्थः । अस्य मिथो विरोधेन तर्काभासतां दर्शयितुं प्रतिप्रसङ्गमाह—न सहकारीति । अङ्कुरक्षणेत्पादकमपि बीजक्षणं सहकारिविरहे तस्मिन्नेवासमर्थमिति वक्तव्यं, अन्यथा तद्विरहपि जनकलप्रसङ्गात्, तस्माद्यत्तदसमर्थं तदेव समर्थमपि, तथाच तस्मादुत्पत्तावसामर्थ्यादप्युत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अजननप्रसङ्ग इति वा पदच्छेदः । एवं सहकारिसमवधानासमवधानयो सामर्थ्यासामर्थ्यं चाविरुद्धमिति प्रौढिमारुढेणोक्तम् । वस्तुतस्तु समर्थमेव, समर्थमपि सहकारिवैकल्ये न जनकमिति स्थितिः ।

यत्तु समर्थस्यापि सहकारिसाकल्य एव जनकत्वमित्युक्तमुक्तं, सहकारिणा स्वभावान्तर्भावे यावत्कारणभावित्वेन सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षिणोक्तं, तदनङ्गीकारपरास्त्वमित्याह—नच सहकारिणा-मिति । यथाहि सौगतानां मते क्षिणादिचतुर्विधधातूनां समर्थबीजक्षणेत्पादकत्वमेव, न समर्थक्षणस्वभावान्तर्भावः । एवमस्मन्मतेपि सहकारित्वमेव न स्वरूपत्वम् । इयास्तु विशेषः । भवन्मते तज्जनकत्वमस्म-

नीयत्वात्, लोकसिद्धकारणताया अप्रत्याख्येयत्वात् । नच केवलव्यतिरेकाभावः । उपकारवस्तुनोर्भेदानभ्युपगमात्, उपकारकारणताया एव वस्तुकारणताभ्युपगमात् । प्रयोगस्तु धर्मयोर्विरोधनिरासेनैव निरस्तः, अनैकान्तिकञ्च, सहकारिमध्यमध्यासीनस्य विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वेपि स्वतो भेदाभावात् ।

कार्यान्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्षणसंबन्धित्वादित्यपि हेतुःस्थायिवादिनो मते तस्यैव तथाविधक्षणसंबन्धित्वात्तस्मिन्नेवानैकान्तः । तदेवं प्रसङ्गतद्विपर्ययोरपास्तत्वात्क्षणकत्वानुमानं दूरोत्सारितम् । किंचेदं क्षणिकत्वं, किं क्षणसंबन्धित्वं क्षणान्तरासंबन्धित्वे सति क्षणसंबन्धित्वं वा क्षणान्तरमात्रासंबन्धित्वे सति क्षणसंबन्धित्वं वा उपपत्तिक्षणे सत्त्वं वा स्वोत्पत्तिक्षणे सत्त्वं वा स्वोत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वं वा एकक्षणावस्थायित्वं वा अनेकक्षणानवस्थायित्वविशेषितं वा । न तावत्प्रथमः । सिद्धसाधनत्वात्, अनेकक्षणावस्थायिनोपि घटादेः क्षणसंबन्धित्वात् । न द्वितीयः । अर्थान्तरत्वात् । क्षणान्तरासंबन्धित्वेप्यनेकक्षणसंबन्धित्वाविरोधात् । घटादीनामनेकक्षणसंबन्धिनामपि स्वप्रध्वंसादिविषयसंबन्धित्वे

नमते तदुपकारकत्वमित्यर्थः । यत्रोपकारकत्वपक्षेपि तेनोक्तं, तदनूय निराचष्टे—नच सहकारिकृतेति । अत्रुपपत्तिरूपकारणस्येति शेषः । नन्वनिर्वचनीयोपकारस्य कारणत्वे कारणस्य कारणत्वं न स्यादित्युक्तमेव, तत्राह—लोकसिद्धकारणताया इति । कारणस्येति शेषः । नन्वत्राप्युक्तं केवलव्यतिरेको नालीति, तत्राह—नच केवलेति । केवलं चेदनौपाधिकत्वमितरथानुपयोगात्, केवलस्य वस्तुमानस्येति वा, यदि कारणादुपकारस्य भेदः स्यात्स्यात्तदा कारणस्यापि पृथक्केवलव्यतिरेकप्रार्थनं, नत्येतदस्ति, भेदेनाप्यनिर्वचनीयत्वादित्यर्थः । ननु तथाप्यनुमाने किं दूषणमिति, तत्राह—प्रयोगस्त्विति । पूर्वोक्तप्रकारेण विरोधानिरूपणे किंचिदसिद्धिः क्वचिद्विरुद्धत्वं क्वचिदनैकान्तिकत्वमित्यर्थः । अविवक्षितविशेषेपि विरोधेनैकान्तिकतामाह—अनैकान्तिकश्चेति । तद्वि सहकारिमध्यमध्यासीनं कालान्तरीयमङ्कुरं न जनयति जनयति च ताकःलिकमिति विरुद्धधर्माध्यासवत् । अथ च स्वयं स्वस्मात् भिद्यते इति तत्रानैकान्तिकत्वमित्यर्थः । सहा नवस्थायिलवध्यघातकलभावाभावविरोधेषु यथायथमसिद्धादयो ज्ञेयाः । यद्वा कुसूलनिहितसहकारिसमवहितबीजयोः परस्परविरुद्धधर्मसंसृष्टलस्याविशिष्टलात्सत्यपि विरुद्धधर्मसंसर्गे सहकारिसमवहितस्य स्वप्रतियोगिकभेदानधिकरणत्वादनैकान्तिकत्वमित्याह—अनैकान्तिकश्चेति ।

द्वितीयानुमानेप्यन्यैरानैकान्तिकतामाह—कार्यान्यवहितेत्यादिना । यत्सत्तत्क्षणिकमित्यनुमानेप्युक्तं दूषणमतिदिशति—तदेवमिति । यदि सहकारिसहितं बीजं तद्विरुहकालीनबीजाच्च भिद्येतायंक्रियाकारित्वरूपसत्त्वं न स्यादिति प्रसङ्गः, तैवेदं तस्याद्विद्यते इति तद्विपर्ययः, तयोः स्थायिन्यपि जैनकलसमर्थनेन निरसात्सत्त्वहेतुकं क्षणिकत्वानुमानमपि निरस्तमित्यर्थः । साध्यनिष्ठक्षणिकत्वस्याप्रसिद्धविशेषणत्वसिद्धसाधनत्वयोरन्यतरापात इति दिदर्शयिषुर्विकल्पयति—किंचेत्यादिना । क्षणान्तरासंबन्धित्वमात्रत्वे सति क्षणसंबन्धित्वं द्वितीयः पक्षः । तृतीयस्तु क्षणान्तरसंबन्धित्वालयन्ताभावाधिकरणत्वे सति क्षणसंबन्धित्वमिति विशेषः । सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—अनेकक्षणेति । न केवलं क्षणान्तरेण केनचिदसंबन्धोऽनेकक्षणसंबन्धेन न विरुध्यत इति संभावनामात्रम्, किं तर्ह्युपगतत्वानिलेषु पदार्थेषु स्थायिवादिभिरित्याह—घटादीनामिति । व्याघातमेव दर्शयति—तत्संबन्धीति । क्षणान्तरत्वाकान्तं यत्सत्संबन्धात्यन्ताभाववत्त्वे

१ क्षणान्तरासंबन्धित्वमात्रत्वे सतीति टीकाकारसंमतः पाठः । २ सहकारिकृतेति पाठः टीकासंमतो भाति उपकारस्येति शेषदानेन । ३ कारणत्वेनाभिमतदण्डादेरित्यर्थः । ४ समाधानदलार्थः । ५ विरोधस्य प्रथमे विकल्पे च विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वेतोः स्वरूपासिद्धिः । द्वितीये च विकल्पे निरुक्तभेदाभावरूपसाध्याभावात्साधकस्य हेतोः निरुद्धत्वम् । भावाभावरूपे तृतीयविकल्पेऽनैकान्तिकत्वमित्यर्थः । ६ वादिप्रतिवादिनोरिति शेषः । ७ अर्थद्विपर्ययकारित्वरूपसत्त्ववचेदमित्यर्थः । ८ कालोपाधिकभेदमात्रायेलादिः ।

न्धित्वस्याभ्युपगमात् । न तृतीयः । व्याघातात् । तत्संबन्धिभ्रूणस्यापि क्षणविशेषत्वेन क्षणान्तरत्वे सति क्षणान्तरमात्रासंबन्धाभावात् । न चतुर्थः । सिद्धसाधनत्वात्, अनेक-क्षणसंबन्धेषुत्पत्तिक्षणसंबन्धाविरोधात् । अत एव न पञ्चमः । नापि षष्ठः । स्वशब्दे-नाङ्कुराद्यैकैकविवक्षायां तदुत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वस्य घटादिभ्यभावेन क्षणिकत्वाभावप्रस-ङ्गात् । सर्वविवक्षायां तु लक्षणासंभवित्वम्, एकैकस्य सर्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वासंभवेन तन्मात्रस-त्त्वासंभवात् । नापि सप्तमः । अनेकक्षणसत्त्ववादिभिरप्येकक्षणावस्थायित्वाङ्गीकारात् । नाप्यष्टमः । प्रध्वंसाद्यनेकक्षणानवस्थायित्वात्स्यैकक्षणावस्थायिनि स्थायिन्यपि सम्भवात् । ..

उत्पत्तिक्षणानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वमित्यपि न । स्थिराणामपि यस्य कस्यचिदुत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वोपपत्तेः । एतेन खोत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंस-प्रतियोगित्वमपि निरस्तम् । स्वशब्दखण्डनस्य पूर्ववदत्रापि तुल्यत्वात् । अथास्य घटस्यै-तद्घटोत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वमेवं प्रतिव्यक्ति क्षणिकत्व-लक्षणमूहनीयमिति चेन्मैवम् । एवंविधक्षणिकत्वसाधने सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वा-पातात् । नह्यतीतानागतानां च सतामेतदुत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियो-गित्वमस्ति । तत्तद्धंसानामेतद्घटोत्पत्त्यनन्तरक्षणेऽनुत्पन्नत्वात् । एतेनोत्पत्तिक्षणध्वंससमा-

सति क्षणसंबन्धित्वमिति हि तृतीयः पक्षः, तच्च व्याहृतम् । येन हि क्षणेन संबध्यते सोपि यत्किंचित्क्षणपेक्षया क्षणान्तरमेव । तथाच तेनाप्यसंबन्धः संबन्धधेखापातात् व्याघातः स्यादित्यर्थः । अत एवेति । यत एवानेकक्षणसतोत्पत्तिक्षणसत्त्वसम्भवः, अत एव खोत्पत्तिक्षणसत्त्वमपि सम्भवतीति सिद्धसाधनमित्यर्थः । नापि षष्ठ इति । खोत्पत्तीत्यत्र स्वशब्देन किं प्रतिनियतः कश्चिदभिधीयते सर्वे वा पदार्था, आद्ये-ऽव्याप्तिः । सर्वपदार्थानामेकपदार्थोत्पत्तिक्षणसत्त्वाभावेन तेषु क्षणिकेषु लक्षणाभावादित्यर्थः । द्वितीयेऽसम्भ-वमाह—सर्वेति । सप्तमपक्षेपि सिद्धसाधनतामाह—नापि सप्तम इति । नाप्यष्टम इति । उत्पत्ति-क्षणावस्थायित्वेन तावदेकक्षणावस्थायित्वमस्ति प्रध्वंसक्षणमारभ्योत्तरानेकक्षणानवस्थायित्वं चास्तीति स्थायि-त्वेऽप्युपपत्तेरर्थान्तरत्वमित्यर्थः ।

लक्षणान्तरदूषयति—उत्पत्तिक्षणेति । उत्पत्तिक्षणसमनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं स्थायिनि न संभ-वतीत्यभिमानः । अत्र किमुत्पत्तिक्षणशब्देन यथाश्रुतोऽर्थो विवक्षितः । खोत्पत्तिक्षणो वा । आद्ये प्राह—स्थिरा-णामपीति । स्थिरस्यापि हि यो ध्वंसक्षणस्तत्पूर्वक्षणेपि यस्यकस्यचिदुत्पत्तिक्षणो भवतीत्यर्थान्तरमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—एतेनेति । तत्रापि स्वशब्देन किं ध्वंसप्रतियोगी विवक्षितः किं वा प्रतिनियतः कश्चित् । आद्येऽनन्तरदोषानुपपन्नः । द्वितीये तु षष्ठपक्षोच्चार्यासिरित्याह—स्वशब्देति । ननु न समस्तक्षणिकेषु अनु-गतमिदमावक्ष्यते लक्षणं, येनैवमव्याप्तिः स्यात्किंतु प्रतिविशेषं पृथगेवेत्यभिप्रेत्य शङ्कते—अधेति । अन-न्तरत्वं चात्रोत्तरत्वं विवक्षितं, तस्य स्थैर्येऽप्युपपद्यमानतया अर्थान्तरतापरिहारायाव्यवहितग्रहणम् । तत्कि-न्वत्सत्तत्क्षणिकमित्यत्र सत्त्वहेतुना एतादृशं क्षणिकत्वं सिद्धायिषितं, तथानानैकान्तिकत्वम् । गणरात्रान्त-रितपदार्थानां चैतद्घटोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणक्षणिकत्वाभावेन विपक्षत्वात्सत्त्वहे-तोश्च तत्र वर्तमानत्वादित्याह—एवंविधेत्यादिना । साध्यविकलत्वं दृष्टान्तं इति च द्रष्टव्यम् । अथ किमिति तत्र नास्ति, तत्राह—तत्तद्धंसानामिति । उक्तं दूषणं लक्षणान्तरत्वेऽपि दिशति—एतेनेति । उत्पत्तिक्ष-

१ वक्ष्यमाणदूषणेनेत्यर्थः । २ वक्ष्यमाणहेतुनेत्यर्थः । ३ यं कश्चिद्ध्वंसप्रतियोगिनमादाय तदुत्पत्तिक्षण-समनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वात्सायिनो घटादेः । ४ जलधारादिरूपः ।

नकालीनत्वं क्षणिकत्वमित्यपि निरस्तम् । यद्विचिदुत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वस्य
 स्याद्यिष्यपि भावात्, स्वशब्देन विशेषणेपि पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्, प्रतिव्यक्तिलक्षणे च
 सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वात् । घटत्वात्पटत्वादित्यादिप्रयोगसाधनाभ्यूहने चानागतप-
 टपादिध्वनैकान्तिकता तदवस्थैव । सर्वश्रायमुदितो हेतुकलापः पूर्वोदितप्रत्यभिज्ञा-
 प्रत्यक्षविरोधितया कालात्ययापदिष्टः । यत्पुनरुक्तं सामग्रीभेदाद्विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्य-
 भिज्ञानज्ञानस्यैकत्वानुपपत्तिरिति, तद्व्युक्तम् । संप्रयोगसंस्कारयोः संभूयसामग्रीत्वात् ।
 नचान्यत्र संप्रयोगसंस्कारयोः प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षयोः कारणत्वादेकज्ञानकारणत्वानु-
 पपत्तिः । यस्मात् 'अन्यत्र लिङ्गेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयोः । दृष्टं संभूयकारित्वं विशि-
 ष्टानुमितिं प्रति ॥ १७ ॥'

श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा लिङ्गस्याक्षनिरपेक्षस्यानुमानज्ञानहेतुत्वं दृष्टं, दृष्टं चेन्द्रि-
 यस्यानपेक्षस्यापरोक्षज्ञानकरणत्वं, तथापि संभूयोभाभ्यामयं पर्वतो वह्निमानिलेकमनुमा-
 नज्ञानं जायमानमुपलभामहे । नह्यन्तरेणेन्द्रियसंप्रयोगमयमिति पुरोवर्त्याकारोपलम्भसं-
 भवः । नच विरुद्धधर्मसंसर्गाद्भेदः । अस्मिन्नेवानुमानवेदने वह्निमानिति चायमिति च

णस्य यः प्रध्वंसस्तेनासमानकालीनत्वं यदुत्पद्यमानस्य तरक्षणिकत्वं, स्थिरस्य ह्यनेकक्षणावस्थायिनो नोत्पत्ति-
 क्षणप्रध्वंसासमानकालीनत्वं तेन नार्थान्तरत्वमित्यर्थः । असंभवपरिहारार्थं चोत्पत्तिपदम् । एतेनेत्येतद्विशृणोति
 —यद्विचिदित्यादिना । पूर्वोक्तदोषोऽव्याप्तिः । अथ विशेषलक्षणमिदं विवक्ष्यते तदा पूर्वोक्तमनुमा-
 नदूषणं स्यादित्याह—प्रतिव्यक्तीति । ननु विशेषलक्षणविवक्षायां न सत्त्वादिति हेतुरभिव्यक्तितः, किन्तु
 घटत्वात्पटत्वादित्यादिव्यावृत्तधर्मा, अतो नानैकान्तिकता, तत्राह—घटत्वादिति । तथाप्यनागतेषु पटे-
 ष्वभिप्रेतसाध्यरहितेष्वनैकान्तिकता । एवं पटत्वादेरपीत्यर्थः । एतद्भट्टलादित्यादित्वेवियुक्त्यां व्याप्तिसि-
 द्धिरित्यपि द्रष्टव्यम् । एवं साध्यप्रयुक्तदूषणान्युक्त्वा बाधमप्याह—सर्वश्रायमित्यादिना—ननु कथं संस्कार-
 संप्रयोगयोः संभूयसामग्रीत्वं, यावदान्यत्र निरपेक्षयोर्दृष्टयोरत्रापि तयोः सादृश्याभावात् वर्णित इति, तत्राह—
 नचान्यत्रेति । किमन्यत्र निरपेक्षकारणत्वेनात्रापि निरपेक्षमनुमितिसत्, तर्ह्यनैकान्तिकं, लिङ्गस्य श्रूयमाण-
 तया स्मर्यमाणतया वा क्वचिदिन्द्रियनिरपेक्षतयानुमित्युत्पादकत्वेन्द्रियस्य च घटादौ लिङ्गनिरपेक्षतयाऽपरो-
 क्षानजनकस्यायमभिमानपर्वत इत्यनुमित्युत्पत्तौ संभूयकारित्वदर्शनादित्याह—अन्यत्रेति ।

इममेव श्लोकं विशृणोति—श्रूयमाणस्येत्यादिना । ननु किमित्यनुमितावपि तयोः सादृश्यामिति, तत्राह
 —नह्यन्तरेणेति । यद्यप्ययं पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञात्मकोऽवयवो नानुमन्यते गोतमगोत्रमित्ययानीर्य-
 ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयमभ्यनुज्ञायत इति न निदर्शने विप्रतिपत्तिः । यत्तु पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मा-
 ध्यासाद्भेद इति, तत्राह—नच विरुद्धेति । एतेन विषयभेदाद्भेदोन्नयनमपि निरस्तम् । अयं पर्वतो
 वह्निमानित्यत्रैव व्यभिचारात्, कथं चात्र पारोक्ष्यमधिगतम् । नहि तदित्युल्लेखमात्रात्, पारोक्ष्यापारोक्ष्यको-
 प्यभिमानपर्वतः सोभिमानपर्वत इति ज्ञानयोस्तदन्वयानन्वयदर्शनात् । नच प्रत्यभिज्ञात्वादेव जगत्प्रत्यभिज्ञ-
 पदप्रामाण्यानुमानम् । विरुद्धधर्मसंसृष्टविषयत्वोपाधिहतत्वात्, अत्रैव च तदभावस्य निवेदितत्वात्, तस्मिन्
 चाप्रामाण्ये सर्वत्रैकान्तात् क्वचिदेकक्षणस्याप्यसिद्धेः क्षणिकत्वापि क्षयरोगप्रसङ्गात् । प्रत्यभिज्ञाबाधमनुमानम्

१ हानेत्यादिः । २ अत्र वह्निपर्वतयोः प्रकारविशेषयोऽभेदेऽपि ज्ञानस्यैवत्वात् । ३ इतिभेदेऽपि तावद्विज्ञान-
 यैतन्नवरूपज्ञानस्यैवत्वादिनि भावः । ४ इदमपे तु एतस्यैव निर्विवादानेव । ५ प्रत्यभिज्ञापानित्यर्थः । ६ श्लोकं वा
 इत्यादिरूपायां पञ्चीभूतप्रत्यभिज्ञा यामित्यर्थः । ७ अथित्वनिवमप्रसङ्गादित्यर्थः । ८ क्षणिकत्वापि परादेः क्षणिक-
 प्राप्त्या एवदमित्यवधारणत्वात्स्याप्यित्याभावप्रसङ्गादिति भावः ।

पारोक्ष्यापारोक्ष्यविरुद्धधर्मसंसर्गोपलब्धेः । तदेवं प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वेन प्रामाण्यसंभवात्तद्विरुद्धं भेदानुमानं कालात्ययापदिष्टं न भेदप्रत्यायनायालम् ।

कथं च व्याप्यव्यापकभावभेदोपलम्भाधीनात्मलाभमनुमानमसिद्धे भेदे भेदं गोचरयेत् । आगमोप्यभिधानाभिधेयभेदावगमपुरःसरस्त्वस्मिन्नेवासिद्धे कथं तत्र प्रामाण्यमश्रुधीत । शब्दान्तरादिकमपि सिद्धशब्दादिभेदोपजीवनेन प्रवर्तमानं तदसिद्धौ कथं कर्मो-

समर्थितमुपसंहरति—तदेवमिति । एतेन विज्ञानधुनिकत्वानुमानमपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । विनष्टाविनष्टलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गोपाधोर्वैयथ्यतया अस्मिन्नेः, नीलपीतादेश्च विज्ञानवहिर्भावात् । अस्तु तर्हि प्रत्यक्षं, न स्वतः परतो वा । अस्मिन्नेः । किं विज्ञानस्य स्वयमेवोत्पत्तिनाशौ सिध्यतः ज्ञानान्तरेण वा । न तावदन्यः । अपसिद्धान्तात्तद्विज्ञानस्योत्पत्तिविनाशौ गृह्यतद्विज्ञानमपि गृह्यादपरथा किमीयांविमावित्यावेदयेत् । नच विज्ञानस्य विज्ञानान्तरप्राह्वलं स्वप्रकाशदर्शने शोभनम् । स्वप्राह्वकं विज्ञानं स्वोत्पत्तिविनाशावप्यवगाह्यत इति चेत्, तर्हि स्वसमये स्वाभावसमये वा । न तावदन्यः । असंभवादतिप्रसङ्गाच्च । किं नाम न शक्यसाधनमसता ज्ञानेन । नापि प्रथमः । संवित्समये तदुत्पत्तेरतीतत्वात् मिथनस्य चानागतत्वादयोगिप्रत्यक्षस्य चातीताद्यगोचरत्वात् । कथं च तदिन्द्रियसन्निर्वाजन्यस्य तत्प्रत्यक्षत्वम् । नहि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् तद्वस्तुत्वयेन तदिन्द्रियसन्निर्वाजदुत्पद्येत । अस्तु तर्हि योगिप्रत्यक्षं तस्य च प्रैकाल्यगोचरत्वाद्यदाह कीर्तिन्यायविन्दी प्रत्यक्षचातुर्विध्यं वदन्—‘तदनुभूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति, तेन न कोपि कलङ्कलेप’ इति, तदपि चातुर्विध्यं । तथाहि किं तदीयनीलादिसंवेदनानामुत्पत्तिविनाशविषयत्वम्, उत्पत्तिविनाशमात्रविषयस्य वा कस्यचित् । नायः । नीलादिष्वेदनानां तत्तन्मात्रविषयत्वेन स्वोत्पत्त्याद्यगोचरत्वात् । अथान्या संवित् । सापि किं स्वोत्पत्त्यादिविषयिणी परोत्पत्त्यादिविषयिण्यपि वा । नान्यः । परबुद्धीनां तदविषयत्वात्, विषयत्वे चापराद्धान्तात् । अथ सा स्वोदयाद्येव विषयीकरोतीति योगिज्ञाननिदर्शनेन चैतराखनुमीयत इति मतम्, अस्तु तर्हि तदीयतादृशसंवेदि प्रमौण्यपर्यनुयोगः । ननु यो यदभिनविशमानोभ्यस्यति स तस्य परं काष्ठां प्राप्नोति चित्रकार इव शिल्पकर्माभ्यासी । अभ्यस्यति च कश्चिद्वदितो ध्यानमित्यनुमानं प्रमाणम् । न । नष्टपुत्रादिशोकवशेनातिभावयतः कूटसाक्षात्कारस्यापि दर्शनात् । अभ्यस्यति च कश्चिदिति च शपथसाध्यम् । अस्तु तर्हि बुद्धनिवद्भागमवशात्तादृशसर्वज्ञ इति सिद्धिः । स एव तर्हि सर्वज्ञः केन सिद्धः । ननु सोपि तदीयागमादेव, अहो दुर्मगोसि यत्तावत्कमोत्रधुरायुरैर्धोरजिज्ञोक्जिदित्यारीन्नुदारमुणप्रामनामान्युपार्जितानि लया तु साप्रतं मन्दाक्षजिदिति नाम निर्लज्जेभोपार्जितं, कथमपरया तत्प्रणीतागममेव तत्सिद्धावभिदधाति, परस्परप्रथादपि न विभेपि । तदित्यं—‘स्वैतस्त्वावन्न विज्ञप्तेः सिध्येतामुदयव्ययौ । परतोपि न विज्ञप्तेः सिध्येतामुदयव्ययौ ॥’

तदेवं विरुद्धधर्मसंसर्गोपलब्धेदानुमानं निरस्तम्, इदानीं भेदशक्तितानुमानजातस्य साधारणं दूषणमाह—कथंचेत्यादिना । व्याप्यव्यापकयोर्भेदोपलम्भः तमुपजीव्य प्रवर्तमानं कथं भेदमात्रे प्रमाणं स्यादन्योन्याश्रयादित्यर्थः ।

इममेव दोषमागमेऽप्याह—आगमोऽपि । तस्मिन्निति । अभिधानाभिधेययोर्भेद इत्यर्थः । यत्तु शब्दान्तरादि भेदसाधकमित्युक्तं तत्परिहरति—शब्दान्तरादीति । एतेषां चोदाहरणानि मिथ्यात्ववादे

१ सोऽयं षट्शब्दादिरुपेयादिः । २ सर्वभावानां धुनिकत्वेनेत्यादिः । ३ व्याप्यव्यापकवदार्थयोर्भेदोपलम्भस्तदधीनात्मलाभमित्यर्थः । ४ विषयधुनिकत्वनिराकरणेनेत्यर्थः । विज्ञानं धुनिकं सत्त्वात् विद्युदादिवदित्यनुमानाकारः । ५ उत्पन्नविनष्टे बलुनि विनष्टाविनष्टत्वस्य साध्यव्यापकत्वं नीलपीतादौ च विज्ञानरूपपक्षवहिर्भूते प्रस्तापितस्यापित्ववति सरवरूपदेतुमति साधनाव्यापकत्वं बोध्यम् । ६ विज्ञानस्य धुनिकत्वे प्रमाणमित्यर्थः । ७ कस्येवापि विग्रहः । ८ ज्ञानसर्वज्ञ इत्यर्थः । ९ योगिज्ञानं यथाऽतीतानागतविषयकं तथा प्रकृतसंवेदिप्यर्थः । १० प्रमाणप्रश्न इत्यर्थः । ११ विज्ञानस्योत्पत्तिविनाशौ स्वतोविज्ञानान्तराद्वा पूर्वोक्तरीत्या न सिध्येतामिति संग्रहश्लोकार्थः । १२ परस्परप्रथावत्त्वमिति भावः ।

पासनादिभेदमावेदयेत् । नहि भेदासिद्धौ यजतिददातिजुहोत्यर्थानां भेदः सिद्ध्यति, चेन 'धात्वर्थभेदे सर्वत्र विज्ञेयं भावनान्तरमिति' वार्तिककारोक्तो भावनाभेदः सिद्ध्येत् । उपमानमपि मानान्तरावसितगोगवयादिवस्तुद्वयावच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात् तदसिद्धौ न वस्तुभेदावभासनाय प्रभवति । तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीत्यर्थक्रियान्यधानुपपत्तिप्रभवत्वादर्थापत्तिरपि नान्तरेण तिलादिकारणभेदावभासं व्यवस्थासिद्धिरित्यन्योन्यसंभ्रयात् कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते । अभावोपि नेदमिह, नेदमिदमिति धर्मिप्रतियोगिभेदाधीनसिद्धिर्न वस्तुभेदं साधयत्यन्योन्याश्रयात् ।

अपि च 'मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात् । तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम् ॥ १८ ॥' प्रत्यक्षादिप्रमाणाधीना तत्प्रमेयव्यवस्थितिः, प्रमाणानि च लक्षणाधीनाधिगमानि, लक्षणं च दुर्निरूपणम् । तथाहि । तत्र न तावदिन्द्रियार्थसन्नि-

दर्शितानि । तत्र च शब्दान्तरेण धातुभेदेन धात्वर्थभेदात्तदुपरक्तभावनाभेदाधिगतश्च, शब्दादिभेदोऽप्यल्पसिद्धस्ततः कथं तदुपजीविनः समस्तभेदसाधकत्वमित्यर्थः । उपलक्षणं चैतदभ्यासादेरपि, तेषामपि हि पुनः श्रुतिसङ्ख्याविशेषसंज्ञान्तरगुणान्तरासन्निधिविशेषरूपाणामभ्याससङ्ख्यासंज्ञाप्रकरणान्तराणां भेदोपजीवनेनैव प्रवर्तमानानां तदसिद्धावप्रवृत्तेः । उपमानेषु कन्यायमतिदिशति—उपमानमपीति । मानान्तरावसितं यद्गोगवयादिवस्तुद्वयं तदवच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात्तस्य च वस्तुद्वयस्यासिद्धावुपमानमपि न समस्तभेदावभासनाय प्रभवतीति योजना । अर्थापत्तेरपि भेदेऽप्रामाण्यमाह—तिलेभ्य एवेत्यादिना । अर्थापत्तिरपि न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते, कुतस्तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीति तैलदधिकक्षणार्थक्रियाया व्यवस्थानियतिः तदन्यथानुपपत्तिप्रभवत्वात् । भवतु तावतापि किमायातमित्यत आह—नान्तरेणेति । तिलेभ्य एव दुग्धेभ्य एवेत्यत्र यदि तिलदुग्धयोर्मदो न प्रतीतः ततः किं कुत्र व्यवस्थाप्येत, प्रस्तुताव्यवस्था, तस्मात्तयोर्भेदसिद्धावेव व्यवस्थासिद्धिर्व्यवस्थान्यथानुपपत्तिलक्षणार्थापत्त्या च कारणयोर्भेदसिद्धिरिति प्रेतैलन्योन्याश्रयादिति योजना । नचाभावप्रमाणगम्योस्तु भेदः, तस्य च परस्परव्यावृत्तिरूपभेदे संभवति प्रतीतिरिति, तत्राह—अभावोपीति । संसर्गाभावेऽन्योन्याभावे वा प्रवर्तमानोऽभावो धर्मिप्रतियोगिभेदज्ञानाधीनप्रवृत्तस्ततश्च भेदसिद्धावन्योन्याश्रयतेत्यर्थः । 'निर्भ्रमः क्षणभङ्ग एव विषमो यद्वोतिदुर्बुद्धिर्भौद्धिर्निर्भ्रमविभ्रमालयमद्दामायाविनूढान्तरेः । यं विध्वस्तसमस्तभावविकृतिं व्याकीर्णमायाकथं लब्धाऽविक्रियबोधमोदजलधिं स्थापुं स्थिरं तं भजे ॥ २ ॥'

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां भेदविवयत्वाभावाद्भेदस्य च दुर्निरूपत्वात्सादृष्टप्रतिपादकागमानां तीव्ररोध इत्यपराधमध्यधायि, इदानीं यैः प्रमाणैर्विरोधं रूपे तान्येव दुर्निरूपाणि, कैर्विरोधः स्यादित्याह—अपि च मानापीनेति । तथेति । तच्च लक्षणमध्यक्षादिषु देवैरपि वक्तुं न शक्यत इत्यर्थः । अनेन प्रमाणादिषोऽवसरार्थव्युत्पादनरूपन्यायदर्शनविरोधोऽपास्त्यते । चैशेषिकदर्शनविरोधो हि पदप्रदार्थनिर्भ्रमणेन पुरो निवारितः । श्लोकं विप्रणोति—प्रत्यक्षादीति । यद्यपि प्रमाणसामान्यलक्षणरक्षणानन्तरं तद्विशेषप्रत्यक्षदेः रक्षणं युक्तं, तथापि प्रत्यक्षलक्षणरक्षणप्रसङ्गेन तदपि रण्डयिष्यत इति लाघवमभिप्रेत्य न्यायसूत्रोक्तं प्रत्यक्षतत्त्वं दूषयति—तथेति । तेषु प्रमाणेषु मध्य इत्यर्थः । यद्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि न्यसायात्मकं प्रत्यक्षमिति सूत्रं, तथापीयानेयांशो लक्षणोपयोगी । अव्यपदेश्यपदस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षभेदत्व-

१ अर्थापत्तिरपि न प्रामाण्यं भजते इति योजना द्वितीयमप्यमादाय । २ अनुपलब्धिरूपं प्रमाणनिर्भ्रमः । ३ इदमप्रवृत्तेरित्यन्वेति । ४ विभ्रमा अवस्थारूपाणानि, सत्कार्यभूतानि मिथ्याणानि वा । विभ्रमालयमद्दामाया मूलादानं ताभिर्विभ्रमैर्विरोधित्वर्थः । व्याकीर्णं दूरीभूता मायाकथा यसादिति विभ्रमः । यं लब्धा यन्बोधाभ्या निर्भ्रमः सं स्थापुं भजे इति संबन्धः ।

कर्पोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीत्यक्षपादोदितं प्रत्यक्षलक्षणं घटते । अव्यभिचारित्वस्य दुर-
धिगमत्वात् । तदव्यभिचारित्वं किमदुष्टसामग्रीजन्यत्वेन ज्ञायते किं वा बाधरहितत्वेना-
होस्वित्प्रवृत्तिसामर्थ्येनोतान्येन केनचित् । न प्रथमः । अप्रत्यक्षसामग्रीनिष्ठदोषाभावस्या-
ध्यक्षेणाध्यवसायतुमशक्यत्वात् । नापि ज्ञानाल्लिङ्गेन । ज्ञानमात्रेणादुष्टसामग्रीजन्यत्व-
साधने विभ्रमज्ञानेष्वनैकान्तिकत्वात् । नाप्यव्यभिचारित्वज्ञानेन तद्वगमः । परस्पर-
श्रयत्वात्, अदुष्टकरणजन्यत्वेन ज्ञानस्याव्यभिचारित्वसिद्धिरव्यभिचारित्वज्ञानाच्चादु-
ष्टकरणजन्यत्वसिद्धिरिति । नापि द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । किं सर्वपुरुषवाधरहि-
तत्वमुत प्रतिपत्तुः । नाद्यः । सर्वपुरुषवाधरहितत्वस्यासर्वज्ञाविज्ञेयत्वात् । न द्वितीयः ।
प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमननिधनादिना बाधानुदये तदीयमरुमरीचिकाविभ्रमाणामध्यर्थाव्य-
भिचारित्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । तस्याप्यनिवृत्तेः । तथाहि । प्रवृत्तिर्नाम पुंसः समी-
हा, चेष्टा, तस्याः फलेनोदकादिनाभिसंबन्धः प्रवृत्तिसामर्थ्यं, तेनोदकादिविज्ञानस्यार्थाव्य-
भिचारित्वमवगम्यत इति स्थितिः । तच्चैवं प्रवृत्तिसामर्थ्यं लिङ्गत्वादवगतं सदव्यभिचा-
रित्वं बोधयतीति वाच्यम् । तथा सति किं ज्ञानमात्रावगतं सत्तदव्यभिचारितां विज्ञान-

पत्वात् । व्यवसायात्मकपदस्य रूप रस इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानस्य शब्दानुवेधेन शाब्दलशब्दानिवर्तनेन सविक-
ल्पकप्रत्यक्षैप्रामाण्यसमर्थनार्थत्वात्, इति हृदि निधायैतावदुदाहृतम् । तत्र चाव्यभिचारीति शुक्तिरजतज्ञा-
नादिव्यवच्छेद । सुखादिव्यावृत्तौ ज्ञानपदम् । अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थमाद्यं विशेषणम् । एकदेशस्य दुर्ज्ञानत्वा-
दितिदं लक्षणस्याह—अव्यभिचारित्वस्येति । अत्र प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वेदैर्मधिगम्यत इत्यत्र विकल्प्य
दूषयिष्यत, इदानीं तुभयानुगुणतश्चापकत्वेनाभिमतान्धर्मान्विकल्प्य दूषयति—तदव्यभिचारित्वमि-
त्यादिना । ननु कथं प्रत्यक्षपक्षे धर्माणामानुगुण्यमिति चेत्, रत्नतत्त्वोपदेशस्येव तत्प्रत्यक्षसाच्चिव्यमित्य-
चेहि । प्रवृत्तेश्चेष्टायाः फलेन तोयादिना अव्यभिचारित्वप्रतिनियम प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, अदुष्टसामग्रीजन्यत्वेनेति
प्रथमपक्षे यदिदमदुष्टसामग्रीजन्यत्वं तस्मिन् प्रत्यक्षेण ज्ञायते उतानुमानेन । आद्ये प्राह—अप्रत्यक्षेति ।
कार्यकगम्यसामग्र्या दोषाद्याना च प्रत्यक्षलाभावात् तन्निष्ठदोषाभावोप्यप्रत्यक्ष अतस्त्वजन्यत्वमपि ज्ञानगत-
मप्रत्यक्षमिति भावः । द्वितीयेपि किं ज्ञानल्लिङ्गेन तदनुमीयते किवाऽव्यभिचारिज्ञानत्वेन । नाद्य इत्याह—
नापीति । तत्र हेतु—ज्ञानमात्रेणेति । भावपरो निर्देशः । द्वितीयं दूषयति—नाप्यव्यभिचारित्वेति ।
परस्परश्रयमेव विरुणोति—अदुष्टेति । बाधरहितत्वेनाव्यभिचारित्वावगम इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—
नापीति । उत प्रतिपत्तुरिति । यो हि येन प्रत्यक्षेणार्थं प्रतिपद्यते तत्र तस्य बाधाभावद्वैत्यर्थं । प्रति-
पत्तुर्देशान्तरेति । यदा हि मरुमरीचिकाविभ्रमोदयानन्तर प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमन देहव्यापतिर्वा भवति
तत्र तस्य न बाधोदय इति तद्गमाणामव्यभिचारित्वं स्यादित्यर्थं । आदिग्रहणेन स्वस्थस्यैव जिज्ञासायमाद्यो
गृह्यते । प्रवृत्तिसामर्थ्येनेति तृतीयं पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । पूर्ववाद्यमितं प्रवृत्तिसामर्थ्यं
तदनिवृत्तिं दर्शयितुं विवेचयति—प्रवृत्तिर्नामेत्यादिना । समीहेत्यस्यैव विवरणं चेष्टेति । भवत्वित्दं
प्रवृत्तिसामर्थ्यं ततः किं तत्राह—तच्चैदमिति । लिङ्गत्वादिति । व्यासर्लपश्रमैतथा ज्ञातं हि लिङ्गं
भवति, इतरथाऽसिद्धत्वप्रसङ्गादित्यर्थं । तच्च प्रवृत्तिभामर्थ्यं किं ज्ञानल्लिङ्गेनावगतं सत्सामर्थ्यं बोधयति किं

१ सफलप्रवृत्तिजनकत्वेनेति फलितार्थः । २ बौद्धैः सविकल्पकस्य प्रमात्वानङ्गीकारेण तत्समर्थनार्थत्वाद्वा ।
३ वा इदमिति छेदः ४ धर्माणामदुष्टसामग्रीजन्यत्वादीनां कथं प्रत्यक्षे प्रामाण्यरूपान्व्यभिचारित्वशापकत्वमित्यर्थं ।
५ यथा रत्नप्रत्यक्षसद्वृत्तेन रत्नतत्त्वोपदेशेन रत्नज्ञानस्य प्रामाण्यं गृह्यते तथा प्रत्यक्षसद्वृत्तैः पूर्वोक्तधर्मैरपि तस्या-
माण्यं गृह्यते इति भावः । ६ व्यासत्वसहितमा पशुधर्मतयेत्यर्थः ।

स्वावगमयेदुताव्यभिचारिज्ञानावगतम् । नाद्यः । भ्रान्तिस्वप्नादिज्ञानेनानैकान्स्यात् । नापि द्वितीयः । परस्परश्रयत्वात् ।

किंचायमन्वयव्यतिरेकी हेतुः केवलव्यतिरेकी वा । नाद्यः । सर्वज्ञानानामव्यभिचारित्वे विप्रतिपन्नं प्रति सपक्षासंभवात् । अस्तु तर्हि द्वितीयस्तथाचार्यवाचस्पतेस्तात्पर्यटीकायां प्रयोगः—‘विवादाध्यासितं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि । समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् । यदि पुनरेवं नाभविष्यन्न समर्था प्रवृत्तिमकरिष्यद्यथा प्रमाणाभास’ इति । भैवम् । हेतोर्विरुद्धत्वात् । दृश्यते हि मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य मणिप्राप्तेः प्रवृत्तिसामर्थ्यं, न चाव्यभिचारित्वम् । उक्तं हि—‘मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिघावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रती’ति ।

कश्चायं फलाभिसंबन्धः । ज्ञानप्रतिभासितार्थस्य प्राप्तिरुत तज्जातीयस्य । नाद्यः । वृषभमहिषपरिवर्तनादिना क्रियाविभागन्यायेन विज्ञानावभासितसलिलावयविनो विना वा अव्यभिचारिज्ञानत्वेनावगतमिति विकल्प्याद्येऽनैकान्तिकतामाह—भ्रान्तीति । अत्र च प्रवृत्तिसामर्थ्यं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमभिमतमितरथा वैयधिकरण्यं स्यात् ।

पूर्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यलक्षणो हेतुर्दुर्ज्ञान इत्युक्तम्, इदानीं भवतु सुज्ञानत्वं तथापि कीदृशो हेतुरिति विकल्पयति—किंचायमिति । नः किंचार्थः । पञ्चरूपः खल्वन्वयव्यतिरेकी । अत्र च सपक्षे सत्त्वलक्षणं द्वितीयं नाल्तीत्यभिप्रेत्याह—सर्वज्ञानानामिति । नच तदैनुभवाभावे सदेहाभावः । विषयीसादपि प्रत्यवस्थानसंभवात् । नच सोऽपि, अन्यत्र सत एवानिर्वर्चनीयवादात् । नच सर्वैवाद्विविधनिषेधप्रसङ्गः । उक्तवैयम्यामसमाधानत्वात्, एतेनोदयनोद्धारोपि चिकित्सितः । केवलव्यतिरेकिपक्षं शङ्कते—अस्तु तर्हीति । तात्पर्यटीका न्यायवार्तिकटीका । उदाहृतध्यायं ग्रन्थः स्वतःप्रामाण्यवादे । भ्रान्तिव्यावृत्त्यै समर्थपदम् । तदेतद्व्यति—मैवमिति । विरुद्धत्वं दर्शयति—दृश्यते हीति । या हि मणिप्रभाया मणिबुद्धिः सा तावदर्थव्यभिचारिणी, अयथाथत्वात् । नच मणिप्रभैव मणिः । अथ च समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमस्ति, मणिप्रापकत्वादित्यर्थः । अत्र सौगतवार्तिकसंमतिं दर्शयति—उक्तं हीति । यदि हि मणिप्रभायां प्रदीपप्रभायां च मणिबुद्धिर्भापुरुपावमिघावतस्तदा तयोर्भयोरपि विज्ञाने मिथ्याज्ञाने एव, तथास्यार्थक्रियां प्रति विशेषोक्ति, मणिप्रभायां मणिबुद्धेर्मणिप्रापकत्वात्, इतरत्र तदभावादित्यर्थः ।

प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य हेतुविशेषान्तर्भावो दुर्निरूप इत्युक्तम्, इदानीं प्रवृत्तिसामर्थ्यमेव सर्वज्ञानानुगतमद्यपि निरूपणमित्याह—कश्चायमिति । वृषभमहिषेति । अयमर्थः । वैशेषिकादिमते विज्ञानप्रतिभासितार्थप्रापकत्वं फलाभिसंबन्धरूपप्रवृत्तिसामर्थ्यमित्युक्तम् । अव्यापकत्वात् । यदा हि दूरतरे सरसि यः सक्तिं दृष्ट्वा तत्पिपासया सर्पति तदा समसमयमेव यदि महिषेण वृषमेण वा तदम्भः क्षोभितं भवेत्तत्तदम्भोव्यव्यारम्भकावयवेपु क्रियोत्पद्यते, ततश्च पूर्वतनद्व्यारम्भकसंयोगविधातकविभागोत्पत्तित्तत्तथ संयोगनाशस्तदनु च तदारब्धावयविनाशः, उत्तरसंयोगोत्पत्त्याचावयव्यन्तरोत्पत्तिरिति तेषां दर्शनं, ततश्च पूर्वगतसलिलावयवी विलीन एव, पीयमानध्यान्य एवेति पूर्वज्ञानजनितप्रवृत्तेः फलाभिसंबन्धो न स्यात्, अस्ति च तत्त्व, इतरथा व्यभिचारितयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गादिति । विज्ञानप्रतिभासितार्थसजातीयार्थप्रापकत्वं फलाभ्यभिचार इत्यर्थः ।

१ हेतुसाध्यवोरिति शेषः । २ पञ्चसप्तसप्तसप्तविषष्ट्यावृत्त्यापितात्वात्प्रतिपक्षित्वानि दम्भरूपानि । ३ अव्यभिचारित्वस्य सर्वज्ञानेपु प्रमारकानुभवाभावे इत्यर्थः । ४ भ्रमादपि संज्ञयसंभवादित्यर्थः । ५ प्रमारकत्वमुत्तारेणाह—न च सोऽपीति । न च भ्रमोऽपीत्यर्थः । ६ नहि अव्यभिचारित्वमन्यत्र वर्तमानमन्यत्र प्रदीपे सर्वज्ञानानामव्यभिचारित्वात् । ७ सर्वज्ञानानामव्यभिचारित्वे हेत्वाभासजन्यानुमितेरपि प्रमारवादिति भावः । ८ व्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्यैव विषेयत्वनिषेधत्वलीलादादिति भावः । ९ आचार्यवाचस्पतिप्रयोगनिताकरणेनेवर्षः ।

शेन ज्ञानस्य फलाभिसंबन्धाभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । प्रहृतारादिविज्ञाने तस्य तज्जातीयस्य वा प्राप्त्यभावात् । नापि चतुर्थः । अन्यदप्यनुमानान्तरमुत प्रत्यक्षम् । नाद्यः । लिङ्गस्याव्यभिचारित्वलक्षणसाध्येन व्याप्तिग्रहणदशायामेवाव्यभिचारस्य गृहीतत्वे पुनरनुमानानुपयोगात् । अगृहीतत्वे वानुमानस्याप्रवृत्तेः । न द्वितीयः । ज्ञानप्राहकैणैव मानसप्रत्यक्षेण तस्यार्थाव्यभिचारित्वग्रहणेऽभ्यासदशायामिवानभ्यासदशायामपि संशयानुदयप्रसङ्गात् ।

किंचेदमव्यभिचारित्वं नाम विज्ञानस्य, किं प्रमात्वापरपर्याया जातिरुतोपाधिः । न तावज्जातिः । जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तथाहि । सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इति वदद्भिरिदं रजतमिति विभ्रमज्ञानमिदमंशे प्रमाणमप्रमाणं च रजतांशेभ्युपगम्यते परीक्षकैः, तथाच—“अन्योन्यपरिहारेण भिन्नव्यक्तिनिवेशिनोः । सामान्ययोः समावेशो जातिसङ्कर उच्यते” इत्युक्त्यायेन स्मृतौ प्रमात्वपरिहारेणैवाप्रमात्वस्य वृत्तेरप्रमात्वपरिहारेण च प्रत्यक्षादौ प्रमात्ववृत्तेरेकस्यां विभ्रमव्यक्ताबुभयसमावेशे कथं न जातिसङ्करः स्यात् । उपाधिश्चाबाधितत्वाविसंवादित्वादिप्रागुक्तप्रकारेणैवापाकरणीयः । अस्तु वा यथाकथंचिद्विचारितरमणीयमव्यभिचारित्वं, तथापीश्वरज्ञानेऽव्याप्तिः । तस्य नित्यत्वादेवेन्द्रियसन्निकर्पाजन्यत्वात् । जन्यप्रत्यक्षलक्षणमिति चेत्, तथाप्यनुमितावतिव्याप्तिः, मनोलक्षणेन्द्रियस्यात्मलक्षणेनार्थेन सन्निकर्पादनुमितेर्जायमानत्वात् ।

युक्तम् । प्रहृतारादिविज्ञानस्य सजातीयस्य वा विजातीयस्य वा प्रहादे. प्रापकलाभावेनाव्यापकलादित्याह—**ग्रहेति** । पक्षद्वयेषुपेक्षाज्ञानस्य प्रामाण्यं न स्वादिलिपि दृष्टव्यम् । अन्येनेति पक्षं निषेधति—**नापीति** । यत्तदवोचाम प्रत्यक्षमनुमानं वेति विकल्प्य दूषयिष्यतीति, तदाह—**अन्यदपीति** । येन हि छिन्नेनाव्यभिचारित्वमनुनीयते तस्य तेन व्याप्तिर्गृहीता न वा । आद्ये प्राह—**लिङ्गस्येति** । नहि ज्ञानविशेषेऽव्यभिचारित्वं विप्रतिपक्षं, येनाग्निमलादिवदन्यत्र प्रसिद्धमेवान्यत्रानुमीयेतापि लव्यभिचारिलमात्र इति भावः । द्वितीये प्राह—**अगृहीतत्वं इति** । प्रत्यक्षपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति** । प्रत्यक्षत्वे ज्ञानप्रतीतिसमसमयमेव तस्यापि निर्णोतत्त्वादनभ्यासदशायामव्यभिचारित्वे संशयो न स्वादिलर्थः ।

एदित्यमव्यभिचारित्वस्य ज्ञापकाभावादसिद्धिरमिहिता, इदानीमव्यभिचारिलमेव दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमिति** । प्रमात्वमित्यपरः पर्यायो यस्याः सा तथोक्ता । प्रमात्वमितिनामिकेति यावत् । प्रमात्वरूपमव्यभिचारित्वं न जातिः । इदं रजतमित्यादिभ्रमेषु धर्म्येऽव्यभिचारित्वरूपप्रामाण्याङ्गीकारादितरांशे चाप्रामाण्याङ्गीकारात् । उभयोश्च परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र वृत्तौ जातिसङ्करादित्याह—**न तावज्जातिरित्यादिना** । जातिसङ्करस्वरूपमेव दृढवचनेन द्रवयति—**अन्योन्यपरिहारेणेति** । नच खतप्रामाण्यवादोक्तः परिहारः । इदमंशे तत्त्वहारस्योपाधिकार्येऽन्यत्रापि तत एव तत्त्वहारोपपत्तौ जातिसङ्करे प्रामाण्याभावात् । नच गोत्वायुच्छेदप्रसङ्गः । इष्टत्वात् । नचाप्रमात्वमुपाधिः प्रमात्वं च जातिरिति वक्तुं युक्तम् । वैपरीत्यस्यापि संभवात् । उपाधिपक्षं दूषयति—**उपाधिश्चेति** । प्रागुक्तप्रकारेणेति । अबाधितत्वं किं सर्वस्य किं वा प्रतिपत्तुः, एवमविसर्वादिष्वमपि किंसर्वेषामुत प्रतिपत्तुरिति विकल्प्योक्तदूषणेनेत्यर्थः । एवमवयवशो दूषणमुक्त्वा समुदितेऽपि दूषणं वक्तुमुपक्रमते—**अस्तुवेति** । अनीश्वरप्रत्यक्षलक्षणमिदमतो नाव्याप्तिरिति शङ्कते—**जन्येति** । अनुमिताविन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्व दर्शयन्नतिव्याप्तिमेव विवृणोति—**मनोलक्षणेति** । उपलक्षणं चैतस्सृष्ट्यादेरपि ।

संयुक्तेषु इति विशेषणान्नातिव्याप्तिरिति चेन्न । युक्तावस्थायामुपजायमानपरमाणु विषययोगिप्रत्यक्षेऽव्याप्तेः । अयोगिप्रत्यक्षलक्षणमिति चेन्न । प्रत्यभिज्ञाने तत्तांशेऽव्याप्तेः । तत्रापि संयुक्तविशेषणतालक्षणः सन्निकर्षोऽस्तीति चेन्नैवम् । अयमग्निमान्पर्वत इत्यु- मानेऽतिव्याप्तेः, तत्रापि संयुक्तविशेषणतालक्षणसन्निकर्षस्य तत्तांश इव सद्भावात् । लिङ्गा- द्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेन्न । इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तेनाप्यतंब्यावृत्तिमुखेन लिङ्गाद्यजन्यत्वमेवोच्यत इति चेन्न । यत्किंचिदपेक्षया सर्वस्यापि लिङ्गत्वसंभवेन लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात् ।

पारोक्ष्यानधिकरणप्रमा प्रत्यक्षफलं तत्करणं च प्रत्यक्षप्रमाणमिति सूत्रेण सूत्रितं लक्ष- णमिति चेन्न । प्रमात्वपरोक्षत्वयोर्दुर्निरूप्यत्वेन तदधीननिरूप्यगत्यापि लक्षणस्य दुर्निरू- पत्वात् । नच प्रमात्वस्य जातित्वेन निरुक्तिः । भ्रमज्ञाने जातिसङ्करस्योक्तत्वात् । न तत्रेदमंशादिप्रत्यये प्रमात्वं जातिः, किंतूपाधिनिबन्धनः प्रमाव्यवहार इति चेन्न । सर्वप्रमाव्यवहारस्यापि तथात्वोपपत्तौ जातेरपलापापत्तेः । नचैवं गोत्वापलापप्रसङ्गः ।

नन्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं संयुक्तेषु प्रत्यक्षमिति लक्षणं विवक्षितं, नचैवमनुमानम्, अतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—संयुक्तेषु इतीति । एतदुक्तं भवति । इन्द्रियार्थेत्यादिविशेषणयुक्तं संयुक्तार्थवभासकं प्रत्यक्ष- मिति । तर्हि योगिप्रत्यक्षविशेषेऽव्याप्तिरित्याह—न युक्तावस्थायामिति । आत्ममनःसन्निकर्षमानाद- शेषार्थग्रहणमिति भवतामभ्युपगमः । युक्तं च । नहि तदा परमाण्वादीन्द्रियसंयुक्तम् । बहिरिन्द्रियाव्यापार- न्मनसश्च बहिः स्वातन्त्र्याभावादिति भावः । तर्हि अयोगिप्रत्यक्षस्यैवेदं लक्षणमस्त्विति शङ्कते—अयो- गीति । तर्ह्ययोगिप्रत्यक्षेऽप्यव्याप्तिरित्याह—न प्रत्यभिज्ञान इति । ननु कथमव्याप्तिः, यावता तत्तापाम- पीदानीं चक्षुषा संयुक्तदेवदत्तविशेषणतया पारंपर्येणैन्द्रियसन्निकर्षोऽस्तीति शङ्कते—तत्रापीति । तर्हि प्रत्य- क्षधर्मिकानुमानेऽप्यतिव्याप्तिरित्याह—नैवमिति । ननु लिङ्गाद्यजन्यत्वे सत्युक्तविधिसन्निकर्षजन्यत्वं तद्व्यभि- चारिभावात्, दृश्येतरदिति परिहरति—नेन्द्रियार्थेति । नन्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यत्र लिङ्गाद्यजन्यत्वं विवक्षितमतो न वैयर्थ्यम् । यदि हि लिङ्गाद्यजन्यत्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वं चोभयं विवक्ष्येत स्मात्तत्र वैयर्थ्यं, नत्वेवमिति शङ्कते—तेनापीति । तर्ह्यसिद्धिरेव लक्षणस्य, चक्षुरादेरपि यत्किंचित्प्रति लिङ्गत्वेन सर्व- प्रत्यक्षाणां लिङ्गजन्यत्वादित्याह—न यत्किंचिदिति । तद्विज्ञानजन्यत्वे सति तदिन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्य लक्षणत्वविवक्षयां तच्छब्दार्थानुगत्यसंभवेन लक्षणस्याव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

फलद्वारा लक्षणं शङ्कते—पारोक्ष्येति । अनुमित्यादिव्यावृत्तये पारोक्ष्यानधिकरणस्यैवोक्त्युक्तम् । आर्तिविशेष- व्यवच्छेदाय प्रमाग्रहणम्, इन्द्रियेत्यादिविशेषणेन पारोक्ष्यानधिकरणस्यैवोक्त्यादव्यभिचारितया असादिस्युरत्वेन प्रमात्वलाभात्प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दात् । प्रमाणातीति सूत्रे करणस्य च प्रकान्तत्वादिदं लभ्यत इति भावः । भ्रमज्ञान इति । तत्र हीदमंशज्ञाने प्रमात्वमितरत्राप्रमात्वमिति जातिसङ्कर उक्त इत्यर्थः । ननु न तत्र प्रमा- नातिरिक्ति, येन जातिसङ्करः स्याव्यवहारस्तूपाधिनिबन्धन इति शङ्कते—न तत्रेति । आदिग्रहणेन पीत- दाहः उष्णं जलमित्यादी पीतोष्णतादिप्रत्ययाः संगृह्यते । ससर्गमात्रप्रत्यये हि तत्राप्रमात्वं, तर्हि तेनैवैसा- धिना सर्वत्र प्रमाव्यवहारोऽस्त्वनुगतनिमित्तलाभात्, धर्मं जानित्वनयना अर्धजरतीयदुष्टयेति परिहरति—

१ शुक्तयुक्तानभेदाद् गोतिरेदिविषयम् । २ तापदेन इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं दृश्यते । ३ उचितशेषविरहः ।
४ मल्लभमनिरासावेलम् ।

जातिमन्तरेणोपाधिमात्रनिबन्धनतया गोव्यवहारस्य कचिदप्यनङ्गीकारात् । मृद्गवाद्गोव्यवहारो न जातिनिबन्धनो नाप्युपाधिनिबन्धनः कित्तौपचारिक इति न किञ्चिद्बुध्यति, नच प्रमात्वजातेर्व्यञ्जकमस्ति । तथाहि । तत्किमवाधितानुभूतित्वं किं वा यथार्थानुभूतित्वमाहोस्विदव्यभिचार्यनुभूतित्वमविसवाद्यनुभूतित्वं वा सशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वं वा एतद्वद्विज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्भूमजन्यवद्विज्ञानवृत्तिसशयावृत्तिजातिमत्त्वं वा ।

न प्रथमः । इदानीं बाधविरहस्यातिप्रसङ्गकत्वात् । कालान्तरे बाधविरहस्य दुरवधारणत्वात्, सर्वपुरुषावाधस्य पुरस्तादेव निरस्तत्वात् । न द्वितीयः । यथार्थत्वानिरुक्तेः, तत्किमर्थसत्तामात्रविषयत्वमुत यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वमाहोस्विदवाधितार्थवत्त्वम् । न तावदर्थसत्तामात्रविषयत्वम् । भ्रमस्यापि प्रमात्वप्रसङ्गात् । नापि यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वं, प्रत्यभिज्ञायामतीतानागतानुमानेषु वैधज्ञाने च तदभावेन तेषामप्रमात्वापातात् । अवाधितार्थवत्त्वं तु पुरस्तादेवापहस्तितम् । नापि तृतीयः । ज्ञानार्थयोर्विभिन्नदेश-

नेति । ननु कथं कचिदपि गोत्वव्यवहारस्योपाधिनिबन्धनताऽभावः, यावता मृदादिविनिर्मितगवाद्गोत्वव्यवहारस्योपाधिकत्वात्, तत्र जातेरभावादिति, तत्राह—मृद्गवादाविति । न तावन्मृद्गवादौ गवादिबुद्धिरस्ति, शब्दप्रयोगस्तु परम्, नच सोपि जातिमुपाधि बावलम्ब्य, किन्तुपंचारात् । नहि सिंहशब्दो बलवर्मणि उपचारात्प्रयुक्त इति उपाधिनिबन्धनो जातिनिबन्धनो वा भवति, विभ्रमेदमशादौ पुनर्मुख्यत्वप्रमाव्यवहारस्य स्वीक्रियत इति विशेष इति भावः । जातिसङ्घराज प्रमात्व जातिरित्युक्तम्, इदानीं व्यञ्जकाभावाच्च न प्रमात्व जातिरित्याह—नचेति । पक्षचतुष्टयेऽनुभूतिग्रहणं स्मृतित्वव्याप्यत्वम् । विपर्ययादिव्यावृत्त्यर्थं च विशेषणान्तरम् । सशयाद्विपर्ययाच्च व्यतिरिक्तत्वे सति स्मृतित्वस्याप्यनधिकरणं यज्ज्ञानं तत्त्वमिति पञ्चमं पक्षः । एतद्वद्विज्ञानेति । एतच्च घटज्ञानं चेति प्रत्यक्षज्ञानविशेषो विवक्षितः । एतच्च धूमजन्यवद्विज्ञानं चेलत्राप्यनुमानज्ञानविशेषः । तयोर्वर्तमानत्वे सति सशयावृत्तिर्थां जाति प्रमात्व तदधिकरणत्वप्रमात्वव्यञ्जकमित्यर्थः । अत्र च घटज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वमित्युक्ते अनुमेयघटज्ञानवृत्त्यनुमितिलजातिमत्त्वमनुमितित्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता तदर्थमेतद्वद्विज्ञानवृत्तित्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षत्वजातिमत्त्वं प्रत्यक्षत्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता तदर्थं धूमजन्यज्ञानवृत्तित्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षधूमज्ञाने पूर्वोक्तार्थान्तरता तदर्थं धूमजन्यवद्विज्ञानेत्युक्तम् । तथापि तथाविधस्मृतौ प्रसक्तित्वादर्थमेतदित्युक्तम् । तथापि गुणत्वादिमत्त्वमादायार्थान्तरता तदर्थं सशयावृत्तित्युक्तम् । सशयावृत्तित्वे सति परोक्षाऽपरोक्षानुभववृत्तिजातिमत्त्वमिति लक्षणार्थः ।

तत्र प्रथमपक्षमवाधितत्वानिरुक्त्या दूषयति—न प्रथम इति । अतिप्रसङ्गकत्वादिति । विपर्ययादावपीदानीं बाधविरहसमवेन प्रमात्वव्यञ्जकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । पुरस्तादेव निरस्तत्वादिति । असर्वज्ञाविज्ञेयत्वादित्यर्थः । वादीन्द्रस्तु बाधितत्वात्यन्तानावोऽबाधितत्वमित्याह । तस्य वक्ष्यमाणवाधानिरुक्त्या निरासः । अथाबाधितमवाधितमित्यनुवृत्तबुद्ध्या जातिरुपाधिर्वाऽबाधितत्वं न । बुद्धिमात्रादसिद्धे । अर्वाधितत्वे च चक्रकम् । भ्रमस्यापीति । भ्रमज्ञानेपीदमसशयार्थस्य विद्यमानत्वात्तत्रापि व्यञ्जकसत्तया व्यञ्जकप्रमात्वप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—नापीति । प्रत्यभिज्ञाया तत्ताविशिष्टोर्थं प्रत्यभिज्ञोदयसमये नास्वतीतत्वात्तातीतानागतार्थविषयानुमानेऽपि तदानीमर्था नास्ति तथा विधिवाच्यजन्यज्ञानेपि साध्यार्थविषयत्वात्तदानीमर्थो नास्तीति तेषामव्यञ्जकतयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गादव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयवृत्तीयं दूषयति—अवाधितार्थवत्त्वं त्विति । अव्यभिचार्यनुभूतित्वमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—नापि तृतीय

१ केवलमित्यर्थः । २ सादृश्यमूलकगोत्वारोपादित्यर्थः । ३ ज्ञानमात्राद्बुद्धिसिद्धौ नभसि नैत्यमपि सिद्धेदिति भावः । ४ अर्वाधितत्वव्याऽबाधिप्रत्यक्षसाधनेचातमाशयान्योन्याशयचक्रकप्रसङ्ग इत्यर्थः । ५ द्वितीयस्य वि-
कल्पस्य तृतीय विकल्पमित्यर्थः ।

कालयोर्धूमाभ्योरिवाविनाभावाभावात् । चतुर्थेऽपि पक्षे ज्ञानान्तरेण तथैवोद्दिश्यमानत्वं विपरीततया वाऽनुद्दिश्यमानत्वमविसंवादित्वम् । नाद्यः । रजतं रजतमिति धारावाहिकविभ्रमेऽपि भावात् । न द्वितीयः । असंजातवाधस्यापि भ्रमस्य प्रमात्वापातात् । नापि पञ्चमः । संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतिद्वानधिकरणज्ञानत्वस्य विभ्रमेऽपि धर्म्यशेषभावात् । अन्यथा “सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय” इत्यभ्युपगमपरित्यागप्रसङ्गात् । संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरुक्तेश्च तदतिरिक्तत्वमपि दुर्भणम् । तत्र किमनवधारणज्ञानं संशयः विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शज्ञानं वा अनिर्द्धारितत्वविशेषितं वा जिज्ञासाजनकं मिथ्याज्ञानं वा विपर्ययेतरमिथ्याज्ञानं वा संशयत्वजातियोगि वा, सर्वथापि न निरूपणपथमत्रतरति । ‘अनिरुक्तेरवधृतेरतिव्याप्तेर्द्वयोरपि । अव्याप्तेर्विभ्रमाभेदाज्जातिसाङ्कर्यसंक्षिप्तः’ ॥ १८ ॥

नाद्यः । अवधारणानिरुक्तावनवधृतत्वस्याप्यनिरूपणात् । तथाहि । किं ज्ञानमात्रमवधारणमुत एकाकारप्रतिनियतमाहोस्वित्संशयविरोधिज्ञानं वा संशयविरोधिप्रमाणज्ञानं वा । आद्ये व्याघातः । ज्ञानं भवति न भवति चेत्युक्तत्वात् । द्वितीये चित्रः पटञ्चैत्रो

इति । किं यत्रार्थस्तत्र ज्ञानमिति देशतोऽव्यभिचारित्वं विवक्षितं किं वा यदार्थस्तदा ज्ञानमिति कालतः, नोभयमपीत्याह—ज्ञानार्थयोरिति । यद्यपि सुखादिषु देशतोऽविनाभावो वर्तमानेषु च कालतः संभवति तथापि न सर्वप्रमितीनामेवंभाव इति तास्त्वव्याप्तिरित्यर्थः । अविसवाद्यनुभूतित्वमिति चतुर्थेऽपि पक्षेऽविसंवादित्वं विकल्प्य दूषयति—चतुर्थेऽपीति । किं सवादाभावो विसंवादित्वं तदभावोऽविसंवादित्वमिति प्रथमविकल्पाभिप्रायः । द्वितीये तु विपरीतसवादे विसंवादस्तदभावोऽविसंवादित्वमिति । तत्र प्रथमं दूषयति—नाद्य इति । अस्ति हि इदं रजतमिदं रजतमिति धारावाहिकविभ्रमे ज्ञानान्तरेण पूर्वज्ञानप्रतीतार्थस्य तथेत्युद्धेख इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये देशान्तरगमनादिनानुत्पन्नबाधे भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्याह—न द्वितीय इति । पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिः । सर्वभ्रमाणामधिष्ठानांशे त्वदुक्तलक्षणवत्त्वेन प्रमात्वप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः, जातिसङ्कोचेरित्यमिप्रेत्याह—नापि पञ्चम इति । किंच संशयादेरपि दुर्निरूपत्वात्तद्यतिरिक्तत्वमप्रसिद्धमित्यसिद्धिलक्षणस्येत्यमिप्रेत्याह—संशयेति । तत्र संशयलक्षणानि सर्भवंति विकल्पयति—तत्र किमित्यादिना । निश्चयव्यावृत्त्यर्थमार्थं पदम् । अवधारणाभावव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम् । घटपटौ स्थाणुरेवेत्यादिव्यावृत्त्यै विरुद्धोभयग्रहणम् । अनिर्द्धारितत्वविशेषितमिति । अनिर्द्धारितोभयकोटिसंस्पर्शं ज्ञानमित्यर्थः । मिथ्याज्ञानमित्युक्ते विपर्ययेऽपि प्रसङ्गस्तदर्थं जिज्ञासाजनकेत्युक्तम् । तावत्युक्ते तर्कैः प्रसक्तिः तदर्थं मिथ्याज्ञानमिति । सर्वथापि दुर्निरूपणमित्युक्तं तत्र यथासंभवं दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—अनिरुक्तेरित्यादिना । प्रथमे पक्षेऽवधृतेरनिरुक्तया अनवधृतेरप्यनिरुक्तेरसिद्धिस्तथा द्वितीयतृतीययोरपि व्याप्तिश्चतुर्थे चाव्याप्तेः पञ्चमे विभ्रमाभेदात् पष्ठेऽपि जातिसङ्करप्रसक्ति इति योजना ।

संगृहीतानि दूषणानि विवृणोति—नाद्य इत्यादिना । अवधारणानिरुक्तयाऽनवधारणानिरुक्तं दर्शयितुमवधारणलक्षणानि विकल्पयति—किं ज्ञानमात्रमित्यादिना । ज्ञानमात्रमवधारणमिति पक्षे ज्ञानत्वानधिकरणं ज्ञानमनवधारणज्ञानं स्यात्, तथाचानवधारणज्ञानं संशय इति वदतो न्यायभूपणकारस्य वदनकोटोऽहं व्याहृतिहिमाहृतमित्याह—आद्ये व्याघात इति । नहि चित्रः पट इत्यादिज्ञानानामेकाकारप्रतिनियमस्ततोऽनवधारणज्ञानतापत्त्या संशयलक्षणमतिव्यापकमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—द्वितीय इति ।

१ शत्रन्तम् । २ घटपटोभयात्मकैकैकैव्येष्येक्षया स्थाणुत्व निरुद्धकोटिः । नचैतादृशविरुद्धोद्विद्वयमकारकनिर्द्वयज्ञानमिति भावः । सत्पक्षो विषयता । प्रकारेति यावत् । ३ तर्कस्य व्याप्ति निश्चयजननद्वाराऽनुमित्साजनकत्वस्य जिज्ञासाजनकत्वमिति भावः । यद्यपि तर्कस्यापि मिथ्या ज्ञानत्वमेव तथापि भ्रमस्य संशयलक्षणे तर्कतरनिव्याघातत्व विवक्षितमिति ध्येयम् ।

भेदश्चेत्यादिप्रमाणज्ञानानामपि संशयत्वापातः । एकाकारप्रतिनियमाभावात् । नापि तृतीयचतुर्थी । संशयानिरुक्तौ तद्विरोधस्यानिरुक्तेः । किं चैवंसति संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं संशय इत्यापत्तेत् । तथाचानुत्पन्नसंशयस्य संशयाविरोधितया जायमानप्रमाणज्ञानमपि संशयः स्यात् । नापि द्वितीयः । भेदाभेदशीतोष्णादिविषयप्रमाणज्ञानानां विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शानां संशयत्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । निर्धारणानिरुक्तावनिर्धारितत्वस्यैवानिरुक्तेः । अनिर्धारितत्वशब्देन कोटिद्वयस्याव्यवस्थितत्वं विवक्षितमिति चेत्, तदेव विविच्यताम् । किमव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयस्य स्वरूपमुत धर्मः । न प्रथमः । कोटिद्वयस्वरूपनिश्चयस्यापि संशयत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः । तादृग्धर्मविशिष्टकोटिद्वयप्राहिज्ञानविषयप्रमाया अपि संशयत्वापातात् । नापि चतुर्थः । अजिज्ञासोरपि स्याण्वादौ संशयदर्शनेन लक्षणस्याव्यापित्वात् । नापि पञ्चमो, विकल्पासहत्वात् । तथाहि । संशयस्य विपर्ययाद्विषयविशेषेण कारणविशेषेण जातिविशेषेण वा भेदः स्यात् । नाद्यः । विषयविशेषानिरुक्तेः ।

तथाहि । न तावदुभयविधिर्विषयः । एतौ स्थाणुपुरुषाविति समुच्चयनिश्चयस्यापि संशयत्वापातात् । नाप्युभयनिषेधः । न स्थाणुर्न पुरुष इति प्रत्ययप्रसक्तेः । नाप्यन्यतरनिषेधः । तदितरावधारणापत्तेः । नाप्युभयविधिनिषेधौ । स्थाणुर्भवति न भवति पुरुषो,

संशयविरोधिज्ञानत्वं तथाविधप्रमाणत्वं वेति यदिदमवधारणस्य लक्षणद्वयं तत्संशयानिरुक्त्या न सिद्ध्यति, आत्माश्रयप्रसङ्गादित्याह—नापि तृतीयेत्यादिना । किंच यदि संशयविरोधिज्ञानमवधारणज्ञानं, तदा संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं संशय इति लक्षणं स्यात्तथा चानुत्पन्नसंशयस्योत्पद्यमानं निर्णयज्ञानमपि संशयः स्यात्तस्य सर्वसंशयाविरोधित्वादित्याह—किंचेति । तदेवमनिरुक्तेरवैधृतेरित्ययमंशो विवृतः । एतेन च कोटिद्वयानवधारणज्ञानं संशय इति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तम् । अतिव्याप्तेर्द्वयोरपीत्येतद्यथाक्रमं विवृणोति—नापीत्यादिना । निर्धारणेति । निर्धारणविषयो हि निर्धारितं नाम, तद्विपरीतं चानिर्धारितं, निर्धारणं चावधारणापरपर्यायम्, तस्य च दुर्गिहूपत्वमनन्तरमेव निवेदितमिति तदुपशीलिलक्षणमपि दुर्गिहूपमित्यर्थः । ननु कोटिद्वयाव्यवस्थितत्वमनिर्धारितत्वं तेन न पूर्वोक्तान्योन्याश्रयत्वमिति शङ्कते—अनिर्धारितेति । यदि हि कोटिद्वयस्वरूपमव्यवस्थितत्वं तदा स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति कोटिद्वयनिश्चयस्यापि संशयत्वापत्तेरित्याहिरित्याह—कोटिद्वयेति । अव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयधर्म इति द्वितीये पक्षे दूषणमाह—तादृग्धर्मिति । अव्यवस्थितत्वविशिष्टकोटिद्वयप्राहि यज्ज्ञानं तद्विषयप्रमाणमपि परंपरयाऽव्यवस्थितकोटिविषयज्ञानमित्यतिरिक्त्यर्थः । वैदि च पुरुषत्वादिवदव्यवस्थितत्वमपि पारमार्थिको धर्मस्तदा तद्विशिष्टकोटिद्वयप्रमाणेऽप्यतिरिक्त्यर्थः । आरोपितत्वे तद्विपर्ययेपि प्रसक्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्, एतेन साक्षादिति विशेषणमपि निरस्तम् । अव्याप्तेरित्येतदपि विवृणोति—अजिज्ञासोरिति । नहि सर्वत्र संशयानन्तरं जिज्ञासोदेति, उपेक्षाया अपि संभवदिति भावः । विभ्रमानेदादित्येतद्विवृणोति—नापि पञ्चम इत्यादिना । विषयविशेषनिमित्तः संशयस्य विपर्ययाद्विशेष इति पक्षं दूषयति—नाद्य इति ।

तत्र संशयस्य किमुभयविधिर्विषयः यथा स्थाणुश्च पुरुषश्चेति किंबोभयनिषेधः किं वान्यतरनिषेध उतोभयविधिनिषेधौ । नाद्य इत्याह—न तावदिति । द्वितीयेऽसिद्धिमाह—न स्थाणुरिति । तदितरेति । यदि वान्यतरनिषेधः स्यात्तदान्यतरस्यावधारणं पर्यवस्येत्तथाच संशयत्वव्याघातः । चतुर्थेऽप्यसिद्धिमाह—स्थाणुरिति । तथाप्युभयविधिनिषेधयोरवधारणतया संशयत्वव्याघात इत्यर्थः । न केवलं व्याघातोऽसम्भ-

१ अयं पुरुषो न वेति जानामीत्यादिप्रमाया इत्यर्थः । २ अवधारणस्य निर्वचनाभावादित्यर्थः । ३ कोटिद्वयेऽव्यवस्थितत्वं पारमार्थिकमारोपितं वेति विकल्प्य दूषयति यदिचेत्यादिना । ४ एतादृशविकल्पपुरःसरदूषणान्तरोद्भावनेन । ५ साक्षादव्यवस्थितकोटिद्वयावगाहिज्ञानत्वस्य संशयत्वेन संशयावगाहिप्रमाणामतिव्यवभावेऽपि इति शेषः ।

भवति न भवतीत्युभयविधिनिषेधावधारणप्रसङ्गात् । नित्योऽनित्योवेत्यत्रैकतरनिषेधस्या-
न्यतरविधिरूपतयोभयविधिनिषेधयोरसंभवाच्च । न द्वितीयः । कारणविशेषानिरुक्तैः ।
स हि सामग्री वा तदेकदेशो वा । नाद्यः । अतीन्द्रियत्वेन तस्याः प्रत्यक्षत्वायोगात् ।
लिङ्गाभावेनानुमानतोप्यसिद्धेः । नच संशयज्ञानं लिङ्गम् । तस्येदानीमेव निरूप्यमा-
णत्वात् । नापि द्वितीयः । प्रत्यक्षस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्शनादेः स्वविपर्ययता-
नुव्यवसायप्रत्यक्षजनकत्वेनातिव्यापकत्वात्, अप्रत्यक्षस्य च तदेकदेशस्य सामग्रीनिरासेन नि-
रस्तत्वात् । नापि तृतीयः । जातिसङ्करापत्तेः । अयं स्थाणुः पुरुषो वेत्यत्र धर्म्यशे तस्यैव
ज्ञानस्य निश्चितत्वं विशेषांशे विकल्पांशे च संशयत्वमित्येकस्यैव ज्ञानस्य विरुद्धजातिद्वय-
लिङ्गिनः प्रसङ्गात् । एतेन पष्ठोपि पक्षो निरस्तः । तस्मान्नसंशयलक्षणनिरुक्तिः ।

नापि विपर्ययस्य । तथाहि । मिथ्याध्यवसायो विपर्यय इति भूषणकारभाषिवं
लक्षणं तावदयुक्तं, मिथ्यात्वानिर्वचनात्, तत्किमप्रमात्वमुतार्थव्यभिचारित्वमथोपदर्शितार्था-
प्रापकत्वमर्थक्रियाशून्यार्थत्वं वा । 'आद्यकल्पेष्वतिव्याप्तेरव्याप्तेश्चान्त्ययोर्द्वयोः । न
मिथ्याध्यवसायत्वं विपर्यासस्य लक्षणम्' ॥ २० ॥ नाद्यः । अप्रमात्वे सत्यध्यवसाय-

वधेत्याह—नित्य इति । नित्यत्वानित्यत्वयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वादेकतरविधावेकतरनिषेध उभयविधा-
नमुभयनिषेधश्च न संभवति, उभयविधानातिरिक्तोभयनिषेधाभावादित्यर्थः । एवं विषयविशेषाद्विशेषं निरा-
कृत्य कारणविशेषाद्विशेष इति पक्षं निराचष्टे—न द्वितीय इति । कारणशब्देन किं सामग्री विवक्ष्यते सा-
मग्येकदेशो वा । आद्ये प्रत्यक्षतस्तज्ज्ञानमनुमानतो वा । नोभयधापीत्याह—स हीत्यादिना । ननु किमिति
लिङ्गाभावः, यावता कार्यासंशयज्ञानात्सामग्र्याः शक्यमनुमानमिति, तत्राह—नच संशयेति । सामग्येक-
देशः कारणमिति पक्षेऽपि किं प्रत्यक्षगम्यस्तदेकदेशस्तदगम्यो वा । नाद्य इत्याह—प्रत्यक्षस्येति । तदा हि
तादृशकारणजनितं ज्ञानं संशय इति पर्यवसेत् । तथाचातिव्याप्तिः । तस्य साधारणधर्मदर्शनादेः स्वविपर्यय-
व्यवसायं प्रत्यपि जनकत्वात् । तस्य च प्रत्यक्षप्रमितित्वेन संशयत्वाभावादित्यर्थः । आदिशब्देन च विशेषसत्त्वा-
णविशेषदर्शने गृह्यते । सामग्रीनिरासेनेति । न प्रत्यक्षतस्तसिद्धिः, नाप्यनुमानतः । लिङ्गाभावाद ।
नच संशय एव लिङ्गम् । अद्याप्यनिरूपणादित्यर्थः । जातिविशेषाद्विशेष इति पक्षं दूषयति—नापि
तृतीय इति । जातिसङ्करमेव विवृणोति—अयं स्थाणुरिति । संशयत्वजातियोगीसंशय इति पष्ठोपि पक्षे
सङ्करप्रसङ्गमतिदिशति—एतेनेति ।

एवं संशयानिरुक्तिमुपपाद्य विपर्ययानिरुक्तिं प्रतिज्ञातामुपपादयति—नापि विपर्ययस्येति । प्रमाण-
ज्ञानसंशययोर्मिथ्याध्यवसायपदाभ्यां निरासः । उपदर्शितेति । यद्विज्ञानं स्वेन प्रकाशितमर्थं न
प्रापयितुं शक्नोति स विपर्यय इति किं विवक्षितमित्यर्थः । अर्थक्रियेत्यत्रोत्तरार्थशब्दो विषयपरः, समासश्च
बहुव्रीहिः । सर्वपक्षेषु दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—आद्येति । प्रथमद्वितीयतृतीयेष्वतिव्याप्तेरन्त्ययो-
स्तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तेरिति योजना । चक्षु तृतीयपक्षस्यैवातिव्याप्तिं च समुचिनोति । संप्रहं विवृणोति—
नाद्य इत्यादिना । अप्रमात्वं मिथ्यात्वमिति पक्षे अप्रमारूप्याध्यवसायो विपर्यय इत्युक्तं स्यात्
तथाच स्मृतावतिव्याप्तिरित्याह—अप्रमात्व इति । अतीतादिज्ञानानामर्थव्यभिचारिणामध्यवसायरूपानां

१ स्वसाधारणधर्मदर्शनादिविषयो यस्य तत्तयैत्यर्थः । २ तन्निरासोक्तप्रकारेणेत्यर्थः । ३ विशेषपदमर्थे । ४ वि-
विधकल्पनादि । ५ बहुव्रीहिः । ६ चकारारदितः पाठो भाति ।

रूपायां स्मृतावतिव्याप्तेः । न द्वितीयः । देशतः कालतोऽर्थव्यभिचारिषु प्रमाणज्ञानेष्वपि विपर्ययत्वप्रसङ्गात् । न तृतीयः । चन्द्रतारकादिप्रमाणज्ञानेष्वतिप्रसक्तेः । इदं रजतमित्यादिव्याप्तेषु चोपदर्शितेदमंशप्रापकत्वादव्याप्तेः । नापि चतुर्थः । मिथ्याऽहिदंशप्रतिसूर्यकायनेकार्थानां निघनप्रकाशनाद्यर्थक्रियादर्शनात् । नच ज्ञानमेवार्थक्रियाकारि नार्थ इति वाच्यम् । ज्ञानमात्रस्य तद्वेतुत्वेऽतिप्रसङ्गात्, अर्थविशेषितस्य तद्वेतुत्वे चार्थस्यापि तद्वेतुत्वापातात् । तदेवं तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तिः ।

‘अतस्मिस्तदिति प्रत्ययो विपर्यय’ इत्युद्द्योतकरीयमपि लक्षणमयुक्तम् । अतिव्याप्तेः । भवति हि वल्मीकादौ स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयः, न स्थाणुर्न पुरुष इत्युभयबाधदर्शनात् अतस्मिस्तदिति प्रत्ययः, न चासौ विपर्ययः । अतस्मिन्निति च स्वात्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्ययविवक्षायां संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणेषु प्रदेशवृत्तिषु स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणेषु प्रमा रूपोपि प्रत्ययो विपर्ययः स्यात् । एतेन बाध्यं ज्ञानं दुष्टकरणजन्यं वा ज्ञानं विपर्यय इति लक्षणं निरस्तम् । संशयेऽतिव्याप्तेर्दर्शितत्वात्, बाधानिरुक्तेश्च । किं विरोधिप्रमाणज्ञानं बाधः किं वा विपर्ययविरोधिप्रमाणज्ञानं विषयापहारो वा । आये पूर्वोत्तरप्रमाणज्ञानानां वध्यघातकलक्षणेऽतिव्याप्तिः । द्वितीये परस्परश्रेयता । न तृतीयः । तथाहि—विषयापहारो नाम पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थासत्त्वबोधन-

विपर्ययत्वापत्त्यातिव्याप्तेर्द्वितीयपक्षोपपन्न इत्याह—देशत इति । चन्द्रतारकेति । नहि तदर्थाः ज्ञानसमये प्राप्तुं शक्यन्त इति पूर्वमेवोक्तमिति भावः । अस्यैव पक्षस्याव्याप्तिं चाह—इदं रजतमिति । चतुर्थेऽव्याप्तिमाह—मिथ्याहिदंशेति । अस्ति तावन्मिथ्याहिदंशादपि कस्यचिन्मरणं, दर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यस्य च प्रकाशकत्व, उपसूर्यं वा दृश्यमान. सूर्यः प्रतिसूर्यक, ‘तस्याप्युपरि नरपति’मित्यादिशास्त्रान्मरणादिहेतुत्वावगमत्प्रकाशकत्वाच्चातस्तत्र त्वदभिमतमिथ्यात्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । ननु कथमव्याप्तिर्यावता तत्राप्यर्थस्यार्थक्रियाद्यन्यत्वाज्ज्ञानस्यैव तद्वेतुत्वादिति, तत्राह—नचेति । किं ज्ञानमात्र मरणादिहेतुत्वाद्यर्थविशेषितं वा । आये प्राह—ज्ञानेति । द्वितीये प्राह—अर्थेति । प्रतिपादितामन्तमयोरव्याप्तिमुपसहरति—तदेवमिति । एतेनैककोव्यवल्मीकी जाप्रतो मिथ्याज्ञान विपर्यय इति शीवल्लनीयमपि लक्षणं निरस्तम् । मिथ्यात्वानिरुक्ते ।

एवं भूषणकारलक्षणं दूषयित्वोद्द्योतकराभिमतं दूषयति—अतस्मिन्निति । वल्मीकादौ स्थाणुत्वपुरुषत्वरहिते स्थाणुर्वा पुरुषो वेति प्रत्ययस्तावदतस्मिस्तदिति प्रत्ययो भवति । नच विपर्ययोऽसौ । संशयत्वात् । अतोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । ननु प्रत्ययशब्देनावधारणं विवक्षितं तेन न संशयेऽतिव्याप्तिरिति मन्वानं प्रत्याह—अतस्मिन्निति । अतस्मिस्तदिति प्रत्यय इति कोर्थं—यत्तदत्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्यय इति । तथाच मा भूत् संशयेऽतिव्याप्ति, प्रत्ययशब्देनावधारणस्य विवक्षितत्वात्, तथापि प्रमाणज्ञानेष्वतिव्याप्ति । प्रदेशवृत्तिविशेषगुणेषु संयोगवियोगयोश्च स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया तत्प्रामेयितीना विपर्ययत्वापातादित्यर्थः । एतेनेत्यस्यैव विवरण—संशये इति । सोपि हि बाध्यो दुष्टकरणजन्यश्चेति भावः । अयानापि ज्ञानशब्देनावधारणविवक्षा । तन्न । तदनिरुक्तेर्वर्धितत्वात् । भवन्तु वा, तथापि बाधानिरुक्तेरेवेद दुष्टमित्यभिप्रेत्याह—वाचेति । पूर्वमेव बाध्यत्व विकल्प्य दूषितं तथाप्यत्र भङ्गनन्तरेण दूषणं, क्रियत इति । पूर्वोत्तरेति । यदिहि विरोधिज्ञानमात्र बाध, तदा पूर्वज्ञानानामुत्तरज्ञानविनाशयतया बाध्यत्वात्सर्वज्ञानेषु लक्षणमतिपतेदित्यर्थः । उत्तरो ग्रन्थ स्पष्टार्थः । विषयापहारो बाध इति पक्षमपि विकल्प्य दूषयति—तथा हीत्यादिना ।

१ वध्यञ्च घातकत्रेतिद्वन्द्वोत्तर लक्षणशब्देन पठ्यतेत्युक्तम् । इववसिते सतीति शेषः । २ असाविति शेषः । ३ सूर्यस्याप्युपरि दृश्यमानः एषो नरपति इतीत्यर्थः ।

भाप्रमुत तथा प्रमितिरुत यदेशकालविशिष्टतया यत्प्रतीतं तस्य तत्रैवासत्त्वबोधनम् । नाद्यः । नायं देवदत्तो न जीवतीति विभ्रमप्रत्यायेन देवदत्तादिप्रत्ययानां याचित्त्वेनाप्रमात्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । देशान्तरकालान्तरयोस्तदसत्त्वप्रमित्या घटादिज्ञानानामप्रमात्वप्रसङ्गात् । नापि एतीयः । देशकालविषयबाधेऽप्यव्याप्तेः, देशकालयोर्देशकालान्तराभावात् । यत्तद्विशिष्टानां च सर्वविषयत्वे कतिपयविषयत्वे चाव्याप्तिरेव । एतेन फलापहारोपि व्याख्यातः । अनुत्पन्नफलस्यापि ज्ञानस्य बाध्यत्वाद्गीकारात् । विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इत्यपलक्षणं । इदं रजतमित्यादौ धर्म्यं प्रत्यये जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तस्मान्न विपर्ययस्य लक्षणं पश्यामः ।

तथा स्मृतेरपि । तथाहि । किं प्रमाकरणाजन्यत्वे नति संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरुत दोषाजन्यत्वविशेषितमथवा स्वसमानविषयसंस्कारजन्यं ज्ञानं किं वा प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमयाहोस्वित्स्मृतिवजातियोगि । 'आद्ये कल्पेऽधिकव्याप्तेर्द्वयोभासंभवेतिवतः । तुर्येऽतिव्याप्तिव्याप्त्यन्त्येऽभावाच्चक्रमानयोः ॥' २१ ॥ नाद्यः । भ्रमस्यापि स्मृतिवत्प्रसङ्गात् । तस्यापि प्रमाणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वात् । नापि द्वितीयः । असंभवेतिवापातान्, संस्कारस्यापि स्वसामान्यनुमापकतया प्रमाकरणत्वात् । नापि तृतीयः ।

तथाप्रमितिरिति । पूर्वज्ञानोपदर्शिताधंस्यासत्त्वप्रमितिरिति वार्यः । नायं देवदत्त इति । यदा हि देवदत्त इति वा जीवतीति वा प्रतीतिरेषस्योदिति, अपरस्तु भ्रान्तः प्राह, नायं देवदत्तः नच जीवतीति, तत्रोत्तरस्य बाधत्वं पूर्वस्य बाध्यत्वादिपर्ययत्वं च स्यादितिऽतिदिकारोकातिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयेऽप्यतिव्याप्तिमाह—देशान्तरेति । अनित्यानामविभूनां फालान्तरदेशान्तरयोरसत्त्वप्रमितिरस्तीति तदज्ञानेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । यदा हि देशकालविषयो भ्रमो जायते न तत्र तद्वापस्योरूपैवमित्यव्याप्त्या तृतीयपक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । किंच यदेशकालेभ्यश्च यत्प्रतीतमित्यत्र च तस्य तदेशकालेभ्यश्च यत्तच्छब्दानां सर्वदेशकालसर्ववस्तुपरत्वे सर्वबाधाव्याप्तिः, एकैकेन सर्वाबाधात्, निष्कृष्टविशेषविषयत्वात् च तदितरबाधाव्याप्तिरित्याह—यत्तदादीति । लक्षणान्तरेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—एतेनेति । तत्राप्यभिवचनं प्रवृत्तिसादानमर्थक्रियेति चतुर्विधफलानामेकैकपहारे सर्वापहारे वाऽव्याप्तिरित्यर्थः । अव्याप्त्यन्तरं चाह—अनुत्पत्त्येति । प्रत्येतेषु विपर्ययज्ञानेषु फलं, प्राह तस्याभवात्, तद्यानुत्पादितप्रवृत्तिक्रमपि क्वचिद्वाच्यं दृश्यते विस्फादीनां, तत्राव्याप्तिरित्यर्थः । अस्तु तर्हि विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इति, तत्राह—विपर्ययेति । संशयत्वसमानयोगक्षेममिति भावः ।

संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतिव्यतिरिक्तानधिकरणज्ञानत्वं प्रमात्वव्यञ्जकमिति प्रथमपक्षे संशयविपर्ययानिरूपणात्कञ्चन विद्विष्टा, इदानीं स्मृतिरूपणादपि तत्त्वानधिकरणत्वमप्रतिद्विमिलमिभ्रेत्याह—तथा स्मृतेरपि । संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरित्युक्ते प्रत्यभिज्ञादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाकरणाजन्यत्वे सतीत्युक्तम् । अननुभूतविषयभ्रमनिवृत्त्यै द्वितीयं विशेषणम् । द्वितीये विपर्ययेतिव्याप्तिपरिहाराय दोषाजन्यत्वे सतीत्युक्तम् । ज्ञानपदेन पैटादः संस्कारजन्यपदेनानुवार्द्धस्य प्रत्यभिज्ञाया आवेनें पदेन निरासः । तृतीयेऽपि संस्कारजन्यत्वमनुमानादावस्तीति तद्यवच्छेदार्थं स्वसमानविषयग्रहणम् । नहि तत्र व्याप्तिसंस्कारादेरनुमिति समानविषयत्वमिति भावः । चतुर्थेऽपि पदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वं शाब्दप्रमित्यादीनामस्तीति तद्यवच्छेदाय प्रमित्यवृत्तौ लक्ष्यम् । श्लोकेन दूषणानि संशुद्धाति—आद्य इति । अधिकव्याप्तेः, अतिव्याप्तेः द्वयोर्द्वितीयतृतीययोः । आद्यपक्षेऽधिकव्याप्तिं निगदव्याख्यातग्रन्थेन दर्शयति—भ्रमस्यापीति । द्वितीयेऽसंभवं दर्शयति—संस्कारस्यापीति । इदं च प्रथमपक्षेऽपि समानम् । समानेऽप्यस्मिन्पक्षान्तरोपस्थापकं तैदिति दूषणान्तरं तत्रोक्तम् ।

१ तृतीयविकल्परूपत्वमित्यर्थः । २ विकल्पे इति शेषः । ३ घटादेरपि प्रमाकरणाजन्यत्वसति वेगरूपसंस्कारजन्यत्वादिति भावः । ४ अनुभूतानार्थविषयकशाब्दबोधश्लेथः । तस्य पदजन्यत्वादिति भावः । ५ प्रमाकरणाजन्यत्वपदे

असंभवित्वादेव, सा मे माता स मे पितेत्यादिस्मृतीनां पूर्वानुभवसंस्काराधिकविषयत्वात् । नहि पूर्वानुभवे स इत्याकारः, अयमित्तिवर्तमानताया एवानुभवात् । नच स इत्याकारः कारणान्तरोपनीतः, पदात्पदार्थस्मृतौ हरिहरादिस्मृतौ चाभावादिति वाच्यम् । तत्कारणानिरूपणात् । सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यये तदित्यंशस्य संस्कारानुपनीतत्वे सत्यमिल्याकारस्य च संयोगमात्राधीनतया विशिष्टप्रत्यभिज्ञास्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात् । अनुमिततत्तायां स इत्यमिलाप इति चेन्न । संस्कारस्य प्रत्यभिज्ञां प्रत्यकारणत्वप्रसङ्गात् । स इत्यंशेऽनुमानस्यैव सहकारित्वात् तं घटं स्मरामीत्यनुव्यवसायानुपपत्तेश्च । नहि तत्रानुमानव्यवधानमस्ति, तथा सति स्मरणस्यातीतत्वेनानुव्यवसायविषयत्वानुपपत्तेः ।

तृतीयेऽद्यभवं दर्शयति—सा मे मातेति । अथ कथं स्मृतेः पूर्वानुभवसंस्कारादधिकविषयता, तत्राह—
नहीति । ननु स इत्यत्र तद्देशकालवैशिष्ट्यं प्रतीयते, सच देशादिः पूर्वानुभवसमयेऽप्यनुभूत इति कथं तमं-
शमादायाधिकविषयताऽत आह—अयमित्तीति । न तद्देशादिवैशिष्ट्यमात्रं तत्ता, अयं स इति अयमित्ति
चोभयोरविशेषप्रसङ्गात्किंत्वसन्निहितदेशकालावच्छेदः पूर्वानुभवसमेदो वा । नचै तत्पुरस्तादानुभूतम् । वर्त-
मानतयैवानुभवात्, स्वैविशिष्टप्राहकत्वाच्च पूर्वानुभवस्येति भावः । ननु स इत्याकारः स्मृतेर्विषय एव न
भवति, पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्, तस्मात्कारणान्तरप्रयुक्त एवायमतो न स्मृतेरधिकविषयतेति, तत्राह—
नचेति । कुतो न वाच्यमिति, तत्राह—तत्कारणेति । नच पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्कारणान्तरप्रयुक्ति-
कल्पना । पदजनितबुद्धेः स्मृतित्वाप्रसिद्धेः । अनुवादोऽह्यं या पदात्पदार्थबुद्धिः । युक्तं चैतत्, इतरथा
शक्तिवशादभिधायकत्वप्रसिद्धिर्न स्यात् । नह्युपाध्यायस्मारकस्य शिष्यस्य तदभिधायकत्वप्रसिद्धिरस्ति ।
सत्यपि स्मारकत्वे शक्तिवैचित्र्यादभिधायकत्वप्रसिद्धिरिति चेत्, तयैव तर्हि शक्त्याभिधानमात्रमेवास्तु कृतं
स्मारकत्वेन । अत एव चैतदन्यथानुपपत्त्या वाक्यार्थोभिधायकत्वं शालिकनाथोक्तं प्रयुक्तम् । अनेकत्वा-
च्चाभिधार्त्रादीनां संबन्धिना न नियमेनार्थस्मृतिः स्मारकत्वपक्षे स्यात् । नच नियमेन सबन्ध्यन्तरदर्शने
संबन्ध्यन्तरस्मृतिर्भवति, भवति च नियमेन गृहीतसंगतिकस्य शब्दस्य स्मरणेऽर्थबुद्धिः । तदुक्तं 'नियमा-
च्छब्दतो बुद्धिर्न तथान्वयिर्दर्शनादिति । तस्मादानुवादत्वात्पदजन्यबुद्धेर्न तत्रादर्शनात्तत्ताया कारणान्तर-
प्रयुक्तिकल्पना । न केवलं कारणान्तरानधीनता, संस्कारानधीनत्वे वाधकं चास्तीत्याह—सोयमिति । तत्र
तदित्यंशस्य संस्कारानधीनत्वे संप्रयोगस्य च तत्रासत्त्वात्तद्गर्भप्रत्यभिज्ञाशरीरं न स्यादित्यर्थः । ननु नखनेत्र-
पादच्छायादिना लिङ्गेनानुमानात्ततोपस्थापिता, साच स इति परास्मृश्यत इति शङ्कते—अनुमितेति ।
तर्हि तत्ताया अनुमानसिद्धत्वादिदंतायाश्च संप्रयोगसिद्धत्वात्संस्कारस्य चाकारणतया राद्धान्तविरोध इति
परिहरति—न संस्कारस्येति । अनुमानिकत्वे तत्ताया द्रष्टृणान्तरमाह—तं घटमिति । तत्र किं प्रथ-
मतस्तत्तानुमानमथ घटस्मरणं ततस्तं स्मरामीत्यनुव्यवसायः । किं वा प्रथमतस्तस्मरणं ततस्तत्तानुमानं
ततोऽनुव्यवसाय इति । न प्रथमः । निर्धर्मिकतत्ताग्रहणाशक्तत्वात्विशिष्टघटविषयानुमानं घटमात्रविषयं च
स्मरणमिति तत्ताविशेषितघटविषयस्मृतिग्राहकानुव्यवसायानुपपत्तिरिति, द्वितीयं निषेधति—नहि तत्रेति ।
अथ किमिति तत्रानुमानव्यवधानं न स्यात्तत्राह—तथासतीति । तत्र हि घटस्मृतिरेवानुव्यवस्यते, सा
चेत्त्वोदयेऽप्यानुमानिकतत्तावती सत्यनुव्यवस्येत, तथासति चिरातीततया विनश्यदवस्थात्वस्याप्यभावात्,
वर्तमानस्मरणप्राहकानुव्यवसायविषयत्वं न स्यात् । अस्मापिमिलेवानुव्यवसायप्रसङ्गात्पैल्यर्थः । संस्कारस्य

१ अयमित्यधिको माति । २ सभेदो वैशिष्ट्यम् । ३ प्रथमकल्पं दूषयित्नुमाह नचेति । तत्पदार्थोऽसिद्धितदेश-
कालवैशिष्ट्यम् । ४ द्वितीयकल्पनिरासाय स्वविशिष्टेत्यादि । ५ वाक्यार्थबोधान्यथाऽनुपपत्त्या वाक्येषु वाक्यार्थ-
शक्तिरूपन प्रयुक्तम् । तदार्द्रं तु अनेकेषु वाक्येषु अनेकशक्तिकल्पनापेक्षया पदे पदार्थशक्तेरकस्याः कल्पनमेव
युक्तमिति । ६ अभिधात्पदार्थः पदम् । आदिनाऽभिधेयाभिधानयोः परिग्रहः । ७ शक्तीत्यादिः । ८ संबन्धि-
दर्शनादित्यर्थः । ९ अनुमानमस्याः सापकत्वेनास्ति इति विग्रहे मत्वर्थीयः ठन् प्रत्ययः ।

संस्कारस्यासंविद्रूपत्वात्, निर्विषयत्वाच्च समानविषयत्वासिद्धिः । न हासंविद्रूपस्य सवि-
षयत्वम् । इच्छादिषु तज्जनकज्ञानविषयेण सविषयत्वोपचारात् ।

तर्हि संस्कारजनकानुभवसमानविषयत्वे सति संस्कारजन्यत्वं लक्षणार्थं इति चेन्न ।
तत्तांशे समानविषयतायाः खण्डितत्वात् । गरुडादिसाक्षात्कारे चातिव्याप्तेः, तस्य दीर्घ-
कालनैरन्तर्योपचितसंस्कारविषयविषयत्वात् । नापि चतुर्थः । अनाप्तवाक्योत्थविभ्रम-
प्रत्ययेऽनेकार्थाक्षादिपदजन्यसंशये चातिव्याप्तेः । नापि पञ्चमः । तज्जातौ व्यञ्जकप्र-
माणानिरूपणात् । तदेवं संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरुक्तौ तदतिरिक्तत्वविशेषणं दुर्निरू-
पम् । नापि षष्ठः । तथाहि । एतद्ब्रह्मज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्भूमजन्यवह्निसानवृत्तिसंशया-
वृत्तिजातिमत्त्वमित्यपि न । विकल्पासहत्वात् । तथा हि किं घटज्ञानवह्निसानवृत्तिसंशया-
ज्ञानमात्रं विवक्ष्यते । किं वा प्रमात्वेन व्यवहियमाणमाहोस्विदवाधितप्रमाव्यवहारा-
स्पदम् । नाद्यः । विभ्रमज्ञानानामप्येवं भावात् । नापि द्वितीयः । उक्तदोषानुपह्नात्,
विभ्रमज्ञानेष्वपि तात्कालिकप्रमात्वव्यवहारदर्शनात् । नापि तृतीयः । अवाधितत्वस्य
दुर्निरूपतायाः प्रागेवाभिहितत्वात् । तदेवं प्रमात्वस्य न निरुक्तिः ।

विषयाभावादपि समानविषयत्वमसिद्धमिति प्रौढ्या प्राह—संस्कारस्येति । असंविद्रूपत्वादिति ।
ज्ञानलाभावादित्यर्थः । ननु तर्हि तत्कथमिच्छादिषु सविषयत्वं, समानं हि तेषामप्यसंविद्रूपत्वमिति, तत्राह
—इच्छादिष्विति ।

तदेवं स्वसमानविषयसंस्कारजं ज्ञानमिति लक्षणं दूषितमेव । एतत्परिहाराय भङ्गन्तरं शङ्कते—तर्ही-
ति । न स्वसमानविषयसंस्कारजन्यत्वमत्रामिप्रेष्यते, येनासिद्धिरभिधीयते, किं तर्हि, संस्कारजनको योऽनु-
भवत्वेन समानविषयत्वे सति तत्संस्कारजत्वमित्यर्थः । प्रत्यभिज्ञाव्यवर्तनायाद्यं विशेषणम् । समानविषयत्वं
चान्यूनानतिरिक्तविषयत्वम् । संस्कारजनकानुभवसमानविषयधारावाहिकज्ञानव्यावृत्त्यै संस्कारजन्यपदम् ।
इदमपि पूर्वोक्तदूषणेन दूषितमित्याह—न तत्तांश इति । अतिव्याप्तिं चाह—गरुडादीति । गरुडा-
दिध्यानाद्यः साक्षात्कारो जायते, स पूर्वपूर्वभावनाजनितः, तत्र संस्कारजनकपूर्वानुभवस्य साक्षात्कारस्य चाति-
समानविषयत्वम्, अथ च न स्मृतिः । साक्षात्कारिज्ञानस्य स्मृतिव्यव्याघातादित्यर्थः । संस्कारशब्देनात्र
तज्जनकानुभवो लक्ष्यते । संस्कारस्य सविषयत्वमङ्गीकृत्य वा । प्रमित्यवृत्तीत्यादि चतुर्थं लक्षणं दूषयति—
नापि चतुर्थं इति । पदजन्येत्यत्र एकैतवमविवक्षितं विवक्षितं बोधयथापि क्रमेण व्यभिचारमाह—
अनाप्तेत्यादिना । अनाप्तवाक्यजनितं यद्विज्ञानं विपर्ययरूपं तत्र विपर्ययत्वादिजातिः प्रमित्यवृत्तिपद-
जन्यज्ञानवृत्तिजातिर्भवति, तस्यैव ज्ञानस्याप्रमितित्वात्, पदजन्यत्वाच्च, अतस्तदोपनिवि विपर्यये चातिव्याप्तिः ।
तथाशगवादिशब्देरनेकार्थवाचकैः श्रवणमात्राद्यः संशयो जायते, किं विनीतकं किंवा देवनमिति, तत्राप्यति-
व्याप्तिरित्यर्थः । स्मृतिव्यव्याघातयोमित्वमिति पञ्चमं पक्षं दूषयति—नापीति । प्रासङ्गिकस्य प्रकृतोपयोगमाह
तदेवमिति । एतद्ब्रह्मज्ञानवृत्तित्वे सतीत्यादिषु प्रमात्वव्यञ्जकमाशङ्कितं दूषयति—नापि षष्ठ इति ।
तमेव पक्षं दूषयितुमतिव्यवहित इत्यनुवदति—तथाहीति । एतद्ब्रह्मज्ञानैतद्भूमजन्यवह्निसानवृत्तिसंशय-
विकल्पयति—किं घटज्ञानेत्यादिना । विभ्रमेति । येन हि विपर्ययत्वं नाम जातिरतीक्रियते, तस्य
विपर्ययेष्येतल्लक्षणं गच्छति । ज्ञानत्वाधिकरणवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमदिति हि तदा लक्षणार्थः । स च निर्व-
येष्यस्तीति भावः । प्रमात्वेन व्यवहियमाणं ज्ञानमिति द्वितीयपक्षेपीदमेव दूषणमतिदिशति—उक्तदोषेति ।
ननु विभ्रमेषु कथं प्रमात्वव्यवहार इति, तत्राह—विभ्रमज्ञानेष्वपीति ।

नापि परोक्षत्रायाः । तस्या जातित्वे जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तथाहि । किं प्रमात्वं परं, पारोक्ष्यमपरं, विपरीतं वा । नाद्यः । पारोक्ष्यभ्रमाभावप्रसङ्गात् । यत्र परोक्षत्वजातिर्व्याप्या तत्र व्यापक प्रमात्वमस्त्येवेति नियमात् । नापि द्वितीयः । तथा सति प्रमात्वपरोक्षता न व्यभिचरेदिति प्रत्यक्षप्रमाऽभावप्रसङ्गात् । नच विभ्रमेपूपाधिवन्धन एव परोक्षत्वव्यवहारः । तथासति सर्वत्र तन्निवन्धनतथैव तद्व्यवहारोपपत्तौ जातिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तदेवमन्योन्यपरिहारेण वर्तमानयोर्मनोगमनवर्तिनोर्मूर्तत्वरभूतत्वरयोः पृथिव्यादाविवैकत्र समावेशे जातिसङ्करः स्यात् । नच परोक्षताया जातेर्व्यञ्जकमस्ति । तत्किमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वे सति प्रमात्वमुत् लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्वम् । नाद्यः । ईश्वरज्ञानस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । स्मृतेः परोक्षत्वाभावप्रसङ्गात् । एतेन परोक्षत्वस्योपाधित्वमपि निरस्तम् । व्यञ्जकनिरासेन तैयोरुपाधित्वस्यापि निरस्तत्वात् । ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्ययोग्यनुव्यवसायातिरिक्तपरमाणुप्रमित्यवृत्तिर्जातिः साक्षात्त्व तदधिकरण प्रत्यक्षमित्यपि न । यतः—‘प्रमितेर्दुर्निरूपत्वाव्यञ्जकस्यानिरूपणात् । साक्षात्त्व

पारोक्ष्यानधिकरणप्रमाकरण प्रत्यक्षमिति लक्षणे प्रमात्वद्वानुपपादिता, पारोक्ष्यदुनिरूपता प्रतिज्ञाता-मुपपादयति—नापि परोक्षताया इति । जातिसङ्करमेव दर्शयति—किं प्रमात्वमित्यादिना । परोक्षभ्रमाभावप्रसङ्गमेवोपपादयति—यत्रेति । व्याप्यपरोक्षवजातिमत्त्वे सर्वत्र व्यापकप्रमात्वनियमात्पारोक्ष्यरूपभ्रमो न स्यादित्यर्थं । द्वितीये प्रत्यक्षरूपप्रमा न स्यात् । यत्र यत्र व्याप्यप्रमाव तत्र तत्र व्यापकपारोक्ष्यवृत्तित्वनियमादित्याह—नापि द्वितीय इत्यादिना । ननु प्रमात्व परमेव, तद्रहितेषु विभ्रमेषु पारोक्ष्यव्यवहारस्त्वोपाधिक इति, तत्राह—नच विभ्रमेष्विति । प्रतिपादितजातिसङ्कर सनिदर्शनमुपसहरति—तदेवमिति । यथाहि भूतव्यतिरिक्ते मनसि वर्तमानमूर्तलस्यानूर्तऽपि गगने वर्तमानस्य भूतत्वस्य चैकत्र पृथिव्यादौ पृथ्या जातिसङ्करप्रसङ्गात् न जातित्वम्, एवमनयोरपि परस्परपरिहारेण वर्तमानयोरैकानुमित्यादौ वर्तमानतया जातिसङ्करप्रसङ्ग इति योजना । नियतव्यञ्जकामावादिषु न पारोक्ष्य जातिरित्याह—नचेति । प्रत्यक्षप्रमिते परोक्षभ्रमस्य च निरासाय विशेषणद्वयम् । प्रत्यक्षप्रमितिव्यावृत्त्यै घटादिव्यावृत्त्यै वा विशेषणद्वयम् । नित्यस्येश्वरज्ञानस्य नेन्द्रियादिसन्निकर्षजन्यत्वमस्ति, अस्ति च प्रमात्वमिति तस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गिरिति प्रथमं पक्षं दूषयति—ईश्वरेति । लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्व पारोक्ष्यव्यञ्जकमिति पक्षे स्मृते पारोक्ष्य न स्याद्व्यञ्जकामावादित्याह—स्मृतेरिति । एतेनेत्यस्य विवरण—व्यञ्जकेति । पारोक्ष्यस्योपाधिकत्वेऽन्योन्योपाधिलक्षणभावनात्तच्च द्वयं निरस्तमित्यर्थं । प्रत्यक्षफलस्य लक्षणा न्तरं शङ्कते—ईश्वरेति । अत्र च साक्षात्कारत्वजाल्यधिकरण प्रत्यक्षमिति लक्षणम् । साक्षात्कारत्वस्य लक्षणमीश्वरेत्यादि, जाति साक्षात्कारत्वमित्युक्ते सत्तादावतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमित्यवृत्तौ युक्तम् । तथाच व्याघात, प्रत्यक्षप्रमितिवृत्तित्वात्, तदर्थं परमाणुप्रमित्यवृत्तौ युक्तम् । तथाच्यसिद्धिः । परमाणुमह जानामीत्यनुव्यवसायप्रत्यक्षस्य परमाणुविषयतया साक्षात्कारित्वस्य परमाणुप्रमितिवृत्तित्वात्तदर्थमुक्तमनुव्यवसायातिरिक्तेति । तथाप्यनुव्यवसायातिरिक्तयोगिप्रत्यक्षमादायासिद्धिरत उक्तमयोगीति । तथापि घटत्वादावतिव्याप्तिस्तदर्थं ज्ञानवृत्तौ युक्तम् । तथापि विषयत्वस्मृतिःवादिप्वतिव्याप्तिस्तदर्थमीश्वरज्ञानवृत्तौ युक्तम् । नहि तेपामपरोक्षेश्वरज्ञानवृत्तित्वमित्यर्थं । ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्युक्तविधपरमाणुस्मरणरूपज्ञानावातने प्रमात्वे प्रसङ्गनिरासाय परमाणुप्रमितीत्युक्तम् । पारोक्ष्यानधिकरणत्वादिहोपाधिनिरासाय जातिपदम् । परोक्षज्ञानवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ईश्वरज्ञानवृत्तिजातिरिति फलितार्थं । दूषणानि सत्युक्ताति—प्रमितेरित्यादिना ।

१ निरुक्ति संभवतीतिशेष । २ परोक्षति पाठो भाति । ३ समात्तरोक्तविकल्पयोरित्यर्थं । ४ अप्रापि परोक्षेत्वेनेचितम् ।

जातिसाङ्ग्योत्र प्रत्यक्षस्य लक्षणम् ॥' २२ ॥ प्रमितेरेवानिरूपणे परमाणुप्रमितवृत्तिविशेषणस्य दुर्ज्ञानत्वात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादेश्चाभिव्यञ्जकस्यापास्तत्वात्, साक्षात्त्वस्य च प्रमात्वेन परापरभावाभावाज्जातिसङ्करप्रसङ्गाच्च नेदमपि प्रत्यक्षलक्षणम् ।

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां वृद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमित्यपि न प्रत्यक्षलक्षणम् । प्रत्यक्षाभासेऽपि सत्त्वात् । वृत्तिकारमतेन तत्सतोर्व्यत्ययेऽपि लक्षणस्याव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा । तथा हि । यदाभासविज्ञानं तद्यदि तत्संप्रयोगादेव भवति तत्समीचीनं प्रत्यक्षमिति तदा सूत्रार्थः । तत्र किं प्रतिभासमानेनाकारेण कृत्स्नेन संप्रयोगाज्जायमानत्वं विवक्षितमुतैकदेशेनापि । नाद्यः । सोयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशे संप्रयोगाभावादव्याप्तेः । नच तत्रापि तत्तांशे संयुक्तविशेषणतालक्षणः संप्रयोगोस्तीति वाच्यम् । पक्षप्रमाणवादिना तस्य प्रत्यक्षतानङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वा निर्घटं भूतलमित्यत्र तथाभूतसन्निकर्षभावा-

प्रमितेर्दुर्निरूपत्वादिलेखेतद्विद्युतीति—प्रमितेरिति । व्यञ्जकस्यानिरूपणं विद्युतीति—इन्द्रियार्थेति । अव्यभिचारित्वरण्डनात्, ईश्वरज्ञानाव्याप्यैकत्वव्यत्ययार्थः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वासिद्धेश्च । तथाहि । न तावत्प्रत्यक्षतस्तदधिगमः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षयोः प्रत्यक्षत्वेन तज्जन्यत्वस्याभ्यप्रत्यक्षत्वात् । नाप्यनुमानतो, ज्ञानत्सप्रमितित्वादीनां व्यभिचारित्वात्, साक्षात्कारित्वस्याद्याप्यसिद्धेरिति । तृतीयं हेतुं विद्युतीति—साक्षात्त्वस्य चेति । तथा 'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमाणं सा । मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा ॥ १ ॥ सर्वविज्ञानहेतुत्वमितौ मातरि च प्रमा । साक्षात्कारत्वसामान्यात्प्रत्यक्षत्वेन संमता ॥ २ ॥' इति शक्ति-कनाधलक्षणमपि परिशुद्धं मन्तव्यम् । एतेन "साक्षात्प्रतीतिसाधकतममध्यक्षं, सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षं—"मित्यादिश्रीबलभभूषणप्रभृतिभिरभिहितं लक्षणजातं प्रत्याचक्षीत । साक्षात्त्वानिरुक्तेरेव, प्रत्यक्षप्रमेयपरोक्षप्रमाया वाऽभावप्रसङ्गादिति भावः ।

एवं तार्किकप्रत्यक्षलक्षणानि दूषयित्वा भीमांसकाभिमतं लक्षणं दूषयति—सत्संप्रयोग इति । 'सत्तावर्तमानेनार्थेनेन्द्रियाणां संप्रयोगे सति पुरुषस्य यद्वृद्धिजन्म तत्प्रत्यक्ष'मिति लोकसिद्धप्रत्यक्षलक्षणानुवादापरकै-मिनीयसूत्रस्यार्थः । अत्र न जन्मग्रहणं जन्मेव बुद्धेर्व्यापार इति प्रदर्शनार्थम् । उक्तं हि—'व्यापारः कृ-णानां तु दृष्टो जन्मातिरेकतः । ज्ञानेऽपि हि तथा मा भूदिति जन्माभ्युपेयते ॥' इति । अस्मात्प्रतीतिमाह—'प्रत्यक्षाभासेऽपीति । अस्ति हि तत्रापि वर्तमानेन संप्रयोगाद्बुद्धिजन्म । यथाहुः—'केनचित्संप्रयोगे हि भ्रान्त्यादि स्यान्नियोगितैः ।' इति । ततोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । स्यादेतत्, यद्यपीदं भाष्यकारमते दूषणं संभवति तथापि वृत्तिकारमते न संभवति । तेहि तत्सतोर्व्यत्ययं कृत्वा व्याचख्युः । तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धि-जन्म सत्प्रत्यक्षमिति । तदा चार्थं सूत्रार्थः । 'तत्संप्रयोगात्तद्विषयविज्ञानं सत्प्रत्यक्षमन्मसंप्रयोगादन्यविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षाभास' इति । ततः कथमतिव्याप्तिः, नहि शुक्तिकारजतज्ञानं रजतसंप्रयोगादुत्पन्नमिति, तत्राह—'वृत्तिकारमतेनेति । अव्याप्त्यतिव्याप्ती दर्शयितुं सूत्रार्थमाह—तथाहीति । विकल्प्य दूषणं दर्शयति—'तत्रेत्यादिना । ननु किमित्यभावप्रमाणवादिभिस्तस्य प्रत्यक्षांशत्वं नाङ्गीक्रियते, तत्राह—अङ्गीकारे चेति ।

१ अर्थ भावः । यदि प्रमात्व पर साक्षात्त्वमपर तदा प्रत्यक्षविभ्रमाभावप्रसङ्गः । यदिच विपरीतं तदा परोक्षप्रमाऽभावप्रसङ्ग इति पूर्वोक्त्या दिशा बोधव्यम् । २ स्वस्वत्वानविनिमित्तोऽपीत्यर्थः । ३ यदिपयकविधानमित्यर्थः । ४ अनुपलब्धिरूपेत्यादिः । ५ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वस्येत्येषः । ६ साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षमिति लक्षणम् । सा प्रतीतिमेयमातृप्रमाविषया । द्रव्यजातिगुणेषु मेयेषु सा प्रतीतिः इन्द्रियसन्निकर्षजन्या । सर्वे ये विज्ञानहेतवस्तज्जन्यप्रमा मितिविषया भावविषया च । तथाहि प्रभाकरैः ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्व ज्ञानाश्रयत्वेन चाननेऽवभास इति स्वीक्रियते । सा त्रिविधाऽपि मितिमेयप्रमाविषया प्रमा साक्षात्कारत्वसामान्यात्प्रत्यक्षत्वेन सम्मतेति बोधवा । ७ सर्वविज्ञानहेतुत्वा इति पाठः शोभनो माति । ८ साक्षात्त्वानिरुक्तेरिति भावः । ९ अस्य प्रत्याचक्षीवेति पूर्वमन्वेन संसंधः । १० अतिशक्तिमेव दर्शयति । ११ नियमत इत्यर्थः ।

दभावस्य प्रत्यक्षतोपपत्तौ पञ्चप्रमाणाभ्युपगमवैयर्थ्यापातात् । न द्वितीयः । विभ्रमेऽपि भावादतिव्याप्तेः, तत्राप्यधिष्ठानसंप्रयोगस्य भावात् । अयोच्येत संप्रयोग इत्यत्र समिति-विशेषणेन दुष्टेन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्वस्य व्यावर्तितत्वाद्दुष्टेन्द्रियसंप्रयोगजन्येषु विभ्रमेषु नातिव्याप्तिः । यथाहुर्भट्टपादाः—‘सम्यगर्थं च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः । प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते ॥ दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणादि’ति । तदपि न । उक्तोत्तरत्वात्, प्रत्यभिज्ञायां तत्ताशेन तथाभूतसंप्रयोगाभावादव्याप्तेः, इन्द्रियेषु दोषाभावस्य प्रागुक्तन्यायेन दुरवधारणत्वात् । तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्युक्तम् ।

नाप्यनुमानस्य लक्षणं निरूपयितुं शक्यम् । तथाहि । करणपक्षे तृतीयलिङ्गपरामर्शः, परामृश्यमानं वा लिङ्गमनुमानमिति नैयायिकाः । न तावत्तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितेः करणम् । अव्यापारत्वात् । व्यापारवत् एव हि सर्वत्र करणत्वम्, तदिह महानसादौ धूमधूमध्वजयोः प्रथमं सबन्धं गृहीतवतः शिखरिशिखरपरिवर्तितया पुनस्तमेव

इदं चासाधारणं, साधारणं तु प्रत्यक्षधर्मिकानुमानोच्छदात्मकं दूषणमनेवचारमुक्तमेव । एकदेशेनापि संप्रयोगे जन्मेति पक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । विभ्रमेऽप्येकदेशसंप्रयोगमाह—तत्रापीति । तत्रसंप्रयोग इत्यत्र समित्युपसर्गादतिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते—अथोच्येतेत्यादिना । सम्यक् प्रयोगो हि संप्रयोग इति भावः । अत्र वार्तिकसमतिमाह—यथाहुरिति । पादशब्दं पूजार्थं । ‘पादा इति च नामान्ते देवा भटारकावपी’त्यभिधेनात् । सम्यगर्थं प्रसिद्धोऽसमिति शब्दो दुष्टयोगस्य निवारकः । अथ कोऽयं प्रयोगः, यस्यायं सम्यग्यत्नमाचक्षीतं शब्दं इति, तत्राह—प्रयोग इति । बुद्धेन्द्रियाणामर्थेषु यो व्यापारः स प्रयोगोऽस्मिन्मत् इत्यर्थः । वस्तुहि दुष्टप्रयोगोऽनेन निवर्त्यते इति, तत्राह—दुष्टत्वादिति । कथं तदर्थस्य दुष्टत्वमिति, तत्राह—रजतेक्षणादिति । तन्निमित्तं रजतं ज्ञायते इति दुष्टे योऽसौ प्रयोगोऽतस्तद्व्यावर्तकोऽयं सशब्द इति वार्तिकयोजना । अनेनापि हि सम्यक्संप्रयोगं समर्थितं । सच तत्ताशे नास्तीति पूर्वमेवोक्तमित्याह—तदपि नेति । उक्तमेव दर्शयति—प्रत्यभिज्ञायामिति । ननु विस्मरणशील इव भवानालोच्यते, कथमन्यथा एकदेशसंप्रयोगपक्षमुपक्षिप्य तत्राशे तादृशसंप्रयोगाभावादव्याप्तिमाचष्टे इति, तत्राह—इन्द्रियेऽपि । प्रागुक्तन्यायो दुष्टसाममीजन्यत्वावधारणनिरसन्यायः । इन्द्रियसंप्रयोगोऽप्रत्यक्षत्वेन तन्निष्ठदोषाप्रहणेन दोषाभावस्याप्यग्राह्यादित्यर्थः । प्रत्यक्षसंज्ञनमुपसहरति—तदेवमिति । प्रत्यक्षधर्मिकानुमानेऽप्येकदेशसंप्रयोगसंभवादतिव्याप्तिः । संप्रयुक्त एवार्थे इति विशेषणे च प्रत्यभिज्ञाऽव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । अथवा भाष्यकारपक्ष एवातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्क्यदमव्याप्तिदानम् । इन्द्रियेऽपि दूषणान्तरान्वाचयः । ‘अध्यक्षे सर्वमानानामध्यक्षेऽस्मिन्प्रधियते । अनुमानादिषु त्वन्नमनु मानेषु का कथा ॥’ १ ॥

क्रमप्राप्तमनुमानलक्षणं सञ्जयितुमुपक्रमते—नाप्यनुमानस्येति । प्रमाणसंज्ञनस्य प्रस्तुतत्वादानुमितेः निहाय तादृशानुमितिकरणलक्षणमुद्गावयति—करणेति । इदमेव वाचस्पत्युदयनयोर्मतम् । इमं च तृतीयं परामर्शमुत्तरत्र स्वयमेव दर्शयिष्यति । ननु मानु व्यापारं करणत्वं किमिति न स्यादत आह—व्यापारवत् एव हीति । व्यापारवत्कारणं हि कारणमुच्यते, कारणविशेषध्वं करणं, ततो व्यापारवत् एव करणत्वमित्यर्थः । अस्तु तदर्थस्यापि व्यापार इति, तत्राह—तदिहेत्यादिना । धूमध्वजो वदति, शिखरी

१ विषयेऽनेकदेशसंप्रयोगात्प्रत्यक्षमिति पक्षं प्रकृत्येत् । अस्मिन्नेव घटाशे संप्रयोगादपि सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षसंभवादिति भावः । २ विभ्रमेषु नातिव्याप्तिरिति घटनेतिशेषः । एवकारेण वृत्तिकारपक्षम्यवच्छेदः । ३ दूषणान्तरस्य प्रासङ्गिकत्वेन बोधनमित्यर्थः । ४ सर्वमानानामध्यक्षे प्राधान्येन सामानि अस्मिन् अध्यक्षे प्रत्यक्षे माने प्रधियते इति अशुभिन्द्रियमनु दशान्मानेषु प्रमाणेषु अनुमानादिषु तु का कथा प्रपणसेति योजना । ज्येष्ठप्रपणने कनिष्ठप्रपणस्यानायाससिद्धत्वादिति भावः ।

धूममवलोकयतस्तदनुचानुसंहितव्याप्तेर्योऽयं लिङ्गविषयः परामर्शः 'तथाचायं धूमवानिति न तस्य व्यापारान्तरमुपलभामहे, येन तस्यानुमितिकरणता स्यात् । नच व्याप्तस्य पञ्चधर्मतावगमेऽप्यनुमानानुदयस्त्वयाभ्युपगम्यते, येन व्यापारान्तरं तत्र कल्पयेत् । अथानुसंहितव्याप्तिकस्य लिङ्गविषयो निर्विकल्पकप्रत्ययः करणं तस्य 'तथाचायं धूमवानिति सविकल्पकप्रत्ययो व्यापारः । मैवम् । शब्दानुमानाभ्यामवगतलिङ्गेष्वव्याप्तेः, आदावेव सविकल्पकेन तेषां विषयीकरणात्, शब्दानुमानयोर्निर्विकल्पकप्रत्ययाजनकत्वात् । अथोच्येत—तस्मादयमग्निमानिति निगमनेन तस्मादित्युपनयार्थस्य लिङ्गाधिकरणत्वस्य परामर्शात्, उपनयार्थस्य पूर्वभाविनस्तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य तज्जनैकतया तद्व्यापारोपपत्तिरिति । तदपि न । आप्तवाक्यादस्ति धूम इत्यधिगतवन्तोपि विनैव तस्मादिति परामर्शमात्रादस्ति धूमध्वज इति प्रतीतेरुदयात् । न चैषा प्रतीतिः प्रत्यक्षा । अनैन्द्रियकत्वात् । नापि शाब्दी । आप्तवाक्यस्य धूमसद्भावमात्रपर्यवसितत्वात् । नापि स्मृतिः । तत्राग्निसद्भावस्य पूर्वमननुभूतत्वात् । अतः परिशेषादनुमितिरेवेत्याख्येयं, तत्कथं तत्र व्यापारसंभवः । लिङ्गपरामर्शस्य करणत्वेन प्रमाणेषु ज्ञाताज्ञातकरणविभागश्च न स्यात् । नयनार्दीनामेव हि करणत्वमज्ञाततया, ज्ञाततया तु लिङ्गशब्दादीनामिति विभागः परामर्शस्य करणतायां न सिद्ध्येत् । नच परामर्शोपि ज्ञाततया करणम् । ज्ञानस्य निरीनस्यैव नयनदिवत्स्वरूपफलजनकताङ्गीकारात्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ परानुदयमानं लिङ्ग-

पर्वतः । तृतीयलिङ्गपरामर्शमेवाभिनयति—तथाचायमिति । ननु यद्यपि व्यापारान्तरं तस्य न दृश्ये, तथापि करणत्वसिद्धये कल्पयाम इति, तत्राह—नच व्याप्तस्येति । यदि व्याप्तता पञ्चधर्मतावगम- तस्य लिङ्गस्य कदाचिदनुमितिजनकत्वं न दृश्येत, कल्पयेतापि तदा व्यापारान्तरं, केवलव्यतिरेकत्वात्, तथापि तत्कल्पनेऽतिप्रसक्तिरिति भावः । ननु द्विविधस्तृतीयलिङ्गपरामर्शो निर्विकल्पकः सविकल्पकश्चेति, तत्र निर्विकल्पकः करणं, सविकल्पकस्तु तस्य व्यापार इति शङ्कते—अथेति । अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञानम् । एष लिङ्गपरामर्शस्य तृतीयत्वसिद्धये शून्यमेवै लक्षयितुं प्रलक्षलिङ्गोपलक्षित्यथे । यत्र तु शब्दानुमान- लिङ्गावगमः न तत्रैवं द्विविध्यम् । प्रलक्षगोचरत्वादस्याः कथायाः, तत्तत्राकरणस्यैवाभावप्रसङ्गादप्युच्ये- त्याह—मैवमिति । स्वादेतत्, 'तथाचायं धूमवानिति च 'तस्मादग्निमानिति च याविमानुपनयनिगमनात् । यद्यौ तत्र निगमनगतत्वस्मादिति परामर्शो व्यापारस्त्वजनकयोपनयनलिङ्गपरामर्शः सविकल्पकः कल्प- मिति शङ्कित्वा तादृशपरामर्शं विनैवाप्तवचनादवगतधूमादनुमित्युदयेऽव्याप्त्या परिहारि—अथोच्येतेत्या- दिना—उदयादित्येतेन । ननु तादृशपरामर्शव्यतिरेकेणोत्तरयमानप्रतीतिरनुमितिरेव न भवतीत्याह तादृ- शेषादनुमितिलमाह—न चैषेत्यादिना । परिशेषादनुमितित्वं दर्शयित्वा तत्राभ्यापि दर्शयति—तत्कल्प- मिति । किंच यदि परामर्शः करणं तदा तस्याज्ञातमानतया करणत्वात् प्रलक्षलिङ्गस्यैव स्यात्कल्प- लिङ्गपरामर्शस्येति । अतु तर्हि परामर्शोपि ज्ञायमानतया करणमिति, नेत्याह—नच परामर्शोपि । ननु निरीनतया फलजनकस्याप्यपेक्षित्यथे ज्ञायमानतया जनकता किं न स्यादिति आह—अन्यथेति ।

१ तस्मादिति परामर्शादित्यनेन संबध्यते । २ निरुक्तनिगमनजनकत्वेत्यर्थः । ३ इदं विनेकेनेन भवेति । ४ एवं प्रतीत्युदये हेतुः । परामर्शस्य प्रकृते पूर्वोक्तावगमपञ्चधर्मरूप एव । ५ एतद्व्यतिरेकत्वजनकत्वमात्रोपलक्षणम् । ६ यत्रानुदय उदयानुदयौ व्याप्तिप्रहावगमे धूमदानं प्रथमं, पक्षे धूमरश्मिं रितीत्यम् । ७ यद्विद्वत्पक्षेऽपि कल्प- पदार्थत्वम् । इतिरीत्या निर्विकल्पकमनुपपत्त्याय परामर्शस्य एतीदृशसिद्धिः । ७ एवमिति मनोहरः पाठः ।

मनुमितेः करणम् । तदपि न । तत्रासीद्भूम इत्यात्तादुपश्रुत्य घहिरपि तत्रासीदित्यनुमिताव-
विद्यमानस्य कारणत्वानुपपत्तौ तत्परामर्शस्यैव कारणतायास्तस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । एक-
प्रयोजकतानुरोधेन धूमादेर्वर्तमानत्वदशायामपि तत्परामर्शस्यैव कारणतायाः स्वीकरणी-
यत्वात् ।

किंचेद लिङ्गं, यस्य परामर्शः परामृश्यमान वा लिङ्गमनुमितिकरणम्, व्याप्तिपक्षधर्मता-
वह्निङ्गमिति चेत्केयं व्याप्तिः, किमविनाभावः किंवा स्वाभाविकः संबन्धः निरुपाधिकः
संबन्धो वा । नाद्यः विकल्पासहत्वात् । तथाहि 'किं व्यक्तयोरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा
विशेषयोः । व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनप्रत्ययोः ॥ २३ ॥ सा न व्यक्तयो-
स्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसभवात् । न तद्वतोरुक्तदोषान्न चतुर्थोऽनिरूपणात् ॥' २४ ॥ किं
धूमधूमकेतनस्वलक्षणयोर्व्याप्तिरुत धूमत्ववह्नित्वजात्योरथ तज्जातीययोराहोस्वित् धूमव-
त्त्ववह्नित्वयो । नाद्यः । व्यक्तीनामनन्तत्वात्तत्र संबन्धग्रहणासभवात् । नह्यसर्वज्ञेन
सर्वा व्यक्तयो विशेषतो ज्ञायन्ते । अथ व्याप्तिग्रहणसमये सामान्यलक्षण्या प्रत्यासत्त्या
तास्ता व्यक्तयस्तत्तदिन्द्रियैरवभासन्ते, अन्यथा सर्वोपसहारवती व्याप्तिरेव नावगता

स्वप्रकाशतानङ्गीकारादिति भावः । केवलव्यतिरेकाभावस्याप्युपलक्षणमिदम् । सति लिङ्गपरामर्शे तद
बोधापराधेनानुमित्यनुदयादर्शनात् । ननु न परामर्शं करणं, येनाय दोष स्यात्, अपि तु परामृश्यमान लिङ्गं,
तस्य च ज्ञायमानत्वान्नोक्तदोष इयुदयनमत शङ्कि वा अतीतादिधूमेनानुमानस्थडेवियमानस्य कारणत्वा-
भावात्परामर्श एव करणमन्वय, तत्तामाय दूर्तमानस्थलेऽपि तस्यैव करणत्व वक्तव्य, तथाचापरिहार्य एव
पूर्वोक्तदोष इत्याह—अथ परामृश्यमानमित्यादिना ।

एव लिङ्गमङ्गीकृत्य तत्परामर्शस्य करणत्व नास्तीत्युक्तम्, इदानीं लिङ्गानिरूपणादपि तत्परामर्शस्य कर-
णत्व न सभवतीत्यभिप्रत्याह—किंचेदमिति । लिङ्गस्य लक्षणमुद्भावयति—व्याप्तीति । व्याप्तिमलिङ्ग
मित्युक्ते करतल सर्ववत्त्वरूपवत्त्वात्, सुरभि गगनारविन्द अरविदत्वात्कासारारविन्दवदित्यादिसिद्धसाधनताश्च
यासिद्धोरनित्य शब्द सावयवत्वादित्यादिस्वरूपासिद्धौ चातिव्याप्तिस्वदर्थं पक्षधर्मतावदित्युक्तम् । तावत्युक्ते
चानित्य शब्द प्रमेयत्वात्, नित्य शब्द दृढरूपादित्यादित्यभिचारविरुद्धादिध्वतिव्याप्तिस्वदर्थं व्याप्ति
ग्रहणम् । अविनाभावो व्याप्तिरिति पक्ष दूषयति—नाद्य इति । विरुधदूपणे श्लोकाभ्यां सप्रह्लाणि—किं
व्यक्तयोरित्यादिना । तद्वतोरिति । जातिविशिष्टव्यक्तयोरित्यर्थः । साध्यसाधनवत्त्वयोरिति ।
धूमवत्त्वामित्रैवत्वयोरित्यर्थः । तदानन्त्याद्यकीनामानन्त्यादसर्वज्ञेन तत्संबन्धग्रहणाशक्तेरित्यर्थः । तदस-
भवादिति । अमित्त्वधूमत्वयोरैकाधिकरूप्याभावेन व्याप्तरसभवादित्यर्थः । आन लामुक्तदोष । श्लोकौ व्या-
करोति—किं धूमेत्यादिना । धूमकेतनो वह्निः । असवहेनापि प्रमेयत्वाद्यानारेण सर्वा व्यक्तयो ज्ञातु
शक्यत इति तन्निवृत्त्यर्थं विशेषत इति । ननु यदा व्यक्तद्वयं गृह्यते तदा तद्वत्तसामान्यद्वयसंबन्धे सर्वा
व्यक्तयः प्रयत्नीक्रियन्ते, तत्र च सामान्याग्निदैव प्रत्यासति, चक्षुःसंबन्धमवह्नित्वव्यक्तिसमये तत्सामा-
न्यद्वयद्वारा संबन्धविशेषणतया प्रत्यासन्न वाच्यकीना, ततो व्यक्तयोरैव व्याप्तिग्रहेऽपि न कश्चिद्दोष इति शङ्कते
—अथेति । ननु माभूत्सर्वोपसहारवत्याव्यायवगम, किं नदिच्छभिति, तत्र श्रीवह्नोक्तबाधकमाह—

१ तत्रति पाठ साधुर्भाति । २ नैयायिकनेतिशेषः । ३ अथ पक्षधर्मतावदित्युक्ता अतिव्याप्तिवारणं कथं
रीत्यति चि लम् । यदा प्राचीननैयायिकमतं सन्निवृत्तसाध्यत्वान् पक्ष इति पक्षलक्षणस्वीकारेण प्रहृते कर्तव्ये स्वज्ञे-
वत्त्वस्य सिद्धत्वेन पक्षत्वामाशो बोध्यः । ४ अग्निमत्तधूमवत्त्वयोरित्युचितम् ।

इत्यानुमानिकोपादानादिव्यवहारविरहविरोधप्रसङ्गात्, नहिः परिदृश्यमानकदलीफलादेः प्रत्यक्षेण दृष्टमिष्टसाधनत्वं येनैतदुपाददीत । किं नामानुमेयं, न च प्रतिबन्धसिद्धिमन्तरेणानुमानप्रवृत्तिः, नचान्तरेण विशेषप्रतिभासं तन्नियमावगमः । तत्सिद्धं व्याप्तिग्रहणसमये एव सकलविशेषाः प्रतिभासन्ते । तद्युक्तम् । प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्याप्तिं गृह्यतः सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् ।

ननु प्रमेयतया सर्वं ज्ञायते नतु रूपान्तरेणेति चेन्मैवम् । रूपान्तरस्यापि प्रमेयत्वाधारतया ग्रहणप्रसङ्गात्, अप्रमेयत्वे च सप्तमरसादिवत्तदसिद्धेः । येन येन रूपेण यद्यदस्ति तेन तेनाकारेण तत्तत्प्रमेयमिति स्यादेव सर्वज्ञता । किंच व्याप्तिसंदर्शनसमये एवाशेषग्रहणे पर्वतनितम्बगोचरोपि कृशानुर्गृहीत एवेति पुनर्धूमदर्शने तस्य स्मृतिगोचरतैव स्यान्नत्वनुमेयता । नापि द्वितीयः । यद्भूमत्वं यत्र वा धूमत्वं तद्वह्नित्वं तत्र वा वह्नित्वमिति नियमासंभवात्, तयोर्भिन्नत्वाद्भिन्नाधिकरणत्वाच्च । नापि तृतीयः । व्यक्ती-

इत्यानुमानिकेति । अथ कथमुपादानादीनामानुमानिकत्वमिति, तत्राह—नहि परिदृश्यमानेति । किं नाम । किन्त्वर्थः । प्रतिबन्धो व्याप्तिः । सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तिग्रहणसमयं नमुपसंहरति पूर्ववती—तत्सिद्धमिति । इदमोदनादि गम समीहितसाधनमोदनादित्वात् ह्यस्तनौदनादिवदित्यनुमाय तदादित्यते । एवं परिवर्जनीयेषु । नचैतत्सकलौदनादिगतहितसाधनतावगमं विना शन्यमनुमानमुदेतम् । नच तदवगमे कैथितोपायमन्तरेणोपायान्तरमस्तीति खण्डलकार्थः । तदेतद्भूयति—तद्युक्तमिति । प्रहादि विनतं प्रत्यक्षं प्रमेयत्वाभिधेयत्वाद्ब्रह्मादौ यदा प्रमेयत्वादेर्व्याप्तिं गृह्णाति तदा प्रमेयत्वादेः सर्ववस्तुनिष्ठत्वात्तद्ग्रहणे सर्वं गृहीतमेवेति कापि न ते संशयादि स्यात्, अस्ति च तैन्मच्चित्तवर्तिर्पदैर्वायंभधानलिङ्गातुमितम्, अत एव न प्रतिज्ञैवेति भावः ।

ननु प्रमेयत्वाकान्ताकारेण सर्वं ज्ञायते, तदाकारेण च व्याप्तिग्रहणं, नतु रूपान्तरेण, तदभावादिति नान्येनान्विति । तत्र वक्तव्यम् । येनाकारेण तानि न ज्ञायन्ते स किं प्रमेयो न वा । आये सोपि इति एवेति न पूर्वोक्तदोषाभिर्मोक्षः । उत्तरस्मिन्नु स एव नास्ति येन न ज्ञायेरस्तानीत्याह—मैवमिति । सप्तमेति । रसपट्टव्यतिरेकप्रव्यादे रसत्वस्याप्रमेयस्यासिद्धिवदित्यर्थः । किंच व्याप्तिग्रहणसमये सर्वव्यक्तिग्रहणपूर्वकं तनिष्ठव्याप्तिग्रहणमाशंसता पशीकृतपर्वतेऽपि सा गृहीता न वा । न यदि, तदा सर्वोपसंहारीण्यव्याप्तिरेव न गृहीता । अथ गृहीता, तत्राह—किंच व्याप्तिग्रहणेति । नितम्बः सानुः । नच धारावह्नित्वसंज्ञववादेऽनुमानप्रवृत्तिः । परार्थानुमाने तं प्रैति सिद्धसाधनतापातात् । जालोरिति द्वितीयं पक्षं इत्यन्ती—नापि द्वितीय इत्यादिना । वृक्षशिवापयोरिव स्वभावाविनाभावो वा, धूमापयोरिव सादेश्यनियनो रकव्यः । कालकृताविनाभावस्य जालन्तरेणापि साधारण्यात् । तत्र द्वयं न संभवति । भिन्नस्वभावत्वात्, भिन्नदेशरवात्त्वामित्वधूमत्वयोरिति भावः । जातिविशिष्टव्यक्तयोरिति तृतीयं व्यूयति—नापि तृतीय इति । यत्तत्र लीलावतीकारेणोक्तं 'नच प्रतिबन्धासवेदनं, व्यक्तमानसहिततज्जातिनिर्भासा'दिति । तदसत् । सर्वव-

१ आनुमानिको य उपादानादिरूपो व्यवहारस्तदिरदरूपस्य विरोधस्य प्रसङ्गादित्यर्थः । २ सामान्यदृष्टव्यत्वात् सत्तिरूपोपायमित्यर्थः । ३ तदिति पृथक्पदम् । संशयादीत्यर्थः । ४ इयं विषयसप्तमी तत्पदार्थे संशयादावनेति । ५ प्रतिश्रुत्यापदेन निरुक्तसंशयापभावप्रसङ्गात्प्रकल्पणरूपाभिचारनिवारणोपायः परिगृह्यते । ६ प्रमाणाभि संज्ञाने (संज्ञः सकरः) इत्यस्मिन् पक्षे यथा धारावाहिकप्रत्यक्षत्वे प्रथमद्वितीयप्रत्यक्षप्रमाणयोः संज्ञकत्वात् प्रत्यक्षरूपं प्रकृतौ अनुमानप्रवृत्तिरूपः संज्ञको ज्ञेयः । ७ साध्यविषयकप्रत्यक्षप्रमाणवन्तं बोधं प्रतीत्यर्थः । ८ व्याप्तिग्रहणं

नामिव तद्वतामपि अनन्तत्वात्संबन्धग्रहणानुपपत्तेः । अस्तु तर्हि चतुर्थः । नहि तत्र संबन्धग्रहणानुपपत्तिः, धूमवत्त्ववह्निमत्त्वलक्षणयोरुपाधयोः कतिपयव्यक्तिग्रहणेपि गोत्वादि-जातीनामिव ग्रहणोपपत्तेरिति चेन्नैवम् । संभवेपि तत्संबन्धेनस्य तत्समय एव पर्वतनि-तम्बसंबन्धिनो वह्निमत्त्वस्य गृहीतत्वात्पुनरनुमानाप्रवृत्तेः । वह्निमत्त्वमात्रमेव धूमवत्त्वव्या-पकतया गृहीतं नतु पर्वतगतवह्निमत्त्वमिति चेत्, तत्किमिदानीं बहूनि वह्निमत्त्वानि, हन्तैवं धूमवत्त्वान्यपि बहून्येवेति तदानन्त्यात् संबन्धग्रहणानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति घट्टकृत्यां

किग्रहणाग्रहणप्रयुक्तदोषपरिहारात् । धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोरिति चतुर्थं पक्षमुदाहरति—अस्तु तर्हि । ननु तयोरप्युपाधिसामान्यत्वात्समस्तधूमवदग्निमल्लक्षणोपधेयग्रहणव्यतिरेकेणाशक्यग्रहणत्वात् पूर्वोक्तदोषस्तद-पस्य इति, तत्राह—नहि तत्रेति । यथाहि कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि समस्ता जातिर्गृह्यते, तत्कस्य हेतोः, प्रत्येकं परिसमाप्यवृत्तिज्ञातद्वन्नापीति भावः । अत्र तावत्कतिपयव्यक्तिग्रहणे जातिर्गृह्यते इत्यत्रापि नास्ति संप्रतिर्पत्तिः । अथ तत्र परिसमाप्यवृत्तिज्ञातद्वद्यत इति मतं, तर्हि वक्तव्यं केयं परिसमाप्तिः, -यदि-तत्रैव वर्तमानत्वं, गतं तर्हि गवान्तरगतगोत्वेन । अथ पर्यवसितैतया प्रतीयमाणत्वम्, ईर्ष्याभावे तत्प्रमितत्वे कथमाश्वासः । किञ्च सा किं व्यक्तिसर्वगताऽसर्वगता वा । अन्ये तु नैकसां व्यक्तौ परिसमाप्तिः । नहि सर्वगताया गृहोदरे परिसमाप्तिर्वास्तवी । व्यक्तिसर्वगतत्वपक्षे गोद्वये वर्तमाना तयोरन्तराले वर्तते न वा । न यदि, तदवच्छिन्नदेशायाः कथमेकत्वम् । द्वितीये तु प्रागुक्त एव दोष, उत्पद्यमानायां च व्यक्तौ कृत एव्य-तीति पतिष्वतीत्यपि चिन्तनीयम्, तत्रापि तत्सर्वे प्रागुक्तदोषः । प्रतीत्यप्रतीती वृत्त्यवृत्ती नाम्ये इति चैरिक्तं योगाचार, नगरगोपुर प्रविशति । अचिन्त्यमहिमेयं वस्तुस्वभाववैचित्र्यं, यद्यकिद्वये वर्तमानाप्यन्तराले न वर्तते, एकत्वं न जहाति, व्यक्तयनुत्पत्तिदशाया तत्र तत्कारणेषु वा नास्ति, व्यक्त्युत्पत्तौ चास्तीत्यादीति चे-त्सत्यम् अचिन्त्यमहिमेव सा, न केवलं सैव, भवदनवबोधोप्यचिन्त्यमहिमेव, यत्सर्वैवविधमहामहेन्द्रजा-लता । नावकल्पयति प्रमाणं, युक्तौ च तत्र संचारयन्विचारकतामिमानं च न गुणसीति । वक्ष्यते चायमुपरि-ष्टात्सविस्तरार्थः । तदेतादृशदोषराशिकाल्पर्यकर्मणमपिना सूचयन्दोषान्तरमाह—मैवम् । संभवेपीति । ननु वह्निमत्त्वमात्रमत्रापि गृहीतमेव पर्वतगतवह्निमत्त्वं तु न गृहीतमित्यनुमानसार्थकमिति शङ्कते—वह्नि-मत्त्वेति । बहून्येवेति मन्व्यमानं प्रत्याह—हन्तैवमिति । शक्यते हि पर्वतगतधूमवत्त्वमन्यदेवेति यत्तु-

१ इदं संभवेऽपीलनेनान्वेति । २ सर्वत्रापि वह्निमत्त्वस्यैकत्वादिति भावः । ३ समस्तवृत्तिरित्यर्थः । ४ संपत्तिः । ५ पर्यवसितत्वं तत्रैव वर्तमानत्वं तत्प्रकारकप्रभाविशेष्यत्वमित्यर्थः । ६ गोत्वादिजातौ तत्रैव वर्तमानत्वरूपार्थस्या-भावे तत्प्रकारकज्ञानस्य प्रमात्वमेव नास्तीति भावः । ७ किञ्चैलारभ्य न मुञ्चसीत्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यायते । सा जातिः किं व्यक्तिसर्वगता सर्वासु व्यक्तियु गतेत्यर्थः । अथवाऽसर्वगता सर्वासु व्यक्तियु गता न भवति, अतीतमविध्य-मस्तिपु असत्त्वात् । न तु वर्तमानव्यक्तिद्वयवत्त्वसत्त्वं विकल्पार्थः । तत्रान्ये कल्पे एकसां व्यक्तौ जातेः परि-समाप्तिर्न समवति । वर्तमानसर्वव्यक्तिगतत्वाज्जातेः । यथा गृहेऽ-तर्बहिश्च सर्वत्र वर्तमानायाः प्रभाया गृहोदरे परि-समाप्तिर्न वास्तवी तथा । व्यक्तिसर्वगतत्वपक्षे गोद्वये वर्तमाना गोत्वजातिर्गोद्वयस्यान्तराले यदि न वर्तते तदा विभिन्नगो-व्यक्तयवच्छिन्नदेशद्वयेऽस्तस्या एकत्वमेव दुर्घटम् । यदि च गोद्वयस्यान्तराले वर्तते तदा नैकसां व्यक्तौ परिसमाप्तिरि-ति प्रागुक्तो दोषः । उत्पद्यमानाया व्यक्तौ कृतो जातिरागमिष्यति इति शङ्काऽप्यत्र पक्षे पतिष्वतीत्यपि विचारणीयम् । उत्पद्यमानायामपि व्यक्तौ गोत्वजातिसर्वत्रैवस्या व्यक्तौ परिसमाप्तिरिति प्रागुक्तो दोषः । प्रतीतिरेव वृत्तित्वमप्रती-तिस्तु अवृत्तित्वं नरवन्त्यत् । तथा च उत्पद्यमानायामपि व्यक्तौ गोत्वजातेः प्रतीयमानत्वाद् वृत्तित्वमभ्युपेयते । इति प्रशार्थः । तदा ते योगाचारमतप्रवेश इति समाधातुराशयः । वस्तुस्वभावस्याचिन्त्यत्वेन पूर्वोक्त सर्वमेव दूषणजातं परिहरति पूर्वपक्षी । अचिन्त्यत्वादिना । परिहसन् इष्टापत्त्या स्वमतप्रवेशेन दूषयति—अचिन्त्यत्वादिना । केचित्तु व्य-क्तिसर्वगतासर्वगता वा इत्येव छेदः । व्यक्तितदितरसर्वगतेति द्वितीयविकल्पार्थः । अग्रे च 'नहि सर्वगताया गवोदरे परिसमाप्तिरिति पाठः । गवोदरे इत्यस्य गोव्यक्तिमात्रे इत्यर्थः । एतदग्रे च 'तयोरन्तराले न वर्तते वर्तते वा' इति पाठः । अत एवाग्रे 'द्वितीये तु' इति पाठः स्वरसतः संगच्छते । ततोऽप्यग्रे 'न यदि, तदाऽवच्छिन्नदेशाया' इत्यादि पाठः । अवच्छिन्नदेशाया इत्यस्य भिन्नदेशाया इत्यर्थं श्लाघुः । ८ कर्मणं समुच्चयः ।

प्रभातमनुसरति । अथैकैव धूमवत्ता एकैव वह्निमत्ता न सा पर्वतसंबन्धिनी गृहीताऽऽः सैवानुमानालम्बनमिति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । संबन्धसंवेदनसमये यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्र वह्निमत्त्वमिति वीप्साविषयतया पर्वतादिप्रदेशोऽपि प्रतीतो न वा । आद्ये पर्वतेऽपि वह्निमत्त्वमधिगतमिति कृतमनुमानेन । द्वितीये तु पर्वते धूमवत्त्वस्य प्रतीतावपि वह्निमत्त्वप्रतीतिर्न स्यात्, व्याप्तेरगृहीतत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कश्चायमविनाभावः, किं साधनसद्भावेन साध्यसद्भावः, किं वा साध्याभावेन साधनाभावः, उतोभयम् । नाद्यः । केवलव्यतिरेकिणि तदभावात्, पक्षादन्यत्रापि भावे केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात् । नापि द्वितीयः । केवलान्वयिन्यभावात् । न तृतीयः । अन्यव्यतिरेकिणि तदभावेऽपीतरयोस्तदभावात् । एतेन स्वाभाविकः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयः कल्पोऽपि परास्तः । तत्रापि जातिव्यक्त्यादिविकल्पानां दूषणानां तुल्य-

मिति भावः । अनेकत्वपक्षं परित्यज्यैकत्वपक्ष एव पूर्वोक्तदोषस्य परिहारं शक्यते—अथैकैवेति । धूमवत्त्व्यापकतया प्रतीतवह्निमत्त्वस्य पर्वतसंबन्धबोधनमनुमानार्थमिति भावः । तत्र धूमवत्त्व्यापकत्वोऽपि ग्रहणसमयेऽपि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरित्येव गृह्यते, वीप्सा चानुकोपसंहारार्था, तथा च तयोः संगृहीतार्थान्तर्भावोऽनन्तर्भावे च पर्वतस्यानुमानानुपपत्तिरिति दूषयति—मैवम् । विकल्पासहत्वादित्यादिना । व्याप्तेरगृहीतत्वादिति । यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तिग्रहणसमये यत्रेत्येतदर्थान्तर्गततया अगृहीतत्वात्सिकत्वादित्यर्थः । एतेनास्य वह्निविशेषस्य पूर्वं प्रतीतत्वेऽपि एतत्पर्वतनिष्ठतया पूर्वमप्रतीतिरिति बन्धवद्भावेऽपि विद्रावितः । अथ केवलव्यतिरेक्यनुमानादेतद्वह्निमत्त्वसिद्धिः, तत्किमयं पर्वत एतद्वह्निमानेतद्धूमवत्त्वादिति सिद्धसाध्यपक्षि, ओमिति चेद्, इन्तात्माश्रयता, पर्वतस्यापि पर्वताश्रितत्वं प्रसक्तैरिति ।

एवमविनाभावप्रतियोगैर्निरूपणाक्षणासिद्धिरुक्ता, इदानीमविनाभावशब्दार्थं विकल्प्य दूषयति—कश्चायमित्यादिना । किमविनेति विनाशब्दाभिधेयसाधनाभावस्याभावं साधनसद्भावं विवक्षित्वा तत्र साध्यसद्भावो भावशब्देनाभिधीयत इति साधनसद्भावे एव साध्यसद्भाववरूपान्वयव्याप्तिस्त्वयाऽविनाभावशब्दार्थं विवक्षितः, किं वा विनाभावः साध्यव्यतिरेकेण साधनस्य भावत्वदभावोऽविनाभाव इति व्यतिरेकव्यतिरेकविक्षिता, साध्याभावे साधनाभावस्य तत्त्वात् । उतोभयमपि रीतिरित्यर्थः । ननु केवलव्यतिरेकव्यतिरेकसाध्यसाधनयोः सत्त्वात्सम्भवत्यन्वयव्याप्तिरिति, तत्र वक्तव्यम् । किं पक्ष एवोभयोः सहभावविधेयस्य न्यत्र वा । नाद्यः । तत्र साध्यानिर्णयात् । द्वितीये प्राह—पक्षादन्यत्रेति । केवलान्वयिनीति । ध्विपयना नविपक्षत्वादित्यर्थः । इतरयोरिति । केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोरित्यर्थः । एवमविनाभावो व्याप्तिरिति प्रथमं पक्षं दूषयित्वा द्वितीयेऽपि तदेवातिदिशति—एतेनेति । तस्यैव विवरणम्—तत्रापीति । सामान्यविक्रोऽपि हि संबन्धः कयोरिति विवेचनीयमिति भावः । उम्बरसु 'संबन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य त्रि-ने'त्यत्र लिङ्गधर्मस्येति दर्शनाद्याप्यैकधर्मो व्यापकनिरूप्यो व्याप्तिर्न पुनरुभयनिष्ठेत्यप्रवीत् । अत्र किं निर्देशः । मात्रं प्रमाणमन्यद्वा । नाद्यः । नहि घटेन पटस्य संबन्ध इति निर्देशात्पटैकनिष्ठ एवायं न घटेनिष्ठ इति शक्यातीकारम् । नाप्यन्यत् । प्रत्युत संबन्धत्वसिद्धिरेवोभयनिष्ठतां गमयेत् । भवतु या ययातवा, तपसुः फलोपाज निर्मोक्षः । तत्रापि हि किं धूमव्यक्तिनिष्ठा किं धूमत्वजातिनिष्ठा किमग्निरित्येति निरूप्येत्सापुलवि-

१ साध्यसाधनतदभावैतदुभयव्याप्तिभावेऽपीत्यर्थः । २ इयं व्यधिकरणवद्वा । ३ अनुमानार्थं इति शब्दो मन् । अनुमानप्रयोजनमिति तदर्थः । ४ बीप्सयेत्यर्थः । ५ व्याप्तेर्वत्र धूमस्तत्राग्निरित्याकारकत्वात् यन्निधिर्धर्मसंबन्धित्वेन साध्यस्य प्रतीकित्वाकारणेत्यर्थः । ६ अयं भावः । अयं पर्वत पटश्च वह्निमानिति प्रयोगे पर्वतसंयुक्तो बहिः ह्यन्यस्तथा च विशिष्टबहोः पर्वताश्रितत्वे पर्वतस्यापि तत्त्वप्रसङ्गः । सोऽयं स्थानावगमप्रसङ्गः । ७ प्रतीतोती संयुक्तो । ८ लिङ्गधर्मस्य पक्षधर्मस्य लिङ्गिना साध्येन सह संबन्धोऽयं व्याप्तिरिष्टेति बोधना । लिङ्गधर्मस्यैव पक्षधर्मः संयुक्तो निष्ठत्वपक्षं वक्ष्यामी । ९ लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना इत्याकारकत्वादिः । १० अग्नित्वस्यापि निरूप्यत्वानिर्दिशार्थः ।

त्वात्, स्वाभाविकशब्दार्थानिरुक्तेश्च । स्वाभाविकशब्देन किं संबन्धिसंभावजन्यत्वं विवक्ष्यते यद्वा तत्स्वभावाश्रितत्वमथवा तत्स्वभावप्रयुक्तत्वमाहोस्वित्तद्व्याप्यत्वं किं वा तदनतिरिक्तत्वम् । नाद्यः । एकार्थसमवायेन रसाद्रूपानुमाने तत्संबन्धस्य समवायस्यांजन्यत्वेनाव्याप्तेः, व्यभिचारिणोर्घटपटयोः संयोगेऽतिव्याप्तेश्च । तस्य तैद्रूपत्वेऽपि व्याप्तिरूपत्वाभावात् । नापि द्वितीयः । घटपटयोः संयोगे संयोगिस्वभावाश्रिते व्यभिचारात् । नापि तृतीयः । प्रयुक्तत्वशब्देन जन्यत्वविवक्षायामाद्यप्यश्लोक्तदूषणप्रसङ्गात्, तद्व्याप्तत्वविवक्षायां तु व्याप्तेरद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः । अत एव न चतुर्थः । किंच संबन्धस्य क्वैवाप्यत्वे संबन्धिनोस्तद्व्यापकत्वेनाविमतयोः क्वचित्तदधिकदेशकालावस्थानसंभवेन संबन्धं विनाप्यवस्थानोपपत्तौ व्यभिचारात्तदेकतरदर्शनेनान्यतरानुमानं न स्यात् । नापि पञ्चमः । भूतलघटाभावयोर्विशेषणविशेष्यभावलक्षणसंबन्धेऽतिव्याप्तेः । तस्य परैस्तदतिरिक्तत्वा-

त्यानामप्रतिबद्धप्रसरत्वादिति । एवं साधारणं दूषणमुक्त्वाऽस्मिन्पक्षेऽसाधारणदूषणमाह—स्वाभाविकेति । स्वभावशब्दस्य असाधारणभावमात्रवाचकत्वात्प्रस्तुतसंबन्धद्वारोत्थापितसंबन्धिनोः स्वभावे विश्रान्तिस्रथाच तदुपरितनतद्विद्वितप्रत्ययेन तज्जन्यत्वादिव्यन्यतमो वक्तव्यः, संबन्धमात्रविधानेऽपि विशेषपर्यवसितत्वादिति विवक्ष्यति—स्वाभाविकशब्देनेत्यादिना । नच जन्यत्वेन प्रयुक्तत्वस्य पौनरुक्त्यम् । अजन्यजनकयो-रप्यनित्यत्वंकृतकत्वयोः प्रयुक्तिदर्शनादित्यवगन्तव्यम् । तदनतिरिक्तत्वमिति । स्वार्थ एव विहितोऽयं प्रलय इत्यर्थः । नाद्य इति । विप्रतिपन्नं रूपवद्रसवत्त्वादिसत्र हेतुकार्यसमवाय एव व्याप्तिरूपः संबन्धः, नच तत्र लक्षणमस्ति, तस्याजन्त्यत्वादित्यर्थः । घटपटसंयोगस्य लक्षणवत्तामलक्ष्यतां चाह—तस्येति । संबन्धिसंभावनाश्रितः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयपक्षेऽपि घटपटसंयोगेऽतिव्याप्तिमाह—नापि द्वितीय इति । नचाव्यभिचारितसंबन्धिसंभावनाश्रितत्वेन संबन्धो विशेषणीयः । अव्यभिचारस्यैव तुयासति व्याप्ति-लसंभवेन तदितरवैयर्थ्यात्, अव्यभिचारस्य निरसिष्यमागत्वाच्च । ननु तत्प्रयुक्तत्वं नाम न तज्जन्यत्वं, येन पूर्वोक्ताव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषो स्यातां, किंतु संबन्धिसंभावनाश्रितत्वं, गुणवत्त्वप्रयुक्तत्वमिव द्रव्यत्वमेति, तत्राह—तद्व्याप्तत्वेति । इममेवात्माश्रयं चतुर्थेऽप्यतिदिशति—अतएवेति । यदि च संबन्धिभ्यां व्याप्तः संबन्धः, तदा संबन्धिनोर्व्यापकयोरधिकृततापि संभाव्यत इति संबन्धं विनापि संबन्धिनोरवस्थानं स्यात्, तथा चान्य-तरदर्शनादन्यतरानुमानं न स्यात्, तत्संबन्धं विनापि तयोः स्थितिसंभवादित्यसिद्धिलक्षणस्यैवभिसन्धिराह—किंचेत्यादिना । नच समव्याप्तिर्या व्याप्यत्वविवक्षायामदोषः । रूपरसयोरेकार्थसमवायलक्षणव्याप्तां तदभावात्, समवायस्य नित्यत्वेन द्रव्यादिपञ्चकृतित्वेन च कालतो देशतो वा रूपरसाधिकृतत्वात् । संबन्धि-स्वरूपानतिरिक्तत्वमिति पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिमाह—भूतलेति । नच तस्य व्याप्तित्वं, भूतलघटाभावयोर्व्य-भिचारितत्वादिति भावः । तस्य च स्वभावानतिरिक्तत्वे परात्मीकारमाह—तस्य परैरिति । नर्चाभावा-

१ सर्वेषु विकल्पेषु स्वभावशब्दः स्वरूपपरः । २ हेतुसाध्ययोः संबन्धस्यैकार्थसमवायस्येत्यर्थः । ३ निरुक्तस्वभाव-विकसंबन्धरूपत्वेऽपीत्यर्थः । ४ सवन्धिसंभावव्याप्यस्य संबन्धस्य व्याप्तित्वे इत्यर्थः । ५ अत इतिठनाविति विहितठ-नप्रलयस्येत्यादिः । स्वाभाविकेति पाठे स्वाभाविकशब्दात्प्रसङ्गादित्वात् । तस्याकृतिगणत्वं च वैधानरश्चन्द्रोदाहरणेन श्रीशङ्करमगवतः सम्मतम् । ६ अत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावश्च व्याप्यव्यापकभावपर्यवसायी । ७ स्वाभाविकशब्दे ढनप्रलयायोऽविवक्षित इति भावः । ८ संयोगसमवायादिरूपप्रसिद्धसंबन्धाभाव एव विशेष्यविशेषणभावो नत्वतिरिक्त इति पूर्वपक्षिणो भावः । तादृशाभावरूपसंबन्धस्य संयोगादिप्रतियोगिकत्वेऽपि घटाभावादिप्रतियोगिकत्वं न सिद्धेदिति समाधातुराशयः ।

नङ्गीकारात् । समवायतद्वतोः संबन्धे च । रसाद्रूपानुमानादावैकार्थसमवायेऽव्याप्तेः,
तस्य संबन्धिस्वरूपातिरिक्तस्यापि व्याप्तिवत्त्वात् । अतोऽनौपाधिकः संबन्धो व्याप्तिरिति
वृतीयः कल्पो न युक्तः । तत्रापि संबन्धिनोर्दुर्निरूपत्वात्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गाच्च ।
उपाधिर्हि साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकः, एवं च व्याप्तिसिद्धाबुपाधिसिद्धि-
त्सिद्धौ च तद्रहितसंबन्धस्य व्याप्तिवत्सिद्धिरिति कथं नान्योन्याश्रयत्वम् । अथ सर्वं
साध्यव्यापकत्वं नामोपाधेरदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वं, नतु वस्तुतो व्यापकत्वं, तस्मान्नेतरे-
राश्रयत्वमिति । मैवम् । व्यभिचरितसाध्यस्यापि वस्तुगत्यापाततोऽदृष्टव्यभिचारसाध्य-
त्वापत्तेस्तस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गात् । साध्यव्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वं विवक्षि-
तमिति चेन्न । तस्य दुरवधारणत्वात् । नहि देशान्तरे कालान्तरे पुरुषान्तरे वा तयो-
र्व्यभिचारदर्शनं न भविष्यतीत्येवेति शक्यं विज्ञातुमसर्वज्ञेन । किंच व्याप्तिमहणसमये-
ऽग्निमत्त्वादेर्निश्चितत्वेन साध्यत्वाभावात्साध्यव्यापक उपाधिरिति निर्धारयितुमशक्यम् ।
व्यापकत्वमिह साध्यशब्देन विवक्षितमिति चेत् । न । व्याप्त्यनवगमे व्यापकत्वानिर्हतेः ।

न्तर्भावो, निष्प्रतियोगिकत्वात्, अभावरैवसमानाधिकरणत्वाद्भाव इति वारीन्द्रमतेऽपि तद्व्यञ्जकतया सप्रतियो-
गिकत्वं मन्तव्यम् । अभाव इति बुद्धेश्चैत्रासिद्धत्वादिति भावः । अतिव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—समवा-
येति । तयोरपि स्वभाव एव संबन्धः । नच तयोर्व्याप्तिः । भूतलादौ घटसंयोगे तत्समवायाभावात्समवा-
येऽपि रूपादौ घटाभावादिति भावः । अव्याप्तिं चाह—रसादिति । तत्र लक्षणाभावं दर्शयति—तस्ये-
ति । एवं स्वाभाविकः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयः पक्षो निरस्तः । तृतीयं दूषयति—अनौपाधिक इति ।
तत्रापीति । अनौपाधिकः संबन्धो हि संबन्धिनिष्ठः, तथाच किं व्यक्तयोरित्यादिसंबन्धिकल्पदूषणानि
समानानीत्यर्थः । दूषणान्तरमाह—इतरेतरेति । अत्र ह्यनौपाधिकत्वज्ञानं व्यभिचारपाधिज्ञानाधीनमुपाधि-
ज्ञानं च व्याप्तिज्ञानाधीनमितीतरेतराश्रयं विवृणोति—उपाधिर्हाति । व्याप्तिसिद्धाविति । अन्तर-
कत्वं व्यापकत्वं च व्याप्तिज्ञानाधीनज्ञानं, तैत्प्रतियोगिलादित्यर्थः । ननुपाधेः साध्यव्यापकत्वं नाम नास्ति-
त्वादीनामिव व्याप्तिप्रतियोगि किंचिद्रूपम्, किं नाम, साध्येनादृष्टव्यभिचारित्वं, तथा च नान्योन्याश्रयत्वेति
शङ्कते—अथ मतमिति । अदृष्टव्यभिचारं साध्यं येनोपाधिना स उपाधिस्तथा, अत्र किमदृष्टव्यभिचार-
साध्यत्वं व्यभिचारदर्शनविषयत्वभावमात्रं किंवा व्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वम् । नायः । बहु-
साध्यव्यभिचारिण्यपि तद्दर्शनसंबन्धेनोपाध्याभासे गततयातिव्यापकत्वादित्याह—मैवम् । व्यभिचरितेति ।
द्वितीयं शङ्कते—साध्येति । एवंविधसाध्यव्यापकत्वं क्वापि न सम्भवति दुरवधारणत्वादित्याह—न
तस्येति । किंच साध्यव्यापक इत्यत्र किमिदं साध्यत्वं विवक्षितं, किं तिसाध्यविषयित्वं किं वा व्यापकत्वम् ।
नायः । उपाधेरभिमतत्वं प्रति व्यापकत्वनिश्चयसमये महानसादाधिमिन्नवादेः सिद्धत्वेन साध्यत्वाभावादित्याह—
किंचेति । द्वितीयं शङ्कते—व्यापकत्वमिति । धूमवत्त्वादि प्रति यदिदं व्यापकत्वमितिमरवादेः
तस्य साध्यत्वं विवक्षितमित्यर्थः । तत्र लक्षणवाक्यस्येदशोर्थः पर्यवस्यति । व्याप्याव्यापको व्यापकत्व-
उपाधिरिति । तथाच व्याप्तिज्ञान उपाधिज्ञानम् उपाधिज्ञानं च व्याप्तिज्ञानमिति स एव दुरात्मा परस्परतः
पराश्रय इत्यभिनिष्ठिराह—न व्याप्त्यनवगम इति ।

१ चकारेणातिव्याप्तेरित्यनुशुभ्यते । २ एकलिङ्गधे समवाय इति विग्रहः । ३ इदं पूर्वान्वयि । ४ अभावरैवसमान-
नाधिकरणत्वाद् विशेष्यविशेषणमात्रोऽभावत्वेन व्यवहितयत्वे इति वारीन्द्रमतेऽपि विशेष्यविशेषणमात्रस्य अभावमन्तव्य-
तया घटाभावादाय सप्रतियोगिकत्वमित्यर्थः । ५ विशेष्यविशेषणभावेऽभाव-इति बुद्धेश्चैत्रासिद्धत्वात्साध्यत्वः स हि
भावः । ६ इदमनौपाधिकत्वान्वयि । ७ व्यापकत्वस्य व्याप्तिसंबन्धित्वादित्यर्थः ।

एतेन साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वं साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वमित्याधुनिकानां वक्तव्योऽपि निराकृतः । साध्यसाधनयोरनिरुक्तेरेव । तद्रूपेण संभावितत्वमुभयत्रापि विवक्षितमिति चेन्नैवम् । तद्रूपस्यानिरुक्तौ तद्रूपेण संभावितत्वस्यापि दुर्भणत्वात् ।

यद्यत्र शिवादिलिभिरेण परिहारोऽभिहितः परस्परश्रयस्य, तत्राप्युक्तं दूषणमतिदिशति—एतेनेति साध्यवदत्थलं तन्निष्ठात्यन्ताभावस्तदप्रतियोगित्वं तत्र वर्तमानत्वं साध्यव्यापकत्वं, तथा साधनवदत्तभिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रावर्तमानत्वं साधनाव्यापकत्वमिति योजना । अस्यापि साध्यसाधनगर्भत्वात् न तत्प्रयुक्तपूर्वोक्तदोषः शून्यपरिहार इत्याह—साध्यसाधनेति । एतेन 'साध्यकृतेष्वसहचारिणः साधनैकदेशरुत्तित्वमुपाधित्व'मिति झोलावतीकारलक्षणमपि निरस्तं, साध्यसाधनशब्दार्थानिरुक्तेरेव । ननु यद्यपि व्याप्तिनिर्णयदशायां साध्यत्वं साधनत्वं च नास्ति, तथापि तद्रूपेण संभावितत्वं विवक्षितं, तच्च तदानीमप्यस्त्वेवेति शक्यते—तद्रूपेणेति । विद्यमानस्य रज्जु संभावना प्रमितित्वात्, नच व्याप्तिग्रहणदशायां साध्यत्वमप्यस्तीति केनाकारेण संभावनापि स्यात्, नापि व्यापकतया, परस्परश्रयत्वादित्यर्थः । अथ वा सर्वोपसंहारैर्ब्याप्तिग्रहणसमय एव धूमवत्त्वाग्रिमत्वयोः सर्वत्र सिद्धत्वेन साध्यसाधनभावस्य दुर्भणरूपतया संभावनायाः सुतरामसिद्धेरित्यर्थः । किंच साध्यसाधनशब्दाभ्यामविशेषेण साध्यसाधनविवक्षा, तद्विशेषविवक्षा वा । नायः । साधनस्यापि यत्किञ्चित्प्रति साध्यतया तथापकत्वे साधनाव्यापकत्वव्याकोपात्, तथा साध्यस्यापि यत्किञ्चित्प्रति साधनतया तदव्यापकतया साध्यव्यापकत्वव्याकोपात् । नापि द्वितीयः । तथासति धूमवत्त्वाव्यापकोऽग्रिमत्वव्यापक उपाधिरित्युक्तं स्यात्, तथाच नानुगतलक्षणसिद्धिः । नच विशेषलक्षणत्वाददोषः । सामान्यलक्षणासिद्धौ तदसिद्धेः । नचाल्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मत्वं सामान्यलक्षणम् । व्यर्थविशेषणत्वात् । नच प्रमेयत्वादिव्यवच्छेदार्थमल्यन्ताभावप्रतियोगित्वविशेषणम् । तस्याप्यल्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, अन्ततः स्वस्तिशेषाभावात्, आत्मारथ्यप्रसङ्गात् । नचोत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव तस्य दूषणता । सकोचे प्रमाणाभावात्, नियन्तानुपलब्धेरुभयत्र समानत्वात् । नच केवलान्वयितामङ्गप्रसङ्गः । इष्टत्वात्, केवलान्वयिनि प्रमाणाभावात् । नहि प्रमेयत्वादीना सकलवस्तुनिष्ठत्वे प्रत्यक्षप्रमाणमस्ति । असदादेरसकलवेदित्वात्, सर्ववेत्तुश्च तद्विषयप्रमाणोऽसदादीनां प्रमाणाभावात् । नाप्यनुमानम् । अप्रसिद्धविशेषणतादिदोषप्रमासात् । सकलवस्तुनिष्ठत्वं प्रमेयत्वादिनिष्ठमित्यादेधाश्रयासिद्धत्वात् । सकलवस्तुनि प्रमेयत्वाधार इत्यादेर्धासिद्धिर्दृष्टान्ताभावप्रस्तत्वात् । किंच धूमानुमाने तत्साधनाव्यापकत्वात्साध्यव्यापकश्च कैश्चिदुपाधिः प्रमितो न वा । आद्येऽनुमानमङ्गः । द्वितीये प्रतियोगिप्रमित्या निरुपाधिकसबन्धरूपव्याप्त्यसिद्धिः । यावन्त एतत्साधनाव्यापकास्तावन्त एतत्साध्य प्रत्यप्यव्यापका यावन्तश्चैतत्साध्यव्यापकास्तावन्त एतत्साधनं प्रत्यपि व्यापका इति साधिते भवत्तुपाधेरुद्धार इति चेत्, एतावतीं परिश्रमेण किं प्रतियोगिप्रमितिरापादिता नयेत्यात्मनि परिभावयेत्यलमतिकलकलेन । विष्वंसिते च निश्चितोपाधौ शङ्कितोपाधिरिदानीं ध्वस्त एवेति मन्तव्यम् । क्वचिदप्यनिश्चितस्य संशयायोगात् ।

१ साध्यवतीत्वर्थः । २ साधनवतीत्वर्थः । ३ साध्यस्य कृतेषु सत्त्वेषु सामानाधिकरण्यात् इत्यर्थः । ४ अनुवर्षो भेदशेषम् । ५ धर्मत्वमानस्यैव लक्षणत्वसंभवात् इति भावः । ६ स्वसिद्धिप्रति स्वसत्तास्वीकारे सिताविति शेषः । ७ आत्माश्रिततयेति शेषः । ८ उत्पत्तिश्रयन्तरप्रतिबन्धके स्थितिप्रतिबन्धके चेत्यर्थः । ९ प्रमेयत्वम् अल्यन्ताभावाप्रतियोगि सकलवस्तुनिष्ठत्वादिल्याधुनयुगाने इत्यर्थः । स्वरूपासिद्धिरादिपदार्थः । १० अनुपसंहारितया साध्यसिद्धमात्र इत्यर्थः । ११ आर्द्ध-धनसंयोगादिरूपः । १२ उपाधेः साध्यव्यापकत्वग्रहावसरे एव धूमसिद्ध्या तस्य साध्यत्वाभावात् । यत्र यत्र धूमस्तत्रार्द्ध-धनसंयोग इति व्याप्तौ पक्षस्यापि यत्पदार्थान्तर्गतत्वात् इति भावः । १३ उपाधिरूपेत्यादिः । १४ इयता प्रवासेनापि न ते प्रतियोगिप्रमासिद्धिरिति परिहरति यताववेत्यादिना ।

भवतु नाम या काचन व्याप्तिः, तस्या व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्येत्वात्माश्रयः । सत्या-
मेव व्याप्तावनुमितिभावादसत्यामभावात् । किंच तद्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणं 'न प्रत्यक्षम-
शक्यत्वान्नानुमाप्यनवस्थितेः । नागमस्तद्वदे भावान्नोपमाऽतत्प्रमेयतः ॥ २५ ॥
नार्थापत्तिरनन्यत्वादानुमाफललोपनात् । नाभावो दुर्निरूपत्वान्न तर्कस्तर्कबाधनात् ॥' २६ ॥

न तावत्प्रत्यक्षं व्याप्तिग्राहकं, सर्वव्यक्तिनिष्ठस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा सर्वव्यक्ती-
नामग्रहे ग्रीहीतुमशक्यत्वात्, तद्गृहे चानुमानस्य वैयर्थ्यात् । नाप्यनुमानम् । अनवस्थानात्
अन्तरेण व्याप्तिग्रहमनुमानानुदये तत्तद्व्याप्तिग्राहकानुमानपरम्पराया दुर्वारत्वात् । नाप्या-
गमः । वेदाप्तवचनाकर्णनविधुराणामपि व्याप्तिदृष्टिदृष्टेः । नाप्युपमानम् । तस्य साद-
श्यमात्रविषयतया व्याप्तिज्ञप्तावजागरूकत्वात् । नाप्यर्थापत्तिः । तस्या अनुमानानतिरेकात् ।
अतिरेकेपि तयानुमानावसेयार्थाधिगतेरनुमानस्यानुदयप्रसङ्गात् । तथाहि । व्यापकव्य-
तिरेकेण व्याप्यस्यानुपपत्तिरिहार्थापत्तिरभिमतता तथा, च तथैवानुपपत्त्या लिङ्गिनोऽधिगतौ
कृतमनुमानेन । नाप्यभावः । एवं हि स प्रमाणयितव्यः, यदि वह्निधर्मिव्यतिरेकेण धूमः
स्यात्तदा तथोपलम्भः स्यात्तदभावात्तथायं तद्व्यतिरेकेणेति । तच्च न । तथाहि किं सर्वेषां
व्यभिचारानुपलम्भः किं वा स्वस्यैवानुपलम्भः उत योग्यानुपलम्भः । नाद्यः । सर्वानु-
पलम्भस्य निश्चेतुमशक्यतया संशयानिवृत्तेः । न द्वितीयः । व्यभिचारात् । नहि नग-

एवं व्याप्तिलक्षणं दूषयित्वात्माश्रयादितर्कबाधादपि व्याप्तेरनुमित्यङ्गत्वात्सिद्धिमाह—भवतु नामेति ।
व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरस्ति न वा । यदि न, तदा तामन्तरेणाप्यनुमितिरुदीयात् । अयास्ति तदा सैव व्याप्ति-
स्तत्र वर्तते तदात्माश्रयः श्रौतौ चायम्, अथान्या तत्रान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थाधेति भावः । एष्टव्या च व्याप्ति-
रित्याह—सत्यामिति । नच व्याप्तौ प्रमाणमपि किंचन निरूपयितुं शक्यमित्याह—किंचेति । संभव-
त्प्रमाणानि श्लोकाभ्यां निरस्यति—न प्रत्यक्षमित्यादिना । सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तेरसर्वहेन ग्रीहीतुमशक्यत्वात्
प्रत्यक्षतस्तदधिगमः । नाप्यनुमानम् । अन्योन्याश्रयात् । अथान्यैवानुमानगता व्याप्तिरिति तत्राप्यनुमान-
न्तरमेवं तद्व्याप्तावपीत्यनवस्था स्यात् । नाप्यागम, आगमव्यापारव्यतिरेकेणापि पामरपञ्चशकुन्तादीनाम-
नुमित्युदयात् । नाप्युपमानम् । तस्य सादृश्यविषयतया संज्ञासंज्ञिसंबन्धविषयतया चैतादृशानां तत्प्रमेय-
त्वाभावात् । नाप्यर्थापत्तिः । अनुमानानन्यत्वात् । अथ परमतेन पार्थक्यं, तथैवानुमानफलस्याभिप्रेत-
स्यापि सिद्धिः, शक्नोति ह्यभिव्यतिरेकेण धूमोऽनुपपद्यमानस्तं कल्पयितुमित्यनुमाफललोपः स्यात् । नाप्य-
भावः । यस्यकस्यचिद्वा सर्वेषां वा योग्यानुपलब्धेर्वा अनुपलब्धिमन्नाग्राह्य दुर्निरूपत्वात् । नापि तर्कः ।
तस्य व्याप्तिमूलत्वेऽनवस्थालक्षणतर्कबाधनात् । अतन्मूलत्वे तर्काभासतया तर्कबाधनात् । भावपरं निर्दिष्ट
इति श्लोकार्थः ।

संग्रहं विवृणोति—न तावदित्यादिना । अनवस्थानेव विवृणोति—अन्तरेणेति । वेदाप्तवचनेति
विभागो भीमांसकमतेन । अजागरूकत्वात् । अप्रभुदेवादिद्वयार्थः । अभावस्यात्रासंग्रहं दर्शयितुं तद-
वृत्तिप्रकारं दर्शयति—एवं हीति । तथेति । वह्निरहिततयेत्यर्थः । तद्व्यतिरेकेणेति । वर्तत इति शेषः ।
स्वस्येति । प्रतिपत्तुरित्यर्थः । स्वानुपलम्भपक्षेऽप्यनुपलम्भमात्राद्वातु योग्यानुपलम्भादित्याह—उतेति ।
व्यभिचारादिति । स्वानुपलम्भमात्रस्यार्थाभावेन नियमाभावादित्यर्थः । व्यभिचारनेषाह—नहीति ।

*१ चकारेण स्थितिसमुद्भवः । २ व्याप्तिद्वयस्वीकारे इति भावः । ३ व्याप्तिद्वयातिरिक्तवैलथ्यः । ४ वेदान्तिनने-
त्यर्थः । ५ अस्यानन्तरं 'व्याप्तेरिति शेषः । ६ तर्कत्वबाधनादिलक्षणात् भावपर इति । ७ तद्विद्वत्तयो र-
स्याप्याप्तेश्चरचनत्वादिति भावः ।

रगतेन खेनानुपलब्धमित्येतावतारण्यकोपलब्धगवयादेरपलापसंभवः । नापि तृतीयः । सार्वत्रिकयोग्यानुपलब्धेरसंभवात् । उक्तं च लीलावतीकारेण—‘सर्वाद्येष्टेश्च संदेहात्स्वाद्येष्टेर्व्यभिचारतः । योग्याद्येष्टेरसत्त्वाच्च प्रतिबन्धो न सिध्यतीति । नापि विपक्षवाधकतर्कात् । तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेनानवस्थानात्, अतन्मूलत्वे च मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वात् ।

अथ मतं, यदि धूमोऽपि व्यभिचरेदकारणः सन्निलः स्यात्, न स्यादेव वा, ननु कदाचित्स्यात् । नच विनापि कारणं कार्यं शङ्कितुं शक्यम् । व्याघातात् । तदेव हि कार्यं यत्कारणाधीनस्वात्मलाभम् । अतः कार्यं च कारणरहितं चेति व्याघातः । तदेव चाशङ्कितव्यं यस्मिन्नाशङ्क्यमाने क्रियाव्याघातादयोपि नावतरन्तीति । भैवम् । अस्यापि तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेन तद्वासिद्धावसिद्धेः । तथाहि । यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकमिति व्याप्तौ सिद्धायां यदकारणं तन्निलं स्यादिति प्रसङ्गप्रसरात्, सैवावापि न सिद्धा । सर्वकार्यकारणव्यक्तिग्रहणस्याशक्यत्वात्, कतिपयव्यक्तिग्रहणे चाद्यष्टवज्रस्य पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरिव व्याप्रेरनिश्चयात् । नन्वेवंभूतोपि व्यभिचारो यत्र न दृश्यते, कतिपयव्यक्तिषु सह-

योग्यानुपलब्धिपक्ष इत्ययति—नापीति । उक्तं चेति । उपाधिविधूननेन प्रतिबन्धसिद्धिमीश्वरानुमाने समर्थयता “कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणापि संबन्ध उपाधिविधूननेने”युक्त्वा विपक्षवाधात्तत्र व्याप्तिस्तिद्धिमाशङ्क्य व्याप्त्यसिद्धावुक्त्वा सहेतुक्त्वकादाचित्कत्वयोर्व्यभिचारानुपलम्भाभ्यासिद्धिमाशङ्कित्वा परिहरतेति शेष । अन्तिमपक्ष निराकरोति—नापीति । यदि व्याप्तिमूलत्वं तदा तथात्तावपि तर्कान्तरमेवित्यमित्यनवस्था । इतरथा प्रशिथिलमूलत्वमित्यर्थः ।

तत्र यथा तर्कानवस्था नावतरति तथा कुसुमाञ्जलावुदयनेन वाधकस्तर्कोऽभिहितस्तमुद्गावयति—अथ मतमिति । यद्यदकारणकं तत्सदेकरूपमसदेवरूप वा । आकाशवत्कुकुसुमवच्च । तदिह यदि धूमोऽपि व्यभिचरेदकारणतया नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरत्वप्रसक्तिरित्यर्थः । उक्तं हि—‘नित्यसत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षया । नियामकादि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ इति । नन्वकारणकस्यापि सदातन्त्वेन व्यभिचारशङ्काया किमुत्तरमिति, तत्राह—नच विनेति । व्याहृतिमेव दर्शयति—तदेव हीति । यो व्याघातादपि न विनेति त प्रत्याह—तदेव चेति । यदि हि कारणं विना कार्योत्पादस्तदा परप्रत्ययोपादानार्थं धामप्रीप्रयोगो व्याहृतः । सेयमत्र क्रियाव्याहृति । आदिशब्दान्मूकोऽहमिति वचनव्याहृति स्वभावव्याहृतिश्च सृष्टवते । उक्तं च तेनैव—‘शङ्काचेदनुमास्त्येव नोचेच्छङ्का ततस्तराम् । व्याघातावधिराशङ्का तर्क शङ्कावधिमेत’इति । एवमपि पूजाकदोपो दुष्परिहर इत्याह—भैवमिति । ननु किमिति कार्यस्य कारणेन व्याप्तिरसिद्धेति, तत्राह—सर्वकार्येति । ननु कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि किमिति व्याप्त्यसिद्धिः, तत्राह—कतिपयेति । तथाहि विमत लोहलेख्य पार्थिवत्वादित्यत्र स्तम्भादिकतिपयव्यक्तौ व्यभिचारादर्शनेपि न व्याप्तिनिश्चयः । प्रशिथिलावयवारब्धत्वोपाधिरुत्पादात् । ननु तत्र वज्रमणौ व्यभिचारदर्शनादेव व्याप्त्यनिश्चयो, न पुन सर्वव्यक्तयपरिज्ञानात्, नचेद् तथा व्यभिचारदर्शनमिति, तत्राह—अद्यष्टवज्रस्येति । येन हि हीरमणिर्न दृष्टस्तेन यो व्याप्त्यनव्यवसायः स सर्वव्यक्तयदर्शनमिति । अव्यवसाये च भ्रान्तिमानत्वादित्यर्थः । कतिपयव्यक्तिग्रहणेपि व्याप्तिग्रहणेपाय नवीनमठावलम्बनेन शङ्कते—नन्वेवमिति । तर्कं हि सात्वानर्थ-

१ अद्यष्टिरनुपलब्धिः । एवमप्येऽपि । २ व्याप्तिरूप सत्त्वः । ३ अथापि प्रतिबन्धोऽप्यापि । ४ स्वरूप इत्यर्थः । ५ कालान्तरदेशान्तरयोर्व्यभिचारोपाध्यव्यतराशङ्का यदि तदाऽनुमानमस्त्येव । ता विना तयोरप्रतीतिः । अथ च तयोः प्रतीतिः न शङ्का तदा सुतरामनुमानम् । शङ्काया अवधिसर्क इति चतुर्थोपादानार्थः । ननु तर्कोऽपि व्याप्तिमूलकतया तर्कात्तरापेक्षायामनवस्थेयत्वात् आद्ये व्याघातावधिरिति । तर्कमूलव्याप्तौ सक्रियाव्याघातेन व्यभिचारशङ्कैव नोदेतीति न तत्र तर्कोपेक्षेत्यर्थः । इति प्रकाशे ।

भावः प्रदृश्यते, नचोपाधिर्निरूप्यते, तत्र व्याप्तिर्निश्चीयते, तत्रैवं सति, "अन्यत्र व्याप्तिग्रहणं मन्यत्र चानुमितिरिति । एवं च पण्डकमुद्राह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिवेति वाचस्पते-रुपालम्भोऽप्यनवकाशः । व्याप्तेः सर्वत्रैकत्वात्तस्याश्च कतिपयव्यक्तिषु गृहीतत्वात् । गृहीतव्याप्तिकलिङ्गसामर्थ्यादेव संदिग्धसाध्यधर्मिणि व्यापकस्यापि प्रतीतिः सिद्धेति चेन्नैवम् । व्यभिचारादर्शनस्योपाध्यनिरूपणस्य च दुर्निरूपत्वात्, सर्वादृष्टेश्च संदेहादिति न्यायस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । उपाधेश्च व्याप्तिनिरूपणमन्तरेण दुर्निरूपत्वस्य दर्शितत्वात् ।

किञ्च विनापि धूमध्वजं धूमोऽन्यस्मादपि हेतोर्भविष्यतीति शङ्कायाः कः प्रतीकारः । अथ मन्यसे विभिन्नसामग्रीजन्यत्वे धूमस्यैकजातीयताप्रतीतिर्न स्यादिति । भैवम् । इन्द्रियत्वगादिजन्यविज्ञानस्येव तृणारणिमणिप्रभवस्याऽऽशुशुक्षणेरेव चैकजातीयतोपपत्तेः । तस्मान्न व्याप्तिलक्षणं नापि तद्वाहकं प्रमाणमस्तीति सिद्धम् ।

पक्षधर्मत्वमपि दुर्निरूपम् । तथाहि कोयं पक्षो यद्धर्मता पक्षधर्मता । संदिग्धसाध्यधर्मा धर्माति चेत्, किं वादिप्रतिवादिनोः संदेहः किं वा मध्यस्थानाम् । नायः । नि-

साधनत्वयोरपि व्याप्तिरस्तु, अस्ति चात्र रूपद्वयमिति, तत्राह—नचोपाधिरिति । स्यादेतत्कतिपयव्यक्तिषु व्याप्तिग्रहणेऽनुमेयस्थले व्याप्तेरग्रहादन्यत्र व्याप्तिरन्यत्रानुमानमिति स्यात्, तथा च गृहीतापि व्याप्तिरनुमेयसमर्थेति वाचस्पत्युक्तोपालम्भप्रसङ्ग इति, तत्राह—तत्रैवं सतीति । पण्डकः पण्डः तत्र यथावृत्तः पण्डकः पुत्रासमर्थः समर्थश्च न वृत्तस्त्वदित्येतावत्यर्थं दृष्टान्तः तच्च योगमाप्युद्भिप्रायेण । ननु तथापि कथमन्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्रानुमानमिति, तत्राह—गृहीतेति । स्यादेवं यदि व्यभिचारो न दृश्यत उपाधिश्च न दृश्यते इत्ययमर्थः सिद्ध्यति, स एव दुःसाध्य इति परिहरति—भैवमिति । उभयत्रापीति । व्यभिचारवहुपाधावपि सर्वादर्शनं यस्यकस्यचिद्वेत्स्यादेतुल्यत्वादित्यर्थः । उपाधावधिकमप्याह—उपाधेरिति ।

एवं व्याप्त्यसिद्ध्या तर्काप्रवृत्तिमुक्त्वा धूमस्याभिव्यभिचारशङ्कायामकारणकत्वापरत्या व्यापतोऽप्यापारगितुं न शक्यत अन्यस्मादप्युत्पत्तिसंभवेन विरोधासिद्धेरित्याह—किञ्चेति । स्यादेतत् यद्यन्यस्मादपि धूमोत्पत्तिस्तर्हि परिदृश्यमानधूमानामेकावान्तरजातीयता न स्यात् । कार्यैकजात्यस्य कारणैकजातिनियमात्, अन्यथा तदैकजात्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । अत एव हि तृणारणिमणिभ्योऽप्युत्पद्यमानदहनैश्ववान्तरजातिभेदकल्पनमिति, तदेतदुद्भावयति—अथ मन्यसे इति । नियम एवायमसिद्ध इति परिहरति—भैवमिति । अथ दहनसर्वज्ञानेषु ज्ञानैकजात्यं, नचात्रानुगतमनतिप्रसङ्गि कारणं शक्यं निरूपयितुम् । इन्द्रियादीनां व्यापृत्तत्वात्, अन्तमनःसन्निकर्षस्य च सुखादिसाधारण्यात् । ततस्त्वत्र यथाकारणैकजालामावेपि कार्यैकजालम्, एवं तृणापुनश्च वृत्तेभ्य एव कारणेभ्यः स्वभाववशात्सजातीयधूमाः समुत्पद्यन्तामिति भावः । ननु तर्कामिप्रयोगेषु पूर्वोक्ततरेभ्यो व्यासृत्तः कश्चिद्विशेषो दृश्येतेति चेत् । तददर्शनस्य प्रतियोगिधूमदृश्यताप्युपपत्तीति दृष्टान्निरङ्गतावादिति, व्याप्तिखण्डनमुपसंहरति—तस्मादिति ।

इदानीं पक्षधर्मतालक्षणलिङ्गावयवं खण्डयति—पक्षधर्मत्वमपीति । अनवतरतां निरापद्ये—यद्धर्मतेति । संदिग्धसाध्यधर्मा पक्ष इत्युक्ते विशेषणीभूतसाध्यधर्मस्यापि पक्षता स्यात्तत्रैवमुक्तम् । साप्यपक्षनिष्ठत्वाभावप्रसङ्गात्, आत्मौ प्रयात्, हेतोर्वैयधिकरण्यापाताय । अतस्तद्धर्मित्यनाप्रस पक्षधर्मताधर्माति विशेषणम् । अत्र यदिदं संदिग्धत्वं साध्यस्य तत्कंप्रतीति विदित्य इत्ययति—किं वादीत्यादिना । किञ्च संदेहः किमुपलक्षणं विशेषणं वा । आद्ये पदाचित्संदिग्धे प्रत्यक्षेण निर्भावेऽपि प्रवर्तते ।

१ हिताप्यहेतो निषिद्धत्वमुपाधिरिति भावः । २ अथापि च वृत्तः परितेन स्वीकृत इत्यर्थः । ३ निरूप्यते शेषः । ४ विशेषणीभूतसाध्यधर्मस्यापि पक्षरत्नाङ्गीकारे इति शेषः ।

श्चितौ हि वादं कुरुत इति स्वीकारात् । नापि द्वितीयः । तेषामपि दर्शनद्वयतत्त्ववेदिनां संदेहानुपपत्तेः, किंचान्तरेणापि संशयं धूमदर्शनमात्रादग्निमनुमिमानस्य संदेहविशेषितघर्मिणि हेतोरवृत्तेः पक्षधर्मत्वाभावादनुमानानुदयप्रसङ्गः । एतेन ज्ञापनीयधर्मविशिष्टो धर्मा पक्ष इति प्रत्युक्तम् । स्वार्थानुमाने प्रज्ञापनाभावात् । प्रमितिसतधर्मविशिष्टः पक्ष इत्यपि न । अप्रमितस्ततोऽप्यनिष्टविषयेऽनुमानोदयदर्शनात् ।

साध्यधर्मविशिष्टः पक्ष इत्यपि न । साध्यपदेन संदिग्धत्वप्रज्ञापनीयत्वप्रमितिसतत्वान्यतमविवक्षायामुक्तदोषानुपपन्नात् । अप्रमितत्वं साध्यत्वमिति चेन्न । प्रमाणसंप्लववादिनो नैयायिकस्य प्रमितेऽप्यनुमानप्रवृत्तेः, अनुमितेऽप्यनुमानप्रवृत्तेश्च । नच तत्रापि तत्तत्कालविशिष्टतयानधिगतिः । कालानुमाने तदभावात् ।

अस्तु वा यः कश्चित्पक्षस्तथापि तद्धर्मता दुरधिगमा । तथाहि । पक्षाश्रितत्वं पक्षधर्मत्वं चेत्, तथा सति प्रमेयत्वहेतौ तन्न स्यात् । प्रमेयत्वस्य प्रमाविषयत्वलक्षणस्य ज्ञानज्ञेयानतिरिक्तत्वाभ्युपगमेन तदाश्रितत्वायोगात् । प्रमान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयत्वं ततस्तस्य ज्ञानज्ञेयाश्रितत्वमुपपन्नमिति चेन्न । अन्योन्याभावस्यैकत्वे तस्य तदवृत्तौ प्रमेयत्वहेतुना

नुमानस्य न सिद्धसाधनता स्यात्, तदापि पक्षत्वापातात् । द्वितीये त्वनुमित्यनन्तरमप्रैरुतिः स्यात् । धर्मिनादावद्विशेषणनाशेन पक्षस्य नष्टत्वात् । स्वार्थानुमानेऽप्यसिद्धिं चाह—किंचेति । एतेनेत्येतद्विरुद्धोक्तिः—स्यार्थेति । प्रज्ञापनमित्यत्र णिचा यदिदं प्रयोजककर्तृत्वमभिधीयते न तत्स्वार्थानुमानेऽस्ति । तत्र परं प्रति बोधनाभावादित्यर्थः । तर्हि प्रमितिसतधर्मविशिष्ट इत्येवास्तु, तस्य स्वार्थानुमानेपि भावादिति, तत्राह—प्रमितिसतेति । तथाप्यव्याप्तिः । प्रमातुमनिच्छतोपि दुर्गन्धादिलङ्ककणुणपायनुमानगतपक्षाव्याप्तेरित्यर्थः ।

सर्वज्ञीयं लक्षणमुद्भाव्य दूषयति—साध्येति । अत्रापि साध्यपदेन पूर्वोक्तार्थविवक्षायां पूर्वोक्तदूषणानुपपन्न एवेत्यर्थः । अर्थान्तरं शङ्कते—अप्रमितत्वमिति । एतदव्यापकमित्याह—प्रमाणेति । यस्य हेकस्मिन्नपि प्रमेये बहूनि प्रमाणाणि वर्तन्त इति, मत्तं तस्य प्रमितेऽप्यनुमानमिष्टमेव । यथाहुः—‘आगमेनानुमानेन प्यानात्प्रैत्यक्षणेन च । त्रिधाऽग्नि प्रमाणाणां संज्ञः स्वार्थं इध्यत’ इति । ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः । ननु तत्रापि तत्तत्कालविशिष्ट एवानुमीयत इत्यप्रमितमेव तदिति, तत्राह—नचेति । यदा हि कालो बहुभिरनुमानैरनुमीयते, नच तत्रैतदस्ति, काले कालवैशिष्ट्यस्यैवाभावादित्यव्याप्तिरित्याह—कालेति ।

एवं पक्षं दूषयित्वा पक्षधर्मतां दूषयति—अस्तु वेति । प्रमेयत्वं नाम प्रमाविषयत्वं, विषयविषयिभावश्च स्वभावामतिरिक्त इति प्रमा च विषयश्च प्रमेयत्वं नातिरिक्तं, तथाचाहृष्टादि कस्यचित्प्रत्यक्षं प्रमेयत्वादित्यस्य हेतोरपक्षधर्मता स्यात् । आत्मव्यतिरिक्तस्वार्थजातस्य प्रमाश्रयत्वानुपपत्तेरर्थस्यापि स्वाश्रयत्वानुपपत्तेः । अतः पक्षाश्रितत्वं पक्षधर्मत्वमित्यव्यापकमित्याह—प्रमेयत्वेति । ननु प्रमेयत्वं नाम प्रमाव्यतिरिक्तत्वं, तेन नोक्तदोषः । नच प्रमायामव्याप्तिः, तस्या अपि यत्किंचित्प्रमाव्यतिरिक्तत्वादिति शङ्कते—प्रमान्योन्येति । तत्र क्रमेक एव प्रमान्योन्याभावः किं वानेकः । आद्ये प्राह—अन्योन्येति । तदापि हि प्रमान्योन्याभावे प्रमेयत्वं न वर्तते, स्वस्मिन्स्वरूपत्वाभावात्, अमिमता च स्वगृह्यतियुष्मत्तः, इतरथाऽभावप्रत्यक्षतायां विप्रतिपक्षं नीमांसकं प्रति प्रत्यक्षता कथं भवता साधनीया, सैवंगं वा कथं समर्थयते, ततोऽव्याप्तिरिति भावः ।

१ धर्मान्ते कर्मधारयः । २ अत्रापि च तत्पदाधोऽन्योन्याभावः । ३ तिपापविषयासत्त्वे इति शेषः । ४ धर्मा विशेष्यः । ५ प्रयोज्यत्वं पक्षधर्मः प्रलक्षेणान्वयि । ६ इदं संज्ञवविशेषणम् । ७ प्रमेयत्वस्य प्रमारूपत्वपक्षे इति शेषः । ८ प्रमेयत्वस्य विषयरूपत्वपक्षे इति शेषः । ९ प्रमेयत्वमिति शेषः ।

कस्यचित्प्रत्यक्षत्वानुमानं न स्यात्, तस्यैवान्योन्याभाववत्त्वाभावात् । अनेकत्वे चान्योन्याभावानां सर्वान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमुतान्यतमवत्त्वम् । नाद्यः । सर्वग्रहणासंभवात् । न द्वितीयः । अन्यतमशब्देन निर्धारितैकविशेषोक्तौ तदितरप्रमेयशब्दप्रवृत्त्ययोगात् । एकं निमित्तमन्तरेण बहुष्वेकशब्दप्रवृत्तौ शोत्वदेरपलापप्रसङ्गात् ।

व्याप्तिबलेन प्रवृत्त्याया व्यापकसामान्यविषयायाः प्रतीतेर्विशेषपर्यवसानाय व्याप्यसामर्थ्यं पक्षधर्मतेति चेत् । मैवम् । चिकल्पासहत्वात् । किं प्रथमं सामान्यमात्रालम्बनप्रतीतिर्या सा सामर्थ्यात्पश्चाद्विशेषमवगाहत् इति श्रूये, किं वा विशेषविषयप्रतीतिरन्तरं जायत इति । नाद्यः । प्रतीतेर्विरम्यव्यापारापत्तेः । न द्वितीयः । प्रमाणान्तरप्रसङ्गात् । किंच पक्षधर्मता चेद्विशेषप्रत्यायिका केवलव्यतिरेकी तर्हि निरवकाशः स्यात् । शब्दः क्वचिद्वाश्रितो गुणत्वादित्यादिसामान्यतोदृष्टानुमानेषु हेतोः पक्षधर्मताबलादेवाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वस्यापि सिद्धेः । बाधकान्तराधीनमेव तदितराष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनमित्युभयवादि-संग्रतिपन्नतया तदितराश्रितत्वनिरासेपि केवलव्यतिरेकिणो निरवकाशत्वात् ।

अनेकत्वे दूषणमाह—अनेकत्व इति । सर्वग्रहणेति । तदा हि प्रमेयत्वादिति कोर्धः, सर्वप्रमान्योन्याभाववत्त्वादिति । न चैतदसर्वहेन शक्यग्रहणमित्यर्थः । किंच यदैकं प्रमां पक्षीकृत्य प्रमेयत्वेन नित्यमेयत्वप्रकाशवादिनं प्रति प्रत्यक्षत्वं साध्यते, तदा तस्यां न सर्वे प्रमान्योन्याभावाः सन्ति, स्वान्योन्याभावादिखलव्याप्तिः । अन्यतमपक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । तदा किमन्यतमशब्देन नियतः कथिदमि-धोयते अनिश्चतो वा, नियतपक्षे तदितरान्योन्याभावानां प्रमेयशब्दार्थलाभावात्तद्वत्तं प्रमेयत्वं न स्यात् । नच स एव सर्वत्र प्रवर्ततामिति वाच्यम् । स्वस्मिन्स्वप्रतियोगिनि च घृत्यभावादित्यमिंसंधिराह—अन्यतमशब्देनेति । अयानियमेन कदाचित्कथितप्रवृत्तिनिमित्तं, तत्राह—एकमिति । दूषणान्तरं वेदम् । न चान्योन्याभाववत्त्वमनुगतं जातिरिति युक्तिम् । उपायिलेपि तत्र प्रमेयत्वात्प्रत्ययः । स्वदूषणान्तरं उपाध्यन्तरस्वीकारे चाननुगतिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

लक्षणान्तरं शङ्कते—व्याप्तिबलेनेति । द्विविधं हि हेतोः सामर्थ्यम्, एकं व्याप्तिबलेन बोधवत्त्वं । नच हि यद्वैवमवत्प्रतिमिति सामान्येनाश्रितत्वप्रतीतिजनकत्वं, तत्कस्य हेतोः । विशेषाणां व्यभिचारिकत्वेनान्येन च व्याप्तेरशक्यग्रहणात् । अपरं तु तामेव प्रतीतिं पर्येतामिदमवत्त्वलक्षणविशेषे पर्यवसायमित्युक्तं, निर्विशेषं न सामान्यमिति न्यायात्, तच्चेह पक्षधर्मत्वं विवक्षितमित्यर्थः । दूषयति—मैवमिति । किं पक्षधर्मतया सामान्यविषयिव्येव प्रतीतिः पश्चाद्विशेषविषयिव्यपि कियत उत विशेषविषयिव्येव प्रतीतिरित्युक्तं इति विकल्प्याद्ये दूषणमाह—प्रतीतिरिति । शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्यव्यापाराभावात्जातस्य पुनर्नान्यत्वात् साधेति भावः । यदि विशेषविषयं बुद्ध्यन्तरमुत्पाद्यते, तर्हि प्रमाणान्तरमेव । तस्याप्यसामान्यप्रतीत्यनुगते, प्रतीतिव्यापकसामान्यानुपपत्तेर्वायौपचित्वादित्यनुमित्वलक्षितिरित्याह—न द्वितीय इति । एतदुक्तं विशेषप्रत्यायकत्वे बाधकान्तरमाह—किंचेति । यत्र हि सामान्यतोदृष्टेन सामान्यतः साध्यत्वेनैव हेतुव्यतिरेकिणा विशेषसमर्पणम् । यथा तावच्छब्दः क्वचिद्वाश्रितो गुणत्वादिति किंचिद्वाश्रितत्वे विदे हेतुव्यतिरेकिणाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं साध्यते, तत्र स्यात् । सामान्यतोदृष्टहेतोः पक्षधर्मताबलादेव विशेषस्यापि विदेरित्यर्थः । ननु यद्यप्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितत्वमपि सामान्यतोदृष्टानुमानेनैव सिद्ध्यति, तदपि नानर्थकत्वं केवलव्यतिरेकिणः, आकाशाव्यतिरिक्ताष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनार्थत्वात्सत्येति, तत्राह—यायान्तरमेति । न तत्रापि केवलव्यतिरेकिणः कथिदुपयोगः । धोमं विशेषगुणप्राहकमिदं न शक्युतीर्यते विशेषगुणत्वे विदे शब्दो न विद्यालमनोपुणः प्रत्यक्षत्वाद्विशेषगुणत्वाय रूपादिवत्, नापि सर्वत्रादिवत् ।

तदेवं न व्याप्तिर्नापि पक्षधर्मता शक्यनिरूपणेति व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गं तत्परामर्शो-
नुमानमिति लक्षणं न सिद्धयतीति सिद्धम् । शाब्दव्युत्पत्तिशून्यस्य स्मृतिकरणिका प्रमि-
तिरनुमितिसत्त्वरणमनुमानमित्यपि न लक्षणम् । व्युत्पन्नस्यानुमितौ तत्करणे चाव्याप्तेः ।
तादृशप्रमितिवृत्तिप्रमात्वावान्तरजात्यधिकरणज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानमिति चेन्न ।
प्रमात्वजातेः पुरस्तादेव निरस्तत्वात् ।

एतेन 'अनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तद्विज्ञानमुमा-
पकम् ॥' 'अनुमानं त्रिरूपाद्विज्ञतोऽर्थदृक्' 'ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे

प्रत्यक्षत्वे सत्यकरणगुणपूर्वकत्वात् । अथावद्भव्यभावितादाध्यादन्यत्रोपलब्धेः । नचात्मगुणः । बाह्येन्द्रि-
यवेद्यत्वादित्यादिवाधैकान्तरनियन्धनत्वात्तस्यैत्यर्थः । पक्षधर्मताखण्डनेन महाविद्याजीवनमपि सृष्टिदत्तं वेदि-
तव्यम् । केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्यव्यतिरेकि साम्यवि-
शेषं वाद्यमितं साधयन्निह महाविद्येत्युच्यते । तथा च व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानानिवक्तौ तासामप्यनिरुक्तेः,
दग्धसारं चेदं धारीन्द्रदायानकेन महाविद्याविपिनमिति नास्माभिस्तद्व्युत्पत्तीभावोप संरभ्यते । तथा 'पक्षधर्म-
त्वसामर्थ्यात्सर्वज्ञेश्वरसाधकम् । ईश्वरानुमितिना च ज्वरभारतुरं वपुः' ॥

व्याप्तिपक्षधर्मताखण्डनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयितुमुपसंहरति—तदेवमिति । तर्करीत्यानुमानलक्षणान्तरे
शङ्कते—शाब्देति । अनुमितिकरणमनुमानं, का पुनरनुमितिरीत्यतस्त्वलक्षणमाह—शाब्दव्युत्पत्तीति ।
प्रत्यक्षव्यवच्छेदाय स्मृतिकरणिकेत्युक्तम् । शाब्दप्रमितेरेपि पदार्थस्मृतिकरणत्वमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय शाब्द-
व्युत्पत्तिशून्यस्येत्युक्तम् । उभयोरप्यव्याप्तिमाह—व्युत्पन्नस्येति । शाब्दव्युत्पत्तिमत इत्यर्थः । व्युत्पन्नग-
तयोरपि सप्रदार्थ विशेषं शङ्कते—तादृशेति । पूर्वोक्तप्रमितिवर्तिनी प्रमात्वावान्तरजातिरनुमितित्वं तद्योगि
ज्ञानमनुमितिः, अस्ति चेदं व्युत्पन्नानुमितावपीत्यर्थः । अत्र च प्रत्यक्षधर्मसशयव्यवच्छेदाय प्रमात्वावान्तर-
जातिप्रहणं, प्रत्यक्षागमादिव्यवच्छेदाय तादृशप्रमितीत्युक्तं, प्रमात्वजातेरित्युपलक्षणमनुमितित्वस्यापीति ।

तर्ह्यनुमितित्वं तावन्न जातिः, अयमभिमानवर्तत इति ज्ञाने अयमंशे प्रत्यक्षत्वेन सङ्करप्रसङ्गात् । नाप्यु-
पाधिः, उद्धावितोपाधीनां निरसनमिति वर्णितानुमानलक्षणखण्डनं प्रशास्त्रपादद्विगणशबरस्वामिचमत्तलक्षणे-
ध्वतिदिशति—एतेनेत्यादिना । अनुमेयेन पक्षे सर्वस्मिन्संबद्धं पक्षधर्मतावल्लिङ्गं । तदन्विते अनुमे-
यधर्मतेति, पदार्थान्तरे सर्वस्मिन्संबद्धे वा प्रसिद्धम् । सृष्टिः, सृष्टिः, यावत् । चकारस्तु, पक्षधर्मतेनेदं रूपं
समुच्चिनोति । तथा तदभावे साध्याभाववति नास्त्येव । सर्वथा व्याहृतं विपक्षाव्याहृतमित्यर्थः । अत्रापि
चः पक्षधर्मतयैतत्समुच्चिनोति, ननु सपक्षे सत्त्वेन, केवलव्यतिरेक्यभावापातात् । एवं पूर्वोपि । केवलान्व-
यित्वात् । एवंविधं यद्विद्धं तदनुमापकमिति काश्यपः कणादोऽनवीदिरवुत्तरश्लोकस्येनान्वयः । 'विपरीत-
मतो यत्सादेकेन वा द्वयेन वा । विद्वद्वासिद्धसद्विग्धमल्लिङ्गं काश्यपोऽनवी'दिति ह्युत्तरश्लोकः । तथा त्रिरूपात्प-
क्षधर्मतादिरूपत्रयवतः । समाधस्य बहुव्रीहिः । यदर्थदृश्यदर्शनं तदनुमानमिति वैभाषिकाणां सूत्रकृतो
दिवागस्य सूत्रम् । तथा ज्ञातसम्बन्धस्य ज्ञाताविनाभावस्य पुंसः एकदेशदर्शनाद्भूमिविशिष्टाशदर्शनादेकदेशान-
न्तरे अभिविशिष्टांशे बुद्धिरनुमानम्, एकस्यैव रज्जु पयैतस्यैकदेशदर्शनेनैकदेशोऽनुमीयते । तथाव्याहृतीतिककृतः
'स एव चोभयात्मैयं गम्यो गमक एव च । असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधैक' इति । यद्यपि 'प्रमाता

१ शब्दशक्तिप्रदृश्यस्यैत्यर्थः । २ अत्रापि च तत्परामर्शोऽनुमेयम् । ३ विकरवासदत्वादित्याद्यनुपदेशोक्तप्रत्येन
सिद्धाव्याप्तिमिति भावः । ४ ईश्वरानुमापकहेतुता जगन्निरुद्धकार्यत्वादीनामित्यर्थः । ५ अत्रापि 'रूपेणोपपन्न'मिति शेषः ।
६ इदपदार्थः—पक्षः । तादात्म्येन बहिर्मानेव गम्यः । तादात्म्येन भूतवानेव गमकः । ७ गमक इत्यर्थः ।
८ ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादित्यापन्नलमूलोक्तशबरभाष्ये ज्ञातसंबन्धपदेन प्रमातोच्यते । ज्ञातः संबन्धो येनेति
बहुव्रीहिसिद्धीकारात् । असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधैक इति । यद्यपि 'प्रमाता

बुद्धि'रित्येवमादीनि वैशेषिकवैभाषिकजैमिनीयलक्षणान्यपि प्रत्युक्तानि । पक्षधर्मत्वसंप्र-
सत्त्वव्याप्यव्यापकसंबन्धानां पुरैव निरस्तत्वात् । तदेवं नानुमानलक्षणमपि निर्वाहुं शक्य-
मिति सिद्धम् ।

एतेन परार्थानुमानमपि प्रत्युक्तम् । स्वार्थानुमानमुपजीव्य तत्प्रवृत्तेः । तथाहि ।
प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपपञ्चावयवात्मकं तत्, तत्र तावत्पक्षवचनं प्रतिज्ञा इत्य-
लक्षणम् । 'पूर्वोदितेन न्यायेन पक्षस्यैवानिरूपणे । कथं तद्वचनं वाच्यं प्रतिज्ञेति वि-
श्रिता ॥' २७ ॥ किं पक्षप्रतिपादकं वचनमात्रं प्रतिज्ञा प्रतिपिपादयिषया वा तद्वचन-
मुत हेत्वाकाङ्क्षाजनकं किं वा साध्यधर्मविशिष्टधर्मिप्रतिपादकं तदेव हेत्वाकाङ्क्षाजनक-
विशिष्टं निगमनान्यत्वविशिष्टं वा । नाद्यः । अयं पक्ष इत्यादेरपि वचनस्य प्रतिज्ञात्-
प्रसङ्गात्, पक्षलक्षणवचनस्यापि तत्त्वप्रसक्तेश्च । अत एव न द्वितीयः । प्रतिपादनेच्छया
पक्षवचनत्वस्य तत्रापि भावात् । न तृतीयः । कस्मादयं पक्ष इत्यादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् ।
नापि चतुर्थः । निगमनस्यापि तद्भावप्रसङ्गात् । नापि पञ्चमः । कस्मादयं साध्यधर्मवै-
निति वचनस्यापि तथात्वापातात् । अप्रभ्ररूपं तथाभूतवचनं विवक्षितमिति चेत् ।

ज्ञातसंबन्ध एकदेश्यवचोच्यते । कर्मधारयपक्षे वा संबन्धिन्येकदेशता ॥ द्वयं वा ज्ञातसंबन्धमुपलब्धं पर-
स्परम् । तस्यैकदेशशब्दाभ्यामुच्येते समुदायिना'विति वार्तिककारैर्बहुविधं भाष्यं योजितम् । तथापि बिल्वरम-
यादेकैव रीतिरत्र प्रदर्शिता । एतेनेत्यतिदिशं विशदयति—पक्षेति । अत्र हि त्रैरूप्यमुखेनाप्ये लक्षणे प्रते
तृतीयमपि व्याप्तिर्पुरस्कारेण, ज्ञातसंबन्ध इत्यत्र व्याप्तिर्विवक्षितत्वात् । तच्च रूपं पक्षधर्मता व्याप्तिधेति द्वयं पुर-
स्तादेव खण्डितम् । पक्षधर्मलक्षणजन्यायेन सपक्षविपक्षयोस्तत्र सदसत्त्वयोश्च खण्डितप्रत्ययव्यतिरिक्तं भाव ।

यद्यप्यनुमानमात्रखण्डनेन परार्थानुमानमपि खण्डितमेव, तथाप्यधिकदूषणविवक्षया अत्र खण्डितव्यतिरि-
शति—पक्षेनेति । स्वार्थानुमानोपजीवनं दर्शयितुं परार्थानुमानं दर्शयति—तथाहीति । परोपदेशेन-
मनुमानं तदित्यर्थः । तत्रोपजीवनदर्शनपूर्वकं दूषणमतिदिशन्प्रतिज्ञां स्रग्भयति श्लोकेन—पूर्वेति । तद्वचनं
विकल्पयति—किं पक्षेत्यादिना । निगमनव्यवच्छेदाय द्वितीयतृतीययोर्विशेषणद्वयम् । अयं पक्ष इत्या-
देरपीति । इदमपि वचनं पक्षप्रतिपादकमित्यर्थः । पक्षस्य यलक्षणवचनं तस्मिन्नप्यतिव्याप्तिरित्य-
पक्षलक्षणेति । अत एवेत्यस्यैव विवरणं प्रतिपादनेति । कस्मादिति । तदपि हेत्वाकाङ्क्षाजनक-
मित्यर्थः । निगमनस्यापीति । तत्रापि तस्मादयमभिमानिति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादनमस्तीत्यर्थः । ननु
यद्यपि कस्मादयं साध्यवानिति वचनस्य हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वे सति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादकत्वमिति, तदपि
प्रभ्ररूपमिदम्, अप्रभ्ररूपमप्यपेक्षितं लक्षणेऽतो नास्त्यतिव्याप्तिरिति शङ्कते—अप्रभ्ररूपमिति । तत्रापि-

१ यस्य ज्ञातपूर्वसंबन्धस्य सपक्षस्य महानसापेक्षदेशिनोऽग्निसंबन्धो नियमाख्यो शातः तस्य सो प्रमारय पक्षेऽ-
तस्य पर्वतादौ दर्शनात् तत्रैव योक्तदेशान्तरेऽग्निबुद्धिरिति न्यायप्रकाशकरो भ्याख्या । अत्र पक्षे शातः संबन्धो बन्धि-
बहुव्रीहिः । २ शातः संबन्ध इति कर्मधारयः । एकदेशस्य शब्दाभ्यां संबन्धिनोर्बहुवचनस्योरभिधानम् । संबन्धो
स्योत्तमवचनमानत्वात्संबन्ध एकदेशी । एकदेशी च संबन्धिनो । शातस्य संबन्धस्य य एकदेशः संबन्धी पूर्वः स
दर्शनान्तरेऽन्यन्तरे बुद्धिरिति । ३ शातः संबन्धो यस्य त्रिभङ्गिद्वयसमुदायस्य स तथा तत्रैकदेशः समुदायो वृ-
त्तय दर्शनात् समुदायान्तरे बुद्धिरिति । समुदायिवचनापेक्षदेशस्य शक्तिरिति । ४ त्रैरूप्यमुपेक्षे प्रभ्ररूपी हेतुः ।
५ यत्किञ्चित्सिद्धान्तनिराकरणवाक्ये इत्यर्थः ।

न । आक्षेपवचनस्यापि प्रश्नं मन्वानं प्रति तद्रूपत्वात्, लक्षणवचनेपि व्यभिचाराच्च । नापि पष्ठः । परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । उपनयानन्तरं प्रतिज्ञावचनं निगमनं सहेतुकं प्रतिज्ञावचनमिति वा लक्षणम् । तथाच प्रतिज्ञासिद्धौ निगमनसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदन्यत्र-विशेषितप्रतिज्ञासिद्धिरिति कथं न परस्पराश्रयः, तस्मान्न प्रतिज्ञालक्षणनिरुक्तिः । नापि हेतोः । तथाहि । किं लिङ्गवचनं हेतुरुत तृतीयापञ्चम्योरन्यतरविभक्त्यन्तं साधनत्व-रयापकं लिङ्गवचनं वा । नाद्यः । अस्ति लिङ्गमयं धूम इत्यादेरपि वचनस्य हेतुत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । अन्यतरशब्देनैकस्य द्वयोर्वाभिधाने तल्लक्षणस्याव्याप्तेः । न तृतीयः । साधनशब्देन हेतुविवक्षायामात्माश्रयात् । तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थाभिधाने पूर्वोक्तदो-पापत्तेः, लिङ्गविवक्षायां त्वेतदलिङ्गमस्ति वास्य लिङ्गमित्यादेरपि वचनस्य तथात्वापातात् । नाप्युदाहरणलक्षणं, दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमुदाहरणमिति बहुमयुक्तत्वात् । तथाहि । किं लौकिकपरीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः । किं वा निश्चितसाध्यसाधनवान् । नाद्यः । स्वर्गापूर्वदेवतादीनां लौकिकासंमतानामपि दृष्टान्तत्वात् । नापि द्वितीयः । निश्चितसाध्यसाधनाभाववतो वैधर्म्यदृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात् । साध्यसाधनशब्दाभ्यां तद-भावयोरपि समहाददोष इति चेन्न । निश्चितत्वानिरुक्तेः । तथाहि । किं वादिनो निश्चय उत प्रतिवादिनः किं वा सर्वेषाम् । नाद्यः । साध्यधर्मिणोपि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात्, वादि-नस्तत्र निश्चयसद्भावात् । न द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । किं निश्चयमात्रं किं वा-

पवचनेतिव्याप्तिरित्याह—आक्षेपेति । ननु तस्य कथं हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वमिति, तत्राह—प्रश्नं मन्वानं प्रतीति । नचाभ्रान्तं प्रतीति विशेषणीयम् । भ्रान्तं प्रति प्रयुज्यमानप्रतिज्ञायामव्याप्ते । लक्षणवचन इति । तत्रापि हेत्वाकाङ्क्षा, लक्षणवचनमात्रार्थासिद्धेरित्यर्थः । निगमनान्वयविशिष्टमिति पक्ष दूषयति—नापि पष्ठ इति । परस्पराश्रयमेवाह—उपनयानन्तरमिति । द्वितीयमप्यवयव स्रग्भयति—नापि हेतोरिति । लिङ्गवचनं हेतुरिति लक्षणवचनस्य लिङ्गमस्तीत्यादिवचनेऽतिव्याप्तिमुक्त्वा द्वितीये दूष-णमाह—अन्यतरशब्देनेति । साधनत्वख्यापकं लिङ्गवचनमिति भौतसर्वज्ञाभिमततृतीयलक्षणे साधनश-ब्देन हेतुर्विषयते तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थत्व वा लिङ्गत्व वा । भावे दूषणमाह—साधनेति । द्वितीये प्राह—तृतीयेति । तृतीये प्राह—लिङ्गेति । तृतीयमप्यवयव स्रग्भयति—नाप्युदाहरणलक्षण-मिति । तत्र सम्यग्दृष्टान्तानिधानमुदाहरणमिति भूषणप्रसृतयो बभाषिरे, तत्र दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमपि दुरुचीति दृष्टान्तलक्षण विकल्प्य दूषयति—किं लौकिकेत्यादिना । निश्चितेति । निश्चिते साध्यसा-धने यस्मिन्स दृष्टान्त इत्यर्थः । ननु साध्यसाधनशब्देन व्याप्यव्यापकत्वमिप्रेतौ, तथाच भाववदभावावपि व्याप्यव्यापकभूतामिति वैधर्म्यदृष्टान्तोपि स्रग्हीत इति शङ्कते—साधयेति । शक्यमत्र विवेक्षितु भाववि-वक्षया वैधर्म्योदाहरणव्याप्ति, अभावविवक्षायां साध्योदाहरणव्याप्तिरुभयविवक्षायामुभयव्याप्तिरिति, तथाप्यतिस्फुटमिदमिति दूषणान्तरमाह—निश्चितत्वेति । वाच्येक्षया निश्चितसाध्यसाधनत्व न दृष्टान्त, पक्षस्यापि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात् । 'निश्चितं हि वादं कुरुत' इति न्यायेन वादिनस्तत्रापि निश्चितसाध्यवत्त्वादि-त्याह—नाद्यः । साध्यधर्मिणोऽपीति । प्रतिवायपेक्षया निश्चितसाध्यवत्त्वमिति द्वितीयपक्षे किं यदाक-

१ निगमनेत्यादि । २ वाकारो भिन्नक्रमोऽपिशब्दोत्तर द्रष्टव्य । ३ भासवधनाभा कथन न्यायाचार्यं प्राचीन इति । ४ तथा किञ्चु इति शेष ।

नुमितिकालविशेषितो निश्चयः । आद्ये कालान्तरे निश्चितसाध्यसाधनवतोपि कालान्तरे-
ऽन्यथाभूतस्य दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । कालस्य निश्चितसाध्यसाधनवतोपि
दृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात्काले कालविशेषितनिश्चयस्याभावात् । नापि तृतीयः । सर्वनिर्ण-
यस्यासर्वज्ञेन निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

यो यदा निश्चितसाध्यसाधनवान्स तदा दृष्टान्त इत्ययुक्तम् । यदा तदेति कालमि-
धाने काले तदभावात्, यत्तच्छब्देन चानुगतरूपस्य तद्वतो वाभिधाने तयोरेव प्रत्येकमदृष्टा-
न्तत्वापातात् । एवं दृष्टान्तानिरुक्तौ तत्प्रतिपादकं वचनमुदाहरणमित्ययुक्तम् । नाप्युप-
नयलक्षणम् । तथाहि । किं दृष्टान्तानन्तरं हेतुवचनमुपनयः, किंवा दृष्टान्ते प्रसिद्धाविना-
भावस्य साधनस्य दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्तिरूप्यापकं वचनं, व्याप्तस्य पक्षधर्मताप्रतिपा-
दकं वा । नाद्यः । दृष्टान्तवचनानन्तरं धूमवत्त्वादित्यपि वचनस्योपनयत्वप्रसङ्गात् । नापि
द्वितीयः । दृष्टान्तवैधर्म्येण न तथाचायमधूमवानित्यादिवचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्गात् । उपमा-
नशब्देन च साधर्म्यवैधर्म्ययोरुभयोर्विवक्षितत्वेऽन्यतरवचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्गः । दृष्टा-
न्ताविनाभावलक्षणयोः पुरस्तान्निरस्तत्वाच्च । नापि तृतीयः । व्याप्तौ धूमः पक्षेस्तीति वच-
नस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्, व्याप्तिपक्षधर्मतयोश्च पुरैव निरासात् । नापि निगमनलक्षणम् ।
तत्किमुपनयानन्तरं प्रतिज्ञावचनमुत सहेतुकं प्रतिज्ञावचनम् । नाद्यः । उपनयानन्तरम-
ग्निमान्पर्वत इत्येतावद्वचनस्यापि निगमनत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । व्युत्क्रमोदितस्यापि
तथात्वापातात्, प्रतिज्ञाहेत्वोश्च पुरैव निरासात् ।

दाचिनिश्चितसाध्यवत्त्वमुत कालविशेषकथासमयादाविति विकल्प्य प्रथमं दूषयति—कालान्तर इति ।
तथासति कथाप्रवृत्तिसमये विप्रतिपन्नसाध्यस्यापि दृष्टान्तता स्यात्, यदाकदाचिदत्रापि निश्चयसंभवादित्यर्थः ।
द्वितीये तु कालस्य दृष्टान्तत्वं न स्यात् । नहि कालः कालविशेषे निश्चितसाध्यः, कालस्य कालान्तराभावा-
दित्याह—न द्वितीय इति ।

सर्वनिश्चयपक्षमसंभवेन दूषयित्वा पक्षान्तरं शङ्कते—यो यदेति । यो यदेत्यादिलक्षणे यदातदेत्यं
दूषयित्वा यः स इत्यंशं दूषयति—यत्तच्छब्देनेति । अत्र किं यत्तच्छब्देन प्रत्येकं व्यावृत्ताः साध्यसाध-
नवन्तोऽभिधीयन्ते, किंवा कौचिदनुगतौ धर्मौ तयोश्च दृष्टान्तत्वमिति विवक्ष्यत, उत रूपवतः कस्यचिद् ।
आद्येऽनुगतलक्षणाभावः । द्वितीये रूपिणस्तृतीये रूपयोर्दृष्टान्तत्व न स्यादित्यर्थः । दृष्टान्तखण्डनस्योदाहरण-
खण्डनशेषतामाह—एवमिति । चतुर्थमवयवं खण्डयति—नापीति । दृष्टान्तोपमानेनेति । तथा
चायमिति महानसाधुपमानेनेत्यर्थः । नापि द्वितीय इति । द्विविधो गुपनयः, साधर्म्यवैधर्म्येभ्यो-
तथा चायं धूमवाविति साधर्म्योपनयः, न तथायमधूमवानिति वैधर्म्योपनयः । तत्र वैधर्म्योपनये दृष्टान्तो-
पमानं नास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । अथोपमानशब्देन वैधर्म्यमपि विवक्षितं, तदैकैकाव्याप्तिरित्याह—उपमान-
शब्देनेति । दूषणान्तरमाह—दृष्टान्तेति । व्याप्तौ धूम इति । व्याप्तस्य पक्षधर्मतां तदपि वचनं प्रति-
पादयेदित्यर्थः । दूषणान्तरमाह—व्याप्तीति । पक्षमावयवं खण्डयति—नापीत्यादिना । अग्निमान्पर्वत
इत्येतावदिति । तस्मादित्येतदंशविधुरतयेत्यर्थः । व्युत्क्रमेति । यदा हि उपनयानन्तरमग्निमान्पर्वत
तस्मादिति व्युत्क्रमेणोच्यते, तत्रापि प्रसङ्गः । नच तदपि निगमनमेव, विपर्ययवचनतया धाप्रस्तकालत्वप्रस-
ङ्गादित्यर्थः । दूषणान्तरमाह—प्रतिज्ञेति ।

किंच 'अनुमानाङ्गयोः सिद्धेर्व्याप्तिपक्षगतत्वयोः । उदाहृतेरुपनयात्पञ्चावयवता मुधा'
 ॥ २८ ॥ पञ्चावयववाक्यमपि न प्रयोजनवदवश्यमिति पश्यामः । साधनानुपयुक्तवच-
 नस्याधिकनिग्रहत्वात् । तथाहि । बादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षसमयवन्धस्वीकारसमन-
 न्तरं प्रतिवादिनः किमत्र प्रमाणमिति प्रमाण एव जिज्ञासा, यावद्द्वयविशिष्टं च प्रमाणं
 तावदेव वक्तव्यम्, अङ्गं च द्वयमेव व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति, तत्रोभयमुदाहरणोपनयाभ्यामे-
 वाभिहितमिति किमपरमवशिष्यते यदर्थमुपाददीत । ननु पक्षधर्मत्वं सपक्षसत्त्वं विप-
 क्षाव्यावृत्तिरबाधितविपयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्चरूपाणि हेतोरवश्यं वक्तव्यानि, अ-
 न्यथाऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकान्तर्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमानामनिरासे हेतोरसा-
 धकत्वप्रसङ्गात् । तत्र यद्यपि व्याप्तिपक्षधर्मताप्रदर्शनेन रूपत्रयोपपादनादसिद्धविरुद्धानै-
 कान्तिकानि परिहृतानि, तथापि बाधितविपयत्वसत्प्रतिपक्षत्वयोरवशिष्टयोर्निरासे का-
 लात्ययापदिष्टप्रकरणसमयोर्हेत्वाभासयोः परिहाराय निगमनमपेक्षणीयमेव, स च तस्मा-

तदेवं दण्डकसूत्रस्थावयवानां लक्षणानि खण्डितानि, इदानीं यत्तेषां पक्षत्वं तैराद्रियते "स एव परमो न्यायो
 यद्धिप्रतिपन्नं प्रति पञ्चावयवं वाक्यमिति" वदद्भिः । सोप्ययुक्तं प्रमाणाभावात्तत्प्रयोजनस्य च द्वाभ्यामेव शक्यसं-
 पादनत्वादित्याह—किं चेत्यादिना । व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरनुमानाङ्गोरुदाहृतेरुदाहरणात्, उपनयाच सिद्धेः ।
 पञ्चावयवता, त्रित्वस्यापीदमुपलक्षणम् । मुधा वृथेति श्लोक्योजना । एतदेव विवृणोति—पञ्चेति । न केवल-
 मनुपयोगः, निग्रहस्थानं च स्यात् । हेतुदाहरणामधिकमधिकमिति हि सूत्रम् । हेतुदाहरणग्रहणस्य चोप-
 लक्षणत्वादुपयुक्तौपुनरुक्तकृतकार्याभिधानमिति सूत्रार्थः सपद्यते, इतरथा निग्रहान्तरसंकरप्रसङ्गात् । तदिह
 द्वाभ्यां सिद्धस्यैवान्येभ्योपि साधनेधिकं प्रसज्यत इत्याह—अधिकनिग्रहत्वादिति । एतदेवाकाङ्क्षाक्रमे-
 णोपयुक्ताङ्गात्तद्विषये च विवेचयन्निवशादयति—तथाहीत्यादिना । समयवन्धो नाम अपशब्दो वर्जनीयः एता-
 वन्ति च निग्रहस्थानानि उन्नावनीयानीत्यादिरूपः । एतेनैत्यप्यपास्तं । यदाह लीलावतीकारः—अत्यन्तं
 बुभुसितसाध्यप्रतिपादनोपयोगिलादित्यादि, भङ्गीसहस्रेणापि साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकनिग्रहताया दुष्परि-
 हरत्वादिति । यच्च न्यायवाचस्पतायुक्तमनिलं शब्दं बुभुसमानायेत्यादि, तदप्येतेनैव परिहृतम् । पक्षप्र-
 तिपक्षपरिग्रहवलेनैव प्रतिज्ञार्थस्य बुभुसितस्य लब्धत्वादिति । अधिकोपयोगं निगमनस्य दर्शयति पूर्ववाची
 —नन्वित्यादिना । पक्षे व्याप्यवर्तनं पक्षधर्मत्वं, संप्रतिपक्षसाध्यत्वं सपक्षस्तत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा हेतो-
 र्वृत्तिः सपक्षे सत्त्वम् । साध्यात्यन्ताभाववान्विपक्षः ततः सर्वस्माव्यावर्तनं विपक्षव्यावृत्तिः, तथाऽबाधितविपयत्वं
 विपयशब्देन हेतोर्विपयः साध्यमभिधीयते तस्मिन्मानान्तरेणाबाधिते प्रवर्तमानत्वं, तथा सन्विद्यमानः प्रति-
 पक्षो यस्यासौ सत्प्रतिपक्षस्तदहितत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमित्येतानि पक्षरूपाणि हेतौ वक्तव्यानीत्यर्थः । किमियं
 राजाज्ञा, नेत्याह—अन्यथेति । तथाहि । पक्षधर्मत्वाभावेऽनियतैकपक्षवृत्तिरुपासिद्धिप्रसक्तिः, सपक्षे स-
 च्चाभावे पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानत्वरूपविरुद्धत्वप्रसक्तिः, विपक्षव्यावृत्त्यभावे पक्षत्रयवृत्तित्वलक्षणसाधार-
 णानैकान्तिकता स्यात्, एवमितरयोरप्यभावे प्रकरणसमतातीतकालत्वयोः प्रसक्तिरित्यर्थः । ननुदाहरणो-
 पनयाभ्यां व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरुपपादनादपि भवत्वेवास्तिव्याधीना निरासः, व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रतीत-
 स्यैवास्तिव्यादिमत्त्वात्, व्याप्तिनिर्णयेन च विरुद्धत्वादीना निरासादिति, तत्राह—तत्र यद्यपीति । तत्रोभयवि-
 धोदाहरणेनोभयविधव्याप्तेर्दर्शनाद्वितीयवृत्तीयरूपयोः सिद्धिरुपनयेन च पक्षधर्मतासिद्धिरिति विभागः ।
 अनेकान्तिकप्रहणमनप्यवसितस्याप्युपलक्षणम् । तस्याप्यव्यभिचारविरुद्धत्वात्, सपक्षवृत्तिविपक्षव्यावृत्तिनि-
 ग्नेयं च तस्याभ्याभावादिति । ननु निगमनवचनादपि कथं तयोर्निरासः, तत्राह—सचेति । तस्मादभिमाने-

१ अनप्यवसितपदेन संदिग्धो हेतुः । स च संदिग्धानैकान्तिक पर्यवसितः । अनप्यवसितस्याव्यभिचारविरु-
 द्धरूपत्वात् । २ इदं निगमनान्वधि । ३ उपयुक्तपुनरुक्तकृतकार्याभिधानमिति पाठो भाति । ४ निग्रहान्तरत्वप्रस-
 ङ्गादिति पाठः शोभनः । ५ नजयस्य वृत्तित्त्वेऽन्वयः । ६ पक्षतपक्षविपक्षरूपेत्यादिः ।

दयमग्निमानेव न पुनस्तस्मादन्यस्माद्धानग्निमानपीति निगमनेनावद्योत्यत इति चेन्नैवम् । पूर्वमेव हि सिद्धत्वादसंभित्वाच्च । तथाहि । साधनसद्भावे साध्यसद्भावनियमलक्षणान्वयव्याप्तेः साध्याभावे साधनाभावलक्षणव्यतिरेकव्याप्तेश्चोदाहरणेनैव प्रदर्शितत्वेन काल-
त्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेन्तर्भूतस्य कृत एव परिहारः । बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुर्हि कालात्ययापदिष्टः, बाधश्च पक्षनिष्ठसाध्याभावनिश्चय एवेति निश्चितसाध्याभाववद्बुद्धिः कथमनैकान्तिको न स्यात् ।

ननु साध्याभावनिश्चयो बाधः, स च पृथग्दूषणम् अनैकान्तात्, निश्चिते साध्याभावे तद्वति वर्तमानोनैकान्तिकः, ततश्च पुरःस्फूर्तिकबाधेनैवोपहतो हेतुः कथमनैकान्तिकेन पुन-
रुपहन्येत, नहि मृतो मार्यत इति चेत् । हन्तैवं बाधवदेव विपक्षग्राहकप्रमाणमपि पृथक् दूषणं स्यात् । प्रमिते विपक्षे तदुपजीविनस्तद्वृत्तेरनैकान्तिकत्वाङ्गीकारात् । व्याप्तिपक्षधर्म-

वेति हि निगमनरूपं, तत्र सिद्धे सत्कारम्भो निर्णयार्थ इति न्यायेन तस्मादेवाग्निमानान्वयस्यादिति सिद्धसाध-
नताव्युदासस्तस्मादयमग्निमानेवेति न पुनरन्यस्मादनग्निमानपीति द्विविधोपि सत्प्रतिपक्षो निरस्तः । द्विविधो हि सत्प्रतिपक्षः स्वार्थेना परार्थेना चेति । आद्यो यथाऽनिलः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् । एवं निलः शब्द इत्यत्रापि । द्वितीयस्तु नित्यं मनो निरवयवद्रव्यत्वादाकाशवत् धनित्यं मनो मूर्तत्वाद्वदिति । इदमेव विरुद्धव्यभिचारीव्यभिचीयते । तथाग्निमानेवत्यनग्निमानत्वनियेधाद्बाधोपि विष्वस्त इत्यवयवमपेक्षणीयं निगम-
नमित्यर्थः । एवं समर्थितं निगमनोपयोगं दूषयति—**मैवमिति** । अन्यतः सिद्धिं विगुणोति—**तथाही-**
स्यादिना । ननु यदि कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेन्तर्भावः स्यात्तदा तन्निरसने निरासः, स एव तु कथमिति, तत्राह—**बाधित इति** । सद्हेतुनिरासाय बाधितग्रहणम् । ततः किमिति, तत्राह—**बाधश्चेति** । पक्षन-
यवृत्तिर्धर्मैकान्तिकः, यथा निलः शब्दः प्रमेयत्वादिति । तदिहाग्निगुणः पदार्थत्वादित्यत्र प्रत्यक्षसिद्धोपि-
मतया विपक्षतामापनेऽप्यौ पक्षे सपक्षे च घटादिषु वर्तमानः कथमनैकान्तिकानन्तर्भूतः स्यात्कथंतरां तद्विवर्त-
कोदाहरणेन न निवृत्तिः कथंतरां च न तन्निरवर्तकतया निगमनस्य सार्थक्यमिति भावः ।

बाधस्यानैकान्तिकाद्बहिर्भावमाह पूर्ववाची—**नन्विति** । बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः, तथाच बाधमुपजीव्य तद्विपक्षत्वनिर्णयानन्तरमनैकान्तिकत्वप्रतीतिः । तथाचोपजीव्यमेव निग्रहस्थानम् । प्रथमोद्भाव्यत्वात् । न चरमोद्भाव्यम् । इतरथा निग्रहस्थानानां संकरापत्तेरित्यर्थः । तदेतदितिप्रसङ्गेन दूष-
यति—**हन्तैवमिति** । तत्साध्याभावज्ञापनं नाम विपक्षत्वज्ञापनमेव, तथाच बाधोपि दूषणमिति, किमुक्तं भवति, विपक्षग्राहकं प्रमाणमपि भवति दूषणमिति, तथाच प्रसिद्धानैकान्तिकस्यैव विपक्षग्राहकं प्रमाणमेव किमिति निग्रहस्थानं न स्यात्, अस्ति हि तस्यापि तेनोपजीव्यत्वमिति भावः । ननु यद्यपि बाधे विपक्षत्वज्ञान-
मप्यस्ति, तथापि न तेनैकारेण दूषणत्वं, येनातिप्रसक्तिः स्यात्, किंत्वनुमितिसत्स्थले तदभावबोधकतया, तदेव ह्यनुमानप्रयोजनं यदनुमितिसार्थसिद्धिस्तथा च तामेवापहरतो नाङ्गवैकल्यान्तर्भावेण दूषणत्वमपि तु निरुदे-
नमिव स्वातन्त्र्येणेति, तत्राह—**व्याप्तिपक्षधर्मतेति** । अर्थ भावः । न तावद्बाधसहस्रेणापि स्वभावव्य-
सिक्तैविनाभाववति हेतौ जीवति साध्यमपहर्तुं शक्यम् । स्वभावव्याप्त्यपहारे पदार्थत्वादिति हेतोरवापहा-
रप्रसङ्गात् । तस्मादनेन बाधेनापि निरुपाधिकसंबन्धाभाव एव बोधनीयः । एतमर्थमनिप्रेक्षाद्—**बाधेन चोपाधिर्जीयते तथा चेति न कश्चिदर्थेन्द्रिशेषः** इति । तथाच व्याप्त्यपहारेण दूर्ध्वगलाघानैकान्तिकान्तेः । न

१ विपक्षग्राहकप्रमाणं तत्त्वदार्थः । २ यत्र साध्यतदभाववोरेक एव हेतुः । ३ यत्र साध्यतदभावयोः निग-
मयिपित्तवोर्हेतुद्रव्यम् । ४ विपक्षत्वज्ञानत्वेन रूपेण दूषणत्वं नेत्यर्थः । यदि तेन रूपेण दूषणत्वं स्यात् तदाऽनु-
मितिसत्त्वत्वविशेषोपाविषयकत्वज्ञानस्यापि दूषणत्वं स्यात् इति भावः । ५ व्याप्तिकान्तेन अविनाभाववत्तः कर्तव्य-
रवः । ६ अशिपक्षकानुष्णत्वसाध्यकस्येतिशेषः । ७ व्यभिचारादिना चोपाधिर्जीयते इति उपाधुत्सायकत्वे बाध-
व्यभिचारयोर्न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः । ८ बाधस्येति शेषः ।

ताप्रहारेणैव च सर्वदूषणजातस्य दूषणता, अन्यथा सिद्धसाधनताया अपि पृथग्दूषणत्व-
प्रसङ्गात् । सा हि सिद्धस्य साध्यत्वाभावेन पक्षत्वप्रच्युत्या दूषणमुपेयते तथा बाधोपीति,
अवाधितविषयत्वस्य दुर्निरूपत्वाच्च । पक्षे विषयापहारलक्षणवाधस्य प्रमितौ तदभावस्य
वक्तुमशक्यत्वात्, अप्रमितौ चाप्रमितप्रतियोगितया तदभावस्यासिद्धेः । तदुक्तमभियुक्तैः
—‘वाधश्च पक्षे विषयापहारो यद्यस्ति नावाधिततात् सिद्धा । नोचेदसिद्धप्रतियोगिकत्वा-
देतस्य सिद्धिर्न कथंचन स्या’दिति । सत्प्रतिपक्षप्रकरणसमावय्यसभवितावेव, निरुपाधेस्त्व-
नुमानद्वयस्यैकतासभवित्वात्, सभवे वा वस्तुनो द्वैरूप्योपपत्तेः । प्रकरणसमेपि वस्तुनो द्वैरु-
प्यापत्तिरेव । पक्षविपक्षयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणसङ्गात्वात् । अन्यतरग्राहकप्रमाणाभावे च
तत एव व्याप्तिभङ्गात् ।

किञ्च नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दो वा, पक्षयोरन्यतरत्वात्सपक्षवदित्येवंरूपोऽसाविष्यते
तत्र चार्थभेदान्न पक्षप्रतिपक्षयोरेकरूपो हेतुः । नित्यत्वप्रतिज्ञाया नित्यस्यानित्यत्वप्रतिज्ञा-
चासिद्धैवान्तर्भाव । व्याप्त्यपहारलिङ्गत्वाभावात्सैव, व्याप्त्यपहाररूपा ह्यसौ येयमसिद्धि । उक्त च लीला-
वतीकारेण—‘सर्वोपसहारप्रवृत्त्याद्याभ्यन्तरनिष्पत्त्यानुमानसहायत्वात्तदेषाप्रवृत्तेर्विपरीतपरिच्छेदस्य बाधस्य
व्यभिचारत्वात्स च व्यभिचारो बहिरन्तर्धेति सन्न्यभिचारदेहेनन्तर्भूतत्वादिति । अथवा—‘प्रतिज्ञादोषमेवाहु
केचित् प्रत्यक्षबाधन’मिति धार्तिककारमतेन प्रतिज्ञादोषतैवास्यास्तु नानैकान्तिकतेत्याशङ्क्य तथाप्यपक्षधर्मतया-
स्यासिद्धावेवान्तर्भाव, न पृथग्दूषणतेत्याह—व्याप्तीति । एवमनङ्गीकारे चातिप्रसक्तिमाह—अन्यथेति ।
तस्यापि पक्षत्वप्रव्यावकत्वसाम्यादित्याह—सा हीति । अतस्तस्य यथा तथाविधस्याप्याश्रयासिद्धिलक्षणसिद्धि-
द्वावेवान्तर्भाव एवमस्याप्यनैकान्तिकान्तर्भाव इति । इयास्तु विशेषस्तस्य पक्षमात्रापहारकत्वादसिद्ध्यन्तर्भाव, अस्य
व्याप्त्यपहारकत्वादनैकान्तिकान्तर्भाव इति । असभवित्वात्क्षेत्रे तद्विद्योति—अवाधितेति । प्रतियोगिप्रमिता-
वप्रमितौ च नेद सभवतीत्यर्थ । एतदेव शब्दवचनेन शब्दयति—तदुक्तमिति । अतःप्रतिपक्षत्वस्यापि दुर्नि-
रूपता दर्शयितुं प्रतियोगिनो दुर्निरूपतामाह—सत्प्रतिपक्षेति । स्वात्मना सत्प्रतिपक्ष प्रकरणसम इति
विवक्षितस्तत्र हि नित्यत्वानित्यत्वग्राहकमनुमानैद्वय निरुपाधिक सोपाधिक वा । आद्ये ग्राह—निरुपाधेरि-
ति । कथमिति न सभवति, तत्राह—सभवे वेति । स्वाभाविकैकसम्बन्धव्यापकापहारे हेतो स्वभावपरित्याग-
प्रसङ्गात् । तदेव मनो नित्यमनित्य च स्यात्, न चैतत्सभवति, धर्मैव मिथेत्येत्यर्थ । प्रकरणसमे उभयत्र व्याप्ति-
रस्ति न वा । प्रथमे पूर्वोक्तदूषणमतिदिशति—प्रकरणसमेपीति । उत्तरसिद्धदूषणमाह—अन्यतरतेति ।
एतेन सत्प्रतिपक्षे द्वितीयविकल्पेपि निरस्त । एतेन हेत्वार्थोपान्तरान्तर्भावोपि वेदितव्य ।

यच्च प्रकरणसमस्य लक्षण तैरुच्यते, स्वपरपक्षसिद्धौ त्रिहैषो हेतुरेक प्रकरणसम इति, तदप्यसिद्धमित्याह—
किञ्चेति । अर्थभेदमेव दर्शयति—नित्यत्वेति । नित्य शब्द पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र हि शब्दनि-

१ अवाधितत्वस्य । २ साध्यतदभावयो साधक यत्र हेतुद्वय तत्र परस्परं सत्प्रतिपक्षता । तदाविधो हेतुरेक-
एव प्रकरणसम इति भाव । ३ सोपाधिकत्वे तयोर्व्याप्यत्वासिद्धात्तर्भाव मत्वाच्च निरुपाधेरिति । अनुमानद्वयस्य ।
हेतुद्वयस्येत्यर्थ । ४ द्वैरूप्य भेद । ५ ह्यदो बहिमान् धूमादित्यादौ स्वरूपासिद्धिरेवास्तु ननु बाध इति शङ्कित्वाशङ्क्य ।
६ वाधितस्येत्यर्थ । ७ सर्वोपसहारेण प्रवृत्तौ यो नाद्याभ्यन्तरपदार्थविषयको नियमस्तस्यानुमितौ सहायत्वाद् यत्र
देशेऽनुमिस्ता तदशे प्रवृत्तिर्वस्य तद्रूपस्य विपरीतनिगद्यस्य बाधस्य व्यभिचारत्वात्स च व्यभिचारो बाद्याभ्यन्तरपदाय-
विषयत्वेन द्विषेतिभोजना । ८ वापस्येति शेष । ९ एकस्यापि हेतो साध्यतदभावसाधकत्वेन भेदमभि-
प्रेलेदम् । १० स्वाभाविक सम्बन्धो यस्य व्यापकस्येति बहुव्रीहि । हेतो स्वव्यापकाभाववद् वृत्तत्वे इति फलितार्थ ।
११ एतेनेति द्वयस्यापि सोपाधिकत्वे व्याप्तिग्राह्यत्वात्तदनेनेत्यर्थ । १२ सत्प्रतिपक्षस्य व्यभिचारात्तर्भाव इत्यर्थ ।
१३ त्रीणि रूपाणि पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वावाधितविषयत्वानियसेति बहुव्रीहि । ।

यामनित्यस्य सपक्षशब्देनाभिधानात् । शब्दसाम्यमात्रेण च हेतुरेकरूपत्वे गोशब्दा-
च्यत्वाद्वागादीनामपि विपाणित्यानुमा प्रसज्येत । तदेवं व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यामेव सकल
हेत्वाभासनिरासे नावयवान्तरकृत्यमस्तीति पश्यामः, तेन पञ्चावयववाक्यं परार्थानुमान-
मिति प्रत्युक्तम् ।

उपमानलक्षणमपि दुर्घटं, तथाहि—नगरानुभूतचरगोपिण्डस्य वनमुपेयुषः साक्षर-
वयभीक्षमाणस्यानेन सदृशी मदीया गौरिति प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टासन्निकृष्टगो-
पिण्डग्रहणमुपमानमिति भीमांसकाः । नचेद् स्मरणं, पुरा गोपिण्डमात्रानुभवेऽपि प्रति-
योगिवयवाद्यनवगतत्वेन तत्सादृश्यविशिष्टतयाननुभवात् । नाप्यनुमानम् । तद्व्याप्तिलिङ्गा-
भावात् । नापि शाब्दम् । अन्तरेणापि शब्दव्यवहारमुपपत्तेः । भैवम् । 'भूयोवयवसा-
मान्यं सादृश्यं यच्च गोगतम् । विज्ञातमविकल्पेन प्रत्यभिज्ञायते यत्' ॥ ३० ॥

त्यान्यतरत्वादिति हेत्वर्थं । तथाऽनित्य शब्द पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र शब्दानित्यान्यतरत्वादित्यर्थं ।
तथाच नोभयत्रानुगत कश्चिदेको हेतुरस्तीत्यसिद्धिलक्षणस्येत्यर्थं । ननु पक्षत्वसपक्षत्वे कौचन धर्मौ, तदधि-
करणे च पक्षसपक्षौ, तयोरन्यतरत्व च हेतुः, अन्यतरत्व च तदुभयान्योन्याभावात्तानधिकरणत्व, तथाच कश्च
ननुगति, तत्राह—शब्दसाम्यमात्रेण चेति । अयं भाव —न तावदेवविधौ भावाभावयोरन्तर्भूतौ शक्य
निरूपणौ सकलभाववृत्तित्वेन पदपदाथबहिर्भावेन भावानन्तर्भावात्, निष्प्रतियोगिकत्वेनाभिपेया मकत्वाभावा
वानन्तर्भावात्, निष्प्रतियोगिकमभावमिच्छतो दत्तचरमुत्तरम् । अन्यतरत्वनिरुक्तिश्च खण्डितचरी । नच तद्वै-
र्मणित्वावपि तस्य हेतुता । अनित्यत्वप्रतिज्ञायामाकाशादावपि तद्भावेनानैकान्त्यात् । एवमितरत्रापीति । तस्मा-
त्तद्वस्तुविशेषवाचका एवैते शब्दा इति मन्तव्यम् । तथाचात्र यद्यनुगति स्यात्, परं शब्दमात्रेणैव सा चाति-
प्रसङ्गिनी । पशुत्वेन शशादीनामपि विपाणित्यानुमानापातात्, गोत्वेन च वागादीनामपीति, नैरर्थस्यसमर्थन
मुपसहरति—तदेवमिति । अत्र च पक्षखण्डनेन च साध्यखण्डनेन चोपाधिखण्डनेन च व्याप्तिलिङ्गनेन
चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसमा खण्डिता । बाधखण्डनेन च कालातीत खण्डित इति वेदितव्यम् ।
अवयवखण्डनस्यानुमानखण्डनोपयोगमाह—तेन पञ्चेति ।

क्रमप्राप्तमुपमान खण्डयति—उपमानलक्षणमपीति । तत्र सदृशदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमुपमानमिति
भीमांसकानामुपमानलक्षण, तत्सोपपादनमनुवदति—तथाहीत्यादिना । उपेयुषः प्राप्तस्येत्यर्थं । प्रत्य-
क्षदृष्टेति । प्रत्यक्षदृष्टो यो गवयस्तत्सादृश्यविशिष्टतयाऽसन्निकृष्टस्य प्रमाणात्तरेणानधिगतस्य नगरपत्तौ
पिण्डस्य ग्रहणमिति योजना । अत्र च गवयगतगोसादृश्यज्ञानस्य प्रतियोगिगोपिण्डज्ञानसापेक्षत्वात्कुमभू-
तचरगोपिण्डस्येति । युगपत्प्रत्यक्षावगतयोगवयस्थलव्यवच्छेदायासन्निकृष्टपदम् । ननु नगर एव यदा गोपि-
ण्डोऽनुभूयते, तदा गवयसादृश्यविशिष्टतयाऽनुभूत एव स, गवयसादृश्यस्य गोगतस्येन्द्रियसन्निकृष्टतयाऽनु-
बिदु शक्यत्वात्, अतोऽरण्यस्थस्य तत्र स्मृतिरेव परमुदेति, न प्रमितिरिति, न तत्करण किञ्चित्प्रमाणमिति च
मस्ति तत्राह—न चेदमिति । यद्यपि सादृश्यमस्ति गोपिण्डे, तथापि प्रतियोगिज्ञानाधीनतया प्रतियोग्यत्वव-
मेन पूर्वं नानुभूयते, तेन न स्मृतिरित्यर्थः । अथानुमानमेवेदं किं न स्यादित्यत्राह—नाप्यनुमानमिति ।
न तावत्सा गौरनेन सदृशी अस्य तत्सदृशत्वादिति शक्यानुमानम् । तस्य व्यधिकरणत्वात्, नापि गोत्वात्प्रति-
पञ्चवदित्यनुमान, गवान्तरे गवयग्रहणव्यतिरेकेण सादृश्याग्रहणादिति भावः । अन्तरेणापीति । न ह्य-
प्यगतदशायामस्ति कश्चिदुपदेष्टेत्यर्थः । एव समर्थितमुपमान दूषयति—भैवमिति । भूयोवयवानां सन्न-
सामान्यानि खरलक्षणत्वादीनि तानि गोगवयावयवेषु वर्तमानानि गोगवययो सादृश्य द्रव्यादिचतुष्टयस्य

१ सादृश्यत्वादिः । २ अत्राग्रे च त पदार्थोऽन्यतरत्वम् । ३ पञ्चावयवत्वादि । ४ गवयग्रहण विना न्या-
त सादृश्याग्रहणादित्यर्थः ।

न तावत्तौतान्तिकमते सादृश्यमस्ति पदार्थान्तरं किंतु भूयोवयवसामान्ययोग एव । तदुक्तं —‘सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपवाधितुम् । भूयोवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य त’दिति । तच्च बुद्धयनारूढेपि प्रतियोगिनि गोत्ववन्निर्विकल्पकेनाकलितं पुनर्गवयस्य प्रति-योगिनो दर्शने परामृश्यते सविकल्पकेन, तत्किमपरमवशिष्यते यत्रोपमानमिष्येत । ननु निर्विकल्पकेनापि न सादृश्यमनुभूतं सविकल्पकवत्तस्यापि तदाकलने प्रतियोगिसापेक्ष-त्वादिति चेन्न । हस्तवितस्त्यादिवत्कर्णखुरादिसामान्यस्य स्वरूपावधारणे प्रतियोगिनिर-पेक्षत्वात् । अन्यथा भेदस्यापि निर्विकल्पकेनाकलनाभिनिवेशो भवतां प्रलीयेत ।

ये तु प्रतिजानते । सादृश्यं नाम पदार्थान्तरं, तद्धि न द्रव्यं, गुणवृत्तित्वात्, अत एव न गुणोऽपि, नापि कर्म, नापि सामान्यादित्रयम् । तत्रापि वृत्तेः । नापि शक्तिः, शक्तेरप्र-त्यक्षत्वात्प्रत्यक्षत्वाच्च सादृश्यस्य । नापि सख्या । संख्यावृत्तित्वात्, इदमेकत्वमेकत्वा-

वादिनो भाटस्य तादृशसादृश्यमाश्रयग्रहणेन योग्यतया च पूर्वमेव गवि श्हीतम्, इयास्तु विशेष, पूर्वमनेन सदृशीति प्रतियोगिवैशिष्ट्यव्यतिरेकेण निर्विकल्पकमनुभूतमिदानीं तु सविकल्पतया प्रत्यभिज्ञा जायते यतो-ऽतो न पृथक्प्रमाणमिति श्लोक्योजना । श्लोक विवृणोति—**न तावदित्यादिना ।** तौतान्तिका कौमा-रिका । प्राभाकरमते हि सादृश्यं द्रव्याव्यतिरिक्तमिति तौतान्तिकग्रहणम् । **पदार्थान्तरमिति ।** सामान्य-पदार्थादतिरिक्तमित्यर्थं । अत्रैव वार्तिकप्रसंगमाह—**तदुक्तमिति ।** गवयात्सकाशाभ्यामनन्तरस्य गोपदार्थस्य गवयगतभूयोवयवसामान्ययोगं सादृश्यमन्तस्तस्य वस्तुत्वमपवाधितुमशक्यं भाटमतानुपारिभिरिति योजना । तत किमिति, तत्राह—**तच्चेति ।** तदुक्तं तत्त्वकौमुदीकारेण—‘नद्वान्यद्रव्ये सादृश्यमन्यच्च गवये, भूय सामा-न्ययोगो जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते, सामान्ययोगश्चैक, स चेद्रवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्तीति । ननु यद्यपि भावरूपत्वान्निर्विकल्पकवैयलमस्ति, तथापि सप्रतियोगिक एव निर्विकल्पकेनापि गृह्यते, प्रतियोगिसापेक्षस्य निर्विकल्पके सविकल्पके वा स्वभावापरित्यागात्, नच प्रतियोगी पूर्वमुपलब्ध, तेन निर्विकल्पकेनाप्यननुभूतमेवेति शङ्कते—**नन्विति ।** यथा हस्तवितस्त्यादिरसादय दीर्घ इति व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षग्रहणेपि न स्वरूपमात्रग्रहणे प्रतियोगिनमपेक्षते एवमनापीति परिहरति—**न हस्तेति ।** अतश्चेतदक्षीरसंबन्धमितरथा भेदस्यापि सप्रतियोगिकतया निर्विकल्पकवैयलभावात्प्रसङ्गात् । स्वीकृतं च तत् “नि-र्विकल्पकबोधेपि ब्यौत्मकस्यापि वस्तुन ग्रहणमिति” वदद्भिरितिभिर्घायाह—**अन्यथा भेदस्यापीति ।**

एव भाटपक्षे दूषणमुक्त्वा प्राभाकरमतमुत्थापयति दूषयितुम्—**ये तु प्रतिजानत इत्यादिना ।** द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषपसमवायसक्तिसख्याऽपूर्वसादृश्यात्मका हि पदार्थास्तैः परिगणितास्तत्र सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्व परिशेषत साधयामास शालिकानाथ. प्रमाणपारायणे—‘विषयोऽस्य वित्तित्तिद्धो भिन्नो द्रव्या-दिभावेभ्य’इत्यादिना, तदनुवदति—**तच्छीति । गुणवृत्तित्वादिति ।** केतकीगन्धसदृश सर्पगन्ध इत्या-दावित्यर्थं । अत एव गुणवृत्तित्वादेव । अगुणा हि गुणा इत्यर्थं । नापि कर्म गुणवृत्तित्वात्कर्मवृत्तित्वाचेति द्रष्टव्यम् । तत्रापि । सामान्यादिव्यपीत्यर्थं । अस्तु तर्हि शतयन्तर्भाव, तत्राह—**नापि शक्तिरिति ।** सख्यावृत्तित्वामेव दर्शयति—**इदमेकत्वमिति ।** अपूर्वत्व तु चोदनालक्षणत्वाभावात्तद्विरुद्धमिति

१ साधये इत्यादि । २ गुणा “पूर्वं तु नोक्तमधुनापि नोच्यते” इति भाष्यगतस्तुशब्दोऽन्ते मध्ये विचार्यत्वेन वदति यस्य शास्त्रस्य तत्तुलनात् शास्त्र तदस्ति वदत्वेन यस्यासौ तुतापि तको गदृत्तस्त्रेमे शिष्यास्तौतान्तिका इति भावः । ३ व्यात्मकत्व च भेदसादृश्यादीनां प्रतियोगिस्वरूप स्वरूपत्वादाय । ४ अस्योपमानप्रमाणस्य विषय. सादृश्य वित्तित्तिद्धोऽनुभवगम्यो द्रव्यादिभावेभ्यश्च भिन्न इति धोमना । ५ धर्मरूपत्वमित्यर्थः ।
वि ३३

न्तरसदृशमिदं च द्वित्वं द्वित्वान्तरसदृशमिति तत्रापि व्यवहारात् । तच्च सविकल्पकै-
कवेद्यम्, इदमनेन सदृशमिति प्रतियोगिघटितस्यैव व्यवहारनियमदर्शनादिति । मैवम् । वि-
कल्पासहत्वात् । तर्किं स्पर्शवद्बुत न । अद्ये द्रव्यत्वम् । द्वितीये एकवृत्तित्वे गुणकर्म-
विशेषाणामन्यतमत्वम् । अनेकवृत्तित्वे तु सामान्यसमवाययोरन्यतरत्वापत्तिः । एतेन
पदार्थान्तरत्वं संख्याया अपि प्रत्याख्येयम् ।

यत्पुनः पदपदार्थान्तर्भावे सामान्यादिवृत्तित्वं न स्यादिति । तत्र ब्रूमः । किमिदं प्रस-
ङ्गमात्रमुत विपर्ययपर्यवसायितया प्रमाणमेव । नाद्यः । तर्कमात्रस्यासाधकत्वात् । न
द्वितीयः । सामान्यमेव सादृश्यमिति वादिनं प्रति सामान्यवृत्तित्वस्यासिद्धेः । ननु गव-
यत्वमिव गोत्वमित्यनुभवादेव सादृश्यस्य सामान्यवृत्तित्ता सिद्धेति चेत्, किमनुभवादेव
सिद्धिरुतायाधितात् । नाद्यः । गगननीलिमादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । प्रति-
वादिनं प्रत्यवाधासिद्धेः । किंच यत्र सौवर्णकर्णाभरणं वा सौवर्णकर्णाभरणासदृशीत्यु-
पमीयते, तत्र द्रव्यं सादृश्यं, नच तद्गुणवृत्ति, तथा रसः पनसशर्करयोः सादृश्यं, तस्य च
द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वादित्यसिद्धो हेतुः । यत्र च हंसगमनेन हंसगमनमुपमीयते तत्र

भावः । ननु भवतु पदार्थान्तरं तथापि पूर्वमेव र्हीतत्वात्प्रत्यभिज्ञान्तर्भावे किमुक्तमुत्तरमिति, तत्राह—
तच्च सविकल्पकेति । तत्र, परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति न्यायेन पदस्वैव सादृश्यमन्त-
र्भावयन्पदार्थान्तरतां दूषयति—मैवमित्यादिना । अत्र तावदाधिततया प्रतीतेन नित्यद्रव्यमिति स्थिते
विकल्पयति—तर्किं स्पर्शवदित्यादिना । द्रव्यत्वमिति । गुणादीनां निर्गुणत्वादित्यर्थः । स्पर्शवद्वि-
तत्वेपि किमेकवृत्ति किं वानेकवृत्ति । प्रथमे प्राह—गुणकर्ममिति । यद्यपि संयोगादेरनेकवृत्तित्वमिति
तथाप्येकवृत्तिगुणान्यतमादावतिव्याप्तेन व्यभिचार इति भावः । द्वितीये दूषणमाह—अनेकेति । एतच्च
नित्यत्वे, अनित्यत्वे तु द्वित्वादियुगविशेषोपलापतिरपि द्रष्टव्या । नन्वस्पर्शवत्त्वे सत्येकवृत्तित्वमनेकवृत्तित्वं च
न गुणादिपञ्चकव्याप्तं, संख्यायां व्यभिचारिदित्यत्राह—एतेनेति ।

एवं पदस्वैवान्तर्भावमुक्त्वा यत्तेनानन्तर्भावे कारणमुक्तं तदूषयति—यत्पुनरिति । न द्वितीय इति ।
विप्रतिपन्नं सामान्याद्यनन्तर्भूतं सामान्यादिवृत्तित्वादिति हि विपर्ययपर्यवसायि प्रमाणं, तत्र चासिद्धो हेतुः ।
सामान्यवादिनानङ्गीकारादित्यर्थः । वृत्तिमनुभवेन साधयति पूर्ववाची—ननु गवयत्वमिवेति । किं
प्रतीतिमात्रं वृत्तिसाधकमवाधितप्रतीतिर्वा । नाद्यः । अतिप्रसङ्गादिति दूषयित्वा द्वितीयं दूषयति—प्रति-
वादिनं प्रतीति । एवं सामान्याद्यनन्तर्भावे हेतुमुक्त्वा द्रव्यादित्रयानन्तर्भावे हेतुं गुणवृत्तित्वमप्यविद्वयति
—किंचेत्यादिना । हंसगमनेनेति । 'हंसीव गच्छति चारुहासिनी'त्यादौ हंसगमनेन हेतुना हंसगमन-
हंसीत्युपमीयते यत्रेत्यर्थः । हंसगमनेन पुरुषेणेत्यन्ये । द्रव्यगुणकर्मणामेव तत्र तत्र सादृश्यव्यवहारहेतुता-
त्तेषां च द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वासिद्धिरिति खण्डलकार्यः । किंचास्वित्वव्यवहारहेतौ प्रामाकारणमस्ति
प्ययं प्रसङ्गः समानः । तस्य भवदमित्तसर्वपदार्थवृत्तित्वात् । अद्येतरान्तर्भूतस्यैव तस्य तथा व्यवहारहेतुत्वं,
तत्सादृश्येपि समानमित्यपि द्रष्टव्यम् । इदानीमभावप्रतिबन्धा वस्तुत्वमेव सादृश्यस्य नास्त्यतोपि पदार्थ-

१ सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वप्रत्याख्यानप्रकारेणेत्यर्थः । २ षट्पदार्थानन्तर्भावसाधकं प्रमाणमिति फलितार्थः ।
३ प्रमाणासद्वृत्ततर्कस्येत्यर्थः । ४ कथाचित्स्थितेति शेषः । ५ हंसगमना उपमीयते इति पाठः साधु । ६ सादृश्य-
स्येत्यर्थः । ७ उपमितेरितिशेषः । ८ प्रकारान्तरेण कल्प्यमानेष्विति शेषः । ९ संयोगादिरूपयुगे एकवृत्तित्वेने-
नन्तर्भूतं सर्वपदार्थवृत्तिरित्येत्यर्थः । १० स्थितिमित्यर्थः । ११ अस्वित्वं सर्वव्यवहार-

कर्मैव सादृश्यमिति तत्रापि हेतोरसिद्धिः । किंच दृश्ये प्रतियोगिनि धर्मिस्वरूपग्रहणमे-
वाभावव्यवहारनिदानमिच्छन्कि नेच्छसि अधिगतविषयस्य गोस्वरूपावधारणमेव सादृ-
श्यव्यवहारकारणमिति । भवतु वा यत्किंचित्सादृश्यं, तथापि गोपिण्डस्य तद्विशिष्टताप्र-
तीतिरनुमानमेव किं न स्यात्, सा गौर्गवयसदृशी गोत्वात् गवयेन सहोपलभ्यमानगवान्त-
रवदिति प्रयोगोपपत्तेः । गवयोपलम्भसहकालमप्रमीयमाणगवान्तरस्य गवयसदृशी गौ-
रित्यवर्गतिरूपमिति चेन्नैवम् । अर्थापत्तेरेव तत्रापि प्रामाण्योपपत्तेः । गवयनिष्ठगो-
सादृश्यस्य परिदृश्यमानस्य गोगवयसादृश्यव्यतिरेकेणानुपपत्तेः । नच गवयनिष्ठं गोसा-
दृश्यमप्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वात्प्रतियोगिनो गोरिति वाच्यम् । स्मर्यमाणेपि प्रतियोगिनि धर्मि-
ग्रहणादेव सादृश्यस्य भेदवत्प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः । सादृश्यज्ञानकरणमुपमानमित्यभ्युपगच्छता
च सादृश्यप्रतीतेरवश्याभ्युपेतत्वात् ।

तथाचार्थापत्तैव तत्प्रतीत्युपपत्तेः कृतमुपमानेन, अन्यथा वैधर्म्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तर-
त्वप्रसङ्गः । तथाहि । यत्र परोक्षादपरोक्षे भवति वैधर्म्यावगतिस्तस्माद्यमन्यथेति, भवति
एतस्मादन्यथा स इत्यपि मतिः, सापि प्रमाणान्तरं स्यात् । सार्थापत्तिरिति चेत्प्रकृतेपि
समानम् । यथोदितमुद्यनेन—‘साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्जते । अर्थापत्तिरसौ
व्यक्तमिति चेत्प्रकृते न किंमिति ।

न्तरत्वं दूरापेतमित्याह—किंचेति । विषयो गवयः । इदानीं सादृश्यमुपेक्ष्य तत्प्रमितिकरणस्य प्रमाणान्त-
रत्वं दूषयति—भवतु वेति । इदं च पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञानान्तर्भावमङ्गीकृत्याधिकमभिधीयते, न त्वव्याप्तिम-
भिप्रेत्य । ननु नास्त्यत्र लिङ्गमित्युक्तं, तत्राह—सा गौरिति । गवयसभिधाद्युपलब्धगोपिण्डे प्रत्यक्षेण
शक्या गोदस्य गवयसादृश्येन व्याप्तिर्गृहीतुमिति भावः । तथाप्युपलब्धगोपिण्डे प्रत्युपमानोपयोगं शक्यते
—गवयोपलम्भेति । अप्रमीयमाणगवान्तरस्य । पुरुषस्येति शेषः । अर्थापत्तिमेव सविकल्पिका दर्शयति
—गवयनिष्ठेति । स्यादेतत्, यदि गवयनिष्ठगोसादृश्यं प्रत्यक्षेण गृह्यते ततस्तदन्यथानुपपत्त्या शक्यं गोगतं
गवयसादृश्यं ज्ञातुं, नत्वेतदस्ति, तस्यापि प्रतियोगिगोसापेक्षग्रहणतया तद्व्यतिरेकेण ग्रहणमेवाशक्यमिति त-
त्राह—नच गवयनिष्ठमिति । माभूत्प्रतियोगिनस्तदानीं ग्रहणं, गृह्यहीतगो स्मरणसहायमिन्द्रियमेव
संप्रयुक्तसादृश्यप्रत्यक्षकरणे समर्थं, यथा प्रत्यभिज्ञाया यथा वाऽनच्छिदितप्रतियोगिके सन्निहितभेद इत्यर्थः ।
यदि च तत्र धर्मिणो गृहीतत्वात्तद्व्यतिरेकस्य संप्रयुक्तत्वाच्च युज्यते ग्रहणमिति मतिः, तदनापि समानमिति
भानः । अथ सादृश्यमेव प्रत्यक्षयोग्यमिति नूपातं प्रत्याह—सादृश्यज्ञानेति ।

एवमुपपन्नदर्शनं समर्थमित्यर्थोपपत्तिमुपसहरति—तथाचेति । अवश्यं चैवमङ्गीकर्तव्यम्, इतरथाऽतिप्र-
सङ्गादित्याह—अन्यथेत्यादिना । अतिप्रसक्तिमेव विवृणोति—तथाहीति । यदाहि परोक्षात्कमेलादेः
सकाशादपरोक्षहस्तादावन्नतिवीर्षाऽवक्त्रचन्द्रुरभीवासमपृष्ठस्थविष्टशरीरस्थूलपादादि वैधर्म्यं ज्ञातं भवति, तदा
सन्निहितहस्तादेः सकाशादसन्निहितकरभादावपि चक्रातिवीर्षकृशाभीवाविकटपृष्ठकृशाशरीरवीर्षपादादिवैध-
र्म्यप्रतीतिर्भवति, तत्करणमप्यपरं प्रमाणं स्यादित्यर्थः । अत्र च शङ्किध्रमागार्थापत्त्युपयोगितायाऽपरोक्ष इत्यु-
क्तम् । एवं प्रतिबन्दी गृहीत्वा परिहारसामर्थ्यं वक्तुं तन्मुखेन तैमुद्भावयति—सेति । उद्यनेन कुसुमाञ्जला-
युक्तं चेतदित्याह—यथोदितमिति । अत्र साधर्म्यवैधर्म्यशब्दाभ्यां तज्ज्ञापकप्रमाणे विवक्ष्येते ।

१ ततश्च गवयप्रसादात् तत्सादृश्यं गविनाधिगतमिति भावः । २ उपमितिरूपं प्रमाणान्तरमिति शेषः ।

३ भावे ल्युट् । ४ परिहारमित्यर्थः ।

तदास्तां भीमांसकाभिमतोपमानापाकरणप्रपञ्चः, नैयायिकोदीरितमुपमानमपि दुर्निरूपम् । अनवगतसंगतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थप्रमितिरूपमित्स्वरूपमुपमानमिति ते वर्णयन्ति । तथाहि । नागरिकस्य यादृशी गौस्तादृशो गवय इति ध्रुतातिदेशवचसः कान्ते वस्तुतो गोसदृशं गवयमालोकयतो नूनमयमसौ गवयपदाभिधेयो यः पुरातेन गोसदृशो गवय इत्युपदिष्ट इति प्रमितिरूपजायते । नचैयमागमजा, अपरिदृष्टगवयस्यापि प्रसङ्गात् । भवत्येवाप्तवचनात्सामान्यतस्तन्निश्चय इति चेत् । मैवम् । सामान्यवः प्रतीतावपि व्यक्तिविशेषस्य तत्पदाभिधेयत्वाप्रतीतेः । अन्यथा यो यो धूमवानसावसाचमिमानित्याप्तवचनाधिगताविनाभावस्य पर्थते वह्निप्रतीतिरागमजैव स्यात् । अस्तु तर्हि प्रत्यक्षेणैव गवयशब्दवाच्यत्वाधिगतिरिति चेन्मैवम् । अश्रुतातिदेशवाक्येस्यापि प्रसङ्गात् ।

उपदेशसंस्कारसध्रीचीनं प्रत्यक्षमेव रत्नतत्त्वस्येव तदवगतविहेतुरिति चेत् । न । वाच्यत्वस्य प्रत्यक्षानवगाहत्वात् । नहि प्रत्यक्षेपि घटे घटशब्दवाच्यता प्रत्यक्षा, येन प्रकृतेषु तथा स्यात् । नाप्यनुमानतस्तदधिगतिः । गोसादृश्यस्य गवयपि संभवेन विपक्षवृत्तिः

एवं भीमांसकभिमतमुपमानं दूषयित्वा नैयायिकाभिमतमुपमानं फलविवेचनपूर्वकं दर्शयति दूषयितुम् — अनवगतेति । अनवगता संगतिः स्थायें वाच्यवाचकभावो यस्याः गवय इति संज्ञायाः सा तपोका नया समभिव्याहृतं सहोच्चारितं यद्वाक्यं यथा गौस्तथा गवय इति तस्य योऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यो गवयशब्दार्थस्तत्प्रमितित्वस्य तच्छब्दवाच्यताप्रमितिरूपमितिः । यच्च तादृशप्रमितिकरणं तरुंशास्त्रणसहायं गोसादृश्यक्षणात्स्य संश्लिन्नुसंधानात्मकं तदुपमानमित्यर्थः । अथ च शाब्दप्रमितिव्यवच्छेदार्थमनवगतेत्यादिभिर्दोषणम् । प्रत्यक्षानुमितिव्यापृच्यै वान्यार्थग्रहणम् । इममेवार्थं विरुणोति—तथाहीत्यादिना । ध्रुतातिदेशवचस इति । आरण्यकसकाशाद्यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यं ध्रुतवत् इत्यर्थः । अन कालोद्भव इत्यन्तेन करणशरीरमुक्तम् । शेषेण च फलकषणम् । ननु यथा गौस्तथा गवय इत्यारण्यकवचनान्दिय प्रमितिरूपपचतेऽतो न प्रमाणान्तरमिति, तत्राह—नचैयमिति । नैयं वचनजनिता । तथासति नगरपदसमय एवोत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः । ननु नायमितिप्रसङ्गो, यो गोसदृशोतौ गवयशब्दार्थ इति सामान्येन वाक्यार्थप्रत्ययस्य तथाप्युपपद्यमानत्वादिति शङ्कते—भवत्येवेति । न सामान्यप्रतीतिर्व्यवहारोपयोगिनी, विशेषनिष्ठत्वात्स, अतो व्यक्तिविशेषस्य शब्दवाच्यत्वमेव सुभृतिरितं, तदप्रतीतिश्च न वान्यजन्मातः रूपान्तरनिबन्धनैवेति परिहरति—मैवमिति । ननु यद्यपि तदा नोपपद्यते, तथापि ध्रुतवाच्यसामान्यव्यतिरेकपश्चादुपपद्यमानत्वादागमजन्यैवेति, तत्राह—अन्यथेति । अथवा सामान्यनिश्चयकादेव विशेषनिश्चयसंभवेनोपमानवैयर्थ्यासङ्गायामिदन्तुत्तरम् । स्यादेतत्संप्रयुक्तगवयनिष्ठं गवयशब्दवाच्यत्वं तत्रतत्सामान्यादिवरप्रत्यक्षेण किमिति न गृह्यत इति चाङ्कित्वा परिहरति—मैवमश्रुतेति ।

अतिदेशवाच्योपदेशसदृक्तप्रत्यक्षजन्यत्वं शङ्कते—उपदेशेति । विषम उपन्यासः । रत्नतत्त्वे ह्यनवविशेषो वा रूपविशेषो वा सामान्यविशेषो वा तत्रिदं प्रत्यक्षयोग्यम्, इह तु न वाच्यवाचकभावस्य प्रत्यक्षघटादावदर्शनात्, दृष्टव्यवहारलक्षणानुमानिकावसेयत्वात्तस्यैवमिदं भाव परिहरति—न वाच्यत्वस्येति । अस्तु तर्हि घटादिगतवाच्यत्ववदत्राप्यनुमानगम्यत्वमिति, तत्राह—नाप्यनुमानेति । अयमिति । न तावन्माणावक समिधमाहरेति वान्यप्रवणसमनन्तरमेव सधूमवृद्धमाणवकसमिधाहरणप्रवृत्तिवदेतत्सूत्रनसमनन्तरमसि काचित्प्रवृत्तिर्न मार्गेण गवादिशब्दानामिवानुमानादास्यापि गरये सगतिर्युज्येत । तदस्य हेतोः

१ पुंस इति शेषः । २ इह पुरुषविशेषणम् । गवयशब्दवाच्यत्वाधिगतिरिति शेषः । ३ उपदेशजन्यो दोषः । देशवाच्यार्थविषयकः संस्कारस्तःसदृक्तमित्यर्थः । ४ तदपदार्थो व्यवहारः ।

त्वान् । नार्थापत्तिः, अनुमानाव्यतिरेकादिति चेन्मैवम् । अनुमानतस्तथात्वप्रतीत्युपपत्तेः । तथाहि—‘वाचको गवयस्यायं तत्र वृत्त्यन्तरेऽसति । वृद्धैः प्रयुज्यमानत्वाद्गोत्वे गौरिति गौरिव’ ॥ ३१ ॥ यो यत्रासति वृत्त्यन्तरे वृद्धैः प्रयुज्यते स तस्य वाचको, यथा गो-शब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चायमसति वृत्त्यन्तरे गवयशब्दः पुरोवर्तिनि, तस्मात्तस्य वा-चक इत्यनुमानादेव संबन्धाधिगतिसिद्धेः । न च विशेषणासिद्धो हेतुः । श्लक्ष्णमानगो-सादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्तेः, अप्रतीतग्नूनामारण्यकानां गोसादृश्या-नधिगतौ गवय इति व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । गवयत्वस्यापि निमित्तत्वाददोष इति चेत् । मैवम् । अप्रतीतगोपदार्थस्य गवयत्वं निमित्तं प्रतीतगोस्तु तत्सादृश्यं निमित्तमित्युभ-यत्र शक्तिकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात् । गोविशेषितसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वे गवि तत्सादृश्ये च शक्तिः कल्पनीयेत्यपि गौरवं स्यात् । अन्यथोपमानस्य मानान्तर-त्वेऽपि गवयशब्दस्य गोसादृश्यस्य निमित्तताशङ्कायाः दुष्परिहरत्वात् गवयत्वं निमि-

अप्रवर्तकत्वात्, तदिहैतावद्वशिष्यते, विमतः पुरोवर्तिपिण्डो गवयशब्दवाच्यः गोसादृशत्वात् यदेवं न तदेवं यथा वरभावीति व्यतिरेक्यनुमानादधिगतिरिति । तच्च न संभवति । गवान्तरेऽपि गवयशब्दावाच्ये गोसादृशत्वेतोर्वर्तनेन विद्वत्त्वादिति । अनुमानाव्यतिरेकादिति । तन्निरसनेन निरासादिति भावः । एवं समर्थितं नैयायिकोपमानलक्षणं द्रूपयति—मैवमनुमानत इति । अनुमानमेव श्लेकेन संगृह्णाति—वा-चक इति । तत्र वृत्त्यन्तरेऽसतीति । गोसादृशपदार्थं लक्षणागुणवृत्त्योरसंभवे सति तत्र प्रयुज्यमान-त्वादित्यर्थः । निमित्तान्तरेण वृत्तिर्वा वृत्त्यन्तरम्, इदं च गज्ञायां घोषः प्रतिवसतीति सिद्धो बलवन्मैलादिपु लक्षणागुणवृत्तिभ्यामेवावाच्येभ्यमपि स्तीरादिषु प्रयुज्यमानगवादिपदार्थमिचारापरिहाराय विशेषणम् । संग्रहं विवृणोति—यो यत्रेति । ननु विशेषणासिद्धो हेतुः, असति वृत्त्यन्तरे इत्यस्य दुर्ज्ञानत्वादिति, तत्राह— नच विशेषणेति । अत्र तावद्वलक्षणावृत्तिर्न शङ्कामप्यधिरोहति, तदा हि गोसादृश्यवाचकस्य सतो गवयत्वे तदविनाभूते लक्षणया प्रयोग इति शङ्कितव्यं, तच्च न संभवति, अदृष्टगोपदार्थानामारण्यकनिवासिनां गोसादृ-श्यानधिगमे गवयपदाप्रयोगप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीयर्थोजनानां तु सुगमम् । ननु किमित्यप्रयोगः, यावता गवयत्वमपि प्रवृत्तिनिमित्तं, तच्च तैरप्यधिगतमिति शङ्कते—गवयत्वस्यापीति । अत्र किमुभयं मिलित्वा निमित्तं किं वा प्रलेकम् । नायः । पूर्वोचदोषानतिरुतेः । द्वितीये लन्त्यायश्चानेकार्थ इति मीमांसकमुद्रा-भङ्गः कल्पनागौरवं च बाधके स्यातामित्याह—मैवमित्यादिना । गौरवान्तरं चाह—गोविशेषि-तेति । न सादृश्यमात्रं गवयशब्दात्वेन शङ्कतेऽपि तु गोसादृश्यं, तथाच विशेषणस्यापि निमित्तत्वप्रस-क्तिरिति भावः । किंचोपमानं पृथक्प्रमाणमिच्छतोऽपि गवयत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं, न गोसादृश्यम्, इतरथा शा-ब्दत्वप्रसङ्गात् । यथाहोदयनः—‘सादृश्यस्यानिमित्तत्वाच्चिमित्तत्वाप्रतीतितः । समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानु-मयापि वे’ति । टीकाकृतापि ‘किंतु गवयत्वं निमित्तीकृत्य पिण्डे प्रवर्तत इति परमार्थ’ इति । तत्र च तवा-प्येता युक्तयः शरणमिति न ह्या प्रति विशेषणासिद्धिरित्याह—अन्यथोपमानस्येत्यादिना । एतेन “संबन्धस्य परिच्छेदं संज्ञायाः संज्ञिना सह । प्रत्यक्षादेरसाभ्यात्प्रादुर्भूतफलं विदुः”रित्युदयनीयः प्रयासोऽपह-सितः । तदुक्तं तत्त्वकौमुदीकृता—‘यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः,

१ वाच्यत्वेनेति शेषः । २ गौरवसत्त्वेऽपि उपमानत्वानुमानान्तर्भावपक्षे गोसादृश्ये शक्तिस्वीकारे श्लेषोऽन्य-थेलस्य । ३ पञ्चम्यन्तं प्रयुज्यमानविशेषणम् । ४ निमित्तान्तरेण वृत्तिवृत्त्यन्तरमिति द्वितीयेत्यर्थः । ५ गोसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वाभावाद् गवयत्वस्य च प्रवृत्तिनिमित्तस्य प्रतीतत्वात्वादिति पूर्वद्वयार्थः । उच्यतेऽतएव च उपमानं विनेति शेषः ।

चीकृत्य गवयशब्दोऽत्र प्रवृत्त इत्युपमानादपि निर्धारणा न सिद्ध्येत् । किंचानवगतसंग-
तित्वविशेषणं व्यर्थम् । अभ्युपगतप्रमाणसंज्ञववादिनः प्रत्यक्षाधिगतेपि पुनः प्रत्यक्षवदनु-
मितेऽप्यनुमानवधोपमितेपि पुनरुपमानप्रवृत्त्युपपत्तेः । अपि 'चेह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि
मधुकरः पिवती'त्यत्राप्रसिद्धमधुकरपदार्थस्य प्रसिद्धेतरपदार्थस्य च प्रसिद्धपदसमभिव्या-
हारात्मधुकरशब्दार्थप्रतीतिवद्वयशब्दार्थप्रतीतिः किं न स्यात् । नच सर्वत्र समभिव्या-
हारादधिगतिरुपमितिः, तत्करणस्य सादृश्यज्ञानस्य तत्राभावात् । असत्यपि च सादृश्य-
ज्ञाने सज्ञासंज्ञिसंध्यप्रतिपत्तिरेवोपमितिरित्याधुनिकमतानुप्रवेशे सूत्रवार्तिकप्रसिद्धसि-
द्धान्तविरुद्धाभ्युपगमो वञ्जलेपायते । तथाच भगवदक्षपादप्रणीतं सूत्रं 'प्रसिद्धसाध-
र्म्यात्साध्यसाधनमुपमान'मिति । व्याख्यातं चैतदुद्ध्योतकरेण वार्तिककृता—'आगमा
हितसंस्काररमृत्युपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानमि'ति । अथावैधीरितापसिद्धान्तप्रसङ्गमीते-
रियं पृथिवीशब्दवाच्या गन्धवत्त्वाद्यन्नैवं तन्नैवमित्यादि केवलव्यतिरेक्यनुमानमपि स-
ज्ञासंज्ञिसंध्यप्रतिपत्तिफलमुपमानमापद्येतेत्यलमतिविस्तरेण ।

शाब्दप्रमाणमपि दुर्निरूपम् । तथाहि 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञान'मिति

यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैप गवयशब्दो गोसदृश इति तस्यैव वाचक इति ज्ञानमनुमानमेवेति ।
अव्याप्तिं चाह—किंचानवगतेति । प्रमाणसङ्गवान्दोनुमितेनुमानप्रवृत्तिवदुपमितेऽप्युपमानप्रवृत्तिसम-
वात्तस्मिन्धानवगत इति विशेषणाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । किंचेदमनवगतसंगतिसज्ञासमभिव्याहृतवाक्यमसि-
मत कि सादृश्यबोधक कि वा वैसादृश्यबोधकमपि कि वा व्युत्पत्त्यौपाधिकधर्ममात्रबोधकम् । नाथ ।
वैसादृश्यप्रतीतिकर्णकेऽव्याप्ते । अथ द्वितीयस्तत्राह—अपिचेह प्रभिन्नेति । विद्यतोयमर्थं कार्यवादे,
सम्भवति मधुपानकर्तरी भृङ्गे मधुकरपदव्युत्पत्तिवद्गोसादृश्यवति गवयपदव्युत्पत्ति कल्पनालाघवादिना च
मधुकररववद्वयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तता चातोतिव्योप्तिरिति भावः । तृतीयं दूषयति—नच सर्वत्रेति ।
ननु केनोक्त सादृश्यज्ञानमुपमितिरिति, यावता सज्ञासंज्ञिसन्धप्रमितिरुपमितिसात्करणं चोपमानमिति नवी-
नैरुच्यते । आह ह्युदयन—'सबन्धस्य परिच्छेद'मिति । टीकाकारोपि 'साधर्म्यग्रहणं च धर्ममात्रोपलक्षण-
मिति करभसज्ञाप्रतीतिफलमप्युपमानमेवेति नाव्याप्तिरिति तत्राह—असत्यपीति । सूत्र दर्शयति—
तथाचेति । प्रसिद्धेन गवा गवयस्य साधर्म्यात्साध्यस्य प्रज्ञापनीयस्य गवयशब्दवाच्यत्वस्य ज्ञापनमुपमान-
मिति सूत्रार्थः । वार्तिकं दर्शयति—व्याख्यातं चैतदिति । आगमोऽतिदेशवाक्यम् । ननु प्रामाणिक-
नाभ्युपगतोर्थं सिद्धान्तो नाम, प्रामाणिकश्चायमस्त्वपक्ष, सूत्रादीनि तु एतदनुसारेणोपलक्षणतया व्याख्या-
यानि, तथाच यथा सुदृक्त्वम् तथा सुदूषणोऽप्युपमानस्य सादृश्य विषयमभिधायैवमन्योऽप्युपमानस्य विषयो
लोके बुभुत्सितव्य इति भाष्यकारेण विषयान्तरेऽप्युपमानाभ्यनुज्ञानात् धिक् करभमतिदीर्घवक्त्रोव प्रमत्तो
फठोरकण्ठकाग्निं कुत्सितावयवसनिवेशमपसद पशुनामिति वाक्यश्रवणसमनन्तरं तथाभूते द्विरदादिसमस्तु
विसदृशे करभपदार्थे वैधर्म्यात्करभशब्दवाच्यत्वप्रतीतिमप्युपमानत्वेनैवोवाचाचार्यावचस्पतिरुपमानविनोदे इति
मन्वान प्रति सर्वलक्षणवाक्येषु केवलव्यतिरेकितया प्रसिद्धेऽतिव्याप्तिरित्याह—अवधीरितेत्यादिना ।

कमप्राप्त शब्दप्रमाणं स्रष्टयति—शाब्देति । तत्र शबरस्वामिसमत लक्षणमुद्गावयति—तथाहीति ।
ननु परार्थानुमानेऽतिव्यापकमिदं लक्षणं, तस्यापि पञ्चावयवात्मकवाक्यजनिताद्विज्ञानादसन्निकृष्टे प्रमाणान्त-

१ आगमेन अनितो योऽतिदेशवाक्यार्थविषयक सरकारस्त्वजनितादिसदृशबलुरसृष्टिसापेक्ष सादृश्यज्ञानमि-
त्यर्थः । २ मीलन्त पुरुषविशेषणम् । ३ व्युत्पत्ती शक्तिग्रहे औपाधिको उपाधिभूता ये धर्मास्तमात्रबोधकम् ।
मात्रपद कारुण्ये । ४ उपमिति ज्ञाने इति शेषः । ५ अनवगतसंगतिसंगत्यादिलक्षणस्येति भावः ।

मीमांसकाः । शब्दविषयं विज्ञानं शब्दविज्ञानं तस्मादसन्निकृष्टेऽर्थे श्रोतुरनधिगतेऽवाधिते च विषये यद्विज्ञानं तच्छब्दप्रमाणमिति यावत् । उक्तं हि वार्तिककारैः—‘असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् । तद्द्रूप्येण गृहीतत्वं तद्विपर्ययतोऽपि वे’ति ।

यद्वा शब्दाज्जनितं पदार्थविषयं यद्विज्ञानं तस्मादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दमिति । तदयुक्तम् । शब्दलिङ्गकवकृविशेषानुमानेऽतिव्याप्तेः । भवति हि बहिष्टस्याध्ययनध्वनिश्रवणाद्भवनान्तर्वर्तिपुरुषविशेषानुमानम् । द्वितीयेऽपि धूमादिपदात्तदर्थविज्ञाने धूमध्वजादौ जायमानानुमानादावतिव्याप्तिः । लिङ्गाद्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, तर्हि तावदेवास्तु लक्षणं किमनेन शब्दविज्ञानादित्यादिना विशेषणेन कण्ठशोषकरणे । कश्चायं शब्दो नाम यद्विज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः । न तावत्पदम् । पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकात्

रेणानधिगतेऽर्थे लिङ्गिनि बुद्धिरूपत्वादितीमामाशङ्कां परिहरन्भाष्यं व्याचष्टे—शब्दविषयं विज्ञानमित्यादिना । नात्र शब्दजनितविज्ञानमिति विवक्षितम्, अपितु शब्दविषयं विज्ञानं तेन नातिव्याप्तिरिति भावः । असन्निकृष्टपदं व्याचष्टे—श्रोतरिति । प्रमाणान्तरेण तथा वाऽतथावानधिगत इत्यर्थः । अत्रैव वार्तिकसमतिमाह—उक्तं हीति । अर्थग्रहणं चार्थोत्पत्तेश्चो वार्थोपेक्षितस्वभावो वा शब्द इति वदतां बौद्धानां मतनिरासार्थम् । एवं हि वर्णयन्ति । अद्भुत्येभ्ये हस्त्रियूथशतमास इति वचसोऽर्थ एव नास्ति । नयास्तीरे पत्रफलानि सन्तीत्यादिवाक्यानां कदाचिदर्थवता कदाचिन्नेत्यर्थासत्पत्तोऽर्थापेक्षितस्वभावो वा शब्दः । तस्मान्नार्थप्रमाणं, किन्तु वक्तुरभिप्राये, तत्रापि न शब्दतया, किन्तु तैत्कार्यतया तदनुमापकः । यथाह कीर्ति—‘नान्तरीयकताऽभावात् शब्दानां वस्तुभिः सह । नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्रभिप्रायसूचका’ इति । तन्निरासार्थमर्थग्रहणम् । निरासप्रकारश्चात्र एव विवक्षया प्रामाण्यं निराकुर्वता स्वयमेवाचार्येण दर्शयिष्यते ।

एवमन्वितैर्भिधानाभिहितान्वयसाधारण्येन भाष्यं योजितम्, इदानीमभिहितान्वयानुसारेण योजयति—यद्वेति । पदात्पदार्थस्मरणस्य शब्दाभासस्य च निवृत्त्यर्थमसन्निकृष्टावाधितेति विशेषणद्वयम् । प्रत्यक्षानुमानादिव्यावृत्तौ शब्दविज्ञानादिति । तत्र प्रथमं दूषयति—तदयुक्तमिति । शब्दादेव लिङ्गादस्तु विशेषेऽनुमानं जायते, तदपि हि शब्दज्ञानादसन्निकृष्टार्थे बुद्धिर्भवतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । एतदेव विवृणोति—भवति हीति । तदुक्तं विशेषतोऽदृष्टविशेषानुमानं दर्शयता वार्तिककारेण ‘स्वपुत्रायनुमानं यद्गृह्णाभ्यन्तरगोचरम् । वेदस्वरविशेषेण बहिष्टस्येह लक्ष्यत’ इति । द्वितीययोजनायामप्यतिव्याप्तिमाह—द्वितीयेऽपीति । धूमादिशब्दप्रतीतधूमादिलिङ्गादनुमानमभ्यादिषु जायते तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । तर्हि तावदेवेति । लिङ्गाद्यजन्यत्वमित्यनेन शब्दव्यतिरिक्तप्रमाणजतं व्याख्यते । प्रमितिशब्देन चाप्रमितिजातं, लिङ्गाद्यजन्यं प्रमाणं शास्त्रमित्येवास्तु, द्युतेतरदित्यर्थः । इदानीमवयवशो विचार्यमाणमपि विशीर्यत एवेदं लक्षणमित्यसिधायमाह—कश्चायमिति । ननु शाब्दप्रमाणविचारावसरे किमिति शब्दजिज्ञासेति प्रकृतानुयोगिशङ्का वारयति—यद्विज्ञानादिति । शास्त्रप्रमाणत्वेन च विवक्षितमिति शेषः । किं पदं किं वा वाच्यं शब्दत्वेन विवक्षितम् । नाय इत्याह—न तावदिति । पदं स्मारकात् विशिष्यते, कृतं, अभ्यधिकाभावाद्युत्पत्तिसमगृहीतादयोऽभ्यधिकार्थबुद्धेः पदेभ्योऽभावात्, इतरथाऽगृहीतसगतिकस्यापि बोधकत्वप्रसङ्गादिति वार्तिकार्थः ।

१ इदमन्वितविधानान्वयि । २ उच्यते न यथाक्रममनधिगतत्ववाचित्वयोर्लभः । ३ इदं बुद्धयन्वयि । ४ प्रमाकरणत्वमित्यर्थः । ५ शब्दस्य वक्रभिप्रायकार्यतया शब्दो वक्रभिप्रायानुमापक इत्यर्थः । ६ अर्थैः सहशब्दानां नान्तरीयकताया अभावात् शब्देभ्यः स्वतन्त्राऽर्थप्रमा न ततस्ते शब्दा वक्रभिप्रायानुमापकास्तरापर्यत्वेनेति योजना । ७ अन्विते शक्तिरिति मीमांसकानामभिपत्ताभिपानम् । आकाङ्क्षाभासः संसर्ग इति नैयायिकानामभिहितान्वयः ।

विशिष्यत इति स्वयमेव तस्यासन्निकृष्टार्थविज्ञानजनकत्वानभ्युपगमात् । नापि वाक्यम् । तस्यानिरुक्तेः । तथाहि किं पदसमुदायमात्रं वाक्यमुत्तैकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नः पदसमुदाय उताकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि । नाद्यः । गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादेरपि वाक्यत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । अर्थस्यैकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानामनिरुक्तेः । तत्रैकत्वनाम किमेकत्वसंख्यावत्त्वमुताभेदः किं वा स्वरूपमेव । नाद्यः । गौरश्वः पुरुष इत्यादेरप्येकत्वसंख्याविशिष्टतया तद्वाचकपदसमुदायस्यापि वाक्यत्वप्रसङ्गात्, एकत्वादिसंख्यावत्तिपादकवाक्याव्यापनाद्य । नह्येकत्वद्वित्वादायेकत्वसंख्यान्तरमस्ति येन तत्प्रतिपादकपदसमूहो वाक्यं स्यात् । न द्वितीयतृतीयौ । गौरश्वः पुरुष इत्यादावभेदस्वरूपयोर्भावात् । विषयविषयिभावस्य च पूर्वमेव निरस्तत्वात् । किंचेदमवच्छिन्नत्वं विशिष्टत्वमिति चेत्, तदेव किं विशेषणेन संबद्धत्वमिति चेत्, संबद्धत्वमित्यत्रापि संबन्धेन विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता । विशेषणव्यावृत्तसंबन्धाधारत्वोक्तौ को दोष इति चेत्, व्यावृत्तशब्देन विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता प्रथमः । विशेषणविशेष्ययोः प्रत्येकं विशिष्टत्वापत्तिः द्वितीयः । संबन्धस्य च विशिष्टत्वाभावः तृतीयः, तस्य संबन्धान्तराभावात्, भावे वानवस्था ।

किंच विशेषणविशेष्यतत्संबन्धेभ्यो विशिष्टं भिन्नमभिन्नं वा । नाद्यः । अनुपलम्भपराहृतत्वात्, दण्डिनमानयेत्युक्तेन्यस्यैवानयनप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः । त्रयाणामपि प्रत्येकं विशिष्टत्वात् । दण्डादीनामन्यतमानयने दण्डी समानीत इति व्यवहारप्रसङ्गात् ।

द्वितीय दूषयति—नापीति । तत्र वाक्यलक्षण विकल्पयति—किं पदेत्यादिना । प्रथमेऽतिव्याप्तिमाह—गौरश्व इति । अर्थस्यैकत्वेति । एकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नत्वमित्यत्र यदिदमर्थस्यैक्यं, यत्र तादृगर्थप्रतिपादकत्वविवरणलब्धतादृगर्थविषयप्रतिपत्तिजनकत्वान्तर्गतविषयत्व, यच्चैवंविधधर्मेणावच्छिन्नत्व, तदेतन्नित्यदुर्निरूपमित्यर्थः । एकत्वसंख्यावदर्थप्रतिपादकत्वमित्याद्य पक्ष दूषयति—गौरश्व इति । तेषामपि पदानां प्रत्येकमेकत्वसंख्यावच्छिन्नत्वादित्यर्थः । अव्याप्तिमेव विवृणोति—नह्येकत्वेति । द्वितीयतृतीययोरेपि प्रथमपक्षोक्तमतिव्याप्तिमाह—न द्वितीयतृतीयाविति । एवमेकत्व खण्डयित्वा विषयविषयित्वे प्रथमिध्यात्ववादीकृत्वाण्डन सारयति—विषयेति । अवच्छिन्नत्व खण्डयति—किंचेदमिति । विशिष्टनिर्वचि पूर्ववादी—विशेषणेनेति । किमिदं विशेषणसंबद्धत्व किं विशेषणसंबन्धविशिष्टत्वं किं वा तत्संबन्धाधारत्वम् । आद्ये प्राह—संबद्धत्वमिति । द्वितीय शङ्कते—विशेषणव्यावृत्तेति । तत्र दोषत्रयथाक्रममाह—व्यावृत्तेति । विशेषणव्यावृत्तेत्यत्र व्यावृत्तत्वं विशिष्टत्वमिति वक्तव्यं, तथावात्माश्रयद्वितीय चाह—विशेषणेनेति । यदि हि विशेषणसंबन्धाधारो विशिष्ट, तदा विशेषणमपि विशिष्टं स्यात्, विशेषणविशेष्यसंबन्धस्य द्विष्टत्वेन विशेषणस्यापि तदाश्रयत्वादित्यर्थः । तृतीय दूषणमाह—संबन्धस्येति । संबन्धाधारत्वं च यद्यपि विशिष्टत्वाद्विशेषणविशेष्यसयोगस्य सम्भवति, तथापि समवायस्य तत्र सम्भवति स्वाश्रयत्वाभावात्, अन्यत्वे चानवस्थानात् । अस्त्येव तस्यापि विशिष्टत्वं रूपसमवायो रससमवाय इत्यतोऽप्यतिरिक्त्यर्थः ।

इदानीं विशिष्टस्वरूपमपि दुर्निरूपमित्याह—किंचेति । न केवलमनुपलम्भ, व्यवहारविरोधस्य स्मरित्याह—दण्डिनमिति । द्वितीयेपि किं नितयमपि यथायथ विशिष्टमुत मिलितम् । आद्ये प्राह—त्रयाणामपीति । द्वितीयेपि किं मिलितमिति तदेवामिधीयते किं वा तदन्यत् । प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम् । अत्र

किंचेदं विशेषणं नाम यद्विशेषितं तच्चान्तरं स्यात्, व्यावर्तकमिति चेत्किं व्यावृत्तेर्भेदस्य जनकमुत तत्प्रतीतेः । नाद्यः । असंभवात् । नहि कठोरकुठारधारया तरोरिव देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विधीयते द्वैधीभावः । नापि द्वितीयः । नयनादेरपि भेदप्रतीतिजनकस्य विशेषणत्वप्रसङ्गात् । तदपि क्वचित्कस्यचिद्भवत्येव विशेषणमिति चेद्धन्त तर्हि वस्तुमात्रमित्येव विशेषणलक्षणमस्त्वलमनया ग्रन्थकथाकन्धया । अस्तु तर्हि विषयीक्रियमाणतया यद्वावृत्तिबुद्धिजनकं तद्विशेषणलक्षणमिति चेत् । मैवम् । विशेष्येपि प्रसङ्गात् । तदन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेन्न । उपलक्षणेपि प्रसङ्गात् । विशेषणसिद्धौ तदुपजीविनो विशेष्यस्य सिद्धिस्ततश्च ततोऽन्यत्वेन विशेषणसिद्धिरिति परस्परश्रयता एतेन 'स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषण'मिति भट्टपादीयमपि लक्षणं परास्तम् । परस्परश्रयताया दर्शितत्वात् ।

यत्पुनरुदयनेनोदीरितं—'सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानं विशेषणं, व्यधिकरणतया प्रतीयमानमुपलक्षण'मिति । तदप्यसत् । विकल्पासहत्वात् । किमार्थिकं सामानाधिकरण्यं विवक्षितमुत शाब्दम् । नाद्यः । असंभवात् । नह्यस्ति दण्डदेवदत्तयोः शौक्यपटयोश्चैकाधिकरण्यम् । तयोः प्रतिनियताधिकरणत्वात् । दण्डत्वदेवदत्तत्वयोरैकाधिकरण्यम् ।

रिक्तपक्षे त्वनुपलम्भपराहतिः । इदानीं विशेषणानिरूपणादपि तत्संयन्धविशिष्टमित्यनुपपन्नमित्याह—किंचेदमिति । व्यावर्तकत्वमित्यत्र कृतः किं व्यावृत्तिजनकत्वमर्थः किं वा प्रत्यायकत्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—नाद्य इति । असंभवमेव विवृणोति—नहि कठोरेति । यथा हि घोरकुठारधारया वृक्षस्य द्वैधीभावः क्रियते न तथा देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विष्णुमित्राद्भेदः क्रियते तत्पूर्वमभेदप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीये नयनादावतिव्याप्तिस्तस्यापि व्यावृत्तिज्ञापकत्वादित्याह—नापि द्वितीय इति । नेयनतिव्याप्तिः, तस्यापि चाधुपं रूपं रसनाप्राप्तो रस इत्यादिव्यवहारविशेषणतया लक्ष्यत्वादिति शङ्कते—तदपीति । उत्तरो निगदव्याख्यातः । विशेषणलक्षणान्तरं शङ्कते—अस्तु तर्हीति । येन व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषणेन जन्यते तथा विषयीक्रियमाणं स्याद्वृत्तिबुद्धिजनकं यत्तद्विशेषणं, तथाच न चक्षुरादावतिव्याप्तिः । नहि घटः पटाव्यावृत्त इति बुद्धेश्चक्षुरादिविषयीभवतीत्यभिप्रायः । अस्यातिव्याप्तिमाह—मैवमिति । नीलमुत्पलमित्यादौ नैत्यविशिष्टमुत्पलाद्यपि तद्बुद्धिविषय एव, तज्जनकं च, प्रत्यक्षप्रतीतित्वात्, अतस्तस्यापि विशेषणत्वं स्यादित्यर्थः । उपलक्षणेपीति । अस्ति हि मयूराधिकरणं श्रीमृन्दरदेवमन्दिरमित्यत्र मयूरस्यापि तद्बुद्धिविषयतया तज्जनकत्वमित्यातिव्याप्तिरित्यर्थः । अथ नियमेन विषयीक्रियमाणतया तज्जनकं विशेषणं, न तदुपलक्षणस्यास्ति भवतोऽप्युपलक्षणतया तत्र तैसांसंभवादिति ब्रूयात् प्रति दूषणान्तरमाह—विशेषणेति । विशेष्यादन्यत्वे सत्युक्तविधं विशेषणमिति हि लक्षणमभिधीयते, नचैतद्युक्तम् । परस्परश्रयतापातात् । यद्धर्मविशिष्टं गृह्णाति तदिति वा विशेषणव्यावर्त्यमिति वा विशेष्यलक्षणम् । आद्ये परस्परश्रयः, विशिष्टत्वस्याद्याप्यसिद्धेः । द्वितीयेपि परस्परश्रय एव, विशेषणस्याद्याप्यसिद्धेरिति भावः । उक्तं परस्परश्रयं लक्षणान्तरेप्यतिदिशति—एतेनेति । विशेष्यं येन पदार्थेन स्वबुद्ध्या रज्यते स रज्जको विशेषणम् । नह्युपलक्षणस्योपलक्षकत्वमस्ति तदस्थत्वादिति निष्कर्षार्थः । अस्यापि विशेष्यगर्भत्वात्पूर्वबन्धोन्वयाश्रयत्वमित्याह—परस्परैति ।

विशेषणोपलक्षणयोस्तात्पर्यपरिच्छेदाद्युदयनेनोक्तं भेदमनूय निरावष्टे—यत्पुनरिति । सामानाधिकरण्येनेति । जटी तापस इतिवदित्यर्थः । विशेषणविशेष्ययोरैकाधिकरण्यत्वरूपसामानाधिकरण्यमसिद्धमित्याह—नाद्योऽसंभवादिति । तदेव विवृणोति—नह्यस्तीति । प्रतिनियतेति । दण्डस्य पुरुषाधि-

१ प्रत्ययस्येति शेषः । २ अविद्यमानत्वेत्यर्थः । ३ नहि श्रीमृन्दरदेवमन्दिरविषयकज्ञानविषयत्वं नियमेन मयूर-

स्याऽस्ति । मयूरश्रीमृन्दरदेवावभावप्युपलक्षणम् । ४ धर्मविशिष्टं यद्वस्तु गृह्णाति जानाति कर्ता तद्विशेष्यम् ।

मस्ति, दण्डिन एव देवदत्तत्वादिति चेत्, तर्हि तयोरेवास्तु विशेषणविशेष्यभावो नतु दण्ड-
 देवदत्तयोः । नहि दण्ड एव दण्डी । न द्वितीयः । तदिकमेकविभक्तिकानेकपदाभिधे-
 यत्वमुत भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः । न प्रथमः । असंभवादेव ।
 नहि विशेषणविशेष्यभावेन प्रसिद्धयोर्दण्डदेवदत्तयोर्दण्डो देवदत्त इत्येकविभक्तिकानेक-
 पदाभिधेयत्वमस्ति । नापि चरमः । दण्डीदेवदत्त इत्यत्रैवादर्शनात् । नहि यथा शुक्रः
 पट इति शुक्रगुणं पटत्वं च निमित्तीकृत्य पदद्वयं पटे प्रवृत्तं तथा दण्डित्वं दण्डं वा
 निमित्तीकृत्य दण्डपदं देवदत्ते प्रवृत्तं येन समानाधिकरणता स्यात् । दण्डित्वं निमित्ती-
 कृत्य दण्डशब्दो देवदत्ते प्रवृत्त इति चैत्रवर्ततां नाम, नतु तद्विशेषणम् । दण्डविशिष्ट-
 रूपत्वात्तस्य । किंच जटी तापसो जटाभिस्तापस इति वैकल्पिकप्रतिभासमात्रेण विशेष-
 णोपलक्षणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणः “सर्व एवायं मानमेयादिव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्म्या-
 दिभावेन, न बहिःसदसत्त्वमपेक्षत” इति सौगतमतानुप्रवेशमात्मनस्तार्किकंमन्यो नालोच-
 यते । एतेन संबद्धमेव व्याकर्तकं विशेषणमसंबद्धमपि व्यावर्तकमुपलक्षणमित्यपि परास्ताम् ।

अस्तु वा भवदिच्छया यत्किं वनावच्छेदकमवच्छिन्नं च, तथापि किं तत्पदमिति वि-
 वेचनीयं, यत्समुदायो वाक्यम् । ननु प्रसिद्धिसिद्धमेव सुप्तिष्ठन्तं पदमिति किमिह विवे-

करणत्वात्पुरुषस्य भूतलाधिकरणत्वादेवं शौक्ल्यस्य पटाधिकरणत्वात्पटस्य च तन्त्वधिकरणत्वादिति निवृ-
 धिकरणत्वादित्यर्थः । यद्यपि दण्डदेवदत्तयोर्नैकाधिकरण्यं, तथापि दण्डित्वदेवदत्तयोरस्त्यैकाधिकरण्यमिति
 शकित्वा परिहरति—तर्हीति । दण्डदेवदत्तयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रसिद्धः लोके, नतु दण्डित्वदेवदत्तयो-
 योरतस्तयोः सामानाधिकरण्यमनुपयोगीत्यर्थः । अथ धर्मद्वारा धर्मिणोरपि मतिः, तदापि दण्डित्वदेवदत्तयोरेव
 नतु दण्डदेवदत्तयोः, दण्डित्वस्य दण्डधर्मत्वात्, दण्डस्य च दण्डित्वाभावादित्याह—नहि दण्ड एव
 दण्डीति । एवं विशेषणविशेष्ययोरार्थं सामानाधिकरण्यमिति पक्षं दूषयित्वा शब्दमिति पक्षं दूषयति—
 न द्वितीय इति । एकस्मिन्नर्थे वृत्तिः पर्यवसानम् । असंभवमेवाह—नहीति । तथासति दण्डो देवदत्त-
 नैत्यमुपलमिति प्रयोगः स्यात्, न चैतदस्तीत्यर्थः । द्वितीयेऽव्याप्तिमाह—दण्डी देवदत्त इति । विशेषण-
 भूतदण्डवाची दण्डशब्दो न देवदत्तपदेन समानाधिकरणः । यथं दण्डिशब्दः समानाधिकरणः नास्तीति दण्ड-
 वाचक इत्यर्थः । एतदेव पर्यनुयोगपरिहाराभ्यां विशदयति—दण्डित्वमित्यादिना । किंच सामाना-
 करण्येन प्रतीयमानत्वं वैयधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं चेति शोथं विशेषो विशेषणोपलक्षणयोः स तावत्पर्य-
 प्रतीतिमात्रवैचित्र्यः स्यात्, सर्वस्यापि विशेषणोपलक्षणान्तर्गत्वात्, तथाच बुद्धिवैचित्र्यमेवावैचित्र्यं ननु
 सदतिरिक्तमिति योगाचारमते निपात इत्याह—किंच जटीत्यादिना । उपलक्षणं सङ्गान्तरेऽपि-
 दिशति—पतेनेति । व्यावर्तकत्वानिरुक्तेरित्यर्थः । अत्र चैवकार उपलक्षणव्यावर्तकः । अपित्त्वमिति-
 व्यावर्तकः ।

एवमवच्छिन्नत्वं दूषयित्वा पदसमुदाय इत्यत्र पदपदार्थं दूषयति—अस्तुवेति । अनवधारणात् मित्त्वं
 —यत्समुदाय इति । पाणिनीयं पदलक्षणमुदाहरयति—नन्विति । तत्र ‘सोऽत्रतमोदृष्टपदाभ्यन्तरे-
 भ्याभ्यस्त्वभ्याभ्यस्त्वोऽस्योऽस्य’ इति सूत्रोक्तसप्तमिभक्त्यामकेकविंशतिवचनानां प्रत्याहारत्वात् ननु
 निर्देशः । तिष्ठति च ‘विभक्तिसिद्धिप्यस्यमित्यस्मात्तासयायावा’ इति बुद्धिमहिम्निःसिद्धोपलक्षणत्वात् इति

चनीयमिति चेन्नैवम् । एकैकस्य मिलितस्य वा लक्षणत्वे सुबन्तेपि तिङन्तस्य तिङन्तेपि सुबन्तस्योभयोरुभयत्र चाव्याप्तेः । उभयान्यतरदितिचेत्र । अन्यतरशब्देनैकैकस्य मिलितस्य वामिधाने पूर्वदोषानुपह्नात् । उभयान्यान्यदिति चेत्र । उभयशब्देनोभयत्वसंख्याविशिष्टत्वविवक्षायामन्यशब्देन चान्यत्राधिकरणत्वविवक्षायामुभयोरपि तत्संभवेन पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । अपि च सुप्तिङन्तं पदमिति यत्र सुप्तिङौ स्तत्पदं, यत्र वा तौ विधित्सितौ तत्पदम् । नाद्यः । विभक्तिसत्त्वस्य विशेषणत्वेऽव्ययानां लुपविभक्तिकानामपदत्वप्रसङ्गात् । उपलक्षणत्वे च प्रातिपदिकस्यापि पदत्वं, भाविनापि विनाशेन विनाशी घट इतिवद्भाविनापि विभक्तिसत्त्वेनोपलक्षितत्वोपपत्तेः । अत एव न द्वितीयः । एतेन विभक्त्यन्ता वर्णाः पदमित्यपि निरस्तम् ।

ननु शाब्दप्रतीत्यजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं पदमिति लक्षणं, अत्र च शाब्दप्रतीतिजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वाक्यं प्रथमविशेषणेन व्यावर्त्यते, द्वितीयेन च प्रत्यक्षानुमानाद्भावतिव्याप्तिर्व्युद्स्यते, वर्णात्मकत्वविशेषणेन चादृष्टेधरादि । तदिहाधुनिकलक्षणे न कोपि दोष इति चेन्नैवम् । विकल्पासहत्वात्, तर्कि शब्दशब्देन पदं विवक्षितमुत वा-

दंशः । एतद्विभक्तिवर्गद्वयान्तं शब्दरूपं पदमित्यर्थः । तदेतद्वृत्तयति—मैवमिति । किमेतत्पदमानलक्षणं किं वा तद्विशेषलक्षणम् । नान्यः । पदमात्रलक्षणस्य पृष्टत्वात्सामान्यलक्षणासिद्धौ विशेषासिद्धेः । प्रथमेत्वव्याप्तिरेकैकस्य लक्षणत्वे सुबन्तलस्य तिङन्तेऽभावात्तिङन्तत्वस्य च सुबन्तेऽभावात् । मिलितस्य लक्षणत्वे चोभयान्वाप्तिरेकैकस्योभयान्तत्वाभावादित्यर्थः । अनुगतत्वरूपसिद्धौ शब्दत्वे—उभयान्यान्यदिति । दूषयति—नेति । उभयत्वसंख्याविशिष्टादेतस्माद्यदन्यद्विधं तदन्यत्राधिकरणं यदेतदुभयं तत्त्वमिह लक्षणे विवक्षितोर्थः । नचेदमुभयसाधारणमिति प्रत्येकमिलितविकल्पतद्दोषो च समानादित्यर्थः । उभयान्यान्यशब्दानां च साधारणार्थविवक्षयां सर्वत्रातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । इदानीं तदन्तत्वातिरुक्त्यापि लक्षणं दूषयति—अपि चेति । किमयं बहुव्रीहिसङ्गणसंविज्ञानः किं वाऽङ्गणसंविज्ञान इत्यर्थः । आद्येपि किं विशेषणतया विभक्तिसत्त्वं विवक्षितमुपलक्षणतया वा । नाद्यः । अव्यापनादित्याह—नाद्यः । विभक्तीति । नाला स्त्रातुमीत्यादीनि तावत्पदत्वेन प्रसिद्धानि, नचैतेषु विभक्तिसत्त्वमस्ति, 'अव्यायादात्सुप' इति विभक्तिलोपात् 'कृन्मेजन्तः षत्वातोसुन् कसुन्' इति चाव्ययसंज्ञाविधानादितरथाऽर्कैर्यमोजीत्यादिष्वपि लुपविभक्तिष्वव्याप्तिरिति भावः । उपलक्षणत्वपक्षं दूषयति—उपलक्षणत्वे चेति । प्रातिपदिकग्रहणं धातोरप्युपलक्षणम् । ननु तदानीमवियमाना विभक्तिः प्रातिपदिकस्य कथमुपलक्षणमिति, तत्राह—भाविनापीति । नाशोपलक्षितसत्तायोगित्वसमित्यत्वमित्यत्र तदानीमवियमानेनापि नाशेनोपलक्षणदर्शनात् । एवं विनाशी घट इत्यत्रापीति भावः । विधित्सिताविति पक्षं दूषयति—अत एवेति । प्रातिपदिकमात्रस्यापि पदत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । उक्तदूषणं लक्षणान्तरेण्यतिदिशति—एतेनेति । विभक्तैर्विभक्त्यन्तत्वस्य चानिरूपणादित्यर्थः ।

आधुनिकरीत्या पदलक्षणमुद्गावयति—नन्विति । शब्दजनितः सा प्रतीतिसंज्ञाऽन्यत्वे एति शब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं च यत्तत्पदमित्यर्थः । स्वयमेव विशेषणत्रयस्य कृत्वमाह—अत्र चेत्यादिना । पदसमुदायात्मकं शान्यमतः समुदायिपदविषयप्रत्यक्षप्रतीतिजन्यं तच्छाब्दप्रतीतिजनकं च वाक्यार्थप्रतीतेरपि शाब्दत्वादतस्तत्त्वच्छेदाय तयाऽजन्यत्वविशेषणमित्यर्थः । शाब्दप्रतीत्यजन्येऽत्र प्रतीतिविशेषणीभूत-

१ शाब्दत्वविशेषणेनेत्यर्थः । २ तच्चेदमिति पाठो भाति । ३ उभयान्यद् पदादिकं तदन्यत्वं पदादावित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । ४ अकारि अमोजि इति तिङन्तद्वयमेतत् । ५ शाब्दप्रतीत्यजन्या या शाब्दीप्रतीतिसंज्ञानकत्वमिति तु लक्षणार्थः शोभनो भाति । पदजन्यपदार्थोपस्थितिजन्यशाब्दोपजनकत्वाद् वाक्ये लक्षणभावः ।

कथम् । नाप्रिमः । पदस्याधाप्यसिद्धेः । न पश्चिमः । पदासिद्धौ तस्याप्यसिद्धेः । नाप्याकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति तृतीयः पक्षः । आकाङ्क्षायाः पुरुषवर्मस्याचेतनेषु पदेष्वभावात् । आकाङ्क्षा हि जिज्ञासा, उक्तं हि—‘अन्वितस्याभिधानार्थमुक्तार्थघटनाय वा । प्रतियोगिनि जिज्ञासा या साकाङ्क्षेति गीयत’ इति ।

योग्यतापि किं पदानामेव सहप्रयोगयोग्यत्वमुतान्योन्यान्यवयवयोग्यार्थत्वम् । नायः । वह्निना सिञ्चेदित्यादावपि सहप्रयोगदर्शनात् । नापि द्वितीयः । वाक्याभासेपि प्रसङ्गात् । नयास्तीरे फलानि सन्तीति विप्रलम्भकवाक्यस्थपदानामप्यन्योन्यान्यवयवयोग्यार्थकत्वात् । अन्यथा प्रामाणिकवाक्येपि तेषामनन्वयापत्तेः । प्रमाणान्तरविरोधादिह पदार्थानामन्वययोग्यता नास्तीति चेन्न । संसर्गाभावेपि संसर्गयोग्यस्वभावस्याखण्डितत्वात् ।

अस्तु वा यत्किंचिद्विचारितरमणीयं पदं, तत्समूहश्च वाक्यं, तथापि कुत्र प्रामाण्यमिति विवेचनीयम् । ‘शब्दो मानं विवक्षायां ज्ञानेऽर्थे वा भवन्भवेत् । नाद्यौ तन्मि-

शब्दशब्देन पदमभिधीयते वाक्यं वेति विकल्प्याद्यमात्मध्यत्वेन दूषयति—नाप्रिम इति । द्वितीयं दूषयति—न पश्चिम इति । पदसमुदायो हि वाक्यमतः पदासिद्धौ वाक्यमप्यसिद्धमित्यर्थः । वाक्ये चातिव्याप्तिः । तस्यापि वाक्यजन्यप्रतीत्यजन्यत्वे सत्युक्तविशेषणत्वात् । वर्णसमुदायरूपपदसमुदाये च वाक्ये वर्णात्मकत्वमप्यस्त्येवान्यथा पदस्यापि वर्णात्मकताभावप्रसङ्गादिति । न च शब्दत्वजातीयजन्यशब्दत्वजातीयजन्यप्रतीतिजनकवर्णसमुदायः पदमिति युक्तम् । प्रथमविशेषणेन सर्वशब्दत्वजातीयविवक्षानां तदजन्यत्वविशेषणं द्वितीयेन व्याहृतम् । द्वितीये वाक्येतिव्याप्तिः । तस्यापि यत्किंचित्पदानजन्यत्वे सत्पदकल्पत्वादिति । किं पदसमुदायो वाक्यमित्यादिना त्रिधा वाक्यलक्षणं विकल्प्याद्यौ द्वौ दूषितौ इदानीं तृतीयं दूषयति—नाप्याकाङ्क्षेति । किन्तु योग्यतासंनिधिवदौकाङ्क्षाधिकरणत्वं विवक्षितमुत तद्विषयत्वम् । नान्यः । विषयविषयिभावस्य खण्डितत्वात् । आद्येऽसिद्धिमाह—आकाङ्क्षाया इति । अन्वितस्येति । वृक्ष इत्यन्वितस्याभिधानार्थं विश्वजिता यजेतेत्यादावुक्तार्थयोगस्य घटनाय प्रतियोगिनि जिज्ञासा वा उक्तं सा आकाङ्क्षेति गीयत इत्यर्थः । एतच्चोभयं विविच्य दार्ढ्यतममिहितान्यवयवादे ।

योग्यतामपि विकल्प्य दूषयति—योग्यतेति । किं पदगता पदार्थगता चेत्यर्थः । आद्येऽतिव्याप्तिमाह—वह्निनेति । तयोरपि सहप्रयोगे योग्यतास्त्येवेतरथा तत्कार्यसहप्रयोगो न स्यादित्यर्थः । वाक्याभासे नानमेव दर्शयति—नयास्तीर इति । ननु वाध्यमानस्य तदर्थस्य कथमन्वययोग्यतेति, तत्राह—अन्ययेति । अयं भावः । अत्र किं प्रमाणान्तरवाधापदन्वयो नास्तीत्युच्यते किंवा तद्योग्यतेव नास्तीति । आद्ये प्रहृष्टोपापरिहारः । अन्वयाभावेपि योग्यतानपायात् । नहि यावद्योग्यत्वं कार्यदर्शनमस्ति । नियमेन कार्यनिर्णय रिति चेन्न । असिद्धेः, आप्तवान्ये तेषामेवान्यवयवदर्शनात् । एतेन योग्यताभावरक्षोऽपि प्रयुक्तः । न च तदवयवस्थपदार्थभ्योऽनाप्तवान्यवयवपदार्था अन्य एवेति वाच्यं, तथा सति तेषामन्वयायोग्यत्वस्याप्यसिद्धेः, क इति तेषामन्वययोग्यतास्तीति, संगतिप्रहणभावादोषकता च । अख्यातिवादिनापि च पदार्थयोग्यतासिद्धेः, क इति तस्मादस्त्येवानाप्तवाक्ये व्यभिचार इति । एतदेव चोपपरिहाराभ्यां विशदयति—प्रमाणान्तरेत्यादिना ।

एवंतावच्छब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेयं बुद्धिः शब्दमिति लक्षणे शब्दवितानादिर्येशो दुर्भिरा इत्युच्यते तदपेक्षावर्धितज्ञानमित्यत्रार्थशब्दार्थोऽपि विचारसह इत्याह—अस्तुयेत्यादिना । मानं न कश्चनः किं वाक्यविषयायां पदार्थसंसर्गविषयिण्यां लिङ्गतया भवेत् । यथाहुः शीगताः—‘वक्रुरभिप्रायं वृ-द्वये’ति । किंवा वक्रप्रयोगमूलभूतज्ञाने लिङ्गतया । यथा वैशेषिकादयः । उपलक्षणं तैत् । रागाभिप्रायदोरपि । इति वाक्यार्थं स्वभावत एव यथा भीमांसकाः । न तावदाद्यौ । ताभ्यां चन्दस्य व्यभिचारात् । नाप्यन्यः । इत्येतेषु संगमलसंभवेन तत्संसर्गरूपवाक्यार्थेपि प्रामाण्यायोगादिति संग्रहश्लोकोज्जना । इत्येव संग्रहं शब्दो

१ संवत्सरे इत्यर्थः । २ वृक्षान्ते मतिः । ३ योग्यता नास्तीति शेषः । ४ भावतावतानापरिहारेणैव पदार्थस्य बोधाहीकारादित्यर्थः ।

चारित्वान्नान्यः संगत्ययोगतः' ॥ ३१ ॥ न तावद्देवदत्त गामभ्याजे'ति पदनिचयस्तद्वि-
वक्षायां तज्ज्ञाने वा लिङ्गतया मानं, व्यभिचारित्वात् । भ्रान्तस्य पिपासोः पानीयविव-
क्षायां कुकुद्ं देहीति प्रयोगदर्शनात् । अन्यथा जानतोपि विप्रलम्भकस्यान्यथाप्रयोगदर्श-
नाच्च । आप्तवाक्यमेव तयोर्लिङ्गं नेतरदिति चेत् । अस्तु तर्हि तदर्थस्यैव प्रतिपादकत्वं तस्य,
तेनाव्यभिचारात् । किंच वाक्यं वाक्यार्थेनाविशेषितज्ञानविवक्षयोर्मानमुत विशेषितयोः ।
नाद्यः । व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । द्वितीये तु तद्विशेषणभूतोऽर्थः केनाधिगत इति वा-
च्यम् । न तावत्प्रत्यक्षेण । नदीतीरे फलसत्तायाः श्रोतुरिन्द्रियासन्निकृष्टत्वात् । नानुमा-
नेन । तद्व्याप्तलिङ्गाभावात् । नाप्येतद्व्यगतिः स्मृतिः । पूर्वमननुभूतत्वात् । नाप्युत्प्रेक्षा ।
तस्याः प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तर्भावात् । नापि संशयः । कोटिद्वयानवलम्बित्वात् । नापि
विपर्ययः । तत्र प्रवृत्तस्य तत्प्राप्त्यभावप्रसङ्गात् । शब्दादेव तु तदधिगमे परस्पराश्रयता,
अनुमानवैयर्थ्यं च ।

अनधिगमे तु तद्विशिष्टज्ञानानुमानायोगः । नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्या-
यात् । नापि तृतीयः । अर्थेन शब्दसंगत्यभावात् । शब्दार्थयोरेकदेशकालत्वनियमाभा-

—न तावदित्यादिना । विवक्षाव्यभिचारमुदाहृत्य ज्ञानव्यभिचारमुदाहरति—अन्यथा जानतोपीति ।
तदुक्तं भट्टादैः 'अन्यथा संविदानोपि विवक्षाल्पन्यथा यतः । तस्मादेकान्ततो नास्ति पुंवाक्यात्तद्वियां गति'-
रिति । ननु नास्माभिः शब्दमात्रं विवक्षाज्ञानयोः प्रमाणमित्युच्यते, अपिलाप्तवाक्यं, तस्य च न ताभ्यां
व्यभिचार इति उद्दिष्टा परिहरति—अस्तु तर्हीति । अनाप्तवाक्येऽर्थव्यभिचारदर्शनेन खलु विवक्षाज्ञा-
नयोः प्रामाण्यमाश्रियते, तथापि चेदाप्तवाक्यत्वेन विशेषणम्, अर्थे एव किमिति तर्हि तादृशं वाक्यं प्रमाणं न
स्यात्, अस्ति हि तेनापि तस्याव्यभिचार इत्यर्थः । इतोपि विवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यं न संभवतीत्याह—किंच
वाक्यमित्यादिना । किं ज्ञानविवक्षामात्रयोर्वाच्यं प्रमाणमुत तत्तद्वाक्यार्थविशेषितज्ञानविवक्षयोरित्यर्थः ।
आद्यमसम्भवेन दूषयति—व्यवहारेति । नहि ज्ञानमात्रविवक्षामात्रप्रतिपत्त्या गवानयनादौ प्रवृत्तिः संभ-
वतीत्यर्थः । द्वितीये तु ते वाक्यार्था ज्ञाता न वा । आद्ये किमन्यतस्तेषां ज्ञानं शब्दत एव वा । न तावदन्यत
इत्याह—न तावत्प्रत्यक्षेणेत्यादिना । इन्द्रियासन्निकृष्टत्वात् । वाक्यप्रयोगसमय इति शेषः । ननु
स्मृतिरेव सा अतः संस्कारादेव प्राप्तेति, तत्राह—नाप्येतद्व्यगतिरिति । उत्प्रेक्षापक्षेपि न तावत्स्मृतिः ।
निरस्तत्वात् । अनुभवपक्षे तु प्रमाणं न वा । आद्ये प्राह—प्रत्यक्षेति । द्वितीयेपि लक्षणे विपर्ययो वा ।
नोभावपीत्याह—नापि संशय इति । अस्तु तर्हि शब्दादेव तदधिगम इति, नेत्याह—शब्दादेवेति ।
यदा शब्दतोर्थं ज्ञात्वा तथागृह्यविवक्षा वा ज्ञानं वा शब्देन लिङ्गभूतेनानुमीयते ताभ्यां चार्थानुमानं तथा-
चार्यज्ञाने विवक्षाज्ञानं विवक्षाज्ञाने चार्थज्ञानमिति परस्पराश्रय इत्यर्थः । किंच प्रथमत एवार्थप्रतीतौ तद्विव-
क्षया पुनस्तदनुमानं च दूषयत्याह—अनुमानेति । अथवा न परस्पराश्रयः । अर्थव्याप्तविवक्षया पुनर-
र्थानुमानाभावाव्यवहारस्य प्राथमिकार्थप्रतीत्यैवोपपत्तेरिति यदि परो ब्रूयात्तं प्रत्याह—अनुमानेति । तर्हि-
प्राथमिकमर्थमतिलक्ष्य विवक्षानुमानमनर्थकं तावन्मात्रादेव व्यवहारसिद्धेरित्यर्थः ।

एवं ज्ञायमानार्थव्याप्तविवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यमिति पक्षं दूषयित्वाऽज्ञायमान इति पक्षं दूषयति—अन-
धिगम इति । अर्थे प्रमाणं शब्द इति तृतीयं पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । अर्थेनेति । पदा-
र्थेन संगत्यभावात् पदनिचयस्य न पदार्थसमूहे प्रामाण्यमित्यर्थः । ननु माभूदेकदेशादिनियमलक्षणः संबन्धः,

वात् । वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धोस्तीतिचेत् । वाचकत्वं नाम तद्विषयप्रतीतिजनकत्वं, वाच्यत्वं तज्जन्यप्रतीतिविषयत्वं, तदेवासति संबन्धे कथं स्यादिति पर्यनुयोगे तस्मादेव तद्भवतीति द्रुवाणः पण्डितगोष्ठीषु कथं नपत्रयेत् । अन्तरेण च संबन्ध शब्दसार्थविशेषप्रतीतिजनकत्वेऽध्यक्षानुमानयोरपि संबन्धसमर्थनवैयर्थ्यापातः । कस्य चायं शब्दो वाचकः । किं जातेरुत व्यक्तेः किं वा जातिविशेषितायाः व्यक्तेः । नाद्यः । विशेषविषयव्यवहाराभावप्रसङ्गात् । अथ जातावेवावसितसगतिकानि यदान्यनाकलितविशेषायास्तस्या बोद्धुमशक्यत्वात्तत्रापर्यवसितव्यापाराणि विशेषानपि बोधयन्तीति मत । तदपि न । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । प्रथमं जातिमात्रमवबोध्यापर्यवसानादनन्तर विशेषमवबोधयन्ति किं वान्तर्भावितविशेषामेव जातिम् । नाद्यः । पदबुद्ध्योर्विरम्यव्यापाराभावात् । द्वितीयेषु विशेषेषु पदानां शक्तिरस्ति न वा । अस्ति चेत्, जातिरेव शब्दार्थ इत्यभ्युपगमभङ्गप्रसङ्गः । अस्तु तर्हि जातिरेव वाच्या व्यक्तिस्तु तदविनाभावाद्भक्ष्येति चेन्मैवम् । अविनाभावासिद्धेः । किं गोत्वजातेर्व्यक्तिमात्रेणाविनाभावः किं वा गोव्यक्त्या । नाद्यः । गोत्वजातेर्घटादिव्यक्तिभिरविनाभावाभावात् । न द्वितीयः । आत्माश्रयत्वात् । गोत्वजातिविशिष्टाया गोत्वस्य वर्तनाङ्गीकारात् । विशिष्टस्य लक्ष्यत्वे विशेषणभूताया जातेर्लक्ष्यत्वप्रसङ्गात् । एतेन साक्षावता विशेषेणाविनाभाव इत्यपि प्रत्युक्तम् । किंच सापि शक्तिर-

वाच्यवाचकलक्षणस्त्वस्ति संबन्ध इति शङ्कते—वाच्येति । संबन्धव्यतिरेकेणार्थस्य वाच्यत्व शब्दस्य वाचकत्व वा न सम्भवति तत्र तस्यैव संबन्धोक्तावात्माश्रय स्यादिति परिहरति—वाचकत्वमित्यादिना । गोष्ठीषु सदस्वित्यर्थ । असंबन्धस्यैव वाच्यत्व वाचकत्व वेत्याशङ्क्यातिप्रसक्तिं साधित्वाह—अन्तरेणेति । अस्तु वा वाचकत्व तथापि कस्य वाचक शब्द इति विकल्प्य दूषयति—कस्य चायमित्यादिना । यद्यप्याकृत्यधिकरणे, नियोगेन विकल्पेन द्वे वा सहसमुचित “संबन्ध समुदायो वा विशिष्टा चैतयापि वेति” वार्तिककारैर्बहव पक्षा उपन्यस्ता । तथापि तेषामत्यन्ताभासत्वात्तैरेव निरस्तं नाद्य विद्वान्गीरुणाचार्येणैव नोपन्यस्य निरस्यन्ते । जातिमात्रे गृहीतसगतिकस्य व्यक्तावपर्यवसानरूप्या बोधकत्वमिति प्राभाकररीत्या पूर्ववादिनोक्त विकल्प्य दूषयति—तथाहीति । यदिदमपर्यवसानाद्याफिगोधनं तर्हि अतिप्रतीते पश्चात्किं वा जाल्या सहैवेत्यर्थे । आद्यमसम्भवेन निरस्यति—नाद्य इति । बुद्धिमद्वय इत्यन्तर्गतं द्वितीयेषु किं व्याकावचक शक्तौ वा । नाद्य । अशक्यस्य तद्व्यवहाराभावात् । द्वितीयेषु व्यक्तिसिद्धे वाच्यत्वस्य लक्षणान्तापत्तिरित्याह—द्वितीयेपीति । ननु व्याकावचकमेव पद, कथं तर्हि तत्र बुद्ध्यस्ति, लक्षणयेति शङ्कते—अस्तु तर्हिाति । जातिव्यक्तयो साधारण्येनासाधारण्येनोभयथापि चाविनाभावोऽस्ति इत्याह—मैवमित्यादिना । ननु जातिमात्रस्य न व्यक्तिसाधनेणाविनाभाव किंतु तद्विशेषेणेवे द्वितीयं पदं दूषयति—न द्वितीय इति । यदि गोत्वविशिष्टाया व्यक्तौ गोत्वस्याविनामानासिद्धिं तत्रैव सा वर्तते इति वाच्य तथा चात्माश्रयत्वमित्याह—आत्माश्रयत्वादिति । उपलक्षणं चैतज्जाते जाल्यावात्माश्रयत्वात्माश्रयान्तरस्यापि । किंच गोत्वविक्रिष्टव्यक्तेरविनाभावाद्भक्ष्यत्वे तद्विशेषणजातेरपि लक्ष्यत्वमित्यभिप्रेतव्यं न्यता शब्दस्य स्यात्तदेभावे च लक्षणापि न सम्भवेदिति नैरर्थस्यमेव शब्दसामान्यस्य समर्थितस्यैव मिसधिराह—विशिष्टस्येति । ननु साक्षावता विशेषेण गोत्वजातेरविनागान, न गोत्वविशिष्टेन, तत्रैव नात्माश्रयतेति, तत्राह—एतेनेति । सोपि हि गोत्वविक्रिष्ट एवेति पूर्वोक्तदूषणद्वयं साधित्वर्थं । अत्रैव व्यभिचाररूपो वा पूर्वोक्तदोष । किं यथाक्यापि भवत्वविनाभाव, तथापि तासु यद्यपि बोधनसामर्थ्यं मस्ति न वा, अस्तिचेददृष्टमाणा वा श्रुयमाणा वा । भाष्ये प्राह—किंच सापीति । शाश्वतप्रसङ्ग-

२ नियमेन जातिरेव वाच्या व्यक्तिरेव वा । विकल्पेन जातिर्व्यक्तिः शक्या । अथा हे भयं वाच्ये । अत्रैव व्यक्तिसिद्ध्या सहसमुचितं तयो सामवायो वा वाच्य । तयोर्द्वैतं वा समुदायो वाच्य । अपि विशिष्टा अत्रैव चिद्विशिष्टा जातिवा वाच्या इत्यर्थं । २ अविनाभावात् इत्यर्थः । ३ आत्मत्वव्यभिचाररूपा इति शङ्कते इत्यर्थः ।

धिगता न कार्याय पर्याप्तेति तदधिगतिरवश्याश्रयणीया । न च सा शक्या, विशेषाणा-
मानन्त्याद्यभिचाराद्य । नास्ति चेद्, व्याघातः, तत्रासमर्थानि बोधयन्ति च तानीति । अपि
च जातिरेव शब्दार्थ इति नियमे फालाकाशदिगादिशब्दानामवाचकत्वप्रसङ्गात्, काला-
काशादौ कालत्वादिजातेरभावात् । यत्र संभवति तत्र जातिरितरत्र तु व्यक्तिरिति व्यव-
स्थेति चेन्न । पाचकादिशब्दानामुपाधिपरत्नस्वीकारात् । अस्तु तर्हि त्रितयं शब्दार्थ
इति चेन्न । जातिशब्दार्थत्वदोषाणामुपाधिष्वपि तुल्यत्वात् । नच त्रितयस्य मिलितस्यै-
कैकस्य वा शब्दार्थत्वप्रयोजकता । व्यभिचारित्वात्, अन्यतमत्वस्य च खण्डितत्वात् ।
एतेन व्यक्तेरपि शब्दार्थता प्रत्याख्याता । आनन्त्यव्यभिचारयोस्तत्रापि तुल्यत्वात्,
विशिष्टस्यापि व्याघृतत्वाविशेषाद्यभेदे तस्यापि शब्दार्थता निरसनीया । अथ जातिवै-
शिष्ट्यं सर्वत्रानुगतमेव शब्दार्थः, तदापि जातेः शब्दार्थतायामुक्तं दूषणं न प्रत्युद्भियेत ।

किंच वाच्यत्वमर्थस्य धर्मो, वाचकत्वं च पदस्य, तथा च प्रतिवस्तुनियते वाच्यत्वे
वाचकत्वे च संबन्धवाचोयुक्तिः कुतस्स्या । एतेन साङ्केतिकः शब्दार्थयोः संबन्ध इत्यपि
परास्तम् । सङ्केतस्यापि जातौ व्यक्तौ विशिष्टे वाभिहितन्यायेन दुर्ग्रहत्वात् । तस्मा-
च्छब्दं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेर्बुद्धिरिति लक्षणमलक्षणम् । तथाप्यवाक्यं शब्दप्र-
माणमिति नैयायिकानामपि । 'आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु । व्यभिचारान्न
तद्यक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तितः' ॥ ३२ ॥ स्वकपोलकल्पितमालतीमाधवादिवाक्येषु प्रामा-

रिक्तर प्रत्यपि बोधकत्वप्रसङ्गाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीये प्राह—नच सेति । ननु नास्त्येव तादृशी शक्तिर-
भिधेयनिष्ठत्वाच्छक्रेरिति, तत्राह—नास्ति चेदिति । व्याघातमेव दर्शयति—तत्रेति । किंच सर्वशब्दाना
जातिरर्थ । उत यत्र संभवति तत्रेति मतम् । नाथ इत्याह—अपिचेति । नखैकैक्यकिपु कालादिषु जाति-
रस्तीति तद्वाचकशब्दाना नैरर्थयप्रसङ्ग इत्यर्थ । द्वितीये शङ्कते—यत्रेति । एतदव्यापकमुभयव्यतिरिक्त-
स्योपाधेरपि क्वचिच्छब्दाथलाश्रयणादित्याह—न पाचकादीति । अव्याप्तिसद्व्य परिहरन्शङ्कते—अस्तु
तर्हीति । त्रितय, जातिर्ब्यक्तिरुपाधिष्वेत्थं । एतदपि न संभवति, उपाधे शब्दार्थताया जातिवदुपहि-
तेषु व्यक्तिष्वेव प्रत्ययसम्भवादेस्तुल्यत्वादित्याह—न जातीति । किंच त्रितयमपि कि मिलित शब्दार्थ कि
वैकैकम् । नाथ । प्रत्येकस्थले तदभावात् । द्वितीयोऽसिद्ध । एकैकस्थले तदितरयोरभावादेव । अधान्यतमं
शब्दार्थं स्यात्, न, अन्यतमस्य त्रितयातिरिक्ततया दुर्वचत्वस्याधस्तात्क्रियासमनिहारेणोदाहृतत्वादित्याह—
अन्यतमत्वस्य चेति । तदेव जाति शब्दार्थ इति प्रथम पक्ष प्रतिक्षिप्त । द्वितीयं दूषयति—एतेनेति ।
लक्षणादिपक्षोक्तदोषविशेषमतिदिश्यमान विशदयति—आनन्त्येति । जातिविशेषिता व्यक्ति शब्दार्थ इति
तृतीयपक्षेपि व्यक्तिपक्षोक्तदूषणमतिदिशति—विशिष्टस्यापीति । ननु न जातिविशिष्टा व्यक्ति शब्दार्थ
येनानन्त्यादिदोषः स्यात्किंतु सर्वविशिष्टेष्वनुगत यजातिवैशिष्ट्य तदेव शब्दार्थ इति । तदपि न । तस्यापि
जातिवदेतानुगतत्वात् । इत्तेषु प्रत्ययभावादेस्तादवस्थादित्याह—अथ जातीत्यादिना ।

यस्तु वाच्यवाचकत्वमेव संबन्ध इत्युद्भाव्य दूषित पक्ष तत्रैव सिंहावलोकितेन दूषणान्तरमाह—
किंचेति । संबन्धद्वयवर्त्येको हि संबन्धो नाम, न चैतत्तथेतीदं संबन्ध एव न भवेदित्यर्थ । अथ नैया-
यिका प्राह—साकेतिक शब्दार्थयोः संबन्ध इति । तदपि दूषयति—एतेनेति । अतिदिश्यमानमे-
वाह—संकेतस्यापीति । एव गीर्मासकाना शब्दप्रमाणलक्षणे दूषणमुपसंहरति—तस्मादिति । नैया-
यिकसमतमपि लक्षण दूषयति—तथेति । लक्षणमलक्षणमित्यनुपपद्यते । अस्यातिव्याप्तिमसिद्धि च श्लोके-
नाह—आप्तेति । अनेकान्तिकतां विदूषोति—स्वकपोलेति । नन्वौल्लेखिकार्थे वचांसि नाहवाश्रयान्यतो-

ण्याभावादतिव्याप्तिः । नहि पुरात एव सत्राटकनाटिकादिप्रबन्धविरचनमात्रेणानो भवति भवभूतिः । उक्तं चैतदुन्वेकेन 'यदाप्तोपि कस्मैचिदुपदिशति, न त्वयाननुभूतार्थ- विषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यं, यथाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति तत्रार्थव्यभिचारः स्फुट' इति । कश्चायमाप्तो नाम । यथादृष्टार्थवादीति चेन्न । भ्रान्तवाक्येपि प्रसङ्गात्, प्रमाणदृष्ट- इति विशेषणेपि प्रमाणदृष्टस्य प्रमादादिनान्यथाकथनेपि प्रसङ्गात् । प्रमाणेन यथादृष्टं तथावादीति चेन्मैवम् । एकदेशे तथाभूतवादित्वेप्यंशान्तरेऽन्यथाभूतवादिन्यपि प्रसङ्गात् । यावत्प्रमाणदृष्टं तावत् एव वक्ता इति चेन्न । अज्ञातसंदिग्धानुवादादिवाक्यप्रयोक्तु- नाप्तत्वप्रसङ्गात् । अथ निर्दोष आप्त इति चेन्मैवम् । आप्तानामपि क्वचिद्वागादिदोषसं- भवात् । यत्र विषये यो निर्दोषः स तत्राप्त इति चेन्न । यत्तच्छब्दयोर्विशेषविषयत्वेना- साधारण्यादव्याप्तेः । तस्मादाप्तवाक्यमागम इत्यप्यलक्षणम् । यथार्थवाक्यं शब्दप्रमाण- मित्यपि न । यथार्थत्वस्य प्रभित्तिखण्डनावसर एव खण्डितत्वात् । एतेन 'समयनेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनं शब्द' इति भूषणस्यापि लक्षणमपास्तम् । ऊर्ध्वीकृततर्जन्या दशसंख्यानुमाने शङ्खध्वनौ चानुविधेयपुरुषाभिप्रायानुमापके व्यभिचारात् । समयस- म्यक्त्वयोश्च पूर्वमेव निरासात् । तदेवं शब्दलक्षणमपि दुर्भणमिति सिद्धम् ।

तथार्थापत्तिलक्षणमपि । अन्यथानुपपन्नदर्शानुपपादके बुद्धिरथापत्तिः । यथा जीवते

नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—**नहि पुरेति** । नाटकादिकाव्ययोगान्ता नाटकविशेषाः । भवभूतिरुन्वेक । एतदेव ग्रन्थान्तरस्थेन तद्वचनेन संमतयति—उक्तं चैतदिति । तत्र ह्यनुभूतार्थवाक्यस्योदाहरणत्वेनोच्यमानस्य ङ्गुल्यग्रेदिवाक्यमाप्तोक्तवाक्यमेवेत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः—**आप्तत्वस्यानिवृत्तित** इत्येतद्विज्ञोति—**कश्चाप- मिति** । भ्रान्तवाक्य इति । सोपि हि यथा स्नेह दृष्टं तथैव वक्तव्यार्थः । ननु प्रमाणदृष्टार्थवक्तो नाम, ततो भ्रान्ते नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—**प्रमाणदृष्टेति** । ननु न प्रमाणदृष्टस्य वदनमात्रं विवक्षितं वेदान्त- वदनमादायातिव्याप्तिः स्यात्किन्तु यथा दृष्टं तथैव वदनमिति शङ्कते—**प्रमाणेनेति** । अत्र किं प्रमाणदृष्टस्य तथा- वदनमात्रं विवक्षितमतिरिक्तावदनमपि वा । आद्ये प्राह—**मैवमेकदेशेति** । द्वितीयं शङ्कते—**याचदिति** तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—**अज्ञातेति** । नहि तेषां प्रमाणदृष्टत्वं, व्याघातादित्यर्थः । किमिदं निर्दोषत्वं, किं सर्वविषये किं वा क्वचिदोपराहित्यम् । आद्येऽव्याप्तिमाह—**मैवमाप्तानामिति** । क्वचिद्वागादिदोषवतोऽन्यत्र यथार्थवदनम- त्तवाक्यं न स्यादित्यव्याप्तिरिति भावः । द्वितीये त्वतिव्याप्तिर्यत्र क्वचिदोपरहितस्यान्यथावदनेपि प्रसङ्गात् । ननु यत्र यो दोपरहितः स तत्राप्तो नान्यत्रेति शङ्किते परिहरति—**यत्तच्छब्दयोरिति** । साधारणविषयत्वे च पूर्वोक्तातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । **यथार्थत्वस्येति** । प्रमात्वव्यञ्जकखण्डनसमय इत्यर्थः । भावसंश्लेषण- सुझाव्य दूषणमतिदिशति—**एतेनेति** । अनुमानादिष्व्याहृत्यर्थं समयग्रहणम् । प्रत्यक्षव्याहृत्यर्थं परोक्षग्रहणम् । संशयादिष्व्याहृत्यर्थं समयग्रहणम् । स्मृतिव्याहृत्यर्थं अनुभवग्रहणम् । यत्र हि वणितां समयवलेनोर्वीणा तर्जन्यङ्गुलिर्दशसंख्यामनुनापयति तत्रानुमाने त्वदुक्त्वलक्षणमतिपतेदित्यर्थः । अतिव्याप्त्यन्तरमाह—**शङ्खध्वनौ चेति** । अनुविधेयः प्रभुः । तत्रापि हि प्रभोः सेनोद्योगपराहृत्याद्यभिप्रायं समयबधेन शङ्खध्वनि सेनय- ननुमापयतीत्यर्थः । एवमधिकं दर्शयित्वातिदिष्टार्थं विरचयति—**समयेति** ।

तदित्यं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणातीत्यक्षपादसूत्रपरिगणनाक्रमेण प्रमाणचतुष्टयं राशिदन्तम् । इति भाटप्रभाकरान्भिमतामर्थोपतिं खण्डयति—**तथेति** । दुर्भणमित्यनुवर्तते । तत्र तावदर्थोपतिरुक्तं दर्शनी दूषणाय—**अन्यथेति** । प्रत्यक्षादिव्यवच्छेदार्यमनुपपन्नदर्शनादित्युक्तम् । अनुपपन्नमानविषयनिर्दिष्ट- दर्शनात् । यत्सम्यक्त्वकं तत्पदसं स्मरणं वा भवति तत्पदच्छेदार्यमनुपपादक इत्युक्तम् । तत्र शिपिपद- दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति । तत्र प्रथमायुदाहरति—**यथा जीयत इति** । अत्र हि जीवते दे- दत्तस्य महिरदस्थानं विनानुपपद्यमानयुदाभावादर्शनात्प्रपादकवदित्यवस्थानज्ञानमर्थापत्तिरित्यर्थः । इति

देवदत्तस्य गृहान्तरभावमवलोक्य बहिरवस्थानज्ञानम् । नन्विदमनुमानमेवास्तु, देव-
दत्तो बहिरस्ति, जीवनवत्त्वे सति गृहेऽभावात्, संप्रतिपन्नवदिति चेन्मैवम् । देवदत्तप्रति-
योगिकाभावस्य गृहाधिकरणतया देवदत्तधर्मत्वाभावात् । गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं हे-
त्वर्थ इति चेन्मैवम् । यदा जीवन्नस्ति कचिद्देवदत्त इत्याप्तवाक्यादनिर्धारितदेशविशेषनि-
ष्ठतया देवदत्तसत्तावगता प्रामाद्वहिरवस्थितेनैव चैत्रेण, सच तदागत्य गृहान्तस्तदभाव-
मालोक्य बहिःसत्त्वमनुमिमीत इति वाच्यम् । तच्चानुपपन्नम् । साधारणदेशमात्राव-
स्थानविषयस्यागमस्यार्थापत्त्या यावन्न बहिर्देशसत्ताविषयत्वं परिकल्प्यते तावदागमाप-
वाधितविषयतयानुमानस्यानुत्थानात् । कल्पिते तु बहिर्देशविषयत्वेऽनुमानात्प्रागेवार्था-
पत्तिलब्धप्रमेयेति कृतमनुमानेनेति भाट्टाः प्रतिपेदिरे । तदिदमनुन्दरम् ।

‘आगमस्य बहिर्देशविषयत्वस्य कल्पनात् । प्रागेव देवदत्तस्य गृहेऽभावो मितो न वा
॥ ३३ ॥ आद्येनुमानं तेनैव निष्प्रत्यूहं प्रवर्तताम् । द्वितीये कल्पकाभावादार्थापत्त्युदयः
कृतः’ ॥ ३४ ॥ भाट्टानामप्याप्तवाक्यस्य बहिर्देशविषयत्वकल्पनात्प्रागेव देवदत्तस्याभावः

वैशेषिकादेरनुमानान्तर्भाववादिनो मतमाशङ्क्य मीमांसकः पार्थक्यं समर्थयते—नन्वित्यादिना । अस्ति
हि मैत्रस्य जीवनवत्त्वेऽपि गृहेऽभावस्य बहिरवस्थानस्य च परस्पर व्याप्तिरिति भावः । मीमांसकः परिहरति
—मैघमिति । अत्र जीवनवत्त्वे सति गृहेभावादिति कोऽर्थः । किं गृहनिष्ठाभावाधिकरणत्वादिति किं वा
गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वादिति । आद्येऽसिद्धिः । नहि गृहाधिकरणवैयर्थ्यप्रतियोगिकोऽभावश्चैत्रे वर्तते इति सम-
वति अतोऽपक्षधर्मत्वादसिद्धो हेतुरित्यर्थः । देवदत्तमद्वयं चैत्रोपलक्षणम् । द्वितीयं शङ्कते—गृहनिष्ठेति ।
दूषयति—मैघमिति । अत्रानुमानाप्रवृत्तिं दर्शयितुं भूमिका परिशोधयति—यदा जीवन्नस्ति । यः ख-
ल्वनुमाता चैत्रः तेनैव चैत्रेण यदा प्रामाद्वहिरैव जीवन्नस्ति कचिद्देवदत्त इत्याप्तवचनादनिर्धारितदेशविशेष-
निष्ठतया देवदत्तोवगतो भवति, पुनश्च स एव चैत्रो ग्रामं प्रविश्य गृहमागत्य गृहान्तश्च तस्य जीवतोऽभाव-
मवलोक्य बहिःसत्तामनुमिमीत इति वक्ष्यम् । इतरथा आप्तवाक्याजीवनमात्रानधिगमे जीवनवत्त्वे स-
तीति विशेषणासिद्धिप्रसङ्गात्, गृहाभावमात्रस्य बहिर्भावेनाविनाभावाभावाच्च । प्रत्यक्षस्य च साधारण्येनाप्र-
वृत्तेरनुमानस्य च लिङ्गाभावात्, अत्राप्यनुमानेन सामान्येन जीवनमवगत्य पथादनुमिमीत इति वक्ष्यमिति यो-
जना । भवत्त्वेवनेतावताऽनुमानाभावे किमायातमिति, तत्राह—तच्चेति । यत्खल्व्याप्तवाक्यं सामान्येन
स्थितिमवबोधयति, तस्य किं गृहाद्वहिरविषयतायां क्लृप्तायामनुमानमिदं प्रवर्तते अकृताया वा । न तावद-
कृतायाम् । तदाद्यागमस्य गृहेऽपि स्थितिबोधकत्वसम्भवेन तद्विरुद्धबहिरवस्थानानुमानस्य कालालयापदिष्टत्वा-
दित्यर्थः । अथ क्लृप्तायां, तत्राह—कल्पिते त्विति । गृहेऽभावावेदकप्रमाणस्य सामान्येन स्थितिबोधका-
गमस्य च योऽयं विरोधस्तयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्भावविषयत्वकल्पनाद्वैयर्थ्यपत्तिर्नाम, तत्प्रवृत्तौ चानुमानं नि-
ष्फलमित्यनुमानाप्रवृत्तिरर्थोपपत्तेश्च पार्थक्यमिति भाट्टाना समर्थनप्रकार इत्यर्थः । अत्र सिद्धान्ती दूषयित्वायु-
पक्रमते—तदिदमित्यादिना ।

आगममाद्यपरिहारार्थमर्थापत्तिरपेक्षणीयेति हि तेनामिहितं, तत्रार्थापत्तिप्रवृत्तियतिरेकेणैवागममाद्यं परि-
हरन्ननुमानप्रवृत्तिं दर्शयति श्लोकद्वयेन—आगमस्येति । सामान्येन प्रवृत्तागमस्य बहिर्विषयत्वकल्पना-
त्प्रागेव गृहाभावः केनचित्प्रमाणेन प्रमितो न वा । यदि प्रमितः, तर्हि तेनैवागमस्य निरुद्धत्वादानुमानं निर्विघ्नं
प्रवर्तता किमर्थापत्त्या । अथ न प्रमितो गृहाभावः, तर्हि कयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्विषयत्वं कल्प्यते इत्यनुमा-
नवदार्थापत्तेरप्यनुदय एवेति श्लोकयोजना । श्लोकौ विवृणोति—भाट्टानामित्यादिना । गुडजिह्विका चे-

प्रमितोऽप्रमितो वा । प्रमितत्वे तत एवानुमानोदयाद्वलमर्थोपत्तिप्रकल्पनादुर्व्यसनेन । द्वितीये तु कल्पकाभावात् कुतोर्थापत्तेरुदयः । इयांस्तु विशेषः । प्रत्यक्षाभाववादिनो मते प्रत्यक्षस्यागमाद्ब्रह्मीयरूपादागममवगणय्यापि प्रत्यक्षाधिगतगृहाभावलिङ्गेन भवति व-
हिर्देवदत्तसत्त्वानुमानम्, अभावप्रमाणाधिगम्यत्वे पुनरभावस्यागमादुर्वलतया तद्विरोधिगृहा-
भावस्यैव प्रमातुमशक्यतया नार्थापत्तिः प्रसरति, सद्गुणलम्बकप्रमाणप्रत्यक्षमय एवाभा-
वप्रमाणप्रवृत्त्यङ्गीकारात् । यथाहुः “प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुत्वाव-
बोधार्थं तत्राभावप्रमाणतेति” । किंच यद्यस्य कल्पकमिष्यते तत्तेनाविनाभूतमिष्यते त
वा । आद्ये भङ्गन्तरेण भवताप्यनुमानमेवानिहितमिति न प्रमाणान्तरावकाशः । द्वितीये
प्यनियतमेव यत्किञ्चित्कल्पयेदिति नार्थापत्तिप्रमेयसिद्धिः । अनुपपद्यमानस्योपपादकासत्त्वे
विरोधो गमक इति नानुमानमिति चेन्मैवम् । अनुपलब्धेरप्यनुपलभ्यमानसत्त्वे विरोध
एवाभावगमक इत्यभावमानापह्ववप्रसङ्गात् । धूमोपि धूमवजस्यासत्त्वे विरोधादेव ग-
मक इत्यनुमानविलयापत्तेश्च । यत्र कार्यकारणभावं विनाऽविनाभावादेव गमकत्वं रस-
रूपादौ तत्र भवत्येवानुमानं लब्धावकाशमिति चेत् । तत्रापि रूपासत्त्वे रसस्य विरोधा-
देव गमकत्वोपपत्तेः ।

कश्चायं विरोधः किं प्रमाणयोः १ उत प्रमाणत्वेनाभिमतयोः २ अनिर्णीतप्रामाण्य-
प्रामाण्ययोर्वा ३ सामान्यप्रवृत्तप्रमाणेन विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थवाधसंशयो वा ४ तर्कयोरेव

दमनुमानस्यार्थापत्तिप्रमाणयोगक्षेमत्वमुक्तं, वस्तुनस्तु भवदर्थोपपत्त्युदयात्तार्किकानुमानोदयस्याभिक्रम्यन्तीलव-
—इयांस्त्विति । प्रत्यक्षतः खलु गृहाभावस्तात्किकमतेधिगम्यते, दृश्याभावत्वात्, प्रत्यक्षसिद्धं सदनुमानना-
गमं तृणाय मत्तैव प्रवर्तते आदित्यवर्णोदागममिष्य परमात्मन्यरूपज्ञानुमानं, भवता स्वगमादुर्वलमेव गृहाभावा-
प्राहिप्रमाणमित्यर्थोपत्तेरुदय एव विचारणीय इत्यर्थं । तदुक्तं तत्त्वकौमुद्या “प्रमाणेन निश्चितस्य ब्रह्मेऽपरस्य
पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगादिति । ‘तस्माद्ब्रह्माभावेन सिद्धेन बहिर्भावोऽनुपपद्यते इति
युक्तमिति’ च । योग्यानुपलब्धेरगमादिविदोर्वल्येहेतुमाह—सद्गुणलम्बकेति । सतोभावस्योपलम्बमस्तीति यानि
प्रमाणानि तेषां प्रत्यक्षमयेऽनुदय एवाभावप्रमाणप्रवृत्तेरङ्गीकारात्, इतरथा सम्यक् भूतले निर्मीलितलोवन्-
भावनिर्णयप्रसङ्गादिति भावः । अत्र च वार्तिकसंमतिमाह—यथाहुरिति । वस्तुसत्त्वं वस्तुतत्त्वम् । भाव-
पत्तेति यावत् । तदवबोधोपायमित्यर्थः । भङ्गन्तरेणाप्यनुमानतामर्थोपत्तेरनुदयं च विकल्पपूर्वकमाह—कि-
ञ्चेति । कल्पकमिति । गृहाभावादीत्यर्थः । तेनेति । कल्प्येन बहिर्भावेनेत्यर्थः । स्थानतः, कल्प-
कल्प्येन या व्याप्तिः सानुमित्युत्पादिका । यस्तु कल्पकस्य कल्प्यासत्त्वे विरोधः सौर्थापत्तिजनक इति क-
ण्मेदादनयोर्भेदः । स एव च विरोधोत्र गमक इति नानुमितिलमिति शङ्कते—अनुपपद्यमानस्येति ।
तदेतदतिशान्तरापत्त्या द्रष्टव्यमिति—मैवमिति । एवं सत्यनुपलब्धिलक्षणप्रमाणमर्थोपत्तित्वे स्यात्, सान्ने-
हि तत्रान्यनुपलब्धेरनुपलभ्यमानपटसत्त्वे सति यो विरोधः स एव गमक इति वस्तुमित्यर्थः । अनुपप-
ह्वयस्य स्यादित्याह—धूमोपपत्ति । अनुमानस्यासाधारणं विषयं दर्शयन्नन्तरत्वेप परिहरति एवंनरी-
यत्रेति । कारणभावे हि कार्यस्य विरोधः । नच रसरूपादावकार्यकारणभूते स इत्यभिमानः पूर्ववदितः ।
तत्रापि विरोध संभावयन्नुत्पत्तयः संसारयति सिद्धान्ती—नेति ।

एवमुपपादकोपपादयोर्विरोधोर्थापत्तित्वस्य प्रमाणान्तरेष्वपि भावादित्यव्याप्तिरुक्ता । इदानीं विशेष-
रूपणादवितिद्विरेवेति दर्शयित्वाविरोधं विकल्पयति—कश्चायमिति । सामान्यप्रवृत्तेति । सामान्य-
प्रवृत्तं चत्प्रमाणं जीवन्देवदत्तः षड्विदस्तीति तेन विरोधे प्रवृत्तं चाप्रमाणं गृहाभावप्राहि तदर्थस्य गृहाभावना

वा ५ । 'तदसिद्धिरतिव्याप्तिः सक्तिः सप्रतिसाधने । असंभवोऽतर्कता च दोषास्तेषां क्रमादमी ॥' ३५ ॥ न तावदाद्यः । उभयोः प्रामाण्ये विरोधस्य विरोधे वा प्रामाण्य-स्यैवासंभवादसिद्धेः, अन्यथा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्तेः । नापि द्वितीयः । अभिमतशब्देन भ्रमाभिधाने ज्ञानमात्रविवक्षायां वा भ्रमज्ञानयोः प्रमाणत्वेन गृहीतयोर्विरोधाद्विभिन्नविषयत्वकल्पनाया अप्यर्थोपपत्तिप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । वायुर्वाह्यकरणाप्रत्यक्षः अरूपिद्रव्यत्वात् कालादिवत्, वायुः प्रत्यक्ष उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वात् घटादिवदित्यनिर्णयित-प्रामाण्याप्रामाण्ययोरनुमानयोर्विरोधेऽर्थोपत्तेरुदयप्रसङ्गात् । नापि चतुर्थः । असंभवात् । नहि यद्यत्र विशेषतः प्रमितं तस्य तत्रापि तद्विपरीतप्रमाणविषयत्वसंशयः । न खलु स्थाणुरयमिति निश्चयेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशेरेते जनाः । नापि पञ्चमः । मिथोविरोधेन तर्कयोरेवाभासत्वात् ।

किंचोपपादकेन येन विनानुपपद्यमानत्वं तत्प्रमितं न वा । प्रथमे गृहीतमाहिकार्यापत्तिर्न प्रमा स्यात् । द्वितीये तु विशेषणासिद्धेः तद्विशेषितानुपपद्यमानार्थाप्रतीतौ कल्पकाभावान्नार्थापत्तिरुदयमात्सादयेत् इत्यलमतिविस्तरेण ।

याधोस्ति नवेति योयं संशयः स चेत्सर्थः । एवं विकल्प्य श्लोकेन संगृह्णाति दूषणानि—तदसिद्धिरिति । प्रमाणयोर्विरोध एवासिद्धः, अन्यतरस्याप्रमाणत्वात् । इतरथा वस्तुन एव द्वैरूप्यापत्तेरित्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—अतिव्याप्तिरिति । प्रमाणत्वेनाभिमतनिर्णयं किं प्रमाणत्वेन भ्रान्तिः किं वा ज्ञानमानम् । उभययार्थापत्त्याभासे गमनादतिव्याप्तिरित्यर्थः । तृतीये दूषणमाह—सक्तिः सप्रतिसाधने इति । सप्रतिसाधनेऽप्यनिर्णयमानप्रामाण्याप्रामाण्ययोर्दोषयोर्विरोधेऽर्थोपत्तेरुदयप्रसक्तिः ततश्चातिव्याप्तिरित्यर्थः । चतुर्थे प्राह—असंभव इति । नहि यद्यत्र विशेषतः प्रमितं तस्य तत्रैव विपरीतप्रमाणविषयत्वसंशयः संभवति, स्थानुलनिर्णयेऽपि पुरुषत्वसंप्राहकप्रमाणप्रवृत्तिसंशयापातादित्यर्थः । पञ्चमे दूषणमाह—अतर्कता चेति । मिथो विरोधेन तर्काभासतापातादित्यर्थः । एवमेते दोषास्तेषां पक्षणा क्रमाद्गृह्यन्त्या इति श्लोकयोजना । संप्रह विष्णोति—नताद्यदित्यादिना । विरोधस्यासिद्धेरित्युपरीतनेनान्वयः । अनुव्यवसायद्वारा मानसप्रत्यक्षत्वं संभवति तथेश्वरप्रत्यक्षत्वमेव सर्वस्यैवप्रसिद्धविशेषणता स्यादिति बाह्यकरणग्रहणम् । रूपादिव्यावृत्त्यर्थं द्रव्यग्रहणम् । घटादिव्यवच्छेदार्थंमरूपिग्रहणम् । द्वितीयेऽप्यसौदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वं साध्यम् । परमाण्वा-दिव्यभिचारवारणायोपलभ्यमानपदं, तदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलौ—'अनिर्यम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः । न मानयोर्विरोधोस्ति प्रसिद्धे चाप्यसौ सम' इति ।

प्रकारान्तरेणार्थापत्तिं दूषयति—किंचोपपादकेति । येन हि देवदत्तबहिर्भावेन विना गृह्णामाधो नोपपद्यते स किं प्रमितो न वा । आद्येऽर्थोपत्तिवैयर्थ्यमित्याह—प्रथम इति । द्वितीये प्राह—द्वितीयेऽप्यित्यादिना । अन्यथानुपपत्तिदर्शनं हि कल्पकम् । अन्यथेति च कोर्थ । बहिर्भावव्यतिरेकेणेति । तथाच बहिर्भावेऽज्ञाते तद्विशेषितं तदन्तरेणानुपपद्यमानत्वमपि न ज्ञातमिति कल्पकाभावादनुदय एवार्थापत्तेरित्यर्थः । तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः—'यतोऽन्यैत्वं तत्सिद्धेरपे तदसिद्धे'रिति । एतेन श्रुतार्थापत्तिरपि प्रत्याख्याता

१ बेल्लर्ष इति पाठो युक्तः । २ तदापातादित्यर्थः । ३ अन्यथेश्वरप्रत्यक्षत्वादिकमादाय सिद्धसाधन स्यात् इति बोध्यम् । ४ अनिर्यम्यस्याप्यस्य न अयुक्तिर्योगोऽनुपपत्तिर्व्यापकमुपपादक विना, अपि तु व्याप्यस्य व्यापकं विनाऽनुपपत्तिः । अनियन्ता चाग्यापको नोपपादकोऽपि तु व्यापकस्तथैलनुपपत्तौ व्याप्तिरत्येवेति तद्विज्ञानात्कल्पनमनुमानमेवेत्यर्थः । प्रमाणयोर्विरोधे चाविरोधावार्थापत्तिरिति मतान्तर निरस्यति न मानयोरिति । एवमनङ्गीकारे धूमादङ्ग-नुमानमप्यर्थोपत्तिरेवसादित्याह । प्रसिद्धेऽपि प्रकाशे । ५ यतः कल्पकादन्त्यत्वं कल्पस्य कल्पकसिद्धेरित्यर्थः । .

अभावाख्यं प्रमाणमपि दुर्निरूपम् । एवं हि वर्णयन्ति—योग्यानुपलब्धिकरणक्रमयो-
भावज्ञानमभावः । यथेह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानं, न चेदं प्रत्यक्षं, इन्द्रियसंनिकर्षाजन्य-
त्वात् । नह्यभावेनेन्द्रियसन्निकर्षः संयोगः समवायो वा संभवति । तयोर्भावधर्मत्वात् ।
नापि विशेषणविशेष्यभावः । तस्यापि मूलसंबन्धगर्भतया तन्निवृत्तौ निवृत्तेः । अन्तरे-
णापि मूलसंबन्धं विशेषणविशेष्यभावाङ्गीकारेपि तस्य प्रत्यक्षाङ्गतायाः पुरैव निरासात् ।
नचेदमनुमानादावन्तर्भवति । चक्षुरादिवदनुपलब्धेरज्ञायमानाया एव करणत्वात् । अ-
न्यथानुपलब्धेरप्यनुपलब्ध्यन्तरोपलभ्यमानतायामनवस्थानादिति ।

वेदितव्या । अनुपपद्यमानवाक्यैकदेशदर्शनेन वाक्यैकदेशकल्पनं हि सा । तथाहि । पीनो देवदत्तो दिवा न
भुङ्क्ते इति वाक्यैकदेशश्रवणाद्रात्रौ भुङ्क्ते इति वाक्यैकदेशकल्पनं, न चैषा प्रयुज्यते । पूर्वाक्तन्यायेनानुमानताया
दुष्परिहरत्वात् । किंच नात्र वाक्यमन्तरेण वाक्यस्यानुपपत्तिः । नन्वस्त्वेवानुपपत्तिः । शाब्दी हाकाङ्क्षा घ-
ब्देनैव पूरणीया । नहि पचतीति पदं प्रत्यक्षौदनेन निराकाङ्क्षमपि त्वेदनपदात्, इह पीनो देवदत्तो दिवा न
भुङ्क्ते इति वाक्यस्याकाङ्क्षा रात्रौ भुङ्क्ते इत्यनेनैव पूरणीयेति । न । तस्य वाक्यस्य संपूर्णक्रियाकारकतया निरा-
काङ्क्षेन दृष्टान्तवैषम्यात् । अथ पीनो न भुङ्क्ते इत्यभोजनेन नान्वेति, भोजनकार्यत्वात्पीनताया इति नदं,
हन्त तर्हि नेयमाकाङ्क्षा, अपितु योग्यताविरहः । नच सोप्यस्ति । त्रैकाल्यभोजननिषेधे हि स भवेत् । नच
भुक्त्वा क्षणमपि पीनस्त्रिष्टिति इति । न वात्र तथा निषेधः । दिवा न भुङ्क्ते इति विशेषनिषेधात् । यदि तु
विशिष्टकार्यदर्शनाद्रात्रिभोजनानुमानमनुमन्यामहेतरां तदा तु न रात्रिभोजनवाक्यकल्पनावकाशः । तदेतद-
खिलमितिना सूचयन्नुपसंहरति—इत्यलमिति विस्तरेणेति ।

इदानीं भाट्टमिमताभावप्रमाणं दूषयति—अभावाख्यमिति । तदमिमत् लक्षणं तावद्दूषयति—एवं-
हीति । विषयविषयाविनाभूतव्यतिरिक्तोपलब्धिकारणसंपत्तियोग्यता तत्संपत्तौ सत्यां योग्यमयोपलब्धि-
भावस्वत्करणकं पदार्थोभावज्ञानं तदभावप्रमाणम् । भाट्टवेदान्तिनोर्हि ज्ञानमेव मुख्यं प्रमाणम् । प्राकृत्य-
वेदनयोश्च फलत्वमक्षादौ तदौपचारिकः प्रमाणव्यवहारस्तेनाभावज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः । शाब्दानुमानिकाभावा-
ज्ञानव्यवच्छेदायानुपलब्धिकरणकमित्युक्तम् । अयोग्यस्यानुपलब्धिमात्राद्भावमात्रव्यवच्छेदार्थं योग्यत्वम् ।
उदाहरति—यथेति । नन्वज्ञातकरणजलात्प्रत्यक्षमेतदिति, तत्राह—नचेदं प्रत्यक्षमिति । ननु संयुक्त-
विशेषणतालक्षणसंनिकर्षात्प्रत्यक्षमेतदिति तार्किकास्तकथं पृथक्प्रमाणमिति, तत्राह—नह्यभावेत्यादिना ।
नन्वस्त्येव विशेषणविशेष्यभावसंबन्ध इति, तत्राह—नापि विशेषणेति । संयुक्तयोर्हि इन्द्रदेवदत्तयोः
पदशौक्ययोर्वा विशेषणविशेष्यभावो दृष्ट इति भावः । ननु मूलसंबन्धं विनेव निर्यतं भूतलमित्यभावभूत-
योर्विशेषणविशेष्यभावो भवद्भिरवाङ्गीकृत इति, तत्राह—अन्तरेणापीति । पुरैवेति । प्रत्यक्षमिदमु-
मानमात्रप्रविलयप्रसङ्गापत्तेर्बहुदा उक्तत्वादित्यर्थः । नचासंबन्धस्यापि प्रत्यक्षत्वे यो दोष इति वाच्यम् । अ-
तिप्रसङ्गस्यैव दोषत्वात् । नच तस्मिन्निहारिका दृश्यानुपलब्धिर्भविष्यतीति वाच्यम् । तथासति तावन्नाप्रस-
करणत्वेनेन्द्रियवैषम्यात् । नचान्यस्यापि शृङ्गे पटे काष्ण्याभावप्रसङ्गप्रसङ्गः । प्रतियोगिमाहकेन्द्रियैर्भावा-
ग्रहणस्याप्यङ्गत्वात् । नच व्योम्नि स्वर्षाभावाग्रहणप्रसङ्गः । प्रमाणान्तरनिबन्धनत्वात्तद्ग्रहणस्य । अत एव स्वर्-
माणदेवदत्तपुण्डलादौ देवदत्ताभावग्रहणेपि नानुपपत्तिरिति । अस्तु तर्लानुमान एवास्यान्तर्माणदत्त-
योग्यैरनुपलब्धिलक्षणं लिङ्गान्तरं स्वीक्रियत इति, तत्राह—नचेदमिति । शायमानकरणं ह्यनुमानम्, इदं तु
न तथेत्यर्थः । अथ किमिति शायमानतथैव करणं न भवेत्तत्राह—अन्ययेति । अयमर्थः । अनुगतत्वेन

१ अभावाख्यमिति अनुमानदोषविरहिता प्रकल्पेन न दृश्यते इत्यर्थः । २ विषयविषयाविनाभूतव्यतिरिक्तोपलब्धि-
भावस्वत्करणकं पदार्थोभावज्ञानं तदभावप्रमाणम् । ३ भाट्टवेदान्तिनोर्हि ज्ञानमेव मुख्यं प्रमाणम् । ४ प्राकृत्य-
वेदनयोश्च फलत्वमक्षादौ तदौपचारिकः प्रमाणव्यवहारस्तेनाभावज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः । ५ शाब्दानुमानिकाभावा-
ज्ञानव्यवच्छेदायानुपलब्धिकरणकमित्युक्तम् । ६ अयोग्यस्यानुपलब्धिमात्राद्भावमात्रव्यवच्छेदार्थं योग्यत्वम् । ७ उदाहरति—
यथेति । ८ नन्वज्ञातकरणजलात्प्रत्यक्षमेतदिति, तत्राह—नचेदं प्रत्यक्षमिति । ९ ननु संयुक्त-
विशेषणतालक्षणसंनिकर्षात्प्रत्यक्षमेतदिति तार्किकास्तकथं पृथक्प्रमाणमिति, तत्राह—नह्यभावेत्यादिना । १० अ-
तिप्रसङ्गस्यैव दोषत्वात् । ११ नच तस्मिन्निहारिका दृश्यानुपलब्धिर्भविष्यतीति वाच्यम् । १२ तथासति तावन्नाप्रस-
करणत्वेनेन्द्रियवैषम्यात् । १३ नचान्यस्यापि शृङ्गे पटे काष्ण्याभावप्रसङ्गप्रसङ्गः । १४ प्रमाणान्तरनिबन्धनत्वात्तद्ग्रहणस्य । १५ अत एव स्वर्-
माणदेवदत्तपुण्डलादौ देवदत्ताभावग्रहणेपि नानुपपत्तिरिति । १६ अस्तु तर्लानुमान एवास्यान्तर्माणदत्त-
योग्यैरनुपलब्धिलक्षणं लिङ्गान्तरं स्वीक्रियत इति, तत्राह—नचेदमिति । १७ शायमानकरणं ह्यनुमानम्, इदं तु
न तथेत्यर्थः । १८ अथ किमिति शायमानतथैव करणं न भवेत्तत्राह—अन्ययेति । १९ अयमर्थः । अनुगतत्वेन

तदयुक्तम् । 'केवलानुपलम्भस्य व्यभिचारनिवारिणी । योग्यता चेत्कुतो न स्यादनुमानमभावधीः ॥' ३६ ॥ अनुपलम्भमात्रस्य सुपुस्यादावभावज्ञानाजनकतया तद्व्यभिचारवारणाय योग्यानुपलब्धिरिति विशेष्येतेति चेत्तर्हि योग्यानुपलब्धेर्धूमादिवदव्यभिचारितयाऽभावज्ञानजनकत्वोपपत्तौ कुतः प्रमाणान्तरता । नचाज्ञायमानतया करणत्वेनानुमानाद्बहिर्भावः, अन्यथानवस्थाप्रसङ्गादिति वाच्यम् । स्वतःसिद्धसाक्षिप्रसादादेवोपलब्धिवदनुपलब्धेरपि सिद्धावनवस्थादुस्यताऽभावात् । अन्यथानवस्थायास्तवापि दुरुत्तरत्वात् । तथाहि अनुपलब्धेः सर्वथानवगतत्वे तत्करणत्वस्य दुरधिगमत्वात्तदधिगतिरवश्यप्रयणीया । सापि चेदनुपलम्भान्तरात्सिद्धयेत्तदपि तथैवेति कथं नानवस्था । एवं तत्र तत्र प्रमाणानुपन्यासे तत्तदनुपलम्भसत्ताया एवासिद्धिः । प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात् ।

भवतु वा मित्रे वानुपलब्धिरनुमानात्तथापि नाभावः प्रमितिकरणम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । किमुपलब्धेः प्रागभावोनुपलब्धिरुत प्रध्वंसः किं वान्योन्याभावोत्यन्ताभावो वा । नाद्यः । दृष्टनष्टे घटे उपलब्धिप्रागभावाभावेऽप्यभावप्रमितिदृष्टेः । नापि द्वितीयः । प्रागभावात्यन्ताभावप्रमित्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । प्रतियोग्युपलब्धेरसंजातत्वादेव तैत्प्रतियो-

घत्वेन प्रत्यक्षलनिरासात्तद्विशेषमानसप्रत्यक्षत्वं दूरोत्सारितम् । नित्यानुमेयत्वाच्च ज्ञानस्य न दृश्यप्रतियोगिकत्वमत एव 'ज्ञानविकल्पानामध्यात्मभावाभावसंवेदना'दिति सूत्रमप्यनवकारं, तस्मादनुपलब्धिरेवानुपलब्धिसंवेदनेऽपि शरणम् । तथाच तत्र तत्रापि तथैत्यनवस्था स्यादिति ।

एवं समर्थितमभावप्रमाणं दूषयति सिद्धान्ती—तदयुक्तमिति । अस्य तावदनुमानान्तर्भावं श्लोकेन दर्शयति—केवलेति । अत्र तावदनुपलम्भमानसाभावबोधने सुपुस्यादौ व्यभिचारात्तन्निवारणाय योग्यतालक्षणविशेषणं प्रक्षिप्यते भवद्विस्तायाच धूमादिवदव्यभिचारेणाभावबोधकत्वात्तज्जान्याभावधीःनुमानं कुतो न स्यात्किन्तु स्यादेवेति योजना । एतदेव विवृणोति—अनुपलम्भेति । नन्वव्यभिचारेऽप्यज्ञातकरणत्वाद्धानुमानमित्युक्तमिति, तत्राह—नचेति । स्यादयं दोषो भवन्नये, अस्मन्मते तु स्वप्रकाशसाक्षिवेद्यत्वाद्वाङ्मिरूपज्ञानतदभावयोर्नाज्ञातकरणत्वं नाप्यनवस्थेत्याह—स्वतःसिद्धेति । ननु तादृक्साक्षिचैतन्ये सिद्धे सत्यं परिहारो भागी तदेव हृदीक्षीरसदृशं, प्रमाणाभावादिति, तत्राह—अन्यथेति । सर्वथाऽज्ञायमानानुपलब्धेः प्रमितिकरणत्वमपि दुर्भेगमिति कदाचिदपि ज्ञप्तिरवश्याप्रयणीया, तथाच त्वदुशीरितानवस्थाकृत्या त्वप्येव प्रतिकृत्या स्यादिति साक्षिणैव तवापि रक्षा विधातव्येति खण्डलकार्यः । वक्ष्यते च साक्षिसिद्धौ प्रमाणगणश्चतुर्थपरिच्छेदे । पुरस्तादिति । ईदृश्यनवस्था स्वप्रकाशवादादौ प्रपञ्चिततरेत्यर्थः ।

एवं श्रौढवादेनानुमानान्तर्भाव उक्तः, इदानीं भवतु धानन्तर्भावस्तथापि नैतस्य प्रमाणत्वं प्रमाणाघातं सहते इति प्रामाणिकप्रपञ्चरचोन्नाट्टान्प्रत्याह—भवतु वेत्यादिना । उपलब्धिप्रागभावलक्षणानुपलब्धेर्नाभावप्रमितिनियतिः, तदभावेऽपि घटोपलब्धिप्रध्वंससमयेऽभावप्रमितिदर्शनादित्याह—नाद्य इति । उपलब्धिप्रध्वंसोऽभावप्रमितिकरणमिति पक्षं दूषयति—नापि द्वितीय इति । कारणनिष्ठः कार्यससर्गाभावो हि प्रागभावः, नच तत्प्रमितिसमये प्रतियोग्युपलब्धिप्रध्वंसोऽस्ति, उपलब्धेरसंजातत्वात् । प्रमितिर्यत्रैतियोग्युपलब्धिप्रभेदा । नच तादृशप्रतियोगिप्रमितिरस्ति, नित्यमविद्यमानार्थत्वादिति भावः । एवमत्यन्ताभावेऽपि ।

१ अनुपलम्भे इति शेषः । २ अत्रोपलब्धिपदेन पठितत्पुरुषः । ३ तत्पदार्थं उपलब्धिः । ४ ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेनाहध्यात्मम् इति पाठः संप्रत्युपलम्भ्यते अथ्यात्ममात्मनिष्ठाना ज्ञानविकल्पाना ज्ञानविशेषाणां च भावाभावयोर्मनसैव सुप्रसङ्गादिति । धवं साक्षात्करोमि बहिमनुमिनोमि नानुमिनोमीत्यादिरूपेणेति सूत्रार्थः । ५ हि प्रतियोग्युपलब्धिदिति पाठो भाति ।

एव न स्यात् । नापि द्वितीयः । शङ्खध्वलिमप्रतिसेधानवतः पीत इति भ्रमानुदय-
प्रसङ्गात् ।

अपिच यत्राभाव एव लक्षणतो दुर्निरूपः कुतस्तत्रेदं प्रमाणमिदं प्रमेयमिति विचा-
रावतारः । तथाहि । कोयमभावः भावादन्वो वा १ भावत्वानधिकरणं वा २ भाववि-
रोधी वा ३ भावेन स्वभावप्रत्यासन्नो वा ४ नास्तीति प्रत्ययविषयो वा ५ प्रतियोगि-
सापेक्षनिरूपणो वा ६ अस्तीति बुद्धेरविषयो वा ७ निर्विकल्पकबुद्धेरविषयो वा ८ भाव-
लक्षणरहितो वा ९ । नाद्यः । भावस्यापि भावादन्वत्वेनाविद्याप्तेः । न द्वितीयः । अनधिकरण-
पदेनाधिकरणत्वाभावविवक्षायामात्माश्रयत्वात् । न तृतीयः । किञ्चिद्भावविरोधस्य
भावेपि सद्भावादतिव्याप्तेः, सर्वभावविरोधित्वस्याभावेऽप्यभावेनासंभवित्वात् । न रल्लु
घटाभावः सर्वभावविरोधी, सति घटाभावे विश्वाभावप्रसङ्गात्, विरोधिशब्देन च ताः
दात्म्यासहिष्णुत्वविवक्षायां भावेष्वपि भावात् । नापि चतुर्थः । समवायादावपि भावात् ।
नापि पञ्चमः । इह भूतले घटो नास्तीति घटभूतलयोरपि विशिष्टाभावबुद्धिविषयत्वात्,
अनुगताकारानिरूपणाच्च । नापि षष्ठः । ह्रस्वद्वैर्द्यादिष्वपि भावात् । न सप्तमः । घटः
स्याभावोस्तीत्यभावस्याप्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनासंभवित्वात् । नाप्यष्टमः । ब्राह्मणत्वादि-
ष्वपि भावात् । “संस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि जन्मतः । कचिदाचारतश्चापि सम्यग्भा-

माह—शङ्खध्वलिमेति । यदाहि कश्चिद्वलः शङ्ख इति चेतसा शङ्खध्वलिमानमनुसंदधाति, तदापि
पीतपित्तोपहतनयनतया पीतः शङ्ख इति भ्राम्यति, तत्र ध्वलिमानुसंधानसमये पीतज्ञानं नासीत् । ज्ञानद्व-
ययोग्यताभावात् । ततश्च योग्यतोपेतपीतोपलम्भाभावस्त्वदानीमस्ति नास्ति च पीतशङ्खाभावप्रमित्युत्पत्तिः ।
उत्तरक्षणे भ्रमदर्शनात् । अतस्तावकलक्षणं तत्रातिव्याप्तमित्यर्थः ।

इदानीमेतदप्रसाङ्गाद्भावमात्रस्यैवानिरूपिततां दर्शयितुमुपक्रमते—अपिचेत्यादिना । अभाव इत्यत्र
ननस्तदन्वत्तदभावत्वतद्विरोधित्वार्थाभिप्रायेण विकल्पत्रयोत्थानम् । इतरेतु पक्षे पक्षा वैवक्षिकाः ।
स्वभावप्रत्यासन्न इति । नहि भूतलघटाभावयोरन्यः संबन्धः प्रत्यासत्तिः, संन्यन्तराभावादित्यर्थः । न
द्वितीय इति । भावत्वानधिकरणत्वं नाम किं तदधिकरणत्वाभावः किंवा तदधिकरणत्वान्यत्वम् । द्वितीये
भावेऽतिव्याप्तिः । नहि भावलाधिकरणत्वमेव भावः । प्रथमे प्राह—अनधिकरणेति । एतेन समवाय-
न्यत्वे सत्यसमवाय्यभाव इति मानमनोहरलक्षणमपि निरस्तम् । असमवायित्वविवेचने एव यथोक्तदूषणप्र-
चारादिति । भावेपीति । गोत्वाश्रवत्वादावित्यर्थः । अभावस्य सर्वभावविरोधित्वाभावमेव विवृणोति न
खद्विति । किंचेदं भावविरोधित्वं किं भावघानकत्वं किं वा भावासहस्यवित्वं किं वा भावतादात्म्यवृद्धि-
त्वम् । त्रिधापि भावेष्वतिव्याप्तिरित्यभिसेधिराह—विरोधिशब्देन चेति । समवायेति । नहि सम-
वायस्य समवायिभ्यां स्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यासरयन्तरमस्ति । अनवस्थादिदोषात् । आदिशब्देन च प्रमेय-
त्वादि गृह्यते । इह भूतल इति । एकं हीदं ज्ञानं भूतलघटघटिताभावप्राहीति तयोरप्येतत्प्रत्ययविषयत्वादति-
व्याप्तिरित्यर्थः । किञ्च प्रतीतिविषयत्वं नाम प्रतीतिश्च विषयश्च, तौ परस्परं व्यावृत्ताविति अनुगतलक्षणा-
भावादव्याप्तिरित्याह—अनुगतेति । निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वमिति पक्षं दूषयति—नाप्यष्टम इति ।
ब्राह्मणत्वादीनामपि न निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वं, व्यञ्जकविशेषप्रतीत्यभावे तेषामप्रतीतेरतीतिव्याप्तिरित्यर्थः ।
एतदेव भट्टवार्तिकेन द्रव्यति—संस्थानेनेति । संस्थानं कम्बुश्रीवादिदृश्यं तत्सहकृतमिन्द्रियं च घटत्वादे-
ः प्रोहकमित्यर्थः । जन्मतः, अविद्युतव्रह्मचर्यो ब्राह्मणः सादित्वादिविशेषणात्, कचिच्च युधिष्ठिरप्रभृति सम्यग्भा-

जानुपालितात् ॥ तैलाद्धृतं विलीनं च गन्धेन च रसेन च ।” इत्यादिन्यायेन तेषामपि स-
विकल्पकमात्रविषयत्वात् । नच नवमः । राहित्यशब्देनाप्यभावाभिधानादात्माश्रयत्वापत्तेः ।
किंच किंचिद्भावलक्षणरहितत्वे च भावेष्वपि प्रसङ्गः, सर्वभावलक्षणरहितत्वशब्देन च
सर्वभावलक्षणत्वानधिकरणत्वविवक्षायामेकैकस्यापि भावस्य तत्त्वादतिव्याप्तिः । सर्वभा-
वलक्षणाभावाधिकरणत्वाभिधाने च तेष्वेव लक्षणाभावेष्वव्याप्तिः । तेषां स्वाधिकरण-
त्वाभावात् । तेष्वभावान्तराभ्युपगमे चाननुगमप्रसङ्गः ।

किंचेदं भावत्वं यदनधिकरणत्वमभावः, किमस्तीतिप्रत्ययविषयत्वं १ नास्तीतिप्रत्ययावि-
षयत्वं वा २ प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणत्वं वा ३ निर्विकल्पबुद्धिबोधयत्वं वा ४ षड्लक्षणल-
क्षितत्वं वा ५ षड्लक्षणान्यतमलक्षणलक्षितत्वं वा ६ । नाद्यः । घटस्याभावोस्तीत्यतिप्रत्यय-
विषयत्वेनाभावेऽतिव्याप्तेः । न द्वितीयः । भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययविषयस्यापि घटादेर्भा-
वत्वात् । न तृतीयः । प्रतियोग्यपेक्षनिरूपणे ऋस्वदीर्घत्वादावव्याप्तेः । न चतुर्थः । निर्विक-
ल्पबुद्धेः प्रागूर्ध्वमपि घटादेर्भावात् । तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वे चात्यन्ताभाव एवातिव्या-
प्तिः । तत्राप्यत्यन्ताभावान्तराभ्युपगमे लक्षणस्याननुगमः । न पञ्चमः । षड्लक्षणलक्षितत्व-
प्रत्येकं द्रव्यादिष्वभावेनाव्याप्तेः । न षष्ठः । अन्यतमत्वस्य प्रागेव निरस्तत्वात् ।

जानुपालितादाचारात्, विलीनं घृतं गन्धेन च रसेन च तैलाद्देहेन ज्ञायत इति शेषः । भावलक्षणरहितो वेति
पक्षे दूषयति—नच नवम इति । अन्यत्वभिधाने च भावेपि भावादतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । भावल-
क्षणशब्देन सर्वभावलक्षणमभिधीयते किंचिल्लक्षणं वा । द्वितीये प्राह—किंच किंचिद्भावेति । प्रथमे
भावानां यानि सर्वाणि लक्षणानि तदनधिकरणत्वं विवक्षितं भावलक्षणानां ये सर्वेऽभावास्तदधिकरणत्वं वा ।
आद्ये प्राह—सर्वभावेति । सर्वभावलक्षणत्वमिति च बहुव्रीहिः । सर्वभावलक्षणत्वत्वमिति यावत् । एकै-
कभावस्य सर्वभावलक्षणत्वत्वाभावादतिव्याप्तिरभावलक्षणस्येत्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—सर्वेति । भव-
लक्षणानां ये सर्वेऽभावास्तदधिकरणमित्यभिधाने च तत्तद्व्यतिरिक्तत्वाभावेऽतिव्याप्तिः, नहि तत्तदभावानां तदा-
भावधिकरणत्वम्, स्वाधिकरणत्वाभावादित्यर्थः । अथ चैकैकभावलक्षणभावा अपि षड्वीतस्तदधिकरण-
वान्तराधिकरणत्वात्तदभावानामप्यस्येव सर्वाभावाधिकरणत्वमिति मतं तथापि न सर्वाभावाधिकरणत्व-
स्वाधिकरणत्वाभावादेव । अथ तत्तदभावविशेषाधिकरणत्वं लक्षणं तर्हि तेषामेव विशेषानां स्वाधिकरण-
भावेनैकैकविशेषाधिकरणत्वविवक्षायामितरेषु लक्षणाननुगतिः । एवमितरविशेषविवक्षायामनीत्यर्थः ।
त्याह—अभ्युपगम इति ।

किंच भावलक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तदधीननिरूपणाभावापि दुर्निरूप इति हृदि निधान माहत्तदधीन-
खण्डयति—किंचेदमिति । यदनधिकरणत्वमिति । यदधिकरणत्वमित्यर्थः, तदधीन-
प्रकृतत्वात् । षड्लक्षणेति । द्रव्यादीनां घण्टां यानि लक्षणानि तैर्लक्षितत्वं चेत्यर्थः । नास्तीति अन्त-
विषयत्वमिति द्वितीयपक्षेऽव्याप्तिमाह—भूतले घट इति । ननु निर्विकल्पबुद्धिपिण्डत्वमम तदधीन-
त्यन्ताभावानधिकरणत्वं विवक्षितं, तेन न प्रागूर्ध्वप्रयुक्तव्याप्तिरिति, तत्राह—तदत्यन्तैति । सोऽनन्त-
भावो लक्षणत्वेनाभिहितस्वभिधेय स्तानधिकरणेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । उत्तरो मन्योऽन्तरमेव हृत्तेजः । न
पञ्चम इति । घण्टां यानि लक्षणानि न तैरेकैकलक्षितत्वमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । अस्तु तर्हि घट, घट-
विशेषादिस्वभिधेयोऽपि, तत्राह—न षष्ठ इति । एवं भावलक्षणानिरूपणादपि तन्मुद्येनामपि तदधी-
धमवति, प्रकृतान्तरेण निरूपणं पुरत्यादेव निरस्तम् ।

कश्चायं प्रागभावः, विनाश्यभाव इति चेन्न । विनाशिशब्देनोत्पत्तिमदभाववत्त्वाभिधाने लक्षणस्यासंभिवत्वात् । नहि प्रागभावस्य घटव्यतिरेकेणोत्पत्तिमानन्योऽभावो निवृत्तिरन्यस्यानुपलम्भात् । 'अपोह्यमाने चाभावे भाव एवावशिष्यत' इत्यभ्युपगमाच्च । नन्वनिवृत्ते प्रागभावे घटजन्मन एवासंभवादन्वैव निवृत्तिरभ्युपेया । नच चार्तिकवचनविरोधः । निवृत्त्या प्रागभावेऽपोह्यमाने तत्प्रतियोगी घटादिरवशिष्यत एवेत्ययोग्यवच्छेदपरत्वात् । अन्यथाऽभावापह्नवमात्रेण भावशेषे प्रागभावसमये प्रध्वंसस्यासंभवात्, प्रध्वंससमये च प्रागभावस्याभावाद्भावावशेषः प्रसज्येत इति चेन्मैवम् । त्वदुक्तेन न्यायेनानिवृत्ते प्रागभावे तन्नित्यत्तेरपि जन्मासंभवात् । तत्र तत्र निवृत्त्यन्तराभ्युपगमे चानवस्थापातात् । तस्मादुभयत्रानुपपत्तिसाम्येऽपि घट एव स्वप्रागभावनिवृत्तिरित्यङ्गीकरणीयम् । कल्पनालाघवात् । तथाचासंभिवत्वदोषस्तदवस्थ एव । अस्तु वा प्रागभावस्य घटादन्वैव

एवमभावमात्रलक्षणं खण्डयित्वा तद्विशेषलक्षणमपि खण्डयति—कश्चायमिति । प्रध्वसेतिव्याप्तिपरिहाराय विनाशिग्रहणम् । घटादिनिवर्तनायामावग्रहणम् । अत्र किं विनाशिशब्देन विनश्ये घट इत्यादिष्विवोत्पत्तिमदभाववत्त्वमभिधीयते किं वाऽभाववत्त्वम् । चरमे प्रध्वंसादावतिव्याप्तिः । तस्याध्यभावप्रतियोगित्वात् । आद्यस्त्वसंभवीत्याह—विनाशिशब्देनेति । प्रागभावस्य निवृत्तिरित्यन्वयः । अत्र किं प्रत्यक्षात् घटव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिः स्वीक्रियते उपपत्तिवलाद्वा । नाय इत्याह—अनुपलम्भादिति । तदुक्तं तात्पर्यटीकायामाचार्यवाचस्पतिना—'नो खल्वभावाभावो नाम कश्चिदन्यो भावात्तपि भावाभावोऽभावा'दिति । भद्रग्रन्त्याह—अपोह्यमान इति । द्वितीयपक्षमुद्गावयति—नन्विति । किं निवृत्ते प्रागभावे घट उत्पद्यते उतानिवृत्ते । न तावदनिवृत्ते । विरोधिनि सति विरोध्यनुदयात् । तस्मान्निवृत्ते सतीति वक्तव्यम् । तथाच घटोत्पत्तेः प्राचीना काचन प्रागभावनिवृत्तिरभावरूपिणी स्वीकरणीया अतः कथमसंभवो लक्षणस्येत्यर्थः । अयोगेति । यदि ह्यपोह्यमानेऽभावे भाव एवेति यथाश्रुतोन्वयः स्यात्तदा विरोधः । नचैवमन्वयः, अपि तु भावोऽवशिष्यत एवेति । तथाच भावोदयमात्रप्रतिपादनपरत्वाच्च निवृत्तिनिराकरणपरत्वेत्यर्थः । ननु भावावशेष एव चेद्विधिसिद्धिस्तर्हि निवृत्त्यवशेषादपि भावावशेषः सिध्यति तद्रूपलाद्भावस्यातः पृथगभिधानवैयर्थ्यमिति, तत्राह—अन्यथेति । नामाभावापह्नवमात्रं भावशेषः । यदि हि भावाकारेणावशेषो नामाभावापह्नवमात्रं स्यात्तदा भावावशेष एव स्यात् । न पुनः प्रागभावध्वंसावस्थातोतिरिक्तः कश्चित्प्रकारः । यतः प्रागभावसमयेऽपि प्रध्वंसापह्नवरूपघटस्य विद्यमानत्वात्प्रध्वंससमये च प्रागभावापह्नवरूपघटस्य विद्यमानत्वाद्भावपह्नवरूपो घट सर्वदास्तीति नोदकाहरणसमर्थघटसिद्धिरित्यर्थः । अथवाऽभावापह्नवमात्रत्वे भावस्य प्रागभावध्वंसावस्थायामपि घट स्यात्, एकैकनिवृत्तेरेकैकावस्थायामपि विद्यमानत्वादित्यर्थः । एतेन प्रागभावस्यैव निवृत्तिर्घट इत्यपि निरस्तम् । तदेतत्सिद्धान्ती दूषयति—मैवमिति । न तावद्विरोधिनिवृत्तावेव विरोध्युदय इति व्याप्तिः । निवृत्तेरपि प्रागभावानिवृत्तास्तुल्यस्यसम्भवेन निवृत्त्यनवस्थाप्रसङ्गात् । तस्मादनिवृत्ते एव च प्रागभावे विरोध्युदय इति वक्तव्यम् । तथाच तद्वदेव घटोऽप्युत्पत्तुं शक्नोतीति नैयमुपपत्ति काचन, प्रत्युत घटरूपैव निवृत्तिः । कल्पनालाघवादाश्रयणीया, तथाचासंभिवत्त्वमित्याह—त्वदुक्तेनेत्यादिना । असमवसुपेक्षायतिव्याप्तिमाह—अस्तुवेति । ननु नास्ति प्रध्वंसस्य प्रध्वंसः, येनातिव्याप्तिः स्यात्, प्रध्वंसस्यापि प्रध्वसे घटप्रागभावध्वंसरहितकालस्य घटकालत्वेन घटोन्मज्जनप्रसङ्ग इति,

निवृत्तिस्तथापि प्रध्वंसोऽतिव्याप्तिस्तस्यापि विनाशित्वात् । नच ध्वस्तस्योन्मज्जनापत्तिः । प्रध्वंसवदेव तत्तत्प्रध्वंसमालाया अपि प्रध्वस्तभावविरोधित्वात् । तत्रापि कथमन्यथा प्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गपरिहारः ।

यत्पुनरुक्तं लीलावतीकारेण 'असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गप्रत्यभिज्ञानबाधितत्वात् कल्पनालाघवाच्च न प्रागभावप्रध्वंसयोरुत्पत्तिविनाशा'विति । तदसत् । कपालचूर्णरजःप्रभृतीनां संभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गाणां भिन्नतयैव प्रत्यक्षत्वात् त्वदुक्तप्रत्यभिज्ञाया असिद्धेः, प्रत्यक्षसिद्धे च भेदे कल्पनालाघवन्यायस्यानवसरदुःस्थत्वात् । तथाच पौराणिकमुदाहरणम्— 'मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णरजस्ततोणु'रिति । उत्पत्तिमानभावो ध्वंस इत्यप्यलक्षणम् । पिण्डादेर्घटप्रागभावत्वेनास्मद्भिमतस्योत्पत्तिमत्त्वात्तदतिरिक्तस्य चानुपलब्धेः ।

तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि न । घटपटयोस्तादात्म्यस्यैवाप्रति-

तत्राह—नच ध्वस्तस्येति । यथा हि प्रथमध्वंसो घटविरोधी, एवं तत्प्रध्वंसमालापि घटविरोधिन्नेव, तत्कस्य हेतोर्होतरोत्तरध्वंसानामपि ध्वंससमानविरोधित्वात्पूर्वपूर्वप्रतियोगिव्यावृत्तखध्वंसविरोधित्वत्वात् । इति रथा घटसंसर्गनिषेधे घटस्य निषेधो न स्यादिति घटनित्यतानित्यतयोः प्रसङ्गात्, ततो नोन्मज्जनापत्तिरिति भावः । अतश्चैवमेवाङ्गीकर्तव्यमितरथा घटध्वंसो घटप्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गात्, घटध्वंसस्य प्रागभावध्वंसध्वंसत्वात्, घटानवच्छिन्नकालस्य घटप्रागभावव्याप्तत्वाच्चेत्याह—तत्रापि । नच प्रागभावोन्मज्जनमत्त्वेनेति वाच्यम् । तथासति घटोत्पत्तेरवश्यंभावेनोद्भूतवृत्तान्तापतादिति भावः । उक्तं च लीलावतीकारेण 'प्रागभावनिवृत्तिनिवृत्तौ तदुन्मज्जनापत्ति' रिति चेन्न । ध्वंसस्यापि तद्विरोधित्वादिति । यदन तेनैवोक्तम्—एवं एतौ ध्वंसोपि नश्यत कृतकत्वात् प्रागभावोपि जायेत विनाशित्वादिति ।

प्रागभावप्रध्वंसयोरुत्पत्तिविनाशावाशङ्क्य नासंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गप्रत्यभिज्ञानप्रतिक्षितत्वादिति । तत्रुचरति—यत्पुनरिति । अस्ति हि घटोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं च नासीत् घटो न भविष्यति पट इति नास्ति च पट इति वा । स एवायं प्रागभावः स एवायं प्रध्वंस इत्येव वाऽयाधिताभावप्रत्यभिज्ञानम् । इदं च ज्वालाप्रचमि-ज्ञानवदमानमित्यत उक्तम्—असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गेति । न संभवी विरुद्धधर्मसंसर्गो यदिप्ये तदप्रत्यभिज्ञानं तथोक्तम्, एकाभावेनैव व्यवहारोपपत्तावनन्ताभावकल्पनायां गौरधं चेत्याह—कल्पनेति । दूषयति—तदसदिति । अत्र तावदुत्तरोत्तरकपालादिरेव पूर्वपूर्वपटादेः प्रध्वंसः पूर्वपूर्वपिण्डादिरेवोत्तरपटादेः प्रागभाव इति च वक्ष्यति । तथाच तेषां कपालप्रभृतीनां परस्परविरुद्धानामेवोपलभ्यमानतां उच्यते । प्रागभावप्रध्वंससंभवात्तदुत्पत्तिरिति । कल्पनागौरवं परिहरति—प्रत्यक्षेति । कपालादीनां पटादिध्वंसना नानात्वे विष्णुपुराणसंमतिमप्याह—मही घटत्वमिति । मही पटत्वं प्रतिपद्यते, एवं यावदप्यु । अस्तु च 'जनैः स्वकर्मस्त्रिमितात्मदृष्टिमिरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र यस्त्वित्युत्तरार्थः । अयमर्थः । एवमागमापत्तिरस्य स्वकर्मस्त्रिमितात्मदृष्टिमिर्जातकारणतामालक्ष्यते अतः किमत्र विकारजाते यस्तु ब्रूहि, न किमपीत्यर्थः । प्रध्वंसालक्षणमपि दूषयति—उत्पत्तिमानिति । यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—पिण्डादेरिति । तथाच—

एवंप्रागध्वंससंभवाच्च दूषयति—तादात्म्येति । नेदरान्मज्जनप्रसङ्गोक्तं स्वरूप-धिकविषयक्षया—घटपटयोरिति । ननु घटे पटत्वमेव निषिद्धं तदाय नाप्रतिद्विप्रदोमित्येति, तत्र—

१ प्रथमेत्यादिः । २ अभावस्य स्वप्रतियोगिभावविरोधित्वे । ३ घटो यत् पटो यावत् तदुत्पत्तेः पटोः ४—

तत्त्वेन प्रमितनिषेधनियमवादिनस्तन्निषेधस्याशक्यत्वात्, प्रमिते घटे प्रमितपटत्वप्रतिषेधे च भूतले घटनिषेधवत्संसर्गाभावापत्तेः । प्रतियोग्यनिष्ठो नित्योऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि न, विकल्पानुपपत्तेः । प्रतियोगिशब्देन किमन्यदुच्यते किंवा निरूपको विरोधी वा । नाद्यः । धर्मिणोऽपि स्वस्मादन्यत्वेनासंभवित्वात् । धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति विवक्षितमिति चेन्न । अत्यन्ताभावेतिव्याप्तेः । यत्र यत्र वर्तते तस्यैव धर्मितया ततोऽन्यत्र तस्यावृत्तेः । न द्वितीयः । धर्मिणोपि निरूपकतया तत्रावृत्त्यसंभवात् । धर्मिव्यतिरिक्तनिरूपकावृत्तित्वं विवक्षितमिति चेन्न । धर्मिणोऽपि धर्म्यन्तरादन्यत्वात् । धर्मित्वानधिकरणे न वर्तत इति चेन्न । असंभवित्वात्, निर्धर्मकस्य वस्तुनोऽसंभवेन प्रतियोगिनोऽपि धर्मित्वात् । नापि तृतीयः । विरोधस्य दुर्घटतायाः पूर्वमेवाभिहितत्वात् । अस्तु चा यः कश्चिद्विचारितरमणीयः प्रतियोगी, तथापीदं भवान्प्रष्टो व्याचष्टां, किमेको जगत्स्योन्याभावः किं वा बहवः । 'सर्वस्य प्रतियोगित्वाद्दुर्लभा तदनिष्ठता । द्विधाप्यात्माश्रय-

प्रमिते घट इति । लक्षणान्तरं शङ्कते—प्रतियोगीति । अत्यन्ताभावव्यावृत्त्यर्थं प्रथमं विशेषणं, नित्यत्वं चेदमुत्पत्तिविनाशरहितत्वम्, एतच्च प्रागभावप्रध्वंसयोर्व्यभिचारवारणार्थम् । नित्यभावव्यावृत्त्यर्थमभावपदम् । यत्तदधिकविषयैर्युक्तं तद्दर्शयिष्यन्विकल्पयति—प्रतियोगिशब्देनेति । धर्मिणोऽपीति । अन्यत्वं चेत्प्रतियोगित्वं तथासत्यन्योन्याभावादित्यर्थोऽङ्गभ्यते, तस्य प्राधान्येन प्रकृतत्वात् । तथाच प्रतियोग्यनिष्ठ इति कौर्म्यं, अन्योन्याभावव्यतिरिक्ते न वर्तत इति, तथाचाभावस्य धर्मिष्यप्यवृत्तिप्रसङ्गेन नित्यमसंभवेव लक्षणमित्यर्थं । नन्वन्यत्वमेव न प्रतियोगित्वं किंतु धर्मिणोऽन्यत्वम्, तथाच धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति लक्षणार्थं इति शङ्कते—धर्मिव्यतिरिक्त इति । तत्र यद्यपि नित्यत्वविशेषणात्प्रागभावादौ न गच्छति, तथाप्यत्यन्ताभावे गच्छत्येव, तस्यापि धर्मिव्यतिरिक्ते वृत्तिव्याघातात्प्राप्ति, अस्ति च नित्यत्वमित्यभिप्रेत्य दूषयति—अत्यन्तेति । निरूपकत्वं प्रतियोगित्वमिति पक्षेऽप्यसंभव एव, धर्मिणोपि निरूपकतया तत्रावृत्तेरसंभवादित्याह—न द्वितीय इति । न निरूपकत्वमात्रं प्रतियोगित्वं किं तर्हि धर्मिव्यतिरिक्तत्वे सति, तथाच नासंभव इति शङ्कते—धर्मिव्यतिरिक्तेति । किं धर्म्यन्त्यत्वं धर्मिव्यतिरिक्तत्वं वा धर्मित्वानधिकरणत्वं वा, आद्ये प्राह—धर्मिणोपीति । तथाचासंभवस्तदवस्थ इत्यर्थः । द्वितीयमाशङ्क्यासंभवेन दूषयति—धर्मित्वेति । असंभवमेव विप्रणोति—निर्धर्मकस्येति । विरोधी प्रतियोगीति पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । पूर्वमेवेति । किं सर्वाभावेन यत्किञ्चिद्भावेन चेति विकल्प्य पूर्वमेव दूषितत्वादित्यर्थः । एव प्रतियोग्यनिरूपणात्प्रतियोग्यनिष्ठत्व दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानीं तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण प्रतियोग्यनिष्ठतादुर्घटता व्युत्पादयति—अस्तुवेत्यादिना । एतत्त्वे बहुत्वे च यथाक्रमं दूषणं स्रष्टुमिति श्लोकेन—सर्वस्येति । यथेको जगत्स्योन्याभावस्तदा सर्व एव तस्य धर्मा सर्व एव प्रतियोगी, घटप्रतियोगिकपटधर्मिकान्योन्याभावस्यैव घटोऽपि वर्तमानत्वात्तथाच धर्मिनिष्ठत्वमेव प्रतियोगिनिष्ठत्वमिति प्रतियोग्यनिष्ठता दुर्लभा स्यात् । अथ बहवोऽन्योन्याभावास्तथापि प्रतियोगिमात्रानिष्ठत्व वा स्वप्रतियोग्यनिष्ठत्व वा तदामिप्रेयते । आद्यस्त्वसंभवी । धर्मिणोऽपि यत्किञ्चित्प्रति प्रतियोगित्वेन तदनिष्ठताव्याघातात् । द्वितीये चात्माश्रयत्वप्रसङ्गात् स्वशब्दो न विशेषणमिति । द्विधाप्येकत्वे बहुत्वे च दुर्लभा तदनिष्ठतेति श्लोकयोजना ।

त्वाद्य न स्वशब्दो विशेषणम् ॥ ३७ ॥' अन्योन्याभावस्य सर्वत्रैकत्वे सर्व एव धर्मा सर्व एव प्रतियोगीति कथं तदनिष्टता संभवेत्, बहुत्वेपि यत्किञ्चिदपेक्ष्य धर्मिणोऽपि प्रतियोगित्वात्तदनिष्टत्वासंभवस्तदवश्यः । स्वप्रतियोग्यनिष्ट इति च विशेषणे स्वशब्दाभिधेयस्यान्योन्याभावस्याद्यान्यसिद्धेः कथं नात्माश्रयः । एतेन प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोत्वान्भाव इत्यपि निरस्तम् । प्रतियोग्यनिरूपणात् । प्रतिपादितन्यायेन सर्वस्य प्रतियोगित्वेनान्योन्याभावस्यापि प्रतियोगिनिष्टतया विशेषणवैधर्ष्यात्, प्रागभावप्रध्वंसयोरपि तत्संभवादतिव्याप्तेश्च ।

. किंचाभाव एव दुर्निरूपः, कुतस्तत्र तत्प्रमाणलक्षणभेदाद्भेदचिन्तावतारः । तथाहि । यादृशे भूतलादौ धर्मिणि घटाभावोऽभ्युपेयते - तादृशस्यैवाभावव्यवहारनिदानत्वमस्तु किमतिरिक्ताभावकल्पनया । अस्ति तावद्भावाभावोदासीनमाश्रयस्वरूपम् । अन्यथा कीदृशोऽभावः संबध्येत । न तावद्भाववति । भावाभावयोरविरोधापत्तेः । नाप्यभाववति । आत्माश्रयत्वादनवस्थाप्रसङ्गाच्च । ननु किमिदं प्रतिकूलतर्कमात्रमुत विपर्ययपर्यवसायितयोदासीनाश्रयस्वरूपोपस्थापकम् । नाद्यः । अनुप्राह्यप्रमाणविरहिणस्तर्कस्य साधनबाधाननङ्गत्वात् । न द्वितीयः । संबध्यते चाभाव इति विपर्ययपर्यवसानस्याभावमनिच्छतोऽसिद्धेः । सघटं भूतलमिति भावव्यवहारस्यापि प्रतिक्षेपकतया स्वव्याघातकरत्वेन जात्यु-

विट्णोति—अन्योन्येति । अनवस्था चान्योन्याभावानेकत्वे स्यात्स्वरूपत्वे चानेकत्वासिद्धेः । एतेन सर्वत्र वैदन्यत्वविशेषणं प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यम् । अत्यन्ताभावलक्षणेप्युक्तं दूषणमतिदिशति—एतेनेति । अतिदियमानं विशदयति—प्रतिपादितेति । प्रतियोगिग्रहणं यत्किञ्चिद्विष्टान्योन्याभावव्यावृत्त्यर्थं, नच तेनापि तद्यावर्त्यते, तस्यापि यत्किञ्चित्प्रतियोगिनि वाल्यन्ताभावप्रतियोगिनि वा वर्तमानत्वादतो व्यर्थविशेषणता । अतिव्याप्तिश्च तत्रैवेति भावः । अतिव्याप्यन्तरं चाह—प्रागभावेति । तदधिकरणस्यापि यत्किञ्चित्प्रतियोगित्वादिति भावः ।

एवमभावलक्षणं दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानीं लक्ष्याभावे किञ्चित्प्रमाणमपि नास्तीत्याह—किंचेति । ननु भूतले घटो नास्तीत्यबाधितबुद्धिबोध्योऽभावः कथमपहोतुं शक्यत इति, तत्राह—यादृश इति । अभ्युपेयते, भवद्भिरिति शेषः । स्यादेतत्सघटेपि भूतले किमिति घटो नास्तीति बुद्धिनोदिति, भूतलरूपस्य तदापि भावात् । अथ केवलभूतले, किमिदं कैवल्यं, घटराहित्यमिति चेत्सोऽयं 'निन्दासि च पित्रामि वेति न्यायं नूतनयति, राहित्यस्यैवाभावत्वादिति, तत्राह—अस्ति तावदिति । इदं यादृश इत्यस्य विवरणं; सच न घटरहिते नापि घटवति किंतु यत्र घटाभावस्यवन्ध. स्वभावतोऽन्यतो वा भवद्भिरभिमान्यते तस्मिन्निवर्थ. । एतादृशं रुं विपर्ययबाधकैरज्ञीकारयति—अन्यथेति । अथ सोऽभावोऽन्यस्तेन नात्माश्रयतेति तत्राह—अनवस्थेति । अत्र लीलावतीपतिरेतामिरेव युक्तिभिः पूर्वपक्षमारचय्य रादान्तयाकभूव । नैवम् । विचारसहलात्, किमेतत्परिपन्थितर्कमात्रमित्यादिना, तदुद्भावयति दूषयितुं—नन्यत्यादिना । विपर्ययपर्यवसायिता दूषयति—न द्वितीय इति । अत्र हि यदि भूतलौदासीन्यं न स्यादभावो न संव्येतेति तर्कः, संवध्यते चाभावस्तस्मादस्त्वौदासीन्यमिति च विपर्ययः । नचाभावमनिच्छतः संवध्यते चायमिति बहु शक्यम्, अभावस्यैवाप्रमितत्वेनाप्रतिद्धविशेषणतापातादिति भावः । प्रतिक्षेपकतामेव दर्शयन् जात्युत्तरतां तर्कस्य

१ भेदेऽपि भेदोऽतिरिक्ततानपि भेद इत्येव परम्परास्तीकारे इत्यर्थः । २ भेदस्य अभावरूपाधिकरणस्वरूपे तददितरनापि अधिकरणस्वरूपभेदसिद्धया अतिरिक्तानेकभेदासिद्धिरित्यर्थः । ३ सर्वस्यापि प्रतियोगित्वेनेवर्थः । ४ प्रतियोग्यनिष्टस्वरूपविशेषणमित्यर्थः ।

त्तरतापत्तेः । तथाहि । किं भाववति भावः किं वा तद्भाववतीति विकल्पदूषणयो-
स्तत्रापि तुल्यत्वादिति चेन्मैवम् । अस्याः प्राभाकरविमीपिकाया लोकप्रसिद्धभावाभाव-
व्यवहारिणं मायावादिनं प्रत्यनुत्थानात् । तथाह्यवधीरितसत्त्वासत्त्वानां हेत्वादीनां लोक-
प्रसिद्धं स्वरूपमात्रमुपादाय सर्वोऽयं मायावादिनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः कस्तत्र परवा-
दिप्रसिद्धं विपर्ययपर्यवसानमाश्रित्य प्रत्यवतिष्ठमानस्योपालम्भसंभवः । एतेन भावव्यव-
हारप्रतिबन्धिग्रहः परास्तः । तत्रापि दुर्घटतायाः स्वीकृतत्वात् । तदेवमवधीरितभावाभा-
वभूतलादेरुपलम्भादेवाभावव्यवहारसंभवे तदतिरिक्ताभावाभ्युपगमो निष्प्रमाणक एव ।

ननु कथं निष्प्रमाणकता ? चक्षुश्चाक्षुपभाववृत्तिरिक्ताहकमिन्द्रियत्वाद् प्राणवत्, निर्घटं
भूतलमिति विज्ञानमेतद्विज्ञानालम्बनभावमात्रातिरिक्तालम्बनमेतद्भावमात्रालम्बननिर्विक-
ल्पकेतरज्ञानत्वात्सघटं भूतलमिति ज्ञानवदिति प्रमाणे जागृत इति चेत् । मैवम् । भावा-
तिरिक्ताहकं भावातिरिक्तालम्बनमिति च तत्त्विकपदार्थान्तरस्य प्रसाधनमुक्त व्यवहा-

वितृणोति—किं भाववतीति । न तावद्भाववति भूतले भावो वर्तते । आत्माध्रयात्, अनवस्थानाच्च ।
नाप्यभाववति, विरोधात्, तस्माद्भावभावोदासीनमेव भूतलं भावाश्रय इति वक्तव्यं, तथाच तदेव भावव्यवहा-
रालम्बनमस्तु कृतं तदतिरिक्तभावकल्पनयेति भ्रुवचत्वात् जायुत्तरमिदमित्यर्थः । एवमनूदितं दूषयति
सिद्धान्ती—मैवमित्यादिना । यस्य प्राभाकरस्य प्रमाणसिद्धमेव साधनं दूषणाङ्गं न प्रतीतिसिद्धमिति मतं,
तं प्रलेपा विमीपिका स्यान्नास्मान्प्रतीत्यर्थः । अस्यैव प्रपञ्च उत्तरो ग्रन्थः । यत्तु भावप्रतिक्षेपकत्वाज्यात्युत्-
रमिति, तत्र, व्याघातकत्वाभावात्प्रत्युत्तानुगुणमेवेत्याह—एतेनेति । एवं त्रिचतुरकशाविश्रान्तलोकप्रसि-
द्धिमादाय विपर्ययपर्यवसानसंभवेन दृढतरैस्त्वैकसात्त्विकभावाप्रतिक्षेपं प्रपथितमुपसहरति—तदेवमिति ।

मानमनोहरकारीयमनुमानभावसिद्धावुदाहरति—ननु कथमित्यादिना । अत्रातिरिक्तत्वमनधिकर-
णत्वं, तथासति चाक्षुप्रभावरत्नचक्रिणत्वं चाक्षुप्रत्नानधिकरणत्वाद्वा, भावत्वानधिकरणत्वाद्वा । आये ग्राह-
कत्वं व्याहृतमिति भावत्वानधिकरणमभावस्तचाक्षुपत्वं चेत्त्वभावसिद्धिः । दृष्टान्ते चाक्षुपत्वानधिकरणं गन्ध-
मादाय साध्यसिद्धिः । अत्रसिद्धविशेषणतानिबृत्तयै चाक्षुप्रग्रहणम् । अनुमानान्तरं चाह—निर्घटमिति ।
अत्राप्येतद्विज्ञानालम्बनभावत्वानधिकरणत्वमेतज्ज्ञानालम्बनत्वानधिकरणत्वाच्च सम्भवति, एतद्विज्ञानस्य
तादृशालम्बनत्वव्याघातात् । तस्माद्भावमात्रत्वानधिकरणमेवैतद्विज्ञानालम्बनमभावः सिद्धः । दृष्टान्ते त्वेतद्विज्ञान-
नालम्बनत्वानधिकरणत्वमादाय साध्यसिद्धिः । अत्र चाप्रसिद्धविशेषणतानिबृत्तयैमेतज्ज्ञानपदम् । निर्घट
भूतलमिति ज्ञानस्यालम्बनभूतो यो भूतलालम्बकोऽभावस्तत्रिष्टुणसामान्यादिश्च तन्मात्रालम्बनं यत्किञ्चिदल्पकं
तथ्यतिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वादिति हेत्वर्थः । एतद्विज्ञानालम्बनीभूतभूतलादिनिर्विकल्पकव्यभिचारनिरासार्थं
निर्विकल्पकेतरत्युक्तम् । घटादिव्यवच्छेदाय ज्ञानपदम् । एतच्च साध्यं विकल्प्य दूषयति—मैवमित्यादिना ।
तथा चक्षुश्चाक्षुपभावप्राहकत्वे सत्यतिरिक्तप्राहकत्वानधिकरणं वाद्येन्द्रियत्वात् प्राणवत्, निर्घटं भूतलमिति
ज्ञानमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनत्वानधिकरणमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनान्यत्वात् ।
एतद्भावमात्रविषयनिर्विकल्पकवदिति सप्रतिसाधनत्वमपि द्रष्टव्यम् । एवं प्रमाणखण्डनप्रसङ्गे दण्डकसूत्रोका
यद्भवः पदार्थाः खण्डिताः । तथाहि । भावाभावखण्डने प्रधानमल्लनिवर्हणन्यायेन प्रमेयजातं खण्डितं सशय-
दृष्टान्तावयवनिर्णया अपि प्रागेव खण्डिताः प्रमाणखण्डनेन प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतत्वलक्षणसिद्धान्तोपि
खण्डितः, उपरिष्टच्च क्वचित्खण्डयिष्यन्ते । तत्र प्रमाणखण्डनप्रपञ्चकस्याद्वैतागमाविरोधोपयोगं दर्शयति—

रिक्तस्याहोस्वित्साधारणस्य । आद्ये दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । इतरयोश्च सिद्धसाधनता । तदेवं प्रमाणलक्षणानां दुर्निरूपत्वादविचारितरमणीय एवायं प्रमाणव्यवहार इति सिद्धम् ।

करणस्वरूपानिरूपणाच्च प्रमितिकरणं प्रमाणमित्यपि न । तथाहि । किं कारकान्तरेऽचरितार्थं कारकं करणम् १ उतायोगव्यवच्छेदेन फलसाधनं २ कर्तृव्यापारोचरो वा ३ व्यापारवत्त्वे सति फलाव्यभिचारि वा ४ चरमव्यापारं वा ५ अनन्तरफलं वा ६ यद्भावात्कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतस्तद्वा ७ । नाद्यः । कुठारादौ कारकान्तरे चरितार्थस्य हस्तादेरकरणत्वप्रसङ्गात् । नच तदकरणमेव । करेण कुठारेण देवदत्तदिङ्-नचीति करकुठारयोः करणत्वप्रसिद्धेस्तुल्यत्वात् । अन्यथा कर्मकर्तृकरणसंप्रदानापादानाधिकरणेष्वनन्तर्भावाद्धस्तादेः सप्तमकारकत्वाङ्गीकारापत्तेः । कारकान्तर इत्यत्रान्तर-शब्देन करणं वा कर्तृकर्मणी वा. विवक्ष्येते । न तावत्करणम् । करणस्यैवाद्याप्यसिद्धेरा-

तदेवमिति । अत एव न वास्तवाद्द्वैतपरागमस्य तद्विरोध इति सिद्धमिति शेषः । 'मुक्तेषु मानै-
र्निजलक्ष्मसूत्रैर्मुक्तेषुमानैः खरतर्कसायैः । मुक्तेषु मानैः प्रतिवादिषु स्वैर्मुक्तेषुमानैः श्रुतिरन्यवैरैः' ॥

प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् । तच्च प्रमाणखण्डनेन पूर्वं खण्डितमेदानौ करणखण्डनादपि तद्गर्भलक्षणं खण्डितमेवेति मन्वानः करणलक्षणं खण्डयति—करणेति । च समुच्चये, न केवलं प्रमितेरनिरूपणादपि तु करणानिरूपणाच्चेत्यर्थः । तत्र प्रमाणतोऽप्रतिपत्तवित्ति भाष्यं व्याचक्षणेनोद्योतकराचार्येणोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा प्रमातृ-प्रमेययोरतिव्याप्तावाशङ्कितार्थां तद्भेदनाय तदर्थं निवेदता यानि लक्षणान्युक्तानि तान्युद्भावयति—कारकान्तरेत्यादिना । कर्तुः खल्यमननिपतनव्यापाराविष्टकुठाररूपकरणं निष्पादयत. कारका-न्तरेस्ति चरितार्थत्वम्, एवं कर्मणोपि, करणव्यापारस्य कर्मविषयतया कर्माभावे करणाभावात् । आ-करणमपि कर्त्रादिभूषणम् । नहि निरधिष्ठानं छिनत्ति, तद्वारा च करणेऽपि, तेन कर्तृकर्माधिकरणव्यव-दार्थं कारकान्तरेऽचरितार्थमिति विशेषणम्, अत्र च संप्रदानापादानयोर्व्यवच्छेदाय सार्वत्रिकमिति विशेष-द्रष्टव्यम् । ते ह्यसार्वत्रिके । दानपतनयोरेव संप्रदानापादानापेक्षणादिति । अथवा तयोरपि कारकान्तरे चरिता-त्वम् । नहि प्रतिग्रहीत्रभावे दातृरुद्योगः, नापि घृक्षायभावे तद्देशस्थपर्णादिसिद्धिरिति व्यापारव्यवच्छेदा-कारकप्रहणम् । अयोगेति । नहि जातु साधकतमे करणे सति फलानिष्पत्तित्वेन च कर्त्रादिव्याहृति-सरस्वपि तेषु फलानिष्पत्तिसंभवात् । व्यापारस्य कर्तृकर्मणोश्च निरासाय व्यापारवदने सतीत्यादिविशेषोद्भवम् कर्त्रादिव्याहृत्यर्थं चरमेति विशेषणम् । यद्भावादिति । कर्तृकर्मणोः क्रियानिवर्तव्यत्वाभावप्रबोधकाम-वप्रतियोगि वेत्यर्थः । आद्येऽव्याप्तिमाह—कुठारादाविति । नन्वकरणमेव करादित्वेन तद्गमनं न दोषायति, तत्राह—नच तदिति । इतोपि हस्तादेः करणत्व यत्कव्यमित्याह—अन्यथेति । एवं समुच्चये दूषणमुक्त्वाऽव्यवयविवेचनेनापि दूषयति—कारकान्तर इत्यत्रेति । अत्रान्तरशब्दोऽविशेषाचरोऽन्य-वचनो वा । आद्ये वैयर्थ्यम् । नहि कारकमात्रे चरितार्थं किंचिदस्ति यद्यवच्छेद्यते । द्वितीये किं क्लृप्तान्तरे-कर्त्रादेरन्यत्वरूपं विवक्ष्यते किवा करणादतिरिक्तकर्तृकर्मणी इत्यर्थः । करणस्येवेति । एवं तदार्थ-सं-यते—करणवारकेऽचरितार्थं कारकं करणं, तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थः । कर्तृकर्मणोरचरितार्थं कारकं करणनी-

२ मुक्तेषुमानैर्मुक्तकणानुद्भवैः खरतर्कसायैरिति नहमीदृः । प्रखरतर्कसायैर्मुक्तेषुमानैः प्रमातीर्निर्ग्रहणं च ये मुक्तेषु प्रतिवादिषु च स्वैर्गोर्भेदेषुमुक्तेषु सस्य अन्यवैरैः सत्यन्यवापतेरिपुत्रस्यैमानैः प्रमापेः श्रुतिरुक्तः । प्रमा-पे-
धनि न पीच्छेयुरित्यर्थः ।

त्माभयत्वात् । नेतरे । तयोरेवातिव्याप्तेः । नहि कर्ता कर्तरि चरितार्थः, नापि कर्मणि कर्म । तयोः करणे चरितार्थत्वाङ्गीकारात् । नापि द्वितीयः । सामग्र्यामतिव्याप्तेः । तस्यां सत्यां नियमेन फलस्य भावात् । अपूर्वादिव्यवहितफलस्य यागादेरकरणत्वापत्तेश्च । न तृतीयः । कर्तुरात्मनः प्रयत्नाख्यव्यापारकर्मणि शरीरे तद्व्यापारकरणे लक्षणस्य सद्भावात् । साक्षादिति विशेषणे च आत्मनो मनश्चालनव्यापारे मनसः करणत्वप्रसङ्गः । नच तत्र मनः करणम् । तद्व्यापारे कर्मतयैवावस्थानात् । हस्तादिव्यापारव्यवधानेन कर्तृव्यापारगोचरे कुठारादावव्याप्तेश्च । न चतुर्थः । कर्तुरपि करणत्वप्रसङ्गात् । तस्यापि करणादिव्यापारघतः फलाव्यभिचारित्वात् । अव्यवहितफलादर्शनात् तस्य फलाव्यभिचारितेति चेन्न । हस्तादेर्यागादेश्च व्यवहितफलत्वाकरणत्वापातात् । एतेन पञ्चमपट्टविकल्पावप्यपास्तौ, चतुर्थपक्षोक्तदोषानुपपन्नादेव । नापि सप्तमोऽट्टपट्टधरेच्छादेरपि करणत्वप्रसङ्गात् । तद्भावं एव क्रियानिष्पत्तेः । तदेवं करणानिरुक्तेः प्रमाकरणं प्रमाणमित्यलक्षणम् ।

अथाधुनिकनीत्या कर्तृत्वानधिकरणत्वे सति प्रमासार्वत्रिकं कारकं प्रमाकरणम् ।

द्वितीयपक्षे दूषणमाह—तयोरेवेति । अथ तयोः कर्तृकर्मणोः क्व चरितार्थतेति, तत्राह—तयोरिति । नच कर्तरि अचरितार्थत्वमपि, कर्तृव्यापारविषयतया कर्मवदस्योपि तत्र चरितार्थत्वात् । नचाधिकव्यापारत्वाच्चरितार्थता । तदतिरूपगात् । अयोगव्यवच्छेदेनेत्यादिवितीयलक्षणं दूषयति—नापि द्वितीय इति । सामग्र्याः फलेनायोगव्यवच्छेदं दर्शयति—तस्यामिति । नच सापि करणमेव । निर्व्यापारत्वात्, करणादिसाकल्यरूपत्वाच्च । अव्याप्तिं चाह—अपूर्वादीति । सति भवत्येवेति शब्दोव्यवच्छेदः । नचाधुनपूर्वव्यवधानेन विलम्बितफलासाधनस्य यागस्यास्तीत्यर्थः । कर्तृव्यापारगोचर इति तृतीयं पक्षं दूषयति—न तृतीय इति । यः स्वलात्मनः शरीरचलनाय प्रयत्नः तस्य तावच्चलनक्रिया क्रियाविशिष्टं वा शरीरं विषयः । नच तस्मिन्चलने तयोः करणत्वम् । प्रथमे स्वस्यैव स्वं प्रति करणत्वापातात् । द्वितीयेपि भविष्यतः पूर्वकालीनक्रियायां करणत्वापातादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । ननु न कर्तृव्यापारमात्रगोचरत्वं विवक्षितमपित्वव्यवहितो यः कर्तृव्यापारस्तद्विशेषत्वम् । नच श्रयन्नस्तादृशस्तस्याहममन तान्निर्धर्मव्यापारव्यवहितत्वात् तयात्वाभावादिति, तत्राह—साक्षादिति चेति । यदि च साक्षाद्विषयत्वं तदा कुठारादावव्याप्तिरपि स्यात् । नहि कुठारस्य साक्षादात्मव्यापारविषयत्वमस्तीत्याह—हस्तादीति । नच हस्तस्यापि कर्तृन्तर्भावः, हस्तेनेत्यप्रयोगापातादिति भावः । साक्षाद्यापारमनःप्रभृत्क्रियायामपि करणतापत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । व्यापारवत्त्वे सतीत्यादिचतुर्थं पक्षं दूषयति—न चतुर्थ इति । कर्तरि लक्षणं वर्तयति—तस्यापीति । ननु स्वानन्तरक्षणफलवत्त्वं फलाव्यभिचारित्वं, नचैतत्कर्तुः सार्वत्रिकमस्तीति शङ्कते—अव्यवहितेति । तद्व्याप्तिरित्याह—न हस्तादेरिति । चरमव्यापारमनन्तरफलमिति पक्षयोरेष्युक्तदूषणमतिदिशति—एतेनेति । कर्तुरपि करणत्वापातात् विशेषणत्वे हस्ताव्यापानादित्युक्तदोषसाम्यादित्यर्थः । यद्भाववादित्यादिसप्तमपक्षेतिव्याप्तिमाह—अट्टप्रेति । कर्तृकर्मणोरतिव्याप्तिश्च, तयोरपि स्वाभावे क्रियाजनकलाभावात् । सोपयोगं करणखण्डनमुपसंहरति—तदेवमिति ।

ननु कथं करणानिरुक्तिर्जरीतेरनिर्वाहेपि नूतनरीतेरपरिमुक्तत्वादिति शङ्कते—अथेति । इदं चानीश्वरप्रमाणस्यैव लक्षणम् । कर्मकारकव्यावृत्त्यर्थं सार्वत्रिकग्रहणम् । नहि सर्वो प्रमा कर्मजन्या, अनुमित्यादिष्वभावात् । सार्वत्रिककर्तृव्यावृत्त्यर्थं कर्तृत्वानधिकरणेष्युक्तम् । तदेवावयवस्य उपपादयति दूषणवैसाधाय—

नच कर्तृत्वानिरुक्तिः । प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात् । नापि सार्वत्रिकत्वानिरुक्तिः । प्रमाकारकाप्रमाकारकावृत्तिप्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्यैव सार्वत्रिकत्वपदेनाभिलापात् । नच कारकत्वानिरुक्तिः, व्यापारवत्कारणं कारकमिति निर्वचनात् । नच व्यापारानिरुक्तिः, तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति हि तन्निरुक्तेरिति मतम् । मैवम् । सर्वस्योदीरितखण्डनालङ्घनाऽजङ्घालत्वात् । तथाहि । न तावत्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वं, विकल्पासहत्वात् । प्रयत्नात्यन्ताभावः किमेकोऽनेको वा । एकत्वे तत्रैवातिव्याप्तिः । तस्य तदनधिकरणत्वेऽपि कर्तृत्वाभावात् । नापि भावत्वे सतीति विशेषणाददोषः । भावत्वस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । अत्यन्ताभावानामनेकत्वेपि सर्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वं लक्षणमुत यत्किञ्चित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् । न प्रथमः । लक्षणस्यासंभवितात् । स्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वेपि चेतनान्तरप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वात् । न चरमः । प्राचीनदोषानुपज्ञात् । किञ्चैकदेशवृत्तीनां संयोगविभागस्य वृदात्मविशेषगुणानामव्याप्यवृत्तित्वं नाम स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमित्युपगच्छतां कथमात्मनः प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वं संभवेत्, प्रयत्नात्यन्ताभावस्यापि तत्रैव वृत्तेः । नच स्वतन्त्रः कर्त्तृत्वमपि युक्तम् । स्वातन्त्र्यानिरुक्तेः । तथाहि । किं कारकान्तरनिरूपेक्षतया फलजनकत्वं स्वातन्त्र्यं किं वा कारकाप्रयोज्यत्वे सति तत्प्रयोज्यत्वम् । नाद्यः । असंभ-

नच कर्तृत्वेत्यादिना । सुपुत्तिप्रलयादावव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावानधिकरणत्वग्रहणम् । कारकस्य प्रमायां सार्वत्रिकतां निर्वचि—प्रमाकारकेति । प्रमाकारकेषु वर्तमानत्वे सत्यप्रमाकारकवृत्तित्वं तदनधिकरणत्वे सति प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावं प्रत्यप्रतियोगित्वमित्यर्थः । प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादिपर्यस्तीति तत्परिहाराय प्रमाकारकेत्यादि । तस्य सर्ववृत्तित्वेन प्रमाकारकेन्द्रियवृत्तित्वे सत्यप्रमाकारकदोषाद्विद्वत्तिलादतस्तद्राहित्यविशेषणेन तन्निरुक्तिः । तावन्मात्रोक्तौ च प्रमाकारकेन्द्रियवृत्तित्वे तत्कादाचित्कवृत्तिषु चाप्रमाकारकमात्रवृत्तिषु चातिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वग्रहणम् । अथ किमिदं कारकत्वं यद्विशेषणस्येदं सार्वत्रिकत्वं निरुच्यते इति, तत्राह—नचेति । धारकव्यापारे कारणलक्षणवति कारकपरिहाराय व्यापारवदित्युक्तम् । अथ व्यापार एव क इति, तत्राह—नच व्यापारेति । तेन कारणेण जन्यत्वे सति तत्कारकजन्यक्रियां प्रति जनकश्च यः स व्यापार इत्यर्थः । तज्जन्यजनकत्वं कारकाणामस्तीति तन्निरुच्यर्थं तज्जन्य इत्युक्तम् । क्रियायामेवातिव्याप्तिपरिहाराय तन्जन्यजनक इत्युक्तम् । एवमुपपाद्यं दूषयति—मैवमिति । उदीरितखण्डनाया लङ्घनाऽजङ्घालत्वात्, अजङ्घजनक इत्युक्तम् । तत्रैवातिव्याप्तिः । प्रयत्नात्यन्ताभावस्यैकत्वेन स्वाधिकरणत्वाभावादित्यर्थः । ननु बहव एवात्यन्ताभावस्ततश्च तस्याप्यत्यन्ताभावान्तरत्वात्तत्रैवातिव्याप्तिरिति, तत्राह—अत्यन्ताभावानामिति । असंभवत्वमेव दर्शयति—स्वप्रयतेति । नद्येकस्यैव सर्वपुरुषप्रयत्नाः संभवन्ति, सर्वसर्वशक्तिप्रसङ्गादित्यर्थः । प्राचीनेति । यद्विधिप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेकैकप्रयत्नात्यन्ताभावेऽपेक्षास्ति स्वाधिकरणत्वाभावादतोऽतिव्याप्तिरस्यैवत्यर्थः । किञ्च त्वदर्शनपराहृतं चेदं कर्तृलक्षणमित्याह । किञ्चेति । यदिदं संयोगादीनामव्याप्यवृत्तित्वं मान्यवृत्तित्वे तेषां शक्यत्वम् । निरन्तरत्वादात्मादीनाम्, सांशेष्यप्रत्यक्षतापत्तेः । तस्मात्तत्रैव वृत्तिसर्वैवातिव्याप्तिः स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमेवाव्याप्यवृत्तित्वमिति मन्तव्यम् । तथाचात्मैव प्रयत्नात्यन्ताभावाधिकरणत्वमिति तदनधिकरणत्वलक्षणकर्तृत्वसंभवेति ताण्डलकार्यः । प्रसङ्गात्कर्तृत्वलक्षणान्तरमपि दूरणी-नचेति । तदप्रयोज्यत्वं कारकप्रयोज्यत्वमित्यर्थः । पुठारादिकारकप्रयोज्यत्वं दृष्टादावतिव्याप्तिरिति मतम् ।

वात् । नहि करणादिनिरपेक्षस्य कर्तुः फलसाधकता दृष्टचरी । न द्वितीयः । सेश्वरवादे सर्वचेतनानामीश्वरप्रयोज्यत्वात् । अनीश्वरवादेपि राजादिप्रेरितभृत्यादेरकर्तृत्वापत्तेः । नच तत्र शरीरादेरेव प्रेर्यत्वं नात्मन इति वाच्यम् । चेतनविशिष्टस्य शरीरस्य प्रेर्यतया चेतनस्यापि प्रेर्यत्वात् । प्रेरकत्वं च तदनुकूलप्रयत्नाधारत्वम् । तेश्वरे जीवविषयमस्येव । नचेश्वरव्यतिरिक्तकारकाप्रयोज्यत्वम् । अनीश्वरवादे विशेषणवैयर्थ्यात्, भृत्यादेस्तु पूर्वोक्तन्यायेनाकर्तृत्वप्रसङ्गाच्च । प्रमात्वानिरुक्तेरेव तद्विशेषितसार्वत्रिकत्वानिरुक्तिः । तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इत्यपि न । तच्छब्देन सर्वस्य कारणस्याभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात् । नह्येको व्यापारः सर्वकारणजन्यः सर्वकारणजन्यजनको वा । कारणविशेषाभिधाने तु लक्षणस्याननुगमः । तदेवं प्रत्यक्षादिप्रमाणानां दुर्निरूपत्वाज्जगत्कारणब्रह्मात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपराणां वेदान्तवचसां न तद्विरोधगन्धोपीति सिद्धम् ।

ननु तथापि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम् । परमाणूनामेव जगत्समवायिकारणत्वात् ।

काप्रयोज्यत्वविशेषणम् । असंभवमेव विट्णोति—नहि करणादीति । द्वितीयेपि तार्किकमतेऽस्मदादि-कर्तृष्वव्याप्तिरित्याह—सेश्वरेति । तेष्वव्याप्तिरिति शेषः । अथानीश्वरवादिनः प्रति किं दूषणमिति, तत्राह—अनीश्वरेति । तत्रापि भृत्यादिषु कर्तृष्वव्याप्तिरित्यर्थः । ननु तत्र कर्तृरात्मनो न प्रेर्यत्वमुभयत्र, किं तर्हि शरीरस्यैवातो नाव्याप्तिरिति, तत्राह—नच तत्रेति । न तावदीश्वरादिः शरीरमात्रं प्रेरयति, तस्यास-मर्थत्वात्तत्र, ततश्चेतनविशिष्टं शरीरं प्रेरयतीति वक्तव्यं, तथाच विशेषणीभूतचेतनस्यापि प्रेर्यत्वमस्येवेत्यर्थः । जीवस्य निष्क्रियत्वेनेश्वरस्य तत्प्रेरकत्वं कथं स्यादिति, तत्राह—प्रेरकत्वं चेति । शूलशरीरप्रेरणानुकूल-स्यप्रयत्नजननानुकूलप्रयत्नवत्त्वं राशो शूलप्रेरकत्वं यथा लोके तथा जीवप्रयत्नजननानुकूलं चेदं प्रयत्नवत्त्वमी-श्वरेष्वस्तीति जीवप्रेरकत्वमीश्वरस्य संभवतीति भावः । अस्ति च साक्ष्यदेव प्रेरकत्वमित्याह—तदनुकू-लेति । ईश्वरनेश्वरादेरपि तत्तज्जीवानुगुणप्रयत्नाधारत्वात्स्ति तद्रूपं प्रेरकत्वमित्यर्थः । एतेन निष्क्रियस्य जीवस्य कथमीश्वरप्रेर्यत्वमिति प्रत्युक्तम् । ननु तर्हीश्वरव्यतिरिक्तकारकाप्रयोज्यत्वं स्वातन्त्र्यं विवक्षितं, तथाच नाव्याप्तिरिति, तत्राह—नचेश्वरेति । ईश्वरप्रयोज्यत्वसंग्रहार्थं हीदं विशेषणम्, नच तदनीश्वरवादिनां भीमांसकानामस्ति यदर्थं विशेषणमित्याह—अनीश्वरेति । भवतु तं प्रति दूषणं मा प्रति किं दूषणमिति, तत्राह—भृत्यादेस्त्विति । यच्च प्रमासार्वत्रिकत्वनिर्वचनं कृतं तदपि दूषयति—प्रमात्वानिरुक्ते-रिति । व्यापारलक्षणमपि दूषयति—तज्जन्य इति । अत्र किं तच्छब्देन कारककारणमात्रमभिधीयते तद्विशेषो वा । नायः । असंभवादित्याह—तच्छब्देति । असंभवं विट्णोति—नह्येक इति । द्वितीये प्राह—कारणविशेषेति । तच्छब्देन कारणविशेषाभिधाने करणान्तरव्यापाराणां तज्जन्यत्वाभावात्तज्जन्य-जनकत्वाभावात्ताव्याप्तिः स्यादिति भावः । एवं सामान्यतो विशेषतश्च प्रमाणानां दुर्निरूपताप्रतिपादनस्या-विरोधोपयोगमाह—तदेवमिति । अत्र चेश्वरो द्रव्योपादानवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमानध्रावणविशेषगु-णवत्त्वात्तत्त्वादिबदिति तार्किकं प्रति तथा विप्रतिपन्नं कार्यद्रव्यमात्मोपादानकम् उपादानवत्त्वादात्मपटसप्तवत् । नच विमतमारमानुपादानकं द्रव्यत्वादात्मवदिति सरप्रतिपक्षता । अनुपादानकत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् । नच समवायिगतविशेषगुणस्य कार्यं समानजातीयारम्भनियमोपि, चित्रपटारम्भकनीलपीततन्त्रुषु तदभावादित्या-दितर्कात्तदनुगृहीतागमाच्च ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमवगन्तव्यम् ।

जगत्कारणं ब्रह्मात्मतत्त्वमित्युक्तमपहृमानाः परमाणुकारणवादिनो वैशेषिकनैयायिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—ननु तथापीति । तर्कि परमाणूनामेव जगत्कारणत्वम्, तथाच गतमीश्वरस्य निमित्तकारणत्वेनेत्य-परादान्तस्तत्राह—समवायिकारणत्वादिति । उपादानत्वमेव हि भवता ब्रह्मणः सिवाद्यपिपितम्,

१ तार्किकं प्रति अनुमानद्वयं प्रयोज्यमित्यर्थः ।

दतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यः प्रमेयत्वात्पटवदिति प्रयोगसंभवाच्च । नच निरवयवयोः सयोगाभावादसमवायिकारणाभावे कथं कार्यद्रव्यारम्भकत्वमिति वाच्यम् । परमाण्वसिद्धौ तत्पक्षीकारेणासयोगित्वस्य साधयितुमशक्यत्वात्, सिद्धौ च धर्मिप्राहकप्रमाणवाधात्, द्रव्यत्वेन घटादिवत्संयोगित्वानुमानाच्च । नच सावयवत्वमुपाधिः । अर्थतः पक्षेतरत्वात् । कार्यद्रव्यत्वं वा समवेतत्वे सति द्रव्यत्वं वा सावयवत्वम् । तथाच द्रव्यत्वेनैव साध्यव्याप्तौ सिद्धाया कार्यपदस्य समवेतपदस्य च जन्यत्वेन सकर्तृकत्वानुमाने शरीरिजन्यत्वोपाधौ शरीरिपदस्यैव साधनाव्यापकत्वमात्रप्रयोजनस्योपादाने कथं न पक्षेतरता । साध्यव्याप्तौ सत्या साधनाव्याप्त्यर्थं यत्र विशेषणमुपादीयते स पक्षेतर इति तल्लक्षणात् । नच द्वितीयसयोगासभवात्प्रथिमानुपपत्तिर्दोषः ।

व्युत्के प्रथिमाभावसाधने दोषाभावात् । तस्याणुत्वात् । व्युत्के तु कारणबहुत्वादेव

त्वानधिकरणमूर्तत्व मूर्तत्वानधिकरणत्वाच्च सम्भवति व्याघातादेव । ततोऽनित्यत्वानधिकरण मूर्तं परमाणुमादाय तदन्यत्वमस्य सिद्ध्यतीति परमाणुसिद्धिः । नित्यमूर्तं परमाणुरिति तल्लक्षणादित्यर्थः । स्यादेतन्निरवयवत्वात्परमाणुवोऽभ्युपगम्यन्ते । तथाह्यन्त्यावयविनमारभ्यानुभूयमानोयमवयववयविविभागो यत परावर्तते स हि परमाणुरिति । अन्यथा सुमेरुसपयोरनन्तावयवतया समानपरिमाणत्वप्रसङ्गात् । नच निरवयवयोः सयोगोऽस्ति । अब्याप्यवृत्तित्वात्सत्यं । निरवयवे च यदि वर्तते, किं तत्र व्यामुयात् । यदि च न व्यामुयात्कं वर्तते, विमतमस्योनि निरवयवत्वात्, रूपादिवदिति प्रयोगाच्च । तस्मादङ्गीकृतेष्वपि परमाणुषु तेषां परस्परसंयोगाभावात्तदसमवायिकारणकथ्येणुकादिप्रक्रमेण जगत्समवायिकारणत्वाभावाच्च तद्वाहिप्रमाणविरोधो वेदान्तानाम् । तथाचैकैकैरेव परमाणुभिरस्युच्चैर्घणुकाधारम्भ, तथासति तदुत्पन्नकार्यस्य विनाशहेत्वभावात्तत्त्वान्ना स्यात्, असमवायिकारणनाशात्समवायिनाशाद्वा खलु द्रव्यनाशः । तत्र सयोगलक्षणासमवाय्यनङ्गीकारेऽणुना च नित्यत्वात् व्युत्कादेर्नाशो न स्यात् । नित्यत्वे चान्त्यावयवविपर्यन्ते नित्यतापरत्या घटविनाशो नोपलभ्येतेति । तत्राह—**नचेति** । निरवयवपरमाण्वनङ्गीकारेऽङ्गीकारे वा सयोगित्वमप्रत्याख्येयमित्याह—**परमाण्विति** । एव बाधक परिहृत्य तत्सयोगित्वे प्रमाणमाह—**द्रव्यत्वेनेति** । एतेन पूर्वोक्तान्तात्पर्यात् । सावयवत्वमेव विवेचयन्नर्थतः पक्षेतरता दर्शयति—**कार्येति** । आकाशादियुगादिश्वोभयत्र विशेषणद्वयव्यावर्तम् । तदयमर्थः । यथाह्यङ्कुरादि सकर्तृक कार्यत्वाद्घटादिवदित्यत्र शरीरिजन्यत्वस्योपाधित्वोद्भावने जन्यत्वमानस्य घटादौ साध्यव्याप्तौ सिद्धाया शरीरिग्रहण पक्षीकृताङ्कुरादौ साधनव्याप्तिपरिहारार्थमिति पक्षेतरत्वम्, एव द्रव्यत्वमानस्यैव सयोगित्वव्याप्तौ सिद्धाया कार्यत्व समवेतत्व वा विशेषणपक्षीकृतपरमाणुषु साधनव्याप्तिपरिहारार्थमतः पक्षेतरत्वमिति । ननु पक्षमानव्यावर्तकं पक्षेतरं नाम, न पुनरित्यमूर्त इति, तत्राह—**साध्यव्याप्ताविति** । ननु निरस्य सयोगे सत्येकपरमाणुता स्युत्के परमाणौ परमाण्वन्तरसयोगो न स्यात्, स्युत्कप्रदेशातिरिक्तप्रदेशान्तराभावात्, तावन्मात्र एव च द्वितीयसयोगे तदारन्धकार्ये प्रथिमा न स्यादिति, तत्राह—**नचेति** ।

अत्र तदारन्धकार्यशाब्देन व्युत्क वा व्युत्क वा विवक्ष्यते किं वा चतुरणुकमिति । प्रथमे त्विष्टापत्तिरित्याह—**व्युत्क इति** । द्वितीये प्राह—**व्युत्क इति** । कारणबहुत्वाद्वा कारणमहत्त्वाद्वा प्रचयविशेषाद्वा महत्त्वमुत्पद्यते, तत्र कारणमहत्त्वप्रचययोरभावेऽपि कारणबहुत्वात् व्युत्के महत्त्वमुत्पद्यते । नहि व्युत्कान्तां व्युत्कौत्वतिर्थेन तदारन्धे महत्त्व न स्यादपितु बहुमिव्युत्कैरिति भावः । यच्च द्वितीयसयोगाभाव उक्त

महत्त्वोपपत्तिः, द्युणुकानां सावयवत्वेन संयोगोपपत्तिश्च । नचावयविन एवाभावात्प्रकाश-
रम्भानुपपत्तिः । एकस्थूलनीलावभासो बाह्ये प्रमा प्रमात्वाद्द्रवदर्शनवदित्यवयविसिद्धेः ।
नचार्थान्तरता । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । किं परमाणुसमूहात्मन्त्वमभिप्रेतमुगा-
वयवसंहतिगोचरत्वम् । नाद्यः । परमाणूनामतीन्द्रियाणामस्मदादिप्रत्यक्षगोचरताऽयोगात् ।
नापि द्वितीयः । अवयवानामनेकत्वादेक इतिप्रत्ययगोचरत्वासंभवात् । समुदायसैक-
त्वाददोष इति चेन्न । तस्यावस्तुत्वाद्, वस्तुत्वे च तस्यैवावयवित्वात् संज्ञामात्रे वि-
वादः स्यात् ।

यत्प्रकाशते तज्ज्ञानं यथा ज्ञानं, प्रकाशते च विवादाध्यासितमित्यनुमानात्सर्वस्य वि-
ज्ञानमात्रत्वसिद्धौ साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेत् । न, उभयवादिप्रसंगेन प्रत्यय धर्मिणो-
भ्युपगमेऽपसिद्धान्तापत्तेः । अनभ्युपगमे चाश्रयासिद्धिः । यत्प्रकाशते तदुभयवादि-
द्वैकविज्ञानमात्रं, प्रकाशते च विवादाध्यासितमिति ज्ञानाद्वैतप्रसङ्गतयाऽऽभाससमान-
योगक्षेमत्वाच्च । नच कम्पाकम्पावृत्त्वानावृत्त्वत्वरक्तत्वारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गात्प्रका-
श्रयस्यैकत्वानुपपत्तिः । अवयवानां कम्पे तदावरणे तद्रक्तत्वे चावयविनोऽतद्रूपत्वेनैकस्य

सोपि द्युणुकेषु नास्तीत्याह—**द्युणुकानामिति** । नन्वस्तु संयोगाद्युपपत्तिः परमाणूनां, तथापि न तदारम्भं
किञ्चित्, नहि परमाणुसङ्घातव्यतिरेकेणावयवी नाम कश्चिदास्ते युक्तियुक्तः, तस्मात्सन्तु नाम परमाणव
तथाप्यारम्भकल्पनानुपपत्तिरिति, तत्राह—**नचावयवीति** । अवयविसिद्धावे विज्ञानवादिनं प्रत्युक्तं मान-
मनोहरीयमनुमानमाह—**एकेति** । एकमिति स्थूलमिति नीलमिति च योयमवभासो बाह्ये विज्ञानाद्द्विभूते
प्रमेत्यर्थः । सौगतनये विज्ञानस्य स्वप्राहकतयाऽर्थान्तरतानिर्मुक्त्यै बाह्यग्रहणम् । ननु भवतु बाह्यप्रमाणं,
तथाप्यवयविसिद्धिः कृतः, यतो बहिरपि परमाणूनेव वा तन्त्वाद्यवयवान्वावलम्ब्यतामियं बुद्धिरिति, तत्राह—
नचार्थान्तरतेत्यादिना । परमाणूनामिति । प्रत्यक्षः खल्वयं प्रत्ययः स्थूलायाकारः । नच परमाणूनां
प्रत्यक्षयोग्यत्वम् । सूक्ष्मत्वाच्च न स्थूलप्रत्ययविषयत्वमिति न तैरर्थान्तरतेत्यर्थः । अवयवसमूहात्मन्त्वं इत्य-
यति—**नापि द्वितीय इति** । ननु नावयवमात्रं विषयः किन्तु तत्समुदायः सचैक इति शङ्कते—**समु-
दायस्येति । अवस्तुत्वादिति** । यस्य ह्यवयव्येवानिष्टः स कथं समुदायिव्यतिरिक्तं वस्तुभूतं समुदाय-
मङ्गीकुर्वदित्यर्थः ।

एवमर्थान्तरतायां परिहृतायां विज्ञानवादी दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं शङ्कते—**यत्प्रकाशते इति ।**
प्रकाशमानत्वं ज्ञानस्वभावत्वेन रूपादिज्ञानेषु व्याप्तं तद्रूपादिरपि प्रकाशमानो विज्ञानस्वभाव एवेति ज्ञानस्य
भावत्वावगते रूपज्ञानस्यापि बाह्यविषयत्वमसिद्धमित्यर्थः । अत्रहि प्रकाशते रूपमिति पक्षीकृतं रूपमुभय-
समानयोगक्षेमतां चाह—**यत्प्रकाशते इति** । अस्ति ह्यनाप्येकस्मिन्विज्ञाने तन्मात्रत्वप्रकारात्मानवदे-
र्व्याप्तिरित्यर्थः । ननु तथापि तर्कविरुद्धत्वाच्छङ्कितोपाधित्वमनुमानस्य, तथाहि शृङ्गे काष्ठचिच्छाराणु इत्य-
मानाद्यु तदंशेऽवयवी कम्पते, अपरास्त्रकम्पमानाद्यु तदंशे न कम्पते, नचैतदेकस्मिन्वृत्तावयविनि पटते । नहि
संभवति तदेव कम्पते न कम्पते चेति । तथा पटादिष्वप्यर्थमात्रियते नार्थं तथा पटादावप्यर्थेऽप्यत्रकम्प-
द्वयते । नचैतदेकस्मिन्संभवति, विरोधात्, तस्मात्सावयवव्यति, तत्राह—**नच कम्पेति ।** अत्र-
वेभ्यो विभिन्नत्वावदवयवी । नच तस्मिन्विद्वद्धर्मसंसर्गः । भागनिष्ठत्वाद् कम्पादीनां विद्वद्धर्मानां न-
वयववी तु यथानुभवं कम्पत एव वा आरूत एव वा विपरीतमेव वा, न पुनरुभयथापि कल्पनीत्यर्थः । इदं-
तत् यथावयवचलनादावप्यवयवी न चलनादिमान् तर्हि घटचलनेष्वप्यव्यतिपटवपुतिघटतावयवचलनेः

१ ज्ञाननानात्वं हि बोद्धेः स्वीक्रियते न तु घटेनयमवस्तुभाभिदमनुमानं यथाऽऽभासरूपं तथा मय दूषिते मय ।

विरुद्धधर्मसंसर्गासिद्धेः । नचावयवावयविनोश्चलाचलयोर्युतसिद्धिप्रसङ्गः । विकल्पासहत्वात् । किं भेदो युतसिद्धिः १ किंवा पृथगाश्रयाश्रितत्वं २ पृथक्क्रियावत्त्वं वा ३ परस्परसंयोगविभागवत्त्वं वा ४ । न प्रथमः, अवयवावयविनोर्भेदाभ्युपगमेन सिद्धसाधनत्वात् । अत एव न द्वितीयः । अवयविनोऽवयवाश्रयत्वेऽप्यवयवानां स्वारम्भकावयवाश्रितत्वात् । न तृतीयः । पृथक्क्रियावत्त्वस्योभयोरिष्टत्वात्, एकद्रव्यं कर्मेति सूत्राच्च । न चतुर्थः । चलाचलयोरपि घटहिमाचलयोः परस्परसंयोगविभागानधिकरणत्वात् ।

अवयवावरणेऽवयविनोऽनावरणे पूर्ववत्कृत्स्नप्रतीतिः स्यादिति चेत्, सत्यं कृत्स्नः प्रतीयत एव तस्यैकत्वात् । तथात्वे द्विहस्तत्वादि किमिति न प्रतीयत इति चेत्, तदुचितावयवसन्निकर्षस्य तत्प्रतीतिहेतोरभावात् । रक्तत्वंतु महारजनादेरेव द्रव्यान्तरस्य नाप्यवयवानामिति दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्गः, तथापि तत्संयोगाद्रक्तिमप्रतीतिः सर्वत्र किं न स्यादिति चेन्न । संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वात् । नन्ववयवेषु वर्तमानोऽवयवी किं वा कात्स्न्येन वर्तते उतैकदेशेन । नाद्यः । शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गात्, अवयविनः कार्येणान्वयात्, युगपदनेकत्र घृत्तावनेकघृत्तिरूपादिवदनेकत्वप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः ।

प्राप्नोति, तथाच न समवाय इति, तत्राह—**नचावयवेति** । विरुद्धधर्मवत्त्वेपि न युतसिद्धिरिति विकल्पपूर्वकमाह—**विकल्पासहत्वादित्यादिना** । अतएवेत्यतिदिष्टं सिद्धसाधनत्वं विवृणोति—**अवयविन इति** । पृथक्क्रियावत्त्वं युतसिद्धत्वमिति तृतीयपक्षेपि सिद्धसाधनतामाह—**पृथक्क्रियावत्त्वेति** । अवयवेऽन्यत्कर्म अवयविन्यप्यन्यदेवेत्यत्र वैशेषिकसूत्रमपि प्रमाणयति—**एकद्रव्यमिति** । एकमेव द्रव्यं समवायिकारणं यस्य कर्मणस्तदेकद्रव्यं न पुनः संयोगादिवदनेकघृत्तीत्युक्तम् । परस्परसंयोगविभागवत्त्वं युतसिद्धिरिति चतुर्थं पक्षं दूषयति—**न चतुर्थं इति** । तत्रहि चलाचलत्वेन संयोगविभागवत्त्वमापादनीयं, नचैतच्छून्यापादनं, व्योमेरभावेन प्रविशिलमूललादिति भावः ।

यत्त्वावृत्तत्वानावृत्तत्वविरुद्धधर्मसंसर्गो नास्ति अवयवावरणेऽप्यवयविनोऽनावृत्तत्वानुभावादित्युक्तम् अवयवानां क्रमेऽपीत्यत्र, तत्र बाधकं शङ्कते—**अवयवेति** । केयं कात्स्न्येन प्रतीतिः—**किमवयविस्वरूपस्यानवशेषेण प्रतीतिः किं वा ह्रस्वविस्त्रादिभक्तया प्रतीतिः । आद्यामिष्टान्त्या दूषयति—सत्यमिति** । एकः खल्ववयवी न पुनरवयववदनेकः स चेत्प्रतीयते प्रतीत एव कात्स्न्येनेति नायमानिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः । द्वितीया शङ्कते—**तथाप्य इति** । सहकारिवैकल्यादिति परिहरति—**तदुचितेति** । अवयव्युत्पादका एव येऽवयवास्तेषामिन्द्रियेण यः सन्निकर्षः सोऽप्येतस्यैकहस्तादेः प्रतीतानुचितो हेतुस्त्वस्याभावादित्यर्थः । यस्तु रक्तलारक्तलक्षणविरुद्ध धर्मसंसर्गं उक्तं परिहरति—**रक्तत्वं त्विति** । यदि पाकादिवशाद्दृढतर पटेन सयुक्तं कुसुम्भादिद्रव्यान्तरं तदधर्म एव रक्तत्वादिः न पटधर्मः नापि तन्तुधर्मः, पर तत्संयोगात्पटस्थरक्तताप्रतीतिरित्यरक्तैकस्वभावत्वात्पटस्य दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्ग इत्यर्थः । स्यादेतत् भवतु हरिद्रादिसंयोगात्पटे रक्तप्रतीतिस्त्वयापि किमिति न सर्वोत्तमा पटे रक्तिमप्रतीतिः, एकः खल्ववयवी तेन सयुक्त इति, तस्माद्रक्तप्रतीतिविषयत्वतद्द्रहितत्वलक्षण एवायं विरुद्धधर्मसंसर्गोऽस्तिवति शङ्कते—**तथापीति** । परिहरति—**नेति** । यद्यप्येक एवावयवी तथापि द्रव्यान्तरसंयोगस्तस्मिन् सर्वस्मिन्वर्ततेऽपित्वव्याप्यवृत्तिर्भावति च स वर्तते भवत्येव रक्तप्रतीतिरियमप्यस्तीत्यर्थः । एवं विरुद्धधर्मसंसर्गं परिहृतेपि वृत्तिविकल्पागुपपत्त्यासाहितोपाधितां शङ्कते—**नन्वित्यादिना** । ननु किमिति शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्तिः, नच शृङ्गस्य स्तनत्वमस्तीति, तत्राह—**अवयविन इति** । अन्यो जनकतया सन्नित्वम् । अत्रैव दूषणान्तरमाह—**युगपदिति** । क्रमेणाने-

आरम्भकावयवव्यतिरिक्तकदेशाभावात् । भावे वानन्तावयवतया मेहसर्पपयोस्तुत्यरि-
माणतापत्तेः, अवयवावयविनोर्दूरविप्रकर्षप्रसङ्गाच्चेति चेत् । भैवम् । विकल्पस्यानवसरदुः-
स्थत्वात् । नह्येकस्मिन्नेवावयविनि समस्तोऽसमस्तो वेति विकल्पः कल्पते, बहूनां हि सम-
स्तताऽसमस्तता वा संभवेत् । किंचायं वृत्तिविकल्पः स्वसिद्धां व्याप्तिमवलम्ब्योत्तिष्ठतु
परसिद्धाम् । नाद्यः । सौगतैः सर्वस्य क्षणिकत्वेनाश्रयाश्रयिभावानभ्युपगमात् । वेद-
न्तिभिरपि कार्यस्य कारणे कल्पितत्वमभ्युपगच्छद्भिर्वृत्तेरनभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः ।
तेनाप्यनङ्गीकारात् ।

यद्वर्तते तत्संयोगेन, समवायेन वा, वर्तते इति परोक्षीकरोति ननु कात्क्षर्यकदेशाभ्याम् ।
अस्तु वा कात्क्षर्येण वृत्तिसत्त्वापि न शृङ्गेण स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः । तत्तदवयवविशिष्टसौ-
वायवविनस्तत्कार्यप्रसवसमर्थत्वात् । सर्वध्यायं प्रसङ्गहेतुराश्रयासिद्धः । अवयविनो-
ङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वा धर्मिप्राहकप्रमाणवाधः । परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनमिति चेत् ।
न । परस्यापि प्रमाणतः सिद्धावसिद्धौ च पूर्वोक्तदोषद्वयानतिवृत्तेः । अस्त्येवेतरस्यापि
कल्पनाकल्पितो धर्माति चेत् । न । कल्पनायाः सर्वत्राव्याहृतप्रसरतयाऽऽश्रयासिद्ध्या-
दिदोषप्रमोपप्रसङ्गात् । तदेवं परमाणूनामेव द्रव्यकादिक्रमेण निश्चितनिखिलजगत्का-
रणतोपपत्तौ न ब्रह्मणस्तत्कारणत्वकल्पनावकाश इति ।

कत्र वर्तमानदेवदत्तादिव्यवच्छेदाय अुपद्रुहणम्, यदिहि प्रत्यवयवं परिसमाप्य वर्तते तदा प्रतिद्वयं परिसमाप्य
वृत्तिरुपादिवदनेकत्वमपि स्यादित्यर्थः । ननु किमित्यारम्भकव्यतिरेकेण वृत्त्यर्थमप्यवयवा न स्युः, कोशावयवे
वर्तमानाद्यैः कोशावयवव्यतिरिक्तावयवत्वदर्शनादिति, तत्राह—भावे चेति । तदाहि तेष्ववयवेषु तद्वृत्त्यर्थ-
मवयवान्तराणि कल्पेरन्, एवं तेषु तेष्वपीत्यनन्तावयवाः स्युरपरयान्तिमावयवेषूपकदोषापातात्, तथाप्यनुनेह
सर्पपयोरेनन्तावयवत्वं समानमिति परिमाणसाम्यमपि स्यादविश्रान्ततारतम्यपरिमाणाधिक्येण परीमाण-
वैषम्यस्यावयववैषम्यनिमित्तताव्यातेरित्यर्थः । अत्रैव द्रव्यान्तरमाह—अवयवेति । प्रथमावयवव्यतिरे-
केऽनन्तावयवव्यवधानादित्यर्थः । एवं वृत्तिविकल्पदोषं परिहरति—भैवमिति । एकस्मिन्नुपपत्तिरे-
व्यतिरेकनियमेन दर्शयति—यद्दुनामिति । किंच यद्यत्र वर्तते तत्कात्क्षर्येनैकदेशेन वेति किं सौपडवन्ने
नियतिः किंवा वेदान्तदर्शने आहो महर्शनेनैवं प्रसज्यते, न सर्वेषामीत्याह—किंचायमित्यादिना ।

ननु सौगतवेदान्तिदर्शनयोर्वृत्त्यनङ्गीकारादेव युक्तस्तत्रयुक्तनियमेप्यनादरः कर्तुं, भवता तु वृत्तिर्नाङ्गी-
यता काचिद्व्यतिरिक्तीकरणीयेवेति, तत्राह—यद्वर्तते इति । संन्ये एव नियतिर्न काचरंदादित्यर्थः ।
ननु किमिति न प्रसङ्गः, यावताऽवयविन एव कार्यकरत्वादापतलेवेति, तत्राह—तत्तदवयवेति । इत्य-
वयविनोन्वयव्यतिरेको तथा तत्तदवयवेषुपेततयापीत्यर्थः । किंच यथेकदेशेन वर्तते यदि वा कात्क्षर्येन इति
चावयवेष्वोऽतिरिच्येत तर्हादिमिदं स्यादिति यदिदं प्रयजनं तत्राश्रयगतः कथिदवयवी सोऽहो न ह,
उभयथाप्यनुपपत्तिरित्याह—सर्वध्यायमिति । प्रयत्नदेतुः प्रयत्नको हेतुरित्यर्थः । अन्तरीक्षरेप्यन्तर-
दिपरिहारं शङ्कते—परेति । परस्यापि किं प्रमाणतः सिद्धं स्या धर्माकियते उत प्राप्तिनाङ्गीकृत-
भावे धर्मिप्राहकप्रमाणवाधः, नहि परप्रमाणप्रमाणं भवति, यद्युनोन्वयप्राभावात् । शिष्टे तेष्व-
द्विरिति परिहरति—न परस्यापीति । ननु किमित्याश्रयादिधर्मिप्राहकप्रमाणवाधो वा नावकाश इति
कथिदवयवी ममाप्यत्वेवेति शङ्कित्वा अक्षिप्रयत्नवा परिहरति—न कल्पनाया इति । इत्यु-
पपत्तवादे । पूर्वपशुपर्वतरति—तदेवमिति ।

अत्रोच्यते—‘अर्थान्तरत्वादायस्य परस्योपाधिमत्त्वतः । अन्यस्याभासतुल्यत्वात्प्रति-
साधनरोधनात्’ ॥ ३८ ॥ यत्तावन्महत्त्वापकर्षतरतमभावस्य कचिद्विश्रान्तिसाधनं, तद-
र्थान्तरं, त्रसरेणुष्वेव तस्य विश्रान्तेः । नच चाक्षुपद्रव्यत्वात् महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्वा
तेयामपि सावयवत्वानुमानात्तत्र विश्रान्त्यनुपपत्तिः । आद्यस्य योगिचक्षुर्गोचरेण परमा-
णुष्वनैकान्तिकत्वात् । नचास्मदादीति विशेषणोपादानाददोषः । परमाणूनामिदानीमेव
साधनीयतया तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणस्य वैयर्थ्यात् । द्वितीयेपि महत्त्वे सतीति विशेषणस्य
परमाण्वसिद्धौ वैयर्थ्यात् । यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानं, तत्र पृथिवीव्यतिरिक्ता-
धेयत्वमुपाधिः, सत्ताया अपि नित्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् साध्यविकलश्च दृष्टान्तः ।

अयं घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्य इत्यनुमानमाभाससमानम्, अयं
घट एतदतिरिक्तानित्यसावयवातिरिक्तसावयवान्यो भेयत्वादित्यपि प्रयोगस्य सुबचत्वात् ।

तत्र तावत्परमाणुसाधकतया शङ्कितानुमानेषु दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—अर्थान्तरत्वादिति । अ-
णुपरिमाणतारम्यमित्यनुमाने त्र्यणुकैरर्थान्तरता । यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानं, तत्राह—पर-
स्येति । यत्तु महाविद्यानुमानमुक्तं तत्राभाससमानयोगक्षेमतां सत्प्रतिपक्षता चाह—अन्यस्येति । सग्रहं
विश्रुणोति—यत्तावदित्यादिना । कथयं तरतमभाव—न तावत्सख्या । परिमाणेऽप्यभवात् । नापि
जाति, महत्त्वाणुत्वाभ्या परापरभावाभावात् । अभावत्व त्वेतादृशानां पुरैव निवारितम् । ततथाश्रयासिद्धि-
रपि दुर्बद्धा । यत्तु त्र्यणुकानामपि सावयवत्वानुमानद्वारार्थान्तरत्व परिहृतं, तत्राह—नचेति । अत्र कि-
चाक्षुपत्वमानं विवक्षितं किंवाऽयोगिचाक्षुपत्वम् । आद्ये भवतामनैकान्तिकता स्यादित्याह—आद्यस्येति ।
परमाणुष्वित्युपलक्षणं कालाचीनामपि । द्वितीयं दूषयति—नचेति । अत्र तावद्ग्राहना कालाकाशदिशा-
मप्यस्मदादिचाक्षुषत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थं न स्यात्तसायोगिनामेव प्रत्यक्षपरमाणुव्यावृत्त्यर्थमिदं विशेषणं तथाच वैय-
र्थ्यम् । योग्यनङ्गीकारादपि भाट्टान्प्रति वैयर्थ्यमित्यर्थः । द्वितीयं सावयवत्वसाधकं दूषयति—द्वितीयेति ।
निरवयवपरमाणुं क्रियावत्सन्नैकान्तिकतापरिहारार्थं महत्त्वे सतीति विशेषणम् । तथाच वैयर्थ्यमित्यर्थः ।
भवतु वा सावयवत्व तथापि कथमर्थान्तरताऽभावः । नहि द्यणुकादौ महत्त्वापकर्षविधामसंभवः । तत्र
महत्त्वस्यैवाभावात् । परस्योपाधिमत्त्वत इत्येतद्विश्रुणोति—यत्त्विति । सत्ताया नित्यवृत्तित्वेपि पृथिवीत्वं
रहितवृत्तित्वमुपाधि, नच पक्षेतरता, आकाशादेवपक्षस्य व्यावर्त्यस्य सत्त्वात् । वेदान्तिमतं साध्यवैकल्यं चाह
—सत्ताया इति । आकाशादिप्रपञ्चस्य नित्यत्वाभावात्सत्ताया कल्पितत्वात् आत्मनश्च सद्रूपतया तत्र
सत्तावृत्त्यनवादित्यर्थः ।

अन्यश्लोकेतद्विश्रुणोति—अयं घट इत्यादिना । अत्र होतदतिरिक्तानित्यसावयवातिरिक्त सावयवो-
ऽयमेव वा घटोऽनित्यत्वानधिकरणसावयवो वा कथित् । प्रथमेऽन्यत्वमेव तद्व्युत्पन्नस्य व्याहृतमिति ततो-
ऽनित्यत्वानधिकरणस्य सावयवस्य कस्यचिदप्यन्यस्य विद्विप्रसङ्ग इत्यर्थः । नचानित्यद्वयस्यैव सावयवत्व
स्यादनित्यसावयवत्वानधिकरणसावयवान्यत्वानुमानं व्याघातादेव नोदेतीति वाच्यम् । मूर्तस्याप्यनित्य-
ताव्याप्त्या त्वदनुमानेपि व्याघातघाम्यात्, परिच्छिन्नपरिमाणमात्रमेव मूर्तत्वमित्युक्ते द्रव्यत्वे सति द्रव्यध-
मवेतत्वमेव सावयवत्वं न पुनरनित्यत्वगन्ध इत्यपि वक्तुं शक्यमिति भावः ॥ १ ॥ तथाय घट एतद्वदेत्ये
सति एतदतिरिक्तानित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तान्यो न भवति भेयत्वात्सद्वदिति प्रकरणत्वमता ॥ २ ॥
तथा त्वद्देतु स्वस्वैतरवृत्तित्वानधिकरणसमस्तहेतुदोषाधिकरणनिष्ठधर्मत्वात् भेयत्वात् ॥ ३ ॥ तथा
नित्यत्व स्वस्वैतरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठस्वरहितनिष्ठधर्माधिकरणं भेयत्वात् ॥ ४ ॥ तथा निरवयवत्व

१ महत्त्वापकर्षतारम्यसाधने इति शेषः । २ सलन्त निरुक्तमूर्तान्यत्वे विशेषणम् । एतद्वदत्त्वाभावात्पदे
विद्विष्टमूर्तान्यत्वमात्रं । नित्यमूर्तान्यत्वाच्च विद्विष्टमूर्तान्यत्वमात्रं एतद्वदेति अतीति बोध्यम् । ३ स्वस्वैतरवृत्ति-
त्वानधिकरणीभूता ये समस्ता हेतुदोषास्तदधिकरणनिष्ठधर्मत्वमिति योजना । ४ स्वस्वैतरवृत्तित्वानधिकरणीभूतो
मूर्तनिष्ठस्वरहितनिष्ठो धर्मस्वरधिकरणमिति संबन्धः ।

पृथिवीत्वमनिलमात्रवृत्ति पृथिवीमात्रवृत्तित्वात् घटत्ववदिति प्रतिप्रयोगसंभवात् । नच पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजात्यन्त्यत्वमुपाधिः, व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धेः साध्या-
व्यापकत्वात्, सत्ताद्रव्यत्वयोरपि नित्यवृत्तित्वासंप्रतिपत्तेः । नच निरवयवेषु संयोगसंभवः,
येनासमवायिकारणसंपत्त्या द्रव्यारम्भः संभाव्येत ।

परमाणुपक्षीकारासंभवेऽपि संयोगित्वं सावयवमात्रवृत्ति संयोगिमात्रवृत्तित्वात् घट-
त्ववदिति संप्रयोगोपपत्तेः । नच द्रव्यत्वेन संयोगित्वानुमानम्, उभयवादिसिद्धस्य धर्मि-
णोऽभावात् । नच संयोगित्वं निरवयववृत्ति संयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्नेय-
त्ववदिति सप्रतिसाधनता, संयोगिव्यापिनि सावयवत्वधर्मे परस्त्रानैकान्यात् । नच
द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरदोषः, पार्थिवाप्यपरमाण्वोः संयुक्तयोः सजातीयाण्वन्तरसंयो-

खलेतरैरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहितनिष्ठधर्माधिकरणं मेयत्वात् ॥५॥ इत्यादिमहाविद्यामिरेवार्थतः सत्प्रति-
पक्षता केन वार्यते, तथापि यस्यकस्यचिदुपाधितामुद्भाव्य तस्याध्ये समत्वादिविप्रतिपत्तावप्येतव्यं रीत्या समर्प-
नीयम्, तथा हेत्वादिकमपि पक्षीकृत्य वैपरीत्यमनुमातव्यं, परमाण्वन्तर्ज्ञाकारेण्येवमनुमानसंभव इष्यते, तथा
रीत्यन्तरैरपि । नचैतेषां तर्कविद्याविरोधादिदोषः शक्यशब्दः । विमतान्यनुमानानि खलेतरवृत्तित्वानधिकरण-
सफलदूषणरहितनिष्ठधर्माधिकरणानि मेयत्वात् ॥ ६ ॥ इत्यपि शक्यप्रयोगत्वात् । नच मयाप्येवं वैपरीत्यमनु-
मातुं शक्यमिति वचनीयम् । ततोप्येवं वक्तुं शक्यत्वात् । एवं हि महाविद्याकोविदाः प्राहुः, धमादुपरनेपि न
दोष इति । ननु तथापि महाविद्याप्रामाण्यं सिद्धमेवेति चेत्, अप्रामाण्यनापि सिद्धमेव । तदित्यम् 'खपरपरपञ्च-
णामेषां पारिष्टवावहा । आरादेव परेत्याज्या महाविद्यामिष्टारिका' ॥ १ ॥ सप्रतिसाधनतां विज्ञोति-
पृथिवीत्वमिति । एतच्चोभयोरप्यनुमानयोः समानम् । नच पृथिवीनिष्ठेति । सकलपृथिवीनिष्ठा वा
जातयः पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातयः तदन्यावमुपाधिरिति नच वचनीयमित्यर्थः । कुत इत्यत
आह—व्यतिरेकेति । यत्र हि पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातित्वं तत्र नित्यवृत्तित्वमिति व्यतिरेक-
व्याप्तिः कुत्र गृह्यते, न तावत्सत्ताद्रव्यत्वयोः, अद्वैतवादिनस्त्वयोरपि नित्यवृत्तित्वासंप्रतिपत्तेः । अतः साध्याव्या-
पकत्वादनुपाधिरित्यर्थः । यत्तु निरवयवस्यापि परमाणोः संयोगधर्म्यं कृतं तद्व्ययति—नचेति । ननु
परमाणुसंयोगाक्षेपस्य जगत्कारणत्वाभावे क उपयोग इति, तत्राह—येनेति । अक्षयवसंयोगः सत्त्ववन्मु-
त्पत्तावसमवायिकारणं, स हि लघुप्रत्यासन्नः, तदिह परमाणूनां तदभावे कारणत्रयाभावाद्द्रव्यैव शनुधा-
चारम्भ इत्यर्थः ।

परमाणुव्यक्तिमात्रपक्षीकरणमाशङ्क्य पूर्ववादिना यद्व्ययणमुक्तं तदनन्तीकारपरत्समिति यद्व संयोगान्-
स्यानुमानमारचयति—परमाण्विति । नच द्रव्यदेवानैकान्तिकता, तस्यापि पक्षानुत्पत्त्यात् । प्रतिप्रयो-
गमाशङ्क्य दूषयति—नच द्रव्यत्वेनेति । ननु किमित्युभयासिद्धेर्धर्म्यमाशङ्क्य, त्वदीया संयोगित्वमेव पक्षी-
कृत्य सावयवप्रयोगलादिति, तत्राह—नच संयोगित्वमिति । संयोगिनिष्ठपटवगदिव्यापर्वनापालान्तावा-
चपद्यम् । यस्य हि सावयवमेव संयोगीति मतं तन्मते सावयवत्वैकैकान्तिकमित्यर्थः । किञ्च संयोगि-
गुणादिवृत्ति संयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्नेयत्वादिवदिति शक्यानुमानत्वादाप्राप्तसमान्ययोगसं-
त्वम् । यच्च द्वितीयसंयोगाभावो न दोषाम प्रथिमानुपपत्तेरदूषणत्वादित्युक्तं, तत्राह—नचेति । माम्भू-
मानुपपत्तिर्दोषः, द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरेव दोषः, अपविद्वान्तापत्तेरित्याह—पार्थिवाप्येति । यदाह ५

१ परमाणुत्वमिति दोषः । २ पूर्ववदथापि बोधना । ३ खलेतरवृत्तित्वानधिकरणधीभूतः सकलदूषणरहितनिष्ठे
धर्मैकव्यतिरेकत्वमित्यर्थः । ४ पक्षीभूतं पृथिवीत्वमित्यर्थः । ५ संयोगिनिष्ठत्वभावे हेतो मवोक्त्ये इति दोषः ।

गात् व्यणुकोत्पत्तौ द्वितीयसंयोगस्यावश्याभ्युपेयत्वात्, कारणाकारणसंयोगेन कार्या-
कार्यसंयोगस्येष्टत्वाच्च । नचावयवी कश्चित्संभवति यः परमाणुभिरारभ्यते, नचैकस्थूल-
नीलावभासो बाह्ये प्रमेत्यनुमानात्तत्सिद्धिः । यादृगवयवानामवयवव्यारम्भकताभ्युपेयते
तेषामेवैकस्थूलनीलावभासगोचरत्वोपपत्तेरर्थान्तरत्वात् ।

नचानेकेषामेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तिः । एकप्रावरणाद्यर्थक्रियाहेतुत्वोपाधौ बहूना-
मपि तन्तूनामेकप्रत्ययत्वोपपत्तेः । दृश्यते हि बहूनामपि वर्णानामेकार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपा-
धावेकं पदमिति बुद्धिगोचरता, कम्पावरणानावरणरक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसं-
र्गादवयविन एकत्वानुपपत्तेश्च । नचावयवानां तथात्वेऽवयवविनोऽतथात्तम् । तथात्वे सति
युतसिद्धिप्रसङ्गात् । नच युतसिद्धेरनिवृत्तिः । घटपटयोरिव द्रव्ययोः समवायायोग्य-

विषयपरमाणोरप्यपरमाणौ संयोगो जायते, तदनन्तरं च पार्थिवस्यान्येन पार्थिवेन आप्यस्याप्यन्येनाप्येन
संयोगो जायते, तदा पार्थिवान्या पार्थिवव्यणुक आप्याभ्या च्याप्यव्यणुकमिति द्वय युगपदारभ्यत इति भवतां
समय, ततश्च पार्थिवाप्यपरमाणो प्रथम संयोग, सयुक्तयोरेव पुन सजातीयानुभ्या संयोगनिष्पत्तिरिति
तदनुपपत्तिर्दापार्थिवैत्यर्थः । अथेयमपि प्रथमः माभूत्किं नदिच्छन्मिति, तत्राह—कारणेति । अयमर्थः ।
संयोगनसंयोगप्रकरणे हेतुत्वाद्वाभ्या बहुभ्यश्चैकस्य संयोगस्योत्पत्तिमुक्त्वा पुनरेकस्मात्संयोगाद्द्वयो संयो-
गोत्पत्तामित्यमुदाहृतं भवद्भ्रष्टत्वात् 'यदा पार्थिवाप्ययो'रित्यारभ्योक्तप्रकारेण व्यणुस्योत्पत्तिमुक्त्वा ततो
'यस्मिन्नेव काले व्यणुक्यो कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणाकारणगतात्संयोगा-
दितरेतरकार्यार्थायगतौ संयोगौ युगपदुत्पद्येते' इत्यन्तेन । उपपत्तिरपि तैरेवोक्ता—'किं कारण, कारणसंयो-
गिना हि कार्यमवश्यं सयुज्यते इति हि न्याय' इति । तस्मात्संयोदिता द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरितिष्टापत्तिरे-
वेति । अचावयविसाधन पूर्ववादिना हृतं तदपि दूषयितुं क्रमते—नचावयवीत्यादिना । यच्च मानम-
नोहरीधमनुमान, तत्र बाह्यविषयत्वेप्यवयवैरर्थान्तरतामाह—नचैकस्थूलनीलेत्यादिना ।

नचवयवानामनेकत्वादेऽनुद्धिमियत्त्वानुपपत्तिरिति, तत्राह—नचानेकेषामिति । यथाहि बहूनामपि
वर्णानां बहूनामपि पदानामेकपदार्थादिवुद्धिपनक्तवोपाधावेकं पदमेकं वाच्यमिति बुद्धिविषयत्व, न पुनस्ता-
दृशं कश्चिद्वर्णाव्यतिरिक्तोर्थः, तथेहाप्येकार्थक्रियापाधौ बहूनामेव तन्तूनामेकबुद्धिविषयत्व किमिति न सभ-
वतीत्यर्थः । नच परमाणूनामप्रत्ययत्वात्प्रत्ययव्यवयवत्वमिति वाच्यम् । तादृशपरमाणूनामेवासिद्धे ।
विरुद्धधर्मसर्गलक्षणतत्कविरोधमपि समधयते—कम्पेति । पूवाक्तं पूर्वेपक्षाशय निराचष्टे—नचावयवा-
नामिति । ननु युतसिद्धत्वमेव विनल्पपूर्वं दूषितं, तत्राह—नच युतेति । नात्र भेदादिभूतसिद्धिरापा-
दिता, घटपटयोर्द्वययोर्वाहरी युतसिद्धिः समवायायोग्यत्वात्किं वा सैवात्र चञ्चलत्वादिनापादनीयेति, चला-
चलयोरपि द्रव्यगुणयोस्तदयोम्यता नास्तीति द्रव्ययोरित्युक्तम् । इत्यमेवच युतसिद्धिरभ्युपेया भवतापि, इत-
रथा नित्यानित्यसाधारणयुतसिद्धेरभावात्, पृथगाधयाश्रयित्वस्य परमाण्वादिपभावात् पृथग्भूतमत्त्वस्य च
शुणादावभावादानुगतं स्यात् । नवानुगतनिमित्ताऽनुभवे साधारणशब्दता युक्ता । नचैवविधयुतसिद्धिर्गु-
णादावपि शक्यप्रमत्तना कम्पादिस्तत्रापि समानत्वादिति वचनीयम् । इष्टत्वात् । नचाप्रमितस्य समवायस्य
निषेधानुपपत्तिः । शुक्तिरजततादात्म्यवद्भ्रान्तिसिद्धस्यापि निषेधोपपत्तः । एव च यदाह किरणावलीकार —
'तस्माद्युतसिद्धिमजानन्नेव शब्दसिद्धिमात्रेण परो ध्वनयतीति, तदात्मन्येव परावर्तितम् । ननु यदि युत-

त्वस्य युतसिद्धिपदेनाभिलाषात् । नच युतसिद्धत्वे भागभागिव्यवहारगोचरत्वानुपपत्तिः,
पदवाक्यादिवदुपपत्तेः ।

यच्चूक्तं नावयविनोऽवयवानां वा रक्तत्वं किंतु महारजनादिद्रव्यस्यैव तत्संयोगस्या-
व्याप्यवृत्तित्वादेव रक्कारक्तत्वव्यवहारो विभागश्च सिद्धयतीति तदसत् । अव्याप्यवृत्तित्व-
स्यानिवृत्तेः । तर्हि प्रदेशवृत्तित्वमुत स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम् । नाद्यः । आर-
म्भकप्रदेशातिरेकेणावयविनः प्रदेशान्तराभावात्, प्रदेशवृत्तित्वे संयोगस्यावयविनः सर्वत्र
संयोगानाधिकरणत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशतद्गतोर्भिन्नत्वात् । न द्वितीयः । भावस्य स्वात्यन्ता-
भावसमानाधिकरणत्वे भावाभावविरोधोच्छेदप्रसङ्गात् । प्रतियोगिसमानदेशकालवेत्यन्ता-
भावस्यान्योन्याभावत्वप्रसङ्गाच्च । नच नेदमिह नेदमिदमिति विलक्षणबुद्धिवेद्यत्वाद्भेदः ।
असति प्रमेयवैलक्ष्ये बुद्धिवैलक्ष्य्यासंभवात् । नच प्रतियोगिनिष्ठानिष्ठत्वेन विशेषः ।
तस्याभावप्रकरण एवापाकरणान् । किंचावयवेष्ववयवी व्यासज्य वर्तते यथा द्वित्वादि किं
चा प्रत्येकं परिसमाप्य यथा पराभिमतता जातिः । आद्ये बहुत्वसंख्यादिवदेव समस्ताव-

सिद्धिस्ताहिं घटपटवदेव भागभागिव्यवहारो न स्यादिति, तत्राह—नच युतसिद्धत्व इति । नहि पदादीनां
वर्णादीनां वाऽयुतसिद्धिरस्ति, अथाप्यस्ति भागभाग्यादिव्यवहारः पञ्चावयवं वाक्यमित्यादिष्वेवमिहापीत्यर्थः ।

रक्कारक्तवयोरपि तदुक्तं परिहारमनूय दूषयति—यच्चूकमित्यादिना । संयोगस्याव्याप्यवृत्तितया हि
तदधीनरक्कारक्तव्यवहारस्य व्यवस्था क्रियते तदसत्, अव्याप्यवृत्तितया दुर्निरूपत्वादित्याह—अव्या-
प्येति । कोऽयं प्रदेशः किमारम्भकावयवव्यतिरिक्ताः केचिदवयवाः किं वा त एव । आद्योऽसंभवीत्याह—
नाद्य इति । द्वितीये प्राह—प्रदेशेति । प्रदेशेभ्य आरम्भकावयवेष्वो विभिन्नोऽवयवी, तथाच प्रदेशवृ-
त्तित्वेन संयोगस्य न कचिदप्यवयविनां संयोगित्वमिति ब्रव्यत्वव्याहृतिः । तस्य तदव्याप्यत्वात्, कारणसंयोगस्य
कार्यसंयोगोपजनननियमाच्चेति भावः । भावस्येति । संयोगाख्येत्येत्यर्थः । किंचैवंसति रक्कारक्तदल्यन्ताभावयो-
रेकस्मिन्नेवावयविनि वृत्तिरित्युक्तं भवेत्तथाच स एव दुरात्मा विरुद्धधर्माध्यासो दुरुद्धरः स्यात् । न भावाभा-
वयोर्विरुद्धत्वं किंतु तद्विशेषगोलादेरश्वत्वादाविति चेत्, नूनं पितृभ्यां शिक्षितोति वषमन्यथा भावानाभा-
वयोर्विरोधमननुमन्य तदाप्रातयोर्विरोधमनुमन्यसे, अस्ति चात्राभागाः 'पिण्डमुत्सृज्य करं लेडी'ति । इममेव
विरोधोच्छेदप्रसङ्गं बाधकं संयोगतदल्यन्ताभावयोरेकत्र वृत्तौ बाधकमपर्यते श्रीवल्लभाय व्याचक्षीत् । हिं
संयोगादेरल्यन्ताभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वेन्योन्याभावतैवास्ति स्यात्, स्वप्रतियोगिसमानाधिकरण-
निषेधत्वस्यान्योन्याभावविलक्षणत्वादित्याह—प्रतियोगीति । अत्र लौलावतीकारेणममेव दोषमाशङ्क सम-
दधे 'नेदमिदं नेदमिहेति विलक्षणबोधवेद्यत्वा'दिति । तदूषयति—नचेति । न बुद्धिवैलक्ष्य्यानाप्रमर्ष-
धकम्, अतिप्रसङ्गात्, अपि स्वबाधितम् । नचेह तत्, लक्षणाद्यभावेन दुर्निरूपभेदत्वादित्यर्थः । ननु प्रतियोगि-
ष्टत्वमल्यत्यन्ताभावस्य, अन्योन्याभावस्य तु तनास्ति, नित्यत्वेन तु प्राक्प्रवृत्तयोर्बुद्ध्या इत्ययमेवाह उच्यते-
शेष इति, तत्राह—नच प्रतियोगीति । प्रतियोगित्वानिदकेर्मात्किंचित्प्रतियोगित्यस्य प्रतियोगि-
नुपपत्तेर्भेदमभावखण्डन एव निरस्तमित्यर्थः । अतु वृत्तिविकल्पेन दूषणं पूर्वपञ्चावयव उक्तं तदपि समर्पण-
किंचेत्यादिना । व्यासज्या परिसमाप्येत्यर्थः । आदिशब्दादित्यादिप्रियुष मत्वादि संयोगविभागाव उच्यते ।
पराभिमततेति । स्वपक्षे हि जातावेव व्यक्तीनां कल्पितत्वाद्वास्तवजतेरभानाधेत्यर्थः । एतच्च प्रिसर-
समानम् । स्यादेतद्बहुत्वं नाम त्रित्वाद्यभिधीयते तदाप्येतादुद्विजन्यं तदाप्य समस्तावयवप्रद्वानाभावेऽप्येतादुद्वि-

यवानामग्रहणे न गृह्येत । द्वितीये जातिप्रदेव पट इति प्रत्ययः प्रत्यवयवं स्यात्, तस्यैव च कार्यान्वयात् शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः । स्तनाद्यवयवविशिष्टस्यैव तत्तत्कार्यकरणत्वान्नातिप्रसङ्ग इत्यपि न वाच्यम् । यादृशसंस्थानेष्ववयवेष्ववयवी समवेत इत्यते तेपामेव तत्तत्कार्यकरणत्वोपपत्तेरवयविनो वैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

किंचावयविनः प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तौ कतिपयावयवनाशेषि जातिवदसावप्रतिष्ठेत । समवायिकारणमन्तरेण कथमवस्थानमिति चेत्तर्हि प्रत्ययवं परिसमाप्यवृत्तावपि सकलसमवायिकारणसहित एवावतिष्ठेत तथाच शृङ्गेणापि स्तनकार्यप्रसङ्गः पूर्वोक्त एवाशुवर्तते, तत्तदवयवविशिष्टस्यैव तत्र तत्र भावात् । प्रत्यवयवं निखिलावयवोपलम्भश्च स्यात्, तदित्यं वृत्तिविकल्पस्य परसिद्धव्याप्त्युपजीवित्वात्सिद्धां परसिद्धां वेति विकल्पोऽनवसरदुस्य एव । नच सर्वस्यास्य प्रसङ्गस्यावयविनः प्रमाणसिद्धावसिद्धौ च धर्मिप्राहकप्रमाणनाशाश्रयासिद्धिदोषौ, यतः—‘प्रमितत्वस्य वैयर्थ्यात्सिद्धस्यैवाश्रयवतः । देहात्मतावन्नियमालक्षणेन व्यवस्थिते ॥ ३९ ॥’ प्रसिद्धतामात्रेणाश्रयत्वोपपत्तौ प्रमाणविशेषण-

क्षणनिमित्तकारणाभावात् बहुत्वमेव नास्ति कस्याग्रहणं दृष्टान्त्यते तस्मादयुक्तमिवैतत् बहुत्वस्यस्यावदिति निर्दर्शनदानम् । मैव । युक्तं चैतत् । नद्युत्पादिकापेक्षावृद्धिरेव बहुत्वज्ञानमपित्त्वन्याया पश्चाद्भाविज्ञानान्तरे, तथा च तदर्थमप्याश्रयग्रहणमपेक्षणीयम् । यथाहु —‘आश्रयप्राहकैरिन्द्रियैर्दृष्टत्वस्ययादिज्ञानमिति । तथाच तदवस्थबहुत्वाग्रहणं शक्यं दृष्टान्त्यितुम् । नच समस्तावयवग्रहणं क्वचिदपि सभवतीत्यग्रहणमेव नित्यमवयविन स्यादिति भावः । प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तिपक्षे दोषमाह—द्वितीये इति । यथाहि प्रतिव्यक्तिगौरौरिति जाति प्रतीयते एवं प्रतितन्त्रु पट- पट इति प्रतीयते नचैवमस्तीत्यर्थं । ननु न श्चैत्रेण स्तनकार्यप्रसक्ति, तत्तदवयवविशिष्टस्यैवावयविन कार्यकरत्वोक्तेरिति, तत्राह—स्तनादीति । हेतुमाह—यादृशेति । यदि एवमवयविनमभ्युपेलावयववैशिष्ट्यं प्रार्थ्यते तर्हि तैरवयवैरस्तु तत्तत्कार्यनिर्गति कृतमितरेण, तत्र च पारिह्यपरिहारायोक्तं यादृशसंस्थानेष्विति ।

अस्मिन्नेव पक्षेऽनिष्टान्तरं चाह—किंचेति । जातिवदिति । यथा कतिपयव्यक्तिनाशेषि व्यक्त्यन्तरमवलम्ब्य जातिर्जावत्येवमित्यर्थं । स्यादेतत्, विषम उपन्यास, नित्या हि जातिरत कतिपयव्यक्तिनाशेषि युक्तं तस्या व्यक्त्यन्तरावलम्बनेनाप्यवस्थानम् । अत्र त्ववयवैरारभ्योऽवयवी, ततश्चैकतरनाशेषि समवायिकारणस्य तन्नुद्योगलक्षणसमवायिकारणस्य च नाशात्कथमस्यावस्थानमिति साहच्ये—समवायीति । एवं तर्हि प्रत्यवयव परिसमाप्यवृत्त्यवयविन सकलसमवायिकारणमपि प्रत्यवयव वर्तते, इतरथा समवायिकारणव्यतिरेकेण तत्र वृत्त्ययोगात् । तथाच श्चैत्रेपि स्तनादिसमस्तावयवा सन्ति स्तनादावपि च श्चैत्रादय इति पूर्वोक्तपारिह्यो बन्धनेपायते इति परिहरति—तर्हीति । तत्रैव हेतुस्वत्तदवयवेति । दूषणान्तरं चाह—प्रत्यवयवमिति । यत्तु स्वरमतयोर्व्याप्त्यसिद्ध्या विकल्पावृत्त्यानमुक्तं तद्दूषयति—तदित्यमिति । बहुत्वगोत्वादावित्यर्थं । दूषणान्तरमप्यनूय दूषयति—नच सर्वस्येति । न दोषा इत्युक्तं तत्र हेतुमाह प्रमितत्वस्येति श्लोकेन । सिद्धत्वे प्रमितत्वाभावापराधेनाश्रयत्वाभावादर्शनात्प्रमितत्वविशेषण व्यर्थमत् सिद्धस्यैवाश्रयत्वं युक्तम् । ननु कल्पितस्येदवयवी किमित्यवयवेष्वेव कल्प्यते, न पुनरन्यत्र, शुक्तिरजतादिकल्पनावधानार्थक्रियाशमो वा किं न स्यादिति, तत्राह—देहात्मतावन्नियमादिति । यथा देह एवात्मत्वं कल्प्यते, ननु घटादौ, तत्कस्य हेतोरनुभवादेव । यथा च कल्पितत्वाविशेषेपि देहात्मतादेरेवार्थक्रियाशमत्वं न रजतादेरेवमत्रापीत्यर्थं । कथं तर्हि तत्त्वनिर्णयार्थं कथाप्रवृत्ति, नद्याभासवर्जनमनाभाससाधनदूषणस्वीकारं

धैर्यध्यात् । नचैवमवयविनः शशविपाणतुल्यता । अपरोक्षप्रतीतिगोचरत्वेनार्थक्रियाकारितया च तद्वैलक्षण्यत् । नच कल्पनाकोशस्य निरङ्कुशप्रसरतयाऽतिप्रसङ्गः, देहात्मभाववत्प्रतिनियमोपपत्तेः । नहि देहादावात्मभावः कल्पित इति घटादावपि कल्पते । नच कल्पितोपि सौर्धक्रियाकारीति भवति शुक्तिरजताद्यर्थक्रियाकारि । एवमनभ्युपगमे कथायामप्रवृत्तिरेव स्यात्, उभाभ्यां धर्मिणः प्रमाणसिद्धत्वेनानङ्गीकारात् । तत्रापि प्रतिपक्षस्य प्रमितावप्रमितौ च निषेधानुपपत्तेश्च । उभयवादिप्रतिपक्षलक्षणैरेव धर्मिहेतुदृष्टान्ततदाभासव्यवस्थोपपत्तौ सत्यत्वानङ्गीकारेऽप्यतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात् । एकस्थानेककृत्तरेवयविनो निरासेनैव संयोगविभागद्वित्वद्विषयत्वसामान्याद्योपि परास्ता वेदितव्याः ।

संयोगादिस्वरूपानिरुक्तेश्च । तथाहि । किमप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः १ अनित्यः संबन्धो वा २ जन्यत्वविशेषितो वा ३ अव्याप्यवृत्तित्वविशेषितो वा ४ द्रव्यासमवायि-

च विना कथाप्रवृत्तिः । इतरथा आभासप्रयोक्तुरिवात्ताभासप्रयोक्तुरपि परामयः स्यादाभासप्रयोक्तुरपि चैतरेवजयः स्यादिति, तत्राह—लक्षणैश्चेति । यद्यपि कल्पितत्वं, समानं, तथापि सत्तासत्ताभ्युपगमव्यतिरेकेणोभयसंप्रतिपक्षलक्षणस्वरूपमादायाभासानाभासव्यवस्थायां सिद्धायामनाभासैर्व्यवहर्तव्यम् आभासा वर्तनीयाः एवं निर्बोद्धव्यजयः इतरस्य तु पराजय इति व्यवहारनियमबन्ध एव कथाज्ञं, नतु धर्म्यादिसत्ता । इतरथाऽऽसद्भादिनां परस्परं जयपराजयाव्यवस्थापातात् । नचासत् आभासानाभासद्वैविध्यं न घटत इति वचनीयं, सत्त्वव्यतिरेकेणापि लक्षणवत्तद्वाहित्वाभ्यामनाभासाभासव्यवस्थोपपत्तेः । तल्लक्षणरहितसद्भावभासमानो हि तदाभासः । इतरथा सत्त्वाविशेषोद्भवतामप्याभासानाभासविवेकानावापातादिति भावः । श्लोकं विवृणोति—प्रसिद्धतेति । देहात्मतावदित्येतद्विवृणोति—नच कल्पनाकोशस्येति । कोशो भाण्डागारम् । द्वितीयं नियमं विवृणोति—नच कल्पितोपीति । अथ किमित्यन्तसत्त्वमेव नाश्रीयते, किमिति वा दाशयिगानादिविलक्षणतया सोपाख्यतया प्रतीतिमात्रनाश्रीयते इति, तत्राह—एवमिति । अवयवं तावत्सद्भादिना अनिर्वचनीयत्वादिनं प्रति सत् एव कथाज्ञत्वमित्येतत्प्रसाधनामैवोदासीनसदसत्त्वाभ्युपगमं किञ्चित्साधनमेकसां कथायामुरीकरणीयम् । इतरथा प्रथममेव भक्तिर्दमे कथानारम्भप्रसङ्गात्, अनवतीर्णकथापर्यप्रति च साधकबाधकप्रयोगायोगात् । तथाच कथान्तरेपि तादृश एव धर्म्यादिव्यवस्थोपपत्तौ तृया तदनुपयोगि उदरादिकवेत्यर्थः । तत्रुक्तं धीर्षेकविभिः—‘पूर्वसंबन्धनियमहेतुत्वे तुल्य एव नौ । हेतुत्वत्वविर्भूतत्वात्कथानुपपत्तेरिति । आस्तां वायं बलुवृत्तविचारः । वेपु वेपु पूर्वपक्षेषु प्रतिषेधामान्यमानेवायुगमतीव तावदेवा रीतिराश्रयणीया । नचारोपशान्प्रहणम् । अन्यत्राप्रमितस्य तवारोपेऽनारोहात् । अत्यन्तलीकस्य च नभोनित्यत्वं दनुपादेयतयाऽपरोक्षप्रतिभासायोगादित्यन्निप्रेत्याह—तत्रापि प्रतिपक्षस्येति । तृतीयं चरणं विवृणोति—उभयवादीति । अवयविन्युक्तन्यायं संयोगादिष्वप्यतिदिशति—एकस्येति । आदिशन्नेन त्रिरश्रुतवत् । ‘अनवधि...विदमप्यबोधयिद्वैरुषिपणैरधिरोपितानुभावम् । अननुमतिरूपं त्रिलोकीनेदतरत्कृतिं प्रणामि विष्णुम् ।’

इदानीं प्रसङ्गात्संयोगादिकमपि खण्डयति—संयोगादीति । न केवलमवयविनदनेककृत्त्वत्वेनेदेरनुपपत्तिः, स्वरूपानिरुक्तेरिति चार्थः । अत्र समवायविश्रुतये चतुर्थं पक्षेन्यायं विशेषणं—द्रव्येति । प्रत्यसमवायिकारणं यद् एतदुत्तर्यां गुणत्वावान्तरजातिः संयोगत्वाख्या सदधिकरणं पेल्लर्थाः । एतदुत्तर्यां कमादाय रूपादायतिव्याप्तिपरिहारायार्थं विशेषणम् । तत्तामादाय द्रव्यधर्मोरोपितव्याप्तिपरिहाराय एतदुत्तर्या-

कारणवृत्तिगुणत्वान्तरजातीयो वा ५ । सर्वथापि नोपपद्यते । 'अन्योन्यसंश्रयापत्तेर-
तिव्याप्तिप्रसङ्गतः । अव्याप्तेरजसयोगे द्रव्यत्वाद्यनिरूपणात् ॥' ४० ॥ न तावदाद्यः ।
अप्राप्तिशब्देन सयोगाभावविवक्षायामात्माश्रयत्वात् । सन्धाभावविवक्षायां तन्तुपटयोः
संघन्धेऽतिव्याप्तेः । नहि पटोत्पत्तेः प्राक्पटस्य तन्तुभिः संबन्धोक्तिः, संबन्धिनः पटस्यै-
वाभावात् । समवायस्य नित्यत्वादसत्यपि संरन्धनि स भवतीति चेत्, तर्हि पटस्य कार-
णेषु तन्तुषु सदा समवायात्प्रागपि सत्त्वप्रसङ्गः तथा तन्वादीनामपि कारणानामिति न
किञ्चित्कादाचित्क स्यात् । अथापि कार्यविशेषितः प्राक् नास्तीति चेत्, तर्ह्यप्राप्तयोः प्रा-
प्तिरिति सोपि संयोगः स्यात् । अप्राप्तयोः सतोरिति विशेषणाद्दोष इति चेत् । न ।
सदसतोः सबन्धासभवेन सिद्धस्यैव पटस्य समवाय इत्यवश्याभ्युपेयत्वात् पूर्वदोषान-
तिवृत्तेः, अजसंयोगेऽव्याप्तेश्च । स एव नास्तीति चेत् । न । आकाशादिकमात्मना सयुज्यते
सयोगित्वात् घटवदिति प्रमाणसिद्धत्वात् । नच मूर्तत्वादिरत्रोपाधिरस्ति । व्यतिरेका-
सिद्धेः । यदमूर्तं तदात्मना न सयुज्यते यथा रूपमिति व्यतिरेकः । तत्रचासयोगित्वस्यै-
वोपाधितया व्यतिरेकासिद्धेः । मूर्तत्वं चावच्छिन्नपरिमाणाधिकरणत्व, ततश्च परिमाणाधि-
करणत्वेनैव व्याप्तिसिद्धेरवच्छिन्नविशेषणस्य पक्षमात्रव्यावृत्तिप्रयोजनस्य पक्षेतरता । अत
एव न द्वितीयतृतीयौ । अजसयोगाव्याप्तेः, क्रयादिजन्यस्वस्वामिसबन्धादिष्वतिव्याप्तेश्च ।

षान्तरजातीयप्रदहनम् । तत्रैव वर्तमानवान्तरजातीय इत्येवामिधानेपि गुणत्वजातिमत्तया रूपादावेवातिव्या-
प्तिस्तव्यात्तर्यर्थं गुणत्वप्रदहनम् । अनुपपत्तिहेतून् श्लोकेन सृष्ट्वाति—अन्योन्येति । अप्राप्तयोरित्यत्र
किमप्राप्तशब्देन सयोगाभाववान् सबन्धाभाववान् वा विवक्ष्यते । प्रथमे सयोगसिद्धौ लक्षणसिद्धिलक्षणसिद्धौ
सयोगसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय, सयोगस्याद्याप्यसिद्धेरित्याह—अन्योन्येति । द्वितीये तन्तुपटादिसमवाये-
ऽतिव्याप्ति । उत्पत्ते प्रागसबन्धयोरेवावयवावयविनो समवायिसबन्धेऽतिव्याप्ति । समवायनित्यत्वेपि प्राक्
तथैयत्वाभावेन तस्याप्राप्तयो प्राप्तित्वादित्याह—अतिव्याप्तीति । प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थेषु च दूषण-
माह—अव्याप्तेरजसंयोग इति । नञ्जसयोगस्य विभुमानवतिनोऽनित्यत्व जन्यत्वमव्याप्यवृत्तित्व वा
संभवति ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः । पञ्चमे दूषणमाह—द्रव्यत्वादीति । सम्रह विवृणोति—न तावदि-
त्यादिना । आत्माश्रयप्रदहनमन्योन्याश्रयस्याभ्युपलक्षणम् ननु माभूत्संबन्धिन पटस्य पूर्व भाव तथापि
तत्संबन्धस्य समवायस्य नित्यतया प्रागपि सत्त्वाच्चातिव्याप्तिरिति शङ्कते—समवायस्येति । तत्र किं
तन्तुपटविशेषित एव समवाय प्रागप्यस्ति किं वा स्वरूपेणैव । नाथ । कार्यसंसर्गस्य नित्यतापत्या कापि-
मतानुमतिकलङ्कलेपापातादित्याह—तर्हीति । द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—अथापीत्यादिना । ननु तर्ह्य-
प्राप्तयो प्राप्तिरित्येतावन्न लक्षणमपिलप्राप्तयो सतो प्राप्तिरिति, तथाच किरणानलीकार—'अप्राप्तयो
प्राप्ति सयोग' इति भाष्य व्याचक्ष्ण प्राह—'विद्यमानयोरप्राप्तयो प्राप्ति सयोग' इति । तथाच न पूर्वा
दिव्याप्ति, पटस्य विद्यमानत्वाभावादिति शङ्कित्वा पुनरपि तत्रैवातिव्याप्तिमापायाह—अप्राप्तयोरित्या-
दिना । एतेनैतदपि निरस्त यथाहोदयन—'समवायस्त्वप्राप्तयोर्न संभवत्येव जाते संबन्धोऽस्येत्केकाल-
तावगमा'दिति । अव्याप्तिरित्येतद्विवृणोति—अजसंयोग इति । अजसयोगे समवायखण्डनावसरोकमेवा
नुमान स्मारयति—आकाशादिकमात्मनेति । कृतोपपादनाश्च तत्रैवेते प्र-या । ननुक्तस्य पुन कथनं
वृथा, नाधिकार्थत्वात् । कस्त्वर्थधिकोर्थस्त्वमाह—मूर्तत्वं चेति । अत्र हि परिमाणाधिकरणत्वमित्येतावदेव
सयोगानर्ह्युपादिव्यावृत्ते पक्षीकृततत्तुल्यविभुद्रव्यमानव्यावर्तकावच्छिन्नविशेषणवत्त्वाद्य पक्षेतर इत्यर्थः ।
अत एव, एतस्य विवरणमत्रसयोगेति । श्लोकोक्तमतिव्याप्तिं चाह—क्रयादीति । आदिशब्देन भूस्वस्वामि

तेषां जन्यत्वादनित्यत्वाच्च । नैते संबन्धाः स्वत्वंस्वामित्वादीनां द्विष्टत्वाभावादिति चेत्, तत्कि-
मिदानीं विशेषणविशेष्यभावोपि न संबन्धः, तथाच सुव्याहृतं विशेषणविशेष्यभावसंब-
न्धादभावसमवाययोर्ग्रहणमिति । अपिचैवं समवायोपि संबन्धो न स्यात् । घटः पटेन सं-
युक्तः पटश्च घटेनेतिवत्तन्तुषु पटः समवेतः पटे च तन्तवः समवेता इति तुल्यरूपव्य-
वहाराभावात् । तन्तुपटौ संबद्धावित्यस्यैव व्यवहार इति चेत्समं समाधानम् । स्वस्वा-
मिनौ संबद्धाविति व्यवहारात् । नापि चतुर्थः । अजसंयोगाऽव्याप्तेः । नहि निरवयवेषु ति-
त्येषु सन्ति प्रदेशाः यानव्याप्यायमेकदेशे वर्तेत । नापि पञ्चमः । द्रव्यस्यासमवायिका-
रणानां जातेश्चानिरुक्तौ तद्विशेषितलक्षणासिद्धेः ।

अपि च 'संयोगस्यापृथक्त्वेपि व्याहारव्यवहारयोः । समवाय इवोत्थानादृथा सामा-
न्यकल्पना ॥' ४१ ॥ यथा तत्तत्संबन्धिनिरूपणाधीननिरूपणोपि समवायस्तत्रतत्रैकौ
नित्यश्च संयोगोपि तथा किं न स्यात् । तद्भेदव्याहारव्यवहारयोः समवायवदुपपत्तेः । तेन
जातेरसंभवाद्गुणत्वावान्तरजातीय इतीदं लक्षणमेव न संभवति । नन्वन्यतरकर्मणोभय-
कर्मणा संयोगेन वा संयोगस्य जन्म, तथाच नित्यात्कारणत्रितयजन्यत्वं व्यावर्तमानं
तस्य संयोगत्वमपि व्यावर्तयति तत्कथमजसंयोगसिद्धिरिति चेत्, हन्त तर्हि कारणवहु-
त्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महदिति महत्त्वस्य कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तावात्मा-

संबन्धादयो गृह्यन्ते । तत्र लक्षणं च नयति—तेषामिति । समानाचेयं प्रथमेपि । स्वस्वामिनाधात्वेयादिषु
विशेषणसंभवेपि संबन्धरूपविशेष्यभावादित्यातिपरिहारं शङ्कते—नैत इति । द्विष्टत्वे चोभयनाप्यवि-
शिष्टबुद्ध्युत्पत्तिप्रसङ्गादिति भावः । तद्विदमपसिद्धान्तेन दूषयति—तत्किमिति । किं बोधयत्र तुल्यबु-
जनकतयोभयनिष्ठत्वाभावेन स्वस्वाम्यादीनामसंबन्धत्वमभिमन्यमानस्य समावायोपि संबन्धो न सातत्यापि
तदजनकत्वादित्याह—अपि चैवमिति । तुल्यरूपव्यवहारसद्भावं शङ्कते—तन्तुपटाविति । समाधा-
नसाम्यमेवाह—स्वस्वामिनाविति । एतेन कार्यः संबन्धः संयोग इति लीलावत्यपि निरस्ता । शब्दाप्य-
वृत्तिः संबन्ध इति चतुर्थपक्षमव्याख्या दूषयति—नापि चतुर्थ इत्यादिना । द्रव्यासमवायिकारणेष्वारि-
शिवादित्यभिन्नलक्षणं दूषयति—नापिति । द्रव्यानिरुक्तेः प्रागेवोक्तत्वात्कर्मरूपजनसमये चाऽसमवायिकार-
णत्वस्य निरासात् गुणलक्षणखण्डनाज्जातिरखण्डनाच्च तद्वर्तितमिदमपि लक्षणं राहितमित्यर्थः ।

इदानीं गुणत्वावान्तरजातिरित्यंशोप्यसिद्धस्तथाविधजातौ प्रमाणाभावादित्याह—अपिचेति । तत्र सं-
योगानेकत्वे सत्यनुगतव्यवहारान्यथापुनरपत्तिः संयोगत्वसामान्यकलिरका । अनेकत्वं च प्रत्यङ्गाद् घटव-
योगः पटसंयोग इति भिन्नशब्दप्रयोगाद्वा बुद्धिमेदाद्वा । नाचः । तत्रासंप्रतिपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः सम-
वायवदेकत्वेप्युपाधिवशादन्यथासिद्धेरिति श्लोकेनाह—संयोगस्येति । श्लोकं व्याख्याय संयोगत्वस्यजन-
प्रकृतोपयोगं दर्शयति—तेनेति । यावजसंयोगेऽव्याप्तिष्वतुषु पक्षेऽप्यसिद्धता तत्र सिद्धावलोकितेन परिहार-
शङ्कते—नन्वन्यतरेत्यादिना । स्थिरेण चलस्य संयोगोऽन्यतरकर्मजः यथा स्वाभावदिना स्थानेन, पतनो-
संयोग उभयकर्मजन्यः, यथा मल्लयोर्भेदयोर्वा, कारणाकारणसंयोगाकार्वाचार्यसंयोगः संयोगजः, तपानो-
कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तं संयोगरत्वं तदव्याप्यतां व्यावर्तत इत्यत्रस्य संयोगत्वं व्याहृतमित्यर्थः । संयोगविदे-
दस्य कारणत्रयजन्यत्वेन व्याप्तिर्ननु संयोगमात्रस्यातो न व्याहृतिरिति प्रतिबन्धीप्रदहनपूर्वकं परिहृती—हन्तत-
र्हि—इत्यादिना । कथितकारणवहुत्वात्कार्यं महत्त्वमुत्पद्यते यथा व्यष्टके, यथा वा समानपरिमाणप्रदिष्टिना-

दिपु तंब्यावर्तमानं महत्त्वमपि व्यावर्तयेत् । तथा संयोगे संबन्धत्वमनित्यत्वेन व्याप्तमिति समवायस्यापि संबन्धस्य नित्यता न स्यात् । ज्ञानस्य चास्मदादिपु शरीरेन्द्रियादिसाधनाधीनत्वादीश्वरे तद्विरहिणि तंब्यावर्तेतेति भवतैव स्वतमयः सकलोपि व्याकुलीकृतः स्यात् ।

अथ कारणनिवृत्त्या कार्यस्य निवृत्तिर्न नित्यस्य अव्यापकनिवृत्तावव्याप्यनिवृत्तेरयोगादित्युच्येत, तदितोपि दीयतां दृष्टिः, तस्मान्न संयोगः संभवी । नापि विभागः । स हि प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिः किंवा संयोगविरोधी गुणः अथवा संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिदिग्वृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयः । सर्वथापि न घटते । 'आत्माश्रयादित्य्याप्तेरयोगाव्यभिचारतः । विशेषणाप्रसिद्धेश्च न विभागः प्रसिद्धयति' ॥ ४२ ॥ तत्र न तावदाद्यः ।

यवस्योगवत्तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्बहुतन्त्वारब्धे, क्वचित्कारणमहत्त्वात् । यथा त्र्यणुकादुपरितनेपु, यथा वा समानसंख्याकैरप्रचयवत्तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्शुद्धीर्धतन्त्वारब्धे, तथा प्रक्षिपिलावयवसंयोगरूपप्रचयविशेषादपि क्वचिन्महत्त्वमुत्पद्यते यथा समपरिमाणैः समसंख्यैश्च तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्, तथा चैतेषु कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तमिति निखेष्वात्मादिषु महत्त्वं न स्यादित्यर्थः । स्थलान्तरयोरपि प्रतिबन्दिद्वयं सुबोधेन ग्रन्थेन गृह्णाति—तथेति ।

विशेषमादर्शयन् प्रतिबन्धीमाभासयति पूर्ववारी—अथेति । कारणनिवृत्त्या या निवृत्तिः सा कार्यस्यैव, तस्य तेनैव व्याप्तेः, न नित्यस्य, तस्य तेनाव्याप्तेः । तथापि निवृत्तावतिप्रसङ्गादित्यर्थः । नायं विशेषः—अस्मत्प्रक्षेप्यस्य समानत्वादतो नाभासः प्रतिबन्धीति परिहरति—तदितोपीति । ततोर्हि इतोप्यत्रापीत्यर्थः । 'संयोगवद्विनारो तद्दर्भलक्षणभाषिणौ । विनासितौ सर्वदेववादिवागीश्वरावपि ॥' गुणत्वावान्तरजात्या द्रव्यासमवायिकारणजातीयः संयोग इति प्रमाणमङ्गीकारः । पटजनकतदवयवनिष्ठगुणत्वावान्तरजातीयः संयोग इति च मानमनोहरकारः । अनित्यः संबन्ध इति च तदीयं लक्षणं पूर्वमेव दूषितम् । यथाप्रतिज्ञं विभागं दुर्भिरूपयति—नापीति । तत्र प्रसक्तपादसर्वदेवशिवादित्यमिथकशीकृतलक्षणान्युद्भावयति—स हि प्राप्तिपूर्विकेत्यादिना । विन्ध्यमेवोः संयोगानावोप्यपाप्तिरिति तन्निवृत्तये प्राप्तिपूर्विकेति विशेषणम् । संयोगविरोधित्वं संयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरप्यस्तीति गुणग्रहणम् । बुद्ध्यादिव्यावृत्तौ संयोगग्रहणम् । संयोगावृत्तीति । गुणत्वावान्तरजातीय इत्युक्ते रूपत्वादिकमादाय रूपादावतिव्याप्तिस्तदर्थं जातिरेव विशेषणद्वयेन विशेष्यते । दिग्गृत्तित्यौ गुणस्तद्वृत्तित्यौ गुणत्वावान्तरजातिस्यदधिकरणमित्यर्थः । तेन रूपादायो व्यावर्तिताः । हृत्वादीनां तदभावात् । तथापि संख्यापरिमाणपृथक्त्वेध्वतित्व्याप्तिस्तज्जातीनामपि तथात्वात् उक्तमनित्यमात्रवृत्तीति । नहि संख्यात्वादिजातिरनित्यमात्रे वर्तते एकवैकपृथक्त्वयोर्नित्यवर्तिनोः परममहत्त्वस्य च नित्यतया तज्जातेरपि नित्यवृत्तिर्वात् । तथापि संयोगेऽतित्व्याप्तिः संयोगवदजातिरेवंभूतत्वात् उक्तं संयोगावृत्तीति । संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिजातीय इत्युक्ते घटादावतिव्याप्तिस्तदर्थं गुणत्वावान्तरपदम् । गन्धत्वादिनिवृत्तौ दिग्गृत्तित्वीति पदम् । गुणत्वावान्तरत्वं च गुणत्वसाक्षाव्याप्यत्वं, तेन च द्वित्वत्वादितामानानतित्व्याप्तिः । दूषणानि च गृह्णाति—आत्माश्रयेत्यादिना श्लोकेन । प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिरित्यनाप्राप्तिशब्देन विभागो वा सन्नधाभावो वा विवक्ष्यते, प्रथमे प्राह—आत्माश्रयादिति । उत्तरं संयोगप्रध्वंसेतित्व्याप्तिरित्याह—अतित्व्याप्तेरिति । द्वितीये दूषणमाह—अयोगाव्यभिचारत इति । अत्र हि विरोधशब्देन क्रि सहानवस्थानमभिमतं निवर्त्यनिवर्तकत्वं वा । आयेऽसम्भवः । वध्यघातकयोरेकाधितत्वाङ्गीकारात् । उत्तरं लक्षणादावतिव्याप्तिरित्यर्थः । तृतीये दूषणमाह—विशेषणेति । संयोगस्य पूर्वमेव दयितत्वाद्गुणजालोरपि यण्डितत्वाच्च तद्विशिष्टलक्षणमप्यसम्भवीत्यर्थः । श्लोकं विरूपोति—तत्र न तावदित्यादिना । ननु न सहानवस्थानमत्र विरोधः येनायोगोऽसम्भवः स्यात् किंतु वध्यघातकभावाः । तथाच

विकल्पासहत्वात् । अप्राप्तिशब्देन विभागोभिलष्यते किं वा संबन्धाभावः । विभागाभिधाने त्वात्माश्रयत्वम्, उत्तरत्र संयोगप्रध्वंसेऽतिव्याप्तिः । न द्वितीयः । विरोधशब्देन सहानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासंभक्तित्वात्, वध्यघातकयोरेकाश्रयत्वस्य खेनैवाभ्युपगमात् । निवर्तकत्वविवक्षायां च तन्निवर्तकादृष्टेश्चरेच्छादावतिव्याप्तिः । समानाधिकरणो निवर्तको गुणो विवक्षित इति चेत् । न । आत्ममनःसंयोगनिवर्तकादृष्टेऽतिव्याप्तेः । कर्मजन्यत्वे सतीति विशेषणाद्दोष इति चेन्न । तस्यापि तीर्थयात्रादिकर्मजन्यत्वात् । कर्मसमानाधिकरणः संयोगविरोधी गुणो विभाग इति चेन्न । संयोगविभागयोरसिद्धौ कर्मणोपसिद्धेः, संयोगविभागसमवायिकारणं कर्मेति कर्मलक्षणाङ्गीकारात्, संयोगस्य चासिद्धौ तद्विरोधित्वस्याप्यसिद्धेः, कर्मण एव च पूर्वसंयोगनाशकत्वोपपत्तौ विभागाभ्युपगमवैधर्ष्याच्च । कथं तज्जनकस्य तन्निवर्तकत्वमिति चेन्मैवम् । प्राचीनकर्मजनितसंयोगस्योत्तरकर्मणा निवृत्तेः । नाङ्गुलिकर्मणस्तत्संयोगनाशकत्वम्, व्यधिकरणस्य निवर्तकतायामतिप्रसङ्गादिति चेत् । न । स्वाश्रयाश्रितसंयोगस्यैव नाशकत्वेनातिप्रसङ्गाभावात् । विरोधिनः समानाधिकरणस्यैव नाशकत्वोपपत्तावसति बाधके यावत्संयोगवृत्तिसामानाधिकरण्यस्य सङ्कोचो-

प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभाग इति भाष्यं व्याचक्षणः किरणावलीकारो 'ऽप्राप्तिर्विरोधिगुण इत्यर्थं, अथ प्राप्ति संयोगत्वेन सह किं देशकृतः कालकृतः स्वरूपकृतो वास्य विरोधः सर्वं चैतदनुपपन्नमित्यत उक्तं प्राप्तिपूर्विके' ख्येवं सहानवस्थानमेवापोष्यं प्राह, तथाच प्राप्तेर्वध्यता विभागस्य घातकत्वं दर्शितं, तेन संयोगघातयो गुणो विभाग इति संक्षेप इति, तत्राह—निवर्तकत्वविवक्षायां चेति । व्याख्यानरीतिरेवेयं चतुरा ननु रीतिमल्लक्षणमतिव्याप्तत्वादिति भावः । एतेन व्यभिचारत इति पदं व्याख्यातम् । अत्र मानमनोहरकारः प्राह— 'संयोगसमनाश्रयत्वे सति संयोगनाशको विभाग' इति । तदेतच्छब्दो—समानाधिकरण इति । अदृष्टेऽतिमनसोः संयोगस्य निवर्तकं यददृष्टं तच्च संयोगेन समानाश्रयमित्यतिव्याप्तिरित्याह—नात्मेति । अदृष्टेऽतिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शब्दो—कर्मसमनाधिकरण इति । अदृष्टस्य कर्मासामानाधिकरण्यं विभावात्मनि कर्माभावादित्यर्थः । कर्मणोपसिद्धेरित्युपलक्षणम्, अवयवविभागादुत्पन्नमानसावयवविभागस्य संयोगविरोधिनः कर्मासामानाधिकरण्याभावादव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । अथ किमिति संयोगात्परीतया कर्मनिष्पन्नस्य येन तदसिद्धावसिद्धिरस्येति, तत्राह—संयोगेति । तथाच विभागसिद्धौ कर्मसिद्धिरसिद्धौ च विभागसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयतेति भावः । संयोगविरोधित्वप्रयुक्त्याप्यन्योन्याश्रयमाह—संयोगस्य चेति । यद्येवं विभागस्य संयोगविरोधित्वं निवर्तकत्वमिति तत्त्वज्ञानेन लक्षणावयवत्वेन तदेव तावदतिव्यम् अन्यत्र एव संयोगनिवृत्तिसिद्धेरित्याह—कर्मण एव चेति । प्राचीनेति । येन हि कर्मणा संयोग उत्पन्नः न तेन तस्य निवृत्तिरपिदुत्तरकर्मणा । नच तदसिद्धिः, संयोगनाशकोत्तरप्रथमविभागजनककर्मणस्तदव्याप्यमित्यत्रा मात्रे तदुत्तरे वा वर्तते, तस्योगयावृत्तिसात्तथा चैकत्र वर्तमानेन कपमुभयनिष्ठसंयोगनिवृत्तिर्भवति । तथापि तथात्वेऽतिप्रसङ्गादेतदेव शब्दो—नाङ्गुलीति । यद्यप्यन्यतरनिष्ठेन परमोभयनिष्ठसंयोगस्य निवर्तकत्वेप्युभयनिष्ठसंयोगोऽर्थाश्रयतेति । नाप्यतिप्रसङ्गिरिति परिहृति—न स्यात्तदिति । तत्र एतदधिकरण्यं चेदवश्यं मन्तव्यं तर्हि सर्वथा सामानाधिकरण्यमप्युत्तरकर्मात् नापि बाधके घातकत्वात् ।

१ तत्तच्च संयोगविभागयोरपि सहावस्थानसंगम इति भावः ।

नुपपन्न इति चेन्न । उभयवासिसिद्धकर्मण एवान्वयव्यतिरेकवतस्तन्नाशकत्वोपपत्तौ गुणान्तरकल्पनागौरवस्यैव बाधकत्वात् ।

नच विभक्तप्रत्ययादेव तत्सिद्धौ कल्पनैव नास्तीति वाच्यम् । हिमवद्विन्ध्ययोरिव संयोगभावमात्रादेव विभक्तप्रत्ययोपपत्तेः ।

ननु स्फुटद्वेषुदलशब्दात्तदसमवायिकारणतया विभागोऽवगम्यते, स हि न वंशदलद्व-

तथाचोभयनिष्ठो विभाग एव स्वीकर्तव्यः न कर्म, अतादृशत्वादिति श्रीवह्मभस्वदुद्भावयति—विरोधिन इति । असति बाधक इत्यविद्धिः, गौरवस्य बाधकत्वादिति परिहरति—उभयेति ।

ननु न कल्प्यते सः, येन गौरवं दोषाय, अपितु विभक्त इति प्रत्यक्षादेव तत्सिद्धिरिति, तत्राह—नचेति । यथाहि हिमवद्विन्ध्ययोः प्राप्तेरभावात्तत्पूर्विकाप्राप्तिरूपविभागभावेऽपि संयोगाभावमात्रमादाय विभक्त इति प्रत्ययशब्दयोः प्रवृत्तित्वाद्बद्धत्वादावपि स्यादिति नेय प्रतीतित्वात्प्रत्ययिकेत्यर्थः । एतेन भाष्यकारोक्तं विभागे प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं मन्यव्यम् । मनोहरस्तु तादृशस्थले प्रतीतिरेव नास्ति शब्दप्रयोगस्तु गौण इत्याह—तदसत् । एतादृशानुभवपरिहारपारिजातस्य प्रकृतेःपि सुलभत्वात् । तात्पर्यटीकाकारकिरणावलीकारौ त्वङ्गुलिकर्मणोद्भूतितरुसंयोगनाशकत्वमङ्गीकृत्यापि हस्ततरुसंयोगनाशानुपपत्त्या विभागं समर्थयामासतुः । तथाहि । हस्तादीनां निष्क्रियत्वाच्च तद्गतकर्म तत्संयोगनाशकं, नचाहुलितगत कर्मैव, तस्य हस्ततरुनिष्ठत्वाभायेनातिव्यधिकरणत्वात् । नचाहुलितरुसंयोगनाशात्प्रागितरुसंयोगनाशो भविष्यतीति वाच्यम् । कर्मजं करतरुसंयोगं प्रत्यङ्गुलितरुसंयोगस्याकारणत्वात्, अकारणनाशस्य विनाशकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । तस्मात्कर्मजनितविभागजविभागपरंपरया निष्क्रियकरशरीरतर्वादिंसंयोगपरंपरा त्वनश्यतीत्यनिच्छन्नपि गलपादुक्याङ्गीकारयितव्य इति, तत्रापि स्थाश्रयेत्यादिप्रत्येनोत्तरं देयम् । योजना तु स्वस्य कर्मणो य आश्रयोद्भूत्यादिस्तदाश्रितश्च यो हस्तादिरवयवी तस्य यस्त्वर्वादिभिः संयोगस्तस्यैव नाशकत्वाश्रयणं वैयधिकरण्येऽप्यतिप्रसङ्गाभावादिति । अपिचात्रैतद्वक्तव्यम् । कथं हस्तादीनां निष्क्रियत्वावगम इति, हस्तस्याङ्गम्पमानत्वादिति चेन्न । अङ्गुलिचलनमनु करचलनस्याप्यावश्यकत्वात्, तदितरावयवेषु चलनाभावादेवयवी न चलतीति चेत्किं समस्तावयवचलन एवावयविनिचलनोत्विति, ओमिति चेदन्त समस्तावयवसंयोग एवावयविसंयोगीपीति न हस्तादेः संयोग एवास्ति कस्य विनाशाय विभागः कल्प्यते, तस्मादायावयवसंयोगान्तरमवयविसंयोगनियमः एवं कर्मण्यपि । इयस्तु विशेषः । तत्र संयोग एव संयोगान्तरोत्पादक अत्र तु तन्नास्ति किं वयवकर्मोत्पादकवदवयविसंयोगोत्पादकानि सन्ति, नह्यस्ति संभवोवयवेषु गुरुत्वं द्रवत्वं संयोगो वा नपुनरवयविनीति, तस्मात्स्वकर्मणैव हस्तादिंसंयोगोपि निवर्तते इति नानेन निषेणापि विभागमिष्टुकस्य पादप्रसार इत्यलम् ।

ननु यद्यपि विभक्तप्रत्ययबलाच्च विभागसिद्धिस्तथापि न कल्प्यत्वम् । शब्दलक्षणकार्येण तदनुमानात् । उक्तं हि भाष्यकृता 'विभागः शब्दहेतुश्चैति । तत्र विभागस्यैवासंप्रतिपत्तेः यद्यपि न तेन कारणविभागानुमानं संभवति, तथापि शब्दात्तदनुमानं भवतीति लौलावतीकारः शङ्कते—नन्वित्यादिना । स्फुटतो वेणुग्राह्यदुत्पद्यमानशब्दादित्यर्थः । तस्य विभागजत्वं परिशेषयति—सहीति । वंशदलद्वयस्य यः संयोगस्तन्नाशापेशो यो वंशदलसाकाशस्य संयोगस्तज्जन्धो न भवतीत्यर्थः । अत्र च निमित्ततयापि विभागानुप्रवेशाय वंशदलद्वयसंयोगनाशापेशेत्युक्तम् । एष हि तेषामभ्युपगमः, वंशदलविभागान्निमित्तकारणाद्वंशदलसाकाशविभागादसमवायिकारणान्महाकाशप्रदेशे समवायिकारेण प्रथमः शब्द उत्पद्यते इति । तत्र वंशद-

१ हिमवद्विन्ध्ययोरित्यर्थः । २ चकारेण विभागहेतुः । ३ अथ भावः कारणमात्रविभागकारणकारणविभाग इति भाष्यतो यद्यपि लभ्यते तथापि न विभागेन विभागानुमानं विभागस्यैवासंप्रतिपत्तेः । तथाच निरुक्तशब्दादेव विभागानुमानमिति । ।

यसंयोगनाशापेक्षवंशदलाकाशसंयोगजन्यः, संयोगजन्यस्य शब्दस्य संयोगनिमित्तकारणतोपलम्भात्, भेर्याकाशसंयोगजन्यस्य शब्दस्य भेरीदण्डसंयोगनिमित्तकतावदितिचेत् । न वायुदलसंयोगनिमित्तकत्वोपपत्तेः । नच सर्वत्रातीन्द्रियवायुसंयोगकारणताप्रसङ्गः, भेरीदण्डसंयोगस्यान्वयव्यतिरेकवतः कारणतोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः । अन्यथा तत्रापि पलाशादौ शुक्लशुक्लशब्दो वेगवदनिलपलाशसंयोगनिमित्तो न स्यात् ।

कर्म संयोगातिरिक्तासमवायिकारणं संयोगातिरिक्तत्वे सत्यसमवायिकारणत्वाद्रूपवदिति मानमनोहरकारोक्तमनुमानमिति चेत् । कर्ममात्रपक्षीकारे वेगाख्यसंस्कारजनकनया सिद्धसाधनत्वात्, वेगाजनककर्मपक्षीकारे च सप्रतिसाधनता, कर्म संयोगातिरिक्तद्विगुणासमवायिकारणत्वात्यन्ताभावाधिकरणं, संयोगासमवायिकारणत्वात् संयोगवदिति प्रतिप्रयोगात् । वेदान्तितनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । विवर्तवादाश्रयणेन तैः कार्ये गुणान्तरमनभ्युपगच्छद्भिः कारणगुणानां कार्ये गुणासमवायिकारणत्वानङ्गीकारात् । नापि तृतीयः । विशेषेणाप्रसिद्धेः । 'संयोगस्य निरस्तत्वाद्गुणानामनिरूपणात् । जातेषु

लसंयोगनाश एव निमित्तकारणमपि भवत्वित्यर्थः । कुतस्तेन न जन्यत इति, तत्राह—संयोगजन्येति । यः सख्यु संयोगासमवायिकारणकः शब्दः स संयोगनिमित्तकारणकोपि दृष्टः । यथा भेर्याकाशसंयोगजन्यवायिकारणादुत्पद्यमानशब्दस्य भेरीदण्डसंयोगो निमित्तं, नचेह तथास्ति, तस्मान्मान्यधोपपत्तित्यर्थः । इत्यति—न वायुदलेति । अभ्युपगम्यते च वायुवंशदलयोः संयोगो निमित्तमित्यर्थः । नन्देवं सति भेरीदण्डसंयोगस्यापि क्वचिन्निमित्तता न स्यात्, तत्रापि वायुदलसंयोगस्य शुक्लत्वादिति, तत्राह—नचेति । तत्रान्वयव्यतिरेको स्तः, नचेह तथेति भावः । अथाप्यतीन्द्रियकलनैवातिप्रसङ्गिणेति श्रूयते प्रवर—अन्यथेत्यति । पलाशः पत्रं, शुक्लशुक्लेति शब्दानुकारः । एतेनंतभिरस्तम्, यदाह धीवत्तम्—'तस्य स्तम्' दिग्म्यतया तदनुपलब्धेरसाधैवधारणा'दिति, शब्दोपलम्भस्यापि तथात्वेत् ।

दुर्निरूपत्वात्स्यादसंभवि लक्षणम् ॥ ४३ ॥ नापि द्वित्रं संभवति । तत्किमिमौ द्वाविति प्रत्यक्षतः सिद्धयेदुतानुमानतः, नोभयथापि—‘प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः स्यादेकत्वसमुच्चये । अनुमाप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्यदूषिता’ ॥ ४४ ॥ इमौ द्वाविति प्रत्यक्षं तावदेकैकसमुच्चयविषयतयाप्यन्यथोपपद्यमानं नापरं द्वित्वमवगमयितुमर्हति । ननु समुच्चयमात्रविषयमिदं प्रत्यक्षं तद्विशेषविषयं वा । नाद्यः । तस्यावैचित्र्ये द्वित्वत्रित्वादिव्यवहारवैचित्र्यविरोधात् । नापि द्वितीयः । विरूपानुपपत्तेः । सहि समुचितैकत्वभेदाद्वा तद्गतधर्मभेदाद्वा । न प्रथमः । एकतायाः सर्वत्र तुल्यत्वात् । न चरमः । आरोपितस्य वा पारमार्थिकस्य वा द्वित्वत्रित्वादेरनङ्गीकरणे तद्गतधर्मभेदासिद्धेरिति चेन्नैवम् । द्वित्वत्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिविषयेषु विकल्पसाम्यात् । अपेक्षाबुद्धेरेकत्वगुणसमुच्चयमात्रविषयत्वे द्वित्वत्रित्वादिसंख्याभेदोत्पादकता न सिद्धयेत् । समुच्चयस्य सर्वत्राविशेषात् । आरोपितद्वित्वत्रित्वादिविशेषितैकत्वसमुच्चयालम्बना बुद्धिर्द्वित्वादिजनिकेतिचेत् । न । तथाभूताया एव बुद्धेर्द्वित्वादिन्यवहारजनकत्वोपपत्तौ द्वित्वाद्युत्पादकत्वकल्पनावैयर्थ्यात् ।

आरोपितस्यानारोपपूर्वकत्वनियमाद्वित्वादेः क्वचित्सत्यतापत्तिरितिचेत् । न । शुक्तिर-

अथ प्रतिज्ञातं द्वित्वं दूषयति—नापीति । लक्षणं तस्य खण्डयिष्यते । प्रमाणं तावदूषयति—तत्रैकादिव्यवहारहेतुः संरयेति भाष्ये व्यवहारशब्देन ज्ञानाभिधाना—‘दिकं द्वे त्रीणीत्यादिप्रत्यक्षविषयः संख्ये’त्युदयनादिभिरभ्यघायि । अपरैर्द्व्यंरूपपरिमाणमसमवायिकारणजन्यं भावकार्यत्वात्कटव’दिल्लुमानमगायीति, तदुभयमपि विकल्प्य दूषयति—तत्किमित्यादिना । एकत्वसमुच्चय एव विषये प्रवर्तमानतयेमौ द्वाविति प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिरनुमानमप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्याभ्यां दूषितं स्यादिति, श्लोकं विवृणोति—इमावित्यादिना । तत्र लीलावतीकारेण द्वाविति प्रत्यक्षस्यैकत्वसमुच्चयाविषयत्वमुपादितमुद्गाहयति—नन्विति । तस्यावैचित्र्य इति । एकत्वसमुच्चयमात्रस्य द्वित्वादिव्यवहारस्थले विशेषाभावाव्यवहारविशेषो न स्यादित्यर्थः । समुच्चयविशेषविषयमिति द्वितीयक्षेपे समुचेतव्यैकत्वस्वरूपकृतविशेषाद्वा तदाश्रितद्वित्वत्रिलादिधर्मविशेषाद्वा । नोभयमपीत्याह—विकल्पेति । प्रथमे खल्वसिद्धिः, नह्येकत्वस्वरूपे विंशेषोस्ति तादृशो येन द्वित्वादिविलक्षणव्यवहारः स्यादित्याह—एकताया इति । द्वितीये त्विष्टसिद्धिः, तस्यैव विशेषस्य द्वित्वत्वेनेष्टेरित्याह—न चरम इति । आरोपितस्येति । एकत्वप्रख्याया गुणत्वेन द्विलादेशुणस्य तत्र श्रुत्ययोगात् । पारमार्थिकस्येति तु संख्यायाः पदार्थान्तरत्वताद्यभिप्रायेण, तस्मिन्माक्षेपं प्रतिबन्धा परिहरति—त्रैवमित्यादिना । एवं हि भवता द्वित्वोत्पत्तिवर्णनं—प्रथमं द्वयद्वयगतं यदेकत्वसंख्याद्वयं तद्विषयं ज्ञानमेकमेकमुत्पद्यते सापेक्षाबुद्धिर्नाम निमित्तकारणं तदपेक्षं चैकत्वसंख्याद्वयनसमवायिकारणं स्वाश्रयद्रव्यद्वयं समवायिकारणं द्वित्वमुत्पादयति, एवं त्रिलादिष्वेकत्वप्रयासीति । तदत्र येयमपेक्षाबुद्धिस्तस्याः किमेकत्वसमुच्चयमात्रं विषयः किं वा तद्विशेषः । नाद्यः । तादृशबुद्धेः सर्वत्र समानतया द्वित्वत्रित्वादिपारिप्लवापत्तेः । नापि द्वितीयः । समुचितैकत्वस्वरूपकृतविशेषाभावात् । धर्मान्तराभ्युपगमेप्यनारोपितमारोपितं वा । नाद्यः । द्वित्वानवस्थाप्रसङ्गात्, उत्तरोत्तरद्वित्ववैयर्थ्याच्च । विषयवैचित्र्याभावेपि स्वभाववैचित्र्याद्विचित्रकार्यजनकत्वमिति चेत् । न । अतिप्रसङ्गापत्तेः । तस्मादारोपितद्वित्वमेव तस्या विषयः, तथाच तादृगेव घटादिष्वपि द्वित्वबुद्धेर्विषय इति यथा तव द्वित्वकल्पनेति संकलितार्थः ।

इमामेवार्थस्थितिं पर्यनुयोगपरिहाराभ्यां परिब्रूयति—आरोपितेत्यादिना । न शुकीति । उक्तमेतद्यथाक्वचिदपि सत्त्वमन्तरेणानाद्यनिर्वचनीयाविद्यावशादेतद्विभ्रमोद्भव इति प्रथमपरिच्छेदेऽनिर्वचनीय-

जतादिसंसर्गवत्कचित्सत्यताऽभावेऽपि भ्रान्तिविवयत्वोपपत्तेः । नापि द्वितीयः । व्युत्प-
रिमाणं जन्यासमवायिकारणजन्यं कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानस्याश्रयासिद्धत्वात् । व्युत्प-
त्परिमाणयोरस्माभिरनङ्गीकारात्, पटस्यापि तन्तुसंयोगासमवायिकारणजन्यत्वात्संप्रति-
पत्तेर्दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च ।

‘विवादाध्यासितो बुद्धिजन्यगुणयोरश्रयः द्रव्यत्वादात्मव’दिति मानमनोहरोदीरितम-
नुमानं मानमिति चेत् । न । अर्थान्तरत्वात्, सर्वस्यापि घटपटादेरीश्वरबुद्धिजन्यरूपादि-
गुणाश्रयत्वात् । अनित्यबुद्धिजन्यत्वस्य विवक्षितत्वाददोष इति चेन्न । घटपटादिगतरूपा-
देरप्यस्मदादिज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्यत्वेन पूर्वदोषानतिवृत्तेः । परमाणूनामेव पक्षीकरणे तेषा-
मस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वात् । तेषु बुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वसाधनेनार्थान्तरतेति चेन्न । तेषा-
मेवासंमतत्वेनाश्रयासिद्धत्वात्, चेतनत्वस्योपाधित्वाच्च । न चेश्वरे साध्याव्याप्तिः, तस्यापि
त्वन्मते तद्बुद्धिजन्यसंयोगविभागाश्रयत्वात् । निर्गुणात्मवादिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्य-
विकलत्वाच्च ।

ख्याती । आस्तां तु मामकी रीतिः, आयुष्मतेव तावच्छुक्तिरजतसंसर्गेषु ततदत्यन्ताभावप्रतियोगिषु चाज्ञ-
मसत् एव प्रतिभासोऽभ्युपगम्यत इति भावः । अथ तादृशबुद्धिर्ज्ञायमाना व्यवहारं प्रवर्तयेत्सत्यता वा ।
नान्योऽतिप्रसङ्गात् । नायः । विषयानिरूपणे बुद्धेरेव तावदनिरूपणादिति चेत् । तदिदं बलीबद्धौतजननव-
रेण भारोल्लंघनं, यतः स्वप्रकाशज्ञानवादिनोऽस्मिन्विहाय जडज्ञानवादिषु भवाद्दोषेवंविधविकल्पः । कतिर-
शुक्तिरजतादिष्वपि वा कथंकारैमित्यात्मनैवात्मा पर्यनुयुज्यताम् । तत्र बाधितत्वायथातथास्त्विति चेत्, अत्रापि
किमुक्तानि साधकानि लक्षणानि मन्यन्ते गुणसमवायादिखण्डनानि वा विस्तरति । तदेवं न प्रत्यक्षं द्वि-
प्रमाणमित्युक्तम् । अनुमानानि दूषयति—नापीति । परिमाणमात्रपक्षीकारेण परमाध्यादिषु बाधः स्मात्-
दर्थं व्युत्पपरिमाणग्रहणम् । यत्तज्जन्यं व्युत्पपरिमाणसमवायिकारणं तद्विलम्बम् । परमाणुद्वयगतद्वि-
व्युत्पपरिमाणोत्पत्तिरिति भावः । आश्रयासिद्धिमेव विवृणोति—व्युत्पकेति । साध्यवैकल्यं चाह—पट-
स्यापीति । अनेकान्तिकं चाथैव्युत्पकरूपादौ । अथ जन्यपदं विहायेदमनुमानं, तथापि परिमाणस्य नैव
तदसमवायिकारणत्वप्रसाधकतयार्थान्तरत्वम् । नच तस्य नित्यपरिमाणत्वात्परममहत्त्ववदनारम्भकतानु-
नम् । परमाणुद्वित्वस्यापि विषदादिद्वित्ववदनारम्भकत्वप्रसङ्गात् । व्युत्पपरिमाणं परिमाणजन्यं, बहुत्वव-
याजन्यत्वे सति कार्यपरिमाणत्वान्महत्त्ववदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च ।

अनुमानान्तरसुद्धावयति—विधादेति । रूपादिमिरथान्तरतानिदृश्यै बुद्धिजन्यग्रहणम् । आत्मन्दि-
कद्रव्यजातं च पक्षः । आत्मनश्च बुद्धिजन्येच्छासाधारतया सपक्षत्वं, ततश्चापेसाबुद्धिजन्यत्वयानेकत्वसंज्ञक-
पृथक्त्वकथासिद्धिरित्यर्थः । इत् आरभ्याश्रयासिद्धत्वादित्यन्तो प्रत्यो निगदव्याख्यातः । ननु कथं येनानु-
पाधित्वं, यावतेश्वरे नित्यज्ञानादिमति साध्यसमव्याप्तिर्नास्ति, तथाह—नचेश्वर इति । साध्याव्यापिः स-
मव्याप्त्यभायः । यद्यपि न तस्मिन् ज्ञानादयो बुद्धिजन्यास्तथापि संयोगविभागे ईश्वरबुद्धिजन्यो ह्यद्वैत-
सथाच साध्यसमव्याप्तिरिति भावः । नचानित्यबुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वविवक्षया साध्यसमव्याप्तिर्नास्ती-
त्यनीयम् । ईश्वरस्याप्यनित्ययोगिबुद्धिजन्यद्वितीयपरिमाणत्वात् । उक्तं येनदृष्टत्वात् । इत्यन्तरेण च-
निर्गुणेति । वेदागितमते बुद्धिपरमा इच्छादयो नात्मनो गुणास्तथात्मनि साध्यवैकल्ये भावः ।

१ दिग्दिग्द्वयस्वरूपवोरित्यर्थः । २ अनित्यबुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वात्सिद्धिरिति शेषः । ३ अत्रारार इति शेषः ।
४ बाधितत्वेत्यादिः । ५ नाप्यं अतीवं परद्रव्यं तदनुपात्तमित्यर्थः ।

अपि चापेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वे द्वित्वस्य कं दोषं पश्यसि येन तज्जन्यतामङ्गीकुरूपे । एकत्व-
बद्धित्वस्याप्यपेक्षाबुद्धेः प्रागेव सिद्धौ तत्प्रतीतिसमकालमेव द्वित्वप्रतीतिप्रसक्तिर्दोष इति
चेत् । न । व्यञ्जकाभावादेव तदप्रतीत्युपपत्तेः । नच समानाश्रयसमानेन्द्रियप्राह्यसमानजा-
तीयगुणानां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वानुपपत्तिः । महत्त्वदीर्घत्वयोरिव तदुपपत्तेः । नहि
महत्त्वप्रतीतिर्दोष्यप्रतीतिवद्भ्रममपेक्ष्य जायते, तत्प्रतीतेरणुप्रतियोग्यपेक्षत्वात्ततो न द्वित्व-
स्यापेक्षाबुद्धिजन्यतापि ।

नचैकत्वसंख्यासमुच्चयोपि द्वित्वम् । एकत्वस्यापि स्वरूपातिरेकेण दुर्निरूपत्वात् । नच
स्वरूपाणां भिन्नत्वादेकमेकमित्यनुगतप्रत्ययानुपपत्तिः, एकत्वसंख्यास्वीकारेण तस्याः प्रति-
द्रव्यं भिन्नतया द्रव्येष्वेकमेकमिति प्रत्ययानुपपत्तेस्तुल्यत्वात् । एकत्वसंख्याविशिष्टतया
चैकमिति प्रत्ययविपयत्वे रूपादौ संख्यायां चैकमिति मतेरभावप्रसङ्गाच्च । तत्र स्वरूपत
एवैकत्वव्यवहारेऽन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गात् । एकत्वसंख्याविशिष्टे चैकत्वसमवायस्यानवस्था-
दिदोषाद्युक्ततया यादृक्स्वरूपे संख्यासमवायस्तादृशस्यैवैकत्वव्यवहारविपयतोपपत्तौ संख्या-
स्वीकारवैयर्थ्यात् । नचैवं जालपलापानिष्टप्रसङ्गोऽद्वैतवादिनाम् । इष्टत्वात् ।

एवमनुमानतोपि न द्वित्वाधिगतिरित्युक्तम्, इदानीं यद्वाप्यकारप्रभृतिभिः परिकल्प्यते "तस्या खल्वेक-
त्वेभ्योनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्ति"रित्यादिनापेक्षाबुद्धिजन्यत्वं द्वित्वस्य, तदसगतमित्याह—अपि चेति ।
मन्वय दोष यदेकत्वबद्धित्वस्यापि यावद्भव्यभावित्वेऽपेक्षाबुद्धेः प्रागपि तत्प्रतीतिप्रसक्तिरिति शङ्कते—
एकत्ववदिति । नाय दोष, यावद्भव्यभाविनोपि तद्व्यङ्ग्यतया तदनुविधानोपपत्तेरिति परिहरति—व्यञ्ज-
केति । यत्त्वजोदयनमानमनोहरकाराभ्यां बाधकमुक्तं तदुपयति—नचेति । समानाश्रयणामपि गन्ध-
सारीनां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यतः समानेन्द्रियप्राह्याणामित्युक्तम् । समानाश्रयणां समानेन्द्रि-
यप्राह्याणामेकत्वमहत्त्वादीनां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यत उक्तं समानजातीयानामिति । महत्त्वदी-
र्घत्वयोर्ब्यभिचारमेव स्फोरयति—नहीति । यथाहि समानेन्द्रियप्राह्यसमानदेशसमानधर्मापन्नयोर्महत्त्वदीर्घ-
त्वयोर्ह्याणुलक्षणविलक्षणप्रतिशोभिप्रतीतिव्यङ्ग्यत्वमेवमत्रापि द्विद्र्यादिसंख्यानामित्यर्थः । अथ तत्र मह-
त्त्वदीर्घत्वगतजातिवैलक्षण्यप्राज्ञ समानजातित्वमिति मत, तर्हि भन्नाप्येकत्वद्वित्वादिजातिभेदोस्तीति सम
समा-
धानम् । ननु यदि न गुणान्तरं द्वित्वं, तर्ह्येकत्वसमुच्चयरूपद्वित्वमेवमस्तु, नच द्वित्वादिसमानाकारापत्तिः, सैक-
मिदं सैकमिदं सैकमित्येकत्वसमुच्चयतारतम्येनापि तद्व्यवहारोपपत्तेरिति, तत्राह—नचैकत्वेति । अज्ञो-
क्तस्य पूर्वमेकत्वसमुच्चयं तद्विषयतयाऽन्यथासिद्धिर्द्वित्वप्रत्ययस्योच्चेति न विरोधः ।

एकत्वसंख्यैव दुर्निरूपा कुतस्तत्समुच्चयरूपद्वित्वादिरित्येकत्वसंख्या इत्ययति—एकत्वस्यापीति । यदजोद-
यनधीवत्तन्मात्रं चतुस्तदुपयति—नच स्वरूपाणामिति । स्त्रीकृत्यायामप्येकत्वसंख्यायामयं दोषोऽपरिहार्यः,
तस्या अपि प्रतिद्रव्यं विभिन्नत्वादित्यर्थः । ननु तास्त्रनुगतमेकत्वसंख्यावैशिष्ट्यमुपाधिमादायानुगतिसमर्थन-
मिति, तत्राह—एकत्वसंख्येति । किंच यत्रेयमेकत्वसंख्या वर्तते तत्किमेकमनेकं वा । नान्यत् । विरो-
धात् । आद्ये तदप्येकत्व किमेकत्वसंख्या स्वरूपं वा । आद्येऽनवस्था स्याश्रयत्वं वा स्यात् । तस्मादाह-
कस्वरूपे सा वर्तते तादृक्स्वरूपादेव सर्वत्रैकत्वव्यवहारोस्तु मुधाधिकार्यस्वीकार इत्याह—एकत्वेति । न-
न्वेव गोलाश्रवाद्योपि तत्तदाश्रयस्वरूपमादाय शक्योद्भवा । यदाह लीलावतीकार—जातेरपि विप्रवा-
पत्तेरिति, तत्राह—नचैवमिति । यत्वेकत्वसंख्यायां मानमनोहरोक्तमनुमानं तद्भेदलक्षणसमय एवैकत-
यत्त्वदृश्यप्रसङ्गेनानुयं दूषितम् ।

‘नच प्रमाणं संख्यायामप्येकत्वादिवुद्ध्यः । गुणादिव्यपि तद्भावात् तद्वाधस्यानिरूपणात्’ ॥ ४६ ॥ नच संख्यायामपि प्रमाणं पश्यामः । न चैकत्वादिवुद्ध्यः प्रमाणम् । संख्याभावेपि चतुर्विंशतिर्गुणाः, पञ्चकर्माणि, द्विविधं सामान्यमित्यादिवहुपपत्तेः । नच तत्र गौणः प्रयोगः । मुख्ये बाधानिरूपणात् । नहि निपुणमतयोपि निरूपका न चतुर्विंशतिर्गुणा, न पञ्चकर्माणीति बाधनध्यवस्यन्ति । तदेवं द्वित्वादिसंख्यायां प्रमाणाभावात् व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीया संख्या तादृग्वृत्तिसंख्यात्वावान्तरजातीयं द्वित्वमित्यादिलक्षणमसंभवित्वदोषेण परास्तम् ।

तथा जातिरपि—‘प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न जातिः सेद्गुमर्हति । व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेस्तद्दृत्तेष्वानिरूपणात्’ ॥ ४७ ॥ नतावद्गौरीत्यभिन्नाकारमाहिप्रत्यक्षं जातौ प्रमाणम् । विकल्पासहत्वात् । तत्किमेकव्यक्तित्वव्यक्त्यन्तरे गौरित्यवभासः उत व्यक्तीनामेकगोस्वभावावभासः एकधर्मवत्तयावभासो वा । नाद्यः । एकव्यक्तेर्गोस्वभाववद्व्यक्त्यन्तरस्यापि गोस्वभावत्वादेवान्तरेणापि सामान्यमनेकोदकभाजनेष्वयं चन्द्रोयं चन्द्र इतिवदवभासोपपत्तेः । ननु व्यक्तिमात्रं गौरितिमतिगोचरो गोव्यक्तिर्वा । नाद्यः । तुरगादिव्यक्तावपि तत्त्वसङ्गात् । नेतरः । जातिस्वीकारापत्तेरिति चेन्न । सास्त्रादिमद्व्यक्तेस्तन्मतिगोचरत्वात् ।

एवमेकलसंख्याऽनिरुक्तिमुक्त्वा संप्रति संख्यामात्र एव प्रमाणं नास्तीत्याह—नच प्रमाणमिति । एकादिव्यवहारहेतुः संख्येति हि तैरेकाधमिज्ञाव्यवहारस्य विषयतया हेतुरित्येकादिवुद्ध्यः प्रमाणमुच्यन्ते, ताद्याप्येकत्वादिवुद्ध्यः संख्यायां न प्रमाणं, तदहितेष्वपि गुणादिषु तादृशव्युत्पत्तेः । नच तत्र धान्तत्वं गौणत्वं चेत्याह—तद्वाधस्येति । संप्रहं विवृणोति—नचेति । ननु तथापि तद्व्यङ्ग्येण किं दूषणमिति प्रमाणाभावादसंभव इत्याह—तदेचमित्यादिना । रूपादावतिव्याप्तिपरिहाराय व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्युक्तम् । व्यणुकस्य यत्परिमाणं तदसमवायिकारणं यत्परिमाणुगतद्वित्वं तद्वर्तिनी या गुणत्वावान्तरजातित्वदधिकरणमित्यर्थः । सत्तागुणत्वे समादाय द्रव्यादिव्यतिव्याप्तिस्वरूपद्वाराय गुणत्वावान्तरजातीयप्रवृत्तौ तादृग्वृत्तीति । व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्यर्थः । एतच्च त्रिसादिव्यवच्छेदाय । एतेन द्विरूपकत्वाद्यपि व्याख्यातं, तत्राप्यपेक्षातुदिमादाय अर्थश्रव्याख्यानस्य व्यञ्जकलसमर्पणस्य सुवचनत्वात् । एकव्यवच्छेदे चानुमानं भेदखण्डने एव दूषितम् ।

नच पृथक्त्वमात्रे पृथगिति बुद्धिः प्रमाणं, रूपादिव्यपि समाभेलादिति । अवयविसंखण्डनव्यायेन संयोगविभागद्विपृथक्त्वसामान्यादीन्यपि दुर्मिरूपाणीत्युक्तम् । तत्र सामान्यव्यतिरिक्तेषु दुर्मिरूपतोपपादिता । संप्रति तत्रापि तासुपपादयति—तथा जातिरपीति । पदपदार्थखण्डनसमये तु सामान्यलक्षणातिरिक्तमिदं अत्र तु प्रमाणं स्वरूपनिहक्तिश्च खण्ड्यते इत्यपुनरुक्तिः । तद्दृत्तेश्चेति । तस्मात् जातेर्व्यक्तिषु वृत्तिरकारसाप्यनिरूपणादित्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—न तावदिति । क्रीयमभिन्नाकारप्रहः, किमेकव्यक्तौ यथा गौरीति प्रतीतिस्तथा व्यक्त्यन्तरेपि गौरिति प्रतीतिमात्रं किं वा सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वप्रतीतिरुत व्यक्तीनामेकगोत्वलक्षणधर्मवत्त्वप्रतीतिरिति विकल्पयति—विकल्पेति । प्रथमेतु न जातिसिद्धिः, व्यक्तीनां तन्मात्रव्यपि गोस्वभावमात्रसमर्पकतामागुणसार्थासमर्पकत्वादित्याह—एकव्यक्तेरिति । तत्रैकव्यक्तावेव गौरिति पुनः दशमलाश्लोक्तजातिसिद्धि पूर्ववाची समर्थयते—नन्यित्यादिना । न व्यक्तिमात्रं तद्दूषित्वयः, नापि तदवयवित्येष्टव्यक्तिः, किंतु साम्राजिनती, ततो नोक्तदूषणमिति परिहरति—न साक्षादीति । अत्रापि तद्वि-

अन्यथा व्यक्तिमात्रस्य गोत्वव्यञ्जकत्वं गोत्ववद्व्यक्तेर्वेति प्रत्यवस्थानस्य जातावपि तुल्य-
त्वान् । नापि द्वितीयः । सर्वत्र गोस्वभावस्यैकस्वरूपानिरूपणात् । निरूपणे वा जातिस्वीकारवैय-
र्ध्यात् । नापि तृतीयः । दण्डी दण्डवानितिबद्धोत्वी गोत्ववानिति प्रत्ययाभावात् । साम्नादिम-
त्त्वधर्मस्यैकस्य सर्वत्रप्रतिभासोस्तीति चेत्, कृतं तर्हि जात्या, तत एवानुवृत्तव्यवहारो-
पपत्तेः । किंच जातिं स्वीकुर्वता तद्व्यञ्जकं किंचिद्वाच्यं तदपि कुत्र वर्तत इति पर्यनुयोगे
यत्र जातिस्तत्र वर्तत इत्युक्तावन्योन्याश्रयता । उभयोर्वा कुत्र वृत्तिरिति पर्यनुयोगे यदि
व्यञ्जकान्तरमभ्युपगच्छेत्तदानवस्था, यदि न, तदोभयोरपि वस्तुमात्रवृत्तितया सर्वत्र सर्वा
जातिर्वर्ततेति जातिसाङ्ग्यप्रसङ्गः । यत्र यत्प्रतीयते तत्र तद्वर्तत इति प्रतीतिचरणशर-
णत्वेपि व्यञ्जकाङ्गीकरणवैयर्ध्यम् । प्रतीतिमात्राच्च तथात्वाङ्गीकारे नभोनीलिमादेरपि
तथात्वापातः । अत्राधितप्रतीतेर्व्यवस्थापकत्वाङ्गीकारे वेहापि युक्तिबाधस्य सुवचत्वेन न
तादृशप्रतीतेरपि व्यवस्थापकता । किंच जातिस्वीकारवादिनापीयं जातिरियं जातिरित्यनु-
वृत्तप्रत्ययसिद्धये कश्चिदुपाधिरेष्टव्यः, तथाच सार्वत्रिकः स एवानुवृत्तप्रत्ययकारणमस्तु
तदलं जातिकल्पनादुर्व्यसनेन । तदेवं न प्रत्यक्षं जातौ क्रमते ।

अस्तु तर्हि गन्धवन्तो गन्धवद्गन्धावृत्तिगन्धवद्दृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्तः । तथा शैलवन्तः

तं व्येयं रीतिरित्याह—अन्यथेति । गोत्ववद्व्यक्तेरिति । गोत्वविशिष्टव्यक्तेर्गोत्वव्यञ्जकत्वे स्वस्यैव स्वव्य-
ञ्जकनयतामाश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थः । सर्वव्यञ्जनीमेकगोस्वभावत्वावभास इति द्वितीयपक्षं दूषयति—नापि
द्वितीय इति । नहि सर्वव्यञ्जनीमेकगोस्वभावत्वं भवद्विरभ्युपगम्यते, जातिव्यक्तयोर्भेदाङ्गीकारात् । नि-
रूपणे वेति । एकशब्दप्रयोगानुपपत्त्या चैकस्वभावाङ्गीकारे वा तादृशस्वरूपेणैवानुगतव्यवहारसिद्धेर्व्यावृत्त-
स्वरूपानामस्वरूपतयाऽद्वैतवादिनामेव विचर्यः स्यादित्यर्थः । एकधर्मवत्त्वावभास इति तृतीयं पक्षं दूषयति
—नापि तृतीय इति । प्रतीतिरेवेयमसिद्धा । नहि गौरिति प्रतीतिव्यतिरेकेण गोत्वप्राप्ती प्रत्ययोस्वी-
त्यर्थः । यद्यपि गोत्वस्य धर्मत्वप्राप्तिर्गौरि प्रतीतिर्नास्ति, तथापि साम्नादिमत्त्वं नामैकानुगतो धर्मः प्रतीयते
अतस्त्वद्गन्धजातिसिद्धिरिति शङ्कते—साम्नादीति । किंच साम्नादिमत्त्वलक्षणव्यञ्जकधर्मोपि दुर्निरूप इत्याह
—किंच जातिं स्वीकुर्वतेति । सर्वत्रेति । यदि साम्नादिमत्त्वं गोत्वं चोभयं भाववस्तुमात्रे वर्तत
तदा सर्वस्य साम्नादिमत्त्वं गोत्वं च स्यादिति विरोधविशेषोच्छेदः जातिसकरश्च कार्यकारणभावाव्यवस्थिति-
श्लेषादिदोषाः प्रादुःश्रुतिरिति भावः । ननु प्रतीतिरेव तत्सत्त्वव्यवस्थितौ शरणं, नच सा सर्वव्यक्तिषु गोत्वाव-
प्राधिष्यति, तत्कथमुक्तदोष इति, तत्राह—यत्र यदिति । जातीना व्यञ्जकस्वीकारोपि वृथा, यत्र या प्रती-
यते तत्र सास्तीति तत्रापि वक्तुं शक्यत्वादित्याह—व्यञ्जकेति । अथ माभूत् व्यञ्जकभ्युपगमः किमेता-
वतेति, तर्हि वक्तव्यं—प्रतीतिमात्रात्तदङ्गीकार उतावाधितप्रतीतेः । नाथः । अतिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ।
असिद्धेरित्याह—प्रतीतिमात्रेत्यादिना । किंच जातियादिनोपि जातिष्वपीयं जातिरियं जातिरित्यनुवृत्त-
प्रतीतिनिर्वाहकः कश्चिदर्थोऽस्ति नवा । अन्ये तद्वद्दृश्यादिष्वपि प्रतीत्युपपत्तिः । आद्ये सा न जातिरनव-
स्थापातादपरान्तात्, तस्मादुपाधिरेव स मन्तव्यः, तथाच तथाविधोपाधिमिरेव सर्वत्रानुगतिरिति
जातिरूपनोपयोग इत्याह—किंचेत्यादिना ।

एवं प्रत्यक्षं जातौ प्रत्याख्याय कुलार्कपण्डितो नीतमनुमानमुद्गावयति दूषयितुं—तर्हिंति । गन्धवत्स्व-
गन्धवत्सु च ये वर्तन्ते धर्मास्तेषु गन्धवद्गन्धवृत्तित्वं नाम धर्मः तदत्यन्ताभाववान्, तथा गन्धवत्सु वर्तमानाः
सन्तस्तेषु न वर्तन्ते ये धर्मास्तेषु गन्धवद्दृत्त्यवृत्तित्वं नाम धर्मस्तदनधिकरणो यो धर्मस्तद्वन्त इति योजना ।

शीतवदशीतावृत्तिशीतवद्बृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्तः प्रमेयत्वाज्ज्वलनादिवदित्यनुमानैः पृथिवी-
त्वजलत्वादीनां सिद्धिः । विवादाध्यासितानि द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यवन्त्यनित्यत्वाद्गो-
वदित्यनुमानेन सत्तायाश्च सिद्धिरिति चेत् । न । प्रथमप्रयोगेषु तत्तज्जातिव्यञ्जकगन्ध-
वत्त्वशीतस्पर्शवत्त्वादिधर्मैरेवार्थान्तरत्वात् ।

जात्यनङ्गीकारवादिनं प्रति गोवदिति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । किंच सर्वसर्व-
गता जातिरुत व्यक्तिसर्वगता । नाद्यः । विकल्पासहत्वात् । किं सर्वसर्वगतत्वं नाम—
सर्वत्र संयोगस्त्वादात्म्यं वा समवायो वा संबन्धान्तरं वा । 'अद्रव्यत्वान्न संयोगः

अत्रच गन्धवद्बृत्तिधर्मवन्त इत्युक्ते प्रमेयत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्धमगन्धावृत्तीत्युक्तम् । गन्धवदगन्धा-
त्तिधर्मवन्त इत्युक्ते घटत्वपटत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्धं गन्धवद्बृत्त्यवृत्त्यन्येत्युक्तम् । घटत्वादीनां च गन्ध-
वद्घटादिबृत्तित्वे सति गन्धवत्पटावृत्तित्वेन तदाहिल्याभावात् । गन्धवद्बृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्त इत्युक्ते च प्रमे-
यत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्धमगन्धावृत्तीत्युक्तम् । तावति च गन्धवत्त्वे साध्याननुगमादप्रसिद्धविशेषगता ।
अत उक्तं गन्धवदिति । गन्धवदगन्धावृत्तित्वं चावृत्तिज्ञादाऽगन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा गन्धवन्मात्रवृत्तिवद्वा ।
प्रथमद्वितीयौ गन्धवत्सु व्याहृतौ । तृतीयोपि कतिपयगन्धवद्बृत्तिर्वा समस्तगन्धवद्बृत्तिर्वा । प्रथमो द्वितीय-
विशेषणेन व्याहृतः । द्वितीयस्य सिद्ध्यन्ननुगतजातिरूपः सिद्ध्यतीत्यभिमानः । अगन्धवन्मात्रवृत्तिभिर्वैतत्र
साध्यसिद्धिः । उदकत्वजातावपि समानामेव रीतिमाह—तथा शैत्यवन्त इति । व्याहृतानं तु पूर्ववत् ।
उभयत्र हेतुदाहरणे निर्दिशति—प्रमेयत्वादिति । एवमुष्णस्पर्शवन्तो नीरूपस्पर्शवन्तश्च पृथीकृत्य ते-
स्त्ववायुत्वे समर्थनीये । तथा सान्नादिमतः पृथीकृत्य गोत्वादि समर्थनीयम् । सत्तायामनुमानमाह—वि-
वादेति । कार्यवर्गश्चात्र पक्षः । तदितरेषु तु तद्वारा सिद्धिः । एकसामान्यवत्त्वं चान्न साध्यम् । तथा धर्म-
शावलेयवृत्तिजातिमत्कार्यत्वात् शावलेयवदित्यावपि द्रष्टव्यम् । एवमनुमानानुपन्यस्य यथाक्रमं दूषयन् व्य-
ञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति श्लोकभाग विवृणोति—न प्रथमेति । अस्ति हि गन्धवत्त्वशीतस्पर्शवत्त्वशीतानुप-
पत्करूपत्वं सर्वं तन्मात्रवृत्तित्वादित्यर्थान्तरमित्यर्थः । एतेन व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति विवृणोति । गन्धवत्त्वशी-
कारे कथं तस्य गन्धवत्त्वस्य संभवः आत्माश्रयादतो नार्थान्तरतेति चेन्न । पाकजरूपवत्त्वादिनार्थान्तरत्वात् ।
अपिच कुत आगतोयं देवानां प्रियः, योह्युपलक्षणन्यायेन गृहीतधर्म एव निर्बन्धं यधूमिलनगीतमागच्छे
तत्किं पाकजरूपादिमन्त इत्यशक्यं पक्षीकरणं ब्रवीति । भवतु भवतो निर्बन्धस्तथापि नैतादृशोप्यत्वाभावे कि-
ञ्चिदुप्यति, उत्पत्तिज्ञप्त्वरप्रतिबन्धकत्वात् तस्य चादूपणत्वात्, इतरथा केवलान्वयिविलयप्रसङ्गात् । नच
जातिपदपक्षेपाददोषः, आकाशादौ दुःखसाध्यत्वात् । वर्तते तेषां पक्षतुल्यता सिद्धान्ते क्षेमायां, तस्त्वा-
धूकर्मार्थान्तरत्वादिति ।

सत्तासाधकानुमाने दूषणमाह—जातीति । यस्य हि जातिमात्रमेव प्रामाणिकं न संप्रतिपक्षं तस्य ह्यं
गोत्वसंप्रतिपत्तिरतः साध्यवैकल्यमप्रसिद्धविशेषणत्वं चेत्यर्थः । तद्बुद्धेयानिरूपणादिलेनद्विवृणोति—किंचे-
ति । सर्ववत्सुपु सर्वगतत्वं विकल्प्य दूषणानि संगृह्णाति—अद्रव्यत्वादित्यादिना । न सर्वत्र जने-
संयोगः सर्वगतत्वमद्रव्यत्वात् । सर्ववत्त्वं द्रव्यत्वाभावात्, नेतरावपि । कुतः । साकार्यत्वं । यदि हि सर्वत्र
गोत्वादितादात्म्यं समवायो वा स्यात् तदा गवाश्चादिवत्त्वं तज्जातीनां च सद्गुरः स्यादित्यर्थः । ह्येवम-

१ जातेरंशावृत्तित्वे सर्वगतत्वे च स्वीक्रियमाणे किं सर्वेषु पदाथेषु सर्वगता व्यज्जिपु वा सर्वगतेषु सिद्धत्वं ।
२ ज्वलनादिव्यति भावः । ३ दृष्टान्ते इत्यर्थः । ४ पशुत्वेत्यादिः । ५ पशुत्वमात्रेण गृहीतधर्मे एव एतेषु पक्ष-
त्वप्रतिपादनं विशेषणभ्रान्त्या यधूमिलनगीतसङ्घमागच्छे इति भावः । ६ गन्धवत् इति पक्षेऽपि न च
विशेषणत्वेनानामयमसत्रेऽपि पाकजरूपादिमन्त इति पक्षेऽपि न इत्याशयः । ७ अविशेषण अविशेषण इति एते

आत्माश्रयः । नो भेदेऽप्यन्यथाविविध्या इति भावः ।

साङ्ख्यान्नेतरावपि । पदार्थान्तरतापत्तेर्नान्यसवन्धसम्भवः' ॥ ४८ ॥ न तावज्जातेः सर्व-
व्यक्तिसयोगोऽद्रव्यत्वात् । न तादात्म्यसमवायौ, सर्वव्यक्तिपु सर्वजातीनां तादात्म्ये समवाये
वा सर्वस्य सर्वात्मताप्रतीतिप्रसङ्गात् । व्यञ्जकाभावात् तथेति चेत् । न । तादात्म्यस-
मवायस्वीकारे शावलेयादिव्यक्तिवदेव तद्व्यञ्जकताया अपि दुर्निवारत्वात् । स्वभावभेदा-
त्कस्यचिदेव व्यञ्जकत्वं न सर्वस्येति चेत् । न । सिद्धे प्रमाणतः सर्वत्र सवन्धे स्वभा-
वभेदालम्बनं, नतु स्वभाववादपादप्रसारिकयैवव स्तुसिद्धिः, अन्यथास्त्येव पचनादावपि रूप-
संभेदः स्वभावभेदादेवाप्रतीतिरित्यनर्गलगलगर्जनस्य कः प्रतीकारः स्यात् । नापि सव-
न्धान्तरम् । पदपदार्थातिरिक्तपदार्थस्वीकारप्रसङ्गात् । नापि पिण्डसर्वगता जातिः ।
प्रत्यप्रजायमानरूपण्डमुण्डादिपिण्डेषु पिण्डान्तरस्थिताया जातेः सवन्धाभावप्रसङ्गात् ।
नहि सा पिण्डान्तरादुत्प्लुत्याजानुप्रविशति । निष्क्रियत्वात् । तत्परित्यागे च पूर्वपिण्डे
तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । नचांशाभ्यामुभयत्र वृत्तिः । अनंशत्वात् । स्वसामग्रीवशा-
दुपजायमानः पिण्डस्तज्जात्यालिङ्गित एवोत्पद्यत इति चेन्न । पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र
तस्या अभावात् । भावे च सर्वसर्वगतत्वापत्तेः । तदुक्तं बाह्यैः 'नायाति नच तनासी-
दस्ति पश्चान्न चांशवत् । जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्तति'रिति । सर्वपिण्डप्रलये
च घटत्वादिजातेरुच्छेदप्रसङ्गः । सवन्धिविगमेपि तस्याः स्वरूपेणावस्थानमिति चेत् ।

वशिष्ट श्लोक विट्णोति—नतावदित्यादिना । नतु किमिति सर्वत्र तज्जातिप्रतीति, यावता विद्यमानाना-
मपि व्यञ्जकाभावादप्रतीतिषभवेनासङ्कारादिति शङ्कते—व्यञ्जकेति । यथाहि शावलेयादिव्यक्तयो गोत्व-
जातेर्व्यञ्जकास्त कस्यहेतोस्तादु तस्यास्तादात्म्य समवायो वास्तीति, तद्वदिह यदि सर्वव्यक्तिपु तस्यास्तयोरन्य-
तरदस्ति तदा तासामेवामिव्यञ्जकत्वादपरिहायैव सङ्करापत्तिरिति परिहरति—नतादात्म्येति । न सिद्धे
प्रमाणत इति । यदिहि प्रमाणत सद्यत्र जातिसङ्गावावगम स्यात् तदा विद्यमानायास्तस्या अप्रतीतौ
स्वभावभेदो नियामक स्यात् । स्वमूलप्रमाण विनैव स्वभावभेदकल्पनमतिप्रसङ्गीत्यर्थं । उत्तरार्धं विट्णोति
नापीति । अस्तु तर्हि व्यक्ति सर्वगता जाति । यथाहु भाष्यकारा —'व्यक्तिसर्वगत'मिति । तत्राह—नापि
पिण्डेति । यदि हि व्यक्ति सर्वगता तदा सर्वत्र जाते पिण्डे गोत्वजाति कि व्यक्त्यन्तरस्योपसर्पति तत्र-
स्था वा । नाद्य इत्याह—नहि सेति । भवतु वोत्पत्त्यागमन तथापि कि सर्वात्मना व्यक्त्यन्तरादुत्पत्तत्यश
तो वा । नोभयवापीत्याह—तत्परित्यागेचेत्यादिना । न पिण्डोत्पत्तेरिति । नहि पिण्डवदेव सा-
प्युत्पद्यते, नित्यत्वात्, न ततः प्रागपि च तत्रास्ति कथं तदालिङ्गनमुत्पद्यमानव्यक्तेरित्यर्थं । अथ
तत्राप्यस्ति, तर्हि सर्वसर्वगतत्वापत्तिरित्याह—भावेचेति । एतेन तत्रस्था वेति पक्षोपि निरस्त । बाह्या
बौद्धा । व्यक्त्युत्पत्तिसमये तावन्न व्यक्त्यन्तरादायाति, निष्क्रियत्वात् । नच तत्र व्यक्त्युत्पत्तिप्रदेशे व्यक्त्यु-
त्पत्ते पूर्वं सा जातिरासीत्, व्यञ्जकाभावात् । तथापि तथात्वे सर्वसर्वगतत्वापत्ते । नच पश्चादस्ति उत्प-
द्यते, अनित्यत्वप्रसङ्गात् । यदा च व्यक्त्यन्तरादायातीति पक्षस्तदापि नाशवत्, येन व्यक्त्यन्तरमपरित्यज्य
व्यक्त्यन्तरमुपक्रमेत । नच पूर्वतनमाधार जहाति येन निरश सदन्वयञ्चौ वर्तते, पूर्वतनाश्रये तद्व्यवहा-
राभावप्रसङ्गादिति सामान्यवादिना महोव्यसनसन्तति । अहो इत्यनुकम्पायामिति कीर्तिवार्तिकार्थं । किञ्च
भवतु यथातथा जातेवृत्ति, तथापि किमाश्रितकस्यभावा आश्रितानाश्रितस्वभावा वा । प्रथमे घटत्वादिजा-
तीना प्रलयसमये समस्तघटादिविघटनादाश्रयरहिततयोच्छेदप्रसङ्ग इत्युक्त्वा द्वितीय शङ्कते—सवन्धिवि-
गमेपीति । एवविधजातिसावन्न केनापि प्रमाणेनोपस्थापिता । यदि भवदनुभवमनुकम्पाभ्युपगच्छेम तदा
वि० ४०

न । आधारविगमैप्याधेयावस्थाने रूपादेरपि तथावस्थितेर्नित्यत्वप्रसङ्गः । तदेवमणूनां वत्सं-
योगस्य तदनेकत्वस्य जातेश्चानिरूपणादनेकैः परमाणुभिः संयोगसचिवैः समानजाती-
यैर्द्व्यणुकादिक्रमेण सर्वे कार्यद्रव्यमारभ्यत इति मनोरथमात्रम् ।

किंच 'परमाणुबहुत्वेन महत्त्वारम्भसंभवात् । त्र्यणुके द्व्यणुकारम्भप्रक्रियापि न
सिद्धयति' ॥ ४८ ॥ द्व्यणुकादिप्रक्रमप्रक्रियापि न प्रमाणपथमवतरति, अणुभिरेव त्र्य-
णुकाद्युत्पत्तेरुपपत्तेः । नन्वेवं सति त्र्यणुके महत्त्वं न स्यात् । परमाणुपरिमाणस्य नित्य-
परिमाणतयाऽनारम्भकत्वात्, प्रचयस्य निरवयवेष्वनाशङ्कनीयत्वादिति चेत् । न ।
कारणबहुत्वादेव त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेः । नच परमाणुगतानेकत्वसंख्या नारम्भिका,
तद्गतद्वित्वस्यापि द्व्यणुकपरिमाणानारम्भकत्वप्रसङ्गात् ।

नन्ववयविनां परमाणुपादानकत्वे कपालशर्करादीनामनारब्धत्वात्परमाणूनां चादृश्य-
त्वाद्द्वयविनाशे न किञ्चिद्दृश्येतेति चेन्न । द्व्यणुकारभ्यत्वेऽपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् ।

रूपादेरपि केन विपमवृद्धिनोनीतनीत्या नित्यानित्यतासमर्थनमभ्युपेतव्यं प्रसङ्गोत्तर्यः । तदेवं परमाणु
निराकरणमारभ्य प्रसक्तानुप्रसक्तया प्रदर्शितसंयोगाद्यनिरूपणस्य ब्रह्मकाण्वत्वादिवेदान्तविरोधनिरासो-
पयोगमाह—तदेयमित्यादिना । संयोगसचिवैरिति । समानजातीयानेकद्रव्याणि समवायिकारणानि
द्रव्योत्पत्तौ तत्संयोगस्त्वसमवायिकारणमिति हि तेषां मतमित्यर्थः ।

एवं परमाणुनामारम्भकत्वमेव नास्ति, तेषां तत्संयोगस्य चासंभवादित्युक्तम् । यद्यपि भवतु नाम तेषां-
मारम्भकत्वं, तथापि द्व्यणुकारम्भो वृथा, प्रमाणप्रयोजनयोरभावादितीक्ष्णमिदानीमुपपाद्यते—किंचेत्यादिना ।
तत्र वैशेषिकाः प्राहुः—'परमाणवः साक्षात् महद्ब्रह्मारम्भकाः आरम्भकपरमाणुत्वात् घटोपगृहीतपरमाणुत्वं ।
नच साध्यविकलो दृष्टान्तः । तत्रापि साक्षाद्द्वारम्भकत्वे घटध्वंसानन्तरं न किञ्चिद्दृश्यते । त्रया नसरेष्वद-
नुपलब्धरेखे परेषां घटे संस्थानविशेषानिष्पत्तिः, व्यञ्जकाभावात् घटत्वानुपलब्धिप्रसङ्गश्च, कपालादीनामनारब्ध-
त्वात्, तस्मात्परमाणुभिरतीन्द्रियमेव किञ्चिद्व्यवधानेनारभ्यते । किंच महत्त्वरहितद्रव्यस्य न तावच्छुपत्वं,
परमाणुत्वं, नच परमाण्वारब्धे महत्त्वसंभवं, कारणबहुत्ववारणमहत्त्वप्रचयविशेषैर्हि महत्त्वमुत्पद्यते, तत्र
नतावत्कारणबहुत्वं, परमाणुद्वयेनारम्भात्, अणुत्वादेव न कारणमहत्त्वं, निरवयवत्वादेव न प्रचयविशेषः,
द्व्यणुकारब्धस्य तु त्रसरेणोर्महत्त्वादेव युक्तं चाशुपत्वं, तस्य च न परमाणुद्वयवद्द्व्यणुकद्वयमारम्भकं, तथासति
तदारब्धेपि महत्त्वासंभवसाम्यात् । तस्मात्कारणबहुत्वादेव त्रसरेणोर्महत्त्वं, तथाच बहुभिरेव द्व्यणुकैरुपपत्त-
मारभ्यत इति त्र्यणुकमहत्त्वानुपपत्तिरपि द्व्यणुकसाधिके'ति । तदेव श्लोकेन दूषयति—परमाण्विति ।
तत्र तावत्परमाणूनां सहसा महदारम्भे बाधक स्वयमेवाशङ्क्य दूषयिष्यति । तथाच द्व्यणुकमत्रीकृत्यापि
कारणबहुत्वादेव त्र्यणुके महत्त्वं प्रार्थनीयं तद्बहुभिः परमाणुभिरेवोपपाद्यं वृथान्तराले द्व्यणुकस्त्वनेति
भावः । श्लोक विवृणोति—द्व्यणुकादीति । ननु किमिति महत्त्वं न स्यात्परमाणुपरिमाणैरेवारम्भसंभवा-
दिति, तत्राह—परमाण्विति । विप्रतिपन्नमनारम्भकं नित्यपरिमाणत्वात् परममहत्त्ववदित्यर्थः । निरव-
यवेष्विति । प्रशिक्षित्वावयवसंयोगो हि प्रचयः, नच स निरवयवेषु संभवतीत्यर्थः । नच परमाणु-
वैति । अत्र किं नित्यगतसंख्यात्वादनारम्भकत्वमनेकत्वसंख्यात्वात् । नायः । परमाणुषु द्वित्वसाप्यना-
रम्भकत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । द्व्यणुकगतबहुत्वस्याप्यनारम्भकत्वप्रसङ्गादिति भावः । एतेनावाशुपत्वं
प्रत्युक्तम्, महत्त्वादेवोपपत्तेः ।

यत्तु स्वयमेवाशङ्क्य निराकरिष्यतीत्युक्तं, तत्करोति—नन्विति । इयमनुपपत्तिरुपपत्तिरारम्भेऽपि त-
माना । यथा द्व्यणुकारब्धत्र्यणुकध्वंसे द्व्यणुकशेषतया न किञ्चिद्दृश्यते तथावयविनोपि द्व्यणुकारभ्यत्वे न किं-

व्यणुकचतुरणुकादिक्रमेणारम्भान्नायं प्रसङ्ग इति चेत् । न । चतुर्भिर्व्यणुकैश्चतुरणुकवत्
व्यणुकसहस्रारब्धकार्यनाशेऽपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । तस्माद्व्यणुकसद्भावे न किञ्चिन्मान-
मस्ति । ननु व्यणुकं कार्यद्रव्योपादानकं महत्त्वे सति कार्यत्वात् घटवत् । तथारम्भक-
द्रव्यसंख्यापकर्षतारतम्यं कचिद्विश्रान्तं तरतमभावत्वात्परिमाणतरतमभाववत् । नचैक-
त्वसंख्यायामेव विश्रान्तौ सिद्धसाधनता । तथासत्येकद्रव्यस्यैव द्वयारम्भकत्वप्रसङ्गात् ।
नचैकद्रव्यारब्धं द्रव्यम् । कार्यद्रव्यस्यानाशप्रसङ्गात् । कारणविभागस्य कारणविनाशस्य
च तन्नाशहेतोरभावात् । ततो व्यणुकसिद्धौ न परमाणुपादानकत्वं व्यणुकस्येति चेत् ।

न । प्रथमप्रयोगे महदुपादानकत्वस्योपाधित्वात् । ननु परिमाणावान्तरसामान्यस्य मह-
त्त्वाद्यवान्तरसामान्यव्यतिरिक्तस्य कार्याकार्यवृत्तित्वं महत्त्वे दृष्टमतोऽणुत्वस्यापि कार्या-

चिद्दृश्येतेति नेय व्यणुकसाधिकेत्यर्थः । ननु नास्मामिर्द्यणुकैरेवाव्यवधानेन पटाद्यारम्भोऽभ्युपगम्यते येनायम-
नन्तरो दोष स्यात् किंतु व्यणुकादिक्रमेण, तथाचोत्तरोत्तरनाशेपि पूर्वपूर्वस्य प्रत्यक्षत्वं घटते, व्यणुकविनाशे
लन्यस्यादर्शनमनुगुणमेवेति शङ्कते—व्यणुकेति । स्यादेव यद्येवमेवेति भवता नियमः, नत्वेतदस्ति, चतु-
र्भिर्व्यणुकैश्चतुरणुवारम्भवव्यणुकसहस्रेणाप्येककार्यारम्भोऽनुमन्यत एव भवता । तथाच तत्रैवोक्तानुपपत्ति समाने-
त्याह—न चतुर्भिरिति । नच चतुरणुकमपि व्यणुकचतुष्टयारब्धम्, अणुशब्दार्थाभावात्, अण्वारब्धे व्यणुपु-
चाणुशब्दप्रयोगः, व्यणुकव्यणुकयोस्तथा, तद्दर्शनात् परमाणुव्यतिरिक्तयोः । ननु किमिति मानाभाव यावता
किरणादलीकारोक्तमस्यनुमानमिति शङ्कते—ननु व्यणुकमिति । आकाशादौ व्यभिचारवारणाय कार्य-
त्वादित्युक्तम् । इच्छादिनित्यद्रव्यगुणैः स्वामिमतद्यणुकेन च व्यभिचारवारणाय महत्त्वे सतीत्युक्तम् । सिद्ध-
साधनतानिर्गुणैः प्रतिज्ञायाः कार्यपदम् । तथारम्भकेति । तन्त्वारब्धपूर्ववारम्भकद्रव्येषु यदिदं संख्या-
पकर्षस्य तारतम्यं तत्कचिद्विश्रान्तम् । नचाश्रयासिद्धिः, यतोऽस्ति तावद्धटाणुप्रविष्टपरमाणुसंख्यापेक्षया तदव-
यवकपालमनुप्रविष्टपरमाणुसंख्यापकर्षः, इतरथा घटकपालयोर्गुणत्वादिसाम्यापातात्, नचायमपकर्षोऽनवधि,
एकत्वादपकृष्टधर्याभावात्, नचैकत्वमेव तदवधिरित्यर्थान्तरता, तस्यारम्भकद्रव्यसंख्यात्वाभावात्,
नष्टेकद्रव्यमारम्भकम्, तथा सति सयोगलक्षणासमवायिकारणाभावात् विनाशहेत्वभावात्नित्यतापाताच्च ।
तस्मात्परमाणुगतद्वित्वं विश्रान्तिभूमिः । तथाच यत्परमाणुद्वयारब्धं कार्यं तद्यणुकमिति भावः ।

तदेतदुपयति—न प्रथमेति । घटादौ कार्योपादानकत्वे त्वदुक्तहेतुर्न प्रयोजकः, किंतु महदुपादानकत्वम्,
आकाशादौ व्यतिरेकसिद्धेर्न पक्षेतरत्वेति भावः । वस्तुतो नायमुपाधिर्महत्त्वदवैयर्थ्यात् । दूषणं तु सप्रतिसाधन
वक्ष्यते । अपिच घटत्वमनोपाधिः, नच साध्याव्यापकता । व्यणुकघटान्यतरत्वे सति कार्यद्रव्योपादानकत्वे
घटत्वस्योपाधित्वात् साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधिवत् । तथाच साध्यव्यवृत्तिसिद्धिः, तदन्यतरत्वा-
व्याप्येतरत्वात्, सर्वांनुभौनभङ्गप्रसङ्गानिर्वचनीयवादिनो न वचनीयः । श्रीबलभस्त्वनुग्राहकतर्वाभा-
वात्साध्यव्याप्तिः पूर्वैर्त्यं नास्ति प्रत्युत बाधकापत्तिश्चेति मन्वानो बाधकमुक्त्वात्, तमनुवदति—ननु परि-
माणेति । परममहत्त्वादियु व्यभिचारनिरासायोकं महत्त्वाद्यवान्तरेति । पयोमशरीरं तु—अणुत्वसामान्य
कार्याकार्यवृत्ति परिमाणत्वसाक्षाद्याप्यजातित्वान्महत्त्ववदिति भावः । नच साध्यविकलता । महत्त्वसाक्षाशा-

१ नैयायिकैकदेशिमतेनेदम् । २ तन्त्वारब्धात्पूर्वपूर्वेषु आरम्भकद्रव्येषु इति सिद्धम् । ३ इदं चिन्त्यम् । सा-
धनाव्यापकत्वरक्षायै महत्त्वपदसार्थक्यात् । ४ इदमपि चिन्त्यम् । तादृशान्यतरत्वे सति कायद्रव्योपादानकत्वस्य व्य-
णुकेऽपि सत्त्वेन तत्र घटत्वाभावेन साध्याव्यापकत्वात् । ५ व्याप्तिरिति किरिति पाठो भाति । ६ तदन्यतरत्वव्याप्येते-
रान्यत्ववदादिति पाठो भाति । उपाधाविति श्रेयः । ७ पूर्वोक्तरीत्या पक्षदृष्टान्तान्यतरत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्व
यत्किञ्चिद्रूपं समादाय तस्योपाधित्वसम्भवादिति श्रेयः । ८ महत्त्वे सति कार्यत्वरूपस्य हेतोरित्यर्थः ।

कार्यवृत्तित्वसिद्धौ कार्याणुपरिमाणाधिकरणव्युत्पत्तिरिति चेन्न । ह्रस्वत्वदीर्घत्वयो-
रनैकान्त्यात्, तयोः कार्यैकवृत्तितयाऽकार्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् । नच तद्व्यतिरिक्तत्वे
सतीति विशेषणान्नानैकान्तिकता । तथापि प्रतिसाधनसद्भावात्, तथाह्यणुत्वं कार्या-
कार्यवृत्तिं न भवति महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सति परिमाणावान्तरजातित्वाद्ब्रह्मत्वव्यतिरिक्त-
भवन्मतमाश्रित्य प्रयोगसंभवात्, त्रसरेणुनित्यत्ववादिनं भाट्टं प्रति हेतोर्विशेष्यासिद्धेभ्य,
द्वितीयप्रयोगे च सिद्धसाधनता, त्रसरेणुयुगलादौ संख्यापकर्षतारतम्यविभ्रान्त्युपपत्तेः ।
तदेवं परमाणुभिरारब्धे त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेर्न व्युत्पत्तिप्रक्रमप्रक्रियासिद्धिः ।

किंच 'परिमाणस्य सिद्धत्वे तदारम्भविचारणा । नाद्यापि सिद्धस्तद्भावोऽभावाद्दृ-
ष्टमानयोः' ॥ ५० ॥ परिमाणमेव न निरूपणपथमवतरति, कुतस्तदारम्भचिन्ता, तद्वृ-
त्तिसाधनप्रमाणयोरनिरूपणात्, तथाहि किं मानव्यवहारकारणं परिमाणम् १ उत द्वित्वासम-
वायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयम् २ आहोस्विदसमवायिकारणत्वानधिकरणनित्या-
काशवृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत् ३ परिमाणत्वजातिमद्वा ४ । नाद्यः । अष्टश्रेष्ठा-
देरपि मानव्यवहारकारणस्य परिमाणत्वप्रसङ्गात् । विषयतयेति विशेषणाद्दोष इति

द्विषु घटाद्विषु च वर्तमानत्वात् । तथाच यत् कार्यमणुत्वाधिकरणं परिमाणं तदधिकरणं व्युत्पन्नं, यच्च नित्यं-
परमाणुपरिमाणं तदधिकरणं परमाणुरित्यर्थः । अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—तयोरिति । अस्तु तर्हि
ह्रस्वत्वदीर्घत्वव्यतिरिक्तत्वे सति इति विशेषणं, तत्राह—नचेति । ननु यदिदमणुत्वं प्रतिसाधने पक्षेतिरिक्त-
तत्तावन्न वेदान्तिनः सिद्धं, परमाणुव्युत्पत्त्योरसिद्धौ तत्परिमाणतत्सामान्ययोरसिद्धतरत्वारिति, तत्राह—
भवन्मतमिति । अथवा महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणं व्यर्थम् । आकाशादीनामपि कार्यतत्त्वान-
नश्च परिमाणानधिकरणतया महत्त्वस्यापि कार्यैकवृत्तित्वेनोक्तसाध्यवत्त्वादिति, तत्राह—भवन्मतमिति ।
यच्च प्रथमानुमाने महत्त्वे सति कार्यैकवृत्तित्वेनोक्तसाध्यवत्त्वादिति, तत्राह—भवन्मतमिति । आत्मभर-
संख्येत्यादिद्वितीयानुमानेऽपि दूषणमाह—द्वितीयेति । द्वित्वं ह्यारम्भकसंख्यापकर्षविभ्रान्तिभूमिः, तच्च व्यु-
त्पन्नगतमपि संभवति, ततः परारम्भकस्याप्यासिद्धिरित्यर्थान्तरमित्यर्थः । प्रथमितं व्युत्पन्नमणुत्वं
—तदेवमिति ।

यस्य च महत्त्वस्योत्पत्त्यनुपपत्त्या व्युत्पन्नकल्पनं तदेवासिद्धं, परिमाणमात्रस्य दुर्निरूप्यत्वे तद्विद्येन-
त्वस्य दुर्निरूप्यत्वादित्याह—किंचेत्यादिना । अभावादिति च्छेदः । श्लोकं विश्लेष्यति—परिमाणेति ।
द्वित्वमसमवायिकारणं यस्य व्युत्पन्नपरिमाणस्य तद्वित्वासमवायिकारणकं तद्वृत्तिगुणत्वावान्तरजातीय-
व्यर्थः । रूपादिव्यवच्छेदाय प्रथमं विशेषणम् । द्वैव्यादिव्यवच्छेदाय द्वितीयम् । असमंवायिकारणमिति ।
असमवायिकारणत्वानधिकरणं नित्यं यथा आकाशवृत्तिगुणः तद्वृत्तिर्वा गुणशास्त्रान्तरजातीयं यथा-
अत्रापि रूपतादिकमादाय रूपादिव्यतिव्याप्तिनिरसार्थमाकाशवृत्तिगुणोक्तम् । तथापि द्वित्वविभ्रान्ति-
सदर्थं नित्यमहणम् । एतेन संयोगविभागशब्दा अपि व्ययच्छिन्नाः । तथाप्येकारवृत्त्यनुपपत्तेः परारम्भ-
मसमवायिकारणत्वानधिकरणोक्त्युक्तम् । नहि परममहत्त्वस्य द्वित्वप्रत्ययनान्नानैकान्तिकता । एतद्व्यव-
द्वित्वादेरसमवायिकारणत्वाधिकरणताभिरागः । ननु यद्यपि सर्वोत्पत्तिमिति तद्व्यवच्छेदोपपत्तेः परारम्भ-
व्यवहारकारणत्वं तथापि न विषयतया, तादृशकारणत्वं तत्र विभ्रान्तिमिति तादृशं—विषयेति । 'दुर्निरूप्य-
त्वे' इति शब्दात्परिमाणादयेति शेषः ।

चेत् । न । परिमाणत्वजातेरपि तथात्वापत्तेः । जातिमत्त्वे सतीति चेत् । न । द्रव्येऽपि प्रसङ्गात् । परिमाणत्वजातिमत्त्वे सतीति चेत् । न । तावन्मात्रस्यैव लक्षणत्वोपपत्तौ व्यर्थविशेष्यत्वापातात् । नापि द्वितीयः । द्वित्वस्य तदसमवायिकारणत्वस्य चानन्तरमेव निरस्तत्वात् । किञ्च विशिष्टजातिमत्त्वं ज्ञाततया तद्व्यवहारकारणं वक्तव्यं, तच्च किञ्चिदुपसम्प्राहकपुरस्कारेणैव सर्वलक्ष्यव्यक्तिनिष्ठतयाधिगन्तव्यम्, अन्यथा व्यक्त्यन्तरे तथाप्रथाऽभावेन तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । तथाच तेनैवानुगतव्यवहारोपपत्तौ कृतं विलक्षणलक्षणपरीक्षाप्रयासेन । नापि तृतीयः । उक्तदोषानुपपन्नात् । नापि तुरीयः । जातिव्यञ्जकस्य निर्धुमशक्यत्वात् । शक्यत्वे वा पूर्वोक्तदोषानुपपत्तेश्च । तदेव न लक्षणनिरुक्तिर्नापि प्रमाणम् । नहि मानव्यवहार एव तत्र प्रमाणम्, तस्यानिरुक्तेः, तथाहि कोऽयं मानव्यवहारः, किं हस्तवितस्त्यादिव्यवहारः १ किं वाणुमहदादिव्यवहारः २ असर्वगतव्यवहारो वा ३ परिमितव्यवहारो वा ४ । सर्वथा नोपपद्यते । अव्याप्तेः । अणुत्वमहत्त्वाद्यसिद्धौ तद्विशेषितव्यवहारासिद्धेः, असर्वगतत्वव्यवहारस्याविभुत्वेनापि सभवात् । परिमितत्वव्यवहारस्य दशपलपरिमितमित्यादौ शुरुत्वेनापि दर्शनात्, यादृगाश्रयेऽणुमहदादिपरिमाणसमवायः परेणाङ्गीक्रियते तादृगाश्रयविशेषादेव तद्व्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपरिमाणकल्पनाया कल्पनागौरवाच्च ।

अस्तु तर्ह्यनुमान मानमनोहरकारोक्तं 'विवादाध्यासितं द्विष्टगुणानसमवायिकारणा-

सति मानव्यवहारकारण'मित्युदयनस्तदपि गुणलक्षणद्वयेन निरसनीयम् । यद्यपि परिमाणत्वजाते परिमाणविशेषणतया व्यवहारविषयत्वमस्ति तथापि जातिमत्त्वे सतीति विवक्षितं, नच जातौ जातिरस्तीति नातिव्याप्तिरित्याशङ्क्य तर्हि तदाधारद्रव्येऽतिव्याप्तिरित्याह—**न द्रव्येपीति** । न जातिमत्त्वमात्रं विवक्षितं किंतु परिमाणत्वजातिमत्त्वं तेन न द्रव्यादिध्वतिव्याप्तिरिति शङ्कते—**परिमाणत्वेति** । परिमाणत्वजातियोगीत्येतावदेवास्त्वस्यर्थः । ओमिति च न वाच्यम्, अन्यपक्षत्वेन दूष्यमाणत्वादिति भावः । शिवादित्यमनोहरयोरभिमतलक्षणं दूषयति—**नापीति** । आनि च जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तानि लक्षणानि तेषां साधारणदूषणमाह—**किञ्चेति** । व्यवहारोपि लक्षणप्रयोजनं, सच ज्ञातात्, इतरथातिप्रसङ्गात् असर्वप्रसङ्गात्, केवलव्यतिरेकित्वालक्षणस्य, तथाचैवविधजातिमत्त्वमपि लक्षणं ज्ञातमेव व्यावृत्तकमित्यर्थः । ततः किमिति तत्राह—**तच्चेति** । एतादृशमेवविधजातिमत्त्वं न त्वनीदृशमिति यदिदं ज्ञानं तद्यदि व्यक्तपुरस्कारेण तदा तद्रूपस्यान्यत्राभावेन तत्र तद्वैतव्यवहारो न स्यात्, तथाच सर्वव्यक्तिनिष्ठमेकरूपसम्प्राहकपुरस्कृत्य स इति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रथा प्रतीति । ततो वा किमित्यत्राह—**तथाचेति** । विलक्षणजातिविशिष्टं यल्लक्षणं तत्परीक्षणप्रयासेन कृतमलमित्यर्थः । असमवायिकारणत्वादितृतीयलक्षणं दूषयति—**नापीति** । अशक्यत्वादिति । पूर्वोक्तलक्षणानां दूषितत्वादिति भावः । ननु मानव्यवहारं किमिति न प्रमाणमिति, तत्राह—**नहीति** । अव्याप्तेरिति । हस्तवितस्त्यादीनामेकैकैकसि-भावात्परमाणौ परममद्वि वाऽभावाद्द्व्याप्तिरिति प्रथमपक्षे दूषणम् । द्वितीये दूषणमाह—**अणुत्वेति** । परिमाणमात्रासिद्धौ तद्विशेषोऽसिद्ध इति भावः । सकलपरिमाणानुगतित्वं लक्षणस्य द्रष्टव्यं । तृतीये दूषणमाह—**असर्वेति** । विमुलाभावमादायापि घटत इत्यर्थः । अत्रापि व्यापकपरिमाणेऽव्याप्तिर्द्रष्टव्या । चतुर्थं दूषयति—**परिमितेति** । कल्पनागौरवं च सर्वपक्षसाधारणदूषणमाह—**यादृगेति** ।

एवं प्रत्यक्ष निराहृत्यानुमानमुदाहृत्य निराकरति—**अस्तु तर्ह्यिति** । अद्विष्टगुणाश्रय इत्युक्ते एकवैकदृष्टयत्वत्वाश्रयत्वेनान्तरता तदर्थं द्विष्टगुणानसमवायिकारणेत्युक्तम्, तथापि शब्देन ज्ञानादेशुगैश्वर्या-

नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्टगुणाश्रयः द्रव्यत्वाज्जलाणुवत् । अत्र च जीवाकाशौ पक्षी-
क्रियेते । तथेश्वरो नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तानसमवायिकारणाद्विष्टगुणाश्रय आत्मतत्वाजी-
ववदिति चेत् । न । 'आद्यस्योपाधिमत्त्वेन साध्याभावान्निर्दर्शने । द्वितीयस्योभयत्रापि
प्रतिसाधनरोधनात्' ॥ ५१ ॥ प्रथमानुमाने मूर्तत्वस्योपाधित्वात् । न च पार्थिवपरमाणौ
साध्याव्याप्तिः । तत्रापि द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्टगुणानां
परत्वापरत्ववेगादीनां सद्भावात् । नचेश्वरे मूर्तत्वस्योपाधेः साध्याव्याप्तिः, तस्य वेदान्ति-
भिर्निर्गुणत्वाङ्गीकारात्, द्वितीयप्रयोगेऽपि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात् । गुणानां नित्यत्वा-
सिद्धावप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च । सप्रतिसाधनं चेदं प्रयोगद्वयं, विवादाध्यासितमुक्त्व-
शेषणविशेषितसाधारणगुणाश्रयो न भवत्यमूर्तत्वाद्रूपादिवदिति प्रयोगोपपत्तेः । नचाद्र-
व्यत्रमुपाधिः । तद्व्यतिरेके पृथिव्यादिषु मूर्तत्वस्यैवोपाधित्वात् । तदेवं परिमाणस्यासिद्धेर्न
तदारम्भविचारणाप्यवकाशं लभते ।

न्तरता तदर्थमनित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तैत्युक्तम् । द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तगुणप्रय
इत्युक्ते संयोगविभागाजनकौ यौ घटादिनिष्ठौ संयोगविभागी तदाश्रयत्वेन सिद्धसाधनता अत उक्तमद्वि-
ष्टेति । द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यगुणव्यतिरिक्ताद्विष्टगुणाश्रय इत्युक्ते कार्यद्रव्येषु व्यभिचारत्वेपानित्य-
गुणमात्राश्रयत्वेनानित्यव्यतिरिक्तगुणाश्रयत्वाभावादत उक्तं विशेषणुपेति । ईश्वरे व्यभिचारवारणायानित्यप्रह-
णम् । अत्र च विवादाध्यासितपदेन विवक्षितं दर्शयति—अत्रचेति । तथाचानित्यविशेषगुणानामेव तथा-
भूतानां सत्त्वेनोभयेपामपि पक्षत्वादिक्कालयोर्विशेषगुणशून्यतया नित्यविशेषगुणपदस्य वैधर्म्यप्रसङ्गेन परत्वा-
संभवात् जीवाकाशयोरेव पक्षत्वं दिक्कालयोस्तु पक्षतुल्यतयावस्थानमिति भावः । अनुमानान्तरमपि तथी-
यमाह—तथेति । अत्राप्यद्विष्टगुणाश्रय इत्युक्ते एकत्वादिनार्थान्तरता तदर्थमनसमवायिकारणैत्युक्तम् ।
तथापि ज्ञानादिनार्थान्तरता तदर्थं नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तैत्युक्तम् । द्वित्वादिभिरर्थान्तरतापरिहारयादि-
ष्टप्रहणम् । सामान्यादिभिरर्थान्तरतापरिहाराय गुणप्रहणम् । अनयोर्द्वयं संगृह्यति—आद्यस्येति ।
द्वितीयस्य निर्दर्शने साध्याभावादित्यन्वयः । श्लोकं विवृणोति—प्रथमेति । यद्यत्र तेनैवोक्तं 'न च हसं व-
ध्वमूर्तत्वे उपाधी, पवनपार्थिवपरमाणुव्यभिचारादिति, तद्रूपयति—नचेति । साध्याव्याप्तिः साध्यैरोपाधे-
र्याप्यभावः, साध्याधिककृत्तितेति यावत् । साध्याव्याप्तिरिति साध्यसमव्याह्यभावो विवक्षितः । ननु
विश्वेश्वरे नित्यज्ञानादेकस्वरूपत्वेन साध्यवत्त्वमस्ति नचास्ति मूर्तत्वमुपाधिरतः साध्याव्यापक इति, तत्राह—
नचेश्वरे इति । तत्र साध्यमपि नास्तीत्यर्थः । किंचात्र द्विष्टविशेषगुणपदयोरुपायकता, अनसमवायिकार-
णपदेनानित्यव्यतिरिक्तपदेन वाऽनभीष्टव्यावृत्तिसिद्धेः । अर्थान्तरता च, घटदणानित्यतामादायापि भिन्ना-
मात् । ईश्वरान्यामूर्तान्वयस्य समव्यापकस्योपाधित्वात् । साध्यवैकल्यादिति । निर्गुणानव्यादित्यदिश-
न्तिन इत्यर्थः । नित्यविशेषगुणैरयमप्यंशो मां प्रत्यसिद्ध इत्याह—गुणानामिति । उभयप्राचीनैर्न
विवृणोति—सप्रतिसाधनमिति । जीवाकाशौ द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्टगुणा-
श्रयगुणाश्रयत्वानधिकरणं, तथेश्वरोप्युक्तविशेषणविशिष्टसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणम् । उभयप्राचीनैर्न
हेतुरवगन्तव्यः । तद्व्यतिरेक इति । एवं रूपाधेर्व्यतिरेको यत्कस्य, यिप्रतिपक्षमेवविष्टगुणानस्य इत्य-
त्वात् पृथिवीवदिति । तत्र मूर्तत्वमुपाधिरतः साध्यव्याप्तिर्नास्तीत्यर्थः । किंच धोत्रमात्रमाश्रयत्वेन, साध्यो वा ज्ञानारिक्तं वा एतत्तः ।
परिमाणरूपद्वयस्य परिमाणकारणत्वनिराकरणोपयोगमाह—तदेवमिति ।

नच कारणगुणपूर्वकतानियमः रूपादीनां । परिपके लौहित्यस्याकारणगुणपूर्वस्यापि दर्शनात् । ननु निवृत्तः श्यामो घटोऽन्य एव च लोहितस्तत्रोत्पन्नः, तथाहि श्यामत्व-
माश्रयविनाशादेव नश्यति कार्यगतरूपत्वात् नष्टपटरूपवत् । तथा लौहित्यमाश्रयोत्पत्त्य-
नन्तरमेवोत्पद्यते कार्यगतरूपत्वात्कार्यलोहितपटरूपवदित्यनुमानतस्तद्भेदसिद्धेः । नच
विनाशे हेतोरभावः । स्पर्शवद्वेगवदनिलसंचलनवलेन प्रज्वलज्वलनस्य ज्वालाकलापस्यैव
घटावयवसङ्घातविघटनहेतुत्वात् । अन्यथानलावयवानामन्तरनुप्रवेशासंभवेन पिठरजठरसं-
चारिसलिलोल्ललनतण्डुलविच्छेदनयोरसंभवप्रसङ्गात् । मृदुकठिनतालक्षणविरुद्धधर्मसंस-
र्गोपलब्धेश्च तद्भेदावगतौ कथं न कारणगुणपूर्वकता रूपादीनामिति चेत् । मैवम् । 'त-
त्त्वेन प्रत्यभिज्ञानात्तदाधेयानिपाततः । संख्याप्रमाणयोरैक्यादन्यथापाकसंभवात्' ॥ ५२ ॥

यद्य 'कारणगुणप्रक्रमेण कार्ये गुणारम्भ' इति वैशेषिकैः परिभाष्यते, तदप्युक्तम्, पाकजप्रक्रियायामेव
नियमस्याशक्यसमर्थत्वादित्याह—नच कारणेति । योहि परिपको घटस्तस्य पाकसमये रूपान्तरं ताव-
दुत्पद्यते, नच तस्य कारणगुणपूर्वकत्वं, पूर्वघटस्यानष्टत्वात् । स्थित एव तस्मिन्नुत्पन्नतरस्यामिसंयोगात्परस्तुत्ते-
रित्यर्थः । ननु स्थित एव घट इत्यसिद्धं नष्टत्वादामघटस्येति शङ्कते—नन्विति । ननु स एवायं घट इति
प्रत्यभिज्ञानात् घटैः प्रयावगमे कथं तस्य निवृत्तिरित्यत आह—तथाहीत्यादिना । नष्टघटरूपेणार्थान्तरता-
परिहारायैवग्रहणम् । परमाणुगतरूपेऽनैकान्तिकतापरिहाराय कार्यग्रहणम् । कार्यगतसत्तादिव्यावृत्त्यै
रूपग्रहणम् । एवमामघटत्वंसं प्रसाध्य कार्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वनियमार्थं लोहितघटस्योत्पत्तावप्यनुमा-
नमाह—तथा लौहित्यमिति । लोहिततन्त्वारब्धः घटो लोहितपटः । पटग्रहणं चोपलक्षणाधर्मम् । एवं
किरणावलीकारोदीरितानुमानविरोधाद्भव्यमेदाधिगतौ प्रत्यभिज्ञा ज्वालाप्रत्यभिज्ञावद्भ्रान्तेत्यर्थः । नन्वत्र
मुशालप्रहारादिरसमवायिकारणसंयोगनाशहेतुः पाकावस्थाया नास्ति तत्कथं विनाशः, अनुमानद्वयं तु शङ्कि-
तोपाधिव्याधिवाह्यतं भविष्यतीति, तत्राह—नच विनाश इति । स्पर्शवा-वेगवांध योऽनिलस्तस्य संच-
लनेन यो प्रज्वलज्वलनस्तस्य यो ज्वालाकलापस्तस्येति विग्रहः । अयमभिसंधिः । घटादिपार्थिववय-
विनां तेजःसंयोगे सत्यम्याद्याघातात्प्रोदनात् वा परपरया तदारम्भकेषु परमाणुषु कर्माणुत्पद्यन्ते तेभ्यो
विभागः विभागेभ्यो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशस्ततश्च अणुकमारभ्यान्त्यावयवविपर्यन्तं द्रव्याणां विनाशः, तस्मिन्
विनष्टे परमाणुष्वभिसंयोगादौष्ण्यापेक्षाद्रूपसंगन्धस्पर्शानां विनाशः, पुनरन्यस्मादभिसंयोगादौष्ण्यापेक्षात्पा-
कजरूपादयो जायन्ते, तदनन्तरं च भोगिनामहृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादणुषु कर्माणुत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगाद्ग्रह-
णुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते, तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिरिति पीलुपाकवादिप्रक्रिया । तथाच
स्पर्शवद्वेगवदभिसंयोगो द्रव्यासमवायिकारणसंयोगनाशहेतुरिति । नन्वनिष्ट एव कार्यद्रव्ये रूपादिमानस्यैव
निवृत्तिरपरस्य चोत्पत्तिः किं न स्यादिति, तत्राह—अन्यथेति । अथवा तादृशज्वालासंपर्को बहिष्ठावय-
धानां, न पुनर्घटान्तरावयवानां, तत्कथमन्तरावयवसंयोगनाश इति, तत्राह—अन्यथेति । उल्लङ्घनं ऊर्ध्वच-
लनम् । विरुद्धधर्मसंसर्गादपि द्रव्यान्तरमेवावधीयत इत्यभिप्रेत्याह—मृद्धिति । तदेतदूपयति—मैवमिति ।
स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात्तावदामपकावस्थयोरैक्यमवगम्यते ततस्तद्विरुद्धतया कालालयापदिष्टमनुमानजा-
तमित्येक्यमेव युक्तम् । तदाधेयानिपाततः । यदि हि पाकसमये सुलयादीनां विनाशोत्पादौ स्यातां तदा
तदन्तराकाले तदुपरिस्थितस्याल्पादीना निपातः स्यान्मुद्रादिप्रहारे तथादर्शनात् । इतश्चैक्यमेव युक्तं,
संख्याप्रमाणयोरैक्यात्, यावन्तो यत्परिमाणाश्च घटा आमपाके निक्षिप्तास्त्वान्तस्तत्परिमाणा एव च घटाः
पक्वा अपि दृश्यन्ते । अपूर्वोत्पत्तौ हि कतिभिश्चित्परमाणुभिरधिका वा अधिकपरिमाणा वा किमिति नार-
भ्यन्ते । यत्तु पाकानुपत्तिर्वाधिकोका, तत्राह—अन्यथेति । इत्यविनाशव्यतिरेकेणापि सच्छिद्रत्वावयव-
विद्रव्याणां ज्वलनावयवानामान्तरेप्यनुप्रवेशासंभवेन पाकोपपत्तेरिति सप्रहश्लोकार्थः । तस्मिन् निवृत्तौ—

स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात्, उपरिस्थितशरावादीनामपातात्, तद्देश-
त्वतत्संख्यतातत्परिमाणतोपलब्धेश्च । अन्तःपाकस्यापि सच्छिद्रत्वाद्द्वयविनां स्फटिका-
न्तरिन्द्रियरश्मिप्रवेशवदुपपत्तेः । अन्यथा सलिलस्यन्दनबहिःशैत्योपलम्भयोरभावप्रस-
ङ्गात् । मृदुकाठिनतालक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्याप्यन्तरेणावयविनाशं छायातपविनिहितपट-
वदुपपत्तेः । नच वेगवद्भ्रव्याभिघातमात्राद्द्वयविनाशः । प्रबलपवनाभिमुखनिहितपटा-
देरपि विनाशापत्तेः ।

नियतहेतुभावकुलालादिव्यतिरेकेण घटजन्मासिद्धेश्च । अन्यथा शब्दसुखादयोप्याम-
यविनाशविनाश्याः, कार्यत्वे सति विशेषगुणत्वात् घटरूपादिवदित्यपि स्यात्, प्रत्यभि-
ज्ञाविरोधस्तु प्रकृतेः समानः । नचैवं पिठरकुहरसंचारितण्डुलानामनलसंपर्केप्यनाशप्र-
सङ्गः । परिमाणभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्विरोधिप्रत्यभिज्ञाभावाच्च । नच स एवायमिति
प्रत्यभिज्ञाविरोधः प्रदीपेऽपि तुल्यः । न्यूनाधिकपरिमाणभेदस्य तत्र प्रत्यक्षेणोपलम्भान्
तैलवर्त्यमिसंयोगानां च प्रतिक्षणं भेदेन सामग्रीभेदाच्च कार्यभेदोपपत्तेः, तत्र प्रत्यभि-
ज्ञायाः सादृश्यविषयतयान्यथासिद्धेः । नचैकत्र प्रत्यभिज्ञाया अन्यथासिद्धौ सर्वत्र
तथाभावः । बाधाबाधाभ्यां तद्व्यवस्थोपपत्तेः, अन्यथातिप्रसङ्गात् ।

स पवत्यादिना । यथाहि सलिले विनष्टेषु बुद्बुदेषु बुद्बुदान्तराणां चोत्पत्तौ न तद्देशत्वादिनियमस्तथेहापि
स्यात्, पूर्वस्य विनाशात्, न त्वेवमस्तीत्याह—तद्देशत्वेति । अथ किमिति सच्छिद्रतावयविनामिति, तत्राह-
अन्यथेति । यथाहि सलिलस्यन्दनादिमात्राच्च तद्घटनशस्त्वयाज्ञीक्रियते, तथा दहनानुप्रवेशेऽपि सच्छिद्रेषु
पाकोपपत्तेर्न द्रव्यनाश इति भावः । विरुद्धधर्मसंसर्गं परिहृति—मृदुकाठिनमिति । यद्यपि च्छायानतपविनि-
हितपटस्यापि पाको वैशेषिकैरज्ञीक्रियते, तथापि न विरुद्धसंस्पर्शवत्त्वेनावयविनो मेदोभिमतः, धवपथेन
एकत्वेन प्रत्यभिज्ञानादिति भावः । यस्तु द्रव्यविनाशहेतुरुक्तः, सोप्यन्यथासिद्धत्वादिति इत्याह—नचेति ।

अथ तेजस एवायं स्वभावः यत्पूर्वव्यवहृतिनाशेन व्यूहान्तरोत्पादनं, तथाहोदयनः—इदंशो हि तेजसो
वेगातिशयः स्पर्शातिशयो वेत्यादि । तदसत् । मुशलाभिघातेन तदभावप्रसङ्गात् । तेजस इत्येवमपि पाने-
कान्तम् । नहि चाक्षुषं चान्द्रं वा तेजो घटादि पाचयतीत्यनुमन्यन्ते । तस्माद्यत्र प्रबलं विनाशप्रत्याघकमसि
तत्र विनाशो नान्यत्रेऽप्ययमेव पन्थाः, नतु तेजस्त्वमिति युक्तमुत्पश्यामः । किंच घटात्पत्तो मुलालादयथे-
तनविशेषाधकचीवरादयश्च हेतवो लोकप्रसिद्धास्तदभावे कथमामपाके कलशापुल्यति, नियतहेतुव्यतिरे-
केण च तदुत्पत्तावाकस्मिकतापातादित्याह—नियतेति । यदि चैवमसाधितप्रत्यभिज्ञापरिप्राप्तेऽपि बहु-
तत्त्वेऽनुमानाभासदुर्मदेन कश्चिदनाश्यासी स्यात्तमितिप्रसङ्गाद्भ्रुशेन वशयति—अन्यथेति । बाधप्रतिप-
त्ताश्रयोत्पत्तेरप्युपलक्षणार्थः, तथाचामाससमानयोगक्षेमं प्रथमानुमानमिति भावः । अथ तत्र प्रत्यभि-
ज्ञाविरोधमेव पुरो निदध्यात्तत्राह—प्रत्यभिज्ञेति । खमते त्वतिप्रसक्तिं परिहृति—नचैवमिति । प्र-
भिज्ञाप्रामाण्येऽप्यतिप्रसक्तिं वारयति—नचेति । तत्र घप्रतिपत्तं द्रव्यान्यत्वं, घामग्रीभेदश्च, अतएव घट-
सादृश्यविषयतयान्यथासिद्धिः, इह तु न तथा बाधकमस्ति, प्रत्यभिज्ञात्वेन च बाधकानुमानमितिप्रसङ्गात्
दान्ताभ्यां ध्वस्तमित्यर्थः । एवमपि न्यायपदवीपरिप्रापितमभ्रधानः स्फिरणावतीकारोऽनुमिमे, घटपरिहृ-
दि'ति । तदसत् । उदकाकाशाद्यमिसंयोगेऽनेकान्त्यात्, पार्थिवामिसंयोगत्वादिनि मिदोपपत्तेः विरुद्धे
फामावात् साद्धिताप्रयोजकता, प्रत्यभिज्ञाविरोधश्च निर्वहते । अन्यदपि तदीयमनुमानद्रव्यमात्रार्थं प्र-
शाविरोधातिप्रसङ्गाभ्यां निरस्तमेवेत्यलम् ।

तस्मात्कारणगुणप्रक्रमो न विदुषा परितोपायेति सिद्धम् -। कारणत्वानिरुक्तेषु । तथाहि किमिदं कारणत्वं, किं पूर्वकालभावित्वं १ किं वा नियतप्राक्कालसत्त्वं २ सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्व वा ३ अन्वयव्यतिरेकप्रज्ञातीयत्व वा ४ सामग्र्ये रुदेशत्वं वा ५ व्यापारवत्त्वं वा ६ यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिस्तद्वा ७ । नाद्यः । रासभस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । 'कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधिर्तोऽन्योन्यसश्रयात् । स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वान्नियतत्वानिरुक्तिः' ॥ ५३ ॥ कालव्याप्तेः, कालस्य कालान्तराभावात् । नचौपाधिक कालस्य पौर्वापर्यम् । इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । कालपौर्वापर्यं उपाधिपौर्वापर्यं तत्पौर्वापर्यं कालस्य तथात्वमिति । उपाध्यन्तराधीनमुपाधेः पौर्वापर्यं नतु कालाधीनमिति चेत् । न । युगपदन्तोपाध्यस्थानप्रसङ्गात् । नचैवमस्त्विति वाच्यम् । प्रमाणाभावात्, व्यवहारस्य मायामयत्वेनोपपत्तेः, कल्पनाभावाच्च । अन्यथा तदुपाधेरेतातीतादिव्यवहारोपपत्तौ कालापञ्चप्रसङ्गात् । उपाधिभेदेपि किञ्चिदुपाधिविशिष्टस्य कालस्यान्योपाधिविशिष्टे काले न वृत्तियेन कालस्य पूर्वकाले भावित्वं, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । नहि कुण्डलिनि देवदत्ते स एव दण्डविशिष्टो वर्तते । काचेयं

उपसहरति—तस्मादिति । किञ्च कारणमेव यदा दुर्निरूपण, तदा कारणविशेषतया परमाव्याचनमानमसमभि, नच जात्युत्तरता, ब्रह्मण कारणत्वानज्ञाकारात्, विद्यदादिविवर्ताधिष्ठानमानत्वात्, नहि नुक्त्यादि रजत प्रति कारणमिति प्रसिद्धिरस्ति, अधिष्ठानत्वमप्यनिर्वाच्यप्रतियोगिक वादनैर्वाच्यमेव, मृदादावपि निरूप्यमाण कारण वमेवविधाधिष्ठानत्वमेव । एतादृशाधिष्ठानत्वविद्यभया च 'स कारण करणाधिपाधिप, कारणत्वेन चान्नाशादिष्व'लादिश्रुतिस्मृत्माध्यादौ ब्रह्मणि कारणशब्दप्रयोग इति हृदे निधाय कारणत्व स ण्डयति—कारणत्वेति । कारणत्वानिरुक्तेषु न कारणगुणप्रक्रमो विदुषा परितोपायेत्यन्वय । अङ्कुराननलक्षणकार्याभाववत्त्वमतत्कारणस्याप्यस्ती युक्तम्—सहकारीति । जातीयपद व्यक्तिप्रदार्थम् । यदनभ्युपगम इति । नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारक चेत्यर्थ । यस्य मृदादे कारणत्वेनामि मतस्थानभ्युपगमे निहत्युक्तया भावत्वे सति सादिवत् घटादे सत्त्वम्, अभावत्वे सति शशविपाणादिवदसत्त्व च प्रपद्यते तन्मृदादिकारणमिति भाव । रासभस्यापीति । अकारणस्यापि गद्मादेधूमादिपूर्वभावित्वमस्तीति तस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गादित्याप्तिरित्यथ । नियतप्राक्कालसत्त्वमिति द्वितीयपक्षेपि दूषणानि श्लोकेन सङ्गृह्यति—कालस्येति । नहि क लस्य कालभावित्वमस्ति, कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात् । अथौपाधिक कालमेदोस्ति, तथाचोपाधिपौर्वापर्याभ्यामुपहितकालपौर्वापर्यमिति, तत्राह—नाधित इति । नाप्युपाधित पौर्वापर्यं, कुत, अन्योन्यसश्रयात् । उपाध्यन्तरेपि पौर्वापर्यं किमुपाध्यन्तरात् किवा पूर्वापरकालसन्ध्यात् । नाद्य । अनवस्थानात्, तैरेव चार्थेषु पूर्वापरदिव्यवहारसिद्धे कालवैयर्थ्याच्च । द्वितीयेऽन्योन्याश्रय । कालपौर्वापर्यादुपाधिपौर्वापर्यम् उपाधिपौर्वापर्याच्च कालपौर्वापर्यमित्यर्थ । यदिच किञ्चिदुपाधिविशिष्टकालेनोपाध्यन्तरविशिष्टकालसन्ध्यादस्ति कालपौर्वापर्यमिति मति, तदा विशेष्याश आत्माश्रयत्वस्यात्, तच्चायुक्त, श्लोके तथाऽदर्शनादित्याह—स्वात्मेति । तव नियतत्वानिरूपणाच्च न तद्विशिष्टलक्षणमित्याह—नियतत्वेति । श्लोक विवृणोति—कालाव्याप्तेरित्यादिना । स्वात्मवृत्तिरित्येतद्विवृणोति—उपाधिभेदेपीति । स्वात्मवृत्तिविरोधमेवोपपादयति—नहि कुण्डलिनीति । अन्यदूषण विवृणोति—काचेति । प्राक्कालसत्त्वमाकाशादेरप्यस्तीति कार्यानुगुणतयैत्युक्तम् । नच प्रथमवतुर्थयो पौनरुक्त्यम् ।

नियतिः, किं तस्मिन्सत्येव भावः १ अनन्यथासिद्धत्वं वा २ तत्तत्कार्यानुगुणतया प्राक्कालसत्त्वं वा ३ तस्मिन्सति भाव एव वा ४ । नाद्यः । रासभस्यापि धूमविशेषं प्रति नियतत्वापत्तेः, स्वसत्तायां सत्यामेव जायमानधूमविशेषं प्रति तस्यापि नियतत्वात् । न द्वितीयः । रासभाकाशादेरपि तथात्वापत्तेः । स्वकारणसत्त्वेन नित्यविभुतया च तेषां सन्निधिर्न त्वनन्यथासिद्ध इति चेत्, तर्हि स्वकारणसन्निधिप्रयुक्तसन्निधीनि वीजधरणी-धामसलिलानीत्यकारणान्येवाङ्कुरोत्पत्तौ किं वा शब्दसुखाद्युत्पत्तौ नित्यविभुत्वभावा वि-यदात्मादयः । नापि तृतीयः । प्राक्कालसत्त्वातिरिक्तानुगुणत्वस्याप्यनिरूपणात् । न च-तुर्थः । वीजादेरकारणत्वप्रसङ्गात् । नहि तस्मिन्सति भाव एवाङ्कुरादेः ।

सहकारिमध्यमध्यासीने तस्मिन्सति भवत्येवेति चेत् । मैवम् । रासभस्यापि कदा-चिरसहकारिमध्यमध्यासीनतासंभवात् । सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं कारणत्व-मिति तृतीयोपि न । 'हेतुसाकल्यरूपायां सामर्थ्यां तदसंभवात् । कारणत्वानिरुक्तौ च सहकार्यनिरूपणात्' ॥ ५४ ॥ सामर्थ्या अकारणत्वप्रसङ्गात्, तस्याः सहकारिवैकल्यप्र-युक्तकार्याभाववत्त्वाभावात्, सहकारिसकलताया एव सामग्रीत्वात् । किंच सह करोतीति सहकारि कारणान्तरं, तथा च कारणत्वस्यैवाद्याप्यनिरुक्तेः आत्माश्रयः । नापि चतुर्थः । 'जातेरहेतुतापत्ते रासभेऽतिप्रसक्तितः । गगनादिषु चाव्याप्तेरन्वयादेरयोगतः' ॥ ५५ ॥

धूमाङ्गोरन्ययोगव्यवच्छेदेऽप्ययोगव्यवच्छेदाभावात् । रासभस्येति । यद्यपि धूमजातीयस्य रासभे सत्त्वे-भाव इति नास्ति, तथापि तदानीमुत्पन्नधूमविशेषस्यैवंभावोत्पत्तिरित्यतिरिक्तः । एतदेव विनाशमिति-स्वसत्तायामिति । अनन्यथासिद्धत्वमिति पक्षेपीदमेव दूषणमाह—न द्वितीय इति । नन्वनन्यथा-सिद्ध इति कोर्थः अन्यथासिद्धो न भवतीति, तथाच कारणत्वं नियतत्वं वा विना सिद्धो विषयो ज्ञानो वा न भवतीत्युक्तं भवति, नचैवं रासभ आकाशो वा, एकस्य स्वकारणप्रयुक्तसन्निधित्वात्परस्य च विभुता-ऽवर्जनीयसन्निधित्वं, ततो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—स्वकारणसत्त्वेनेति । तर्हि स्वकारणप्रयुक्तसन्निधि-विभुत्वे एव वान्यथासिद्धिः किं वाभ्यामनुमीयमाना काचित् । नोभयथापि, वीजादीनामङ्कुरोत्पत्तौ ताराशा-दीनां च शब्दाद्युत्पत्तायुक्तरूपत्वाभावेपि अनन्यथासिद्धत्वादिति दूषयति—तर्हि नित्यादिना । धान-तेजः । तत्तत्कार्येभ्योऽपि तृतीयपक्षं दूषयति—नापीति । अनिरूपणादिति । यथा कालसत्त्वमात्रस्य रास-संभवति तथा निरुक्तेरशक्येति निरूप्यमानानुगुणमपि दुर्निरूपणमतोऽतिरिक्तित्वार्थः । प्राक्कालसत्त्वमात्रस्य रास-भाकाशादावप्यविशिष्टत्वादित्यपि द्रष्टव्यम् । सति तस्मिन्भवत्येवेति चतुर्थपक्षेऽप्यपिमाह—वीजादेरिति ।

ननु यद्यपि वीजमात्रस्यैवंविधनियमो नास्ति, तथापि सहकारिसमेतस्यासिद्धि कदाचित्, अपि च तदन्वयो यत्र तत्र प्रतिनियतमुच्यते इति शङ्कते—सहकारीति । तत्र किं सहकारिमध्यमध्यासीने एवैवंविधनियमो-ऽतिरिक्तो वा । नान्त्यः, अनिरुक्तेः । आद्येऽतिव्याप्तेः । गर्दाभादेरपि स्यादिति सहकारिमध्यमध्यासीने एवैवंविधनियममात्रेणाङ्कुरं प्रतिनियतत्वात्तादिति दूषयति—मैवमिति । एवं नियतत्वसङ्गनेन द्वितीय-कारणलक्षणं दूषयित्वा तृतीयं दूषयति—सहकारीति । तत्रापि दूषणानि संश्लेष्यति—हेतुविति । कारणवैकल्यरूपा वा सामग्री सापि तावद्बीजादिवत्कारणमेव । शक्यं तत्र लक्षणं न संभवती, तत्तां हन्ती सहकारिवैकल्यस्यैवावभावात् । किंच सहकरोतीति सहकारी कारणविशेषः तथा हेतुत्वेषोऽपि च कारण-वचनीयं तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थः । विष्णोति—सामर्थ्या इति । अन्यथाप्यतिरेकव्याप्तीत्यनेन पक्षे दूषणानि संश्लेष्यति—जातेरित्यादिना । नहि जातेर्जातिरिति मेन तज्जातीयतया कारणस्य एव-

जातेरकारणत्वप्रसङ्गात्, जातेर्जातिमत्त्वाभावात्, द्रव्यत्वादिना रासभादेरप्यन्वयव्यतिरेकबद्धहृद्यादिजातीयत्वेन धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात् । द्रव्यत्वावान्तरजातीयत्वं विवक्षितमित्येन्न । फालाकाशदिशामकारणत्वप्रसङ्गात् । तेषां द्रव्यत्वावान्तरजातिविधुरत्वात् । कौं चेमान्वयव्यतिरेकौ, किं कालत उत देशत उत्तोभाभ्याम् । आद्ये काले तदभावादव्याप्तिः । द्वितीये तु देशे तदभावः । न तृतीयोपि । उभयोरप्युभयाभावात् ।

सति भावोऽसत्यभाव एव ताविति चेन्न । तदभावेपि तृणारणिमणीनां दहनहेतुत्वाङ्गीकारात् । तेषामेकैकाभावेपि दहनदर्शनात् । तत्रापि तज्जन्यदहनानामवान्तरजातिभेदान्न व्यभिचार इति चेन्न । जातिभेदे प्रमाणाभावात् । न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, इन्द्रियसन्निकर्षमात्रेण सुनिपुणैरप्यनुपलभ्यमानत्वात् । ननु तृणारणिमणिप्रभवत्वज्ञानसंस्कृतेन्द्रियसन्निकर्षाधिगम्योऽयं जातिभेदः, विशिष्टमातृपितृप्रभवत्वज्ञानसंस्कारसचिवलोचनगोचर इव ब्राह्मणत्वमिति चेत् । न । तेषां व्यभिचारादेव जनकत्वासिद्धेः । जातिभेदालिङ्गितव्यक्तिविशेषं प्रति न तस्य व्यभिचार इति चेन्न । सिद्धे जातिभेदे जनकत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च जातिभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् ।

ननु कार्यविशेषेण तृणादिकारणविशेषप्रभवाणां बहूनां वैजात्यानुमानमस्तु । तथाहि प्रदीप एव प्रासादोदरव्यापकं प्रभामण्डलमारभते, न तथा ज्वालाजटिलोपि बह्निर्नतरां च कारीप इति कुसुमाञ्जलिकार इति चेन्न । एकजातीयत्वप्राह्मिप्रत्यक्षप्रतिहतस्यानुमानस्यानुत्थानात् । नच प्रत्यक्षयोग्यं वैजात्यम् । प्रत्यक्षव्यक्तिवृत्तिसामान्यस्याप्रत्यक्ष-

स्यादित्यव्याप्तिः । किंच सखादिकमादाय गर्दभादेरपि बीजादिजातीयतयाङ्कुरादिकारणतापातादित्यव्याप्तिः । अथ द्रव्यत्वावान्तरजात्या साजार्थं विवक्ष्येत, तदाकाशादावभावादव्याप्तिः, व्यतिरेकाभावाच्चैलेपि द्रष्टव्यम् । तथान्वयव्यतिरेकशोरपि कालतो देशतो वा दुर्निरूपणाद्युक्तमिदं लक्षणमित्यर्थः । सप्रहं विवृणोति विशदप्रन्धेन—जातेरिति ।

ननु न देशतः कालतो वान्वयव्यतिरेकव्यभिक्तौ, किं तर्हि तस्मिन्सति भावोऽसत्यभाव एवेति यो नियमो ताविति शङ्कते—सतीति । तृणादिषु नियमाभावं विवृणोति—तेषामिति । नहि दहनस्तृणाभावे न जायते, मणेरपि जायमानत्वात् । नापि मणेरभावेऽभावः, शरणेरपि जायमानत्वात् । अथ च तेषामन्वयव्यतिरेकौ स्तः, कारणत्वप्रसिद्धेरतोऽव्याप्तिरित्यर्थः । अत्र कुसुमाञ्जलिकारेण तृणादिप्रभवाभिन्नप्यवान्तरवैजात्यमभ्युपगम्य कारणवैचित्र्ये कार्यवैचित्र्यं समर्थितं, तथाच तत्तद्विशेषं प्रति तृणादीनामुक्तनियमोस्तीति शङ्कते—तत्रार्थमिति । प्रत्यक्षतो वैजात्यमनुपलब्धिपराहृतमित्याह—सुनिपुणैरिति । ननु यद्यपीन्द्रियसन्निकर्षमात्रात् ज्ञायते तथाप्यमित्यजकान्तरसचिवप्रत्यक्षेण शक्यं ज्ञातुमिति दृष्टान्तदर्शनपूर्वकं शङ्कते—नन्विति । तत्र वक्ष्यं किं तृणादिप्रभवत्वमस्मिन् दर्शनादवगम्यते किं वा जातिभेदाऽऽलिङ्गिताभिदर्शनात् । आद्येऽसिद्धिः । अस्मिन् प्रति तेषां परस्परव्यभिचारादित्याह—न तेषामिति । द्वितीयं शङ्कते—जातिभेदेति । तर्ह्यन्योन्याश्रयः, प्रथमतोऽभिपु जातिभेदे ज्ञाते तद्दर्शनात्तृणादिप्रभवत्वज्ञानं तज्ज्ञानाच्च जातिभेदज्ञानमिति परिहरति—न सिद्ध इति ।

ननु न प्रत्यक्षेण जातिभेदाधिगतिः किंतु लिङ्गेनेति शङ्कते—नन्विति । कार्यविशेषमेव समर्थयते—तथाहीति । कारीपो गोमयेन्धनोद्भवः । प्रदीपप्रभामण्डलं कारीपादिकारणादिभिन्नजातीयकारणजन्यं तद्विभिन्नजातीयकार्यत्वाद्बद्धवदित्यनुमानाच्चातिभेदसिद्धिरित्यर्थः । नन्वतीन्द्रियजातिभेदः एवानुमीयते चेन

त्वायोगात्, प्रासादोदरव्यापिप्रभामण्डलादिकार्यभेदस्य तत्तत्सहकारिभेदादन्यथोपपत्तेः,
एकजातीयेषु मृदादौ तत्तत्सहकारिसाहित्येन तत्तद्विजातीयघटशरावादि कार्योपलब्धेः ।
एकजातीयादपि घटाद्विजातीयानां रूपादीनामुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च । नापि पञ्चमः । सा-
म्य्या दुर्निरूपत्वेन । तदेकदेशस्यापि दुर्निरूपत्वात् । तथाहि 'अतिव्याप्तेः स्वयंत्तितोद्भे-
दभेदेऽप्यसम्भवात् । कार्यस्य हेतुभिः सिद्धेर्द्वैधा साकल्यकल्पना' ॥ ५६ ॥

किं वस्तूनां साकल्यं सामग्री किं वा कारणानाम् । नाद्यः । अकारणसाकल्येऽपि प्रस-
ङ्गात् । द्वितीये कारणत्वस्याद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः । कारणसाकल्यं च कारणानां सत्त्वं
पमतिरिक्तं वा । आद्ये व्यक्तेभ्योऽपि कार्यमुत्पद्यते । द्वितीये नित्यत्वे साकल्यस्य सदा
कार्योत्पादः, अनित्यत्वेऽपि व्यस्तानामेव साकल्यकारणत्वे साकल्यस्यापि सदातन्त्रेण
कार्यस्यापि सदोत्पादः । समस्तानां हेतुत्वे चात्माश्रयः अनवस्था वा । साकल्यजनकेभ्य
एव च प्रधानकार्योत्पत्तेः किमजागलस्तनायमानेन साकल्येन । एतेन कारणानामन्यो-
न्यवैशिष्ट्यं सामग्रीति प्रत्यादिष्टम् । न च कारणसन्निधिः सामग्री । तदनिर्वचनम् । न
तावदेककालत्वं सन्निधिः । काले तदभावात् ।

न प्रत्यक्षपराहतिस्त्राह—नचेति । यदि हि प्रत्यक्षाश्रयापि जातिरप्रत्यक्षा, घटत्वादे प्रत्यक्षत्वे कुत
आश्रयास, व्यञ्जकस्य च पूर्वमेवोन्मूलितत्वादिति भावः । विपक्षे बाधकविधुरत्वाच्छ्रितोपाधिता च, कार्य-
भेदस्य प्रकारान्तरेणाप्युपपत्तेरित्याह—प्रासादेति । न केवलमुपपत्ति, दृश्यते न तत्र तत्र एकजाती
यात्सहकारिभेदयुताद्विलक्षणद्रव्यस्य विलक्षणगुणस्य चोत्पत्तिस्वतन्त्रानैकान्तिकत्वेत्याह—एकजातीयेत्या
दिना । साम्य्येकदेशत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि पञ्चम इति । तत्र सामग्रीदूषणानि सद्यस्मिन्—
अतिव्याप्तेरित्यादिना । किं वस्तूनां साकल्यं सामग्री किं वा कारणानाम् । आद्ये अङ्कुरायनवनवनमपि
शिलाशकलादीनामपि साकल्यत्वाङ्कुरादिसामग्रीत्वं प्रसङ्गादितिव्याप्ति । द्वितीये कारणज्ञानात्सामग्रीज्ञानं सा
मग्रीज्ञानाच्च कारणज्ञानमित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः । किञ्च तत्साकल्यं कारणेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा । भिन्नं न नित्यं
चेत्सदा कार्यजनमप्रसङ्गं । अनित्यत्वेऽपि व्यक्तेभ्यः समस्तेभ्यो वा तस्य नोत्पत्तिर्भवति । आद्ये कार्यजन
स्यस्यो सदा जन्मप्रसङ्गः । द्वितीये साकल्यत्वात्साकल्योत्पत्तिरित्यात्माश्रयात् । अभिन्नत्वे तु प्रचेककार्ये
भ्योऽपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्, तावन्मात्रत्वात्साकल्यस्य, तथाच सदा कार्यजनमप्रसङ्गः ।

किंचोत्पत्त्याया साम्य्या उपादकानि यानि कारणानि तैरेव कार्योत्पत्तिविदे घृषा तेषां साकल्यं
मेति श्लोकार्थं विवृणोति—किं वस्तूनामित्यादिना । व्यस्तानामेवेति । यदि व्यस्तान्येव कारणानि
साकल्यमुत्पादयन्ति तदा बीजादेरनित्यत्वेपीश्वरादेर्नित्यतया सदा साकल्योत्पादात्कार्यस्यापि सदानता सा-
दित्यर्थः । ननु न व्यस्ता अपि तु सर्वे संभूय साकल्यं जायन्तीति, तर्हि साकल्यं साकल्यमुत्पादयति इति इव
नीयं, तथाचाभेदे भेदे चात्माश्रयानयस्ये सातामित्याह—समस्तानामिति । समुद्रितानामित्यपि इ
व्यम् । उत्तरार्थं व्याचष्टे—साकल्येति । सामग्रीलक्षणान्तरेषु उपपत्तिरिति—एतेनेति । एतेषु
वैशिष्ट्यं भिन्नमभिन्नं वेत्यादिदोषाणां समानत्वादित्यर्थः । ननु कारणानां योऽपि सन्निधिः सैव सामग्री, ननु
—नचेति । तयोरिति । यदि हि कारणानां संयोगं सामग्रीं तदा संयोगस्येतरत्वरूपं संज्ञोत्पत्तिरिति
सामग्रीन्वन्तं पातित्वाभावेनाकारणत्वं स्यादेव समवायपील्यम् ।

नाप्येकदेशत्वं, देशे तदभावात् । नोभयं, उक्तदोषानुपपन्नात् । नापि सयोगसमवायौ, तयोरेवाकारणत्वप्रसङ्गात् । नाप्येककार्यकारणत्वं सन्निधिः । कार्यकारणभावस्यैवाप्रसिद्धेरात्माश्रयात् । नापि कारणानां घरमो व्यापारः सामग्री, व्यस्तानां समस्तानां वा तज्जनकत्वे पूर्वोक्तदोषानुपपन्नात् । अपिच व्यापारे जनयितव्ये कारकाणि व्यापारान्ति निर्व्यापारणि वा । आद्येऽनवस्था । द्वितीये कार्यमेव प्रधानं तथा कुर्वन्तु कृतमन्तरा व्यापारेण । व्यापारस्य च सव्यापारस्य जनकत्वेऽनवस्था, निर्व्यापारत्वे च कारकाणामेव तथात्वमस्तु किं व्यापारेण । यदनन्तर कार्यं भवत्येव सा सामग्रीति चेत् । न, विभागानन्तर पूर्वसयोगनाशस्यावश्योत्पत्तेर्विभागस्यापि तथा सामग्रीत्वप्रसङ्गात्, एवं कर्मणो विभागेऽन्त्यतन्तुसयोगस्य च पटे तत्त्वप्रसङ्गाच्च । नापि पष्ठः । 'व्यापाराव्यापनादात्माश्रयत्वादनिरुक्तितः । समवायेऽस्य हेतुत्वे पूर्वोक्तदोषानुपपन्नतः' ॥ ५७ ॥ चरमव्यापारस्य व्यापारान्तरविधुरस्याकारणत्वप्रसङ्गात् । तज्जन्यस्वजन्यजनको व्यापार इति जनकत्वमन्तर्भाव्य व्यापारनिरुक्तेरात्माश्रयत्वाच्च । व्यापारवत्त्व च व्यापारसमवायित्वमुत तज्जनकत्वम् । नाद्यः । यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वप्रसङ्गात् । ध्वस्तस्य यागादेरपूर्वादिव्यापारासमवायित्वात् । नेतरः । आत्माश्रयत्वात् । नापि सप्तमः । 'असिद्धेः प्रतिबन्धस्य नृशृङ्गादावभावतः । सत्त्वे सतीति चायुक्त दृष्टान्तादेरसिद्धितः' ॥ ५८ ॥

ननु कारणानामस्ति कश्चिच्छरमो व्यापारो यदनन्तरं कार्यमुत्पद्यते सा सामग्रीति, तत्राह—नापीति । इमं पक्षं प्रकारान्तरेणापि दूषयति—अपिचेत्यादिना । यथायं चरमो व्यापार कारणानां सोपि किं सव्यापारतया जनको निर्व्यापारतया वेति विकल्प्य दूषयति—व्यापारस्येति । सामग्या लक्षणात्तरं दृष्टत्वे—यदनन्तरमिति । कार्यं कारणे हि सत्येव भवतीति नियम, नलसत्येवेति, ततो नातिव्याप्तिरिति भावः । तदेतद्विब्याह्या दूषयति—न विभागानन्तरमित्यादिना । तत्त्वप्रसङ्गादिति । सामग्रीत्वप्रसङ्गादित्यर्थं । व्यापारवत्त्वमिति पष्ठे पक्षे दूषणानि सगृह्णाति—व्यापारेत्यादिना । व्यापारस्य व्यापारवत्त्वाभावादकारणत्वप्रसङ्गेनाव्याप्तिः । किंच जनकत्वमन्तरेण व्यापारस्य दुर्निरूपतादात्माश्रयत्वं स्यात् । किंचास्य व्यापारवत्त्वानिरुक्तित्वात्सिद्धिलक्षणस्य, तथाहि—व्यापारसमवायित्वं व्यापारजनकत्वं वा व्यापारवत्त्वमिति मत्तुपोऽर्थः । उभयत्र समवाये हेतुत्वे च पूर्वोक्तदोषानुपपन्नतः, अव्याप्तिरानाश्रयत्वं च पूर्वोक्तदोषः । तथाहि यागादेरपूर्वसमवायिविज्ञानाभावादव्यापारवत्त्वप्रसङ्गादव्याप्तिः । जनकत्वपक्षे च कारणत्वस्याव्याप्यसिद्धेरात्माश्रय इति श्लोकार्थः । मिश्रणेति—चरमेत्यादिना । अथ किमिति यागादे स्वर्गाद्यकारणत्वं, तत्राह—ध्वस्तस्येति । यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसिद्धिसत्त्वमिति सप्तमे पक्षे दूषणानि सगृह्णाति—असिद्धेरित्यादिना । यदि हि हेतुभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वभ्यां व्याप्तिरवधार्येदे तत्तत्त्वमजकत्वं स्यात् त्वेतदस्तीत्याह—असिद्धेः प्रतिबन्धस्येति । तस्यैवोपपादन—नृशृङ्गादावभावत इति । आदिशब्दन प्रागभावे शृङ्गते । तथाहि निर्दुल्य तु शशक्रियाणेत्यस्य च नित्यसत्त्वं नास्ति तथा प्रागभावे निर्दुल्य नास्ति नित्यसत्त्वं विनाशित्वाद्गतो नास्ति ध्याप्तिरित्यर्थः । ननु सत्त्वे सति निर्दुल्यत्वमाकाशादौ नित्यसत्त्वेन व्याप्तमिति, तत्राह—सत्त्वे सतीति चायुक्तमिति । सत हेतुर्दृष्टान्ता-

निर्हेतुकस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रतिबन्धासिद्धौ नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गस्य दुर्वच-
त्वात् । अहेतुकत्वेपि प्रागभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभावात्, शशविषाणस्य नित्यसत्त्वा-
भावाच्च ।

ननु भावत्वे सत्यहेतुकत्वस्य सदातनत्वे व्याप्तिराकाशादौ सिद्धेति चेत्, न । अस्याव्या-
प्तेः । स्वभाववादिनं प्रत्यसिद्धेः, भूतचतुष्टयतत्त्ववादिना तेनात्माकाशादीनामनभ्युपगमात् ।
विपर्ययापर्यवसानाच्च प्रसङ्गस्य । नहि यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधिकरणं तत्सहेतुक-
मित्युपसंहारस्थलमस्ति, लोकायतिकं बौद्धं प्रति कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धेः । ननु
विमतं सहेतुकं प्रागभाववत्त्वाद्यन्निर्हेतुकं न तत्प्रागभाववदात्मवदिति वेदान्तिनं प्रति
प्रयोग इति चेन्न । हेतुशब्दार्थानिरुक्तौ सहेतुकत्वस्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात् ।
कारणानिरुक्तौ च व्यापारवत्कारणं कारकमिति कारकलक्षणमप्यपास्तम् । तदेवं कार-
णलक्षणं दुर्भणम् ।

तथा कार्यलक्षणमपि, तार्किकं कारणाधीनत्वात्मलाभं १ प्रागभावोपलक्षितसत्तायोगि
वा २ प्रागभावप्रतियोगि वा ३ प्रागभाववद्वा ४ प्रागसत्त्वे सत्युत्तरकालसंबन्धि वा
५ । सर्वथा न निरूपणपथमवतरति—‘अनिरुक्तेरतिव्याप्तेरव्याप्तेस्तदसंभवात् । अति-
प्रसङ्गतोऽव्याप्तेर्मतुवर्थानिरूपणात् ॥’ ५९ ॥ न तावदाद्यः । कारणस्यानिरुक्तौ तदधी-
नत्वात्मलाभस्याप्यनिरुक्तेः । न द्वितीयः । आत्मादीनामपि कार्यत्वप्रसङ्गात् । षटादौ
सत्ताया एव प्रागभावेनोपलक्षितत्वात्तस्याश्च तत्र भावात्, स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायो-

वेरिति । स्वभाववादिनं प्रत्याकाशादेरसिद्धेर्व्याप्यसिद्धिरिति भावः । एतमेव श्लोकं व्याचष्टे—निर्हेतुकस्ये-
त्यादिना । प्रतिबन्धासिद्धेरेव विवरणम्—अहेतुकत्वे इत्यादिना ।

उत्तरार्धस्य शङ्कामाह—नन्विति । दृष्टान्तादिरित्यादिशब्दसंगृहीतं दूषणमाह—विपर्ययेति । यदि ति-
हेतुकं तद्धि भावत्वे सति सदासत्त्वाधिकरणं स्यादिति तर्कः । तस्य चैवं विपर्ययः यद्भावत्वे सति तदा सत्त्वा-
नधिकरणं तत्सहेतुकमिति । नचैवं निर्हेतुकवादिनः संप्रतिपन्नस्थलमस्तीत्यर्थः । वेदान्तिनं प्रति व्यतिरेक-
व्याप्तिं दर्शयन्कारणत्वं समर्थयति—नन्विति । ममापि तावन्न तात्त्विकमस्ति हेतुत्वं प्रामाणिकमतत्पर-
साध्यमप्रसिद्धमित्यर्थः । प्रसङ्गात्कारकलक्षणमपि दूषयति—कारणानिरुक्तायिति ।

कार्यकारणात्मको ह्ययं द्वैतवर्गस्त्रन कारणस्य दुर्निरूपत्वाच्च तद्वर्गप्रादकप्रमाणैर्विरोधोऽद्वैतधुतीनामिदुक्त-
मिदानीं कार्यवर्गस्य दुर्निरूपतया तद्विषयप्रमाणैर्विरोधो नास्तीति दर्शयितुं कार्यत्वं राण्डयति—तथा वा-
येति । स्वात्मलाभः सत्तायोगित्वम् अभावप्रतियोगित्वमभावयत्त्वम् उत्तरकालत्वं चेतोऽसर्वं नि-
त्यादिना । प्रथमपक्षे कारणानिरुक्तौ तदधीनात्मलाभमप्यनिरुक्तमित्यदिः । द्वितीये सत्तायोगि-
कार्यत्वप्रसङ्गः । षटादिप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वादेकलातत्ताया इत्यनिव्याप्तिः । अथ सप्रागभावो-
पलक्षितसत्तायोगित्वं विवक्षितं, तत्राह—अव्याप्तेरिति । स्वसन्दर्भाननुगमादव्याप्तिरित्यर्थः । पूर्वोक्त-
व्याप्तितादवस्थं च । तृतीये दोषमाह—तदसंभवादिति । तत्राह प्रागभावप्रतियोगित्वं किं प्रागभावे-
कदेशानवस्थानं किं संकलानवस्थायित्वम् । आद्येऽसंभवः । प्रागभावकार्ययोरेकसिद्धायेने । ति-

गित्वमिति लक्षणविवक्षायामननुगम एव । सत्ताविरहिणः प्रध्वंसस्याकार्यत्वप्रसङ्गाच्च । न
 तृतीयः । प्रतियोगिशब्देनैकदेशानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासंभवितात्, कार्यतत्प्राग-
 भावयोः कारणे घृते, एककालानवस्थाने तु कालस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात्, कालस्य का-
 लान्तराभावेन प्रागभावेनैकस्मिन्कालेऽनवस्थानात्, घटादेरपि कार्यस्य यत्किंचित्प्रागभा-
 वेन सहावस्थानादसंभवदोषस्तदवस्थः । स्वप्रागभावेन सहानवस्थाने चात्मादेरपि कार्य-
 त्वप्रसङ्गः । तेषां प्रागभावाभावेन तेन सहानवस्थानात् । न चतुर्थः । मनुवर्थस्याधिकर-
 णार्थतायामात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गात् । तेषामपि मुखादिकार्यप्रागभावाधिकरणत्वात् ।
 प्रतियोगिपरत्वे पूर्वदोषानुपपन्नात् । न पञ्चमः । उत्तरकालस्याकार्यत्वप्रसङ्गात् । तस्यो-
 त्तरकालसंबन्धित्वाभावात् । अथ नोत्तरकालः कार्यं नित्यत्वात्तस्येति चेत् । न । प्रागभा-
 वस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात् । तस्य प्रागसद्रूपत्वात्, किंचिचापेक्ष्योत्तरकालसंबन्धित्वाच्च ।
 प्रागसत्त्वशब्देन प्रागभाववत्ता विवक्षितेति चेत् । न । मनुवर्थानिरूपणात्, कालसंबन्ध-
 पदस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेन नियतोत्तरक्षणवर्ति कार्यमित्यपि परास्तम् । कारणानिरुक्तौ
 तदपेक्षया नियतोत्तरक्षणवर्तित्वस्यानिरूपणात्, कालानिरूपणाच्च न पूर्वोत्तरक्षणभाव
 कारणकार्यभावः । तथाहि—‘प्रत्यक्षागोचरत्वेन परत्वादेरलिङ्गतः । स्वरूपतोऽनिमित्त-
 त्वाद्गुपाधौ निष्फलत्वतः ॥ ६० ॥ दिवाकरपरिस्पन्दपिण्डसङ्गतिसंभवात् । व्यापिन-
 श्चेतनादेव कथं कालः प्रसिद्धयति’ ॥ ६१ ॥

तीये प्राह—अतिप्रसङ्गत इति । अलिङ्गि हि कालमपि प्रागभावेनैककालानवस्थानम् । काले घृयभा-
 वादित्यर्थं । तथा प्रागभावेत्यत्र यत्किंचित्प्रागभाव प्रागभावत्वेन विवक्षित स्वप्रागभावो वा । आद्ये
 प्राह—अव्याप्तेरिति । घटादेरपि यत्किंचित्प्रागभावेन सहावस्थानात्तत्रव्याप्तिरित्यर्थं । द्वितीये लात्मा-
 दावतिप्रसङ्ग इत्यति, स्वशब्दाधीनानुगमादव्याप्ते । चतुर्थे प्राह—मनुवर्थेति । किं प्रागभावाधिकरणत्व
 प्रागभाववत्त्व किं वा तत्प्रतियोगित्वम् । आद्यं मुखादिप्रागभावाधिकरणात्मादावतिव्याप्ति । द्वितीये तु
 तृतीयपक्षोक्तदोष इति भावः । पञ्चमपक्षेऽव्याप्तिमनुपपत्तिरित्यति विशदप्रत्ययेन । सप्रहं विवृणोति—नता-
 वदित्यादिना । यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—स्वप्रागभावेनेति । यच्चानुपपत्तिरित्युक्तं तदाह—उत्त-
 रकालस्येति । तस्मिन्नेव पक्षेऽतिप्रसङ्गात्तरमाह—न प्रागभावस्येति । वैयर्थ्येति । प्रागभाववत्त्व
 मित्युक्ते ऋतिव्याप्तिर्नोत्तरकालसंबन्धपदेन व्यावर्त्यतेत्यर्थः । एतेनेत्यस्यैव विवरण—कारणानिरुक्ता
 विति । नहि किंचिदपेक्षया नियतत्वमपि विवक्षितमतिप्रसङ्गादिति भावः । तत्र काष्ठे प्रमाणं दूषयति
 लोकेन—प्रत्यक्षेति । न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणं, रूपादिरहितद्रव्यं वेन बाह्यत्वेन च बहिर्गतं करणागो
 चरत्वात् । नाप्यनुमानं, परत्वादेस्तद्विज्ञानाभावात् । ननु तज्ज्वलत्वात्परत्वादे किमिति न तद्विज्ञानं, तत्राह
 —स्वरूपत इति । किं कालस्वरूपमानं परत्वादिनिमित्तं किं वा तद्विशेषः । नाद्यं । काठस्याविच्छन्नत्वेन
 विच्छन्नपरत्वादेस्ततोनुपपत्ते । न द्वितीयः । स्वतो विशेषाभावात् । अथौघाधिकस्तत्राह—उपाधौ नि-
 ष्फलत्वत इति । तैरेवोपाधिभिः परत्वादिब्यवहारसिद्धेर्विक्रमं कालकल्पनेत्यर्थः । ननु दिवाकरपरिस्प-
 न्दमेदास्तावदुपाधयः, नच तेषां पिण्डे सात्तात्संबन्धः, परिसरं दक्षिणाया दिवाकरवर्तिवात् नचास्यद्धानां
 पिण्डेषु व्यन्धारणकत्वमित्यतिप्रसङ्गात्, अतस्तत्संबन्धकनया कालकल्पनेति, तत्राह—दिवाकरेति । य
 खलु विभुरामा परमेश्वरस्त एव दिवाकरपरिस्पन्दानां पिण्डानां च संगतिषमवाचं ततिस्यर्थमपि काठ
 कल्प्य इति श्लेश्योरर्थः ।

पनायकत्वे व्यापकान्तरस्य तदहेतुतया व्यतिरेकव्याप्तौ साध्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वात् । ततः परिशेषात्पिण्डसंयुक्तः कालस्तपनेनापि संयुज्यमानस्तसमवेतपरिस्पन्दानां परम्परया पिण्डसंबन्धहेतुः सिद्ध इति लीलावतीकारः ।

मैवम् । उभयवादिसंप्रतिपन्नान्नैव वस्तूनामुपाधिसंबन्धसिद्धेरतिरिक्तद्रव्यकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । नच विशेषगुणवत्त्वादात्मनः पृथिव्यादिवदुपाधिसंबन्धानुपनायकत्वम् । विशेषगुणवैधुर्येण मनोवदेव भवदभिमतकालेषुर्थाव्यनुपनायकत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । अव्यापकत्वोपाधेस्त्वयैव निवारितत्वात् । ननुपाधिसंबन्धोपनायकत्वेनैव कालसिद्धेस्तत्पक्षीकारेण तद्विपर्ययप्रसङ्गने धर्मिप्राहकप्रमाणबाधस्तदसिद्धानाश्रयासिद्धिरिति चेन्न । प्रतिवादिप्रसिद्धतामात्रेणैवाश्रयतोपत्तेरसकृदुपपादितत्वात् । विशेषगुणविधुरत्वं तरणिस्पन्दसंगोपनायकवृत्ति न भवति विशेषगुणशून्यमात्रवृत्तित्वात् मनस्त्व-

सावदाकाशात्मनोरन्यतरस्यैव हेतुत्वं मन्तव्यं, लाघवाद्गुणतिलाभाच्च, तथाच व्यापकस्याप्येकसासंबन्धकत्वे यत्राव्यापकत्व नास्ति तत्रासंबन्धकत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकव्याप्तिरशक्यसमर्थनेति नायमुपाधिरिति, तदित्यम् प्रसक्तप्रतिषेधमन्यत्राप्रसङ्गं चोक्त्वा शिष्यमाणे सप्रत्यय दर्शयिष्यन्परिशेषमुत्सहरति—तत इत्यादिना । नच दिगेव सास्त्विति वचनीयम् । कालविप्रतिपत्तुर्दिस्यपि समानत्वात्, सिद्धत्वेपि तत्कृणपरत्वापरत्वव्यवहारादेस्तत्कृतस्य विलक्षणत्वादिति ।

एतन्निरासपरतया द्वितीयश्लोकं योजयति—मैवमित्यादिना । पूर्ववाच्युपशयमुन्मूलयति—नच विशेषगुणेति । न तावद्विशेषगुणवत्त्वानुपनायकत्वव्यभिचारे किञ्चिद्बाधकमस्ति, तस्मात्साधर्म्यसमेयम् । अथैवमपि न प्रतिबुध्यसे, तर्हि विशेषगुणराहिल्यस्यानुपनायकत्वस्य चास्ति साहचर्यं मनसीति तावत्कालस्याप्यनुपनायकत्वापात इति व्याहृतिभारं बहवस्य वाक्दूकवादिर्गर्भ इत्यभिसंधिराह—विशेषगुणवैधुर्येणेति । ननु न विशेषगुणविधुरत्वमनुपनायकत्वे प्रयोजकं, किं तस्मैव्यापकत्वं, कालस्तु तद्विपरीत इति, तत्राह—अव्यापकत्वेति । अत्रापि हि पूर्ववदव्यापकत्वमित्यनिर्गुणानुपनायकत्वस्याकाशादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः । ननु यदिदमभिधीयते यदि विशेषगुणवत्तामेवेदमनुपनायकत्व तर्हि विशेषगुणरहितस्यैव कालस्यापि मनोवदनुपनायकत्व स्यादिति प्रसङ्गान्न प्रसाधन वा कालमधिकृत्य, तदयुक्त, कालसिद्धावसिद्धौ च तदनुपपत्तेरिति शङ्कित्वा परिहरति—न प्रतिवादीति । एतेनेदमपास्त यदाह स एव 'यदि गगनमात्रमा धान्यधर्मोणान्यदवच्छिन्न्यात्काम्भीरवर्तिना कुङ्कुमरागेण कर्णाटकचक्रवर्तिकरकमलमवच्छिन्न्यात् । नच कालेष्येव प्रसङ्ग । तस्यासिद्धावाश्रयासिद्धे, सिद्धौ वा परापरनियतधर्मोपसकामकत्वस्वभावेनैव सिद्धेरिति । देहात्मवादिवत्प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ दोषद्वयानास्कन्दनादिति । किञ्च कालमङ्गीकृत्यापि स्वभावात् एव शरणं, तदीश्वरस्यैवास्तव्य स्वभाव वृथातिरिक्तकल्पना । किञ्चोभयसंप्रतिपन्नकिञ्चित्पक्षीकारेण कालपक्षीकारव्यतिरेकेणैव विशेषगुणशून्यस्योपनायकत्वस्य शक्यतया मानत्वात्तदुदरोर्यं दोष इत्याह—विशेषगुणेति । सत्तादौ व्यभिचारनिवारणाय मात्रग्रहणम् । असिद्धिपरिहाराय विशेषपदम् । ननु याविमी परत्वापरत्वगुणावनुभूयेते एतयोस्तावदसमवायिकारणेन केनचिद्भूवितव्य, भावकार्यत्वात्, तत्र गुणधर्म वा स्यात् तत्राप्यन्यगतत्वेन प्रत्यासत्त्यभावाच्च रविपरिस्पन्द, अव्यवस्थितत्वाच्च न रूपादि । नाप्येकत्वादितिरेकवादि, वैषम्यात् । नच कारणनिष्ठपरत्वादि, अपेक्षाशुद्धिजन्यत्वात्, तस्मात्कालविशेषपिण्डयोः संगोपादसमवायिकारणात् समवायिकारणेण पिण्डेष्विमानुत्पद्येते, दिग्बिधौपिण्डसयोगाच्च दिङ्मत्तौ । यथा-हुर्मोर्भ्यकृत—'परेण कालप्रदेशेन सयोगात्परत्वमुत्पद्यते अपरेण कालप्रदेशेन सयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति,

न तावत्काले प्रत्यक्षं प्रमाणम् । द्रव्यप्राहकयोश्चक्षुस्पर्शनयोस्तस्मिन् रूपविरहेऽपि
स्पर्शविधुरे चाप्रवृत्तेः, मनसश्च बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरप्रवृत्तेरः, अनुभवश्च । नानु-
मानम् । तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात् । परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययाः प्रत्येकं लि-
ङ्गमिति चेत् । न । तेषां निरुपाधिककालनियन्धनत्वे प्रत्ययवैलक्षण्यानुपपत्तिप्रसङ्गात् ।
तपनपरिस्पन्दभेदलक्षणोपाधिककालनियन्धनत्वे तूपाधिभिरेव तस्मिन्नेः " कृतं कान्त-
ल्पनया ।

ननु 'तरणिपरिस्पन्दभेदानां युवस्थविरादिपिण्डैः स्वतः संबन्धासंभवेन दिवसमाना-
दिविशिष्टप्रत्ययजनकत्वायोगात्पिण्डचण्डरोचिःपरिस्पन्दयोः परंपरासंबन्धसंपादकः काजः
स्वीकर्तव्यः' । सच संबन्धः संयुक्तसंयोगिसमवायात्मा । नच तत्र पृथिव्या-
दिचतुष्टयं हेतुः, तस्य तपनपिण्डाभ्यां नियमेन संसर्गाभावात् । नच दिनकर्तृनिष्प-
स्तथा । तदभावे गृह्णित्वातनिव्यादिपु । मासाद्यवच्छेदप्रतीतेः । नचाकाशात्मानौ तथा ।
विशेषगुणवत्त्वात् पृथिव्यादिवत् । नचाव्यापकत्वमुपाधिः । एकस्य व्यापकस्य संबन्धो-

यथाक्रम विवृणोति—नतायदित्यादिना । परत्वादेरलिङ्गत इत्यस्य वाङ्माह—परापरेति । एव
परापरादिपङ्क्तं किं बालगुणतया स्वसमवायित्वेन तं कलयति किं वा तदसमवायिकारणतया किं वा तत्रि-
मितकृतया । नाद्यः । बालस्य विभुतया पशुमात्रगुणतया च तद्गुणकत्वाभावात् । नापि द्वितीयः । इत्य-
स्यासमवायिकारणत्वाभावात् । गुणकर्मणोरेव हि तत्त्वात् । नापि तृतीयः । अपेक्षापुरेदेव निमित्तचोत्तरे ।
भवतु वा तथा तथापि किं कालमात्रं निमित्तं तद्विशेषो वा । नाद्य इत्याह—न तेषामिति । द्वितीये
किं स्वतो विशेषे औपाधिको वा । नाद्यः । अपरादान्तात् । द्वितीये प्राह—तपनेति । भेदो विभेदः ।

अत्र धीवल्लभोदीरितकालसमर्धनारीतिमुद्रावयति तन्निवर्तकतयोत्तरश्लोडमवतारयितुं—नगिवति । उ-
रणिः सूर्यः । अनुभूयते तादृशव्यतिरेकाभ्यां तरणिपरिस्पन्दविशेषाणां युवस्थविरादीरितयोरुत्तरेण
दिविचित्रबुद्धिजननद्वारेण तदुपहितेषु परत्यापरत्यादिबुद्धिजनवत्त्वं, नच तेरसंबन्धानां तत्र बुद्धिवत्त्वं,
नच साक्षात्संबन्धो रविपरिस्पन्दानां पिण्डैरस्यतः तत्संबन्धवत्तया कथिदष्टद्वयजलसंगे इत्यपरेण तं
कर्तव्यः, तस्य च बाल इति चोतेति । ननु खीकृतेपि तस्मिन्किं तपनपरिस्पन्दा- पिण्डेषु गमनवत्त्वं, तस्य-
त्वरिपतोऽप्यसत्त्वत्वं, इति तत्राह—सच संबन्ध इति । नचपि न साक्षात्संबन्धमपि निरुद्धमुक्त-
संबन्धोवति तपने समवेतानां परस्पन्दानां, संयुक्तसंयोगसमवायोरिति संबन्ध अतः संयुक्तसंयोग-
संबन्धस्यवन्तरे सक्रामकः कथित्वालनामा सौकिपते इत्यर्थः । ननु तपपि कथं तस्य मगनत्वं, इत्य-
पृथिव्यादिनिरेवायमर्थः सक्रामसंपादन इति, तत्राह—नच तत्र पृथिव्यादीति । तेषु तत्रनिर्गतसं-
परमाणुतया धानिदूयति तपनपिण्डयोगेन संबन्धवत्तम् अनित्यसंसाध्यतव्यधिततया तद्वत्त्वात्तद्वत्त्वं
नियमेन संबन्धवत्त्वमित्यर्थः । ननु तपितृकिरणरेव तपितृपिण्डसंपादनेन संबन्धः तेष्वप्यपि, तत्राह—
नच दिनकरेति । नितापवत्तुपु निरालसंबन्धाभावेपि नापारिषेचित्यनरीतयोरपि रविपरिस्पन्दा-
संबन्धसंपादनसमः कथित्वात् इत्यर्थः । ननु तप्यादास आत्मा वा संबन्धोत्तरत्वं, तत्राह—
सर्गितया सर्वोपनिस्तपह—नचाकाशेति । तपेति संबन्धोत्तरत्वं । इत्येवमपि कथित्वात्तत्त्वं
पेयुक्तम् । ननु पृथिव्यादिभेदेपेयसंबन्धानासादृश्यं न विद्वेत्तुपुत्तरत्तुक्तं, किं तद्वत्त्वं तत्राह—
तत्तत्त्वात्तत्त्वं विवृणोति न संबन्धवत्त्वमनयोति, तत्राह—नचान्नापकत्वमिति । अत्राह—

१ निरर इत्यस्य स्थाने अहं एव चोते अतीति निररत्तयि । अत्रापि कथित्वात्तत्त्वं । अत्राह—

पनायकत्वे व्यापकान्तरस्य तदहेतुतया व्यतिरेकव्याप्तौ साध्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वात् । ततः परिशेषात्पिण्डसंयुक्तः कालस्तपनेनापि सयुज्यमानस्तत्समवेतपरिस्पन्दानां परस्परया पिण्डसंबन्धहेतुः सिद्ध' इति लीलावतीकारः ।

मैवम् । उभयवादिप्रतिपन्नात्मनैव वस्तूनामुपाधिसंबन्धसिद्धेरतिरिक्तद्रव्यकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । नच विशेषगुणवत्त्वादात्मनः पृथिव्यादिवदुपाधिसंबन्धानुपनायकत्वम् । विशेषगुणवैधुर्येण मनोवदेव भवदभिमतकालेषुर्पाध्यनुपनायकत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । अव्यापकत्वोपाधेस्त्वयैव निवारितत्वात् । ननुपाधिसंबन्धोपनायकत्वेनैव कालसिद्धेस्तत्पक्षीकारेण तद्विपर्ययप्रसङ्गने धर्मिप्रादकप्रमाणवाधस्तदसिद्धावाध्रयासिद्धिरिति चेन्न । प्रतिवादिप्रसिद्धतामात्रेणैवाश्रयतोपत्तेरसकृदुपपादितत्वात् । विशेषगुणविधुरत्वं तरणिस्पन्दसंसर्गोपनायकवृत्ति न भवति विशेषगुणशून्यमात्रवृत्तित्वात् मनस्त्व-

सावदाकाशात्मनोरन्यतरस्यैव हेतुत्व मन्तव्यं, लाघवादानुगतिलाभाच्च, तथाच व्यापकस्याप्येकसाधन-धकत्वे यत्राव्यापकत्व नास्ति तत्रासंबन्धकत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकव्याप्तिरशक्यसमर्थनेति नायमुपाधिरिति, तदि-
थम् प्रसक्तप्रतिषेधमन्यत्राप्रसङ्ग चोक्त्वा शिष्यभाषणे सप्रत्यय दर्शयिष्यन्परिशेषगुणसहरति—तत इत्यादिना । नच दिगेव सास्त्विति वचनीयम् । कालविप्रतिपत्तुर्दिश्यमि समानत्वात्, सिद्धत्वेपि तत्कृतपरत्वापरत्वव्यवहारदिस्तत्कृतस्य विलक्षणत्वादिति ।

एतन्निरासपरतया द्वितीयश्लोक योजयति—मैवमित्यादिना । पूर्ववाचनुशयमुन्मूलयति—नच विशेषगुणेति । न तावद्विशेषगुणवत्त्वातुपनायकत्वयोर्व्यभिचारे ऋत्विद्धाधकमस्ति, तस्मात्साधर्म्यसमेयम् । अथैवमपि न प्रतिबुध्यसे, तर्हि विशेषगुणराहित्यस्यानुपनायकत्वस्य चास्ति साहचर्यं मनसीति तावककालसाप्यनुपनायकतापात इति ग्याहतिभारं वहत्वय वावद्वक्त्वादिगर्भ इत्यभिसंधिराह—विशेषगुणवैधुर्येणेति । ननु न विशेषगुणविधुरत्वमनुपनायकत्वे प्रयोजक, किं तल्लव्यापकत्व, कालस्तु तद्विपरित इति, तत्राह—अव्यापकत्वेति । अत्रापि हि पूर्ववदव्यापकत्वनिस्त्रिणावनुपनायकत्वस्याकाशादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वादित्यर्थं । ननु यदिदमभिधीयते यदि विशेषगुणवतामेवेदमनुपनायकत्व तर्हि विशेषगुणरहितस्यादेव कालस्यापि मनोवदनुपनायकत्व स्यादिति प्रसङ्गन प्रसाधन वा कात्रमाधिकृत्य, तदयुक्त, कालसिद्धावसिद्धौ च तदनुपपत्तेरिति शङ्कित्वा परिहरति—न प्रतिवादीति । एतेनेदमपस्त यदाह स एव 'यदि गगनमात्मा वाग्यधमगान्यादवच्छिन्न्यात्कादमीरवर्तिना कुङ्कुमरागेण कर्णाटकचक्रवर्तिकरकमलमवच्छिन्नात् । नच कालेष्येव प्रसङ्ग । तस्यासिद्धावाध्रयासिद्धे, सिद्धौ वा परापरनियतधमापसन्नामस्त्वस्वभावेनैव सिद्धे रिति । देहात्मवादिवत्प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ दोषद्वयानास्कन्दनादिति । किंच कालमद्भौकृत्यापि स्वमाय एव शरण, तदीश्वरस्यैवात्त्वय स्वभाव इयातिरिक्तकल्पना । किंचोभयसप्रतिपन्नकिंचित्पक्षीकारेण कालपक्षीकारव्यतिरेकेणैव विशेषगुणशून्यस्योक्तधर्मानुपनायकत्वस्य शन्यानुमानत्वात्पुत्रतरोय दोष इत्याह—विशेषगुणेति । सत्तादौ व्यभिचारनिवारणाय मात्रग्रहणम् । अस्तिद्विपरिहाराय विशेषपदम् । ननु यावमौ परत्वापरत्वगुणावनुभूयेते एतयोस्तावदसमवायिकारणेन केनचिद्भवितव्यं, भावकार्यत्वात्, तत्र गुणकर्म वा स्यात्' तत्राप्यन्यगतत्वेन प्रत्यासत्त्यभावाच्च रविपरिस्पन्द, अव्यवस्थितत्वाच्च न रूपादि । नाप्येकत्वदिद्वित्वादि, वैपम्यादि । नच कारणनिष्ठपरत्वादि, अपेक्षाशुद्धिजन्यत्वात्, तस्मात्कालविशेषपिण्डयो सयोगादसमवायिकारणात् समवायिकारणेण पिण्डेष्विमानुत्पद्येते, दिग्विशेषपिण्डसयोगाच्च दिक्कृतौ । यथा-
हुर्मोध्यकृत—'परेण कालप्रदेशेन सयोगात्परत्वमुत्पद्यते अपरेण कालप्रदेशेन सयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति,

घदिति कालवादिनं प्रति प्रकारान्तरेणापि निरुक्तिसंभवाच्च । नच परत्वापरत्वगुणासम्-
वायिकारणसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिः । परत्वापरत्वयोरेवासिद्धेः । नच परापरत्वव्य-
वहारानुपपत्त्या तत्सिद्धिः । प्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वैनैव तत्सिद्धेः ।
अन्यथा परत्वचन्मध्यमत्वस्यापि गुणान्तरस्य स्वीकारः स्यादिति भूपणभाषितद्रूपग्र-
सङ्गात् ।

नच तरणिपरिस्पन्दानां प्राचुर्यमल्पत्वं च न संख्याभेदो नापि परिमाणविशेषो नि-
र्गुणे कर्मण्यसंभवादिति वाच्यम् । भवन्मते परत्वापरत्वहेतुभूताया अपेक्षाबुद्धेर्यद्विषय-
निबन्धनं वैचित्र्यं तस्यैवास्माभिः प्रचुराल्पतरशब्देनाभिहापात् । अपेक्षाबुद्धेः स्वभा-
वभेदादेव वैचित्र्यव्यवहारहेतुत्वं न विषयभेदापेक्षयेति चेत् । नैवम् । परापरबुद्धयो-
रप्यन्तरेणैव विषयवैचित्र्यं स्वभावभेदादेव तथाविधव्यवहारहेतुत्वप्रसङ्गात् । तथा नीड-
पीतादिवुद्धीनामपीति तथागतानां त्वयैव दत्तः स्वहस्तः स्यात्तदेवं न कालसद्भावसिद्धिः ।

तस्मादेतयोरसमवायिकारणभूतसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिरिति, तत्राह—नच परत्वापरत्वेति । ननु
कथं परत्वापरत्वयोरसिद्धिः, यावता यद्विशिष्टे द्रव्ये परमपरमिति बुद्धौ जायेते ते परत्वे इति लक्षणप्रमाणयो-
र्भावात्, तत्राह—नच परेति । यस्य हि यदपेक्षया भूयोभित्तरणिपरिस्पन्दैरन्तरितं जन्म तत्तदपेक्षया
परं, यस्य च यदपेक्षया स्तोक्ततरणिपरिस्पन्दान्तरितं जन्म तत्तदपेक्षयाऽपरमिति व्यवहियते इत्युपाधि-
प्युपपत्त्याच्चातिरिक्तगुणकल्पिकेयमित्यर्थः । अत एव च पूर्वोत्पन्नत्वं परत्वं पश्चादुत्पन्नत्वमपरत्वमिति भाष-
वैशमते लीलावतीकारेण गृह्यणमुक्तं—‘पूर्वपश्चाद्भावस्य परापरातिरिक्तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वा’दिति, तदपि
परिद्धतम् । पूर्वापरयोरुपरोधैनातरणिपरिस्पन्दप्राचुर्याल्पत्वमात्रेणैव समर्थनादिति । अतथैवमेवाश्रयणीयम् ।
इतरथा मध्यमोयमिति व्यवहारान्मध्यमत्वमपि कश्चिद्गुणः स्यात् । नहि तत्रोक्तरीतिमन्तरेण शरणमित्याह—
अन्यथेति ।

लीलावतीकारस्तु संयोगाल्पत्वभूयस्त्वे विकल्प्य द्रव्यावभूव । तद्रीतिमत्राप्युद्भाव्य द्रव्यमिति—नच तर-
णीति । अवश्यं तावद्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुपपद्यते स्थविरमवधिं कृत्वा गूनि च ग्रि-
कृष्टा बुद्धिरुपपद्यते इत्यपेक्षाबुद्धितः परत्वादिष्वभयमभ्युपगच्छता परत्वापरत्वजनकबुद्धयोः परस्परं सिद्धे
वृत्त्यः । संच विषयगतप्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मव्यतिरेकेण दुर्निरूप्यतातो यादृशं प्राचुर्यामपुर्वं
तवाभिमतं तादृशमेव ममापीत्यर्थः । ननु न विषयविशेषकृतो बुद्धोर्विशेषः किंतु स्वरूपगामर्भ्यनिबन्धनः,
यथाह श्रीवह्नमः—‘अपेक्षाबुद्धेर्विषयवैचित्र्यमन्तरेणापि विचित्रकार्यजननरीत्येन विलक्षणकलत्रनिरर-
विरोधा’दिति । तदेतदुद्भाषयति—अपेक्षेति । एवंविधं स्वभाववैचित्र्यं परापरबुद्धोरेव कल्प्यतां, सापरादा-
वश्यकत्वाच्च यथा तदतिरिक्तबुद्धिकल्पनापीत्याह—मैवमिति । अतिप्रसङ्गदर्शनपूर्वकमपरादान्तप्रसङ्गं चाह
—तथानिलेति । तथागताः बौद्धाः । भवेतां वा यथातथा परत्वापरत्वे, तथापि तदसमवायिकारणसं-
योगाश्रयः परमेश्वर एव प्रागुपपादितरीत्या घटते इति यथा कालकलाना । नचातिप्रसङ्गः । कालकदेव पदार्थ-
विशेष एव तत्प्रवर्तकत्वात् । किंच परंपरात्मकस्यावयव संबन्धो भवत्येव, तस्मात् रविपरिस्पन्दविशेषतामा-
व्यतो ह्यसौ, स्वीहृतेपि काले न तत्संयोगमात्रापरत्वादिगुणोत्पत्तिविशेषात्, उपहितकालसंयोगापीनः प्र-
पाषिकाल्योत्पाधिपिण्डयोर्वा न साक्षात्संबन्धः । नच संयुक्तसंयोगसमवायात्मकः कथिरसंबन्धो भवत्ये-
भावामावान्तर्गततया शक्यनिरूपणः । तस्माद्यथा समवायाभाषयोः स्वभावादेव संबन्धन्यद्वारान्नकारणै-

१ भूतशब्दः स्वरूपाभेदः । २ परतो, इत्यत्र परत्वापरत्वे इति पाठो भवति । ३ स्वदभिनवयोः पूरासादरावरो-

धीकारादित्यर्थः ।

‘इन्द्रियानधिगम्यत्वान्नाध्यक्षं नानुमा दिशि । वणैरर्थान्तरत्वेन साध्यासिद्धिर्नि-
दर्शने’ ॥ ६२ ॥ एतेन दिगपि व्याख्याता । तस्या अप्यनध्यक्षत्वादलिङ्गत्वाच्च । ननु
पूर्वापरदक्षिणोत्तरादिदशप्रत्ययाः सन्ति तत्कथं लिङ्गाभाव इति चेत् । न । तेषां निरु-
पाधिदिगालम्बनत्वे सर्वत्र सर्वप्रत्ययप्रसङ्गात् । दिशां दशत्वप्रसङ्गे नवैव द्रव्याणीति
व्याघाताच्च । नचात्मत्वेन संप्रह्वद्विशांमपि दिक्त्वेन संप्रहाददोषः । शब्दलिङ्गानामपि
भिन्नतया तत्कारणाकाशस्याप्यानन्यप्रसङ्गात्, आकाशत्वेन संप्रहस्य तत्रापि तुल्यत्वात् ।
नच तथैवास्तु को दोष इति वाच्यम् । आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे परि-
भापिक्यस्तास्ताः संज्ञा आकाशं कालो दिगिति भाष्यविरोधात् ।

सुरशिखरिशिखरपरिभ्रमन्मार्तण्डमण्डलप्रथमसंयोगाद्युपाध्युपधाने तेनैव पूर्वादिप्र-

तरणिपरिस्पन्दानामेव स्वभावविशेषवशात् पिण्डेषु परत्वापरत्वव्यवहारजनकत्वमस्तु कृतमन्तरालेऽत्रागलस्त-
नायितकालरूपनयेति । एतेन परत्वापरत्वासमवायिसंयोगाश्रयो विभुः कालः, परापरस्यौगपवायी-
गपवादिप्रत्ययलिङ्गः कालः, निखं परत्वापरत्वासमवायिकारणीभूतसंयोगाश्रयो, द्रव्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियो-
गिजातिमत्स्वरहितः परत्वजनकसंयोगवान्काल, इत्यादीनि श्रीवल्लभप्रशस्तपादशिवादिसिद्धिमादिद्रव्यकल्पितका-
लक्षणान्यपि प्रतिज्ञितानि मन्तव्यानि, परत्वादिजनकसंयोगस्यात्मन्येवोपपादनेन विशेषणसिद्धेरिति ।

अनुमानानि तु समनन्तरमेव दिक्खण्डने पुरा निरस्यन्ते । इदानीं दिशो निराकुर्वन्स्वर प्रमाणानि श्लोकेन
दूषयति—इन्द्रियेत्यादिना । न तावदध्यक्षं तत्र मानम् । पूर्ववदस्या अपीन्द्रियायोग्यत्वात् । नाप्यनु-
मानादिभिस्तत्सिद्धिः । तेषां सर्वगतवैर्गोसाधनेनाप्यर्थान्तरतापातात् । केपुचिद्गुणान्तेषु साध्यविरुद्धता, एतच्च
वक्ष्यमाणदूषणानामप्युपलक्षणम् । आदिप्रद्वेषेनान्यथानुपपत्तिराप्तवचनं गृह्यते । सावतारं श्लोकं विदुषोति
—एतेनेत्यादिना । ननु सन्ति पूर्वापरादिप्रत्ययाः प्रत्यात्मवेदनीयाः, नच तेषां मूर्तद्रव्यनिबन्धनत्वं, तेषाम-
सर्वत्रिकत्वादानुगतविचित्रव्यवहारानुपपादकत्वात्, पूर्वादिप्रतीत्यनुपपत्तेः । नच विभुद्रव्यान्तरनिबन्धनाः,
तेषामविचित्रतया विचित्रव्यवहारानुपपत्तेः । ततस्तेभ्योतिरिक्तं किञ्चिदेवामालम्बनं दिगमिधानं कल्पयामिति
शङ्कते—ननु पूर्वेति । तत्र किं निरुपाधिका दिगेपामालम्बनं किंवा तत्तदुपाध्युपहिता । अनौपाधिकगक्षे-
प्येकानेका वा । आद्ये पूर्वादिदिशां व्यवस्था न स्यात्, अविचित्रविषयत्वादित्याह—न तेषामिति ।
अथ पूर्वादिप्रत्ययविषयासंकरांय विभिन्ना दिशः कल्पेरस्तत्राह—दिशामिति । यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्
—‘अनेकत्वेपि तत्कियोपनायकः कालः, संयोगोपनायिका दिक्, नच नवैवेति विरोधः, आत्मनामानन्त्येव्या-
त्मत्ववदविरोधादिति । तत्र कालसंप्रहोपाधिः पुरस्तादेव निरस्तः । दिग्प्रसङ्गोपाधिमपि पुरा निराकरोति ।
अत्राप्युपागम्याद्युपाधिमेवं संप्रहेतिप्रसक्तिमाह—नचात्मत्वेनेति । यदिहि पूर्वादिप्रत्ययवैलक्षण्येन दिग्मे-
दकल्पनं तर्हि तारतरत्वादिरूपेण शब्दलिङ्गानामपि भिन्नतया गगनमपि किं विभिन्नं न स्वीक्रियते, शक्यते
हि तत्राप्युपाधिपुरोधानेन नचलत्वाकोपपरिहार इत्याह—शब्दलिङ्गानामपिति । गुडजिह्विकायामेव
विश्वसन्तं डिम्भकं प्रत्याह—न च तथैवेति । भाष्यं प्रशस्तपादीयम् । तथा काललिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धं,
दिगलिङ्गाविशेषादसैकत्वेपीति च तत्र तत्र भाष्यमुदाहरणीयम् ।

एवमनौपाधिकपक्षं दूषयित्वाोपाधिकपक्षमाशङ्क्य तत्राप्युपाधेर्निष्फलत्वं इत्येतदतिदिशति—सुरशि-
खरीति । सुरशिखरी मेरुपर्वतः । तथाहि दिगलिङ्गाविशेषात् दिशः एकत्वेपि दिशः परमर्षिभिः श्रुतिस्मृ-
तिलोकसंबन्धव्यवहारार्थं मेरुप्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्गं संयोगोक्तेषां संयोगानां लोकपालपरिगृही-
तदिक्प्रदेशानामन्वयार्थाः प्राच्यादिभेदेन दशविधसंज्ञाः कृता इति भाष्यात्सन्निव दशोपाध्ययः प्रागद्यनमवागद्यनं
प्रत्यगद्यनमुदगद्यनमिति मेवंपेक्षया संति चलार उपाध्ययः, तथा तदन्तरालाधलारः, तथा नक्षत्रलोकाद्य-
पेक्षयामिमुख्यं पृथिव्यादेः पृथिव्याद्यपेक्षयामिमुख्यं नक्षत्रलोकादेरिति द्वायुपाधी । तदेतैर्दशभिर्दिशो दशत्वं

त्ययानामन्यथासिद्धत्वात् । उपहितदिगालम्बनत्वे च परस्परश्रयत्वात् । पूर्वादिप्रत्ययबलादुपाध्युपहितदिविसिद्धिः । तत्सिद्धौ च तदालम्बनपूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धिरिति । लिङ्गान्तरेण तत्सिद्धौ पूर्वापरादिप्रत्ययवैयर्थ्यात् । उपाधीनामादित्यादिगतत्वात् पूर्वापरप्रत्ययालम्बनवस्तुभिः स्वरूपतः प्रत्यासत्तिशून्यानां संबन्धापादकवस्तुवन्तरस्य स्वीकारे दिक्सिद्धिरिति चेत् । न । त्वदभिमतकालेनैव तदुपपत्तेः ।

नच कालकृतपरत्वापरत्ववैलक्षण्यादस्य दिक्कृतत्वम् । दिक्कल्पनामन्तरेणैव व्यवहर्तुः स्वेन संयुक्तपृथिव्यादिभिर्हस्तदण्डादिसंयोगानामल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामेव विशिष्टपराप-

न स्वभावत इति यद्यभिमत तर्हि तैरेकोपाधिभिः पूर्वापरादिप्रत्यया पदार्थेषूपपद्यन्ता कृतमन्तरा दिशेत्यर्थः । किञ्चौपाधिकत्वेत्येतेषां प्रत्ययानां किं दिङ्मात्रविषय उपाधिमात्र वा उपहितदिग्वा । नाथ । विचित्रत्वात् । नोत्तरः । दिग्वैयर्थ्यात् । तृतीये दूषणमाह—उपहितेति । परस्परश्रय विवृणोति—पूर्वापरेति । अयमर्थः—तत्र किं पूर्वापरादिविबुद्धय एव दिक्षु लिङ्गमन्यद्वा, द्वितीये चक्षयति । प्रथमे तु ज्ञायमानतया तासां लिङ्गत्व, तत्रापि न रूपादिवुद्धिमिरिव चक्षुरादेरेताभिर्दिशामनुमान, तथासति दिग्निवयत्नाभावप्रसङ्गात् । तथाच दिग्निवययाभिरैताभिरवगताभिर्दिशामनुमाने विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानात् दिग्बुद्धिमिति दिग्ज्ञाने च विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञान, नहि तद्विषयज्ञानव्यतिरेकेण तद्विशिष्टबुद्धि शक्यज्ञाने तीतरेतराश्रयत्वमिति । दिग्ज्ञानाच्च दिग्ज्ञानमित्येतदपि कौतुकान्तरम् । यत्तु यक्षयतीयुक्त, तदाह—लिङ्गान्तरेति । यत्तुपाधिमादायान्यथासिद्धिरुक्ता ता परिहरति पूर्वावादी—उपाधीनामिति । तथाहि—पूर्वादिबुद्धयस्तावन्न दिङ्मात्रविषया, किं त्विदं पूर्वमिदमपरमिति घटादिवस्तुविषया, तत्रापि न तत्स्वरूपमात्रविषया, घटस्वरूपव्यतिरेकेष्यस्य पटादिष्वपि विद्यमानत्वात्, घटस्वरूप एव च पूर्वादिविचित्रव्यवहारोपपत्तेश्च । तस्मात्पदार्थान्तरविशिष्टघटादिस्वरूपनिबन्धना । विशेषणानि च मेरुप्रदेशे सहस्ररिमिप्रथमस्यो गादय । नच ते घटादिषु समययन्ति आदित्यमेरुनिष्ठत्वात्, ततस्तेषां घटादिषूपसकामक कथिदेष्टव्यं, सबनमूर्तवर्गं, तस्योभयत्राननुसन्तानत्वादाकाशात्मानौ ध्वतिप्रसन्नौ विशेषगुणवन्तौ च, तस्मात्प्रापक सूर्यभूमेदराजप्रदेशसंयोगभेदानां स्वसंयुक्तसमवेतानां स्वसंयुक्तवस्थन्तरे सकामक, तस्य च दिगिति संज्ञा, कालसक्रियासकामकत्वात्, सा चेतरेभ्यो भिद्यते एवविधसंयोगसकामकत्वात् न यदेव न तदेव यथा पृथिव्यादीति तत्सिद्धिरित्यर्थः । दूषयति—न त्वदभिमतैति । शक्यमत्रापि कालोन्मूलनवदाकाशात्मानौ ध्वतिप्रसन्नौ विशेषगुणवत्त्वं च तत्रैव कृतसमाधानम्, अथापि भवतु नाम भवत धरात्सारणे विशेषगुणरहितमेव व्यापक किञ्चित्, तथापि त्वत्कल्पितकालत एव तस्मिन्नेव तद्विलक्षणवस्तुत्वैव ।

ननु कालकृतपरापरात्वादिलक्षणे परत्वापरत्वे तावदनुभूयेत, अस्ति हि नित्येष्वपि परमाणुषु दिक्कृतत्वापरत्वव्यवहारः । अनित्येष्वपि, कालतत्त्वनित्येष्वेव, तथा कालतोऽपरेषु दिक्कृतपरत्वकालत परे च दिक्कृतमपरत्वमतस्तदसमवायिकारणसंयोगस्य विलक्षणस्याश्रयतया दिक्सिद्धिरिति शङ्कित्वा परिहरति—नच कालकृतैति । नाथ व्यवहार परत्वापरत्वकल्पक, किं तर्हि यदर्धस्य यदपेक्षया प्रमातु संयुक्तसंयोगबाहुल्य तत्तत् पर यस्य तु यदपेक्षया प्रमातु संयुक्तसंयोगात्परत्व तत्ततोऽपरमिति तावामेवायथासिद्धत्वादित्याह—दिक्कल्पनामिति । हस्तदण्डादीति । व्यवहर्तुर्नैवदत्तस्य संयुक्तपृथिव्यादिनापि हस्तदण्डादिसंयोगाद्दशहस्तेन दण्डेन दशदण्डो निवर्तनमित्यादिशालोक्तपरिमाणज्ञापकास्तेषां संयुक्तपृथिव्यादिनापि हस्तदण्डवस्तुभूयस्त्वाभ्यामित्यर्थः । यत्तु किरणावलीकारेणैवमाशङ्क्योक्तं 'न तैरेवत्या, प्रमातृरपि परमाणुप्रसङ्गात्, संयोगबाहुल्यादेरविशेषात्, भवति हि यावत्त्वपि मतो याराणसी तावति याराणसा अहमपि,

रव्यवहारोपपत्तेः । नचाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोः संख्यारूपगुणत्वे परिमाणविशेषत्वे च सं-
योगालयगुणाधिकरणत्वासंभवादनुपपत्तिः । भवदभिमतपरत्वापरत्वजनकसन्निकृष्टविप्र-
कृष्टलक्षणापेक्षानुद्धिविषयसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोरपि तुल्यत्वात् ।

यच्च दिक्कालयोः प्रसाधनाय प्रमाणमुक्तं लीलावतीकारेण—‘महत्परिमाणसामान्यं वि-
शेषगुणशून्यद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्ति परिमाणतारतम्यविश्रान्तिविषयनिष्ठजातित्वाद-
णुत्ववत् । अस्ति हि विशेषगुणशून्यानेकमनोगतानेकाणुपरिमाणनिष्ठताणुत्वजातेः, तथा
विवादाध्यासितानि मूर्तद्रव्याणि युगपद्विशेषगुणशून्यानेकद्रव्यसंसर्गाणि द्रव्यतजादात्मव-
दिति, तदयुक्तम् । अन्तरेणापि दिक्कालौ व्यापकपश्चाद्वर्णद्रव्यप्रसाधनेनार्थान्तरत्वात् ।
वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च, मनसो विशेषगुणशून्यत्वे हि तद्गताणु-

नेतु सा किञ्चिदपेक्ष्य मतः परापरे तिवदहमपि तस्या. परोऽपरोवे’ति । तदसत् । परत्वापरत्वोत्पत्तावप्यस्य
प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । तथाहि—सयोगालरत्वबहुत्वे पिण्डवत्प्रमातर्यपि समाने इति किमिति तैयो’ प्रमात-
र्यतुत्पत्तिः पिण्ड एव वा किमित्युत्पत्ति । अथ ब्रूयात्कारणशक्तिनियमादेव नियमोपपत्ति, भेर्याकाशसयो-
गसोभयाश्रयत्वाविशेषेपि नभस्येव शब्दो न भेर्यामिति वदिति सयुक्तसयोगाल्पत्वबहुलाविशेषेपि प्रमेय एव
परत्वापरत्वे न प्रमातरिती सर्वमुपपन्नमिति । तदप्यसत् । यदि सयुक्तसयोगाल्पत्वबहुत्वविशेषावच्छिन्नसं-
योगाधिकरणत्वेन प्रतिबन्धीयते तत्र परापारत्वव्यवहार, न प्रमातरि, तस्य तथाप्रतिबन्धीयमानत्वाभावात्,
यदातु सोपि तदधिकरणत्वेनानुसन्धीयते तदा भवत्येव तत्रापि तद्व्यवहारः धाराणसीत. परोहैमिति । यस्तु
लीलावतीकारेणोक्तं—‘किं पुन सयोगस्य भूयस्त्वमल्पत्वं चे’त्यादि तदन्य निषेधति—नचाल्पीय-
स्त्वेति । भवतापि ष्यपेक्षावृद्धिवैषम्यात्तज्जन्मयोरनयोर्वैषम्यमभ्युपेयते, वृद्धिवैषम्यं च संयुक्तसयोगबहुला-
ल्पलक्षणविषयवैषम्यात् । अत्रापि विप्रतिपत्तायुक्तमुत्तरं कालवण्डने, तस्मात्तद्विकल्पसन्निकारणं च
जात्युत्तरमित्यर्थः ।

एवं चिरंतनप्रमाणं दूषितमिदानीमाधुनिकोच्चीतं दिक्कालसाधकानुमानजातमनूय निराकरोति—यच्चे-
ति । अणुवे सिद्धसाधनतावारणाय महत्परिमाणसामान्यमित्युक्तम् । विशेषगुणशून्य यद्ब्रुवं तदधिकरणा
यानेकव्यक्तिमहत्परिमाणानि तद्वृत्तौत्यर्थः । द्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तौत्युक्ते गगनात्मघटादिदृश्यनेकमह-
त्परिमाणनिष्ठतासाधनेनार्थान्तरता स्यात् तदर्थं विशेषगुणशून्येत्युक्तम् । अनेकव्यक्तिप्रद्वेनेन च तदधिकर-
णविशेषगुणशून्यद्रव्यानेकत्वसिद्धौ कालविशो. सिद्धि । परिमाणवृत्तित्वेन सिद्धसाधनतानिदृश्यै द्रव्याधिकर-
णपदम् । घटलादिनिदृश्यै विश्रान्त्यादिविशेषणम् । ज्ञानलादिनिदृश्यै परिमाणेति । दृष्टान्ते साध्यप्रसिद्धि
दर्शयति—अस्ति हीति । विवादाध्यासितेति । शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमूर्तद्रव्याणीत्यर्थः । द्रव्यस-
र्गाणि इत्युक्ते गगनससर्गितयार्थान्तरता तदर्थमनेकद्रव्येत्युक्तम् । तथापि घटादिससर्गितयार्थान्तरता तदर्थं
विशेषगुणशून्येत्युक्तम् । तथापि कममुक्तससर्गितयार्थान्तरता तदर्थं युगपदित्युक्तम् । तेषा क्रमेणैवमुच्यमा-
नाना युगपद्विशेषगुणशून्यताभावात्, युगपत्ससर्गाणीति वा साध्यम् । तदा लोकान्तर प्रतिष्ठमानैर्मनोभिः क्र-
मेण सव्यमानप्रयिव्यादिना सिद्धसाधनतानिदृश्यै युगपदिति पदम् । बाधपरिहारार्थं विशेषपदम् । मनोभिः
ससर्गैण चात्मसु साध्यसिद्धिः । एतद्रूपपरतया वर्णैरर्थान्तरत्वेनेत्येतदवतारयति—तदयुक्तमित्या-
दिना । अधिगतमिदमपौरुषेयवादे यद्दर्शानां नित्यत्वं विभुत्वं च । नच तेषां विशेषगुणा सन्ति । नादा-
नामन्यधर्मलादन्यस्य चाभावादतत्तद्वृत्तित्तासाधनेनापि विश्रान्तेरर्थान्तरता प्रथमे । द्वितीयेपि तत्ससर्गसा-
धनेनार्थान्तरतेत्यर्थः । उभयोरपि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यामाद्—वेदान्तिनं प्रतीति । तदेव विदुषोति—

१ ननु इत्यस्य अहमपीत्यसामि परोऽपरोवेत्यनेन सन्धः । २ परत्वापरत्वयोरित्यर्थः । ३ तथाच कारण-
शक्तिस्तीकारे प्रमातरि परत्वव्यवहारो न स्यादिति भावः ।

त्वस्य विशेषगुणविधुरद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तित्वम्, आत्मनश्च युगपद्विशेषगुणद्रव्य-
द्रव्यसंसर्गित्वं च भवेत्तच्च वेदान्तिनं प्रत्यसिद्धं, मनसोपि विशेषगुणवत्त्वात् । नच तत्र
मानाभावः, मूर्तत्वस्यैव तत्त्वात् । नच विशेषगुणवत्त्वे द्रव्यारम्भकत्वमुपाधिः, घटादिध्व-
न्यावयवविषु व्यभिचारात् । नच द्रव्यारम्भकवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमत्त्वमुपाधिः ।
आत्माकाशयोर्व्यभिचारात् । नच बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् । भवदभिमतात्मनि व्य-
भिचारात् । न वा भूतात्मनोरन्यतरत्वमुपाधिः । वेदान्तिनं प्रति तमसि साध्याव्याप्तेः ।
'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिरित्येतत्सर्वं मन एवे'ति मनसो विशेषगु-
णवत्त्वश्रुतेश्च । नच कामादीनां निमित्तकारणत्वान्मनसस्तथात्वव्यपदेशः । मुख्ये वाय-
काभावात्, निमित्तनैमित्तिकत्वमात्रेण सामानाधिकरण्यश्रवणानुपपत्तेश्च । नहि भवति
कुलालो घट इति सामानाधिकरण्यम् ।

एतेन मानमनोहरप्रयोगोप्यपास्तः । विवादाध्यासितं कार्यं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां
जन्यते कार्यत्वाद्दन्तःकरणद्वयसंयोगवदिति । तत्रापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, वि-
वादाध्यासितं विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इति बहुवचनप्रक्षेपेणापि प्रयोगसंभवादतिरि-
क्तद्रव्यसाधकतयाऽऽभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च । नच दृष्टान्तासिद्धिः, अनेकान्तःकरणाधि-

मनस इति । मूर्तत्वस्येति । विप्रतिपन्नं विशेषगुणवन्मूर्तत्वात् घटवदित्यनुमानेन मनसो विशेषगुणत्वे-
द्विरित्यर्थः । अत्रोपाधिमाशङ्क्य निरस्यति—नचेति । विशेषगुणवत्स्वप्नन्त्यावयवविषु द्रव्यारम्भकत्वं नास्ति
तत्त्वव्याघातादतः साध्याव्यापकत्वादानुपाधिरित्यर्थः । उपाध्यन्तरं निरस्यति—नच द्रव्यारम्भकेति ।
द्रव्यारम्भकेषु वर्तमाना या द्रव्यत्वावान्तरजातिस्तद्वत्त्वम् । नच मनोगतमनस्त्वजातिर्द्रव्यारम्भकवृत्तिरिति
न साधनव्याप्तिः, नाप्यन्यावयवविषु साध्याव्याप्तिः । पृथिवीत्वसोफरूपस्य तत्रापि भावादिति भावः ।
तथापि साध्याव्याप्तिः, आकाशे विशेषगुणवत्त्वेपि द्रव्यत्वावान्तरजातेरभावात्, आत्मनि तु विशेषगुणवत्त्वे
तत्त्वत्त्वेपि द्रव्यारम्भकवृत्तित्वाभावादित्याह—आत्मेति । उपाध्यन्तरं दूषयति—नचेति । अस्ति च तत्र
गगनेपीति भावः । तथापि भवन्मते विशेषगुणवत्त्वेन स्वीकृतात्मनि साध्याव्याप्तिः, तद्गुणानां मानसप्रच-
क्षत्वादित्याह—भवदिति । अस्तु तर्हि भूतात्मनोरन्यतरत्वं तथाचाकाशात्मनोरपि तदस्त्ववेति, तत्राह—
न वा भूतेति । उपपादितं सत्त्वेतत्तमोवादे यद्विशेषगुणवत्ता तमसोस्तीति, अतः साध्यवत्त्वेपि तस्मिन्
भूतात्मनोरन्यतरत्वमिति साध्याव्याप्तिरित्यर्थः । अत्र श्रुतिमपि प्रमाणयन् विशेषगुणानपि तरीयानिदृष्टत्वे—
काम इति । ननु कामादि मन एवेत्यत्र न गुणगुणिभावेन शुद्धो घट इतिवत्सामानाधिकरण्यं विवक्षितं, किं
तर्ह्येतद्गुणानामेव सतां निमित्तकारणत्वात्तत्प्रयुक्तमिति, तत्राह—नच कामादीनामिति । न तावदिति-
त्तकारणकार्ययोः कुलालो घट इति सामानाधिकरण्यं दृष्टचरम् । अथापि तत्त्वमादिना कल्पेत, यदि मुद्गरे
बाधकं स्यात्तत्वेतदस्तीत्यर्थः ।

एवं धीवह्मभानुमानं निरस्य मानमनोहरीयमनुमानं दूषयति—एतेनेति । अत्र पटादिः पञ्च, मुद्गरः-
द्वयेनार्थान्तरतानिदृश्यर्थं विशेषगुणद्रव्यप्रहणम् । अदृष्टेश्वरेच्छादिनिरर्थान्तरताव्याप्यत्वे द्वयप्रहणम् । एने-
नेत्येतद्विरुद्धोक्ति—तत्रापीति । किञ्चानयेव रीत्या विशेषगुणरहितं दशममपि तावत्सत्तापनमित्याभावस-
मानयोगक्षेममित्याह—विवादेति । ननु विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इत्यत्र नास्ति दृष्टान्तः, नहि बहुभिर-
न्तःकरणैरेकः संयोगो जन्यत इति वैषम्यमुक्तं तेनैवेति, तत्राह—नच दृष्टान्तेति । अनेकान्तःकरण-

करणापेक्षाबुद्धिजन्यबहुत्वस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तेः, विवादाध्यासितं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां न जन्यतेन्तःकरणाकार्यत्वादाकाशवदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । नचाकार्यत्वमुपाधिः । वेदान्तवादिभिराकाशस्यापि कार्यताङ्गीकारात् । तदेवं कालानिरूपणात् तत्कृतः पूर्वापरीभावः कार्यकारणभावः । भेदाभेदविकल्पानुपपत्तेश्च । तथाह्यत्यन्तभिन्नयोरश्वमहिपयोरिव नोपादानोपादेयभावः, तथात्यन्ताभेदेपि, पूर्वसिद्धस्योपादानत्वादसिद्धस्य चोपादेयत्वात् एकत्र युगपत्सिद्धत्वासिद्धत्वविरोधादेव तदनुपपत्तेः । अस्तु तर्हि भिन्नाभिन्नयोः कार्यकारणभावः, अत्यन्ताभेदे भेदे च तदनुपपत्तेर्दर्शितत्वात्, सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च, नहि भवति घटः पट इति सामानाधिकरण्यम् । नापि घटो घट इति ।

दृश्यते च मृद्वटः शुद्धः पटः गौः शाबलेय इति सामानाधिकरण्यं ततो भेदाभेदसिद्धिरिति चेन्न । 'भेदेप्ययुतसिद्धत्वादुपादानत्वसम्भवात् । तस्यापि दुर्निरूपत्वात्समवाया-

धिकरणमपेक्षामुद्धिजन्य च यद्बहुत्व तस्य दृष्टान्ततोपपत्तेरित्यर्थं । नच निमित्तकारणेति विशेषणेन निस्तार, तदनुमाने साध्यवैकल्यापातात् । सत्प्रतिपक्षता चाह—विवादाध्यासितमिति । अत्रापि तेनोक्तमकार्यत्वमुपाधिरिति दूषयति—नचाकार्यत्वमिति । परत्वापरत्वखण्डनेन च परमाणुपरत्वजनकसयोगाश्रयो दिगित्यादीनि तन्मुखेन शिवादित्यमिश्रोक्तानि दिग्लक्षणानि खण्डितान्येव । एव कालखण्डनप्रस्तावेन दिक् खण्डिता, कालखण्डनस्य तु कारणखण्डनोपयोगमाह—तदेवमिति । अथ किमिति पृथिव्यादीनि न खण्डितानि । न । खण्डितत्वात् । तथाहि गन्धवती पृथिवीत्यादीनि गुणद्वारा यानि लक्षणानि तानि गुणबहुत्वमितिबदव्याप्त्या खण्डितप्रायाणि, पृथिवीत्वादिजातिखण्डनेन तत्प्रमाणदूषणेन च गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमती पृथिवी, देहसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमदुदकमित्यादीनि जातिपुरस्कारेण शिवादित्यमिश्रप्रभृतिभिरुपेक्षितान्यपि निरस्तानि । शब्दस्य च विभुत्वनिव्यत्वसाधनात् तदधिकरणतयाकाशानिरुक्तिः । सुखादीनां च साक्षिवेद्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुखादिप्रादुर्गमिन्द्रिय मन इति मनोलक्षणासिद्धिः । धानरूपत्वसमर्पनात्सुरादीनामन्त करणगुणत्वात्प्रज्ञानाद्याधार आत्मेत्यात्मलक्षणानिरुक्तिरिति खण्डितान्येव नवापि द्रव्याणि । इदानीं कार्यकारणभावं प्रकारान्तरेण दूषयति—भेदाभेदेति । भिन्नयोरपि कलशकुललयोः कार्यकारणभावोस्तीत्यन्त उक्त—नोपादानेति । नचात्यन्तभिन्नयोरपि समवायवशादुपादानोपादेयभाव इति वाच्यम् । समवायोभावयोरत्यन्तभेदे किमिति मृद्वटयोरेव तमापादयति नाश्वमहिपयोरित्यत्र निरुत्तरत्वात् । स्वभाववशादिति चेत्, प्रमाणमन्वेपणीयम्, अन्यथानुपपत्तिरिति चेदन्वयैवोपपत्तेः । अत्यन्ताभेदपक्षेपि विरुद्धधर्माध्यासादसम्भवाह—तथेति । उभयानुपपत्तिं समाधिसुभेदानेदवादी शङ्कते—शस्तु तर्हीति । इत्थं भेदाभेद कार्यकारणानामित्याह—सामानाधिकरण्येति । नन्वत्यन्तभेदेपि किमिति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्त्राह—नहीति । नच भेदेप्याधाराधेयभावानुपपद्येते इति वचनीयम् । वृण्व दधीत्यपि प्रसङ्गात् । अभेददर्शनमाह—नापि घटो घट इतीति ।

एव भेदेऽभेदेप्यनुपपत्तमानसामानाधिकरण्यस्य कार्यकारणगुणगुणजातिव्यक्तित्थलेषु सद्भाव दर्शयस्तदुपपादकभेदाभेदानयति—दृश्यतेचेति । उपलक्षणं चैतद्विमिश्रस्वरूपाशाशित्वयोरपि । अत्र किं कार्यकारणभावमात्रं भेदाभेदगमकमुपादानोपादेयभावो वा । नाथ । सलिलादे कलशस्य तत्प्रवृत्तात् । तथात्वे वा ध्यैविशेषणत्वात् । न द्वितीयं । अत्यन्तभेदेपि तत्सम्भवादिति दूषयति सिद्धान्ती—भेदेपीति श्लोकेन । अत्यन्तभेदेप्ययुतसिद्धत्वमादाद्योपादानोपादेयभावसम्भवात् उपादानत्वस्य च दुर्निरूपत्वात्त

द्यसंगतेः ॥ ६३ ॥' अन्तरेणापि भेदाभेदौ जन्यजनकयोरयुतसिद्धतयैवोपादानोपादेययो-
पपत्तेः, भेदाभेदवादिनाप्ययुतसिद्धतायास्तन्नियामकत्वेनावश्याभ्युपेयत्वात् । नहि यत्रैव का-
र्यकारणभावस्तत्रैव भेदाभेदाविति शक्यं कल्पयितुम् । अतश्चावश्याभ्युपेयैवायुतसिद्धि-
रिति तत एवार्थापत्तेरन्यथासिद्धिः ।

नचान्तरेण भेदाभेदावयुतसिद्धिरेव न सिद्धंतीति वाच्यम् । अत्यन्तभिन्योरप्या-
त्माकाशयोर्भौट्टैरपीष्टत्वात्, उपादानोपादेयभावानिरूपणाच्च । तर्कि, समवायित्वे सति
कारणत्वम् १ उत कार्याधारत्वम् २ जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वं वा ३ द्रव्यत्वविशे-
षितं वा ४ आहोस्वित्कार्याकारेण परिणतत्वम् ५ अथवा कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वम् ६ । नायम् ।
समवायस्यानङ्गीकरणान्निराकृतत्वाच्च । न द्वितीयः । कुण्डबदरयोरुपाधाराधेयभावेऽपि
तददर्शनान् । स्वजन्याधारत्वं तदिति चेत् । न । स्वजन्यघटाद्याधारे कुलालादावतिव्याप्तेः,
आधारानिरुक्तेश्च । न तावदिहेति प्रत्ययविपयत्वं, तत्रेति प्रत्ययाव्याप्तिः । नापि समवा-

हेतु—समवायाद्यसंगतेरिति । आदिशब्देन वक्ष्यमाणविकल्पदूषणानि स्पष्टयन्ते । समवायित्वे सति
कारणत्वमित्यादिप्रकार हि तत् । तच्च न सम्भवति, समवायाद्यसंगतेरिति श्लोकार्थं । विवृणोति—अन्तरे-
णापीत्यादिना । अयुतसिद्धत्वेपि जातिव्यक्त्यादेर्नोपादानोपादेयभाव इत्यत उक्त—जन्यजनकयो-
रिति । नन्वयुतसिद्धिरेवास्माकमसिद्धा, समवायानङ्गीकारात्स्वरूपेण दुर्निरूपत्वाच्चेति, तत्राह—भेदाभे-
देति । दुर्निरूपत्वादिति तावदात्मानं विस्मृत्यामिहित, किं वा भवन्मते सुनिरूप, समवायस्तु यद्यपि नाङ्गी-
क्रियते तथापि भेदाभेदनियामकतयाऽयुतसिद्धिराश्रयणीया, इतरथा अनयोरेव गान्ययोरिति नियमाभावात्-
तादिस्यर्थं । ननु कार्यकारणभाव एव नियामकोस्तु किमयुतसिद्धोति, तत्राह—नहि यत्रेवेति । नित्ययो-
रप्यात्मात्मत्वयोर्भेदाभेदाङ्गीकारादिति भावः ।

तत्रायुतसिद्धलसिद्धयर्थमेव भेदाभेदोस्तु, तत्राह—नचेति । भौट्टैरिति । जातिव्यक्तिकार्यकारणगुण-
गिविद्विष्टस्वरूपाशाशिरूपपक्षसु स्थलेषु हि तैर्भेदाभेदोऽङ्गीक्रियते, न सर्वत्र । न चैतेषामन्यतमलमाकाशा-
त्मनोरथ चायुतसिद्धिरस्ति, नित्यत्वेन स्वगतत्वेन च पृथगाश्रयाभितलपृथग्गतिमत्त्वलक्षणद्विविधयुतलक्ष-
रभावादिस्यर्थं । तस्यापि दुर्निरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—उपादानेति । निमित्तकारणसमवायिनोर्भेदवच्छे-
दार्थं समवायित्वे सतीत्युक्तम् । आधारत्व जाल्यपेक्षयाप्यस्ति नच ता प्रत्युपादानत्वमित्यत उक्तं—कार्या-
धारत्वमिति । जन्येनेत्यस्यापीदमेव प्रयोजनम् । जन्येन घटेनायुतसिद्धत्वं घटादेरप्यस्ति नच तदुपादानमि-
त्यत उक्तं—जनकत्वमिति । कुलालादिनिर्गट्टैर्ये जन्यग्रहणम् । शान्तेच्छादीनामपि परस्परमिदमस्तीति तत्प-
च्छेदाय विशेषण क्षिपति—द्रव्यत्वेति । सांख्यमतावलम्बनेन पञ्चम । कार्यलक्षणो विभ्रम तदर्थ-
नाय चेति वेदान्तिमतावलम्बनेन षष्ठ पक्ष । समवायस्येति । य खलु कार्यकारणयोर्भेदाभेदवच्छे-
भाट्टत्वेन समवायो नाङ्गीक्रियतेऽतस्तद्विशेषितलक्षणं तस्यासिद्धमित्यर्थं । नैयायिक प्रत्याह—निराकृत-
त्वादिति । कार्याधारत्वमुपादानत्वमित्यसिद्धत्वात्, बदरकार्यं प्रत्याधारेपि कुण्डे तदुपादानत्वादर्शनारित्य-
—कुण्डबदरयोरिति । ननु न कार्याधारत्वमात्रं लक्षणं, किंतु स्वकार्यं प्रत्याधारत्व, न बदरानां कुण्डकार्य-
त्वमित्यभिप्रेत्याशङ्कते—स्वजन्येति । तथाप्यतिव्याप्ति, घटोदयुग्मस्य स्वजन्यद्वयमाधारत्वेपि कुण्डो-
पादानत्वाभावादित्याह—न स्वजन्यघटेति । ननिवह गवि गोत्वमिह घटे शीघ्रपक्षेऽपि घटे घट-
समवायाश्रय एवाधारत्वमिहोपेयं तु गौण आधारशब्दप्रयोग इति, तत्राह—नापि समवायित्वमिति ।

यित्वम् । शशे विपाणाभावः कुण्डे बदरमित्यादावव्याप्तेः । नापि संयोगित्वम् । गुणादौ तदसम्भवात् । संयोगिनोरुभयोरन्योन्याधारत्वप्रसङ्गाच्च । नापि पतनप्रतिबन्धकत्वम् । गुणादावव्याप्तेः । अत एव नाधेयापेक्षया महत्परिमाणवत्त्वमपि, करतलनिहितमहत्तर-
तूलपिण्डादावसंभवाच्च । नापि तृतीयः । ज्ञानेच्छादीनां परस्परोपादानत्वप्रसङ्गात् । अस्ति हि तत्र जर्नकस्य ज्ञानजन्येनेच्छादिनाऽयुतसिद्धत्वम्, आरम्भैकाश्रयतया पृथगाश्र-
यित्वलक्षणयुतसिद्ध्यभावात् । नापि चतुर्थः । द्ययविशेष्यत्वापत्तेः । नहि द्रव्यमुपादा-
नमित्यभिहितेऽस्ति क्वचिदतिप्रसङ्गः, येन जन्येनायुतसिद्धत्वमिति पदान्तरमुपादीयेत ।
नापि पञ्चमः । निरवयवेष्व्वात्माकाशादिष्वव्याप्तेः । नह्यात्माकाशं वा ज्ञानेच्छादिरूपेण
शब्दरूपेण वा परिणमते । कात्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वात् । तन्त्वादीनामपि पटाद्याकारेण
गुणकर्माद्याकारेण वा परिणामादर्शनात् नहि द्रव्यं गुणः कर्म वा भवति, तदाश्रय-

नच तत्र गौणता, वैपरीत्यस्यापि संभवादिति भावः । अस्तु तर्हि संयोगित्वं, तथाच कुण्डे बदरमित्यादिसृ-
हीतमिति, तत्राह—नापि संयोगित्वमिति । न केवलमव्याप्तिरितिव्याप्तिश्चत्वाह—संयोगिनोरिति ।
यदि हि संयोगित्वमात्रमाधारार्थं तदा तदुभयोरपि समानमिति घटे भूतल बदरे कुण्डमित्यपि स्यात् नचै-
वमस्तीत्यर्थः । श्रीवह्नमीयमाधारत्वं दूषयति—नापि पतनेति । नहि निर्गुणाना निष्क्रियाणा च गुणा-
दीनां पतनमस्ति येन तदाधारता द्रव्यस्य स्यात् । गुणादेश्च गुणत्वाद्याधारता च न स्यादिति भावः । अत
एवेति । गुणादावसंभवादेव । यदि हि गुणस्य गुणत्वादेर्वा परिमाणवत्त्वं स्यात् तर्हेव तदपेक्षया तदाधारत्-
व्यादेर्महत्परिमाणवत्त्वं स्यात् नत्वेतदस्तीत्यर्थः । अव्याप्त्यन्तरं चाह—करतलेति । एव कार्याधारत्व-
मिति पक्षं दूषयित्वा जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । ज्ञाने-
च्छादौ लक्षणं वर्तयति—अस्तिहीति । द्रव्यत्वविशेषितं वेति पक्षं दूषयति—नापि चतुर्थं इति ।
कार्याकारेण परिणतत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि पञ्चम इति । अथ किमित्यात्मा ज्ञानादिरूपेण आका-
शाश्च शब्दरूपेण न परिणमते इति, तत्राह—कात्स्न्यैकदेशेति । अयमर्थः—किमाकाशं सर्वात्मना परि-
णमते एकदेशेन वा । नाद्यः । आकाशविनाशेनानित्यतापतात् । न विनाशस्तस्यैव शब्दत्वादिति चेत्, कि
कारणव्यापारवैयर्थ्यं समर्थयितुमध्यवसितोक्तिः । अभिव्यक्तौ सार्थक्यमिति चेत्, सत्यमस्तीय किंवन्ती
वापिलाना, तत्र लक्ष्मिभ्यक्तावपि किमुत्पादकतया कारणचक्रसार्थक्यमभिव्यञ्जकतया वा । आद्य घटकुटी-
प्रभातायितम् । द्वितीये स्तनवस्थेति न किञ्चिदेतत् । नचोत्पत्तिप्रतिबन्धी, अन्तर्हीकारात् । एकदेशपरिणामे
तु किमवयव एकदेश किं वान्यत् किञ्चित् । नाद्यः । निरवयवत्वात् । न द्वितीयः । अप्रसिद्धत्वात् । भवतु
वा यथातथा, तथापि किमेकदेश आकाशादभिन्नो भिन्नो वा । नाद्यः । पूर्वदोषात् । न द्वितीयः । आकाश-
स्यापरिणामात् । भिन्नानिन्नं तदिति चेत्सत्यं यदि विरोधो न स्यात्, विरुद्धं तु तत् । अथाविरुद्धौ कौचन
धर्मौ भेदाभेदाभिधानौ, रूपरसादिषु मध्ये कथो कथिन्नेदाभेदानामभिधीयते, तथापि पर्यनुयुक्तयो पक्षयो
क परिशुहीत स्यात् । नोभयमिति चेत्, तत्किमनवयवनीयं हन्, शब्दाकारेणाकाशो विवर्तत इति निरवयव
निर्वेद किमिति परिणाममापया दुर्भगया भास्करगोत्रामिसारिकया, एतेन परिणामपक्षं प्रत्याचक्षीत । तदेव
कात्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वादाकाशादीनां न परिणाम, अथच कारणप्रसिद्धिरस्ति शब्दादिप्रतीत्यव्याप्ति-
रित्यर्थः । न केवलं निरवयवेषु परिणामानुपपत्तिं, सावयवेष्वपीत्याह—तन्त्वादीनामपीति । तत्रापि
हि कात्स्न्यैकदेशे तन्तुविनाशाजिह्वादानरूपं पटं स्यात् । स्यादेकदेशपक्षेपि भेदाभेदविकल्पकल्पात्तत्वात्तनि-
र्मुल्लोन्मूलनमिति भावः । आश्रयाश्रितप्रतीतिविरोधेत्याह—नहि द्रव्यमिति । द्रव्यं यत्तन्त्वादि तद्गुण

त्वात् । नापि पष्ठः । प्रपञ्चसत्यत्ववादिभिरनङ्गीकारात् । तदेवमुपादानोपादेयभावानि-
रूपणान्न तदन्यथानुपपत्त्या भेदाभेदसिद्धिः ।

नापि सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किं शाब्दस्य सामा-
नाधिकरण्यस्यानुपपत्तिरुक्तार्थिकस्य । नोभयथापि 'युक्तेः शब्दनिमित्तानामेकाधिकरण-
त्वतः । शाब्दं न तावद्धृते भेदाभेदप्रसाधकम् ॥ ६२ ॥ धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोप-
त्तितः । अभेदानुभवाभावादार्थं नैवास्य साधकम्' ॥ ६३ ॥ शुक्लः पट इत्यादौ शाब्दसा-
मानाधिकरण्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तयोरेकाधिकरणसंबन्धादेवोपपत्तेः धर्मधर्मिभेदाभेदयो-
रौदासीन्यात् । आर्थिकस्यापि धर्मयोरेकाधिकरणतालक्षणस्यात एवोपपत्तेः । धर्मधर्मि-
णोरभेदानुभवस्यासंप्रतिपत्तेश्चासाधकत्वात्, गुणो द्रव्यं कर्म द्रव्यं जातिर्व्यक्तिरिति सामा-
नाधिकरण्यानुभवाभावात् ।

✓ (भिन्नाभिन्नमित्यत्र भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्याभिन्नशब्देन तदभावस्याभिधाने च भावा-
भावयोर्युगपदेकत्र परस्परविरोधेनासंभवात्) अभेदे च शुक्लः पट इत्यादिषु द्वितीय-

कर्म वा नहि भवतीत्यन्वय । घटादिकार्यस्याप्युपलक्षणमिति, आधितलप्रतीतेस्तत्राप्यविशेषात् । कार्यस्य
भ्रमाधिष्ठानत्वमिति पष्ठं पक्षं दूषयति—नापीति । यः खलु कार्यकारणभावनिर्वृत्त्या, नचासावनिर्वृत्तौ-
वाचीति भाव ।

द्वे ह्यनुपपत्ती भेदाभेदसाधनाय कीर्तिते, एकोपादानोपादेयभावानुपपत्ति, अपरा तु सामानाधिकरण्य-
नुपपत्ति । तत्र प्रथमे दूषणं प्रसारितमुपसहस्य द्वितीयं दूषयति—नापीति । तत्र भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ततां
शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिरूपशाब्दसामानाधिकरण्यस्यैकाधिकरणलक्षणार्थिकमामानाधिकरण्यस्य
न्तर्भेदेषुपपत्तिं श्लोकद्वयेन दर्शयति—युक्तेः शब्दनिमित्तानामित्यादिना । शौक्यपटवारीनमेक-
पटाधिकरणत्वादेव शाब्दसामानाधिकरण्योपपत्तेर्न शाब्दसामानाधिकरण्यं गुणगुण्यादिभेदाभेदप्रसाधकमिति
प्रथमश्लोकयोजना । 'तथाऽऽर्थमपि सामानाधिकरण्यमस्य न साधक, कुतः धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोप-
त्तितः' । तथाहि धर्मधर्मिणोस्तावत्सामानाधिकरण्यमेव नास्ति अभेदानुभव इति सामानाधिकरण्यानुभवोऽत्र
विवक्षितो, नह्यस्त्यनुभवो रूप पट इति वा चलन पट इति वा । तथा धर्मयोरेकाधिकरण्येव एतन्न
नाधिकरण्यं नाम । तथाच धर्मधर्मिणोर्भेदेषु तत्संबन्धादेव तदधिकरणत्वोपपत्तेरिति द्वितीयश्लोकयोजना ।
तत्राप्य विवृणोति—शुक्लः इत्यादिना । धर्मधर्माति । धर्मधर्मिणोर्यो भेदाभेदो तथोरौदासीन्यादिरित्यदं ।
द्वितीयं विभजते—आर्थिकेति । अत एवेति । धर्मधर्मिसंबन्धादेवेत्यर्थः । अभेदानुभवाभावात्परित्यज्य
विवृणोति—धर्मेति । अत्राप्यभेदानुभवः सामानाधिकरण्यानुभवः, असाधकत्वात्, भेदाभेदानुभवमेति
शेषः । अनुभवाभावमेव विवृणोति—गुण इति ।

इदानीं भेदाभेद इत्यस्यैव तावदव्याहृतं यद्विदर्शो दुर्भेग, उत्र प्रमाणान्तिष्ठेत्सिद्धिर्नाह—भिन्नेत्या-
दिना । अत्र किं भिन्न इत्यनेन स्वरूपभेदो नियक्ष्यते अभिन्न इत्यनेन तदभावः, किं भिन्न इत्यनेन
न्याभाववत्त्वमभिप्रेयते अभिन्न इति च तदभावः, अथवा भिन्न इति स्वल्पभेदवत्त्वमभिप्रेयते इति चेत्तत्र
भावराहित्यमभिधीयते इति । नात्र इत्याह—भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्येति । तदा हि स्वरूपभेदस्यैव
च भेदाभेदस्यैव स्यात्, तत्र विरुद्धं, अविरुद्धत्वमपि धर्मिणोपि स्वापेक्षया तथाप्युपादानात् । पटस्य पट-
स्यैव्यवस्थितिरेव पदार्थास्त्विति स्यादिति भावः । किंच यदि शौक्यपटयो ररूपभेदो न भिन्न इति

बुद्धिव्यपदेशयोः पौनरुक्त्यापत्तेः । नच भेदस्यापि भावात्सार्थकता, अभेदस्यापि भावे-
 वैयर्थ्यस्यापि संप्रतिपन्नांश इव दुष्परिहरत्वात् । हेत्वभावे फलाभावादौत्सर्गिकाद्वैतुभावे
 फलभावस्य तदपवादतया बलीयस्त्वात् । अन्योन्याभावतदभावयोर्भिन्नाभिन्नशब्दाभ्या-
 मभिधाने विरोधपौनरुक्त्ये पूर्वोक्ते एव पुनरुपावर्तते । ननु भेदशब्देन स्वरूपभेदस्याभे-
 दशब्देनेतरेतराभावरहितस्य वामिधानादविरोध इति चेत् । मैवम् । इतरेतराभावस्यैवो-
 च्छेदप्रसङ्गात् । स्वरूपभेदे विद्यमानेषु तदविरोधितया यदि कचिदितरेतरभावः स्यात्
 तर्हीतरेतरभावस्यैव निरङ्कुशप्रसरतयेतरेतराभावविरह एव जगति स्यादित्यद्वैतवाद् एव
 भेदाभेदादिना समर्थितः स्यात् ।

तदेवं भेदाभेदादिपक्षेषु कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्, स्वरूपतोपि विचारागो-
 चरत्वात्, अनाद्यविद्यातद्विलसितः सकलोप्ययं प्रपञ्च इति तद्वाहिप्रत्यक्षादिप्रमाणविरो-

पदेन यावानयोर्भिहितः तावानेव पट इत्यपीति पटबुद्धेस्तच्छब्दस्य च पौनरुक्त्यं स्यात्, बुद्धेश्च पौनरुक्त्यं
 वैयर्थ्यमेव शब्दस्य च पौनरुक्त्ये सह प्रयोगानुपपत्तिः । नच व्याख्यायां मूढप्रबोधनार्थमयं सहप्रयोगः ।
 नियमेन व्युत्पन्नान्प्रत्यपि प्रयोगात् । यदि च शुक्लपदस्य पट एवार्थः तदा शुक्लो घट इत्यत्र घटस्यापि तत्त्वेन
 पटघटाद्वैतापात, एवं सर्वत्रेति जितमस्माभिः । ननु भेदोपि धर्मधर्मिणोरस्तीति कथं नैरर्थक्यमिति, तत्राह—
 नचेति । संप्रतिपन्नांश इवेति । पटः पट इत्यत्रेवेत्यर्थः । ननुभयहेतुसद्भावे कोयमाश्रयो वैयर्थ्यं सा-
 दिति, तत्र नैरर्थक्यमेवेति विनिगमनायां हेतुमाह—हेत्वभावा इति । औत्सर्गिकं सत्त्विदं यद्वैतभावे
 फलाभाव इति, इतरथा तयोः प्रागभावयोरनौदिनोरनिवर्त्यतया नित्यमनुत्पत्तिरेव कार्यस्य स्यात्, तस्मात्तदु-
 भयवाचको हेतुभावे फलभावोऽपवादः, तदिहापि गुणगुणिनां भेदपक्षे गुणज्ञानहेतुसद्भावेपि गुणिज्ञानहेत्वभा-
 वात्तज्ज्ञानलक्षणफलाभावस्यौत्सर्गिकस्याभेदपक्षे गुणज्ञानहेतुरूपगुणिज्ञानहेतुभावाद्गुणिज्ञानलक्षणकार्यभावोऽ-
 पवादो बलीयानिति नैरर्थक्यमेव युक्तमित्यर्थः । द्वितीयपक्षे पूर्वमेव दूषणमाह—अन्योन्येति । समानो
 ह्यन्योन्याभावतदभावयोरप्येकोपाधौ विरोधः । अविरोधे मन्वाश्वत्वयोरश्वगोत्वयोश्च घटपटत्वयोः पटपटत्वयो-
 श्चेत्येतादृशस्थलेऽपि भेदाभेदापातात् जगति विरोध एवोच्छिद्येत । नच तथा प्रमाणाभावादनुच्छेद इति
 वाच्यम् । अत्रापि तदसंप्रतिपत्तेः । किञ्च मद्भजनमेवात्र किमिति प्रमाणं न स्यात् । अथ विरुद्धार्थत्वादिदम-
 प्रमाणं न अत्रप्रमाणप्रतीतिर्विरोधस्यैवाभावात् । एतेन विरुद्धमिति नः क संप्रत्ययो यत्प्रमाणपथमवचरतीत्यादि
 तदपि प्रत्युक्तम् । माता मे बन्ध्येतिवद्विज्ञानाभिन्नमित्यपि, व्याहृतार्थत्वादिति । तथान्योन्याभावतद्वाहित्ये पूर्वव-
 द्पौनरुक्त्यं चेत्यर्थः । तृतीयं शङ्कते—नन्विति । तत्र तावत्स्वरूपभेदस्येतेतरभावस्य च विरोधोक्ति नवा,
 यद्यस्ति, तदा स्वरूपभेदे सतीतरेतरभावेन न भवितव्यम्, गत्यन्तराभावादित्यसंभवेवायं पक्षः । अथ नास्ति
 विरोधस्तदा कचिदपीतरेतराभावो न स्यात्, स्वरूपभेदस्यातत्प्रयोजकत्वे प्रयोजकान्तरानिरूपणादित्यभिप्रेत्य
 परिहरति—मैवमिति । एतदेवोपपादयति—स्वरूपभेद इत्यादिना ।

वादायोपसंहारपूर्वकं परिच्छेदार्थगुपसंहरति—तदेवमित्यादिना । भेदपक्षे, अभेदपक्षे, भेदाभेदपक्षे
 च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्स्वरूपतश्च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्सकलोप्यं कार्यकारणरूपव्यपकप-
 रमाष्यात्मकतया भावाभावभेदश्च प्रमाणप्रमेयभेदेन च इत्यगुणादिभेदश्च नैवाविक्रमैरोपिकप्रभृतिताकिंठैः
 परिकल्पितो द्वैतप्रपञ्चः शुक्तिरूप्यादिवदनिर्वचनीयाविद्याविलसितः । अविद्येति च अविद्यासिद्धान्तचैतन्यम-

धाभावाद्देदान्तचाक्यं निरपवादमेवाद्वितीये ब्रह्मण्यपरोक्षज्ञानं जनयतीति निरवयम् । इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां लक्षणभङ्गो नाम द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥ २ ॥

प्युपलक्ष्यते । तद्विलसितस्तद्विवर्तः । इतिः हेतौ । यस्मादेवं अत इति योजना । अपरोक्षेति चोत्तरवादे बीजावापः । 'मेदो द्रव्यादिपङ्कं क्षणनिधनमत्तं पद्मप्रमाणान्यभावो भावः पश्चात्पराणुर्यवमविसहितधान्ययोगो वियोगः । द्वित्वादिर्जातिमानं व्यणुकपरिमिता पाकजप्रक्रियाथो हेतुत्वं कालकाष्ठे जनिमदपि भिदाऽनेद-वादो निरस्तः ॥ १ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीप्रत्यक्षप्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्षस्वरूपभगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां नयनप्रसादिन्यां द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥ २ ॥



तृतीयः परिच्छेदः ।



श्रीकृष्णाय नमः ॥ ननु कथमपरोक्षज्ञानजनकता शब्दस्य । तथासत्यपरोक्षप्रमिति-
करणतया प्रत्यक्षान्तर्भावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मप्रतिपादकवाक्येष्वदर्शनाद्य । नच दशम-
स्त्वमसीति वाक्यमुदाहरणम् । तत्रापि केवलशब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वादिन्द्रियसन्नि-
कर्षस्यापि दशमशरीरगोचरस्य तत्र भावात् । नच सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे तस्यादावदर्श-
नात् पश्चाद्भाविशब्दजनिततैव तस्येति निश्चेतुं शक्यम् । रत्नतत्त्वाधिगमेपि तथात्वप्रस-
ङ्गात् । तथाहि—सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे अनधिगतत्त्वावधारणपरीक्षाशास्त्रः पुष्परागादिभेदं
न प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, अधिगतगाल्पार्थस्तु तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते, नचैतावता शास्त्रं तत्र प्रत्य-
क्षप्रमितिजनकमभ्युपेयते ।

यत्पुनरिह कैश्चिदुच्यते—विमत शब्दज्ञानमपरोक्षमपरोक्षविषयत्वासंख्यानवदिति ।
तत्र किमिदमपरोक्षत्वं शब्दज्ञानस्य, किं साक्षात्कारत्वजातिमत्त्वमपरोक्षव्यवहारहेतुत्वं वा ।
नाद्यः । अयं घट इति शब्देऽनैकान्तात् । प्रतिपत्तिव्यवधानमन्तरेण तद्विषयत्वमपरोक्षविषयत्व-

ॐ श्रीगणेशाय नमः ॥ किं प्रैलोपयसरोवरस्य नचिराहुन्द्रमेकाम्बुन किं वा योगिमन सरोरुहवनप्रो-
द्बोधको भानुमान् । किं वा सृष्टिसूरतस्रजनतामोदे सुजासीधितिर्दोसौ विविध विभावितवपु श्रीसुन्दरः
पातु व० ॥ १ ॥ इति स्म निर्बैरक्य निरूपित समस्तवेदान्तवचोभिरद्वयम् । अयं स्वत सिद्धविमुक्तये नये-
दपायविज्ञानशरीरचिन्तनम् ॥ २ ॥ अनेन च हेतुहेतुमल्लक्षण परिच्छेदयोः स्वप्नोपि दर्शित । अविरोद्धतया
साध्येऽवशृते हि साधनान्वेषणावकाश इति । अपरोक्षज्ञान जनयतीत्युक्तममृत्युमाणा वैशेषिकादयो मीमांस-
काश्च केचिन्मण्डनमिश्रप्रभृतयः प्रत्यक्षतच्छब्दे—ननु कथमिति । न केवल शब्दत्वहान्या प्रत्यक्षत्वाप-
त्तिर्वाधिका अनुपलब्धिपराहतिश्चेत्याह—धर्माधर्ममिति । ननु यद्यपि ज्योतिष्टोमादिवाक्येष्वदृष्टं, तथापि
विषयविशेषप्रयुक्तया तत्र तथात्व किं न स्यात्, यथा दशमस्त्वमसीत्यत्र । सच भ्रान्तिविभ्रान्तचेता परि-
त्यक्तमात्मानं दशमतया वाक्यादेव साक्षात्करोति कश्चिदित्यत्राह—नच दशम इति । यथाहि रत्नतत्त्वा-
दायुपदेशसहितं प्रत्यक्षमेव साक्षात्कारहेतुर्न केवल शब्दस्त्वहेहापीत्यत्र । प्राप्ताप्राप्तविवेकेन शब्दस्यैव क-
षणानामाशङ्क्यं रत्नतत्त्वप्रतिपत्त्या परिहरति—नचेत्यादिना । तत्रापि प्राप्ताप्राप्तविवेकसाम्यमाह—तथा-
हीति । अनधिगत रत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्रं येन पुसा स तथोक्त । पुष्परागो रत्नविशेषः ।

न्यायरत्नवीपायणीकृतमनुमानसुद्धावयति—विमतमिति । ज्योतिष्टोमादिवान्ये वाधासिद्धो परिहा-
राय विमतमित्युक्तम् । तत्त्वमस्यादिशब्दजनितज्ञानमित्यर्थः । प्रत्यक्षेणार्थान्तरतानिदृश्यै शब्दग्रहणम् ।
अयं घट इतीति । अस्ति ह्ययं घट इति शब्दस्य पुरोवर्त्यपरोक्षघटविषयत्वम् । अयं च न साक्षात्कार-
त्वजाति, ज्ञानवृत्तित्वात्सा इत्यर्थः । नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थः—यज्ज्ञानव्यवधानमन्तरेण तद्वि-
षयत्वमिति । नच शब्दस्य तथावमस्ति । तद्विषयज्ञानजननद्वारा हि शब्दादीनामर्थविषयत्वम् । नच ज्ञानस्य
ज्ञानजननद्वारा अथविषयत्वम् । तदुक्तोऽनैकान्तिकतेति शङ्कते—प्रतिपत्तीति । तथोप्यनैकान्तिकमि-
त्याह—अयमिति । अग्रिमत्त्वात् परोक्षः । पूर्वताशोऽपरोक्षः । नद्यानुमानिकज्ञाने साक्षात्त्वजातिरिति
भावः । ननु परोक्षाविषयत्वे सत्यपरोक्षविषयत्व हेतुः । नद्यानुमानिकज्ञानमेवमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते

मिति चेन्न । अयं पर्वतोऽग्निमानिति परोक्षपरोक्षविषयानुमानिकज्ञाने व्यभिचारात् । अपरोक्षमात्रविषयत्वं विवक्षितमिति चेत् । न । सुखेच्छायां व्यभिचारात् । तज्जनरुज्ञानस्य तद्विषयत्वादिच्छायास्तद्विषयत्वमुपचर्यते इति चेत् । मैवम् । तथाप्यविद्यायां व्यभिचारात् । स्वतोऽपरोक्ष आत्मैवाविद्याया आश्रयो विषयश्चेति भवद्भिरभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः । अविद्यायामेव व्यभिचारात् । तस्या अपरोक्षात्मविषयत्वेपि तद्विपरीतव्यवहारहेतुव्यावृत्तव्यवहारहेतुत्वाभावात् ।

अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमेव हेतुरिति चेन्न । साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गात्, प्रतिप्रयोगसंभवाच्च । विवादाध्यासितः शब्दः अपरोक्षज्ञानजनको न भवति शब्दत्वात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवदिति । अत्रोच्यते—‘साक्षात्करणहेतोरप्यप्रत्यक्षत्वसंभवात् । दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेव तदुद्भवात्’ ॥ १ ॥ यत्तावदुक्तमपरोक्षप्रमितिकरणत्वे प्रत्यक्षान्तर्भावस्यादिति । तत्र ब्रूमः—अभ्युपगम्यते हि परेणापि योगिमनसो बाह्यविषयापरोक्षप्रमितिकरणता, तथापि न बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावस्तस्याभ्युपेयते, एवं शब्दस्यापरोक्षप्रमितिकरणत्वेपि प्रत्यक्षान्तर्भावो माभूत् । अथ तत्र बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावे चक्षुरादीनामन्यतमत्वं योगिमनोन्यत्वे सति बाह्यप्रत्यक्षप्रमितिकरणत्वं वा प्रयोजकं, हन्तेहापि तर्हि स्वतोपरोक्षब्रह्मात्मविषयशब्दान्यत्वे सत्यपरोक्षप्रमितिकरणत्वं प्रत्यक्षान्तर्भावे प्रयोजकमस्तु, सिद्धे शब्दस्यापरोक्षप्रमितिकरणत्वे तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणं युक्तं तदेव तु कथमिति चेत्, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्येषु दर्शनादिति ब्रूमः ।

—अपरोक्षमात्रेति । तथापि सुखेच्छायां व्यभिचारः । तस्या अपरोक्षसुखविषयत्वेपि साक्षात्त्वानधिकरणत्वादित्याह—न सुखेच्छायामिति । इच्छायाः सविषयत्वमौपचारिकं, मुख्यं च विवक्षितमिति शङ्कते—तज्जनकेति । ननु कथमपरोक्षविषयत्वमविद्याया येनानैकान्तिकवेति, तत्राह—स्वत इति । भवद्भिरिति । एकजीववादिभिरित्यर्थः । अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमपरोक्षत्वमिति द्वितीये पक्षेप्यविद्यायां व्यभिचारस्य हेतुसद्भावेपि साध्याभावादित्याह—नापि द्वितीय इत्यादिना ।

नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थः—यदपरोक्षव्यवहारहेतुत्वादिति, तथाच नाविद्यायां विपरीतव्यवहारजनिकायामनैकान्त्यमिति शङ्कते—अपरोक्षेति । परिहरति—न साधयेति । सप्रतिपक्षं चेदमनुमाननीत्याह—प्रतिप्रयोगेति । ज्योतिष्टोमादिवाक्येषु सिद्धसाधनतापरिहाराय विषादेति विशेषणम् । बाधसाध्यवैकल्ययोः परिहारायापरोक्षेति विशेषणम् । साक्षादिति । अत्र किं बाधक्यशाब्दस्यसापरोक्षज्ञानन्यक्तत्वं नेष्यतेऽदर्शनाद्वा । नायः । तदसिद्धे । न तावत्प्रत्यक्षान्तर्भावो बाधक । नहि साक्षात्कारिज्ञानहेतुतामात्रेण प्रत्यक्षत्वं संभवति । शब्दव्यतिकरत्वे सति तादृशस्य तत्प्रयोजनत्वात् । ननु इष्टे शब्दस्य तद्व्यवृत्तत्वे प्रयोजकस्यकोचो युक्तस्तदेव कथमिति, तत्राह—दशम इति । ननु तत्रापीन्द्रियमेव कारणमित्युक्तं, तत्राह—शब्दादेवेति । श्लोकं विप्रोति—यत्तावदित्यादिना । अत्र प्रत्यक्षविशेषप्रयोजने प्रतिबन्दी गृह्णाति—अभ्युपगम्यते हीति । विशेषणं दर्शयन्नाभासतां प्रतिषन्त्या शङ्कते—अथ तत्रेति । अत्र श्रवणप्रत्यक्षेषु चेद प्रयोजकत्वेपणमिति श्रुत्यम् । नायं विशेषः । प्रत्येप्येवं शब्दसंज्ञोक्त्या देति परेऽपी—हन्तेति । उत्तरार्धस्य शङ्कामाह—सिद्ध इति । एतत्परिहारहेतुत्वेन तृतीयपदमकारणम्—

दशम इति ।

ननु तत्रापीन्द्रियसहितस्यैव तद्वेतुत्वं न केवलस्येत्युक्तमिति चेत्, अत्रापि तर्हि मनः-
सहायस्यैव शब्दस्यापरोक्षप्रतीतिहेतुतास्तु । ननु तत्रेन्द्रियस्यैव करणत्वं शब्दस्य तु सह-
कारितामात्रमिति चेत् । शब्द एव करणमिन्द्रियं सहकारीति वैपरीत्यमेव कृतो न स्यात्,
अन्वयव्यतिरेकयोस्तूभयत्राविशिष्टत्वात् । तथापि विनिगमनायां को हेतुरिति चेत्,
क्वचिद्बहुलतमे तमसि क्वचिच्च लोचनविरहिणोपि वाक्याद्दशमोस्मीत्यपरोक्षप्रमितिदर्शन-
मेवेति वदामः । भवत्वेवं, तथापि ब्रह्मसाक्षात्कारे करणं मन एव 'मनसैवेदमात्रव्य'मि-
त्यादिश्रुतेः । 'यन्मनसा न मनुते' 'अप्राप्य मनसा सहै'त्यादिश्रुतेश्चानधिकृतमनोविषय-
त्वादिति चेन्मैवम् । 'तद्वेत्यादिश्रुतेः कापि मनसस्तदयोगतः । शब्दत्वानुमितेर्वाधा-
व्यभिचारादनुत्थितेः' ॥ २ ॥ 'तद्वास्य विजिज्ञौ' 'तमसः पारं दर्शय'तीति चोपदेशमात्रा-
देवापरोक्षप्रमित्युपपत्तिप्रतिपादनात् । नन्वेतानि वचनान्यागमाचार्योपदेशयोर्न साक्षा-
त्कारहेतुतां प्रतिपादयन्ति । साक्षात्कारहेतोर्मनसः सहायताप्रतिपादनपरत्वेनाप्युपपत्तेः ।
अन्यथा श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधानानर्थक्यात्, श्रवणेनैव साक्षात्का-
रोत्पत्तेः, श्रुतवेदान्तानामपि पूर्ववत्संसारानुवृत्तिदर्शनाच्चेति चेत् । मैवम् । असंभावना-
विपरीतभावनाख्यस्य चित्तविक्षेपलक्षणस्य च प्रतिबन्धस्य निरासद्वारेण मनननिदिध्या-
सनयोः फलोपकार्यङ्गतयापि श्रवणं प्रति विधानोपपत्तेः, पूर्ववत्संसारित्वोपलब्धेश्च

चतुर्थपादस्य शब्दां दर्शयति—ननु तत्रापीति । तत्र किं शब्द करणमिन्द्रियं तु सहकारीत्यभिधीयते,
किं वा गुडजिह्विक्येन्द्रियस्यैव करणत्व शब्द- सहकारीत्यभिधित्तितम् । आद्ये प्रकृतेःस्यैवेन्द्रियं सहाय-
मित्याह—अत्रापीति । तथाच शब्दस्य करणत्वं न व्याहृतमिति भावः । द्वितीये शब्दते—ननु तत्रेति ।
तदेतद्विनिगमनेन दूषयति—न शब्द एवेति । विनिगमनायां । शब्द एव करणमिति निर्णय इत्यर्थः ।
हेतुं दर्शयति—क्वचिदिति । लोचनविरहिणः सलोचनस्यापि गाढान्धकारनिरुद्धतया अव्याघृतलोचनस्य
शब्ददेवापरोक्षज्ञानदर्शनमेव नियामकमित्यर्थः । उपलक्षणं चैतत्स्पर्शनव्यापाराभावस्यापि । भवत्वेवं दश-
मस्त्वमसीत्यादौ, प्रकृते तु न युक्त श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—भवत्वेवमिति । आदिशब्देन 'हृदा मनी-
पया मनसासिद्धं, दृश्यते त्वम्यया बुद्धे'त्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते । ननु 'यन्मनसा न मनुते'इत्यादिषु मनसा
पुरुषो यद्ब्रह्म न मनुते' तथा वाचो मनसा सहाप्राप्य यतो निवर्तन्त इति मनोगम्यत्वमपि निषिद्धं तत्कथं
मन एव करणमिति, तत्राह—यन्मनसेति । अनधिकृतमनः अघटकृतमनः । सिद्धान्ती परिहरति—
मैवमिति । 'तद्वास्य विजिज्ञा'वित्यादिश्रुतेस्तावदुपदेशमात्रादपरोक्षज्ञानजन्मावसीयते, नचैताः श्रुतयो
मनः प्रति सहायतामुपदेशस्य दर्शयन्ति न तु करणतामिति युक्तं, मनसः क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वायो-
गात् । यत्तु शब्दत्वादित्यनुमानमुक्तं, तत्राह—शब्दश्चेति । उक्तश्रुतिविरुद्धतया कालालयापदिष्टत्वाद्दश-
मस्त्वमसीत्यादौ व्यभिचाराच्च शब्दत्वादित्यनुमितेरनुत्थितेतिरित्यर्थः । श्लोक विद्युत्तेति—तद्वास्येति ।
अस्याचार्यस्योपदेशेन तदुपदिश्यमानं ब्रह्म विजिज्ञौ विशेषेण विज्ञातवान् शिष्य इत्यर्थः । तमसः शोका-
दिकारणाज्ञानस्य पारम् अन्तम् । निरवधं ब्रह्म दर्शयति—अदर्शयदित्यर्थः । मनननिदिध्यासनविधानसत्त्वेन
श्रवणं न साक्षात्कारहेतुरित्याह—अन्यथेति । इतोपि न श्रवणरूपोपदेशमात्रात्साक्षात्कारोत्पत्तिरित्याह—
श्रुत इति । तत्र तावच्छ्रवणं प्रति फलोपकार्यङ्गतयोपयोगं मनननिदिध्यासनयोर्दर्शयति सिद्धान्ती—मैव-
मित्यादिना । यद्यपि चित्तगतमलक्षणप्रतिबन्धो यद्वादिमि. शुद्ध्यापायकैर्निवारित. तथापि दृष्टस्य विक्षे-
पलक्षणप्रतिबन्धस्य ताभ्या निरासः अनुयाजादिवच फलोपकार्यङ्गतयोत्तरकालत्वमपि न विरुध्यत इति
भावः । अनुपपत्त्यन्तरं परिहरति—पूर्ववदिति । नहि प्रतिबन्धे सति कार्यानुत्पादकत्वं कारणतां वि-

प्रतिबद्धविज्ञानपुरुषविषयत्वात् । मनसैवेदमात्रव्यमित्यादिश्रुतेश्चित्तैकाग्र्यस्याङ्गताप्रतिपादनपरत्वात् ।

मनसश्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मसाक्षात्कारहेतुत्वस्यादृष्टचरतया तत्र शब्दस्य सहकारित्वकरूपनानुपपत्तेः । तथात्वे श्रवणादीनामेव वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वादात्मनश्च स्वयं प्रकाशत्वात् मनसः क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तेः । भावनासहायस्य तु मनसो गरुडादिसाक्षात्कारप्रमित्यनुत्पादकत्वात् । तदपरोक्षस्य च विधुरपरिभावितकामिनीसाक्षात्कारवद्विभ्रमत्वात् । अप्रमारूपसाक्षात्कारस्यापि साक्षिरूपतया मानसत्वाभावात् । इह च 'भियते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, तमसः पारं दर्शयति, भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः, तरति शोकमात्मवित्, योऽस्माकं अविद्यायाः परं पारं तारयसि, मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते, तरत्यविद्यां वितता'मित्यादिश्रुतिस्मृतिषु ब्रह्मविद्याया एवाविद्यानिवर्तकत्वश्रवणात् पारिशेष्यात्तत्कारणं वेदान्तवाक्यमिति निश्चीयते ।

श्रूयतेच—'नावेदविन्मनुते तं बृंहन्त', 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'वेशन्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति । अत्र हि वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य विज्ञानमिति विशेषणेन विशेषविषयत्वप्रतिपादनात् निश्चयहेतुत्वे सिद्धेपि सुशब्दविशेषणेनापरोक्षनिश्चयहेतुत्वप्रतिपाद-

हन्ति । उक्तं च सूत्रकृता—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनादितीति भावः । या तु श्रुतिर्मेनसः साक्षात्कारणत्वे प्रमाणमुक्ता तामन्यथयति—मनसैवेति ।

यत्तु तद्वेद्यादिश्रुतीनामुपदेशस्य मनसहायताप्रतिपादकतयाप्युपपत्तेरिति, तत्राह—मनसश्चेति । अदृष्टचरतयेति । श्रुत्यादिष्विति शेषः । बाधकान्तरं चाह—तथात्व इति । 'इदानीं 'क्वापि मनसस्यदयोगत इत्येतद्विरुणोति—सुखादीनामिति । एतेन साक्षात्कारहेतुतया क्लृप्तस्य मनसः संभवे शब्दस्य तत्करूपनानुपपत्तेरिति वाचस्पतिमिश्रैरुदीरितमपोदितं मन्तव्यम् । ननु कथं साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तिर्भावता भावनापरिपाकसहकृतमनसो दृष्टं गरुडादिसाक्षात्कारहेतुत्वमिति' तत्राह—भावेनेति । किं ताँ तदित्यत आह—तदपरोक्षेति । पूर्वं साक्षात्कारहेतुत्वमस्तीकृत्य प्रमितिहेतुत्वं नास्ति इत्युक्तमिदानीं तदपिन मनोजन्ममित्याह—अप्रमेति । एतेनाप्रमाणासाक्षात्कारहेतोर्मेनसः क्वचित्प्रमाहेतुत्वेनापि भयान्नयनादिष्विति पर्यनुयोगोपि परास्तः । प्रस्तुतस्थले च प्रमारूपसाक्षात्कार एवाविद्यानिवृत्तिभ्रमः शुभिनिरवगम्यते, तत्रच मनसः करणत्वनिषेधात्करणान्तरानिरूपणाच्च वेदान्तवाक्यमेव करणमित्याह—इह चेत्यादिना । अथवात्रापि साक्षिरूप एव साक्षात्कारोऽविद्यानिवर्तकः अतस्तत्करणत्वेन शब्दकल्पनमपि मनोदेवायुक्तमिति, तत्राह—इह चेतिति । 'मामेव, तरत्यविद्या'मिति स्मृती । शोकहरणादियामित्यर्थः ।

वेदादेव परमेश्वरज्ञानमित्यत्र साक्षादेव श्रुतिरस्तीत्याह—श्रूयते चेतिति । तं बृंहन्तम् अपरिच्छिन्नं परमेष्ठं अवेदवित् अवेदज्ञः पुरुषो न मनुते, अपितु वेदज्ञ एव जानातीत्यर्थः । अत्र च वेदज्ञानेन तरेकदेशेन वेदान्ता विवक्ष्यन्ते । अथवा संप्रपञ्चनिप्रपञ्चप्रतिपादकतया सर्वे एव विवक्षिताः । उपनिषत्सु वेदान्तस्योपनिषदः । वेदान्तजनितं विज्ञानं वेदान्तविज्ञानम् । नन्यत्र साक्षात्कारः कथं लभ्यते, नापि विशन्तिः रूपसर्गबलात्, तस्य विशेषेण ज्ञानमिति निश्चयमात्रपर्यवसितत्वारिति, तत्राह—अप्रमेति । चकारात्-

नाघायमर्थो निश्चीयते । यत्पुनः शब्दत्वादित्यनुमानं तच्छ्रुतिविरुद्धतया कालात्ययाप-
दिष्टम्, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्येऽनैकान्तं च । 'प्रतिप्रयोगयोगाद्य विपक्षे बाधसंभवात् ।
तस्याभाससमानत्वान्-उच्यते देवापरोक्षधीः' ॥ ३ ॥ प्रतिप्रयोगश्च, अपरोक्षत्वं तत्त्वमसीत्या-
दिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात् ज्ञानत्ववत् । नच परोक्षत्वं
तद्वृत्ति परोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वादिति सप्रतिसाधनता । सिद्धसाधनत्वात् ।
इष्यते हि तस्यासंभवनानिपरीतभावनप्रतिबद्धान्तःकरणे पुरुषे परोक्षज्ञानजनकत्वम् ।

'तद्वास्य विजज्ञा'विति श्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टत्वाच्च । नचापरोक्षत्वमग्निहोत्रा-
दिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात् ज्ञानत्ववदित्याभाससमा-
नयोगक्षेमता । विपक्षे बाधकतर्काभावेन तस्याप्रयोजकत्वात् । किं वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति-
र्वाधिका उतानुष्ठानानुपपत्तिः स्वर्गादिकलसिद्धिर्वा । नाद्यः, अनुमानादिवत्प्रामाण्योप-
पत्तेः । न द्वितीयः, परोक्षनिश्चयादप्यनुष्ठानसिद्धेः । न तृतीयः, अनुष्ठानादेव फलसिद्धेः ।
इह त्वात्मविज्ञानस्य भोक्षसाधनत्वश्रुत्यन्यथानुपपत्तिरेव बाधिका । तथाहि—'ब्रह्मविदा-
प्रोति परं, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, तरति शोकमात्मवि'—दिति वेदान्तवाक्यजनितात्म-
विज्ञानान्मोक्षः श्रूयते, सच सविलासाज्ञाननिवृत्तिलक्षणः, संसारस्य दुर्निरूपत्वेनाविद्या-
रूपत्वात्, तस्य चाहं कर्ता भोकेत्याद्यपरोक्षविभ्रमलक्षणस्य परोक्षज्ञानान्निवृत्त्यनुपपत्तेः ।

ब्रह्मणि च सकलकरणगोचरे प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षज्ञानानुपपत्तेर्वाक्याच्चापरोक्षज्ञाना-
नुत्पत्तावनिर्मोक्षः स्यादिति विपक्षे बाधकतर्कसंभवान्नाभाससमानतानुमानस्य, तस्मा-

त्येदेमुपसर्गसामर्थ्यं समुचिनोति । तां चोपपत्तिं वक्ष्यति । उत्तरार्धे विवृणोति—यत्पुनरिति । दृष्टान्तर
चानुमानस्य श्लोकेनाह—प्रतिप्रयोगेति । अपरोक्षत्वमित्यादिप्रतिप्रयोगसंभवात् । नन्वपरोक्षत्वस्याग्निहो-
त्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्तिरवमप्येव शक्यानुमानमित्याभाससमानवेति, तत्राह—तस्याभाससमानत्वा-
दिति । तत्र हेतु विपक्षे बाधसंभवादिति । श्लोक विवृणोति—प्रतिप्रयोगश्चेति । ज्ञानवृत्तित्युक्ते प्रत्य-
क्षवृत्तितया अर्थान्तरता तदर्थं वाक्यजन्यज्ञानवृत्तित्युक्तम् । तथापि विवक्षितसिद्धिः । वाक्यान्तरमादाया-
प्युपपत्तेरित्यत उक्त—तत्त्वमस्यादीति । अतिद्विनिवृत्त्यर्थं हेतावपरोक्षग्रहणम् । सविकल्पकलादिना वेदा-
न्तवाक्यजन्यज्ञानानिष्टेन व्यभिचारनिरासार्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । द्वितीयेपि शब्दावृत्त्यनुमितित्वादिनिवृत्त्यर्थ-
मत्यन्ताभावग्रहणम् । अतिद्विनिवृत्त्यर्थं च परोक्षग्रहणम् । सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—इष्यते हीति ।

अथ ब्रूयाद्भवदभिमतज्ञानवृत्तिर्वैमनुषेयमिति, तत्राह—तद्वास्येति । तस्याभाससमानत्वादित्यस्याशङ्का
पठति—नचापरोक्षत्वमिति । विपक्षे बाधकमेव विकल्पयति—किं वाक्येत्यादिना । यदि अपरो-
क्षज्ञानजनक न भवेत् तर्ह्यप्रमाणं स्यादिति तावन्न बाधकम्, अनुमाने व्यभिचारादित्याह—अनुमानेति ।
विपक्षे बाधसंभवादित्येतद्विवृणोति—इह त्विति । श्रूयता नाम तत् किमिति, तत्राह—सचेति । यथा
चाज्ञाननिवृत्तिर्भोक्षः तथा चतुर्थपरिच्छेदे वक्ष्यते । ननु संसारनिवृत्तिर्भोक्षः, किमिदमुच्यते अविद्यानिवृत्ति-
रिति, तत्राह—संसारस्येति । तथापि वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्व विना किमुपपन्नं, तत्राह—तस्य
चेति । दिव्योहादौ तथा दर्शनादिति भावः । एतेन योपपत्तिर्वक्ष्यतीत्युक्ता सति प्रदर्शिता ।

नन्वपरोक्षज्ञानमपि मनसैवोत्पद्यतामिति, तत्राह—ब्रह्मणीति । प्रत्यक्षेल्पपरोक्षज्ञानं विवक्षितम् । वा-
दार्थ्यमुपसर्गहरंश्चतुर्थं पादं व्याचष्टे—तस्यादिति । ज्ञानात्कैवल्यमित्युक्तमसहमान कर्ममीमांसक आक्षिपति

१ उपपत्त्येव सदेति शेषः । २ अपरोक्षज्ञाननिष्ठत्वमात्रेण इति शेषः । ३ परोक्षत्वमित्यादिवक्ष्यमाणप्रयोगे
इत्यर्थः । ४ परोक्षत्वमेति शेषः । ५ प्रतिपाद्यामिति शेषः ।

च्छब्दादेवापरोक्षज्ञानात् कैवल्यमिति सकलमनाविलम् । ननु कथं ज्ञानात्कैवल्यं तस्य स्वर्गादिफलकर्मशेषतया स्वतन्त्रफलसाधनत्वाभावात्, देहव्यतिरिक्तात्मतत्त्वविज्ञानव्यतिरेकेण पारलौकिककर्मणि प्रवृत्त्ययोगात्, फलश्रुतेश्चापापश्लोकश्रवणवदर्थवादत्वात् । तथा-
चाहुः—‘आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम् । कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते । विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये पापानामफलश्रुतिः । सार्थवादो भवेदेव न स्वर्गादेः फलान्तर’मिति । देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्य कर्मप्रवृत्त्युपयोगित्वेऽप्यशनायाद्यतीतब्रह्मविज्ञानस्य न तच्छेषत्वमनुपयोगादधिकारविरोधाच्चेति चैन्मैवम् । आख्यावेश्णग्रीहिप्रोक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपपत्तेः । नचाधिकारविरोधः । तथाभूतब्रह्मविदामपि यमनियमादौ प्रवृत्तिवत्कर्मप्रवृत्त्यविरोधात् । जनकोद्दालकप्रभृतीनां तथाभूतानामपि कर्मणि प्रवृत्तिदर्शनाच्चेति

—ननु कथमिति । ननु कथमात्मज्ञानस्य कर्मशेषता, तद्बोधकप्रमाणाभावात्, नद्यात्मज्ञानेन कर्म कुर्यादिति काचिच्छ्रुतिरस्ति विनियोगी, नापि लिङ्गम्, असमर्थत्वात्, नापि वाक्यं, पदद्वयसमभिव्याहाराभावात्, नापि प्रकरणं, साकाह्वविधिसन्नियभावात्, नापि स्थानं, कर्मसन्निधावपठ्यमानत्वात्, नापि समाख्या, संज्ञा-साम्याभावात्, ततः कथं कर्मशेषत्वमिति, तत्राह—देहव्यतिरिक्तेति । यद्यपि श्रुत्यादीनि न सन्ति, तथापि सामर्थ्यलक्षणमस्ति लिङ्गं विनियोजकं, भस्मीभूयमानदेहस्य पारलौकिकफलोपभोगासंभवादिति भावः । ननु मोक्षाख्यं फलमात्मज्ञानस्य श्रूयते, ततः श्रुताधिकारस्य कथमन्यशेषत्वमिति, तत्राह—फलश्रुतेरिति । यथाहि—‘यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति, यस्य खंदिरः सुवो भवति छन्दसामेव रसेनावृती’त्यादौ पर्णमयीलावात्रिल्य श्रूयमाणापापश्लोकादिश्रवणमर्थवादः, तत्कस्य हेतोः परार्थत्वात् । नयत्र साक्षात्फलश्रवणमस्ति कामशिरस्करत्वाभावात् । कीर्तनमंत्रं ह्येतत् । तथाच न रात्रिघ्नवद्विपरिणेतव्यम् । नच स्वशेषिफलेनैव निराकाह्वपर्णमयीतायाः फलान्तरापेक्षास्ति यदर्थं विपरिणेतव्यम् । नच वाक्यं क्रतुसंबन्ध-बोधेनैपरमपि भवति, तस्मादर्थवाद एवैतत् प्रतिबद्धफलश्रवणं, तथेहापि स्वशेषिकर्मफलेनैव निराकाह्वस्मान्-ज्ञानस्य न ब्रह्मैव भवतीत्यादिवर्तमानोपदेशविपरिणामापेक्षेत्यर्थः । तथाह परमार्थि—‘द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्या’दिति । अत्र वार्तिककारसंमतिमप्याह—तथाचाहु रिति । अचोदितत्वे हेतुः—कर्ममिति । फलान्तरश्रवणस्य गतिमाह—विज्ञात इति । न स्वर्गादेरिति । स्वर्गादेः सद्भावात्फलान्तरमपि नास्तीत्यर्थः । स्यादेतत् द्विविधं ह्यात्मज्ञानम्, एकं स्थूलदेहमात्रव्यतिरिक्ततया अपरं सूक्ष्मदेह-स्कारणाविद्यातिरिक्ततया, तत्र प्रथमं कर्माहं भवति, इतरत्तु न तथा, अनुपयोगात्, प्रत्युताधिकारविरोध एव । नाहं भोकेत्यभिमन्यमानः कथं भोषा स्यात्, नाहं कर्तेत्यभिमन्यमानो वा कथं कर्ता स्यादिति दृष्टव्यं—देहव्यतिरिक्तेति । अशनायादीत्यादिशब्देन ब्राह्मण्यादिजातिराहित्यं गृह्यते, तेन व्याधिकारान्वय-प्रतिषिध्यते । तत्रानुपयोगं परिहरति—आख्यावेश्णोति । दृष्टोपभोगाभावेऽप्यदृष्टोपयोगोक्ति, धार्मिककर्म-त्वादस्येत्यर्थः । अधिकारविरोधं परिहरति—नचाधिकारेति । यथाहि तथाविधाभिमानेपि यमनादी प्रा-प्तिर्विहितत्वात्तया कर्मव्यपि विहितत्वादेव प्रवर्तितव्यं, शाब्देन च तथाविधाभिमाने विद्यमानेपि प्रवृत्तिर-दिस्येत, को विरोधः, प्रत्युत प्रत्यवाय एव तदकरणे स्यादिति भावः । अस्ति चात्र जिज्ञं यदात्मज्ञाने विद्यमानेपि कर्मप्रवृत्तिर्न विरुध्यते इत्याह—जनकेति । विद्वान्ती समापते—अत्रेति । आयापदं विद्वोति—

१ स्वर्गादिफलकं यत्कर्म तच्छेषतया देहव्यतिरिक्तमज्ञानस्येत्यर्थः । २ शोकमन्तरणादिरहोलादिः । ३ पापानां फलजनकत्वाभावप्रतीतिर्यस्यः । ‘एवमेव हास्य सर्वेषाम्मानः मद्भयन्ते’ इत्यादि ह्यसर्वपापप्रदा इति वाच्यम् । ४ २-हेत्यादिभ्य वेदिलन्तः शङ्काप्रत्ययः । ५ ननु इत्यादिभ्यामप्यं शङ्काप्रत्ययः । ६ आत्मज्ञानजनकदेवान्तरावपामात्रिभ्यः । ७ खादिरे ह्येव छन्दः सात्त्विकारोपे खादिरसुभकरणकं इविषोडशदानं छन्दोसकरणमेव धारणे इति शेषम् । ८ पर्णवादीनामिति शेषः । ९ मयंसापरेव न ह्य फलसंबन्धपरमिति फलीकार्थः । १० यथा रात्रिघ्नवद्विपरिणेतव्यं नचाधिकारविरोधः । ११ पर्येतासंबन्धेत्यर्थः ।

चेत् । अत्रोच्यते—‘अभावाच्छ्रुतिलिङ्गादेरुपयोगानिरूपणात् । अधिकारविरोधाच्च - कर्माङ्गं नात्मतत्त्वधीः’ ॥ ४ ॥ न तावद्दैन्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत’ इतिवदात्मविज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे श्रुतिरस्ति ।

नच ‘यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवती’ति श्रुतिः, तस्याः प्रकृतो-
द्वीथविद्याविषयत्वात् । श्रद्धादिवत्सार्वत्रिकं किञ्च स्यादिति चेत् । तथाप्युपासनानुष्ठानस्यैव
तदङ्गतास्तु, उपासनाप्रकरणे पाठात् । नापि ‘वर्हिर्देवसदनं दामी’तिवच्छ्रुतिसामर्थ्यलक्षणं
लिङ्गमस्ति, न चोद्दालकादीनां कर्मणा सहात्मविज्ञानसद्भावो लिङ्गं, किं प्रजया करिष्यामः
किमर्थं वयमध्येष्यामह इति च वैपरीत्यस्यापि दर्शनात् ।

नच ‘यस्य पर्णमयी जुहूर्भवती’तिश्रद्धाक्याद्विनियोगः । पर्णमयीत्वादिवदात्मनो-
ऽव्यभिचरितक्रतुसंबन्धाभावात्, तस्य लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात् । नचात्मज्ञानं कर्म-

न तावदित्यादिना । यथा ‘दैन्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत’ इत्यैन्याः कदाचन स्तरीरसीत्युचो गार्हपत्यमिति
गार्हपत्योपस्थाने तृतीयया विनियोगः, किञ्चित्प्रति हि शेषत्वं तृतीययावगम्यते, तच्च किञ्चित्कमित्यपेक्षया
गार्हपत्यमिति विशेषसमर्पणं, गार्हपत्यमिति च द्वितीयया किञ्चित्प्रति शेषित्वं गार्हपत्यस्य प्रतीयते, ऐन्द्रोपदेन
च शेषविशेषः समर्प्यते, अत एव च न वाच्यगम्यत्वशङ्कापि, न तथेहात्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वबोधिका का-
चन विनियोजिका श्रुतिरस्तीत्यर्थः ।

ननु ‘यदेव विद्यया करोति’ श्रद्धया आस्तिक्ययुद्धा उपनिषदा रहस्यविज्ञानेन च करोतीति विद्यायाः क-
र्मव्यस्तित्वं विनियोग इति, तत्राह—नचेति । अत्र तावत्सर्वविद्यानां सर्वकर्मसु विनियोगो न यथाश्रुति प्रति-
पिपादयितः । अशक्यत्वात् । तस्माद्योग्यविषये सकृच्चन्ती श्रुतिः प्रकरणमनुष्योद्वीथविद्याविषयतया च
तिष्ठते, तेन नात्मविद्यामास्कन्दत इत्यर्थः । एतदेवाक्षेपसमाधानाभ्यां दर्शयति—श्रद्धादिवदित्यादिना ।
यथा स्वविशेषितश्रद्धाभासस्य सर्वकर्माङ्गत्वमेवं विद्यामात्रस्यापि कर्ममात्रशेषता किं न स्यादित्यर्थः । तद्-
ङ्गतेति । सा विद्या अङ्गं यस्मिन् उपासनानुष्ठानस्य तत्तदङ्गं तद्भावात्तदङ्गता । अत्रापि हि न श्रद्धामात्रमुपयोगि-
नहि कारीरीश्रद्धा ज्योतिशोमोपयोगिनी, तस्माद्योग्यतावशेन विनियोक्यम् । तथाच पूर्वोक्तप्रकरणपीडने
कारणाभावाद्द्विधात्वाविशेषेणात्मविद्याप्रहेषि तत्तत्प्रकृतोपासनायामेव शेषत्वं, तत्रापि ‘सत्यकामः सत्यसक्त्य-
इत्यादिविद्यानां दहराद्युपासनानुष्ठानशेषत्वं, निर्गुणविद्यापि परोक्षा भावनोपयोगिनी, अपरोक्षा तु न किञ्चित्प्रति,
ततः परमनुष्ठानाभावादिति विवेक्यम् । उक्तधायमयो व्याकरणाधिकरणे भट्टपादे.—‘सर्वत्रैव हि वि-
ज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते । पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्येत्त्वयधारेण’ति । नापीति । यथाहि ‘वर्हिर्देवसदनं दि-
वानां सदनभूतं वर्हिर्दर्भमुष्टिशेष दामि खण्डयामीति वर्हिर्लवचनप्रकाशनसमर्थमन्त्रस्य सामर्थ्यलक्षणलिङ्गेन
वर्हिर्लवने विनियोगः, न तथेह किञ्चित्छ्रुतिसामर्थ्यमस्तीत्यर्थः । श्रुतिसामर्थ्यलक्षणलिङ्गाभावेपि लिङ्गान्तर-
मस्तीत्याशङ्क्य विपरीतलिङ्गस्यापि भावादिदमनिर्णायकमित्याह—नचोद्दालकेति ।

स्यादेतत् आत्मा तावदव्यभिचरितक्रतुसंबन्धः, तत्संबन्धि चेदमात्मज्ञानं, तादेह मा भूतां लिङ्गश्रुती, वाच्य-
मेवास्ति कर्मणि विनियोजकं, यथाहि—पर्णमयीतायाः सिद्धरूपतया फलजननाय क्रियासंबन्धसाकाङ्क्षाया
‘जुह्वा जुहोती’ति नियतप्रकृतिद्रव्यसाकाङ्क्षाव्यभिचरितक्रतुसंबन्धजुह्वारा वाक्येन कर्मसु विनियोगः तद्वदिति,
तत्राह—नच यस्येति । व्यभिचारमेवाह—तस्येति । नच देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं वैदिककर्माव्यभिचारीति
वाच्यम् । कारीयांदावभावेन तस्यापि व्यभिचारसाम्यादिति भावः । प्रकरणाद्विनियोगं निराचष्टे—नचा-
त्मज्ञानमिति । सन्निधिपठितैर्वाकाङ्क्षा भावनया पूर्यत इत्युत्सर्गः । यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितसन्नि-

१ सन्नित्प्रकारिणि विशेषिता विशेषणीकृता या श्रद्धा तन्मात्रस्यैत्यर्थः । २ आत्मविज्ञानं तु न संस्कारकं नापि
परात्ममिति भावः । ३ इष्टवृत्त्यादिकलकेलादिः ।

प्रकरणे श्रुतं, येन प्रयाजादिवत्कर्माङ्गतामशुवीत । नापि स्थानं, कर्मसंनिधावपठ्यमात्-
त्वात् । नापि समाख्या; संज्ञासाम्याभावात् । नचात्मज्ञानस्य कर्मण्युपकारप्रकारो नि-
रूप्येत । देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्योपयोगेऽप्यशनायाद्यतीतात्मविज्ञानस्य तत्रानुपकारित्वात् ।
नचाज्यावेक्षणदिवदृष्टद्वारेणोपयोगः । स्वप्रकरणपठितसंसारनिवृत्तिलक्षणदृष्टफलनिरा-
काङ्क्षस्यादृष्टफलकल्पनानुपपत्तेः । नच क्रियाकारकफलशून्यमद्वैतमात्मानं विज्ञानतः क-
र्मणि प्रवृत्तिरूपपद्यते । नच यमनियमादिप्रवृत्तिवदविरोधः । यमनियमादावप्यपरोक्षत्म-
विज्ञानवतो विधितः प्रवृत्त्यनङ्गीकारात् । 'तस्य कार्यं न विद्यते, ज्ञानामृतेन वृत्तस्य कृ-
त्तस्य योगिनः । नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववि'दिति स्मरणात् । भिन्ना-
दनादावपि व्युत्थानदशायां यदृच्छयैव प्रवृत्तेः । नचैवं कर्मणि प्रवृत्तिः, नियतदेशकाल-
तया तस्य विधानात् ।

एतेन ज्ञानकर्मणोः समुच्चयोपि निराकृतो वेदितव्यः, विरोधादेव । उक्तं हि 'यदि
यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते । तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानानुगो यत' इति । अपिच
दादिभिः कल्पनागौरवेण फलवैत्संनिधावित्यादिन्यायेनेतिकर्तव्यतासाकाङ्क्षप्रधानभावनाभिलाषोपपन्नम् । नच
पूषायनुमन्त्रणवदात्मज्ञानस्य स्वप्रकरणसमवायः कर्मप्रकरणसमवायो वा, येनासंनिहितमपि तत्रोपयुज्येत,
न च स्वप्रकरणपठितैरङ्गजातैरिनाकाङ्क्षस्य कर्मणः क्वचिदप्यपेक्षातीति भावः । स्थानसमाख्ययोस्तु संभव
एव नास्तीत्युपेक्षा कृता । उपयोगानिरूपणादित्येतद्विदुषोति—नचात्मज्ञानस्येति । यत्तददृष्टद्वारेणोपयोग
उक्तस्तत्राह—नचाज्यावेक्षणेति । उत्तरार्धं विदुषोति—नच क्रियाकारकेत्यादिना । उत्पन्ना-
त्मापरोक्षस्यापि स्वभाववशाद्यमावीनामनुरुत्तिर्घटते नैवं कर्मणामिति भावः । ज्ञानिनो विधेयव्यापाराभावे
स्यतीतारहं—तस्येति । स्यादेतत् भवतु निवृत्तिरूपाणां विधिव्यतिरेकेणाप्यनुरुत्तिः, भिन्नादनादेशे प्रवृत्तिरूपे
का वार्ता । नहि तदौदासीन्यात्मकमिति, तत्राह—भिक्षेति । यथा ह्यनियतदेशकालशुभाधीनतयाऽपि-
तद्वृत्तिर्भिक्षाहरणादिः, नैवं कर्म, तस्य 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत सायंप्रातरभिहोत्रं जुहोती'त्यादिनियत-
देशकालतया विधानादित्यर्थः । एतेन 'भ्रान्त्या चेह्यैकिकं कर्म वैदिकं च तथा वदेति भास्करदुर्द्वारोपि
चिकित्सितः । भ्रान्त्यविशेषेप्यवान्तरविशेषस्य दर्शितत्वादिति ।

एवं तावद्विद्यायाः कर्मशेषतानिरासेन कैवल्यफलता प्रसाधिता, इदानीं भवतु विद्यायाः कैवल्यसाधनता,
तथापि कर्मसमुच्चिताया एव न केवलाया इति समुच्चयवादिनो मतं निराकुर्वन् ज्ञानिनः कर्मणि प्रारब्ध-
पत्तिमुक्त्वा तत्राप्यतिदिशति—एतेनेति । अतिदिश्यमानं विशदयति—विरोधादेवेति । द्वेषा हि
समुच्चयः संभवति, समप्रधान्येन वा पञ्चागवत्, गुणप्रधान्येन वा प्रयाजदर्शपूर्णमासवत् । तत्रापि सर्वं
गुणः कर्म प्रधानमिति वा विपरीतं वा । तत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावावगमात् न
समसमुच्चयो, गुणप्रधानपक्षेपि परंपरया ज्ञानं प्रति कर्मणां गुणभावोभ्युपगत एव । यतु कर्म प्रधानं इत्वं
गुण इति तच्च, स्वरूपविरोधादिति भावः । अत्रैव गुरेश्वराचार्यसंमतिमाह—उक्तं हीति । न प्रधाना-
दिति । प्रधानमत्तौति प्रधानात् प्रधानविघातकः स तस्य गुणे न भवति यत् इत्यर्थः । यत्कर्ममिति-
विघातकं ज्ञानं तच्च कर्म प्रति गुणे भवतीति भावः । विभिन्नविदृष्टफलत्वाच्च न गुणगुणभाव इत्यद-
अपिचेति । नष्टविद्यात्ममयात्मकस्य नित्यप्रसंगभूताविकार्यनापेयगतिशयनिर्दोषानमावस्य मोक्षस्य इत्ये-
त्याद्यत्वं संभवति भवनेनेव पिण्डस्य । नाप्याप्यतः दोहनेनेव पयसः । नापि विघातकमिति चेत् । हे-

१ अत आरभ्य संघात्साम्यभावादित्यन्तः पाठः प्रमादावापः । देहव्यतिरिक्तमप्यज्ञानस्येति तत्रादृष्टद्वारेणोपयोगे
पूर्वं टीकायामुपलब्धेः अथ च 'उपेक्षाङ्गतेति' टीकावाक्याच्च । २ तस्यैव गुहातीत्यर्थः । ३ कर्मणां निवृत्तौ
तत्रामिति न्यायाकारः । ४ स्वभावः संस्कारः । ५ संमतिं गूढे रक्षित्वाप्यदोषानुरागं न्याय इति पाठो न-
पि ।

षत्पत्न्यान्निवृत्तिसंस्कृतयः कर्मणः फलं विद्यायाः पुनरविद्यास्तमयस्तत्कथमनयोः साहित्यम् ।
 नहि श्रुक्तिनाशकलं सकलमाकलयतः कलधौतविभ्रमनिवृत्तिः ज्ञानाऽऽचमनादिकर्मो-
 पेक्षया विलम्बते । तदेवं लौकिकेन न्यायेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव तदविद्यानिवृत्तिहेतु-
 रिस्त्वास्थेयम् । श्रुतिस्मृतिषु कर्मणो निर्वाणकारणतानिराकरणाद्यैतदवसेयम् । श्रूयते हि
 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, न कर्मणा न प्रजया धनेन,
 नास्त्यकृतः कृतेन, एतावदरे रररमृतत्व'मित्यादि । स्मर्यते च 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्रा-
 प्यते येन मुच्यते । कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
 यतयः पारदर्शिनः ॥' इति । नन्वेतानि वचनानि केवलानामेव कर्मणां कैवल्यसाधनत्व-
 निराकरणपराणि समुच्चितानां तूपपद्यते तत्साधनभावः, तथाच 'अन्यं तमः प्रविशन्ति
 येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता'इत्येकैकनिन्दापुरःसरं
 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति
 ज्ञानकर्मणोः समुचितयोर्मोक्षसाधनत्वप्रतिपादनात् ।

तथाहि संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च मुक्तिः, तत्र विद्येतरत्वेनाविद्यामूलत्वेन वा अविद्याशब्द-
 वाच्यानां कर्मणां मृत्युपदवेदनीयकर्मक्षयद्वारेण संसारनिवृत्तावुपयोगः, ब्रह्म एतात्मरूपतया
 नित्यप्राप्तमविद्यामात्रतिरोहितं कण्ठगतचामीकरवत्, न तत्राविद्यानिवृत्तेरधिकं कार्य-

मस्य । नापि सत्कार्यत्वं प्रोक्षणेनेव ज्ञाहीणाम्, एतावदेव च कर्मफलमतः कर्मफलविलक्षणमेव ज्ञानफल-
 मिल्यर्थः ।

इदानीमुत्पन्नस्य ज्ञानस्याविद्यानिवर्तने कर्मापेक्षैव नास्ति, ततो ज्ञानं प्रधानं कर्म गुण इति प्रयाजदर्शपूर्ण-
 मासवत्समुच्चय इति पक्षोपि न सम्भवतीति लौकिकन्यायेन दर्शयति—नहि श्रुतिकेति । कलधौत रज-
 तम् । निर्वाणो मोक्षः । एतदिति । ज्ञानकर्मणोरेकफलता नास्तीति । 'तमेव' त विदित्वैवेत्यपि योज्यम् ।
 अत्रिस्मृत्युमेति । मृत्यु जन्ममरणात्मकसंसारमत्येतील्यर्थः । अयनं मार्गः । तेन च गन्तव्यमुपलक्ष्यते ।
 क्षेमप्राप्तये ज्ञानव्यतिरेकेणान्यो मार्गो नास्तीत्यर्थः । अकृतो नित्यो लोकं कृतेन कर्मणा नास्ति
 न लभ्यते इत्यर्थः । अमृतत्वममृतत्वसाधनम् एतावत् यन्मयोक्तमात्मज्ञानं नात परमस्तीत्यर्थः ।
 पारदर्शिनः संसारावसानरूपः तत्त्ववेदिन इत्यर्थः । अत्र च समुच्चयवारी प्रदर्शितवचनानामन्यथासि-
 द्दिमाह—नन्वित्यादिना । नन्वविशेषेण प्रवृत्तनिषेधस्य केवलैधर्मपरतया सकोप किनिबन्धन इति,
 समुच्चयश्रुतिबलादित्याह—तथाचेति ।

नन्वत्र मृत्युतरणेऽविद्याया उपयोगः, अमृतप्राप्तौ च विद्याया, तत्कथमनयोरेकफलतया समुच्चयोऽत्र
 प्रतीयते इति, तत्राह—तथाहीति । नहि ब्रह्मप्राप्तिमात्रमपवर्गं, तस्य पूर्वमपि विद्यमानत्वेन साधनो-
 ध्यानवैयर्थ्यात् । नाप्यविद्यानिवृत्तिमात्रम् । अभावरूपस्यापुरुषार्थत्वात् । तस्मादविद्यानिवृत्तयुपलक्षितब्रह्म-
 प्राप्तिरपवर्गं, तत्रचोभयमपि साधनमित्यर्थः । अस्त्येव, तथापि कर्मण किमायात समुच्चये, अविद्यया मृत्यु-
 तरणं प्रतीयत इति, तत्राह—तत्र विद्येतरत्वेति । अन्यत्वं नचोर्थं, कारणवारी वा कार्ये लक्षणया प्रवर्तत
 इत्यर्थः । तथापि कथं कर्मण संसारनिवर्तकत्वं, यावता मृत्युतरणमेव तेन प्रतीयते, तत्राह—मृत्युपदेति ।
 धर्मभिस्तु कर्मक्षयस्तद्वारा च मोक्षोपयोग, ज्ञानेन तु साक्षादविद्यानिवृत्तिरिति ज्ञानोपयोगमाह—ब्रह्मविविति ।

मस्तीति अविद्यानिवृत्तौ विद्यायाः उपयोगः । तदिदमुक्तं—'विद्ययाऽमृतमभुव' इति । यत्पुनः परेषां व्याख्यानं 'देवताज्ञानमिह विद्याशब्देन विवक्षितं, तस्य कर्मणा समुच्चयोऽनेन वाक्येन कथ्यते' इति । तदयुक्तम् । प्रक्रमाननुगुणत्वात्, ईशावास्ये परमात्मनः प्रकान्तत्वात् । तथाच धृतिः—'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृतैजसश्च । सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येव आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यमिति स्पष्टमेव समुच्चयं प्रतिपादयति । स्मृतिरपि—'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् । तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमभुते ॥' 'तत्प्राप्तिहेतुज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने । यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् । एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महर्दि'त्यादिका । तेन च वाचनिकसमुच्चयानुसारेण कर्मनिन्दापराणां वाक्यानां केवलकर्मविषयतैवेति निश्चीयते ।

नच मोक्षस्य साक्षाद्ज्ञानं साधनं कर्माणि तु पापाऽपाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानीति वर्चनानां व्यवस्था । 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय' इत्यादेस्तु लाङ्गलेन वयं जीवामह इतिवत्पारंपर्येणापि तत्साधनपरत्वोपपत्तेरिति युक्तम् । साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन प्राप्तस्य कर्मणः साधनसाधनत्वग्रहणे प्राप्तान्वयबाधप्रसङ्गात् ।

'नान्यः पन्था' इत्यादेस्तु निषेधस्य केवलकर्मविषयतयान्तरेणापि प्राप्तान्वयबाध संको-

'अमृतमभुव' इति प्रतिबन्धकाविद्यानिवृत्तिर्विषयत इत्यर्थः । अत्र सिद्धान्त्यन्ययोजनामुद्भावयति पूर्ववादी—यत्पुनरिति । प्रक्रममेव दर्शयंस्तदननुगुणतां दर्शयति—ईशावास्य इति । अत्र हीष्ट इतीद् परमेश्वरः तेन परमेश्वरेणेशा वास्यमाच्छादनीयं व्याप्यम् । वस निवास इत्यसादातोर्प्येति वास्यमिति रूपम् । कारणं हि कार्यं स्वस्मिन् वर्तयति । इदं सर्वमिति परमात्मैवोपक्रान्तस्तद्विरुद्धं च मध्ये देवताविज्ञानाश्रयणमित्यर्थः । तेनैतीति । यस्तैजसो योगी ब्रह्मवित्पुण्यकृत् भवति अद्यै तेनोत्तरमार्गैवेति गच्छतीति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्त्वयोरेकपुरुषसंबन्धकीर्तनात् ज्ञानकर्मणोः समुच्चयवचीयत इत्यर्थः । सत्यतपो-ब्रह्मचर्याणां च सम्यग्ज्ञानेन समुच्चयोपि ऋषिप्रतिपाद्यत इत्याह—सत्येनेति । पराशरदशस्मृतिपर्वलो-चनयाप्येवमेवावसीयत इत्याह—स्मृतिरपीति । एवं निन्दावचनानां केवलकर्मविषयतायामुपपत्तिं हेतुमुपसंहरति—तेनेति ।

स्यादेतत् ज्ञानमेव साक्षान्मोक्षसाधनं, कर्माणि तु पापलक्षणप्रतिबन्धापाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानि, 'धर्मण पापमपनुदती'ति श्रुतेः । तद्वारा च मोक्षसाधनमतः साक्षादभावपराणि निन्दावचनानि समुच्चयवचनानि तु साधनतया पारंपर्येण समुच्चयपराणि इत्यस्तु व्यवस्थेति, तत्राह—नच मोक्षस्येति । ननु 'कर्मणैव हि संसिद्धिमि' त्यादीनि कर्मणामपि साक्षान्मोक्षसाधनता दर्शयन्तीति, तत्राह—कर्मणैवेति । यथाहि शा-क्षात् जीवनसाधनौदनादिसाधने लाङ्गलादौ लाङ्गलेन वयं जीवामह इति जीवनसाधनत्वव्यपदेशस्यैव-त्यर्थः । नच युक्तमित्युक्तं, तत्र हेतुमाह—साक्षादिति । वचनतत्त्वावत्साक्षात्साधनत्वं प्राप्तं, तस्य बाधो-ऽयुक्तः, रागतः प्राप्तं हि बाध्यते, न शास्त्रतः प्राप्तम् । तुल्यं हि साप्रदायिकम् । इतरथा योऽपि महापादो-वपि विकल्पानवकाशप्रसङ्गात्, निषेधस्य निषेध्यसापेक्षतया दुर्बलत्वाद्येति भावः ।

ननु 'नान्यः पन्था विद्यतेऽन्याये' त्यादिवचनान्यपि ज्ञानव्यतिरिक्तं मोक्षसाधनं वारयन्ति, तथाच कर्म-णामपि मोक्षसाधनत्वे तेषु प्राप्तान्वयबाधः समान एवेति, तत्राह—नान्यः पन्था इति । यदिदं ज्ञानव्य-तिरिक्तमस्तनिवारकवचनस्य तदेकदेशे केवलकर्मविषये व्यवस्थापनं, नाय बाधोऽपि संकोचः, युतायस

चेनाप्युपपत्तेः । नच वाच्यमन्वयवाध एवात्र युक्तः 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विवि-
दिपन्ति यज्ञेन दानेन, धर्मात्सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षोऽधिगम्यते, योगिनः कर्म कु-
र्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये, कपाये कर्मभिः पके ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्यादिश्रुतिस्मृति-
वाक्यैः कर्मणां मोक्षसाधनसाधनत्वेन विनियोगादिति । ज्ञानस्यैव कैवल्यसाधनत्वे 'ततो
भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता' इति केवलविद्यानिन्दानुपपत्तेः । नच समुच्चयपक्षे
'नान्यः पन्था विद्यते, न कर्मणा, नास्त्यकृतः कृतेने'ति कर्मनिषेधानुपपत्तिः । तद्वचनानां
षड्यागवत्साक्षात्समप्रधानतया साधनतानिषेधपरत्वात् । अभ्युपगम्यते हि व्यवधानेन
कर्मणां मोक्षसाधनत्वम् । व्यवधानत्वं च करणोपकारो, न तदुत्पादकत्वम् ।

नचैवमपि कर्मसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वदोषः 'तद्यथेहे'त्यादिश्रुतेः यत्कृतकं तदनि-
त्यमिति न्यायाच्चेति युक्तम् । बन्धप्रध्वंसे कर्मणामुपयोगात्, बन्धप्रध्वंसस्य कृतकत्वेपि
नित्यत्वात्, अन्यथा नष्टानेष्टिप्रसङ्गात् । 'वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति' इत्यत्र
सन्वाच्येच्छायाः करणसंबन्धानुपपत्तावधेन जिगमिपतीत्यादाविवोभयवादिसंप्रतिपन्नेष्य-
माणवेदनोत्पत्तावेव कर्मणां करणत्वावगमात् न कर्मणां करणोपकारकत्वम्, करणे मु-
ख्यायां यास्तृतीयाश्रुतेः करणोपकारकत्वे भङ्गप्रसङ्गादिति न वाच्यम् । 'यज्ञेन विविदिपन्ती'-

सर्वथा परित्यागामावादिष्यः । अत्र यदानन्दबोधाचार्यैरुक्तं तदनुद्य दूषयति—नच वाच्यमित्यादिना ।
अन्वयवाधे हेतुमाह—तमेतमित्यादिना । अत्र हि वेदानुवचनोपलक्षितब्रह्मचर्याश्रमकर्मणा यज्ञदानोप-
क्षितगार्हस्थ्यश्रमकर्मणां तपउपलक्षितवानप्रस्थाश्रमकर्मणा च विविदिपन्तीति वेदनेच्छाया वेदने वा विनियोगः
प्रतीयते, तत्रापि वेदन इति तत्त्वम् । इच्छाया विषयसौन्दर्यज्ञानाधीनत्वात्, तथा धर्माज्ञानमिति चामनोऽ-
न्त-करणस्य शुद्धये कर्म कुर्वन्तीति च 'कर्मभिः कपाये पके' इति च ज्ञानं प्रति चित्तशुद्ध्यादिद्वारेण विनियोगा-
च्छात्रेणैव व्यवस्थाया दर्शितत्वात्प्राप्तान्वयवाध एव युक्त इति भावः । नच वाच्यमित्युक्तं, तत्र हेतुमाह—
ज्ञानस्यैवेति । यदि हि केवलविधेव विधिरितता ततस्तज्जिन्दा नोपपद्येतैल्यर्थं । पूर्वं कर्मनिषेधवचनानां केव-
लकर्मविषयतया गतिरुक्ता, सप्रति गत्यन्तरमप्याह—नच समुच्चयेति । ननु यदि न समुच्चयसार्थ-भ्युपग-
तहानिरिति, तत्राह—अभ्युपगम्यते इति । नन्वस्माभिरपि साधनसाधनतया व्यवधानमेवाङ्गीक्रियते, तदिक-
मधिकमाचरितमायुष्मतेति, तत्राह—व्यवधानत्वं चेति । प्रयाजादिवदेयामङ्गलं, ननु प्रोक्षणादिवदित्यर्थः ।

ननु यद्यपि समप्रधानतया मोक्षसाधनत्वं नास्ति, तथापि करणोपकारकत्वे करणैतिकर्तव्यतयोरैकविषय-
तया कर्मसाध्यत्वं मोक्षस्य स्यात् । नच तद्युक्तम् । 'यत्कृतकं तदनित्य'मिति न्यायानुगृहीततया 'तद्यथेह
कर्मचितो लोक' इत्यादिश्रुत्यवगतानित्यत्वापत्तेनापुनरावृत्तिव्याघातादिति, तत्राह—नचैवमपीति ।
हेतुमाह—यन्वेति । ततः किमिति, तत्राह—यन्धप्रध्वंसस्येति । ननु करणोपकारकत्वकल्पनमप्ययुक्तं,
'तमेत'मिति श्रुतौ साधकतमार्थतया तृतीयया करणत्वप्रतिपादानादिलानन्दबोधाचार्योक्तमुद्गाह्य दूषयति—
वेदानुवचनेनेति । करणसंबन्धानुपपत्ताविति । उपसर्जनं द्वेषा या सन्वाच्येच्छा । नचायं लिङ्गार्थवद्वा-
च्यार्थं, येन प्रत्ययार्थप्राधान्यं स्यात् 'प्रकृतिप्रत्ययो प्रत्ययार्थं गृह्यते' सनोऽन्यत्रे'ति च न्यायः । तदुपसर्ज-
नमेवा । नचोपसर्जनेनान्वयो युक्तः 'नोपसर्जनं पदं पदान्तरेण संबध्यते' इति न्यायात् । तस्मात्प्रधान-
वेदनेनैव संबध्यत इत्यर्थः । अध्येनेति । यथा ह्यधेन जिगमिपतीत्यत्राश्रय गमन प्रत्येव साधनता,
ननु गमनेच्छां प्रतीयत्यर्थः । अथ करणोपकारकत्वेऽपि साधनत्वात्तृतीया किं न स्यादित्यत्राह—करण इति ।
नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुं दर्शयन्करणोपकारकपरतया धारणं योजयति—यज्ञेनेति । नन्वत्र विविदिष-

१ करणोत्पादकत्वमित्यर्थः । २ नह्यस्य प्रतियोगिनोऽनेष्टिप्रसङ्गाऽङ्गमञ्जनापत्तेरित्यर्थः । ३ वेदने विशेषणमित्य-
भिप्रायः । ४ सत्रार्थस्य धातुनोपपत्तेन सनो योतकत्वमिति भावः । ५ वस्तुतस्तु प्रकृतिप्रत्ययो सहायं मृतस्तयोः
प्रत्ययार्थः प्रधानमित्येव न्यायाकार उपलभ्यते । वेदनेन उद्देश्यत्वलक्षणाधैमाधान्यसत्त्वेन यशादीनां तत्रान्वयः ।
इच्छायास्तु शाब्दप्राधान्यसत्त्वेऽपि तस्या विषयसौन्दर्यज्ञानाधीनत्वेन यशादीनां तत्राद्यत्वेन नान्वयः ।

त्यत्रापूर्वत्वाद्धिधिपरवाक्ये विध्यवच्छिन्नभावनारूपवाक्यार्थानुप्रवेशेनैव पदार्थानां परस्पर-
संबन्धात्, तस्याश्च भावनाया मोक्षभाव्यावच्छिन्नत्वात्, धात्वर्थस्य च स्वतोऽसमीहिततया
भाव्यत्वानुपपत्तेः । ततश्चान्यार्थप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वलक्षणकरणभाव एव धात्वर्थस्य ।

तथाच लब्धश्रौतधात्वर्थकरणायां भावनायां यज्ञादीनां करणत्वेनानुप्रवेशानुपपत्तेस्तद-
पेक्षितकरणोपकारद्वारेण तेषां संबन्धः, ततश्च यज्ञादिभिरुपकृत्येति वाक्यार्थः संपद्यते । नच
शमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात् भावनाया यज्ञादीनां विधेयधात्वर्थकरणत्वेनैवान्वय इति
वाच्यम् । उभयोरपि प्रयाजानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यत्वेनैवान्वयोपपत्तेः ।
तदेवं बाधकाभावात्साधकसद्भावाच्च कर्मसमुच्चितमेव ज्ञानं मोक्षसाधनमिति । तदिदमसु-

न्तीति वर्तमानोपदेशादिधायकमेवेदं न भवति, तत्राह—अपूर्वत्वादिति । यथा 'ह्याश्विनं गृह्णाति मैत्रा-
वरुणं गृह्णाती' त्यादौ 'वचनान्यपूर्वत्वा'दिति न्यायेन विधिपरतया विधिविभक्तित्वेन परिणामः कृतः, यथा
च 'समिधो यजती'त्यादावपूर्वत्वादेव लिङ्परिग्रहः कृतः, एवमत्रापिती भावः । विध्यवच्छिन्नेति । प्रधा-
नेन हि गुणानामन्वयः, भावना च प्रधानमिति तयैवेतरेपामन्वयः, पश्चाच्चारुणाधिकरणन्यायेन तमेवान्वयं
निर्वहं योग्यतावशेन परस्परं पारिणिकोन्वय इत्यर्थः । अस्तु प्रकृते किमायातमिति, तत्राह—तस्याश्चेति ।
विधिविदपन्तीत्यत्राख्यातविशेषलिङ्गा शाब्दभावनामिधीयते, आख्यातविशेषेण च पुरुषप्रयत्नरूपार्थभावना-
प्यभिधीयते, साच किं भावयेत्, केन भावयेत्, 'केवेतिकृत्येति भाव्यकरणेतिकर्तव्यतालक्षणांशत्रयवती
प्रतीयते, एतदाकाङ्क्षात्रयपूरकतयैव चेतरेपामन्वयः । तत्रच रात्रिसत्रन्यायेनार्थादिकमोक्षो भाव्यत्वेनान्वे-
तीत्यर्थः । ननु कथं मोक्षस्य भाव्यत्वं, यावता समानपदोपात्ततया श्रौतस्य धात्वर्थस्य मित्रपदोपात्ततया-
वाक्यप्राप्तात् प्राकरणिकाद्वा मोक्षाद्बलीयस्त्वेन तस्यैव भाव्यत्वमिति, तत्राह—धात्वर्थस्यचेति । अय-
मर्थः—चेतनसमीहास्पदं हि फलं, तत्साधनविधायिना चानेन वाक्येन भवितव्यम्, उपदेशत्वात् । तथा च
भवतु नाम समानपदोपात्तो धालर्थः, तथापि दुःखान्मकत्वेनासमीहास्पदत्वाच्च तस्य भाव्यत्वम् । अपिच न
फलस्य वाक्यार्थत्वम् । इष्टसाधनरूपभावना हि लिङ्गदिनामिधीयते, तयोचेष्टमपि भाव्यमनिहितमेव, तेन
पदान्तरेण तु परं तस्यैव विशेषसमर्पणम् । अत एव 'ज्योतिष्टोमेने' त्यादौ तृतीययोगश्च, तस्मात्समानपदो-
पात्ताद्धात्वर्थात्समानप्रत्ययोपात्तमोक्ष एव बलीयात् । यथाहुः—समानप्रत्ययश्रुत्या बलीयस्या हि वाच्यत
इति । तस्मान्मोक्षस्यैव भाव्यत्वं न भाव्यर्थस्येति, कथं तर्हि धात्वर्थस्यान्वय इत्याशङ्क्य करणतयैत्याह—तत-
श्चेति । अन्यार्थं स्वर्गमोक्षोद्देशेन प्रवृत्ता या भावना तथा चान्तराले भाव्यत्वलक्षणे यः करणभावः स एव
धात्वर्थस्य भवति, अत्र च फलव्यवच्छेदार्थमन्यार्थपदम् । कुठारदेरपि द्वैधीभावाद्युद्देशेन प्रवृत्तपुरुषप्रयत्न-
भाव्यत्वमेव हि करणत्वं तदत्रापि समानमित्यर्थः ।

तथापि यज्ञादेरितिकर्तव्यत्वे किमायातमिति, तत्राह—तथाचेति । लब्धं श्रौतं समानपदश्रुतिद्वं
धात्वर्थलक्षणं करणं यथा भावनया सा तयोक्ता । अत्रोपपत्तिर्भिन्नपदोपात्तस्य समानपदोपात्तादुर्बलत्वादिति
भावः । अन्वयप्रकारमेवाभिनयति—ततश्चेति । अत्र 'शान्तो दान्त' इत्यादिवाक्यपरिप्राप्तशामादीतिकर्त-
व्यतानिराकाङ्क्षत्वात्तद्वारेणाप्यनुप्रवेशो न युक्तः, तथाच तृतीयानुसारेण कर्तृकरणतयैवैपामन्वय इत्यानन्द-
बोधाचार्याः, तन्निषेधति—नचेति । भावनया हि साक्षादन्वयः श्रेयान्, तथाच प्रकरणेन शमादिवदेव य-
ज्ञादीनामपीतिकर्तव्यतयैवान्वय इत्यभिमानः । पूर्वपक्षिणा एवमुपपादितं समुच्चयं दूषयति सिद्धान्ती—
तदिदमिति । यज्ञादेस्तृतीययैव तावद्विधेयभावनां प्रति करणत्वं प्रतीयते, तद्यदि साक्षात् संभवति, तर्हि
परंपरयापि करणत्वमेव श्रेयः, श्रुतिलोभात्, इतरथा प्रकरणैलोमेन श्रुतिबाधः स्यात्, नच तस्युक्तं, शुलपेन-

१ इदं पूर्वोक्तं । २ अत्र कर्तृपक्षेति पाठो भाति । ३ न पदान्तत्त्वंमित्यर्थः । ४ धात्वर्थस्य भाव्यत्वे-
नान्वये हि तद्विशेषणे द्वितीया स्यात् स्तोत्रं पंचतीविवदिति भावः । ५ स्वरूपेणामाव्यत्वेऽपि व्यापारवच्छेदात्
बोध्यम् । ६ करणोत्पत्तकत्वेनेत्यर्थः । ७ प्रकरणवल्लम्बस्य समीकारपदस्य भाव्यत्वेन वेदनस्य फलत्वेन यज्ञ-
रितिकर्तव्यत्वेनान्वयस्यकारणेत्यर्थः ।

न्दरम् । 'यज्ञादेः करणत्वेन श्रुत्यैव प्रतिपादनात् । शेषत्वाधिगतावेव प्रक्रमस्याप्युपश्र-
यान्' ॥ ५ ॥ विविदिपन्ति यज्ञेन दानेनेति तृतीयाश्रुत्या विधेयविज्ञानकरणत्वेन यज्ञादेः
प्रतिपादनात्, तेषां फलोपकार्यङ्गत्वकल्पने श्रुतिबाधप्रसङ्गात् । नच प्रकरणप्रमाणेन प्रया-
जानुयाजादिवदगृहमाणविशेषतयेतिकर्तव्यतात्प्रमेव यज्ञादीना शमादिवदिति वाच्यम् ।
प्रकरणस्य सामान्यतः शेषत्वबोधनेनैव चरितार्थत्वात्तद्विशेषं प्रति श्रुत्यादीनामेव प्रमाण-
त्वात् । तस्माद्ग्रीहिभिर्यजेते' त्यादाविव करणशरीरनिर्वर्तकतया च यज्ञादीनां करणत्वं
यज्ञेनेति तृतीयाश्रुत्या निश्चीयते । यज्ञादिभिरुपकृत्येति व्याख्याने साध्याहारयोजनाप्र-
सङ्गात् ।

या ध्वन्तरितत्वात्तस्य । नच प्रकरणस्य श्रुतिविरोधश्चाप्यस्तीत्याह—शेषत्वेति । सामान्यसबन्धबोधक हि
प्रकरण, विशेषस्तु श्रुत्यादिभिरेव प्रार्थनीय । क्वचित्तु श्रुतिखिन्नवाक्यानामप्रवृत्तौ प्रकरणेन विशेषविनियोग ।
यथाहु—'अस्युक्त प्रकरणादि ति । श्रुत्यादिनाऽस्युक्त प्रकरणाद्विनियुज्यत इत्यर्थं । तस्मात्सामान्यसब-
न्धबोधिनः प्रकरणस्य न करणतया विशेषसबन्धबोधकश्रुत्या विरोधः । अत एव नागृहमाणविशेषता, यज्ञा-
देस्तृतीयाश्रुत्या करणत्वप्रतिपादनात्, शमादेश्च तदभावादिति भावः । श्लोकः विवृणोति—विविदिपन्ती-
त्यादिना । उत्तरार्थं व्याचष्टे—नच प्रकरणेति । प्रयाजानुयाजादिवदित्यगृहमाणविशेषताया दृष्टान्तः ।
शमादिवदिति चेति कर्तव्यतायाम् । श्रुत्यादीनामेवेति । प्रकरणेनैव शेषतः कर्मत्वकरणत्वादिलक्षणवि-
शेषसिद्धौ तद्विशेषबोधकश्रुत्यादिवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति भावः । स्यादेतत्, यदि विधेयधात्वर्थकरणतया यज्ञादयो
विधीयन्ते तर्हि भावना प्रति धात्वर्थं त प्रति यज्ञादय इति वैरूप्याद्वाक्यभेद इति चेन्न । विशिष्टविधान-
त्वेन दोषाभावादित्यभिप्रेत्याह—तस्माद्ग्रीहिभिरिति । यथाहि ग्रीहिभिरित्यत्र यागलक्षणकरणशरीरनि-
र्वर्तकतया भावनान्वयस्तथेहापीत्यर्थः । इदं तु चिन्त्य कथमुदाहरणसाक्ष्यमिति, नहि ग्रीहि-
भिर्यजेतेत्यत्र यागो विधीयते येन विशिष्टविधानं स्यात्किंत्वधिकारवाक्यसिद्धयामानुवादेन ग्रीह्य एव वि-
धीयन्ते, तस्मात्करणकरणतमात्र एवेदमुदाहरणम् । उदाहरणं तु 'सोमेन यजेते' त्यादि । तथाचैकभावना
बरोधान्न धान्यभेदप्रसङ्गः । अतएव च यज्ञायनेकगुणा अपि शक्यन्ते विधातुम्, प्राप्तेहि कर्मण्यनेकगुण
विधानानुपपत्तिः । यथाहु—'प्राप्त कर्मणि नानेको विधातुः शक्यते गुणः । अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवो
प्येकयत्नतः' इति । तस्मात् 'सोमेन यजेते'तिवत् 'यज्ञेन विविदिपन्ती ति विशिष्टविधानम् । अपरेतु 'प्रज्ञा
सुवाति ति हि विज्ञानानुवादेन यज्ञादिगुणो विधीयत इति वदन्ति, तत्पक्षे वाक्यभेदो दुष्परिहरः । एतच्च
ज्ञानविधिमङ्गीकृत्योक्तम्, वस्तुतस्तु ज्ञाने नास्त्येव विधिः, पुरुषेच्छानधीनत्वात् । यथाच ज्ञानविधानं न
घटते तथा कार्यवादे एव प्रपञ्चितम् । तस्मादपरोक्षज्ञानं परमसुखसाक्षात्कारतया फलमनूय चित्तशुद्धिद्वारा
तत्साधनत्वेन यज्ञादयो विधीयन्ते, नच वाक्यभेदो दोषाय, गलत्तरभावात् । नच भावनाया वाक्यार्थता,
तत्र सगल्यग्रहात् । सिद्धार्थनिष्ठवाक्यानां कायवाद एव समर्थनात्, प्रवतकवाक्यानामपीष्टसाधनत्वमात्र
एव विभ्रातरवात्, प्रवृत्तेस्त्वर्थसिद्धत्वात् । यथाचेष्टसाधनमेव लिङ्ग्यस्तथा दर्शित कार्यवादे । शब्दभावना
तु दूरोत्सारिता, प्रमाणानावात् । नहि शब्दस्य सप्तप्रहणं तत्संस्कारोद्बोधं चान्तरेण शब्दभावना
नाम कश्चिद्वापारः सम्भवतीति । किंच त्वपक्षे यज्ञादिभिरुपकृत्यं वेदनेन मोक्षभावयेदिति योजनीयम् ।
तथाचाश्रुतमध्याहर्णीयम्, उपकृत्येश्रुतत्वात्, त्वपक्षे तु न किंचिदध्याहार्यं, तृतीयाया करणताया
श्रुतत्वादित्याह—यज्ञेति ।

१ विहितेत्यादि । २ यज्ञादीनां बहूनां विधानादिति भावः ।

नच यज्ञादीनां श्रवणादिवत्साक्षाद्विज्ञानसाधनत्वाभावात् करणत्वानुपपत्तिः । परम्परासाधनेष्वपि लोके वेदेषु करणत्वाभ्युपगमात्, अभ्युपगम्यते हि ज्वालान्वयवधानेनैव काष्ठानां पाके करणत्वम्, अपूर्वव्यवधानेनैव स्वर्गे चागस्य, तथेहापि परिपन्थिदुरितशोधनव्यवधानेन यज्ञादेर्विज्ञानकरणतायां न कश्चिद्विरोधः । तदेवं तृतीयाश्रुत्या यज्ञादेर्विज्ञानकरणत्वाधिगतौ सर्वाण्यपि समुच्चयवचनानि परम्परासमुच्चयप्रतिपादनपराणीत्यभ्युपेयम् । नच केवलविद्यानिन्दानुपपत्तिः । 'निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेपि संभवात् । प्रक्रमस्यापि बाध्यत्वाद्ब्रह्मीयस्या तृतीयया' ॥ ६ ॥ निन्दाया देवताविज्ञानविषयत्वेनाभ्युपपत्तेः । नच परमात्मोपक्रमविरोधः । 'यज्ञेने'ति तृतीयाश्रुतेः प्रक्रमाद्ब्रह्मीयस्त्वेन तद्बाध्यविरोधात् । क्रमसमुच्चयविषयत्वेनाभ्युपपत्तेश्च ।

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुत' इति पौर्वापर्याभिधानात् । 'सह वेदे'ति च वेदन एव सहभावश्रवणात्, प्रक्रमानुरोधेनात्मविद्याविषयत्वेप्यपरिपक्वात्मज्ञानविषयतयाभ्युपपन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति—विद्यापरिपक्वात्प्रागेव ये यथास्वं विहितं नित्यादिकर्म त्यजन्ति तेषामुपात्तदुरितक्षयाभावाद्बिहिताकरणनिमित्तप्रत्यवायस्याहरहरूपचीयमानत्वेनाशुद्धान्तःकरणतया परिपक्वात्मविद्यानुदयात् न कैवल्यं, शुभकर्मपरित्यागाच्च नाभ्युदय

ननु यद्यपि तृतीयाया करणत्वं-यज्ञादीनां ज्ञानं प्रति श्रूयते, तथापि तत्र संभवति, प्रमाणाधीनस्य ज्ञानस्य यज्ञयजन्त्यत्वात् । नहि प्रत्यक्षादिमध्ये यज्ञादयः किञ्चित्प्रमाणम् अतो यथाश्रुतार्थोत्तमवाद्ब्रह्मापि योजनं श्रेय इति, तत्राह—नच यज्ञादीनामिति । यद्यपि साक्षाज्ज्ञानं प्रति न साधनं, श्रवणादीनामेव तत्त्वात्, तथापि यज्ञादेः परंपरया संभवति, तदप्यभ्यर्हितमेव, इतरथा श्रुतिबाधप्रसङ्गात् । नच निर्देशायुक्तिः, लोकवेदयोर्दृष्टचरत्वादिति भावः । परिपन्थीति । परिपन्थिभूतं यदुरितं तत्परित्योधानेन यद्यवधानं तेनेति योजनम् । एवं श्रुत्यैव साधनसाधनतायां दर्शितत्वात्साधारणसमुच्चयवचनान्येतदानुगुण्येन परंपरया समुच्चये व्यवस्थापनीयानीत्याह—तदेवमिति । दुर्बलं हि वाक्यं श्रुतेरिति भावः । यत्केवलविद्यायाः साधनत्वे 'ततो भूय' इति तन्निन्दा नोपपद्यते, विधित्सितस्य निन्दायोगादिति, तच्च श्लोकेन परिहरति—निन्दाया इति । यत्स्वीशावासे परमात्मोपक्रमविरोधाच्च देवताविज्ञानस्य निन्दा वा समुच्चयो नोपपद्यत इति, तत्राह—प्रक्रमस्येति । विट्ठोति—निन्देति । एवमुपासनाविषयत्वेन परिहारोभिहितः, इदानीमस्तु परमात्मविद्यैवोपक्रमानुसारेण, तथापि न विरोधः, उपायोपेयभावेन क्रमसमुच्चयपरतयाभ्युपपत्तेरित्याह—क्रमेति ।

न केवलमुपपद्यत इत्येतावन्मात्रम्, अपि त्वेवमेवोपपद्यते, इतरथा क्रमश्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गादित्याह—अविद्ययेति । ननु परम्परापक्षे सहवेदेति फलं प्रति साहित्यमनुपपन्नमिति, तत्राह—सहेति । उपायत्वज्ञान एव सहभावो, ननु फलं प्रतीति भावः । नन्वस्मिन्पक्षे कथं निन्दोपपत्तिः, नहि प्रक्रमानुसारेण परमात्मविद्याकर्मणोः परंपरया समुच्चयस्वीकारे साक्षात्साधनभूतकेवलविद्यानिन्दोपपद्यत इति, तत्राह—प्रक्रमेति । उपपन्नत्वात्निन्दाया इति शेषः । अयमर्थः—नास्मिन्पक्षेऽविद्यानिवर्तनसमर्थकेवलानुविद्याविषया निन्दः, किं तर्ह्यपरिपक्वात्मविद्याविषया । तथाच—यावत्परिपक्वदक्षविद्योदयमाश्रमादिविहितकर्मोपप्रेयानीति फलिष्यतीति । उक्तार्थे 'ततो भूय' इति वाक्यं योजयति—एतदुक्तमिति । अन्तःकरणमुदेः प्रगैवासापातज्ञानोदयमात्र एव कृतार्थमन्याः सन्तो ये यथाविहितानि चित्तशोधकानि कर्माणि त्यजन्ति उभेयप्रश-

इत्यात्यन्तिक एवाधःपातः स्यादिति । तत्रैवाक्षरयोजना । विद्यां परिपक्वात्मज्ञानलक्षणाम्, अविद्यां च फर्मलक्षणां यः सह उपायोपेयभावेन वेद । सोऽधिकृतः पुरुषोऽविद्यया फर्मलक्षणया विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकं मृत्युपदवेदनीयं पापं तीर्त्वा विद्यया परिपक्वासाक्षात्कारलक्षणयाऽमृतं निर्वाणम् अश्नुत इति ।

इदमत्राकृतम्—आविद्यापरिपाकाद्यथास्वं कर्मानुष्ठेयं, विद्या तु परिपक्वा कर्मनिरपेक्षैव मोक्षं साधयिष्यतीति । समुच्चयवादिनोपि न तावत्काम्यकर्मणां समुच्चयः, तस्य समुक्षुणा परित्यागात् । नापि नित्यनैमित्तिकैः, तत्तदाश्रमविहितानां तेषामुत्कर्षापकर्षवत्त्वात्कर्मभूयस्त्वात्कलभूयस्त्वन्यायेन कैवल्यफले तावद्भ्युपेयाविति स्वर्गवदवर्गास्यापि सातिशयत्वेनानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् । तस्माज्ज्ञानमेव कैवल्यसाधनमित्यभ्युपेयम् ।

‘सत्येन लभ्यस्तपसे’ त्यत्रापि सत्यादीनां ज्ञानसाधनत्वं, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमित्यभ्युपेयम् । विविदिपावाक्ये यज्ञादीनां विज्ञानसाधनत्वस्यावधृतत्वात् । ‘तेनैति ब्रह्मवि-

समुपचितदुरितनिचयाश्चात्यन्तमधः पतन्तीत्यर्थः । एवं निन्दावाक्यं योजयित्वा ‘विद्यां चाविद्यां चे’त्येतदपि कमसमुच्चयपरतया योजयति—तत्रैवेति ।

फलितं संकल्प्य दर्शयति—इदमिति । अथवा स्वाश्रमविहितं कर्मानुष्ठेयं, विद्या तु केवला मोक्षसाधनमिति विरोध इति, तत्राह—इदमिति । चित्तशुद्धिपर्यन्तं यज्ञाद्याश्रमकर्माण्यनुष्ठेयानि, शुद्धे तु चित्ते सर्वकर्मसंन्यासलक्षणं पारिमाज्यमास्थितेन साधनचतुष्टयसम्पन्नेन ध्वषाणायावर्तनीयम् । ततश्च मननविधिष्यासनशमदमाद्यनेकविधेतिकर्तव्यतोपेतपरिनिष्पन्नध्रुवणस्यासति प्रतिबन्धे वर्तमानशरीर एवापरोक्षज्ञानं जायते, उत्पन्नं त्वपरोक्षज्ञानमन्यानपेक्षमेवाविद्यां निवर्तयतीति भावः । एतेन शिक्षायज्ञोपवीतत्यागोपलक्षितपारमहंस्यसंन्यासोपि समर्थितः । कर्माङ्गभूतानां शिक्षादीनां शेषिकर्मपरित्यागे सुतरां परित्यागात्, श्रुतिस्मृतिशास्त्रेण च ज्ञानाङ्गत्वेन तत्प्रागस्य विधानात् । विचारितं चानापरिमितमितिभित्तैस्त्वेतत्परिचितं नास्माभिः परारुम्यते । किंचेदं समुच्चयवादी प्रष्टव्यः—किं काम्यकर्मभिः समुच्चयो नित्यनैमित्तिकैर्वा । नाथ इत्याह—समुच्चयेति । इहामुत्रार्थभोगविरक्तो हि समुच्छुरिति भावः । द्वितीयं इत्ययति—नापीति । नहि सर्वेष्वशास्त्रेषु समानानि कर्माणि । नहि गृहिणो यावन्ति तावन्तीतरेषाम् । उक्तं हि ‘कृत्स्नभार्यान्तु गृहिणोपसंहार’ इति । तस्मात्तदुत्कर्षापकर्षाभ्यां साध्यमोक्षेपि तौ स्याताम्, इतरथाधिकानुष्ठानस्य व्यर्थत्वेन निर्विकारैतयानुष्ठानस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अतएव ह्यमिहोऽदर्शपूर्णमासज्योतिशोमादिकलस्वर्गेषु वैपम्यं कल्पयते । यथाहुरर्थवादाधिकरणे वार्तिककृतः—‘कर्मणामल्पमहत्तां फलानां च स्वगोचरः । विभागः स्थानसामान्यादविभागोपि चोदित’ इति । तस्मादुक्तवचतयाऽनित्यत्वादिदोषो मोक्षस्य स्यात्, नित्यनिरतिशयानन्दात्मकश्च मोक्षः श्रुत्यादिषु प्रसिद्ध इति भावः ।

या चापरा समुच्चये श्रुतिः प्रमाणिता, तामपि पारंपर्यपरतया योजयति—सत्येनेति । ननु सत्येन सम्यग्ज्ञानं न ब्रह्मचर्येणैव आत्मा लभ्यत इत्यात्मलाभे समश्रितानां सत्यादीना मध्ये कस्यचित्पारंपर्येण कस्यचित्साक्षादिति कल्पने वैरूप्यं स्यादिति तत्राह—विविदिपेति । अनन्यथासिद्धश्रुतिबलादेव वैरूप्यमपि न दोषायेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरेप्यन्यथासिद्धिमाह—तेनेति । नेयं श्रुतिः परब्रह्मविषया, तेनैति गच्छति इति

१ गृहस्थे कर्मणां कृत्स्नत्वात्तेषां गृहस्थेनोपसंहारो न तु संन्यासिनेति भावः । २ अनुष्ठानजन्यत्वाभावेनेत्यर्थः । ३ अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनामन्याना महताश्च कर्मणा फलं स्वर्गो यद्यपि नानाविधः तथापि स्वर्गरूपस्थानस्यैकत्वात्स्वर्गत्वेनाविभागोऽपि बोधित इति फलितार्थः । ४ उक्तद्वयापकृष्टतयैत्यर्थः ।

त्पुण्यकृदिति ब्रह्मवित्पुण्यकृतोमार्गं समुच्चयः, मार्गश्च कार्यब्रह्मगोचरः, 'कार्यं वादरि-
रस्य गत्युपपत्तेरित्यत्र राद्धान्तितत्वात् । एवं चोदाहृताः स्मृतयोपि कर्मसमुच्चयपरतया
श्रुत्यनुसारेण योजनीयाः । तस्माद्ब्रह्मानमेव मोक्षसाधनमिति सिद्धम् । इति श्रीचित्तुखा-
चार्यविरचिततत्त्वप्रदीपिकायाः तृतीयः परिच्छेदः ।

मार्गं समुच्चयश्रवणात्, परब्रह्मणि च गत्यानर्थक्यादसंभवाच्च । अविद्यामात्रव्यवहितं तत्, अविद्या चेहैव ब्रह्मत-
त्त्वविद्यया प्रविलीना । नच विगलितनिखिलस्थूलसूक्ष्मोपाधिजालस्य व्योमवत्सर्वगतचेतन्यैकरसस्य गमन-
मुपपद्यते । सूत्रकारोपि 'परं जैमिनिमुख्यत्वा' दिति पूर्वपक्षस्य 'कार्यं ब्रह्म गन्तव्यं वादरिराचार्यो मेने, कुत',
अस्यहि ब्रह्मणो गतिरुपपद्यते, प्रदेशावच्छिन्नतयोपासनात् । तत्फलस्यापि तादृशत्वादव्युत्पत्तोपाधित्वाचे'ति
सिद्धान्तयांघभूव, तथा गतेरर्थवत्त्वमुभयथा, अन्यथाहि विरोध इति निर्युणविद्यासु गत्युपसंहारं वात्यति ।
तस्मान्न परब्रह्मविषयेयमित्यर्थः । एवं श्रुतीरन्यथयित्वा स्मृतिष्वप्यतिदिशति—एवं चेति । तदेवं तृती-
याश्रुत्येति ग्रन्थे साधारण्येनोपसंहारः, इह तु विशेषतः स्मृतीनामित्यजामितौ । वादार्थमुपसंहरति—तस्मा-
दिति । 'शब्दः साक्षात्कारहेतुर्विधा मुक्तिफलप्रदा । विद्यैव नतु कर्मेति तृतीये त्रितयं गतम् ॥' इति श्री-
मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्षप्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्षस्वरूपभगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकादीकार्या
नयनप्रसादिन्यां तृतीयः परिच्छेदः ।



चतुर्थः परिच्छेदः ।



ॐ । कः पुनरयं मोक्षः । न तावद्विषयाकारोपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमः । तज्ज्ञान-
संतानस्यात्मरूपतया तदुच्छेदस्यापुरुषार्थत्वात्, नहि सर्वतः प्रियतमस्यात्मनः समुच्छे-
दाय वाञ्छा कस्यचिदुपजायते, बन्धविमोक्षपर्यायस्य मुक्तिशब्दस्यातदर्थत्वाच्च । नहि
बद्धनाशो मोक्षपदवाच्यः, किंतु सत एव तस्य बन्धविश्लेषः । नापि विधूतविषयाका-
रोपप्लवविशुद्धविज्ञानसन्तानोदयः, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किमयं सन्तानिनां
पुरुषार्थः किं वा सन्तानस्य । नाद्यः । तेषां स्वरसपरिनिर्वाणात् । नोत्तरः । तथाविधस-
न्तानोदयेषु मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानरूपस्योपरमात् ।

बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापाताच्च । उभयान्वयिनः सन्तानिनः सन्तानस्य वैकल्या-
भावात्, कारणाभावाच्च । भावनाप्रकर्षो हि तस्य कारणमिव्यते, तस्य स्थिरैकाधिकरणा-

ॐ श्रीगणेशाय नम ॥ 'तृतीये त्रिविधोपाय परिच्छेदे परीक्षित । तुरीये तु, तुरीयेस्मि मुक्तितत्त्व प-
रीक्ष्यते' ॥ १ ॥ साधनविचारानन्तर फलविचाराद्धेतुहेतुमल्लक्षण सवन्ध परिच्छेदयोरतिस्फुट, तावच्छून्य
यादवकाशकृतमोक्ष निराचष्टे—न तावदित्यादिना । विषयाकारैर्नालपीतायाकारैरुपप्लुतो दूषितो यो वि-
ज्ञानसन्तान तस्योपरमो विनाशो मोक्ष । उक्तं हि—'प्रदीपस्त्रेव निर्वाण- विमोक्षस्तस्य तौपिन' इति,
एव न संभवतीत्यर्थं । हेतुमाह—तज्ज्ञानेति । नहि क्षणिकविज्ञानसन्ततिव्यतिरिक्त कश्चिदात्मा भव
द्विरुपगम्यते, तेन सन्तत्युच्छेदो नाम स्वरूपोच्छेद एव, नचैवविधे प्रेक्षावत्प्रवृत्ति संभवति, अफलत्वात् ।
फलिनोऽभावे हि कस्य तत्फल स्यादिति भावः । किञ्च मुक्तिशब्दार्थपराहतश्चायं मोक्ष । नहि बद्धस्य नाशो
मोक्ष, मुच्छेद मोक्षणे इति मुचेर्विश्लेषकर्मणो मुक्तिशब्दव्युत्पत्ते, तस्मात्स्वतः सत्ताशाब्दस्य विश्लेषो
मोक्षशब्दार्थः, न पुन स्वरूपनाश, नचैव भवन्मोक्ष इत्याह—बन्धेति । एव माध्यमिकमुक्तिं दूषयित्वा
योगाचारमुक्तिं दूषयति—नापीति । चतुर्विधभावनापरिपाकावसाने यो विषयाकारैरुपप्लवविशुद्धो नाम स एव
विशुद्धाना विज्ञानाना सन्तानोदयस्वरूपो मोक्ष इत्यपि नेत्यर्थं । परिनिर्वाण नाश । स्वरसभङ्गरविज्ञानलक्ष-
णसन्तानिना चिरध्वस्ततया पश्चाद्भाविसन्तानान्तरोदयस्त्वेषां न पुरुषार्थः, फलिनोऽभावे फलाभावादि-
त्यर्थं । मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानस्येति समानाधिकरणवृत्तौ । अत्रापि पूर्वोक्तदोषाननिवृत्ति, उपप्लु-
तसन्तानरूपमुमुक्षोर्नष्टलादित्यर्थः ।

इत्थं यस्य बन्धस्तस्य मोक्ष इत्येतदपि न तव मते स्यात्, उपप्लुतापुप्लुतसन्तानयोर्भेदात्, तथाच क प्रवर्तेत
इत्याह—बन्धेति । अधोभयसंतानान्वयी कश्चिदस्ति, तथाच सामानाधिकरण्य बन्धमोक्षयोरिति, तत्राह
—उभयेति । सन्तानिनस्त्वावत्क्षणिकत्वादेवाऽननुवृत्ति, सन्तानस्य सन्तानाभावादेरसन्तानापाताच्च
सन्तानाननुवृत्तिरित्यर्थः । इत्थं त्वत्पक्षे उपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमे विशुद्धविज्ञानसन्तानोदये च कारणमपि
दुर्निहपमित्याह—कारणेति । नन्वस्ति चतुर्भावभावनाप्रकर्षपर्यन्त-तनितसाक्षात्कार उपाय इति, तत्राह
—भावेनेति । तत किमिति, तत्राह—तस्येति । नह्यन्यत्रानुभवोन्मत्त सत्कारोन्मत्त च तत्फल स्मृतिरिति
संभवति, नहि जातु यद्दत्तोऽनुभवति विष्णुमित्रश्च तत्सत्कारवान् देवदत्तश्च तस्य स्मर्तेति दृष्टवरम् । तदि-
हानपायिन कस्यचिदभावे क सत्कार क वा तत्प्रकर्ष क च तत्फल मुक्ति, स्थिरत्वेपि भिन्नाधिकरण
त्वे न संभवति किमु दक्षज्यमेकस्याप्यभाव इत्यर्थः । ननु सन्तानिषु सन्तान एव धानुगतो विशेष आधीयता

भावे विशेषानाधायकत्वात् । सन्तानस्यावस्तुत्वात्, सन्तानिनां च प्रतिक्षणमपूर्वबहुप-
जायमानत्वेनानासादितभावनाप्रकर्षतया विशुद्धविज्ञानजननासामर्थ्यात् । नाप्यात्यन्तिकी
दुःखनिवृत्तिः । अतीतस्य तस्य स्वत एवात्यन्तं निवृत्तत्वेनासाध्यत्वात्, वर्तमानस्य
विरोधिगुणप्रादुर्भावनिवर्त्यत्वात्, अनागतस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । निवृत्तेरात्यन्ति-
कत्वशब्देन निवृत्तजातीयस्य दुःखस्य तस्मिन्नात्मनि पुनरनुत्पादो विवक्षित इति चेत् ।
अनुत्पादस्यापि प्रागभावतयानुत्पाद्यत्वात् ।

ननु दुःखात्यन्ताभावो मोक्षः, नच तस्य नित्यत्वादसाध्यत्वं, तत्संबन्धस्य स्वात्मनि
साध्यत्वात्, अशेषकेशहेतुनाशस्य दुःखात्यन्ताभावात्मनोः संबन्धरूपत्वात्, तदुत्पत्तौ दुः-
खात्यन्ताभावस्य तदीयत्वेन व्यवहारात्, तदीयतया व्यवहारहेतुत्वेन च विषयविषयिभावा-
दिवदस्यापि संबन्धव्यवहारगोचरत्वात् । तस्य च कृतकत्वेपि ध्वंसत्वादेवाविनाशित्वात् ।

नचात्यन्ताभावस्य प्रतियोगी दुर्निरूपः, मुमुक्षुसमवेततया संभावनोपनीतस्य दुःखस्य

उक्तं हि—‘यस्मिन्नेव हि संतान आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव बभ्रति कार्षासे रक्ता यथे’ति । तत्राह
—संतानस्येति । अत्र तार्किकाः प्राहुः—‘योगपरिभावनाभुवः परमेश्वरसाक्षात्कारान्नवानामात्मविशेष-
शुणानामात्यन्तिकी निवृत्तिरपवर्गः इति, तदुत्पत्तिः—नापीति । दुःखशब्देन चैकविंशतिप्रकारमपि दुःखं
विवक्ष्यते, इन्द्रियपङ्कं विषयपङ्कं बुद्धिपङ्कं शरीरं सुखं दुःखं चेत्येकविंशतिप्रकारं हि दुःखं, तत्र किमतीत-
वर्तमाने-निवर्त्येते अनागतं वा दुःखं, यथाह पतञ्जलिः—‘हेयं दुःखमनागत’मिति । त्रिषापि न संभव-
तीत्याह—अतीतस्येत्यादिना । अशक्यत्वादिति । विद्यमानस्य हि प्रध्वंस इत्यर्थः । पक्षत्रयप्रयु-
क्तदीपपरिहाराय तात्पर्यपरिशुद्धाबुदयनोदीरितामाल्यन्तिकत्वनिरुक्तिमुद्गावयति—निवृत्तेरिति । चेत-
नान्तरे तथाविधोत्पत्तिसंभवेनासंभवननिवृत्त्यर्थं तस्मिन्नात्मनीति विशेषणम्, निवृत्तस्यानुत्पादः संसार-
दशायामप्यस्तीति तज्जातीयस्येत्युक्तम्, तथाप्युपायानुष्ठानं व्यर्थमित्याह—अनुत्पादस्यापीति ।

अत्र लीलावतीकारमतमुद्गावयति—ननु दुःखात्यन्ताभाव इत्यादिना । नन्वत्यन्ताभावपक्षे सुत-
रामानर्थक्यमुपायानुष्ठानस्य, नित्यत्वेनासाध्यत्वादिति, तत्राह—नच तस्येति । ननु भावाभावयोर्न मुख्यः
संबन्धः संभवी, संयोगसमवाययोरभावात्, अथ विशेषणविशेष्यभावः तथापि तस्य स्वभावानतिरिक्ततया
न साध्यत्वमिति, तत्राह—अशेषेति । य एतेऽविद्यासितारागद्वेषामिनिवेशा दुःखहेतवः पञ्च क्लेशस्तेषां
मशेषाणां निवृत्तिरेव दुःखात्यन्ताभावस्यात्मना संबन्धः, सच साध्य इत्यर्थः । नन्वयं संयोगायनन्तभूतः
कथं संबन्धः स्यादप्रतिद्वन्वादिति, तत्राह—तदुत्पत्ताविति । नहि संबन्धयुद्धिजनकत्वमन्तरेण सकल-
संबन्धेष्वनपायि संबन्धत्वं नाम किञ्चिच्छक्यनिरूपणं, तदिह यथा ज्ञानार्थयोस्त्वरीययुद्धिजनकतया विषय-
विषयिभावसंबन्धः तद्वदुःखात्यन्ताभावस्यात्मनीयत्वव्यवहारहेतुरसावपि संबन्ध इत्यर्थः । तस्य चेति ।
अशेषकेशहेतुनाशस्येत्यर्थः ।

ननु कस्य दुःखस्यायमत्यन्ताभावो मोक्षत्वेनाधीयते न तावदतीतवर्तमानयोः, एतस्मिन्नुत्पत्तत्वेन तदत्य-
न्ताभावस्य तस्मिन्संभवात् । नापि भविष्यतः, अन्यरीयभविष्यदुःखात्यन्ताभावस्य संसारदशायामप्येतस्मि-
न्निवृत्तमानत्वेप्येतन्मुक्तेरभावात् । एतदीयभविष्यदुःखात्यन्ताभावोऽस्य मुक्तिरिति चेत् । तद्यत्तदीयभवि-
ष्यदुःखात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतं प्रमितं न वा । आद्ये तदत्यन्ताभावोस्मिन्न संबन्धत्वेन, प्रतियोगिसद्भाव-
स्यात्र प्रमितत्वात् । द्वितीये सप्रतीतप्रतियोगित्वेनात्यन्ताभावरूपमोक्षसाध्यप्रामाणिकत्वमिति, तत्राह—
नचात्यन्तेति । प्रामाणिकत्वाभावेपि संभावनोपनीतस्य संभवति प्रतियोगित्वमित्यर्थः । संभावनामेवो-

प्रतियोगित्वात्, असति योगाभ्यासे दुरितप्रवाहस्यानागतसमयवर्तिदुःखोत्पादकत्वात्, सर्वत्र चाल्यन्ताभावनिरूपणे सामान्यतोवगतस्य विशेषतः समारोपविज्ञानविषयस्यैव प्रतियोगित्वात्, विशेषतस्तु प्रतियोगिसद्भावनिश्चयापेक्षायामत्यन्ताभावनिरूपणव्याघा-
तात्, शशे विपाणं तदीयमन्यदीयं वा नास्तीति पर्यनुयोगस्य सुवचत्वात्, नचास्य स-
मव्ययफलत्वेनापुरुषार्थत्वम्, योगप्रभावात् कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायां सक-
लसुखोपभोगाङ्गीकारात् ।

‘क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे’, ‘ज्ञानान्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते
तथे’ति श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः सर्वकर्माणां ज्ञानेन विलयावगमात् सुखोपभोगो न युक्त इति
न चाच्यम् । तद्वचनानामचिरविनश्वरतामात्रप्रतिपादनपरत्वात्, अन्यथा सर्वकर्माणां वि-
नाशाद्विदुषः सद्य एव शरीरपाते जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गात् । प्रारब्धकार्येतरकर्माणां ज्ञा-
नादेव प्रक्षयो विवक्षित इति चेत् । मैवम् । अकृतप्रायश्चित्तानां कर्माणां देहारम्भककर्म-
चङ्गोर्गैकनाशयत्वनियमात् ‘नाभुक्तं क्षीयते कर्मे’ति स्मृतेः । नचानन्यात्कर्माणां भोगेन

पपादयति—असतीति । नन्वप्रामाणिकत्वे कथं तन्निहत्याभावस्य प्रामाणिकत्वमिति, तत्राह—सर्वत्र
चेति । अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तस्य एवाय नियम, यत्प्रतियोगिनो विशेषतोपि प्रामाणिकतयाऽभावप्रा-
माणिकता इत्यर्थः । एतदेव विपक्षे बाधकेन द्रढयति—विशेषतस्त्विति । यत्र हि शशविपाण नास्ती
त्यादावत्यन्ताभावप्रमितित्वपि किमन्यदीयविपाणस्य ससर्गो निषिध्यते किं वा एतदीयस्य । नाय ।
अन्यदीयविपाणस्य शशमस्तकेपि निधातु शक्यतया तरससर्गात्यन्ताभावस्यासम्भवात्, शशमस्तकोत्पन्नवि-
पाणानिषेधप्रसङ्गाच्च । द्वितीये तत्प्रमित्यप्रमित्योरुक्तदूषणापात इत्यर्थः । स्यादेतत्, अशेषदु खनिश्रुतिवदशे-
दुखखनिश्रुतिरपि भवद्विरज्ञीक्रियते मुक्तौ, सुखस्यापि दु खानुरक्ततया दु यान्तर्भावाभ्युपगमात् । तथा च
समव्ययफलत्वात् कोपि पुरुषार्थ इत्यप्रतिरेवान् प्रेक्षावताम् । यथाहु—‘व्यसनानि दुरन्तानि समव्यय-
फलानि च । अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षण’ इति । तत्राह—न चास्येति । अत्र तावत्स-
सारदशायां सुखस्याल्पत्वाद्दु खस्य च बहुलत्वात्तन्निश्रुति सुखादप्यधिकं पुरुषार्थे इति ननु समव्ययफ-
लता तथाऽत्यन्तसुखस्यापि विद्यमानत्वात्तन्नाहुत्स्यमेव कुतो व्ययशङ्का कुतस्तत्रा च समव्ययफलत्वेत्याह
—योगप्रभावादिति । जीवन्मुक्तिसहिताया परमसुखे पुरुषार्थत्वादिति भावः ।

ननु ज्ञानेन सुखोपभोगो न घटते, कर्मनिमित्तात्सुखोपभोगस्य, कर्मणा च ज्ञानेन प्रदाहादिति, तत्राह—
क्षीयन्त इति । परावर इति । परमविद्यातीतम् । अवरं कारणतत्त्वं, तदुभयात्मक इत्यर्थः । कुतो न
वाच्यमित्यत आह—तद्वचनानामिति । क्षीयन्त इति कोर्थे, न चिरात्क्षीयन्त इति, न पुनस्तत्क्षणमेव,
भस्मसात्करणं च विनश्वरत्वोपलक्षणमित्यर्थः । सद्य शरीरपाते वेदान्ती परिहरति—प्रारब्धेति । तथा
च प्रारब्धभोगे कर्मेभि शरीरस्थितिर्घटत इत्यर्थः । नैतद्युक्तम् । अप्रारब्धफलकर्मणामपि भोगव्यतिरेकेण
ज्ञानमात्रादनिश्रुतेरिति परिहरति पूर्ववाची—मैवमिति । तर्हि तत्र प्रायश्चित्तान्नानं दृष्टेयत्वं उक्तं
—अकृतप्रायश्चित्तानामिति । भोगो वा प्रायश्चित्तं वा निश्रुतिहेतुरित्यर्थः । विमतानि कर्माणि भोगै-
कविनाशयानि अकृतप्रायश्चित्तत्वे सति कर्मलात्प्रारब्धफलकर्मवदित्यनुमानविरोधादिति भावः । स्मृतिविरो-
धमपि दर्शयति—नाभुक्तमिति । ननु भोगेन क्षयवादिनोऽनिर्माक्ष एव, अनन्तभवपरंपरोपाजितकर्मणा-
मानन्त्येन भोगावसानाभावात्, न शुभकर्मविषयमस्ति प्रायश्चित्तं, तस्मान्मोक्षमिच्छतानिच्छतापि ज्ञानमेव
कर्मक्षयहेतुरेष्टव्यमिति, तत्राह—नचानन्यात्कर्माणामिति । अत्र किमेकस्यानेकविप्रदप्रहणात्पपत्तिर्वा-

प्रक्षयानुपपत्तिः । योगप्रभावादनन्ततदुपभोगसाधनकायव्यूहनिर्माणेन तदुपपत्तेः । नचानि-
यतकालविपाकतया कर्मणां युगपदुपभोगविरोधः । उपभोगानुकूलसहकारिसाकल्यादेव
समानविपाकसमयतोपपत्तेः । अतः आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तावपि मुक्तौ न समव्ययफलता ।

नचाननुभूयमानतया दुःखनिवृत्तेरपुरुषार्थत्वम् । विकल्पासहत्वात् । किमनुभूय-
मानतामात्रं पुरुषार्थत्वोपयोगि यावद् दुःखनिवृत्तिसत्त्वं वा । नाद्यः । चरमे जन्मनि
योगप्रभावादनागताया अपि दुःखनिवृत्तेरनुभूयमानत्वसंभवात् । वर्तमानाया अप्यचि-
रमनुभवोपपत्तेः । तथाहि योगिनश्चरमज्ञानेन सकलविषयेण दुःखतदभावौ युगपत्सा-
क्षात्कृतौ तेनैव विरोधिगुणप्रादुर्भावेण निवृत्ते दुःखे विनश्यदवस्थज्ञानेन वर्तमानापि
दुःखनिवृत्तिरनुभूतेति । नापि द्वितीयः । प्रसक्तरुण्टकादिदुःखनिवृत्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गात्,
यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वात् । तथात्वे विषयान्तरावेदनप्रसङ्गात् । नच दुःखाभावस्य
सुखशेषतया पुरुषार्थत्वम् । सुखस्यापि दुःखाभावशेषतया पुरुषार्थत्वमिति वैपरीत्यस्यापि
वक्तुं सुकरत्वात् । कामनायाश्चोभयत्रापि समानोदयतयोभयोरपि पुरुषार्थत्वोपपत्तेः ।
प्रयोगश्च—आत्मा कदाचित् ध्वस्ताशेषविशेषगुणः, नित्यत्वे सत्यनित्यविशेषगुणाश्रयत्वात्
महाप्रलयावस्थायामाकाशवदिति लीलावतीकारः ।

पिका, अनियतविपाकत्वं, वा । नाद्यः । सौभैर्यादिवद्योगप्रभावादुपपत्तेरित्याह—योगेति । नोतरः । अनि-
यतविपाकत्वं हि कर्मणां सहकारिसंपत्त्यनियमप्रयुक्तं, सा च सहकारिसंपत्तिरस्य योगप्रभावात्संपत्त्येव
अगस्त्यादेरेव पयोनिधिपानादाविति भवत्येव युगपदुपभोग इत्याह—नचानियतेति । उक्तं हि पतञ्ज-
लिना 'योगप्रभावात्ते नागस्त्य इव समुद्रं पास्यती'ति । उपपादितमसमव्ययफलत्वमुपसंहरति—अत इति ।
ननु दुःखाभावस्य न पुरुषार्थत्वम्, अननुभूयमानत्वात्, अनुभवे च नाशेषविशेषगुणोच्छेदः, ज्ञानस्यानुच्छिन्न-
त्वादिति, तत्र तापर्यपरिशुद्धादुदयनोक्तं परिहारमाह—नचाननुभूयमानेति । अत्र किं दुःखनिवृत्तेरनु-
भूयमानत्वमात्रं पुरुषार्थत्वोपयोगि किं वा यावद् दुःखनिवृत्तेः सत्त्वं तावन्तं कालमनुभूयमानत्वमिति विक-
ल्प्याय धापादकादिमाह—चरमेजन्मनीति । योगप्रभावादिति । भूतमविष्यद्वर्तमानवेदनादित्यर्थः ।
ननु कथं वर्तमानायाः सकलदुःखनिवृत्तेरनुभवसंभवः, येन हि चरमज्ञानेन दुःखनिवृत्तिरनुभूयते तदपि ता-
वदेकं दुःखं, नच तत्समये तस्य निवृत्तिरस्ति, नापि तद्विद्युत्तिसमये तदनुभवान्तरमस्ति, चरमत्वभङ्गादिति,
तत्राह—वर्तमानाया अपीति । तस्यैवोपपादनं तथाहीति । विनश्यदवस्थेत्यत्र हृदयम् । नित्यसंश्लेष-
ष्वाश्रयविनाशाभावेन विरोधिगुणप्रादुर्भावेण पूर्वगुणनाशादुक्तं विरोधिगुणप्रादुर्भावेणेति । प्रसक्तेति ।
यद्यपि कण्टकादिदुःखनिवृत्तिस्त्विदानीमनुभूयते तथापि न यावत्सत्त्वमनुभवः । विषयान्तरसंचाराद्यभाव-
प्रसङ्गादतः प्रक्षियिलमूलतेति भावः । ननु दुःखाभावस्य पुरुषार्थत्वमेव नास्ति, या तु तत्र प्रार्थना सा तस्य
सुखशेषतया, तत्राह—नचेति । हेतुमाह—सुखस्यापीति । ननु काम्यमानलासुखस्यैव पुरुषार्थत्वमिति,
तत्राह—कामनाया इति । आत्मेति । इदानीमुपलभ्यमानविशेषगुणकतया बाधपरिहारार्थं कदाचि-
दित्युक्तम् । पर्यायेण विशेषगुणध्वंसस्य संसारदशायां सिद्धत्वेनार्थान्तरत्वनित्यर्थमशेषग्रहणम् । युगपदिति
चात्र विवक्षितम् । संख्यापरिमाणादीनां मोक्षदशायामपि विद्यमानत्वेन बाधपरिहारार्थं विशेषग्रहणम् ।
पीडुपाकपक्षे घटादिषु विशेषगुणैः सहैव ध्वंसमानेषु व्यभिचारनिवृत्तयै नित्यत्वे सतीत्युक्तम् । ईश्वरान्धपर-
माण्वादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनित्यविशेषगुणाश्रयत्वादित्युक्तम् । नित्यगुणादिव्यवैकान्तिकत्वपरिहाराय वि-
शेषगुणग्रहणम् । दृष्टान्ते च शब्दव्यक्तिभेदापेक्षयाऽशेषपदसायंक्यम् ।

१ यावदिति सत्त्वान्वयि । अनुभूयमानत्वस्येतिशेषः । २ विषयान्तरवेदनाभावित्यर्थः । ३ सौभरिताया कधि-
द्विषिः । ४ असिद्धस्ये अन्धकारस्याभिसंधिरित्यर्थः । ५ इदं पूर्वगुणनाशादित्यन्वेति । ६ आप्यो जलीयः ।
७ नित्यगुणपदे नृद्विषाणि ईश्वराप्यपरमाण्वादिस्त्वित्यर्थः । तेष्वनित्याश्रयत्वं च दिवादिक्मादाय बोध्यम् ।

वक्रमताजुसौरिणः पुनरेवं मोक्षलक्षणमाचक्षते—'एतज्जीवनिष्ठदुःखसमानकाली-
नदुःखध्वसातिरिक्तैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य मुक्तिरिति । प्रयोगश्च देवदत्तोयमेवंविधदुःख-
ध्वंसवान् दुःखित्वाच्चैत्रवत् । एतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य
मोक्ष इत्यपरे । एवविधसाध्येपि दुःखित्वादिति प्रयोगः पूर्ववदेव । अन्ये तु ज्ञानाजन-
कसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयो दुःखध्वंसो मोक्ष इति मन्यन्ते । तत्र साक्षात्कार-
विषयो दुःखध्वंस इत्येतावति लक्षणे सासारिकदुःखध्वंसोऽस्येत्यव्याप्तिर्माभूदिति ज्ञानाज-
नकेत्यादिना विशेषणेन साक्षात्कारो विशेष्यते । तत्र जन्यपदेनेधरसाक्षात्कारो व्याध-
त्येते । तस्यापि सकलजनकतया ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वात् । अस्ति च ज्ञानाजन-
कसंस्कारजनकत्वं चरमसाक्षात्कारस्य दुःखध्वंसविषयस्य तदनन्तरं मुक्तौ ज्ञानान्तरानु-
दयात् ।

दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यत्र चा 'शरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत' इत्यादयो
वेदान्ताः प्रमाणम् । प्रियशब्दाभिधेयस्य मुख्यस्यापि निराकरणात् । 'यो वै भूमा तत्सु-

तदेव दुःखान्ताभावात्मनो सयन्वरूपोऽशेषहेतुनाशो मोक्ष इति श्रीबलभमत दर्शयित्वाऽधुनिक-
रीति दर्शयति—चक्रेति । एतज्जीवनिष्ठ यद्दुःखं तेन समानकालीनो यो दुःखध्वंस ततोतिरिक्त तत्त्वान-
धिकरणे य एतन्निष्ठो दुःखध्वंस स एतज्जीवस्य मुक्तिरिति योजना । एतन्निष्ठदुःखध्वंस एतत्संसारदशाया-
मप्यस्तीत्यव्याप्तिपरिहारायातिरिक्तेत्यन्त विशेषणम् । जीवान्तरसंसारसमयदुःखध्वंसे तादृश्यतिव्याप्तिपरि-
हारायैतन्निष्ठदुःखध्वंस इत्युक्तम् । असंभवपरिहारायैतज्जीवनिष्ठमुक्तम् । घटादिध्वंसव्यवच्छेदार्थं दुःखध्वंसे-
त्युक्तम् । प्रयोगश्चेति । अथ देवदत्त एतदेवदत्तनेष्ठदुःखसमानकालीनदुःखध्वसातिरिक्तदुःखध्वंसवान्
दुःखित्वात् चैत्रवदित्यनुमातव्यमित्यर्थः । लक्षणान्तरमाह—एतन्निष्ठेति । एतदेवदत्तनिष्ठो यो दुःखप्रा-
गभावसंज्ञासमानकालीनो य एतन्निष्ठदुःखध्वंस स एतन्मुक्तिरित्यर्थः । अत्रापि सांसारिकैतद्दुःखध्वंसेति-
व्याप्तिपरिहारायैतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनेत्युक्तम् संसारदशायां ह्युत्पत्त्यमानदुःखप्रागभावसमान
कालीनो हि दुःखध्वंस । अत्रापि प्रयोग दर्शयति—एवविधेति । अथ देवदत्त एतन्निष्ठदुःखप्रागभा-
वासमानकालीनदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् पुरुषान्तरवदिति प्रयोग इत्यर्थः । ज्ञानाजनकेति । ज्ञानाज-
नको य संस्कारस्तज्जनको जन्यश्च य साक्षात्कारस्तेन विषयीकृतो यो दुःखध्वंस स मोक्ष इति योजना ।
स्वयमेव विशेषणानां कृत्वाह—तत्रेत्यादिना । ननु भावनासंस्कारस्यायं स्वभाव यस्मैतिजनकत्व
तत्कथं ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वमतोऽसिद्धिलक्षणस्येति तत्राह—अस्तिचेति । प्रयोगस्त्वयं देवदत्त एव-
देवदत्तनिष्ठज्ञानाजनकसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात्सप्रतिपन्नवदिति ।

तदेव दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यनुमानैरुपपादित सप्रति श्रुतिमपि तत्र प्रमाणयति—दुःखेति । वावे
स्ववधारणे । अशरीरं च सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत एवेति दुःखवत्सुखस्यापि प्रतिषेधात् दुःखनिवृत्तिमान-
मेव मुक्तिं न पुनः सुखसंपत्तिरपीत्यवधीयत इत्यर्थः । स्यादेतत् सन्ति मुक्तौ सुखप्रतिपादिका अपि श्रुत-
यस्ता किं प्रमत्तगीता इति तत्राह—यो वै भूमेति । यो नामादिभ्यः प्राणान्तेभ्यः परत्वेन प्रतिपादित
सत्याख्यो भूमा तत्सुखम् । भूमश्चन्दस्य पुल्लिङ्गत्वेपि विधेयसुखापेक्षया तदिति निर्देशः । वै इत्यवधारणे ।
एव छादोग्यश्रुतिमुक्त्वा वाजसनेयकश्रुतिमप्याह—एष इति । य सुषुप्त्यादावपरिच्छिन्न आनन्द प्रति-
भासते एषाऽस्यात्मनः परम उच्छ्रित आनन्द इत्यर्थः । ननु किमिति सुरयार्थं परिलज्जयते असंभवदर्शनादि-

खमेषोस्य परमानन्द' इत्येवमाद्यास्तु श्रुतयो दुःखाभावविषयतयोपचरितार्था विषयाजन्य-
सुखस्यादृष्टचरत्वात् । नच सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखपरामर्शदर्शनाददृष्टवर-
त्वमसिद्धमिति घाच्यम् । पिच्छाद्युपहतेन्द्रियस्य दुःखमहमस्वाप्समिति परामर्शात् दुःखस्यापि
नियताप्रसक्तेः ।

नच परमप्रेमास्पदत्वादात्मनः सुखरूपतानुमेया । दुःखाभावे व्यभिचारात् ।
आत्मनः सुखरूपत्वे च मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गात् । स्वयंप्रकाशस्य निरतिशयसु-
खरूपतया सदावभाससंभवात् । सुखं मे स्यादिति च प्रेमालोके न सुखमहं स्यामिति
तथाचात्मनः सुखरूपत्वे प्रेमास्पदत्वमेव न स्यादिति प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधस्तत्र कुतस्ततः
सुखरूपतानुमानं तस्मात् दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति । अत्रोच्यते—प्रतियोगिहेतुनाशो
न तदत्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयोजकः । 'लीनशब्दनिदानेपि व्योम्नि तस्यानवस्थितेः ।
रूपाभावव्यवहृतेस्तदभावेपि चात्मनि' ॥ १ ॥ प्रलयदशायामशेषशब्दनिदाननाशेपि आ-
काशे न शब्दात्यन्ताभावः पुनः सर्गे तत्रैव शब्दोत्पत्तेः । प्रतियोगिहेतुनाशाभावेप्यात्मनि
रूपात्यन्ताभावव्यवहारात् । नचाभावत्वेपि विषयविषयिभावादिवत् ध्वंसस्य संबन्धरूपता,
विषयविषयिभावौदेरप्यभावत्वे संबन्धरूपत्वे चासंप्रतिपत्तेः ।

व्याह—विषयेति । नन्वदृष्टचरत्वमसिद्धं सुप्तोत्थितेन परामृश्यमानत्वादिति तत्राह—नच सुप्तेति ।
ननु माभूदर्थापत्तिरनुमानं तु भविष्यति । तथाहि—आत्मा सुप्तं परमप्रेमास्पदत्वात्संप्रतिपन्नसुखवत्, व्यतिरे-
केण दुःखवदिति वा तत्राह—नच परमप्रेमेति । अस्ति हि दुःखाभावस्यापि परमप्रेमास्पदत्वं, नच तत्र
सुप्तशेषतयेति वाच्यं, वैपरीत्यस्य सुवचत्वात्, नच सुखरूपत्वमित्यनैकान्तमित्यर्थः ।

तर्कबाधितत्वं चाह—आत्मन इति । ननु स्वरूपभूतमपि सुखं संसारदशायां न प्रकाशते मुक्तौ तु
प्रकाशतेऽतोऽस्ति विशेष इति तत्राह—स्वयंप्रकाशेति । प्रतिज्ञाविरोधलक्षणं निग्रहस्थानमप्याह—सुख-
मिति । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति । सिद्धान्तमुपक्रमते—अत्रेति । दुःखात्यन्ताभावस्य स्वरूपतो
नित्यत्वेपि तत्संबन्ध आत्मनि साध्यः, संबन्धश्च दुःखहेतुनामशेषकेशानां नाशस्त्विति तदीयत्वव्यवहा-
रादिति हि श्रीब्रह्मभेनोक्तं तत्र दुःखहेतुनाशो दुःखात्यन्ताभावस्यानीयतया व्यवहारे न प्रयोजको व्यभिचा-
रादिव्याह—प्रतियोगीति । प्रतियोगिनो दुःखादेर्हेतुभूतकेशनाशो न दुःखात्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयो-
जक इति योजना । हेतुं श्लोकेनाह—लीनेति । प्रलयावस्थायां ह्याकाशेऽधिकरणे शब्दहेतवोऽसमवायि-
कारणसमवायिकारणमित्तकारणानि च कानिचित्प्रलीनानि अथापि शब्दात्यन्ताभावस्य नाकाशसंबन्धो
नहि पूर्वोत्पन्नशब्दध्वंसानुत्पद्यमानशब्दप्रागभावान्तरेण तत्र शब्दात्यन्ताभावोऽस्ति । नच शब्दोपादाना-
काशस्य निमित्तभूतेश्वरादेश्च विद्यमानत्वात् प्रलये कथं शब्दकारणाभाव इति वचनीयम् । दुःखेप्यात्मादीनां
सत्त्वेन हेतुनाशरूपसंबन्धाभावस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वात् । तदेवमन्वयो नास्तीत्युक्तं व्यतिरेकोपि नास्ती-
व्याह—रूपेति । रूपहेत्वभावस्यात्मन्यवियमानत्वेपि रूपात्यन्ताभावव्यवहाराचेति श्लोकयोजना । विदु-
णोति—प्रलयेति । उत्तरार्द्धं विदुणोति—प्रतियोगीति । क्लेशहेतुध्वंसभावेपि परमेश्वरे दुःखात्यन्ता-
भावव्यवहाराच्च । नच तदत्यन्ताभावविवक्षा जीवेष्वभावात् । नच ससर्गाभावमात्रविवक्षा, यगने व्यभिचा-
रोदीरणादिति । किंच भावविशेषस्यैव संबन्धलप्रसिद्धेः प्रतियोगिहेतुध्वंसस्य संबन्धत्वमेव नास्ति । नच
विषयविषयिभावादिएष्टान्तस्तस्याप्युक्तत्वे विप्रतिपत्तेरित्याह—नचाभावत्वेपीति ।

१ अनुस्यूयार्था इत्यर्थः । २ आलोके इति क्रियापदम् । ३ आदिना प्रतियोग्यनुगोपिनाभादेः संप्रः ।

४ नचाभावत्वेपीति । ५ आत्मन्यपि ।

नच विनाशस्याप्यविनाशिता, कृतकत्वात् । नच ध्वस्ताध्वस्तिप्रसङ्गः, पुरस्तादेव परास्तत्वात् । नच समारोपितप्रतियोगि कृत्वे दुःखात्यन्ताभावस्य पारमार्थिकता, स्वप्नसमारोपितद्विगन्धसवदस्यापि पारमार्थिकत्वानुपपत्तेः । नच शशविषाणनिषेधप्रतिबन्धी-
 ग्रहः, तस्याप्यविचारितरमणीयत्वात् । नच कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायामशेष-
 सुखोपभोगाङ्गीकारात् समव्ययफलत्वदोषपरिहारः, विदेहकैवल्ये दुःखाननुभववत्सु-
 खानुभवस्याप्यभावात् । नच सर्वकर्मफलोपभोगसम्भव प्रारब्धकर्मतरकर्मणा ज्ञाना-
 न्निवृत्तिश्च तत्रात् । नचाकृतप्रायश्चित्तानां कर्मणा भोगैरुनाशयत्वनियमः, क्षीराक्षैराम्र-
 पत्रैस्तु ज्वर सद्यो निवारयेदित्यादिना अकृतप्रायश्चित्तानामपि ज्वरादिहेतुकर्मणा नि-
 वृत्तिस्मरणात् । नचाकृतप्रायश्चित्तत्वम्, 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, एवमेवं-
 विदि पापं कर्म न श्रिष्यत' इत्यादिवाक्यशेषे श्रूयमाणपापक्षयस्य रात्रिसत्रन्यायेन ज्ञान-
 फलत्वरूपनया सगुणासु विद्यासु दुरितक्षयकामो ब्रह्मोपासनं कुर्यादिति प्रायश्चित्तवि-
 धित्वोपपत्तेः । 'उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपाद् ब्रह्मध्यानं
 समाचरे'दिति स्मरणाच्च । 'सत्येनापि शपेद्यस्तु देवाग्रिगुरुसनिधौ । तस्य वैवस्वतो
 राजा धर्मस्यार्द्धं निष्कन्तती'त्यादिस्मरणात् सुकृतस्यापि भोगैरुनाशयत्वनियमानुपपत्तेः ।

यत्तु ध्वसस्य कृतकत्वेपि नित्यसमर्पणं तद्व्ययति—नच विनाशयेति । पुरस्तादेवेति । उत्तरो-
 त्तरध्वसमालाया अन्यस्मिन्नपि ध्वस्तपदाद्य विरोधिलादिति प्रागभावखण्डने कृतसमापानत्वादित्यर्थः । यत्तु
 दुःखात्यन्ताभावस्य सभावनोपनीततया विशेषतः समारोपितद्वयप्रतियोगिकवमुक्तं तद्व्ययति—नच
 समारोपितेति । ननु समारोपितद्विरद्वयसमान्यन्ताभाववादप्रामाणिकत्वम्, अत्यन्ताभावस्य त्वय वि-
 शेष यत्प्रतियोग्यप्रामाणिकत्वापि प्रामाणिकत्वम्, इतरथा शशविषाणनिषेधासम्भवादिति तत्राह—नच
 शशेति । समव्ययफलतामपि समर्थयते—नच कायेति । यद्यपि जीवन्मुक्तिदशायामेतच्छक्यपरिहारं
 तथापि विदेहकैवल्यवस्थाया दुष्परिहरमेतदित्याह—विदेहेति । एतन्नैतदप्यपास्तम् यदाह मानमनोहर
 —'यागद्विसमासादितचिरमात्रोपभोग्यमुखविशेषपरत्वेप्युपपत्त रिति तादृशसुखस्य सुखावभावात् । नच
 जीवन्मुक्तिदशायामपि सर्वकर्मणा फलोपभोगसम्भव येनाधिकमुत्तरोपभोग स्यादित्याह—नच सर्वेति ।
 येन कर्मणा फल प्रारब्ध तत्कर्म प्रारब्ध कर्म । यदि हि भोगैरुविनाशयानि कर्माणि तदा ज्ञानान्निवृत्तिर्न श्रूयते
 श्रूयते चातो न सर्वकर्मफलोपभोगस्तदित्यर्थः । यत्तु ज्ञानान्निवृत्तिर्न घटत इत्ययुक्तं तत्परिहरति—नचाकृ-
 तेति । तत्र हेतोरनैका-तकनामाह—क्षीरेति । अत्र हि य क्षीराभ्यक्तम्रपत्रैर्होमं नासौ प्रायश्चित्तं,
 नापि भोग, अथापि निवर्त्यते ज्वरहेतुकर्म, ततो नाय नियम इत्यर्थः । नच तत्र ज्वरस्यैव कार्यस्य नाश
 कर्मणस्तु प्रतिबन्धमात्रमेवेति वाच्यम् । तत्कार्यस्यास्य तानुत्तरतो कर्मसद्भावे प्रमाणाभावात् । अभ्युपगम्य
 वेदमुक्तं, यस्तुतस्तु कृतप्रायश्चित्तत्वमपि शक्यसपादमित्यसिद्धिमाह—नचाकृतप्रायश्चित्तत्वमिति ।
 ननु पापक्षयोद्देशनाविहितस्य कथं प्रायश्चित्तं वारधारणं तत्राह—एव हास्येति । ननु वाक्यशेषे श्रूयमाण
 मपापश्लोकप्रवणवदर्थवाद इति तत्राह—रात्रीति । यथाहि 'प्रतितिष्ठति ह वै य एता रात्रीरुपयती' त्यत्र
 विश्वजिज्ञासेन स्वर्गकल्पनार्था गौरवप्रसङ्गात्कामपदविपरिणामेन प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्रं कुर्यादिति कल्पित
 तद्वदित्यर्थः । ज्ञानफलत्वेति । ज्ञानं प्रति फलत्वेन कल्पनयत्यर्थः । साक्षादेव च पापक्षयोद्देशेन ध्यानवि-
 धायािका स्मृतिरप्यस्तीत्याह—उपपातकेष्विति । रजनीपाद् रजन्याश्चतुर्थभागः । नन्वेतु दुरिते न
 नियमं सुकृते तु भागैकविनाशयत्वनियमोस्त्येवेति तत्राह—सत्येनापीति । ननु तर्हि भोगैरुविनाशयत्व

१ ध्वस्तस्याध्वस्तिर्विनाशाभावस्तथा च भावो मज्जनप्रसङ्ग इति तात्पर्यम् । २ शशे विषाणसत् तन्निषेधस्यैवाङ्गी-
 कारादिति भावः । ३ अस्य मन्त्रविदः । ४ पाप्मान इति कर्ममात्रोपलक्षणम् सर्वे इति पदस्तरपादात् । ५ विनश्यति ।

‘नाभुक्तं क्षीयत’ इत्यादेरौत्सर्गिकत्वादपवादं परिहृत्यैव चोत्सर्गस्थितेः निर्गुणब्रह्मविद्यायाश्च सर्वकर्महेतुभूताऽविद्यानिरासिकाया अट्टप्रद्वारेणैव तत्कार्यपुण्यापुण्यनिवर्तकत्वोपपत्तेः ।

नच कायव्यूहनिर्माणेन युगपत्सर्वकर्मफलोपभोगसंभवः तत्तत्कल्पमन्वन्तरादिनियतकालोपभोग्यानां युगपदुपभोगे तत्प्रतिपादकशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । नच प्राप्ताणिमायैश्वर्याणामेव मुक्तिः येन कायव्यूहनिर्माणेन युगपदशेषकर्मफलोपभोगः स्यात् नत्वेवम् । भगवता पतञ्जलिना नियमाभावाभिधानात् । ‘यदा निर्द्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राकारं दग्धकृशवीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति, एतस्वामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीधरस्य चे’ति । जनकजडभरतविदुरधर्मन्याधपिङ्गलादीनामप्राप्तैश्वर्याणामपि मुक्तिस्मरणाच्च ।

नच युगपद्भोगे सहकारिसाकल्यं भविष्यत्तत्कल्पमन्वन्तरादीनां सहकारिणासिद्धिनीमाहर्तुमशक्यत्वात् । नच प्रसक्तकण्टकादिदुःखनिवृत्तिवन्मुक्तौ दुःखनिवृत्तेर्वर्तमान-

प्रतिपादकवचनस्य का गतिरिति तत्राह—नाभुक्तमिति । ननु तथापि निर्गुणज्ञानस्य कथं कर्मनिवर्तकत्वं नहि तदुद्देशेन ध्यानं विधातुमुचितमिति तत्राह—निर्गुणेति । नायं शास्त्रिकगम्योर्थः, वस्तुतैरेव तत्सिद्धेः, नहि रज्जुतत्त्वज्ञानस्य भयकम्पादिनिवर्तकत्वं शास्त्रमन्तरेण न बुद्ध्यत इति भावः ।

तदेवं ज्ञाननिवर्त्यत्वात् जीवन्मुक्तिदशायां सर्वकर्मफलोपभोग इत्युक्तम् । इदानीमशक्यत्वादपि न सर्वकर्मफलोपभोगसंभव इत्याह—नच फ्रायेति । देहदेशादिवत्कालोपि सहकारी, सहस्रसंवत्सरादिरपरिमितभोग्यस्य तत्र तत्र फलत्वेन श्रवणात्, सच न योगीच्छामनुवर्तते, युगपदेव च तस्योपसंहारे तादृशफलप्रतिपादकशास्त्रार्थपरित्यागादप्रामाण्यप्रसङ्गस्तस्यैत्यर्थः । किंचाव्यापिका चेयं कल्पना यत्कायव्यूहनिर्माणेन सर्वकर्मफलान्युपभुक्तवतो मोक्ष इति, अप्राप्ताणिमायैश्वर्याणां कायव्यूहनिर्माणप्रव्रीणानामपि योगशास्त्रकृतवचनबलात्तदितिहासपुराणादिगतलिङ्गावगमाच्च मुक्तिविज्ञानात्, त्वत्पक्षे च तेषाममुक्तिरेव स्यात् । नच बदैकस्वभावाः केचन जीवा इति वचनीयम्, तथासति तत्त्वैशङ्कया सर्वेषामप्रवृत्त्यापत्तात् । नच शमदमविषयवैतृष्याद्युपलम्भाच्छङ्कोच्छेदेन विषमप्रवृत्तिरिति वचनीयम्, शमदमादेरपि निर्मितमनुत्पत्तेः सनिमित्तत्वे च तन्निमित्तानुष्ठानदशायामेवैषा शङ्का निरङ्कुशा स्यात्तदेतदखिलं ह्यालिख्याह—नच प्राप्तेत्यादिना । यदा निर्धूतेति । सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिमायै कैवल्यमिति विभूतिपादावसानसूत्रं व्याचक्षणः परमर्षिराह—यदेत्यादिः । रजस्तमोलक्षणे मले निर्धूते यस्मिन् बुद्ध्याकारपरिणते सत्त्वगुणे तत्सत्त्वं तयोक्तम् अत एव पुरुषबुद्धोरन्यतैकाकारप्रत्ययमात्रेण परिणतं, तथा क्लेशानविद्यादीन् प्रति दग्धो बीजभावो यस्य न पुनरकृतार्थचित्तवत्प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारक्लेशः कृतभोगविवेककृत्यातिलक्षणपुरुषार्थद्वयत्वात् तत्तयोक्तम्, एवं यदा भवति चित्तसत्त्वं तदा पुरुषशुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति पुरुषशुद्धिसदृशशुद्धिसारूप्यवति । यथाहि पुरुषश्चिन्मात्रतया खच्छः तथा सैत्वमपि तन्मात्राकारत्वाद्भवति निर्मलतया सारूप्यम्, अथ कैवल्यं भवति कस्य ईश्वरस्य पूर्वोक्तसंयमविशेषैर्ज्ञानक्रियाशक्तिमतः, अनीश्वरस्य वा चक्षुरन्तःकरणयोः सन्धसंयमाद्विवेकज्ञानमित्यनन्तरोक्तसंयमाद्विवेकज्ञानवतः इतरस्य वा उत्पन्नविवेककृत्यातेरिति तदिहाप्राप्तैश्वर्यापि इतरवदेव मुक्तिं शास्त्रीत्यर्थः ।

यत्त युगपदुपभोगे सहकारिसाहित्यात्समानविपाकतेति तत्राह—नच युगपदिति । यत्तु यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वेपि कण्टकादिदुःखनिवृत्तिवदशेषदुःखनिवृत्तेरप्यनुभवमात्रात्पुष्पाद्यर्थं संभवति योगर्षितामर्थ्याच्च सकलदुःखाभावानुभवसंभव इति तदप्युक्तन्यायेन परिहरति—नच प्रसक्तेति । नन्वनापुष्पं

तया साक्षात्कारसंभवः । अप्राप्तैश्वर्यस्यापि मुक्तिप्रतिपादनेन तदसंभवस्योपपादितत्वात् । नच दुःखाभावः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थः सुखामिव्यक्तिशेषत्वात् । नच विपरिवृत्तिप्रसङ्गः, विकल्पासहत्वात् । किं सुखं दुःखाभावस्योत्पादकमुतामिव्यञ्जकम् । नोभयथापि । आत्मनि समस्तदुःखाभावमनुभवतोप्यकस्मादुपनतविपञ्चोत्तरश्रवणादौ सुखोत्पत्तेः । नच संतापवतः शीतहृदे निमग्नार्थकायस्य सत्येव दुःखे सुखोपलम्भात् न दुःखाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषतेति वाच्यम् । सुखस्य दुःखाभावैकामिव्यङ्गत्वनियमानभ्युपगमात् अनुभूयमानो दुःखाभावः सुखमभिव्यनक्तयेवेति नियमात् ।

ननु वैपयिकसुखस्य कण्टकादिनिवृत्तावननुभवात् आत्मनश्च सुखरूपत्वासंप्रतिपत्तेर्न दुःखाभावस्य सुखामिव्यक्तिशेषतेति चेन्न । आत्मनः सुखरूपत्वस्यानन्तरमेव निषेद्व्यप्यमाणत्वात्, प्रयोगश्चासमीचीनो, वेदान्तिनः प्रति हेतोरसिद्धत्वात्, दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनविकलत्वात्, आकाशस्यापि प्रलये लयाभ्युपगमात् । अस्तु तर्हि 'दुःखसंततिरत्यन्तमुच्छिद्यते संततित्वात् प्रद्वीपसंततिव'दिति किरणावलीकारप्रयोग इति चेत् न, पार्थिवपरमाणुरूपादिसंताने त्वन्मते व्यभिचारात् । ननु सर्वमुक्तौ सापि संततिः उच्छिद्यते, धर्माधर्माख्यनित्तस्य सुखदुःखोपभोगलक्षणप्रयोजनस्य चाभावादिति चेत् । मैवम् । सर्वमुक्त्यनङ्गीकारवादिनं प्रति एवं पर्यनुयोगायोगान्, कन्दलीकारलीलावतीकारप्रभृतिभिः कैश्चिद्वैशेषिकविशेषैः सर्वमुक्तेरनङ्गीकारात्, केषांचिदात्मनां संसार्यकस्वभावताङ्गीकारात् ।

नचैवं सति सर्वेषां तथात्वशङ्कया मोक्षसाधनाननुष्ठानप्रसङ्गः । शमदमोपरमतिविक्षादिना मुमुक्षुचिहेन श्रुतिसिद्धेन तथात्वशङ्कानिवृत्तेः । यक्रानुमानं पुनः सिद्धमाधन-

वैपरीत्यं किं न स्यादिति तत्राह—नच विपरिवृत्तीति । यदिदं दुःखाभावशेषत्वं सुखस्य तदिकं तदुत्पादकतया, तदमिव्यञ्जकतया वेति विकल्पोभयथापि व्यभिचारमाह—आत्मनीति । विपञ्चो वीणा । नहि विद्यमान एव दुःखाभावो वीणापणवादिनिनादैकत्वाद्यते अनुभूयमान एव वामिव्यञ्जत इत्यर्थः । ननु दुःखाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषताप्ययुक्ता दुःखानुभवसमयेपि सुखानुभवदर्शनादिति तत्राह—नच संतापवत इति । मूर्च्छादौ सुखानुभवप्रसङ्गवारणायोक्तं—अनुभूयमान इति ।

स्यादेतत् । यदिदं दुःखाभावेनाभिव्यङ्ग्यतयाभिमतं सुखं तत् किं वैपयिकमुत स्वाभाविकम् । नायः । कण्टकादिदुःखनिवृत्तिसमये चन्दनवनितादिसेवाभावेन तत्सुखस्य तदानीमभावात् । न द्वितीयः । तत्र प्रमाणमात्रादिति शङ्कते—नन्विति । यत्न लीलावतीकारानुष्ठानं तदुपयति—प्रयोग इति । निर्गुणात्मवादिनो वेदान्तिनो हेतुरसिद्ध इत्यर्थः । साधनवैकल्यं ह्युपोधम् । आश्रयत्वहीनश्च दृष्टान्तः । अत्यन्तमुच्छिद्यत इति । दुःखप्रणामावाप्तमानकालीनध्वंसप्रतियोगिनीत्यर्थः । प्रलयावस्थायाः दुःखमन्ततेच्छेदस्वीकारात्सिद्धसाधनतानिबृत्त्यर्थमत्यन्तप्रहणम् । पार्थिवेति । तत्र हि सन्ततित्वमस्ति नचात्यन्तोच्छिन्तः सर्गान्तरेषु तेषु रूपाद्युत्पत्तेरित्यर्थः । अत्र तदीयमेव परिहारं समुद्भावयति—नन्विति । यदा हि सर्वेषां मुक्तिरिति पक्षः तदा क्रमेण सर्वेषु युक्तेषु राक्ष निमित्तप्रयोजनयोरभावात्साप्यत्यन्तमुच्छिद्यत इत्यर्थः । स्यादेवं यथेवमेव सर्वतात्किंकाणां समतिः सैव तु नास्तीत्याह—मैवं सर्वेति ।

ननु तर्हि कस्यापि मुक्त्यर्था प्रवृत्तिर्न स्यात्सर्वेषामात्मनि ब्रह्मैकस्वभावत्वशङ्कयेति तत्र शीघ्रमीयं परिहारमाह—नचैवमिति । सिद्धसाधनतामेव विशदयति—नहीति । ज्ञानाजनकधस्कारेलादिपक्षं दूषयति—

१ तत्रजलित्नेलादिः । २ प्रयोगसासमीचीनत्व सपमयात् वेदान्तिन इत्यादिनाभ्युपगमादित्यन्तेन । ३ आत्मा कदाचिद् ध्वलाशेषविशेषगुण इत्यादीति शेषः ।

त्वादुपेक्षणीयम्, नहि मुक्तस्य दुःखनिवृत्तौ कश्चिद्विप्रतिपद्यते । तृतीयमपि मोक्षलक्षण-
मसंभवित्वदोषेण निरसनीयं, योगप्रभावनियमनिराकरणात् अनागतदुःखध्वंसस्य साक्षा-
त्कर्तुमशक्यत्वात्, चरमदुःखध्वंसदशायां विज्ञानस्यापि विशेषगुणस्योच्छेदस्याङ्गीकारात् ।
प्रियस्पर्शनिषेधश्रुतिस्तु वैपयिकसुखनिषेधपरा, अन्यथा 'एषोऽस्य परमानन्दः' 'यो वै भूमा
तत्सुख' मिति सुखरूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् । नचासामुपचरितार्थत्वं मुख्यार्थं वा-
धकाभावात् । नच नित्यसुखस्यानुपलब्धिर्बाधिका नित्यज्ञानवदुपपत्तेः । सुखस्य विप-
येन्द्रियादिजन्यत्वव्याप्तेश्च ज्ञानेच्छादेर्जन्यत्वव्याप्तिवदेव निरसनीयत्वात्, श्रुत्यवष्टम्भेन
नित्यत्वाङ्गीकारस्योभयत्रापि तुल्यत्वाद्विपयाद्यभावेपि सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति
सुखपरामर्शदर्शनाच्च । नच दुःखपरामर्शस्यापि सत्त्वान्नित्यदुःखरूपत्वमपि तुल्यमिति
वाच्यम् । नित्यदुःखरूपतायामात्मनः परमप्रेमास्पदत्वव्याक्रोपात् । नच दुःखाभावे
व्यभिचारादिदमसाधनमिति वाच्यम् । तस्य सुखशेषतया परमप्रेमास्पदत्वाभावात् ।

परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् । आत्मनः प्रेमास्पदतायां
न कस्यचिद्विवादः, मा न भूवं भूयासमित्यात्मन्याशिषो लौकिकपरीक्षकसंमतत्वात् ।
नचेयमाशीः शरीरोपघातजन्मनो दुःखाद्विभ्यतो नपुनरात्मानमानन्दं मन्यमानस्येति
युक्तम् । शरीरोपघातजन्मनो भयस्याप्यात्मनः प्रेमास्पदत्वमन्तरानुपपत्तेः, नहि दुःखं
दुःखतया भयहेतुरन्यगतस्यापि तथाभावप्रसङ्गात् । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रा'दिति प्रेमास्पद-

तृतीयमपीति । चरमदुःखध्वंसः किमनागतः साक्षारिकयते किं वा वर्तमानः । नायः । योगप्रभावनियम-
निरासेनानागतसाक्षात्कारनियमनिराकरणादित्याह—योगेति । द्वितीये प्राह—चरमेति । ततः साक्षा-
त्कारविषयो दुःखध्वंस इत्यंशोऽसंभवीत्यर्थः । यातु दुःखनिवृत्तिमात्रमेव मोक्ष इत्यत्र श्रुतिवदाहता तामन्य-
थयति—प्रियस्पर्शेति । मुक्तिदशायामानन्दप्रतिपादकश्रुतिराशेर्मुख्यार्थप्रच्यवनेनोपचरितार्थत्वान्नाहं
प्रियस्पर्शनिषेधस्य वैपयिकप्रियस्पर्शतया संकोचमानत्रलमिति भावः । नित्यज्ञानेति । यथाहि जीवज्ञाने-
च्छाप्रयत्नानामनित्यत्वेप्यैश्वरज्ञानादेर्नित्यत्वमिन्द्रियादेर्हेतुजानस्य च न ज्ञानादिमात्रं प्रति व्याप्तिः किंतु तद्वि-
शेषं प्रतीति भवद्भिः कल्प्यते तदकस्य हेतोः योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावात्, अनन्यथासिद्धश्रुतिसमर्पि-
तलाच्च, तथात्रापि स्वरूपभूतसुखस्य नित्यत्वेप्यविद्यावृत्ततया ससारदशायामुपलब्धुमयोग्यत्वाच्छ्रुतिबलाच्च
नापलापसंभव इति खण्डलकार्यः । अपि चोपलभ्यत एव ससारदशायामपि नित्यसुखमित्याह—विपया-
द्यभावेपीति । यात्वत्रातिप्रसक्तिरुक्ता तां परिहरति—नचेति । परप्रेमास्पदत्वमेव दुःखरूपतायां न
घटत इत्यर्थः । अत्र यदुक्तं दुःखाभावेपि परप्रेम्णो दर्शनाच्च सुखरूपतासाधकं परप्रेमास्पदत्वमिति तत्राह
—नच दुःखेति । निरुपाधिकत्वं हि प्रेम्णः परत्वं नाम, तथाच सुखशेषदुःखाभावे कथं परत्वमित्यर्थः ।
एवं परामर्शान्वयानुपपत्त्या सुखरूपत्वमुक्तं, सप्रति परप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—पर-
प्रेमेति ।

इदानीं परप्रेमास्पदत्वस्यैव कल्पकं साधयति—आत्मन इत्यादिना । शरीरेति । शरीरस्य य उप-
घातः हिंसा तज्जन्मं यदुःखं तद्वयादेवैयं प्रार्थनेत्यर्थः । ननु दुःखस्वभावादेव भयजन्मेति तत्राह—नहि
दुःखमिति । परप्रेमास्पदत्वे श्रुतिमप्याह—तदेतदिति । तदेतदात्मतत्त्वं पुत्रादपि प्रियतममिति

त्वश्रुतेश्च । नच दुःखाभावतयात्मनः प्रेमास्पदत्वम्, भावरूपत्वात् । नापि तदाश्रयतया, दुःखदशायामप्यात्मनि प्रेमोपलम्भात् । नापि तत्साधनतया, साधने प्रेम्णो निरुपाधिकत्वासम्भवात् । अतएव न सुखसाधनतयापि, सुखस्याप्यात्मार्थतया प्रेमास्पदत्वात् । अतः सकललौकिकवैदिकसुखगोचरप्रेम्णोतिशयः स्वात्मनि प्रेमा, निरतिशयसुखगोचर-प्रेमसमानएवात्मन्यवकल्पत इत्यर्थापत्त्याऽऽत्मनो निरतिशयसुखस्वभावत्वसिद्धिः । प्रयोगश्च 'कुम्भः कुम्भेतराचित्कासुखान्यान्यः प्रसाध्यताम् । कुम्भत्वेन यदित्य तत्तथा कुम्भान्तरं यथा' ॥ २ ॥ कुम्भोयमेतदितरानात्मासुखान्यान्यः कुम्भत्वात्सप्रतिपन्नकुम्भवत् । नच कुम्भोयमेतदितरानात्मादुःखान्यान्यः कुम्भत्वात्सप्रतिपन्नकुम्भवदित्याभाससमान-योगक्षेमता, तस्यागमार्थापत्तिबाधितविषयतयानुत्थानात् । किञ्च सुखप्रेम्णोः सन्नन्ध आत्मनिष्ठः सुखनिष्ठत्वात्सप्रतिपन्नलक्ष्यत्वादिवत् । नच सुखनिष्ठोत्कर्षापकर्षादिधर्मैरनैकान्तता, तेषां वेदान्तिभिः सुखनिष्ठतानङ्गीकारात् तत्प्रतीतेरौपाधिकत्वाभ्युपगमात् । नचेहशसबन्धोऽनात्मनिष्ठ प्रेमनिष्ठत्वात्सत्तादिवदिति सप्रतिसाधनता । प्रेम-

बृहदारण्यकश्रुतेरर्थ । भवतु तर्हि दुःखाभावत्वादिति तत्राह—नच दुःखेति । अस्तु ताह दुःखाभावाश्रय तयेति मेल्याह—दुःखेति । तत्साधनतयेति दुःखाभावसाधनतयेत्यर्थ । अत एव निरुपाधिकत्वादित्यर्थ । सुखस्यापीति । तथापि कथं निरतिशयत्वमित्यत आह—अत इति । अप्रकाशमानस्य पुरुषार्थत्व न सम्भवतीत्यत उक्त—समान इति । आत्मस्वरूपसुखसद्भावे अनुमानमप्याह—कुम्भ इति । अत्र कुम्भविशेष पक्ष । श्लोके विद्योति—कुम्भोयमिति । अयं कुम्भ एतत्कुम्भेतरत्वे सत्यनात्मत्वासुखत्वानधिकरणान्य कुम्भत्वात्कुम्भान्तरवदित्यर्थ । अत्र च सुखत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते सुखादयत्वेनार्थांतरता, तदर्थमनात्मासुखान्यान्य इत्युक्त, तथाचाप्रसिद्धविशेषणता, अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणस्यैकस्यासप्रतिपत्तेर्नैवात्मरूप किञ्चित्सप्रतिपन्नमस्ति सुख प्रतिवादिन तस्मादप्रसिद्धविशेषणतापरिद्वारार्थमेतदितरेत्युक्तम् । एतत्कुम्भेतरत्वेन कुम्भान्तेरे साध्यप्रसिद्धिः । अस्य हि कुम्भस्यानात्मत्वासुखत्वाधिकरणत्वेप्येतदितरत्वे सति तदधिकरणत्व नास्तेव एतस्यैवैतदितरत्वामावात् । पक्षे त्वेतदितरत्वे सत्यनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वमेतदितरत्वानधिकरणत्वाद्वा अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वाद्वा । प्रथमे व्याहृति । नद्येतस्मादस्यान्यत्वं सम्भवति, द्वितीये त्वेतदतिरिक्तमनात्मत्वासुखत्वानधिकरण किञ्चिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यात्मरूपसुखसिद्धिः ।

नन्वाभाससमानयोगक्षेमोयमात्मस्वरूपभूतदुःखापि कस्यचिदेव शक्यसाधनत्वादिति तत्राह—नचेति । आगम आनन्दरूपताप्रतिपादकस्तदप्रेय इति । अर्थापत्तिश्च परप्रेमास्पदत्वानुपपत्ति, स्वापोत्थितपरामर्शान्ययानुपपत्तिर्वा । सुखरूपतायामनुमानान्तरमप्याह—नचेति । इदं हि सुखरूपतां प्रेमरूपतां चात्मनः साधयति । तत्रापि प्रेमरूपतोभयवादिप्रतिपिद्धेति सुखरूपतासिद्धिः । ननु 'ते ये शत'मिति श्रुतौ मानुषानन्दमारभ्योत्तरोत्तरोत्कर्षं श्रूयते, प्रतीयते च प्रत्यात्ममनुभवेन सुखस्य तारतम्यमिति, तत्राह—तत्प्रतीतेरिति । शुभकर्मापत्यापितविषयविशेषसंपर्कसत्त्वप्रधाना येन्तं करणपरिणामास्ते हि ससारदशायां स्वाभाविकानन्दाभिभ्यञ्जका, तद्वच्छेदाद्विषयतारतम्याच्चेदमानन्दे तारतम्यमप्यस्यत इत्यर्थः । ननु नानात्मनिष्ठत्वमात्रमत्र साध्यं येन प्रेमलक्षणानात्मानमादायार्थान्तरता, किंत्वनात्मनिष्ठ एवेति तथाच तदाधारसुखस्याप्यनात्मत्वसिद्धयतीति तत्राह—अनात्मेति । पूर्वपक्षयुगुशय परिहरति—नचेति । नच

निष्ठतयैव सिद्धसाधनत्वाद्नात्मनिष्ठ एवेति तु साधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । सत्ता-
देरात्मानात्मनिष्ठत्वस्य परैरङ्गीकारात् । नच नित्यसुखरूपत्वे मुक्तिससारयोरविशेषप्रसङ्गः,
तस्याविद्यातिमिरतिरोधानातिरोधानाभ्यां विशेषोपपत्तेः । नचात्मनः सुखरूपत्वे सुखं मे
स्यादिति प्रेमानुपपत्तिः, संबन्धव्यपदेशस्यान्यनिष्ठताव्यावृत्तिपरत्वात् । अन्यासंबन्धि-
सुखसाक्षात्कारे सत्यपि संबन्धाभावापराधेनापुरुषार्थत्वानुपलब्धेः । संबन्धस्य केवल-
व्यतिरेकाभावात् । सुखसंबन्धमात्रस्य पुरुषार्थत्वे परकीयसुखसंबन्धस्यापि तथात्वप्रस-
ङ्गात् । संबन्धे न संबन्धान्तरमभ्युपेयं तथाचानवस्था तस्मादात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरेव
मुक्तिरित्युक्तम् । एतेन प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात्पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मुक्तिरित्यपि
परास्तम् । 'आत्मनः सुखरूपत्वाद्बन्धस्यान्यगतत्वतः । उपचारस्य वा योगात्संबन्धस्यानि-
रूपणात्' ॥ ३ ॥

सुखसाक्षात्कारस्यैव पुरुषार्थत्वोपपादनादात्मनश्च सुखत्वानभ्युपगमात् न पुरुषस्य
स्वरूपमात्रावस्थानं पुरुषार्थः ।

अपिच यस्य बन्धस्तस्यैव मुक्तिः नच पुरुषस्य बन्धः बन्धस्य बुद्धिगतत्वाद्गी-

स्वप्रकाशस्य तिरोधानमेव न संभवतीति वाच्यम् । मतद्वयेपि व्याप्त्यसिद्धे । यत्तु प्रेमास्पदत्वमेव सुखरूप-
त्वेन स्यात् सुखैकस्याप्रथमीयत्वादिच्छाया आत्मरूपस्योभयानभिमतत्वादित्युक्तं तत्परिहरति—नचात्मन
इति । नन्वन्यनिष्ठताव्यावृत्तिवत्स्वनिष्ठत्वमपि पुरुषार्थोपयोगि तथा व्यपदेशस्यापि मुख्यत्वमिति तत्राह—
अन्यासंबन्धीति । योगिन परसुखसाक्षात्कारेपि पुरुषार्थता नास्तीत्यन्यासंबन्धीत्युक्तम् । नच सुखस्य
संबन्धत्वे विद्यमानेऽन्यन्यासंबन्धित्वाभावापराधेनापुरुषार्थत्वादर्शनात्तदप्यप्रयोजकम् । सुखात्मनोर्भेदवादे
हारस्यान्यासंबन्धित्वेनैवोपपत्तेः । किं सुखसंबन्धमात्रं पुरुषार्थं किं वा स्वस्य सुखसंबन्ध । नाय इत्याह—
सुखसंबन्धेति । द्वितीये प्राह—संबन्धेति । वादार्थमुपसहरति—तस्मादिति । इदानीं सांख्यसं-
मतमोक्ष निराचष्टे—एतेनेति । महदादिविकृत्यन्ताकारपरिणामिनी त्रिगुणात्मिका जडा प्रकृति प्रधाना-
परपर्याया, साहि प्रकृतिरेव न पुनर्महदादिसप्तकवत् प्रकृतिविकृत्यात्मिका, नापि पृथिव्यादिषोडशवत् विकृत्ये-
करूपिणी । पुरुषस्त्वसङ्गोऽनाधेयातिशय परमोदासीनश्चिच्छक्तिः । तयोर्विवेकाग्रहणात्ससार । विवेकदर्श-
नात्त्वविवेकस्यातिनिवृत्तावुदासीनरूपावस्थानं मोक्ष इति यत्साख्यै समाख्यायते तदप्येतेन दुःखनिवृत्तिमा-
त्रलक्षणमोक्षप्रतिक्षेपेण प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यम् । तत्राप्यानन्दानवाप्ते समानत्वादित्यर्थः । एतस्य चान्यायपि
वृषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—आत्मन इति ।

आद्यपादं विवृणोति—सुखेति ।

द्वितीयपादं विवृणोति—अपिचेत्यादिना । अनाधेयातिशयोदासीनैकरस स्वच्छं पुण्यं, नच तस्य
सुखदुःखोपभोगलक्षणं ससारस्वत्प्रयोजकपुण्यापुण्यावेशो वा सम्भवति, भोक्तृत्वे फलत्वस्यापि तन्मागंसा-
शक्यवागणत्वात् फलत्वे च परिणामितया तस्यात्जाज्वल्यसाध्यवर्जनीयतया चिच्छिष्टिष्यापातेन जगत् एव
धोराब्धकारकूपे निपातं स्यात् । तस्मादेव बुद्धि सत्त्वरजस्तमोगयी तत्रैव बन्ध इति वक्तव्यं तथाच बन्ध-
मोक्षयोर्धैवधिपरिणमितीत्यर्थः । स्यादितत्त्व मोक्षोपि बन्धबन्धुद्विगत एव, नन्वपूर्वं कथिदतिशयो नैव
पुरुषे आधीयते, विद्यमानो वा कथिदाकारो निवर्त्यते वायत्रत्यात् । कथं तर्हि धैर्यो बन्धमोक्षप्रदीपि
द्विगतयोरपि तत्रोपचारात् रफटिकमणाविशारदणिग प्रयत्नवर्तिनः, योगदूतस्यैव विजयन् रात्रिः । उक्तं

कारात् । नचोपचाराद्द्विगतावेव बन्धमोक्षौ पुरुषे व्यपदिश्येते । निमित्ताभावादुप-
चारानुपपत्तेः ।

नच स्वस्वामिभावो निमित्तं सर्वथोदासीनस्य स्वामिभावे दृष्टान्ताप्रसिद्धेः । नच
बुद्धेः स्वत्वमपि अनाधेयातिशयपुरुषेऽनुपकारकत्वात् । नच द्रष्टृदृश्ययोर्योग्यतालक्षणः
संबन्धः, मुक्तावपि प्रसङ्गात्, तस्यास्तदाप्यनपायात् । नच पुरुषभेदेन प्रकृतिगतयोग्य-
ताया अपायानपायौ, अनाधेयातिशयतया पुरुषं प्रति प्रकृतिविशेषाभावे तद्व्यवस्थानु-
पपत्तेः, तस्मादनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव बन्धः विद्यानिमित्तस्त-
दस्तमयो मोक्ष इति सिद्धम् ।

ननु कस्याविद्या किं ब्रह्मणो जीवानां वा । नायः । सर्वज्ञस्य तदनुपपत्तेः । न द्वितीयः ।
तेषां परमार्थतः परस्माद्भेदेऽद्वैतव्याघातात् । अभेदे च पूर्वदोषानुपपत्तात् ।

अविद्याकल्पितभेदत्वे चेतरेतराश्रयापातात् । अविद्याधीनो जीवविभागो जीवाश्रया
चाविद्येति । अनुपपत्तिरविद्याया न द्रूपणमिति चेत् । अनुपपत्त्यभावे मुक्तानां ब्रह्मणश्च

हि—'रूपैः सप्तभिरेव तु ब्रह्मात्मात्मनमात्मना प्रकृतिः । सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्यकरूपेणे'ति ।
तथा पतञ्जलिनापि—'एवं बन्धमोक्षौ पुद्बिकृतौ युद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भो-
क्तं'ति, तत्राह—नचोपचारादिति । एतेन तृतीयः पादो विवृतः । असाधारणसंबन्धं निमित्तीकृत्य
ह्युपचारः प्रवर्तते यथा क्रौर्यशौर्यादिगुणगणशालिनि बलवर्मणि सिंहशब्दः । नचाल्यन्तविलक्षणयोश्चैतयोरस्ति,
तादृशगुणयोग इत्याह—निमित्तेति । एतेन दुरीयचरणो विवृतः ।

धनदानादिना ह्युपकुर्वतां यद्युपापतिप्रभृतीनां स्वामित्वं दृष्टं युद्धादिनोपकुर्वतां च श्रुत्यादीनां स्वत्वं, नचेद्
द्वयमित्याह—नच स्वस्वामीत्यादिना । ननु चिच्छकेः पुरुषस्य द्रष्टृयोग्यतास्ति जडबुद्धेर्दृश्ययोग्यता,
अतो योग्यतालक्षण एवानयोः संबन्धोऽस्त्यलमितरैः । युक्तं चेतत्, इतरथोभयोर्वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति तत्राह—
नच द्रष्टृदृश्ययोरिति । एषा योग्यता मुक्तावप्यस्तीत्यनिर्मुक्त एव स्यादित्यर्थः । अथ संसारावस्थाया-
मेव योग्यता न मुक्ताविति ब्रूयात्तत्राह—तस्या इति । स्वरूपातिरेकिणी न योग्यता नामास्तीति भावः ।
यदि मुक्तौ सत्यामयोग्यैव प्रकृतिस्त्वैकलात्तस्या न किञ्चिदपि तत्र योग्यतेत्येकमुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात् ।
अथैकापि प्रकृतिमुक्तं प्रत्येवायोग्या नेतरं प्रति । यथोक्तं—'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वा'-
दिति, तत्राह—नच पुरुषेति । तत्र बन्धन्यं किमिमावपायानपायौ मुक्तामुक्तवैलक्षण्यपुरुषविशेषप्रयुक्तौ
किं वा प्रकृतिरेवैवं जानाना तिरोदधाति कंचित्प्रत्यात्मानमिति । तत्र नाथ इत्याह—अनाधेयेति । उत्त-
रस्तु जडत्वात्प्रकृतेरपायः । एवं पराभिमतं मोक्षं निरस्य स्वसिद्धान्तसिद्धमोक्षमुपसंहारव्याजेन दर्शयति—
तस्मादिति ।

अविद्यया तिरोधानं बन्धो विद्यया चाविद्यानिवृत्तिर्मुक्त इत्युक्तं तदेतद्वयमुपपादनीयम् । तत्राविद्यातिरोधानं
निरूपयिष्यन्नविद्याश्रयविषयावाक्षिप्य समादधात्युत्तरवादेन—ननु कस्येत्यादिना । सर्वज्ञस्येति । यः
खल्वविद्याश्रयोऽसावहो भ्रान्तो वा दृष्टः, सर्वज्ञस्य च ब्रह्मणो द्वयमपि विप्रतिपिदमित्यर्थः ।

ननु यद्यपि वस्तुतोऽभिन्ना ब्रह्मणो जीवाः तथाप्यविद्याविकल्पितभेदा ह्येते । तेषामज्ञत्वेऽपि न ब्रह्मणस्तत्त्व-
मिति तत्राह—अविद्येति । जीवविभागे सिद्धे तदाश्रिताऽविद्यासिद्धिः सिद्धायां च तस्यां जीवविभागसि-
द्धिरिति तरेतराश्रयत्वमित्यर्थः । मण्डनमिथोक्तिमनुवदति—अनुपपत्तिरिति । ननु तस्या मुक्तानां ब्रह्मणो
वा अनुपपत्तिरस्तीति नास्माभिः परिकल्प्यते किं तर्हि तन्निष्ठतयाननुभवत्वरूपकाभावाद्देवि शङ्कते—

१ पातञ्जलधृते माध्यकृता ध्यासेनेत्यर्थः । २ त्व-शब्दरहितः पादो भाति ।

सा किं न स्यात् । ननु न सा मुक्तानां ब्रह्मणश्च भाति नापि कल्प्या । कल्पकाभावात् । मुक्तसर्वज्ञयोरविद्याश्रयत्वव्याघाताच्च । जीवानां तु न सा कल्प्या अहमज्ञ इत्यनुभवसिद्धत्वादिति चेत् । न । अविद्याकल्पितोऽहमज्ञ इत्यनुभवाभावात् । नन्वहमिति प्रतीतिः कल्पिततामविद्याश्रयस्य बोधयति । अहंकृतेः कल्पनामयत्वात् । सुषुप्ततुरीयादौ च सत्यपि चिदात्मनि तदभावात् । अहं ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्यस्य यथं स्थाणुरसौ पुमानिति-वद्वाधपरत्वात् । अहंशब्दस्य तत्र लक्षणया शोधितत्वंपदार्थविषयत्वाभ्युपगमाच्च अतः कल्पिताश्रयमज्ञानं प्रतीतित एव सिद्धमितिचेत् । न । प्रविलीनाहंकारेऽप्यात्मनि सुषुप्तादावज्ञानस्य सद्भावाभ्युपगमादन्यथा सुषुप्तिप्रलययोर्मुक्तिप्रसङ्गात् । तस्मादविद्याधीनो जीवविभागस्तदधीना वाऽविद्येति दुर्बारा परस्पराश्रयता ।

नच बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव जीवाविद्ययोरनादित्वेन तत्परिहारः । दृष्टान्तवैषम्यात् । तत्र हि, बीजाङ्कुरव्यक्तीनामन्योन्यकार्यकारणभावात् तत्सन्तानयोः परस्पराधीनत्वव्यपदेशः, इहतु जीवाविद्याव्यक्तयोरेकत्वात् कार्यकारणभावाभावाच्च कथं तथा व्यपदेशः स्यात् । नन्वात्मनि गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरिवानादित्वेऽपि प्रयोज्यप्रयोजकभावो जीवाविद्ययोः किं न स्यादिति चेत् । तर्ह्यविद्यावत्त्वजीवत्वयोश्चिन्मात्रं किमधिकरणमुताविद्याविशिष्टम् । आद्ये ब्रह्मण्येवाविद्येति प्राचीनदोषानुपङ्गः । द्वितीये पुनरविद्यावत्येवाविद्येत्यात्माश्रयः । ब्रह्मवज्जीवस्यानादित्वे च न ब्रह्मप्रतिबिम्बता ।

नन्विति । ननु कल्पकाभावो जीवेऽपि समानः । सत्यं, कल्पनायामयं दोषः । अनुभूयते तु जीवे इत्याशयवानाह—जीवानामिति । ननु यद्यप्यहमज्ञ इत्यत्राविद्याकल्पिताऽऽश्रयत्वं न केनाप्युल्लिख्यते तथाप्यज्ञ इति प्रतीतिबलादज्ञानाश्रयस्याविद्याकल्पिततास्तीति शङ्कते—नन्वहमित्यादिना । अहंकृतेरिति । अहमिति कृतिः करणमहमाकारेण परिणामो यस्मिन् यस्याहंकारस्य चेत्यर्थः । अथावदात्मभाविलाघं कल्पित इत्याह—सुषुप्तेति । तुरीयं मोक्षवस्था । नन्वहं ब्रह्मास्मीति वाच्येन ब्रह्मसामानाधिकरण्यमहंकारस्योच्यते नच कल्पितस्य वस्तुभूतेनैक्यं संभवतीति कथं कल्पितत्वमहंकारस्येति तत्राह—अहमिति । अन्यतरवाधायामपि भ्रान्तिस्थलेषु सामानाधिकरण्यं दृश्यत इत्यर्थः । ननु न तावदिदं वाक्यं बाधनाप्रसम् । ऐक्योपदेशपरत्वात् ऐक्यसाक्षात्कारेण ह्यविद्यानिवृत्तिरिति । सत्यं, शोधितत्वंपदार्थस्य ब्रह्मैक्योपदेशपरत्वमहंकारस्य । कथं तर्ह्यहंशब्दस्य तत्र प्रवृत्तितत्राह—अहंशब्दस्येति । स्यादेवं यद्यहंकारविशिष्टाभि-तमज्ञानमिति ते मतं स्यात् । नत्वेवं सुषुप्तिप्रलययोरप्यस्ति दण्डायमानमज्ञानमिति हि ते मतम्, नच तदाहंकारोक्तिः । विकारस्य तदा प्रविलयात्तदभावे कथं कल्पिताश्रयत्वमज्ञानस्येति दूषयति पूर्ववाची—न प्रविलीनेति ।

मण्डनवाचस्पतिमिथ्याभिमतपरिहारं दूषयति—नचेति । वैषम्यमेवाह—तत्र हीति । नहि साऽज्ञा-न्तानयोरन्योन्यस्मादुत्पत्तिः । अनादित्वात् । ततो व्यक्तिद्वारा व्यक्तीनामप्यनेकतया नान्योन्यमुत्पत्तिः । नहि यतो बीजाद्योऽङ्कुरो जायते तदेव बीजं तस्मादङ्कुरात् अपित्वङ्कुरान्तरात् नचेद् तथा । नहि प्रतीति-नमन्येन्ये जीवाः नाप्यविद्या तस्मादस्त्येव वैषम्यमित्यर्थः । यद्यप्यनादित्वादेकत्वाच्च नान्योन्यमुत्पत्तिशी-वाविद्ययोरन्योन्यस्येति एकस्य स्वप्रकाशात्वात् अपरस्य साक्षिवेद्यत्वात् तथाप्यन्योन्यनिर्दम्यात्वं पटल इति दृष्टान्तमवष्टभ्य दृष्टे—नन्वात्मनीति । तर्हि यथा गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरैकभावात्साधारण्यं तथाप्राप्येक-धिकरणं एकक्यं तर्हि चिन्मात्रं किं वा अविद्याविशिष्टमिति विकल्प्य दूषयति—तर्ह्येत्यादिना । इत्या-

अथ ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया च विमुच्यत इत्युच्येत, तदा तस्यैक-
त्वान्न विद्वद्विद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्थाः स्युः । तथाहि—यदि नोत्पन्नाविद्या कस्तदा
गुरुरात्मान्तराभावाद्, यद्युत्पन्ना कस्तदा शिष्यः सर्वभेदप्रविलयात् । मायाविनिर्मितौ गुरु-
शिष्यौ स्त एवेति चेन्न । उत्पन्नविद्यस्य मायानुपपत्तेः । शिष्याविद्याविनिर्मितो गुरुरिति
चेत् । न । अविद्यानिर्मितस्य जडत्वेन विद्यावत्त्वानुपपत्तेः । दृश्यत एवाविद्यानिर्मितस्य
गुरुत्वं स्वप्न इति चेत् । तर्हि शिष्याविद्याविनिर्मितस्य गुरुत्वे तस्य तस्यापि शिष्यस्य
स्वीयस्वीयशिष्यं प्रति गुरुत्वेन तत्तदविद्याविनिर्मितत्वान्न कोपि परमार्थः परमात्मतया
निरूपितः स्यात् । यच्चाहुः, स्वात्मानमेव कल्पितभेद गुरुः शास्तीति । तच्चायुक्तम् । तस्य
स्वात्मनो मुक्तिं निश्चिन्वतः स्वव्यतिरेकेण तेषामभाव च पश्यतस्तदुपदेशार्थं प्रवृत्त्ययो-
गात् । प्रवृत्तौ च 'मन्मुक्त्यैवासि मुक्तस्त्व मा यन्न कुरु मुक्त्य' इत्येवोपदेशप्रसङ्गात् ॥

किंचानादौ संसारे कस्यचिन्मुक्तिरासीन्न वा । आद्ये नेदानीं ससारोपलम्भः स्यादा-
त्मान्तराभावात् । द्वितीयेपि कथं भविष्यतीति प्रत्याशा । नच विद्याभावात्पूर्वममुक्तिः ।
शुकवामदेवप्रभृतीनामविद्यमाना विद्याऽन्यस्य भविष्यतीति प्रत्याशाऽसभवात्, गुरुसं-
प्रदायाभावाच्च । तस्मादेकात्मवादे बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेः पारमार्थिक एवात्मभेदः समा-
श्रयणीयः । प्रयोगश्च—आत्मा आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववान् आत्मनिष्ठमिध्याभे-
दातिरिक्तभेदवान् लक्ष्यत्वाद्भवत् । नच 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्याद्यागमविरोधः ।
तस्यैश्वरैकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । नच तत्र सर्वभूतान्तरात्मत्वविरोध । तस्यैव नियामकतया

इष्टसिद्धिकारमतमुद्गावयति—अथेति । शुर्वादिविभागाभावमेव प्रपञ्चयति—तथाहीत्यादिना ।
यद्यप्युत्पन्नविद्यतया गुरोर्माया नास्ति तथापि शिष्यस्याविद्यास्ति अनुत्पन्नविद्यत्वात्तदविद्याविजृम्भित एव
तद्गुरु । नच कल्पितस्योपदेष्ट्वानुपपत्ति स्थाप्रवदुपपत्तेरिति शङ्कते—शिष्याविद्येति । एव शिष्या-
विद्याविनिर्मितो गुरुरिति पक्ष दूषयित्वा शुर्वविद्याविनिर्मित शिष्य इति पक्ष दूषयति—यच्चाहुरिति ।
तस्याप्यविद्यावस्थायामिय कल्पनेति वक्तव्यं साचोत्पन्नविद्यया ध्वस्तेति शिष्यकल्पनैव नास्ति कथमनुशि-
ष्यात् । भवतु तथाप्यधिगतपरमार्थत्वाच्छिष्यादितत्त्व जानन्न पृथक्त्वमुपदिशेदित्याह—तच्चायुक्तमि-
त्यादिना ।

एव गुरुशिष्यव्यवस्थानुपपत्तिमुक्त्वा बद्धमुक्तव्यवस्थानुपपत्तिमप्याह—किंचेत्यादिना । ननु पूर्वं विद्यैव
नोत्पन्ना तेनोपपन्न ससार, शुकादीना तु विद्योत्पत्तिशास्त्रमर्थवादमानमिति तत्राह—नच विद्येति ।
किंच पूर्वं कस्यचिदपि चेद्विद्या नोत्पन्ना तर्हि गुरुसंप्रदायाभावादपि विद्या नोत्पद्येतेति निर्णयस्यैव सम्-
वादिनिर्देशप्रसङ्ग इत्याह—गुरुसंप्रदायेति । तदेवमविद्याश्रयानिरूपणादविद्याधीनो जीवब्रह्मणोर्जीवाना
च भेद इत्यसंबद्धम् । अत पारमार्थिक एवात्मभेद इत्याह—तस्मादिति । घटान्योन्याभावत्वेन सिद्धसा-
धनतापरिहाराय आत्मप्रतियोगिकेत्युक्तम् । आत्मनोभिद्यत इत्यर्थे । भेदमानसत्त्वत्वेप्यनुमानमाह—
आत्मनिष्ठेति । अतिरिक्तत्वमनधिकरणत्व, सिद्धसाधनतापरिहारार्थं मिध्याभेदातिरिक्त्युक्तम् । अप्रसि-
द्धविशेषणतानिष्टत्यर्थमात्मनिष्ठपदम् । 'नन्वेको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मे'ति सर्व-
भूतानामन्तरात्मत्वमप्यस्य कीर्त्यते सच क्षेत्रज्ञ एवेति कथमस्यैश्वरविषयता इत्याशङ्कान्तर्धामितया तस्यापि
तत्सम्भवतीत्याह—नच तत्रेति । नन्वेक एव तु भूतात्मेति प्रतिभूतभेदेन प्रतिभासमानजीवात्मनामेवैक्य-

सर्वभूतान्तरावस्थानात् । तथाच श्रुतिः—‘य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मनोन्तरो यमात्मान वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मानन्तर्याम्यमृत’ इति । ‘एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रव’दिति स्मृतेरपीश्वर-परत्वात्तस्य कायव्यूहनिर्माणेन बहुधाभावस्याप्युपपत्तेः । तत्त्वमसीत्याद्यैकात्म्योपदेशस्य चोपासनापरत्वात् । नचोपासनाविध्यश्रवणादतत्परत्वं शङ्कनीयम् । अपूर्वत्वेन ‘पूषा प्रपिष्टभाग’ इत्यादाविव विधेः कल्प्यमानत्वात् ।

‘नेह नानास्ति किञ्चने’त्यादेश्चेश्वरभेदाभावपरत्वात् । ‘मृत्योः स मृत्यु’मित्यस्य भेददर्शननिन्दया अभेदोपासनाविधिपरत्वात् । ‘द्वासुपर्णा’ ‘अजामेका’मित्यादिना च जीवेश्वरयोर्जीवानां च परस्परभेदस्य साक्षादेव प्रतिपादनात् । नच तत्र लोकसिद्धभेदानुवाद इति वाच्यम् । ईश्वरस्यालौकिकत्वादेव तद्भेदस्य लोकतोऽधिगमासंभवात् । जीवभेदस्य च लोकसिद्धत्वे प्रत्यक्षादिव्यतिरेकेण लोकशब्दार्थानिरूपणात्, प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेन जीवभेदस्य प्रामाणिकत्वसिद्धिः ।

सुखदुःखव्यवस्थानुपपत्तिरपि जीवभेदं साधयति । अन्यथैकस्मिन्कार्त्स्नित्वसुखिनि सुखिन एव सर्वे स्युर्दुःखिनि वा दुःखिन इति व्यवस्था न स्यात् । नच पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमिति वदुपाधिनिबन्धना व्यवस्था, तद्वदेव शरीरभेदेऽपि भोगानुसंधानप्रसङ्गात् । नच सुखादीनां साक्ष्यत्वेन साक्षिधर्मत्वाभावात् तद्भेदव्यवस्थापकत्वासिद्धिः ।

प्रतिपादिका स्मृतिरस्तीति तत्राह—एकपदेति । नन्वीश्वरस्यैकत्वात्कथं तत्र बहुधा दृश्यत इति निर्देशोपपत्तिस्तत्राह—तस्येति । ननु तत्त्वमसीति प्रकृतिविलक्षणेऽश्वरात्मता श्वेतकेतुपलक्षितजीवस्य प्रतिपादयति तत्कथं जीवभेदस्तत्राह—तत्त्वमसीति । नित्रेपि परमेश्वरे अभेददृष्टिः कर्तव्या योषितीवाभिरदृष्टिरित्यर्थः । पूषेति । यथाहि तस्मात् ‘पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तकोही’तिवाक्येऽपूर्वत्वात्पूषोदेशेन पिष्टभागविधिः कल्पितः एवमत्रापीत्यर्थः । आदिशब्देनोपरिधारणादि गृह्यते ।

शुक्लन्तरविरोधं परिहरति—नेहेति । यद्यप्येते श्रुती कृतसमाधाने तथाप्यभ्युपगम्येनानुपगम्येते । न केवलं शुक्लविरोधः श्रुतिसिद्धध्यातममेद इत्याह—द्वासुपर्णेति । अत्र हि द्वामिति जीवेश्वरौ द्वित्वेन निर्दिष्टौ तथा तयोरन्य इत्यनश्रवण इति च भोक्तृभोक्तृतया परस्परमन्यत्वेन च निर्दिष्टौ । तथा अजामेकमित्यत्रापि तेजोवज्रलक्षणमवियामेको जहाति अन्यश्च जुषमाणः प्रीयमाणोऽनुशेते इत्यजशब्दोपात्तजीवभेदः प्रतीयते भद्रावज्रलक्षणधर्मभेदश्चेत्यर्थः । यद्यपि जीवस्य लौकिकतया तद्भेदः शक्यतानुवादः तथापि परमेश्वरस्यालौकिकत्वाच्च तद्भेदः सभवदनुवाद इति तदप्रतिपादनपरमिदं वाच्यमित्याह—ईश्वरेति । तत्किं जीवभेदप्रतिपादकत्वमुपेक्षितमस्य तथाचाप्रामाणिकभेदत्वाद्भैतसिद्धिरिति तत्राह—जीवेति । अस्यानुवादक्येपि यत्सिद्धमिदमनुवदति तदेव तत्र प्रमाणमित्यर्थः ।

एवमनुमानागमाभ्यामारामभेदं साधयित्वाधोपपत्तिमप्याह—सुखदुःखेति । ननु यथैकस्मिन्भेदे पादशिरःप्रदेशनिष्ठतया सुखदुःखव्यवस्थायामपि न भेदः तत्कस्य हेतोः औपाधिकभेदमादाय तथा तस्येदेह-प्येक एवात्मा तत्तद्देशोपाधिभेदाच्च शीतादिव्यवस्थेति किं न स्यात्तत्राह—नच पाद् इति । तर्हि यथा सङ्काशयथेकस्य तत्रानुसंधानं तथा सफलक्षेत्रेऽप्येकोऽनुसंधयीत नचेतदस्तीत्यर्थः । ननु व्यधिकरणमिदमभिधीयते यस्सुखादिव्यवस्थायामभेद इति । अन्तःकरणधर्मा हि सुखादयः साक्ष्यत्वात् । नच साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वं तथासति स्वधर्ममाहृत्क्ये स्वप्नादकृतया स्वप्नितिविरोधप्रसङ्गादिति तत्राह—नच सुखादीनामिति ।

प्रमाव्यतिरिक्तसाक्षिणो दुर्निरूपत्वात् । तथाहि तस्य द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भावादद्रष्टृत्वे सुखादिसाधकत्वासिद्धेर्ग्राह्यरूपत्वे च संसारदशायामनाविर्भावात् साक्षिप्रत्यक्षं नाम व्यवहारज्ञं न सिध्येत् । प्रमाणाभावाच्च । न तावत्प्रत्यक्षमत्र प्रमाणं, मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे प्रमात्रन्तर्भावप्रसङ्गात् ।

इच्छादय एतद्ग्राहकानित्यज्ञानातिरिक्तप्रत्यक्षवेद्याः, अर्थापरोक्षत्वात् रूपादिवदित्यनुमानं प्रमाणमिति चेत् । न । ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसाधनत्वात् । अनीश्वरत्वादिनां चेच्छादय एतद्ग्राहकानित्यानुमानातिरिक्तानुमानवेद्याः वेद्यत्वादिति साधनादाभाससमानयोगक्षेमत्वात् । अनित्यप्रत्यक्षवेद्यत्वे बाधकाभावाच्च । सुखादिविशिष्टस्यात्मनः स्वाश्रितज्ञानवेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधप्रसङ्गो बाधक इति चेत्, भैवम् । स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टस्वरूपेण कर्मत्वेऽप्यविरोधात् ।

अन्यथा त्वन्मतेऽपि कर्तृत्वकरणत्वयोरेकत्र समावेशो न स्यात् । अभ्युपगम्यते हि केवलाया बुद्धेः करणत्वमात्मविशिष्टरूपेण च कर्तृत्वम् । अविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वं केवलाविद्यायाश्च साक्ष्यत्वमिति च स्वीकारात् 'ग्रह वा इदमत्र आसीत् । तदात्मानमेवावेदं ग्राह्यास्मी'ति चात्मन एव वेद्यवेदकभावश्रवणात् । प्रमाणवरचेन विरुद्धस्याप्यभ्युपगमे प्रकृ-

साक्षी द्रष्टा नवेति विकल्प्यायं दूषयति—द्रष्टृत्व इति । नहि प्रमात्रतिरिक्तः कश्चिदस्ति घं प्रतिपन्नो द्रष्टेति भावः । ननु द्विविधं द्रष्टृत्वं ज्ञानाकारेण परिणामित्वं अलक्ष्णनिद्रूपत्वं चेति । तत्र पूर्वममुष्यम् अन्वुपिण्डत्येव संक्रान्तामेर्दंष्ट्रत्वम् । उत्तरं तु मुख्यं वक्षेरिव तत्र मुख्यो द्रष्टा साक्षी तेन न प्रमाता नापि सुखादिसाधक इति । तर्हि मुक्तिदशायामेवैतादृशमभिव्यज्यत इति व्यवहारनिर्वाहकत्वप्याहतिरित्याह—प्रत्यक्षरूपस्य इति । नच प्रमात्रतिरिक्ते साक्षिणि किञ्चित्प्रमाणमस्तीत्याह—प्रमाणेति ।

प्रत्यक्षपक्षे हि न तावद्ग्राह्यमवाह्यत्वात्, आन्तराद्येऽपि नित्यमनित्यं वा । अनित्यत्वे मानसमेव तदिति तद्देयः प्रमातैव नित्यं च प्रत्यक्षं न जीवेस्तीति भावः । अस्तु तर्ह्यनुमानं साक्षिप्रत्यक्षे प्रमाणमिति शङ्कते—इच्छादय इति । प्रत्यक्षवेद्या इत्युक्ते मानसप्रत्यक्षमादायार्थान्तरता तदर्थमनित्यज्ञानातिरिक्तेत्युक्तम् । तथाचानीश्वरत्वादिनं प्रत्यक्षप्रतिष्ठविशेषणता तदर्थमेतद्ग्राहकेत्युक्तम् । अनेनैतद्ग्राहकानित्यप्रत्यक्षमादाय च साध्यप्रसिद्धिः । पक्षे चैतद्ग्राहकानित्यज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतद्ग्राहकत्वानधिकरणत्वाच्च सम्भवति तद्देयत्वेन व्याघातात् । तस्मादनित्यज्ञानत्वानधिकरणं किञ्चिन्मित्यप्रत्यक्षमादाय तद्ग्राहकत्वमिच्छादीनां सिध्यतीति नित्यसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धिरित्यर्थः । अत्र तार्किकः प्राह—ईश्वरेति । अनीश्वरवादी स्वानाससमानयोगक्षेमतामाह—अनीश्वरेति । शक्यते हि नित्यमपि किञ्चिदनुमानमेवं साधयितुमित्यर्थः । विपक्षे बाधकाभावाच्च शङ्कितप्रयोजकतामाह—अनित्येति ।

न केवलमस्मन्मत एवेवं गतिः यत्स्वरूपेण ग्राहकत्वं सुखादिविशिष्टाकारेण ग्राह्यत्वमित्यनुपहितोपहितभेदाभ्रयणं, भवतोऽप्येवंविधभेदाभ्रयणमेव कश्चिच्छरणमित्याह—अन्यथेति । आत्मैक्याप्यस्त्युक्तिर्हि प्रमाता कर्तेति बोध्यत इत्यर्थः । उदाहरणान्तरमाह—अत्रियेति । निर्विकल्पचैतन्यस्य सर्वसाक्षित्वादिविकल्पाभावादविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वमित्यर्थः । श्रुतिरप्यात्मनो ग्राह्यग्राहकतां दर्शयतीत्याह—ग्राह्येति । ननु तत्र तत्र श्रुत्यादय एव तयात्वे प्रमाणमिति न विरोधः, तर्ह्यप्यापि समानमिति परिहरति—प्रमाणेति ।

तेष्वहं सुखीत्यनुभवसद्भावात् नासौ दण्डवारितः । एतेन सुखादिप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिरपि साक्षिसिद्धौ प्रमाणमिति परास्तम् । अन्यथाप्युपपत्तेः । न च व्यभिचारिकरणजन्यज्ञानानां चैतन्यरूपमनुगतमनुसंधातारमन्तरेण प्रतिसंधानानुपपत्तिः साक्षिणि प्रमाणम् । ज्ञानानां स्वयंप्रकाशत्वात् तदाश्रयतया सिद्धस्य स्थिरस्यात्मनः पूर्वोत्तरकालीनज्ञानानुसंधानोपपत्तेः । एतेन प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरपि परास्ता त्रिपुटीप्रत्यक्षवादे घटमहं जानामीति त्रितयप्रतिभासोपपत्तेः ।

नापि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेत्यागमः प्रमाणम् । साक्षादीक्षत इतीधरस्य सर्वापरोक्षदर्शिनः प्रतिपादनात् । तदेवं न साक्षिणः सिद्धिः सिद्धावपि न साक्ष्याणां धर्मत्वक्षतिः । "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा" इति साद्व्याणामपि सद्धर्मत्वस्वीकारात् । किंचाकाशो विशेषगुणवद्भाषकद्रव्यान्यः, द्रव्यत्वाद्धटवदित्यनुमानादपि आत्मनां सुखादिविशेषगुणवत्त्वसिद्धिः ।

तथाच तद्व्यवस्थातस्तेषां नानात्वसिद्धिः । अत्रोच्यते । यथावदुक्तं सर्वज्ञत्वाद्ब्रह्मणो नाविद्येति, तदयुक्तम् । यतः—'स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् । तन्नोभयं

एवं प्रत्यक्षानुमाने साक्षिणि दूषयित्वा अर्थापत्तिं दूषयति—एतेनेति । अन्यथापीति । मानसवेद्यत्वेपि विरोधाभावस्योक्तवादित्यर्थः । ननु चक्षुरादिपरस्परव्यभिचारिकरणैर्जन्यानि यानि ज्ञानानि तेषु जानामि जानामीत्यनुगतः कश्चिदनुसंधाता तावत्प्रतीयते । स च स्फुरन्नेवानुसंधातुमर्हति इतरथा जानामीति व्यवहारनिष्पत्तेः । न च तस्य ज्ञानान्तरतःस्फुरणम्, अनवस्थाभयात् । तस्माद्यः स्वप्रकाशः सकलखान्तादृश्यनुसंधाता साक्षी सोऽर्थापत्तिसिद्धः । अथवा यदिदं व्यावृत्तज्ञानेष्वनुसंधानरूपमद्राशमित्यादि तत्स्फुरणमन्तरेण न घटवेऽनुव्यवसायश्च नोत्पन्नस्तत्स्त्वं च विप्रतिपन्नम् अतस्तत्तद्दृत्तिसाधकसाक्ष्यार्थापत्तिविधि इति तत्राह—न च व्यभिचारीति । अत्र स्फुरतानुसंधात्रा हि भवितव्यं तच्च सविदाश्रयत्वेनापि संभवति । नचानवस्था, तस्मात्स्वप्रकाशत्वादिति प्राभाकरः परिहरति—ज्ञानानामिति ।

तार्किकपक्षे तु पूर्वोक्तरीत्या श्रुतिविरोधपरिहारेण मानसप्रत्यक्षमादाय परिहर्तव्यम् । आगमं साक्षिणि निषेधयति—नापि साक्षीति । चेता चेतन इत्यर्थः । सटस्थेश्वरमादायाप्युपपत्तेरिति भावः । किंच साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्वं न घटत इति बहुमेव न शक्यते पक्षपातीविरोधादित्याह—सिद्धाद्यपीति । साक्षीरूपस्यात्मनो विशेषगुणधर्मवत्त्वेऽप्यनुमानमाह—किंचेति । द्रव्यान्य इत्युक्ते घटाद्यन्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थं व्यापकद्रव्यान्य इत्युक्तम् । तथापि कालदिगन्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थं विशेषगुणवदित्युक्तम् । यस्माद्य विशेषगुणवतो द्रव्यादाकाशोऽन्यः स आत्मा आकाशस्य पक्षत्वेन तदन्यत्वाद्यभावात्, घटे हाकाशान्यत्वेन साप्यसिद्धिः ।

फलितमाह—तथाचेति । सिद्धान्ती समभातुमुपक्रमते—अत्रेति । तत्राभिधायाम् जडनिष्ठत्वं तावत् संभवति । अविद्येतज्जटस्य तज्जम्भणतया कारणस्य कार्याधितलायोगादप्रतीतिप्रसङ्गात् । नहि या सप्तकाशा । तस्या आश्रयोपि चेज्जटः केनेवा प्रकाश्येत । तस्मात्सिद्धत्वं यत्तस्य सादेपरि प्रकाशत इति चैतन्यनिष्ठत्वमायादि । तत्रापि न जीवाध्या, पूर्वोक्तदोषात् । यथा यदयते—'शनश्रीकारपरस्ता' इति । न च प्रक्षयक्षेपि दोषसाम्यं तद्विद्येतिव्यभिचैल प्रमाधितत्वपक्षोपपत्तानि परिहरति—यथापदित्यादिना । स्वरूपत इति । द्वेषा हि सर्वज्ञत्वं संभवति स्वभावभूतप्रसाया वा यथा तावत्श्वरस्य, प्रमाणनिष्ठप्रहना वा

विना विद्यासंबन्धं नैव सिध्यति ॥ ४ ॥ स्वरूपप्रज्ञया चेत्सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते तदा असङ्गस्य ब्रह्मणो नाविद्यामन्तरेणाशेषार्थसंगतिरिति सर्वज्ञत्वोपपत्त्यर्थमेव साभ्युपगमनीया । प्रमाणतः सर्वज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसंबन्धस्य चाविचारितरमणीयानाद्यविद्यासंबन्धमन्तरेणासिद्धेः सर्वज्ञत्वमविद्यावत्तामाक्षिपति—नतु प्रतिक्षिपतीति कुतो विप्रतिषेधः ।

ननु प्रकाशरूपस्य कथमप्रकाशरूपाविद्याश्रयत्वं परस्परविरोधिनोस्तमःप्रकाशयो-
रिवाधाराधेयभावानुपपत्तेरिति चेत् । मैवम् । विकल्पासहत्वात् । किमप्रकाशशब्देन प्रका-
शाभावः उत प्रकाशादन्यत् तद्विरुद्धं वा विवक्षितम् । नाद्यः । अविद्याया भावाभाव-
विलक्षणत्वेनाभावत्वानभ्युपगमात् । द्वितीये तु दृष्टान्ताभावः । किं खलु चित्प्रकाशा-
दन्यत्तदाश्रयं न भवतीति सां प्रत्युदाह्रियेत सर्वस्य जडस्य चित्प्रकाशाश्रयत्वाभ्युपगमात् ।
तदेकाश्रयस्य तेन सह विरोधासंभवात् नृतीयोपि । नचाविरुद्धत्वादनियुक्तिः । वेदान्त-
वाक्यजनितेन ब्रह्मैकाकारेण विज्ञानेन तदवच्छिन्नेन वा चित्प्रकाशेन तन्निवृत्त्युपपत्तेः ।
नच विज्ञानस्य निवर्तकान्तराभावादनियुक्तिः, भावे वा तन्निवर्तकान्तरस्याभ्युपगन्तव्य-
त्वादनवस्थेति वाच्यम् । कारणनियुक्त्यैव तन्निवृत्तेरप्यत्र सिद्धत्वात् । नच कार्येण कार-

यथा वा तावकयोगिनामुभययाप्यविद्यासंबन्धमन्तरेण नोपपद्यते इति श्लोकार्थः । विद्युतेति—स्वरूपेत्या-
दिना । यथा दृग्दृश्ययोराध्यात्मिक एव संबन्धो नान्यस्तयोपपादितं प्रथमपरिच्छेदे सिध्वात्ववादे । प्रमातृत्व-
स्येति । प्रमाणजनित ज्ञानाकारपरिणामी प्रमाता नाम । नच निर्विकल्पकचिन्मात्रात्मनः परिणामसंभवः, नापि
केवलजडबुद्धेरनप्यस्तायाः प्रकाशाभासपरिणामः । तस्मादविद्यात्मनोरितरेतराध्यासविलसितः प्रमाता स चेन्द्रिया-
यधिष्ठाता, इतरथा तेषां कारणत्वमस्य कर्तृत्वं च नोपपद्यत इति । नच तेष्वहंममाभिमानहीनस्य तदधिष्ठा-
तृत्वमस्ति, परकरणेष्वदर्शनात् । नचासङ्गस्याविद्याध्यासमन्तरेण तादृगभिमानसंभवः । प्रमाणप्रमेययोः संब-
न्धस्य चाध्यात्मिकत्वमधस्तादेवोपपादितं तत्प्रमाणजनितमपि सर्वज्ञत्वमविद्यावत्त्वकल्पकमेवेत्यर्थः ।

एवमविद्याश्रयत्वं सर्वज्ञत्वमनुगुणदि नतु विरुणद्धीत्युक्तं, स्वरूपविरोधमाशङ्क्य परिहरति—ननु प्रका-
शेत्यादिना । विद्यायाः प्रकाशत्वमभिप्रेत्य नचः कोर्योऽभिप्रेत इति विकल्प्य प्रथमेऽसिद्धिमाह—नाद्य
इति । द्वितीये व्याख्यसिद्धिमाह—द्वितीये इति । नाविद्याचैतन्याश्रयचैतन्यान्यत्वादिति हि तदा साधनीयम् ।
नचैवं क्वचिदपि व्याप्तिर्मा प्रति संप्रतिपन्नास्ति प्रत्युत विरुद्धाविद्यातिरिक्तस्य चिदेकायतत्वेन व्याप्तेरित्यर्थः ।
चिदेकाश्रयतां मत्वा तस्य मम विरोधपक्षे दूरयुत इत्याह—तदेकेति । ननु यदि नाविद्याया विज्ञानेन
विरोधस्तर्हि तेन न विनिवर्त्येत्यनिर्मोक्षो ब्रह्माश्रयवादिनामिति तत्राह—नचाविरुद्धेति । यद्यपि स्वरू-
पचैतन्यं न निवर्तकमविद्यायास्तदाश्रयत्वात्तत्प्रकाशकत्वात् नित्यनियुक्तिप्रसङ्गाच्च, तथापि वास्त्यजनितब्र-
ह्माकारचित्तवृत्तिफलकारुद्धचैतन्य तच्छाद्योपेता वा चित्तवृत्तिरविद्यानिवर्तिका, बुद्धीदो बोधो बोधेद्वा बुद्धिर्वा
अविद्यानियुक्तिहेतुरिति हि वृद्धा इति भावः । विज्ञानस्येति । अन्तःकरणपरिणामस्येत्यर्थः । नन्वविद्याकार्ये-
णान्त-करणपरिणामेन कथं कारणविद्यानियुत्तिरविरोधात् । नहि जातु घटेन मृत्निवर्तमाना दृष्टचरीति तत्र
लौकिकपरीक्षकाणां बहुशः संमतत्वादित्याह—नच कार्येणेत्यादिना । ननु निमित्तनिवर्तकत्वेऽप्यसमवा-

णस्यानिवृत्तिः । संस्कारेण तज्जनकस्य ज्ञानस्य स्मरणेन तज्जनकसंस्कारस्यान्यशब्देनो-
पान्तशब्दस्य च परीक्षकैर्नाशाभ्युपगमात् । लौकिके चारणिप्रभवेनाशुशुक्षिणाऽऽरणेः
कदलीफलोद्गमेन वा कदलीकाण्डादेः प्रक्षयदर्शनाच्च ।

ननु भवत्वेवं ब्रह्माश्रया अविद्या तस्याश्च को विषयः किं स्वयमेव ब्रह्म उत द्वैतमु-
भयं वा । सर्वथाप्यनुपपन्नं सर्वज्ञस्य तत्तद्विषयज्ञाने सति तत्र तत्राज्ञानासंभवादिति चेत् ।
मैवम् । मां न जानामि त्वदुक्तमर्थं न जानामीति चावभासमानेपि विषये तस्याः स्वा-
नुभवसिद्धत्वात् । जडस्याविद्यानिर्मितत्वेन तद्विषयविद्यानुपपत्तौ तन्निवर्त्याविद्यायास्त-
त्रासंभवाच्च । जीवाश्रयाविद्यापक्षोद्भावितास्तु दोषास्तदनङ्गीकारादेव परास्ताः । यत्तु ब्रह्मण
एवाविद्याश्रयत्वे विद्वद्विद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षव्यवस्था न स्यादिति तदस्तत् । यावदविद्यं
सर्वव्यवस्थानां स्वप्नवदुपपत्तेः । निवृत्तायां तस्यां न काचिदपि व्यवस्था । नचाविद्यानि-
र्मितस्य गुरोः कल्पितत्वेन विद्यावत्त्वानुपपत्तिः । स्वप्न इव विद्यावत्तयैव कल्पनोपपत्तेः ।

नच गुरोः शिष्याविद्याकल्पितत्वे शिष्याणामपि स्वीयस्वीयशिष्याविद्याकल्पितत्वात्
कोपि परमार्थः स्यादिति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । गुरुशिष्यादिशब्दैः किं केन-
चित्परिच्छेदेन कवलीकृतं चैतन्यमभिधीयते किं वा निरस्तसमस्तभेदम् । नाद्यः । परि-
च्छिन्नस्य परिकल्पितत्वादेवाविद्याश्रयत्वानुपपत्तेः । द्वितीये तु सिद्धसाधनं, यस्मादस्मा-
भिरप्येतदेवाभिधीयते । विध्वस्तसमस्तविकल्पं चिन्मात्रमेव ब्रह्म स्वाविद्यापरिकल्पितांस्त-
त्तद्विकल्पान्पश्यन् संसरतीति, तादृशमेव चाकारमभिप्रेत्य गुरुरिति शिष्य इति चाभिल-
ष्यते, ननु परिच्छिन्नं कंचनाकारम् । न चेत्परिच्छिन्नानामविद्या कथं तर्हि मदविद्यानिर्मि-

यिनिवर्तकत्वं न दृष्टमिति तत्राह—अन्यशब्देनेति । अयोपादाननिवर्तकत्वं न दृष्टरामिति ब्रूयात् प्र-
त्याह—कदलीति ।

एवमाविद्याश्रयं निरुच्यं तद्विषयं निरुचयति—ननु भवत्वेवमित्यादिना । इत्यमरे विषये अविद्या न
सम्भवतीत्युक्तं पूर्वेपक्षिणा तदसिद्धमित्याह—मां न जानामीति । यथाच ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नविषयताऽव-
भवः तयोपपादितं भावरूपाज्ञानवादे । किञ्च विद्याविद्ययोस्तावत्समानविषयत्वं वक्ष्यमितरथातिप्रसङ्गात् ।
नच जगद्विषयिणी विद्या सम्भवतीति विषयचैतन्यमेवाविद्याया अपि विषय इत्याह—जडस्येति । एवं
ब्रह्माश्रयत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहृत्य जीवाश्रयत्वपक्षोक्तदोषाननङ्गीकारेण परिहरति—जीवेति । दूषणा-
न्तरमनूय दूषयति—यत्त्वित्यादिना । तत्र किमनिवृत्तायामविद्यायां व्यवस्थाभावः निवृत्तायां वा । आद्ये-
प्राह—यावदिति । द्वितीये प्राह—निवृत्तायामिति ।

ननु भवतु स्वप्नद्विद्यावतो गुरोः कल्पितत्वं नापि कल्पितत्वार्थक्रियानुपपत्तित्वापापि परमार्थः कोपि न
निरूपितः स्यात् तत्तच्छिष्याणामपि स्वस्वशिष्यगुरुद्वयया कल्पितत्वमित्युक्तदोषोऽपरिहार्य इति तत्राह—
नच गुरोरिति । शिष्याविद्याकल्पितो गुरुरिति वदतामस्माकं शिष्यशब्देन किमवच्छिन्नचैतन्यमभिप्रेत-
त्यवुध्यत भवान् अनवच्छिन्नं वा । आद्येऽनधिगतपराभिधायिर्युष्मान् । नह्यस्मान्निरविद्याकल्पितस्य निर-
च्छेदस्याविद्याश्रयत्वमभ्युपेयते । कस्तहि शिष्यशब्दार्थः । अज्ञातमात्रमनवच्छिन्नं चैतन्यमित्यवगच्छतु भवार ।
द्वितीये त्विष्टप्रसक्तित्वादेतदभिप्रेत्याह—विकल्पासहत्वादित्यादिना । अनुभवविरोधं दाहते—न
चेत्परिच्छिन्नानामिति । यथाहि स्वप्नदृश्यपुरुषाणामज्ञानितया शिष्यगुरोर्दिभेदेन प्रतीयमानानामपि

तस्त्वं मदविद्यानिर्मितस्त्वमिति चादिप्रतिवादिनोरन्येषां च कोलाहल इति चेत्, भवम् । विनैव तत्तत्परिच्छेदेष्वविद्यां स्वप्ने इव परस्मिन्नेव ब्रह्मणि गुरुरिति शिष्य इति चायमिति चाहमिति चैकस्मिन्नेव नानाप्रतिभासः स्वप्नदृशीव चिदात्मनीत्युक्तवादित्यलं मतिकर्तृमेत । एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्त्रीत्यत्राभिहितोपालम्भः परास्तः । परमार्थत उत्पन्नविद्यो मुक्तश्च कश्चिच्छास्तीत्यनङ्गीकारात् ।

अविद्यानिर्मिते च गुरौ स्वप्न इव कस्मादित्थं कुरुते कस्मान्नेति पर्यनुयोगयोगात् । यत्पुनरनादौ संसारे न कश्चिदपि मुक्तश्चेद्भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशा न संभवति, विद्योत्पत्तिरप्यनुपपन्ना गुरुसंप्रदायाभावादिति, तदपि प्रत्युक्तम् । शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशोपपत्तेः । नच गुरुसंप्रदायाभावः, विद्वत्तया परिकल्पितगुरोस्तदुपपत्तेरुक्तत्वात् ।

प्रथमप्रयोगे च पारमार्थिकान्योन्याभाववत्त्वसाधने साध्यविकलो दृष्टान्तः, अद्वैतवादिभिः घटस्यापि वास्तवान्योन्याभावानभ्युपगमात् । व्यावहारिकसाधने च सिद्धसाधनत्वात् । द्वितीयप्रयोगे च कालालयापदिष्टता 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ' इति श्रुत्या बाधात् । नचैषा धृतिरीश्वरपरा, अप्रसक्तनिषेधप्रसङ्गात् । नहीश्वरस्य प्रतिभूतं भेदो लोकतो

नाज्ञानित्वं, किंतु यत्तान्त्वानवच्छेदान्कल्पयन्पश्यति तन्निष्ठैवाविद्या तन्निवर्तकविद्या च । एवमिहापि सकलकल्पनासाक्षिभूतचैतन्यस्याविद्ययैव तथाविधकल्पनोपपत्तेर्नाथं व्यवहारोऽवच्छेदेष्वविद्याकल्पक इति परिहरति—मैवं विनैवेति । एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्त्रीत्येतदपि समर्थितम् । गुरुशब्देनावच्छिन्नान्मिलापादित्याह—एतेनेति ।

यत्तु न पृथगुपदिशेत् उपदिशन्वा मन्मुक्तयैव मुक्तस्त्वमित्युपदिशेदित्युक्तं, तत्राह—अविद्यानिर्मिते इति । शास्त्रप्रामाण्यादेवेति । अत्र वामदेवादिमुक्तिप्रतीतेस्तावन्न विरोधः, स्वप्न इव मुक्तामुक्तकल्पनाया संभवात् । नच तत्तच्छास्त्रप्रतिपादिततया स्वप्नैलक्षण्यामपि मन्तव्यं, तत्तच्छास्त्राणामतत्परत्वात् । नच देवताधिकरणन्याय, अद्वितीयासङ्गचैतन्यप्रकृतिविद्यासम्बन्धप्रतिपादकश्रुतितदुद्भवयुक्तिजातविरोधे तद्व्यायानवतारात् । अखिलकल्पनानिर्गृत्तित्तु चैतन्ये शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति । नच तदप्यतत्परं, मुक्तौ तात्पर्यल्लिङ्गावगमात् भवदङ्गीकारात् । यथाच सर्वमुक्तिवादिना द्वैतिनामित पूर्वमसंजातापि मुक्तिः सर्वजीवानां शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यतीत्युच्यवसीयते ।

अथानुमानात्तत्राध्यवसायस्वप्नोपपत्त्युक्तम् । शक्यते हि यो यत्साधनमर्जितृष्यतीति व्याप्तिर्नहीदुं, विभ्रमत्वादिति वाऽविशेषत इति भावः । यत्त्वात्मभेदे प्रमाणमुक्तम् आत्मा आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववानिति, तत्र पारमार्थिकतद्भवं साध्यते व्यावहारिक बोधयथापि दूषणमाह—प्रथमप्रयोग इत्यादिना । द्वितीयानुमाने दूषणमाह—द्वितीयेति । तत्र तावदात्मनां परस्परभेदो न सिध्यति, आत्मनि भेदमात्रसाधनात्, तस्य च दृश्यप्रतियोगिकताप्युपपत्तेः, तस्याप्यवस्थितिं वदतो भेदखण्डनोक्तदोषा आवर्तनीया । भवतु चात्मभेदपरता तथापि कालालयापदेश इत्यर्थः । सरप्रतिपक्षत्वं चास्य सिध्यात्ववादेऽस्माभिरुपदर्शितम् । ईश्वरेऽप्रसङ्गमेवाह—नहीश्वरस्येति । किंच सर्वभूतान्तरात्मत्वव्यपदेशादपि प्रत्यागात्मन एवायमेकत्वव्यपदेशः, न तदस्ये-

१ आत्मैकवादे इति शेषः । २ यथा देवतास्मिन्नादिप्रतिपादकमन्त्राणामतत्परत्वेनार्थवादत्वं तथाऽनापि स्वादिति भावः । ३ स तत्फलमवामोतीत्यमे बोध्यम् । ४ भ्रान्तिप्रयुक्तत्वाविधोऽध्यवसाय इत्यस्य ममापि तुल्यत्वादित्यर्थः ।

वेदतः परीक्षकसंमत्या वा प्रसक्तः । नच तस्यापि नियन्त्रतया सर्वभूतान्तरवस्थानं 'य आत्मनि तिष्ठ'न्निति श्रुतेरिति वाच्यम् । आत्मेश्वरभेदाभावस्य तत्र तत्र श्रुतिषु बहुशः प्रतिपादनात् ।

अन्तर्यामिब्राह्मणे च 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोते'त्यात्मभेदनिराकरणत्वात् 'य आत्मनि तिष्ठ'न्निति चोपाधिकस्यात्मनो घटाकाशस्य महाकाशाधीनत्ववत्त्वानुगतत्वात्-धीनतामात्रप्रतिपादनपरत्वात्, अन्यथा नित्यद्रव्याणां स्वतन्त्रतया परस्परधाराधेयभावानुपपत्तेरनङ्गीकाराच्च श्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । नच तत्त्वमसीत्याद्युपासनापरं, तथात्वे प्रमाणाभावात् । तथाहि किं प्रमाणान्तरविरोधाद्युपासनापरमुत स्वार्थं तात्पर्यावगमोपायाभावात् । नाद्यः । जीवब्रह्मणोः प्रमाणान्तरगोचरतया तद्भेदस्यापि प्रमाणान्तरगोचरत्वात् । विम्बप्रतिविम्बयोरिव भेदावभासोपपत्तेश्च । नापि द्वितीयः । तत्त्वमसीति नवकृत्वोभ्यासा'दनेन जीवेने'ति चार्थवादोपादानादथ ये अन्यथाऽतो विदुरिति भेददर्शननिन्दनादथ संपत्स्यत इति फलश्रवणा'देकमेवाद्वितीयमैतदात्म्य'मिति चोपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यादपूर्वत्वान्मृदादिदृष्टान्तैश्चोपपादनात् ।

अन्यत्रा 'प्यहं ब्रह्मास्मि' स एष इह प्रविष्टो, योऽन्यां देवतामुपास्ते, स इदं सर्वं भव-

श्वरस्य । यावन्तर्यामितया तदस्येश्वरपक्षेऽप्यन्यथासिद्धिरुक्ता तामनूय निराचष्टे—नच तस्यापीति । नच वाच्यमित्यन्वयः ।

न केवलं श्रुत्यन्तरे, अन्तर्यामिब्राह्मण एवात्मभेदे निराकृत इत्याह—अन्तर्यामीति । ननु तर्हि 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यात्मेश्वरयोराधाराधेयभावस्य का गतिरित्यत्राह—य आत्मनीति । यथाहि घटाकाशे व्यवहारः, तद्वदद्राष्ट्यापाधिकजीवात्मनः स्वरूपत्वात्परमात्मा तत्र तिष्ठन्निति तन्मियमयतीति च परमेश्वराधीनताप्रतिपादनार्थोऽयं व्यपदेश इत्यर्थः । किंच त्वत्पक्षेऽपि न मुख्योर्थः संभवति, नित्यद्रव्ययोः परापरत्वात्-परस्परधाराधेयभावानुपपत्तेः, व्यापित्वाच्च न कुण्डवदन्यायः, तस्मादनिच्छतापि नैरर्थन्यपरिहारायोरुप-परिहारः स्वीकर्तव्य इत्याह—अन्यथेति । श्रुत्यन्तरस्योक्तान्यथासिद्धिं परिहरति—नच तत्त्वमसीति । यदि जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रमाणान्तरगोचरस्त्वहोक्तवप्राहिप्रमाणैरैक्योपदेशो विरुध्येत, न तदस्तीत्याह—जीव-ब्रह्मणोरिति । ननु परमेश्वरविरुद्धधर्मवत्तया तावत्कर्ता भोक्ता दुःख्यहमिति भेदप्रतीतिरस्ति ततस्त्रिरु-द्धोऽयमागम इति, तत्राह—विम्बेति । अथवा यदि जीवब्रह्मभेदः प्रमाणान्तरगोचरः कथं तर्हि तत्त्व-भास इति, 'तत्राह—विम्बेति । न वास्त्वभेदसाधिकेयमित्यर्थः । तात्पर्यावगमोपायाभावमिति द्वितीय-पक्षेऽसिद्धिं दर्शयन्नुपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलयुक्तवादोपपत्तिलक्षणपदविषयतात्पर्यलिङ्गानि दर्शयति—नापि द्वितीय इत्यादिना । अथ य इति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्मराजानस्ते क्षम्यलोका भवन्तीत्यत्र ये अतः उक्ताव ऐक्यज्ञानात् व्यतिरेकेणान्यथा मत्तो भिन्नः परमेश्वरः अहं च तस्माद्भिन्नः संघारीति भेदेन परमेश्वरं विदुः तेऽन्यराजानः सन्तस्त्वधीनतया स्वाराज्याभावात् क्षम्यलोकाः भवन्ति अपुनराहतिरुद्धा-मुक्तिं न प्रतिपद्यन्ते, मृदुरूपं संसारं च प्रतिपद्यन्त इति भेदनिन्दाध्वन्यादित्यर्थः ।

एवं छान्दोग्यश्रुतौ लिङ्गादि दर्शयित्वा मृहदारण्यकेऽपि दर्शयति—अन्यत्रापीति । अतोऽनुगतगण-

तीत्यादिश्रवणादेकत्वे तात्पर्यावगमात् । 'तद्वास्य विजज्ञा'विति 'तरति शोकमात्मवित्'
'तमसः पारं दर्शयति,' 'भिद्यते हृदयमन्थि'र्ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति विद्याया अविद्या-
निवृत्तिब्रह्मात्मभावफलकत्वश्रवणात् उपासनाविज्ञानस्याप्रमाणत्वादविद्यानिवर्तकत्वायोगात् ।

परमार्थतो भिन्नस्यात्मनो ब्रह्मात्मत्वासंभवात्स्थितस्य नष्टस्य चान्यस्यान्यात्मत्वायोगात्
उपासनपरत्वस्य वक्तुमयुक्तत्वात् । 'वेद भवति, विद्वान् न विभेति, पश्यन् प्रति-
पेदे, को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' इत्यादिना विद्यातत्फलयोः समकालीन-
त्वप्रतिपादनात् विधेयज्ञानापूर्वजन्यत्वे च तदयोगात् । 'नेह नानास्ती'त्यत्र च त्वप्रत्यया-
श्रवणेन नानात्वस्यानिपेधात्, अप्रसक्तप्रतिपेधप्रसङ्गस्य च पूर्वमेव दर्शितत्वात् । ना-
नाभूतस्य कार्यस्य प्रतिपेधे च कारणादन्यत्र कार्यस्याभावेन वाक्यस्य तन्मिध्यात्वे पर्य-
वसानात् । उपासनाविधिपरत्वस्य निपेधादेव भेददर्शननिन्दायास्तत्परत्वायोगात् ।

द्वासुपर्णेत्यादेश्च लोकसिद्धभेदानुवादकत्वात्, लोकसिद्धत्वेपि भेदस्य देहात्मभावव-
त्सवितृप्रादेशिकत्वादिवच्च प्रामाणिकत्वाप्रसङ्गात् । व्यवस्थानुपपत्तेश्च दुर्निरूपतया भेदा-
साधकत्वात् । व्यवस्थाशब्देन धर्मभेदमात्राभिधाने दाहपाकादेरिव धर्मिभेदासाधकत्वात् ।
भिन्नाधिकरणधर्मभेदाभिधाने चान्योन्याश्रयत्वात् । परस्परविरुद्धधर्मोक्तौ च विरोधस्य

त्वमस्य नास्तीत्याह—तद्वास्येत्यादिना । ननुपासनापि विधैव अतः सापि किमित्यविद्यानिवर्तिका न
भवेत्, तत्राह—उपासनेति । ननुपासनाविधिर्विषयतात्विक्त्वमन्वपेक्षते, योपिदम्यादावदर्शनात् । क्रियैव
चैपोपासना विधेयत्वाच्च प्रमितिः, नहि प्रमितिः पुरुषाधीनात्मलाभा, वस्त्वधीनत्वात्, तस्मादुपासना नाविद्या-
निवर्तिकैत्यर्थः ।

इतोप्युपासनापरत्वमयुक्तमित्याह—परमार्थत इति । किमभिन्नस्यैव सतो जीवस्य ब्रह्मणैक्यमुपासन-
योत्याद्यते भिन्नस्य वा । नाद्यः । अभेदस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् भेदस्य च तत्र भ्रान्तिमानतया विधैकनित्यत्व-
त्वात् । द्वितीये तु स्थित एव जीवे ब्रह्मैक्यं नष्टे वा । नोभयथापि । एकत्र विरुद्धत्वादपरत्र स्वरूपनाशेना-
पुरुषार्थत्वादित्यर्थः । इतोप्युपासनापरत्वं न घटते, यतो विद्योदयसमसमयमेव मोक्षः श्रूयते श्रुतिषु, उपास-
नापरत्वेद्यपूर्वव्यवधानात्तदनुपपत्तेरित्याह—वेद भवतीत्यादिना । 'नेह नानास्ति किञ्चने'त्यस्यापि सम-
स्तद्वैतनिपेधपरत्वमुपपादयति—नेहेति । व्याख्यातश्चायं मिथ्यात्ववादे प्रन्यः । भवद् ब्रह्मणि नानाभूतवस्तु-
निपेधस्त्वथापि क्रयं मिथ्यात्वसिद्धिर्यवतान्यत्रापि सत्त्वं संभाव्येतेह निषिद्धपटवदिति, तत्राह—कारणाद-
न्यत्रेति । यत्तु भेददर्शननिन्दाऽभेदोपासनाविधिपरा नत्वतत्परैत्युक्तं, तत्राह—उपासनेति ।

मास्वात्मभेदे श्रुतयः पूर्वपक्षिणोदाहृतास्त्रासां कल्पितभेदविषयतयान्यथासिद्धिमाह—द्वासुपर्णेत्यादे-
श्चेति । ननु लोकोपि प्रत्यक्षायन्यतमो निर्धारितविशेष इति तत्सिद्धत्वेपि प्रामाणिकत्वमेवापतति इत्युक्तं
तदसत् । देहात्मभावादौ व्यभिचारादित्याह—लोकसिद्धत्वेपीति । या तु सुखादिव्यवस्थान्यधानुपपत्ति-
रुक्ता तां परिहरति—व्यवस्थेति । हुनिरूपतामेव दर्शयति—व्यवस्थादाशब्देनेति । अत्र किं भिन्नध-
र्माणां युगपदेकत्रावस्थानानुपपत्तिरधिकरणभेदसाधिका उत भिन्नाधिकरणधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिरुत विरु-
द्धधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिरिति । अत्रायं दूषयित्वा द्वितीयं दूषयति—भिन्नाधिकरणेति । तृतीये प्राह
—परस्परेति । कोयं विरोधः सुखाधीनां, किं सहानवस्थानं किं वा वध्यपातकभावः उत भावाभावरूप-

विचारसहत्वात्, सद्दानवस्थानस्यासिद्धेः, एकस्मिन्नप्यात्मनि पादे, मे वेदना शिरसि मे सुखमिति युगपत् सुखदुःखयोरनुभवात् । अणुपरिमाणस्य मनसो युगपत्प्रदेशद्वयेन सन्निकर्षाभावैपि त्वग्निन्द्रियेण व्यापकेन युगपत्सन्निकर्षात् ।

तत्त्वप्रदेशावच्छिन्नात्ममनःसन्निकर्षस्य च सुखदुःखनिदानत्वाङ्गीकारे सुखदुःखयोरणुमात्रतयोपलम्भप्रसङ्गात् । सकलदेहव्यापितया च तयोरनुत्पादप्रसङ्गात् । विनश्यदविनश्यतोश्च सुखदुःखयोः सद्भावस्थानस्य स्वयमेवाङ्गीकारात् । बध्यघातकभावस्य च 'नाज्ञात एकोन्यं हन्ति नाप्यन्याधार'मिति न्यायेन सद्भावस्थानाक्षेपकत्वात् । व्यवस्थानाश्च कल्पितभेदाश्रयत्वेनाप्युपपत्तेः । अतनुसंधानस्य च शरीरभेदादेवातीतशरीरेष्विव संभवात् । वर्तमानशरीरेष्वपि निर्दर्शनीभावादेव योगिनमनङ्गीकुर्वद्भिः अनुसंधानस्य प्रसञ्जयितुमशक्यत्वान्, योगिसद्भावाभ्युपगमेऽपि नयनावच्छिन्नस्यात्मनः शब्दाद्यननुसंधानवदेकशरीरविशिष्टस्य शरीरान्तरेऽननुसंधानोपपत्तेः ।

उपलक्षितस्य परमात्मनः सर्वज्ञस्य सर्वत्रानुसंधानेपि दोषाभावात् । अनुसंधानेऽपि

त्वम् । आद्ये प्राह—सद्दानवस्थेति । ननु कथमणुपरिमाणस्य मनसः शिरःपादप्रदेशाभ्यां युगपत्संबन्धयेन तत्त्वप्रदेशवर्तिसुखदुःखयोर्युगपदुत्पत्तिः स्यादतः समानाधिकरणकमोत्वन्नसुखदुःखयोर्प्रान्तिरेव यौगपद्यप्रतीतिरिति, तत्राह—अणुपरिमाणस्येति । त्वग्निन्द्रियं हि निखिलशरीरव्यापकत्वाद्युगपच्छीतोष्णाभ्यां सन्निकृष्यते, तत्रैकेन मनसाधिष्ठीयते, ततश्चोभयविषयज्ञानोत्पत्तौ युगपत्सुखदुःखयोस्त्यादौ न विरुध्यते । त्वद्गदारा च युगपत्सन्निकर्षाधिष्ठानादुभयविषयमेकं ज्ञानं सामग्रीसंपत्त्या समुत्पद्यत इत्यर्थः ।

ननु मंत्रवतु युगपज्ज्ञानं, तथापि नैकत्र द्वयोरवस्थानं, नहि यावदात्मसुखदुःखोत्पत्तिः, अनुपलम्भात्, किं तर्हि येन शरीरप्रदेशेन कण्ठकादिबंधयोगः समजनि तदवच्छिन्नमात्मप्रदेशेन मनःप्रयोगात्तत्रैव दुःखाद्य उत्पद्यन्ते । ततश्च सुखदुःखयोर्भिन्नप्रदेशावस्थितलादस्त्येव सद्दानवस्थानमिति, तत्राह—तत्त्वप्रदेशेति । अथवाऽसमवायिकारणमनःसंयोगकृत्वात् सुखदुःखयोः क्रमोत्पादः किं न स्यादिति, तत्राह—तत्त्वप्रदेशेति । अपिच । पादादिव्यापितया नोपलभ्येतेत्यर्थः । दूषणान्तरं चाह—सकलेति । मनःसंयुक्तप्रदेशस्याणुपरिमाणतया तत्र सुखस्य निखिलशरीरव्यापिता नोपलभ्येतेत्यर्थः । अलं वा विवादेन, विनश्यदविनश्यतोर्भेदवैषम्येण सद्भावस्थानमङ्गीक्रियत इत्याह—विनश्यदिति । द्वितीयपक्षं प्रतिक्षिपति—वध्यघातकैति । नन्वस्त्वेवं युक्तिपरिनिष्पन्नः पन्थाः, अनुभवस्य तु का गतिः, नष्टैकस्मिन्दुरितिनं सर्वं सुरितिनो दुःखितिनं वा दुःखित उपलभ्यन्त इति, तत्राह—व्यवस्थानायाश्चेति । अङ्गीष्टस्य सद्दानवस्थानमनसं काल्पनिकभेदमादाय परिहारः । एतेन भावाभावपक्षोपि प्रतिक्षिप्तः, एकस्मिन्नप्यात्मनि सुखादेस्तद्भावस्य च मन्त्रिरेवाङ्गीकारेणान्यवस्थापकत्वात् । नच भावाभावत्वमपि शङ्कामधिरोहति, उभयोरपि शुण्त्वेनाङ्गीकारात् । यत्तु पादावयववैधिव्य निखिलशरीरेष्वेकस्यैवानुसंधानं स्यादिति, तत्राह—अननुसंधानस्येति । नन्वतीतलमेव तत्रोपाधिः ननु शरीरभेद, इतरथा वर्तमानानेकशरीराधिष्ठातृयोगव्याप्रस्य लेध्वननुसंधानप्रसङ्गादिति, तत्राह—यत्तमाभेति । भीमांसकानां तावदयं न युक्तं प्रसङ्ग इत्यर्थः । तार्किकान्प्रत्यह्याह—योगीति ।

ननु यद्यपि बहुत्रवच्छिन्नस्य शब्दाद्यनुसंधानं नास्ति, तथाप्यस्त्येवैकत्रदुपलक्षितोऽनुसंधानात्, इतरथा य एवाहं रूपमज्ञासं च एव श्चोभोति प्रतिबंधानामावप्रसङ्गादिति, तत्राह—उपलक्षितस्येति । परमात्मणुसंधानात्प्रेष्यर्थः । ननु कथं दोषाभावः यावत्त चरणतलमकण्ठकोटराणाम् पाणितलमपादावक्षेत्रगादरेऽनपरिहारात्, नैत्रगात्रव्यापारप्रसङ्गस्य दोषलादिति, तत्राह—अनुसंधानेपीति । यथाहि भवतां सर्व-

तस्याभोक्तृत्वादेव योगिवदीश्वरवच तस्य तत्तच्छरीरदुःखपरिहाराय प्रवृत्तेरप्रसङ्गात् ।
सुखादीनां च साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वाभावेन तद्भेदासाधकत्वात् ।

साक्षिणश्च प्रमाकरणासंनिधानेऽपि सुपुत्रावज्ञानसाधकस्य प्रमात्रन्तर्भावानुपपत्तेः ।
तस्य च जीवात्मान्तर्भावात्साक्षिप्रत्यक्षस्य लौकिकव्यवहाराद्भ्रमत्वोपपत्तेः । नच साक्षिणि
प्रमाणाभावः, यतः 'चैत्ररागः स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा । तदध्यक्षेण संवीक्ष्यः प्र-
त्यक्षत्वात्पटादिवत्' ॥ ५ ॥ विवादाध्यासिताः चैत्रेच्छादय एतद्ब्राह्मकाऽनित्यज्ञानातिरिक्तै-
तत्प्रत्यक्षप्राज्ञाः एतत्प्रत्यक्षत्वादेतत्प्रत्यक्षपटादिवत् ।

नचाभाससमानयोगक्षेमत्वम्, अनुमानस्य नित्यत्वप्रसाधने लक्षणव्याघातात् ।

व्याप्याव्यापके बुद्धिरनुमानम् । सार्धनधर्मदर्शनात् साध्यधर्मविशिष्टे बुद्धिरनुमानम् ।
लिङ्गदर्शनात् संजायमानं लैङ्गिकमनुमानं, त्रिरूपास्त्रितोऽर्थदृगित्यादिलक्षणैरनित्यस्यैव
ज्ञानस्यानुमानत्वेन लक्ष्यमाणत्वात्, विपक्षे बाधकाभावाच्च । मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे इच्छादेः
कर्मकर्तृभावस्यैव बाधकत्वात् । नच स्वरूपमात्रेण ब्राह्मकस्य विशिष्टरूपेण ब्राह्मत्वव्यवि-
रोधः । केवलस्य देवदत्तस्य गन्तृत्वं कुण्डलविशिष्टस्य तु गन्तव्यत्वमिति तत्रापि विरोधा-
भावप्रसङ्गात् । दृश्यते च कर्तुरप्यन्यत्र करणता योषै राजा युध्यते चारेण परसैन्यं
शश्वरस्य योगिनो वा सर्वत्रानुसंधानेऽप्यप्रवृत्तिः, तत्कस्य हेतोः, अभोक्तृत्वात्, एवमस्मन्मतेपीत्यर्थः । यच्च
साक्ष्यतया सुखादेः साक्षिधर्मत्वाभावाद्बधिकरणतयाऽव्यवस्थापकत्वं पूर्वपक्षिणास्तद्वा दूषितं तदपि समर्थयते
—सुखादीनां चेति ।

यत्तु साक्षिणोऽपि द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भावः, इतरथा व्यवहारानङ्गत्वमित्युक्तं, तत्र द्रष्टृत्वेऽपि प्रमात्रन्तर्भावं प-
रिहरति—साक्षिणश्चेति । प्रमाणैर्यः प्रमिणोति स प्रमातातो नैवमसावित्यर्थः । ननु तर्हि जाग्रदादौ
ज्ञानादिसाधकत्वं तस्य न स्यात्, अनुपतरप्रमाणव्यापारत्वात् तदानीम्, अतो व्यवहारानङ्गत्वं तदवस्थमिति,
तत्राह—तस्य चेति । अन्तर्भावात्स्वरूपतयेत्यर्थः । साक्षिणि तार्किकं प्रत्यनुमानमाह—चैत्रेति । तद-
प्यक्षेण चैत्रप्रत्यक्षेणेत्यर्थः । इदं च विशेषणं पूर्वोक्तेश्वरप्रत्यक्षेणार्थान्तरतापरिहारार्थं, नहीश्वरप्रत्यक्षं चैत्रप्र-
त्यक्षमिति भवतामङ्गीकारः । श्लोकं विवृणोति—विवादेति । अत्राप्यनित्यज्ञानातिरिक्तेति अनित्यज्ञानत्वा-
नधिकरणमित्यर्थः । ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतयार्थान्तरतानिश्चयर्थमेतत्प्रत्यक्षपदम्, मानसप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसा-
धनतानिश्चयर्थमेतद्ब्राह्मकेति पदम्, तथाचेच्छादिब्राह्मकनित्यापरोक्षसाक्षिसिद्धिः, परोक्षादिष्वेतत्प्रत्यक्षाविषयेषु
व्यभिचारनिश्चयै हेतावेतत्पदम् । अतीन्द्रियेष्वव्यभिचाराय प्रत्यक्षपदम् ।

यत्तु नित्यानुमानस्यापि साधकतयाभाससमानयोगत्वमुक्तं, तत्राह—नचाभासेति ।

जन्यत्वगर्भमनुमानलक्षणमित्यत्र तार्किकचंभितिमाह—व्याप्यादित्यादिना । नच नित्यप्रत्यक्षाभ्युपग-
मेऽपि प्रत्यक्षलक्षणव्याघातः, साक्षात्कारिज्ञानत्वस्य तल्लक्षणत्वादीश्वरप्रत्यक्षस्य तार्किकैरङ्गीकारात् । मोक्षदशायां
भाहुरेविनाशिनोऽपरोक्षसुपुत्रज्ञानस्याङ्गीकारात् । शुद्धमतेऽपि साक्षात्कारिज्ञानत्वस्यैव तल्लक्षणत्वाद्यथाह भाहः—
'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षमिति । स्वानुमानस्य च विपक्षे बाधकत्वमाह—मानसप्रत्यक्षेति । तत्र तदुक्तं
साधनं दूषयति—नच स्वरूपेणेति । नायमविरोधनियामकः, एतस्मिन्विषयमानेषु कर्तृकर्मत्वयोरेकत्र
देवदत्तादौ विरोधदर्शनादित्यर्थः । यत्तु कर्तृकरणत्वयोरपि बुद्धौ विरोधस्तथापि समान इत्युक्तं, तदसत्,
लोकं तयोर्बहुलमविरोधदर्शनादित्याह—दृश्यत इति । अन्यत्र, लोक इत्यर्थः । अत्र हि भटा युद्धकर्तारः

१ साधनरूपो धर्म इति कर्मधारयः । २ यवमयेऽपि । ३ ज्ञानमिति शेषः । ४ मनस्त्वेन ब्राह्मकत्वमिच्छादिम-
त्त्वेन ब्राह्मत्वमिति भावः ।

कलयतीत्यादिषु । नचाविद्याविशिष्टः साक्षी, येन कर्तृकोटिनिविष्टाया अविद्यायाः कर्तृत्वं स्यात्, चिद्रूपस्यैवात्मनः साक्ष्यसंबन्धे साक्षित्वेन व्यवहारात् । :

‘यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्य’तीत्यादिश्रुतेः ‘ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्’ ‘तदा-
त्मानमेवावे’दित्यादिना नात्मनः कर्मकर्तृभावो विवक्ष्यते, किंतर्हि—वेदान्तवाक्यजनित-
ब्रह्मैकाकारान्तःकरणवृत्तिरूपया विद्यया स्वतःसिद्धस्यैवात्मनोऽब्रह्मत्वभ्रमकारणाविद्या-
निवृत्तिः, तथाचान्तःकरणविशिष्टस्यैव प्रमातृत्वं विशुद्धस्य ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वमिति
कुतस्तत्रैकस्य कर्मकर्तृभावः । नत्र नित्यबोधमन्तरेण पूर्वापरबुद्धीनामनुसंधानसिद्धिः ।
प्राहकतया सिद्धेर्निराकृतत्वात् । नच ‘साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे’ति वाक्यमीश्वरपर-
त्वादात्मनः साक्षित्वे न प्रमाणमिति युक्तम् । मायाविशिष्टरूपे तस्मिन् केवलो निर्गुण
इति विशेषणानुपपत्तेः, तस्मात्सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्मात्र जीवाभेदेन साक्षीति प्रति-
पाद्यते ।

नचानन्दादीनां साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वम्, आनन्दानुभवयोरान्तररूपत्वात् । नच नि-
त्यत्वं धर्मः, विनाशराहित्येनोपलक्षितस्वरूपस्य तथा व्यपदेशात् । विशेषगुणवद्व्यापका-

अथ च करणतया निर्दिश्यन्तइत्यर्थः । यात्वविद्यायां कर्तृत्वकर्मत्वप्रतिबन्धी गृहीता तां परिहरति—
नचाविद्येति । नाविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वं, नाप्युपलक्षितस्य, किंतु तदुपाधिकस्य । अथ कोयं विशेषणो-
पलक्षणोपाधीनां भेदः । शृणु—कार्यान्वयित्वेन तु भेदकं यैतद्विशेषणं नैत्यमिवोत्पलस्य । अनन्वयित्वेन तु
भेदकानामुपाधितोपलक्षणताप्रसिद्धा । तयोरपि ‘यावत्कार्यमवस्थायिभेदहेतोरुपाधिता, कादाचित्तकतया भेदधी-
हेतुरुपलक्षणं, तेन नाविद्यायाः कर्तृभाव इत्यर्थः ।

यद्वै तदिति । इयं हि साक्षाद्भेदाभावनिबन्धनमदर्शनं स्वरूपतश्च दर्शनं वदतीत्युक्तिः । स्वाभाविकमेव
सकलावभासकचैतन्यं तस्य तत्तद्विषयानुपपन्नवशाच्च तत्तद्विषयानुभवत्वं विकल्प्य निदर्शयतीत्यर्थः । या तु
तदात्मानमेवावेदिति ब्रह्मणि कर्तृकर्मत्वप्रतिबन्धी गृहीता तां परिहरति—ब्रह्म वा इति । ननु तथापि
कर्मकर्तृत्वाभावे किमायातं यावतैकस्यैव वेद्यत्ववेदित्वाज्ञाकारादिति, तत्राह—तथाचेति । नन्वेवं घट-
कुटीप्रभातायितम् अन्तःकरणविशिष्टस्य प्रमातृत्वं स्वरूपेण च कर्मत्वमिति वदतैकस्यैव कर्मकर्तृत्वमौपाधिकथ
विरोधपरिहार इत्यज्ञाकारादिति । न । तदुभयस्याप्यसिद्धेः । नतावदन्तःकरणविशिष्टतयास्य कर्तृत्वम् । आरो-
पात् । अन्तःकरणगतं हि कर्तृत्वं धर्म्येव्यासद्वारा चैतन्ये परमारोप्यते, नहि दण्डदेवदत्तयोरिव विशेषण-
विशेष्यभावः । तस्मादारोपितत्वाच्च कर्तृत्वं, नापि कर्मत्वं, तज्जन्त्यातिशयाभावात् । अस्तु वा कर्म श्रुतिव्या-
प्यतामात्रेण, तथापि कर्तृत्वाभावादेव वैषम्यमिति, अनुसंधानान्ययानुपपत्तिमपि साक्षिणि प्रमाणं समर्थयते
—नच नित्येति । निराकृतत्वात्प्रकाशवाद् इति शेषः । आगममपि समर्थयते—नच साक्षीति ।
किमिति न युक्तं, तत्राह—मायाविशिष्टेति । नहि निर्विकारचैतन्यस्य मायानिवेशमन्तरेण विद्यदायाका-
रविवर्तः संभवतीति भावः ।

तदेवं न साक्षात्सुखादेः साक्षिधर्मत्वमित्युक्तं, यस्तु पश्यपादीवचनमुदाहृतं तत्परिहरति—नचानन्दादी-
नामिति । यच्चाकाशं पक्षीकृत्य विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यान्यत्वसाधनेनात्मनो भेदसाधनं तत्परिहरति—
विशेषगुणेति । यस्य हि वेदान्तिनो विद्यदधिकरणन्यायेनाकाशोत्पत्त्यते प्रतीयते चेति मतं तन्मते
कल्पान्तरीयाद्विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यादाकाशादन्यत्वमादायाप्यर्थान्तरमित्यर्थः । ईश्वरादन्यत्वमादायाप्यर्थान्त-

२ छन्दोऽनुसारेण तदित्यलपिकम् । शाब्दबोधस्तु तत्पदाध्याहारणम् । २ उपाधिताल्लक्षणता प्रसिद्धेति शृणुतरो-
धेन पाठः । लक्षणतेलस्योपलक्षणतेत्यर्थः ।

न्यत्वसाधनं च प्रतिरूपं जायमानाकाशभेदैरेव सिद्धसाधनम्, अर्थान्तरश्चेत्श्वरवादिना-
मोश्वरेण, अनित्यपदप्रक्षेपे च पूर्वोक्त एव दोषः । तथाच सुखादीनामात्मगुणत्वाभावात्
तद्व्यवस्थातस्तद्भेदसिद्धिः । तदेवं स्वाविद्यया ब्रह्मैव संसरति स्वविद्यया च मुच्यत इति
एकाविद्यापक्षे न कश्चिद्दोषः, तथा नानाविद्यापक्षेपि ।

ननु नानाजीवानां किमेकाविद्या कल्पिका उत प्रतिजीवं भिन्ना । नाद्यः । एकमुक्तौ
सर्वमुक्तिप्रसङ्गतादवस्थेन नानाजीवकल्पनायामपि व्यवस्थानुपपत्तेः । न द्वितीयः ।
कल्पनागौरवात् । ननु व्यवस्थानुपपत्तौ कल्पिकायां न कल्पनागौरवं दोषः 'प्रमाणवन्त्य-
दृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपी'ति न्यायादिति चेत्, नैवम् । व्यवस्थायाः पारमार्थिकत्वे
सत्यविद्याकार्यत्वानुपपत्तेस्तत्कल्पनावैयर्थ्यात् । अपारमार्थिकत्वे पुनरेकयैव तस्याः सि-
द्धेरविद्याभेदकल्पना व्यर्था । अन्यथैकस्याप्यनन्तमेदभानायानन्ताविद्याः कल्प्याः स्युः ।
सन्तु को दोष इति चेत्, तर्हि तामिरेव सर्वकल्पनासिद्धेरात्मान्तरस्य न ताः कल्प्याः ।
नच तेषामप्यज्ञतया भानात् ताः कल्प्या इति वाच्यम् । अद्वैतवादिनस्तद्भेदभानस्य प्रा-
माणिकत्वाभावादप्रामाणिकस्य चैकाविद्याभिरेव सिद्धेर्नान्यस्याविद्याः कल्पनीयाः । किंच
यथान्तरेणैवार्थान्तरमविद्यान्तरं च स्वप्ने चराचरं जगत् त्वदविद्ययैव ते भाति तथा
जाग्रदपि किं न भायात् । अपिचोत्पन्नविद्यस्यात्मान्तरमोहस्तत्कार्याणि भान्ति न वा ।
आद्ये निवृत्ताविद्यस्यापि भेदभाने न भूमलक्षणब्रह्मप्राप्तिः । द्वितीये तु शिष्याद्यभा-

रतामाह—अर्थान्तरं चेति । नन्वनित्यविशेषगुणवद्वापकद्रव्यादन्यत्वं लिपाद्ययितं, नचेत्श्वरस्तथेति, तत्राह
—अनित्येति । पूर्वोक्त इति । आकाशेनाड्यान्तरत्वर्थः । साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वाभावप्रतिपादनमुपस-
हरति—तथाचेति । समर्थितमेकजीववादमुपसहरति—तदेवमिति । एकाविद्यापक्षे इति । अत्र चाविद्या-
शब्देन तदधीनो जीवो लक्ष्यते । एकजीवपक्षे इत्यर्थं—नानाविद्यापक्षेपीति । नानाजीवपक्षे इत्यर्थः ।
एवं हि किमेकाविद्या किं नानाविद्येत्युत्तरप्रश्नसामञ्जसम् ।

एवं ब्रह्मसत्त्वाविद्यासबन्धाद्यनुरोधेन विशदमतीन्द्रत्येकजीवपक्षः समर्थित, ये तु भन्दमतयो निचि-
द्वैतवासनात्कन्दनजडतमशेषुयथे बद्धसुक्तादिव्यवस्थास्थेमनि बद्धास्था नानाजीवपक्षमेव रोचयन्ते तान्प्रति
नानाजीवपक्षमप्याक्षेपसमाधानाभ्यामभिदर्शयति—नन्वित्यादिना । कल्पकसद्भावत्कल्पनागौरव न दो-
षायेति शङ्कते—ननु व्यवस्थेति । किमियं पारमार्थिकी व्यवस्था याऽनेकाऽविद्या विना नोपपद्यते किंवा
कल्पनिकी । पारमार्थिकीव्यवस्थायां नानाविद्यामभ्यर्थयमानं श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमात् । द्वितीये त्वे-
काविद्ययापि तत्सिद्धिः । अथ कल्पगुर्वादीनामनेकलात्कल्पिकाविद्याया अपि नानात्वं, तद्वैकल्याप्यनेकपट-
पटादिप्रतीत्यर्थमनन्ताविद्याः कल्प्येरन्, तथाप्येकजीवगताऽविद्याभिरेव तत्सिद्धेरनेकजीवैकल्पनावैयर्थ्यादि-
त्याह—मैवं व्यवस्थाया इत्यादिना । अद्वैतवादिन इति । ये ते अज्ञाः प्रतीयन्ते तद्भेदस्याप्याविद्य-
त्वात्सकलकल्पनाकल्पिकाविद्यानामेकचेतन्यगतानामेव कल्पनात् स्थितिरित्यर्थः । किंच नाविद्यावतया व्यवहा-
रमानादविद्याभेदहृति, नापि दृश्यमेदादविद्याभेदः, स्वप्ने व्यभिचारादित्याह—किंचेति । किंचानेकजीव-
कल्पनायामपि शुद्धशिष्यव्यवस्थानुपपत्तिः समानेत्याह—अपिचेति । किंचानेकजीववादिनापि त्वया त्वद्य-
तिरिक्कजीवतदज्ञानादिप्रतिभासस्तेषां पारमार्थिको नेध्यते, तथाच त्वदविद्यानिर्भितत्वं वक्तव्यं, त्वद्दृश्यत्वात्
तत्रान्यप्रकाशकत्वात्कल्पकत्वमेव त्वदविद्याया वक्तव्यं, तथाप्यान्यमोहादित्वहानिः त्वन्मोहादित्वविधिश्चेत्याह

नात् गुरोरुपदेशादिक्रिया न भवेत् । किंचैकस्य मोहो मोहान्तराणां तत्कार्याणां च भानहेतुरुक्त कल्पकः । नाद्यः । मोहस्य प्रकाशरूपत्वाभावात् । न द्वितीयः । त्वन्मोह-कल्पितस्य संप्रतिपन्नत्वन्मोहकल्पितवत् अन्यमोहस्य त्वत्कार्यत्वानुपपत्तेः । नचान्यमोहकल्प्यत्वम्, कृतत्वात् ।

-नच त्वत्कल्पितस्यान्यमोहस्यान्यमोहकल्पकत्वम्, कल्पितत्वात् रजतादिवत् । मोहान्तरतत्कार्याणां च स्वात्मदृश्यत्वे संप्रतिपन्नवत् तन्मोहत्वं तत्कार्यत्वं च स्यात् । अन्यमोहतत्कार्याणां चान्यदृश्यत्वस्यासंप्रतिपन्नत्वात्, स्वमोहतत्कार्याणां च स्वदृश्यत्वस्योभयवाधिसिद्धत्वात् । नचेन्द्रजालादेर्वहुमोहकल्पितस्य बहुद्रष्टृकस्यैकस्य प्रतिद्वत्वादृष्टान्त-सिद्धिः । तत्तन्मोहकल्पितस्य तत्तद्द्रष्टृस्य च भिन्नत्वात् । तदेव मया दृष्टं मयादृष्ट-मिति सवादस्य चैकरूपभ्रमोत्पादात् तन्निमित्तहर्षशोकादिकार्याणामेकरूपत्वाच्चोपपत्तेः, एकदृष्टौत्पातिकसवितृसुष्यादावन्येषां विस्वादादेकमोहकल्पितत्वस्य सिद्धेः, एकस्यैव प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वे चैकस्य धिया तन्नाशे सर्वमुक्तिरनाशेऽप्येकस्याप्यमुक्तिः, नचैकमेव पुरुषभेदेन नष्टमनष्टं चेति युक्त, विरोधात् । अविरोधे वा तमेव प्रति युगपदेकमेव नष्ट-मनष्टं च स्यात् । द्विचन्द्रादेश्च युगपन्नष्टानष्टत्वस्यासंप्रतिपन्नत्वात् । भ्रान्तपुरुषभेदेन तस्यापि भेदात् । तस्मान्नाविद्याभेदो नापि तद्भेदाज्जीवभेदसिद्धिरिति स्थितम् ।

अत्रोच्यते—यस्तावदेकैवाविद्येति पक्षे दोषः, सोऽनभ्युपगमादेव परास्तः । प्रहाण ए-वैकस्य तत्तदनाशनन्ताविद्यावच्छेदेनानन्तजीवनिर्भासात्पदत्वाभ्युपगमात्, सति च क-ल्पके कल्पनागौरवस्यादोषत्वात्, एकस्यापि च जीवस्यानेकाविद्यासद्भावाभ्युपगमात् । इष्टसिद्धिकारैरपि यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यनेकाविद्यास्वीकारात् । नन्वपार-

—किंचैकस्येत्यादिना । नन्वन्यमोहेनापि कल्प्यत्वादन्यमोहजन्यत्वमप्यस्ति, तत्राह—नचान्येति । कृतत्वात्, त्वन्मोहेनेति शेष । इतरथानवस्थानात् ।

किंच त्वन्मोहकल्पितस्य मोहान्तरस्य स्वातन्त्र्येणान्यकल्पकत्वमपि नास्तीत्याह—नच त्वत्कल्पितस्येति । दूषणान्तरमाह—मोहान्तरेत्यादिना । विमतमोहतत्कार्याणि देवदत्तीयानि दृश्यत्वात्संप्रतिपन्न-वदित्यर्थं । अथान्यदृश्यत्वाद्द्विपरीत्यमपि शक्यानुमानं, न, हेतुदृष्टान्तयोरसिद्धेरित्याह—अन्यमोहेत्यादिना । स्वपक्षे दृष्टान्तसिद्धिमाह—स्वमोहेति । ननु मायाविप्रदर्शितप्रासादादिनिर्गण्यमोहविकल्पितस्यापि बहु-दृश्यत्ववदनाप्यन्यमोहादेरन्यदृश्यत्व किं न स्यात्, तत्राह—नचेन्द्रजालेति । तत्रापि प्रतिपुर्णं मिश्रमेव दृश्यमित्यर्थं । तर्हि सवादा किंनवधन, तत्राह—तदेवेति । अथ केन भेदेन प्रत्यभिज्ञा धाप्यत इति, अन्यत्रमोहकल्पितस्यासाधारण्यदर्शनादित्याह—एकदृष्टेति । एकमोहकल्पितस्य दृष्टान्तस्य सिद्धिर्वाग्ने-समर्थते । दूषणान्तरमाह—एकस्यैवेति । स्वादेतदस्य मोहो नष्टस्त प्रति प्रथमोपि नष्ट एव इतरं प्रति या नष्ट इत्यस्तु, नच विरोधलोभगन्धोपि, कल्पितस्याचिन्त्यसभावत्वादिति, तत्राह—नचैकमेवेति । ननु बहुदृष्टद्विचन्द्रादावप्येवभाव इति, नेत्याह—द्विचन्द्रेति । अनेकजीवदूषणमुपसहरति—तस्मादिति ।

समाधानुपपन्नमते—अत्रेति । ननु तर्हि कल्पनागौरवमुक्त, तत्राह—सति चेति । तर्होक्तस्याप्यनेका-विद्या कल्प्येन् तत्कार्यभ्रमाणां विभिन्नत्वादिति, भोमित्याह—एकस्यापीति । एकैवत्वादिभिरप्यन्ययो-ऽऽश्रितक्रियत इत्याह—इष्टसिद्धीति । पूर्वपक्षस्याशयमनूप दूषयति—नन्वित्यादिना । न विषयमपि स्वर-

१ त्वन्मोहकायवत्पदत्वानुपपत्तेरिति पाठो भाति । अथमोह त्वन्मोहकल्पकपक्षो न भवति त्वन्मोहक-ल्पितत्वात् संप्रतिपन्नत्वमोहकल्पितवदिति न्यायाकारो बोध्य । २ सुभिरिष्टम् । अस्तिद्विप्राप्तिसिद्धेः । ३ ८८-दृश्यत्वादित्यर्थे । ४ मायाविना प्रशसितेति ।

मार्थिकत्वे भेदभानस्यैकाविद्यैव तत्सिद्धेरविद्यान्तरकल्पना व्यर्था । न व्यर्था । विद्वद्विद्वद्गुरुशिष्यवन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्धेरेव प्रयोजनत्वात् । एकाविद्यापक्षेपि स्वप्न इव व्यवस्था सिद्धत्येवेति चेत्, तर्हि स्वप्नकल्पिकैवाविद्या जाग्रद्व्यवहारकल्पिका उतान्या । आद्ये प्रबोधे स्वप्नकल्पकाविद्यानिवृत्तौ जाग्रद्व्यवहारोपि सर्वो निवर्ततेति विनैव ब्रह्मविद्यां मुक्तिः स्यात् । अनिवृत्तौ वाऽविद्यायास्तत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ दृष्टान्ताभावादब्रह्मज्ञानादज्ञाननिवृत्तिर्न सिध्येत् । ननु तत्त्वावभासविरोधिनोरग्रहणमिध्याज्ञानयोः शुच्यादितत्त्वज्ञानान्निवृत्तेर्दृष्टत्वादब्रह्मतत्त्वावभासविरोधिनोऽज्ञानस्य ब्रह्मतत्त्वज्ञानान्निवृत्तिरवगन्तुं शक्यत इति चेत्, किमिदमनुमानमाहोस्विदर्थोपत्तिरथवा दृष्टान्तदर्शनात्संभावनामात्रम् । आद्ये तेनैवाज्ञानेनानैकान्तता, प्रबोधेपि तस्य निवृत्त्यनभ्युपगमात् । न द्वितीयः । ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेणैव तत्त्वावभासविरोधित्वस्य स्वप्नाविद्यावदुपपत्तेः । न तृतीयः । स्वप्नाविद्यावद्वैपरीत्यस्यापि सभवात् ।

अथ श्रुतिप्रामाण्यात् ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्यध्यवसायः, तर्हि 'भूयश्चान्ते विश्वमाये' त्यादि-श्रुतिप्रामाण्यादनेकान्यज्ञानानि तन्निवृत्त्यश्च क्रमेणेति स्वीक्रियताम् । द्वितीये तु तवाप्यनेकाविद्याकल्पनादोपस्तदवस्थः । कार्यभेददर्शनस्य तत्कल्पकस्य भावाददोष इति चेत्, तर्हि भेददर्शनं पारमार्थिकमुत न । आद्ये विरोधात् कल्पनासिद्धिः । द्वितीये त्वेक्यैव तत्सिद्धेरव्यर्थानेकाविद्याकल्पनेति तद्गुक्ता दोषास्त्वामेवोपहन्युः । कल्पितत्वाविशेषेपि किञ्चिद्वावहारिकं यद्देहाद्यात्मभावादिनिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्तमनुवर्तते किञ्चित्प्रातिभासिकं यत्प्रमादत्वादिव्यवहारे सत्येव निवर्तत इत्यवान्तरभेदसिद्धये अविद्याभेदः कल्पनीय इति चेत्, तर्हि—'अविद्या कल्प्यतेऽनेका जाग्रत्स्वप्नविभेदिनी । यथा तथैव कल्प्यन्तामनन्ताः सति कल्पके' ॥ ६ ॥ ममापि मुक्तामुक्तादिरूपेण व्यावहारिकानन्त-

स्यैकाविद्या शक्यसंपादेल्याद्यैव स्वप्नजाग्रत्प्रतिबन्धा परिहरति—तर्हि स्वप्नेत्यादिना । ननु निवर्ततां नाम स्वाप्रव्यवहारनिवर्तकप्रबोधेन जाग्रद्व्यवहारोपि किं नदिच्छन्मेति, तत्राह—इति विनैवेति । यद्यपि जागरवस्थायां तद्विरोधिकायकोदयेपि तस्य न निवृत्ति तथापि तत्त्वज्ञानादज्ञाननिवृत्तावधि दृष्टान्तान्तरमिति शङ्कते—ननु तच्चेति । तेनैवेति । स्वप्नाज्ञानेनेत्यर्थः । तस्यैव विवरणं प्रबोधेपीति । विमत तत्त्वज्ञाननिवर्त्यं तत्त्वावभासविरोधित्वात् सप्रतिपन्नवदिति ह्यनुमान, तत्त्वेदमनैकान्तिक जाग्रत्प्रपञ्च इत्यर्थः । अर्थापत्तिपक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । तत्त्वावभासविरोधित्वं हि तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वकल्पकम् । एतच्चा-निवर्त्यत्वेऽप्युपपन्न जाग्रत्प्रपञ्चवदित्यर्थः । स्वप्नाविद्यावदिति स्वप्नजागरकल्पकाविद्यावदिति विवक्षितम् । सभावनापक्षं दूषयति—न तृतीय इति । वैपरीत्येपि दृष्टान्तोऽस्तीत्यर्थः ।

न वयं युक्तिबलात्कल्पयाम येनैते दोषा प्रादुष्यु किंतु 'तरति शोकमात्मवि'दित्यादिश्रुतिबलात्तत्त्वज्ञानमज्ञाननिवर्तकमित्यवगच्छाम इति शङ्कते—अथेति । परिहरति—तर्हीति । अत्र हि विश्वशब्दान्मायाबाहुल्यं पुनःशब्दपर्यायभूय शब्दात् क्रमान्निवृत्तिश्च प्रतीयत इत्यर्थः । तदेव स्वप्नकल्पकाविद्याव्यतिरिक्ताविद्याकल्प्यत्वात् जाग्रत्स्येति द्वितीयं पक्षं परिशेषित । सप्रति तस्मिन् स्वप्नाम्यमाह—द्वितीये त्विति । उत्तरी चोद्यपरिहारो विशदो । ननु स्वप्नजागरयो कल्पितत्वाविशेषेऽप्यवान्तरवैलक्षण्याद्विलक्षणाविद्यापरिकल्पितत्वमिति शङ्कित्वापि साम्यं श्लोकेनाह—अविद्येति । तर्हीति च श्लोकस्योपकारः । सति कल्पक इत्येतद्विषयणपूर्वकमुत्तरार्थं विवृणोति—ममापीति । कृतसमाधानमप्याक्षेपमन्य भग्नन्तरेण समादधाति

१ स्वप्नाविद्याया यथा तत्त्वावभासविरोधित्वेऽपि न प्रबोधनिवर्त्यत्वं तथाऽज्ञानस्य तद्विरोधित्वेऽपि न ज्ञानने-
वर्त्यत्वं भवेदित्यस्यापि सभवादित्यर्थः । २ शेष इत्यर्थः ।

जीवानां शुक्लामदेवपराशरप्रभृतीनां प्रतिभासनात्तदुपपत्तये तत्तद्वेभूतानेकाविद्या-
पगमेपि न दोषः । नचाद्वैतवादिनो मानतस्तेषामभानात्, भ्रान्तिसिद्धानां च
धया सिद्धेर्नानन्ताविद्याकल्पना युक्तेति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तर्हि पर-
कमानस्यागम्यत्वमुत व्यावहारिकस्य । न प्रथमः । जाग्रत्स्वप्नव्यवहारभेदस्यापि तद्यत्वेन
तवाप्यविद्याभेदस्यासिद्धेः । न चरमः । जीवभेदानामनुमानादिव्यावहारिकमानसिद्धत्-
स्येष्टत्वात् । एतेन स्वप्ननिदर्शनेनैकाविद्ययैवालमिति प्रत्यवस्थानं परास्तम् । यद्योत्पन्नकि-
धस्याविद्यान्तरतत्कार्याणां भानाभानयोर्दोष उद्भाषितः स परस्यापि तुल्यः, त्वन्मते वि-
दुपां द्वैतमाने भूमलक्षणब्रह्मप्राप्त्यभावप्रसङ्गात् । अभाने च 'यावदधिकारमवस्थिति-
धिकारिकाणां, भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ संपद्यत' इति सूत्रविरोधात्, अविद्यालेशस्वी-
कारवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । नचाविद्यान्तराणां तत्कार्याणां च तदविद्यात्वं तत्कल्पितत्वं चान्त-
रेणैव तस्य भानानुपपत्तिः । त्वदभ्युपगताविद्यान्तरतत्कार्ययोरपि पर्यनुयोगसाम्यात्सा-
विद्यातत्कार्याणां जाग्रदविद्यात्वं तत्कार्यत्वं चान्तरेण भानाभ्युपगमात् ।

यच्चाविद्यान्तरतत्कार्याणामन्यदृश्यत्वे संप्रतिपन्नवत्तदविद्यात्वं तत्कार्यत्वं च सादृश्यात्
तदपि जाग्रत्स्वप्नकल्पकाविद्याभेदेनैव व्याख्यातम्, एकपुरुषसंबन्धित्वेपि परस्परं भेदात्
अस्माभिरप्यविद्यानामेव ब्रह्मसंबन्धित्वाभ्युपगमाच्च । इन्द्रजालादिनिदर्शनं च पूर्वोक्त-
न्यायेन परास्तम् । परकल्पितस्य परं प्रत्यपरोक्षत्वाभावेपि परोक्षतावभाससंभवस्योक्तत्वात् ।
एतेन सवितृसुपिरनिदर्शनमपि परास्तम् । तत्रापि तद्वचनात्परोक्षत्वोपपत्तेः । तथापि गुरुशि-
ष्ययोः परस्परमपरोक्षत्वाभावे कथमुपदेशः क्रियत इति चेत् । मैवम् । भूतभौतिकप्रपञ्चस्य
कृत्स्नस्येश्वरमायाविनिर्मितत्वेपि सर्वापरोक्षत्वोपपत्तेः । 'यतो वा इमानि भूतानी'ति, 'अहं
कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः, जन्माद्यस्य यत' इति ध्रुतिस्मृतिस्त्रभाष्यादिभिरस्यार्थस्य प्रति-

—नचाद्वैतस्यादिना । जाग्रत्स्वप्नेति । यत्तत्त्वावेदकमानागम्यं तदेकाविद्याकल्पितमिति नापि वे-
द्यासिः, जाग्रत्स्वप्नयोर्व्यभिचारादित्यर्थः । व्यावहारिकप्रमाणागम्यत्वमिदमिल्याह—न चरम इति ।
एतेनेति । व्यावहारिकप्रमाणगम्यत्वेनेत्यर्थः । दूषणान्तरमप्यन्यत्र साम्येन परिहरति—यावदधिकार-
मिति । आधिकारिकाणामधिकारनिर्वर्तकानां सहस्राक्षसहस्ररदिमव्यासवसिष्ठप्रभृतीनां यावदधिकारमेवा-
वस्थितिः । अधिकारे तु परिसमाप्ते इहैव कैवल्यं प्राप्नुवन्ति, तेषां जीवन्मुक्तिसाधनद्वारा मद्रव्यविद्यायाः पाद्वि-
कफलनिरासफलमधिकरणं भोगेनेति, इतरे प्रारब्धकले पुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा संपद्यते विदेहदे-
वत्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । यदिच प्रतिबुद्धतत्त्वस्य द्वैतमाननेव न स्यात् तदाविद्यालेशस्वीकारोपि दूषयेन्नवीवदि-
नामिल्याह—अविद्येति । पूर्वपक्षाशयं दूषयति—नचाविद्यान्तराणामिति । एवं यदतोऽन्यस्येव
स्यात् त्वन्मोहादीनामप्यन्यमोहादित्वस्यैव शक्यसाधनत्वादित्यर्थः । पर्यनुयोगसाम्यमेव दर्शयति—स्वप्नेति ।
शक्यते हि वक्तुं जागरेपि स्वप्नं दृश्यत्वात्स्वप्नवदिति । तथापि यथा तयोरेकरत्वरूपद्वन्द्वानीत्यर्थः ।

यच्चाव्यदृश्यत्वे बाधकमुक्तं तदप्यन्यत्र दूषयति—यद्येति । अविदेशमेव विशदयति—एकपुरुषेति ।
ननु तथापि तयोरेकदृश्यत्वादेकपुरुषसंबन्धित्वमस्त्येव, तद्विदेशविधातक-
अस्माभिरपीति । एकसंबन्धित्वमस्माकमपि सिद्धमित्यर्थः । यद्विद्वन्ब्र-
रति—इन्द्रेति । पूर्वोक्तन्यायमेवाह—परेति । यद्येन्द्रजालादेरसाधारण्ये
पतेनेति । कल्पितस्यैव प्रपञ्चस्थानिकसाधारणत्वगमकशुचायाह—यत इ

दितत्वात् । अन्यथा शुक्तिरजतादिवज्जीवाविद्यामात्रनिर्मितत्वे जगतो जीवादिकर्तृकत्व-
रासप्रयासवैयर्थ्यात् । जीवाविद्याकल्पितत्वे चेश्वरस्य जीवानामीश्वरो नियन्तेत्यादिशु-
स्मृतीनामप्रामाण्यप्रसङ्गात् । एकस्य प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वानङ्गीकारादेव तत्रोक्तदो-
षां दूरपरास्तत्वात् । स्वीयस्वीयविद्यया च स्वस्वाविद्यानिर्मितकर्तृत्वभोक्तृत्वादेर्वन्धस्य स-
रणस्य निरासेन नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाख्यब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तेरप्युपपत्तेः । ननु स्व-
विद्येति कथं जीवनिष्ठत्वेनाविद्या व्यपदिश्यते ब्रह्माश्रयत्वादविद्यानामिति चेत्सत्यम्,
प्रसंबन्धित्वेपि तासामवच्छिन्नजीवरूपपक्षपातितया प्रतिभानात् ।

दृष्टं हि लोके सुखमात्रसंबन्धिनोपि दर्पणस्य प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, दृश्यते च घट-
काशमात्रसंबन्धिनोप्यवच्छिन्नाकाशपक्षपातित्वं, तस्मान्न किञ्चिदवद्यमिति । अपिच
‘सूत्रभाष्यादिवाक्यानां श्रुतिस्मृतिगिरामपि । मुख्यार्थत्वोपपत्त्यर्थं व्यवस्यैवाभ्युपेय-
त्’ ॥ ७ ॥ एवंच सति ‘नेतरोनुपपत्तेस्तु, न शारीरः कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च, परानु-
च्छ्रुतेः, कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिपिद्वावैयर्थ्यादिभ्यः, यावदधिकारमवस्थितिः, परा-
विध्यानात् तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ, प्रकाशादिवज्जैवं परः, असन्ततेश्चाव्यतिकर’
‘त्येवमादीनि सूत्राणि तद्व्याख्यानपराणि भाष्याणि च सामञ्जस्येनोपपन्नार्थानि भवन्ति ।
‘तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवात्तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणां, तद्वैतःप-
श्यन् ऋषिर्वाग्देवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च, तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं

साधारण्यं प्रतीयत इति, तत्राह—जीवाविद्येति । यदिहि कल्पितस्य साधारण्यं न स्यात्तदाऽतत्साधारणा-
भेदैर्जीविभिरविद्याभिः परिकल्पितं स्यात् तथाच सकलनियन्तृसाधारणपरमेश्वरकर्तृकत्वं न भवेत् तथाच त-
प्रतिपादकश्रुत्यादिविरोधः । यद्य सूत्रकारभाष्यकाराभ्या जीवकर्तृकलनिरासप्रयासः कृतः सोपि श्रुत्येत्थं ।
दूषणान्तरं चाह—जीवाविद्येति । यस्तु बहुमोहकल्पितत्वे सत्येकमुक्तौ सर्वमुक्तिदोष उक्तस्तमनङ्गीकारेण
रिहरति—एकस्येति । ब्रह्माश्रितसकलसाधारण्यकमायाविजृम्भितः प्रपञ्च इत्यभिमानः । ननु प्रपञ्चस्य
जीवाविद्याऽविजृम्भितत्वे जीवगततत्त्वज्ञानादिनिवृत्तेरनिर्मांशपात इति, तत्राह—स्वीयस्वीयेति । असा-
धारणप्रपञ्चनिवृत्त्यैव मोक्षः, ननु साधारणनिवृत्त्या । विद्यमानोपि मुक्तं प्रति न भाति प्रविहीननिखिलकरण-
शब्दन्धं प्रतीय रूपादिरित्यर्थः । स्वस्वाविद्येति निर्देशमाक्षिप्य समादधाति—ननु स्वस्वेत्यादिना ।
अहमज्ञ इति हि प्रतीतिः, ननु ब्रह्माज्ञमिति भावः ।

ननु चिन्मानसंबन्धविद्यायाः कथं जीवपक्षपातित्वं न ब्रह्मपक्षपातित्वमिति शक्यं वक्तुं, संबन्धाविशेषा-
दिति, तत्राह—दृष्टं हीति । द्वेषादि संप्रदायः—अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्यं जीव इति वाऽविद्यावच्छिन्नमिति
। तत्रायपक्ष उदाहरणमुक्तं, अवच्छेद उदाहरणमाह—दृश्यते चेति । इदानीं तु जीवातिरिक्तेश्वरमीश्व-
धीनतां च जीवानां तदेकता च सूत्रभाष्यश्रुतिभिः क्रमेण साधयति—अपिचेति । श्लोकं विवृणोति—
‘एवंच सतीति । इतरः शारीरः । ‘कर्मकर्तृव्यपदेशा’दिति ‘एतमितः प्रेलाभिः समवितास्मी’तिप्राप्तप्राप्तव्य-
या जीवपरमेश्वरयोः कर्तृकर्मभावनिर्देशाच्च कर्माभूतो मनोमयत्वादिगुणकः शाण्डिल्यविद्याप्रतिपाद्यः शारीर
सर्वं ।

यथावद्व्यवस्थायामपि भ्रूतलिङ्गमाह—तद्यो य इति । देवानां मध्ये यो यो धीर्मेया चाधिकारसंपत्तौ
व्यामपि मुक्तिः ननु तार्किकाणामिव बद्धैकत्वभावाः केचिदिति दाशितम् । तद्ब्रह्म प्रत्यबुध्यत प्रतिबुद्ध-

तत्कार्ययोरन्यतरत्वापातात् । नचाविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वे निवृत्तिमत्त्वमुपाधिः । अनिर्वचनीयत्वेन निवृत्तिमत्त्वस्यापि साधनात् । नच निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वेऽनवस्था । निवृत्तिमत्प्रध्वंसपक्षे प्रध्वंसमालावदुपपत्तेः । प्रध्वंसप्रध्वंस इव प्रतियोगिनो बन्धस्यानुन्मज्जनादेवापुनरावृत्तिश्रुतेरप्यव्याकोपात् । तस्मादनिर्वचनीयत्वे अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वप्रसज्यत एव । नापि पञ्चमप्रकारा, सदसद्विलक्षणतया तस्या अप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गात् ।

सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमिति लक्षणाङ्गीकारात् । ननु नेदं लक्षणं किनु ज्ञाननिवर्त्यमनिर्वचनीयम्, नचाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञाननिवर्त्या, ज्ञानजन्यत्वात् । ज्ञानानिवर्त्यापि च सा बाधगोचराऽतो न प्रपञ्चमिध्यात्वसाधन सव्यभिचारम् 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति प्रतिपञ्चोपाधौ निषेधात्मबाधोऽज्ञाननिवृत्तेरपि तुल्य इति चेत् । भैवम् । अज्ञाननिवृत्तेर्ब्रह्मज्ञानरूपतया तज्जन्यत्वाभावात्, 'ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वाऽज्ञानहानि'रितीष्टसिद्धिकारैरभिधानात्, 'विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय पच्यत' इति ब्रह्मसिद्धिकारैरप्युक्तत्वात्, ज्ञानजन्यसंस्कारे च ज्ञाननिवर्त्ये व्यभिचारात् । ननु तत्र ज्ञानान्तरेण ज्ञानान्तरजन्यसंस्कारो निरर्तते ननु तेनैवेति वैपम्यमिति चेत् । भैवम् । ईश्वरज्ञानजन्यस्य जगतस्तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यत्वाङ्गीकारात्, उत्पाद्य घटं नाशयिष्यामि इत्यभिसंधानस्थले कुलालज्ञानजन्यघटस्य

भावत्वेपि तुल्यम् । एतेन सदसद्रूपपक्षोपि प्रतिक्षिप्त, अविद्याया सदसद्रूपत्वे हि तद्वृत्ते सदसद्रूपता स्यात् । अनिर्वचनीयपक्ष दूषयति—**नापीति** । ननु नानिवचनीयत्वस्याविद्यातत्कार्यत्वेन प्रतिबन्ध, निवृत्तिमत्त्वस्य तत्प्रयोजकत्वात् । नच निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वमस्ति, अनवस्थानादपुनरावृत्तित्वव्याकोपाच्च । अतो निवृत्तिमत्त्व व्यावर्तमानमविद्यातत्कार्यान्तरत्वमप्यतो व्यावर्तयतीत्यनन्दबोवाचार्योक्त दूषयति—**नचा विद्येति** । साधनव्यापकत्वाद्वादुपपाधिरित्यर्थं । तत्र च बाधक परिहरति—**नच निवृत्तेरिति** । यथाहि प्रध्वंसपक्षवादिनामनवस्था न दोष एवमित्यर्थं । अपुनरावृत्तिस्वविरोध परिहरति—**प्रध्वंसप्रध्वंस इति** । यथाह्युत्तरोत्तरध्वंसानामपि प्रथमपदार्थविरोधितया तथाऽनुन्मज्जन तथाऽविद्यानिवृत्तिमालायाथापि प्राचीनाविद्याविरोधित्वादेव तदनुन्मज्जनादपुनरावृत्तिविरोध इत्यर्थं । पञ्चमपक्ष दूषयति—**नापीति** ।

अथ सदसद्विलक्षणत्वेपि किमित्यनिर्वाच्यता, तत्राह—**सदसदिति** । तत्र यदुक्त न्यायरत्नावलीकारैस्तदुद्गात्रयति दूषयति—**ननु नेदमित्यादिना** । नन्वियमपि ज्ञाननिवर्त्येव, तत्राह—**नचेति** । स्यादेतत् । एवविधाप्यविद्यानिवृत्तिद्वया तावदभ्युपेयते आत्मव्यतिरिक्तवात्तथाच यदि नेय ज्ञाननिवर्त्या तर्हि दृश्यत्वे हेतुरनैकान्तिकमिति, तत्राह—**ज्ञानानिवर्त्यापीति** । ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्यत् ज्ञानबाध्यत्व चान्यदित्यभिमान । अथ कथं बाध्यत्वमस्या इति, तत्राह—**नेह नानेति** । तदेतद्दूषयति—**भैवमिति** । नहि विरोध्युदयमन्तरेण विरोधिनिवृत्तिर्नान्या दृश्यते युज्यते वेत्यर्थं । अत्राचार्यसमतिमप्याह—**ज्ञातोर्थ इति** । मण्डनमिश्रसमतिमप्याह—**विद्यैवेति** । तदस्तमय अविद्यास्तमय । किञ्च किं जाल्युपाधाविय व्याप्ति यश्ज्ञानजातीयच य तत्तज्जातीयेन न निवर्त्यत इति, किंवा व्यक्तौ । आद्ये व्यभिचारमाह—**ज्ञानजन्येति** । द्वितीयमुद्गात्रयति—**ननु तनेति** । अत्रापि व्यभिचारमाह—**भैवमीश्वरेति** । जगत्संहारेपि सृष्टिवर्षीश्वरज्ञान निमित्तमेवेति भाव । अथाप्यनीश्वरज्ञान एवैव नियतिरिति ब्रूयात्, तर्हि तत्रापि व्यभिचारमाह—**उत्पाद्य घटमिति** । एक हीद ज्ञान यदुपाद्य नाशयिष्यामीति भाव । यच्च ज्ञाननिवर्त्यत्वज्ञानबाधयोर्भेदमादाय दृश्यत्वेहेतोरनैकान्तिकतावारण तदप्यसत्, ज्ञाननिवर्त्यत्वातिरिक्तस्य ज्ञानबाध्यत्वस्यानिरूपणादि-

तेनैव ज्ञानेन निवर्त्यत्वदर्शनाच्च । अज्ञाननिवृत्तेश्च ज्ञानानिवर्त्यत्वे प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनस्य तत्र व्यभिचारात् । ज्ञानानिवर्त्यत्वेऽपि बाध्यत्वात् न व्यभिचार इति चेत् । न ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेण बाध्यत्वस्यानिरूपणात् । सविलासाज्ञाननिवृत्तिर्बाध इत्यङ्गीकरणात् । नाप्यात्मैवाज्ञाननिवृत्तिः, आत्मनः सदातन्त्येनाज्ञाननिवृत्तेरपि तथात्वे संसाराभावप्रसङ्गात् । आत्मनस्तत्त्वज्ञानसाध्यत्वप्रसङ्गाच्च । ज्ञात आत्मा अज्ञाननिवृत्तिर्न स्वरूपेण वेति चेत् । न । ज्ञानस्य विशेषणत्वे नित्यत्वे च मोक्षदशायां नपि अन्तःकरणादेरवस्थानप्रसङ्गात् । अनित्यत्वे चाज्ञाननिवृत्तिरूपाया मुक्तेरप्यनित्यत्वापातात् । नच ज्ञानोपलक्षित एवात्माज्ञाननिवृत्तिः । उपलक्षितत्वस्य नित्यत्वानित्यत्वयोः प्राचीनदोषानुषङ्गात् । तस्मान्नाज्ञाननिवृत्तिरूपपन्नेति । अत्रोच्यते—‘निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः । उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तिः पाचकादिवत्’ ॥ ८ ॥ यथा लोके सकारणस्य कलधौतविभ्रमस्य ज्ञाता शुक्तिरेव निवृत्तिः । नच तत्रापि नेदं रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानं तन्निवर्तकमिति युक्तम् । अपरिज्ञाते शुक्तिशकले धर्मिप्रतियोगिसव्यपेक्षस्य तस्यैवासंभवात् । परिज्ञाते तु तेनैव तदुपपत्तावितरस्य कृतकरस्य वैयर्थ्यात् । इदमाकारपरिज्ञानस्य च भ्रान्तौ विद्यमानस्य तदविरोधात् । तथेहाप्यनृतजडदुःखानात्मद्वैतविरोधिसत्यज्ञानानन्दानन्ताद्वयलक्षणं ब्रह्मैव वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्तःकरणपरिणामदर्पणप्रतिविम्बितं सविलासाज्ञाननिवृत्तिरिति युक्तमभ्युपगन्तुम् । नच ज्ञाततालक्षणोपलक्षणनाशे

स्याह—अज्ञानेत्यादिना । अपविद्वान्तथेत्याह—सविलासेति । पठं पक्षं वृषयति—नाप्यात्मैवेति । आत्मनिलखलत्वाद्दितिथेत्याह—आत्मन इति । ज्ञानस्य विशेषणत्व इति । ज्ञात आत्मेत्यत्र दृष्टिरूपं तावज्ज्ञानं वक्तव्यं, स्वरूपज्ञानं प्रति कर्मलाभावात्तत्त्व तद्यदिविशेषणं नित्यं च तदा जन्यस्य कथं निलखलित्यास्तां तावत् । सन्तानरूपेण चेन्नित्यत्वं तथापि तत्कारणान्तःकरणादेरवस्थानाच्च संसारतो विशेषः स्यादित्यर्थः । अथैतद्दोषभवादानित्यमेवाङ्गीक्रियते तर्ह्यपुनरावृत्तिव्याकोप इत्याह—अनित्यत्वे चेति । ननु ज्ञानोपलक्षितात्मरूपमविद्यानिवृत्तिरस्तेन विशेषणपक्षप्रयुक्तदोषद्वयनिवृत्तिरिति, तत्राह—नच ज्ञानेति अनाप्युपलक्षितत्वधर्ममादाय दूषणद्वयं सुवचमित्यर्थः । पूर्वपक्षमुपसहरति—तस्मादिति । आत्मैवाज्ञानहानिरिति पक्षं परिग्रहबुधुपादयति—उपलक्षणेति । यथाहि लोके पचनलयनादिक्रियानिवृत्तावपि देवदत्तः पाचको लावक इति प्रतीयते व्यवहियते तथेहाप्युपलक्षणज्ञातत्वनाशेऽपि मुक्तिः स्यादिति । श्लोकार्थं विप्रोक्ति—यथा लोक इति । कलधौतं रजतम् । ननु न शुक्तिज्ञानं रजतविभ्रमनिवर्तकं येन ज्ञातशुक्तिरेव तद्विवृत्तिः स्यादपितु नेदं रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानं तथाच ज्ञातान्मोन्याभाव एवाप्यन्यादा तद्विवृत्तिरिति कथमधिष्ठानमात्रत्वं तद्विवृत्तिरिति, तत्राह—नच तत्रापीति । इतो न युक्तमित्यत आह—अपरिज्ञात इति । धर्मितया प्रतियोगितया या अधिष्ठानस्य पूर्वभावित्वात्तेनैव च तदारोपनिवृत्तेः संसर्गमात्राद्येपस्य चापस्त्रादेव निरस्तत्वादन्योन्याभावज्ञानमर्थविद्वानुवाद इत्यर्थः । नन्विदमाकारं ज्ञानमेवान्योन्याभावज्ञानजनकं न शुक्तिज्ञानम् अतो न दृष्टकरत्वमिति, तत्राह—इदमिति । तदविरोधात् भ्रान्त्यविरोधात्तद्यनदत्वं न सम्भवतीति शेषः । इममेव न्यायं प्रवृत्तस्थलेऽपि योजयति—तथेहापीति । अनन्तेति धानात्त्वविशेषाकारनिर्देशः । अपस्त्रभूतं हि वस्तुतः परिच्छिन्नं मयेदिति । उत्तरार्थं विप्रोक्ति—नच ज्ञातेति । ये त्विमं

तेन घटितस्य मुक्तस्याभावप्रसङ्गः, पाचकादिवदवस्थानोपपत्तेः, नहि लोके पचनल-
घनादिक्रियायामतिवृत्तायां देवदत्तः पाचको लवको न भवति न वा तथा व्यवह्रियते ।
एतेनाज्ञाननिवृत्तेरनित्यत्वे पुनरज्ञानस्य संसारस्य चोन्मज्जनापत्तिरित्यादयो दोषाः प्रत्यु-
दस्ताः । शुक्तिशकलादौ ज्ञाननाशेन ज्ञातत्वोपलक्षणनाशेऽपि निवृत्तस्याज्ञानस्य तद्विलासस्य
वा पुनरुन्मज्जनादर्शनात्, पुनरुद्भवतो रजतादिविभ्रमस्याज्ञानान्तराधीनत्वात्, यावन्ति
ज्ञानानि तावन्ति तन्नित्यवर्त्यान्यज्ञानानीत्यभ्युपगमात् । इह च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृ-
त्ति'रिति श्रुतेरशेषाज्ञाननिरासान् पुनः संसारशङ्कातद्ज्ञानवकाशात् ।

तस्मात् 'विगीताज्ञानहानिः स्यात् ज्ञाताधिष्ठानमात्रकम् । तत्त्वाद्यदित्यं तत्तादृग्यथा
शुक्त्यादिकं मितम्' ॥ ९ ॥ एवं सति 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विज्ञानतः, यत्र-
त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्याद्याः श्रुतयः सर्वस्य द्वैतजातस्यात्ममात्रतया प्रविलयमुपपादयन्त्यो
मुख्यार्थतामभ्युगीरन् । इतरथाऽनिर्वचनीयस्य पञ्चमप्रकारस्य वा अज्ञाननिवृत्तिरूपस्या-
ङ्गीकारे संसारदशायामिव केवलतात्ममात्ररूपेणावस्थानासंभवाद्दुदाहृताः श्रुतय उपचरि-
तार्थाः कदर्थिताः स्युः । तस्मादुत्पन्नात्मविज्ञानस्य ज्ञात आत्मैव सविलासाज्ञाननिवृत्तिरिति-
स्थितम् ।

ननु ज्ञात आत्मैव चेत्सविलासाज्ञाननिवृत्तिस्तदोत्पन्नविज्ञानस्य शरीरादिप्रतिभासानु-

पेक्षं दोषग्रहणतया मलीमसं मन्यमानाः प्राहुः, अत्रकेचित्परिहारकातरतया परिहारमाचक्षते—आत्मैवा-
ज्ञानहानिरिति । तेषामनुशयमुन्मूलयति—एतेनेति । एतेनेत्येतद्विशदयति—शुक्तीति । ज्ञातत्ववि-
शिष्टपक्षपरित्यागादेव तत्प्रयुक्तदोषशान्तेः पञ्चमप्रकारे च प्रमाणाभावात्परिशेषस्य चैतेनैवोपपत्तेरनुत्थाना-
दिति भावः । ननु पुनरपि तत्रैव विभ्रमदर्शनादुन्मज्जनमस्त्येवेति, तत्राह—पुनरुद्भवत इति । नन्वेक-
मेवाज्ञानमिति, तत्राह—याचन्तीति । अंशा वा प्रदेशा वा अवयवा वस्तुतन्त्राश्चाङ्गीक्रियन्त इति न तस्यै-
वोन्मज्जनमिति भावः । नन्वनापि संसारान्तरस्याज्ञानान्तरस्य च पुनरुद्भवोऽस्त्विति, तत्राह—इह चेति ।
आतङ्को भयम् ।

ननु भवत्वेवं संभावना किं पुनरत्र प्रमाणमिति, तदाह श्लोकेन—विगीतेति । लौकिकविभ्रमनिवृ-
त्त्यार्थान्तरतापरिहाराय विगीतप्रहणम् । तत्रात् अज्ञानहानित्वात् । यथा शुक्त्यादिकमिति तदज्ञाननि-
वृत्तेरुपलक्षणम्, शुक्त्यादिमात्रज्ञाननिवृत्तिर्यथैत्यर्थः । एवमनुप्राहकतर्कस्थलीयमनुमानमुक्त्वानुप्राहभाग-
प्याह—एवं सतीति । विज्ञानतः पुंसो यस्यामवस्थायां सर्वाणि भूतानि, भवन्तीति भूतानि कार्यमानम्
आत्मैवाभूतत्र तस्यामवस्थायां को मोहः कः शोक इति श्रुत्यर्थः । यदि हि पञ्चमप्रकारः स्यात् तदा कथ-
मात्मैवात्मव्यतिरिक्तं समस्तं वस्त्वभूदिति निदिश्येत । अथ तस्याप्यारोपितत्वाद्वास्त्ववृत्तेर्नात्ममानत्वं, तत्कि-
मनिर्वचनीया अथ च पञ्चमप्रकारेतिव्याहृतं वक्तुमारब्धम्, एवं 'यत्रलस्ये'त्यादावपि, कदर्थिता उद्देजिताः
पीडिता इति यावत् । नादायमुपसंहरति—तस्मादिति ।

तदेवमविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिरित्ययमर्थ उपपादितः, इदानीं तत्रैव जीवन्मुक्तिरक्षणवासान्तरविशेषमुपपादयति
शुक्तिसिद्धये । तथाहि—ज्ञानं ह्यविद्यानिवर्तकं, तच्च तदुदयसमसमयमेव भवितुमर्हति, अविधिलक्षणत्वेन
कालान्तरफलत्वाभावात्, शुक्त्यादितत्त्वज्ञानेषु समसमयतादर्शनाच्च । तदिह यदि जीवति ज्ञानमुत्पन्नमप्य-
विद्यां न निवर्तयेत् का वार्ता कालान्तरे तन्नित्येते, जीवत एव च ज्ञानोत्पत्तिः, इतरथा तदुत्पादकरणा-

भासजनकस्तु मायालेशो जीवन्मुक्तस्थानिवृत्तः समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्यदा देह
भासजगदाभासहेतुतयानुवर्तते । प्रारब्धकर्मफलोपभोगावसाने तु निवर्तते । श्रुतिर
'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयत्' इत्याद्या मायां विविधाकारां दर्शयति । नच लेशस्यापि विं
धितत्त्वज्ञानोदयान्निवृत्तिः किं नस्यादिति वाच्यम् । प्रबलैः प्रारब्धकर्मभिर्ज्ञानस्य प्रति
द्वत्वात् । तथाहि—विद्यार्थानि कर्माणि कर्मान्तरारब्धशरीरे 'फलं जनयन्ति । अन्य
ज्ञानार्थानामपि कर्मणां भोगार्थत्वप्रसङ्गात् । तथाच शरीरारम्भककर्माण्युपजीव्य ज्ञा
र्थानि कर्माणि तद्विरोधेन स्वफलं प्रयच्छन्तीति युक्तम् । तथाच तैः प्रतिबद्धशक्ति
तत्त्वज्ञानमविद्यालेशं न निवर्तयति ।

नच कर्मणामप्यविद्याकार्यतया तन्निवृत्तौ निवृत्तिः, तज्जनकाविद्यालेशस्यानिवृत्तेः
नन्वेवं सतीतरेतराश्रयत्वं तत्त्वज्ञानशक्तिप्रतिबन्धककर्मणामवस्थानादविद्यालेशानुवृत्तिः ।
नुवृत्तौ च कर्मणामनुवृत्तिरिति, मैवम् । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरित्यत्र भूयोनि
त्तिरिति विशेषणादुभयविधमायाकारनिवृत्तेराकारान्तरानुवृत्तेश्च मानान्तरेणाधिगमा
प्रतीतावितरेतराश्रयत्वाभावात् । 'अन्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति च श्रवणात् । प्रारब्ध
लकर्मलक्षणस्य विद्याशक्तिप्रतिबन्धकस्य फलोपभोगेन निवृत्तौ प्रतिबन्धाभावे तत्त्व
नान्निःशेषाविद्यानिवृत्तिरिति प्रतीतेश्च ।

पारमार्थिकत्वार्थक्रियासामर्थ्यैरहिततया ज्ञातस्यापि प्रपञ्चस्य श्रुतिरजतादिवत्तत्समर्थकस्तृतीय आकार इत्यर्थ
एतेषा च क्रमेण निवर्तकज्ञानशरीराणि दर्शयति—तत्रेत्यादिना । तत्त्वसाक्षात्कारेणेति । अद्वैता
वस्तुसाक्षात्कारेणेत्यर्थः । ननु यदि साक्षात्कारे जातेपि जीवन्मुक्तस्य समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्य
चोद्बो वर्तते कश्चिदाकारः केन तर्हि तस्य निवृत्तिस्तत्राह—प्रारब्धेति । उक्तार्थं श्रुतिमपि प्रमाणयति-
श्रुतिरपीति । इन्द्रः परमेश्वरः । इदि परमैश्वर्यं इति भैमसेनिसृष्टेः । आदिशब्देन 'भूयश्चान्ते विश्वमा
निवृत्तिरित्याद्या गृह्यन्ते । 'माया तु प्रकृति'मित्यादावेकत्वेन प्रतिपादितमायाया मायाभिरित्यादिबहुत
भिधानमाकारभेद एव घटत इतिभावः । उत्तरार्थं व्याचष्टे—नच लेशस्यापीत्यादिना । इदानीं प्रा
ब्धकर्मणा ज्ञानपेक्षया प्राथम्यमुपजीव्यतयोपपादयति—तथाहीत्यादिना । नन्वयैरेव कतिभिश्चि
भिर्ज्ञानार्थमेव देहमुत्पाद्य तत्त्वज्ञानमुत्पाद्यता किमिति कर्मान्तरारब्धशरीरोपजीवनं ज्ञानोत्पादकाना, तथा
ज्ञानोत्पत्तौ देहनिवृत्तेर्न किमिति, तत्राह—अन्यथेति । भवतु कर्मान्तरारब्धशरीरे फलजनकत्वमे
ततः किमिति, तत्राह—तथाचेति । ननु भवतु ज्ञानोत्पादककर्मणा प्रारब्धकर्मपेक्षया दौर्बल्यं, ज्ञानस्य
किंमायातं येनोत्पन्नं ज्ञानं तानि न. निवर्तयतीति, तत्राह—तथाच तैरिति । उत्पद्यमानमेव तावत्वं
प्रतिबद्धशक्तिकं कारणवशादुत्पद्यतामिति भावः ।

यत्तु प्रारब्धकर्मणा निरुपादानतया स्थितिरेव नोत्पद्यते कुत. प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तं तत् परिहरति—
नच कर्मणामिति । निरुपादानत्वमसिद्धमित्यर्थः । ज्ञापितरेतराश्रयं शक्यते—नन्वेवमिति । ना
प्रारब्धकर्मभिरैवाविद्यालेशावगति श्रुतिवशादपि शक्याधिगमलादिति परिहरति—मैवं भूयश्चेति
'तस्याभिव्यान'जेनातत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति श्रुताश्रयतायां मन्त्रोपनिषदि श्रूयते । अ
च भूयोनिवृत्तिरिति विश्वमायानिवृत्तिरिति प्रतीयते, तत्र विश्वग्रहणेनानेकमायाकारप्रतीतिहेतोर्न च क्रमेण निवृत्ति
भूयोनिवृत्तिरिति पौनःपुन्यापरपर्यायक्रियासमभिहाराभिधायिना भूय शब्देनावगम्यते । अन्ते निवृत्तिरिति
नेन विदेहकैवल्यवस्थायां विलीयमान कश्चिदाकारः प्रतीयते । अन्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति
पुनर्मन्त्रोपनिषदाऽनिवृत्तिरिति च प्रतीयते ।

अतएव 'क्षीयन्तेचास्ये'ति सामान्यश्रुतेः प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मनिवृत्तिपरत्वोप-
 त्तिः, 'तस्य तावदेवं चिर'मिति विदुषः प्रारब्धकर्मतत्कार्ययोरवस्थानाधिगमाच्च, 'तद्ध्यास्य
 प्रजहा'विति विस्पष्टज्ञानोपजननस्याश्चर्यवत्प्रतिपादनात् परोक्षज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः, अन्यथा
 'तवाक्यस्य परोक्षज्ञानस्यावश्यंभावितया तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात् । नच 'ज्ञानिनस्तत्त्वद-
 र्शन' इति स्मृतिः परोक्षनिश्चयवत्सदभ्यसनशीलस्य प्रतिपादिका, दर्शनशब्देन साक्षा-
 कारस्यैव रूपादिदर्शनस्येवाभिधानात् । स्वात्मनि चापरोक्षे परोक्षज्ञानस्य विभ्रमत्वात् ।
 च सुखादिविषयपरकीयानुमानादिज्ञाने व्यभिचारः । स्वापरोक्षस्य स्वपरोक्षज्ञानविष-
 यत्वे विभ्रमत्वाङ्गीकारात् ।

नचाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानांसंभवः, सामान्यविशेषघटितस्यापि वस्तुनो विशेष-
 निवृत्तौ सामान्याकारावस्थानस्य परीक्षकैरभ्युपगमात् । नच साधक एवावस्थाविशेषं
 प्राप्तः स्थितप्रज्ञो गुणातीतश्च, 'प्रजहाति यदा कामा'नित्याद्यभिहितविशेषणानां तत्रानु-
 पपत्तेः । नहि सर्वकामानां विमोक्तः परमात्मसाक्षात्कारमन्तरेणोपपन्नः । 'रसवर्जं

तदेवं प्रारब्धकर्मणां प्रमाणमार्गेण विदेहनिर्वाणावस्थानाधिगमात् 'क्षीयन्ते'इति सामान्यश्रुतिः संकोच-
 मर्हतीत्याह—अतएवेति । ननु 'तस्य तावदेवे'ति श्रुतिः परोक्षज्ञानविषयतया प्रख्यायतेति, तत्राह—
 तद्ध्यास्येति । तेन ह्यार्थं द्योत्यत इत्यर्थः । ननु परोक्षज्ञानोत्पत्ताविदुषामाश्रयमस्तु श्रुतेः, भवति हि मूर्ख-
 वनुत्पद्यमानं परोक्षज्ञानमपि बुद्धिमत्सुत्पद्यमानमाश्रयहेतुरिति, तत्राह—अन्यथेति । अधीतवेदो विदि-
 तपदतदर्थसंगतिकः श्रवणेऽधिक्रियते, नच तस्य परोक्षज्ञानसाधनोत्पत्तिरार्थयहेतुः प्रत्युतात्पत्तौ गर्ह्येव
 सादिति भावः । स्मृतेरन्यथासिद्धिं परिहरति—नच ज्ञानिन इति । किंचापरोक्षे परोक्षज्ञानं विभ्रान्तमेव ।
 च परस्य परात्मानुमाने व्यभिचारः । स्वापरोक्षे स्वपरोक्षविज्ञानस्य विभ्रमत्वाव्यभिचारादित्याह—स्वात्म-
 नेचेति । यत्कार्यविद्यानिवृत्तावाकारावस्थितिनं संभवतीत्युक्तं तत्परिहरति—नचाकारीति । अनुवृ-
 त्तव्यानुवृत्तात्मकं हि समस्तं वस्तु भाट्टैरभिप्रेयते । यथाहुः—'कार्यरूपेण नानात्वभेदः कारणात्मना । हेमात्मना
 रथाऽभेदः कुण्डलायात्मना मिदे'ति । तत्र यथा कटककेयूरायाकारनाशेनाकारिणि ज्ञावप्याकारान्तरस्यानुवृत्त-
 यानिवृत्तिलयेत्यर्थः ।

यदिचात्र तार्किको विप्रतिपद्येत तं प्रति सामान्यविशेषयोरलनन्तमेदस्य समवायस्य च चिरातीतखण्डनसा-
 षेन संभतिरानेतव्या । नचाकारादतिरिक्ताकार्ये निरूपणसहिष्णुः यनिवृत्त्यास्यापि निवृत्तिरापाद्येत । ननु
 त्वाप्यविद्यायाः कोयमाकारः किमवयवः किं वा तद्धर्मः । नोभयथापि । किं तर्हि अविवेचावस्थान्तरमा-
 त्त्रा । विचित्रशक्तिर्ह्यविद्याऽतः प्रारब्धभोगकर्मतत्कारणमात्ररूपेण तिष्ठतीत्यभ्युपेयम् । किंच स्थितप्रज्ञत्वेन
 गुणातीतत्वेन च जीवन्मुक्तमेव भगवद्गीता प्रतिपादयति, न साधकं शमादिसम्पन्नमपि, त्वात्मसाक्षात्कारा-
 नावेन तत्प्रयुक्तसकलकामप्रहाणाभावादित्याह—नचेत्यादिना । साधकः फलोयोपात्तः पादसाधनः । अव-
 थाविशेषम् उपसर्जनीभूतमनोनाशवासनाशयाभ्यासशालित्वरूपम् । अन्तःकरणधर्माणां कामानां निवृत्तिं प्रति
 वेविकात्मसाक्षात्कार एव हेतुरित्येतदपि तत्रैव दर्शितमित्याह—रसेति । रसः कामः, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य ।

रसोप्यस्य पर दृष्टां निवर्तते'इति स्मरणात् ५ 'देवा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाचेऽस्य हृदि श्रिताः । अप मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत'इति श्रुतेश्च । तदेवं श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्राच्युप्यमाणा जीवन्मुक्तिः प्रद्वेषमात्रेण नापलपितुं शक्यत इति सिद्धम् ॥ इति श्रीगौडेश्वराचार्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीचित्सुखमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

एतदेव श्रुतिरारण्यकी प्रकाशयतीत्याह—यदेति । फलितमाह—तदेवमिति । इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रसन्नप्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रसन्नस्वरूपभगवत कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकाया नयनप्रसादिन्य चतुर्थं परिच्छेद ॥ ४ ॥

श्रीकाशीनाथतनुज, रघुनाथेन धीमता ।
छातांग्रामनिवासेन, टिप्पणीय कृता बुधा ॥

